कृष्णदास संस्कृत सीरीज २०२

मनुस्मृतिः

'मेधातिथि' भाष्य, 'सविमर्श' 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकासहिता

हिन्दी टीकाकार
पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

शुभाशंसा लेखक
प्रो. श्रीनारायण मिश्र

सम्पादक
केशव किशोर कश्यप

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
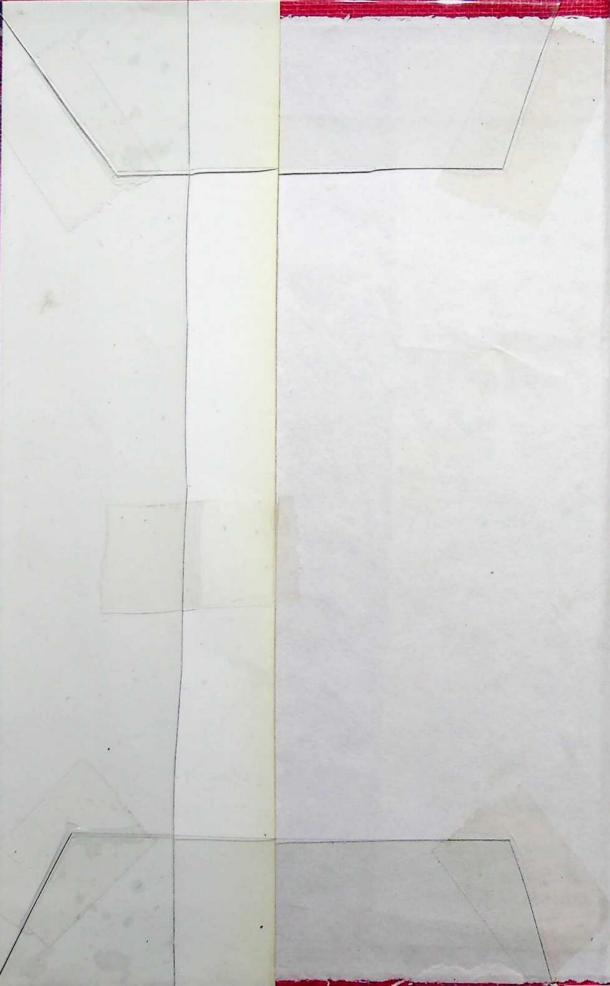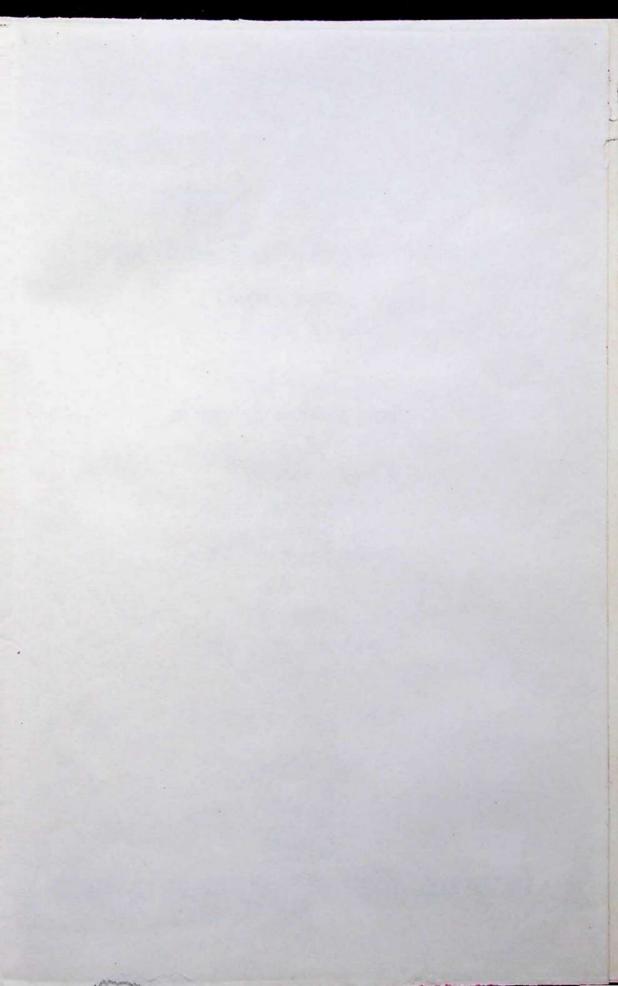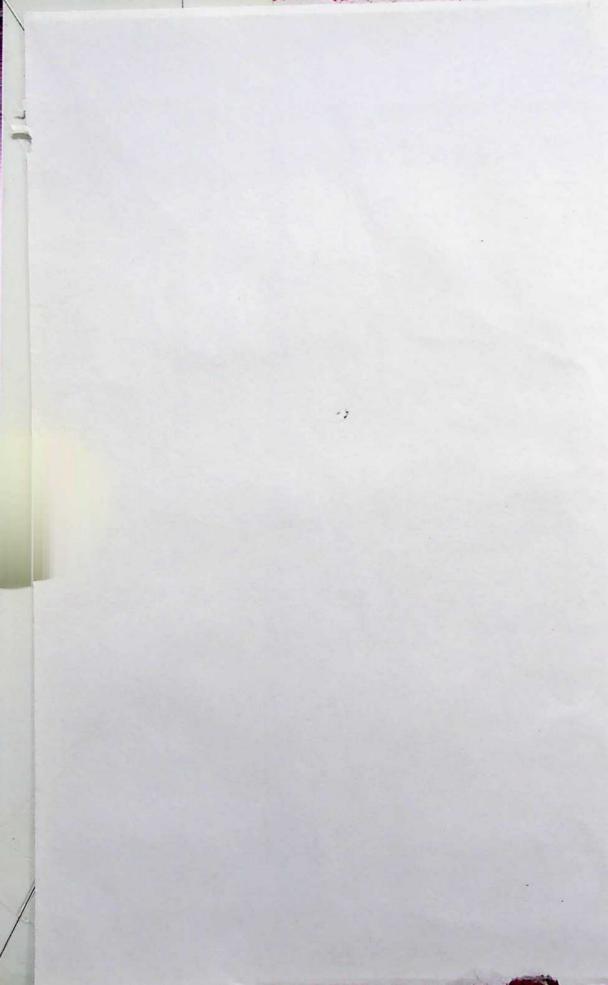
कृष्णदास संस्कृत सीरीज
२०२
*****

मनुस्मृतिः

'मेधातिथि' भाष्य, सविमर्श 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकासहिता

प्रथमो भागः
(अध्यायः १-६)

हिन्दी टीकाकार
पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

सम्पादक
केशव किशोर कश्यप
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शुभाशंसालेखक
प्रो० श्रीनारायण मिश्र
पूर्व सङ्काय-प्रमुख
कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि०सं० २०६३, सन् २००७ ई०

ISBN : 81-218-0207-5 (प्रथम: भाग:)
81-218-0221-0 (सेट)

पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बाक्स नं. ११६८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
निकट गोलघर (मैदागिन)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (०५४२)२३३५०२०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
पोस्ट बाक्स नं. १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : २३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२ एवं २३३५०२० (आवास)
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambaseries.com

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
202
*****

MANUSMṚTI

With 'Medhātithi' Sanskrit, & 'Maṇiprabhbā' Hindi Commentaries

Volume. I
(Chapters 1-6)

Hindi Commentary By
Pt. Sri Hargovind Shastri

Edited By
Keshav Kishor Kashyap
Department of Sanskrit
Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Foreworded By
Prof. Srinarayan Mishra
Ex-Dean
Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

ISBN : 81-218-0207-5 (Vol. I)
81-218-0221-0 (Set)

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Varanasi - 221001
(INDIA)
Phone : (0542) 2335020

Can be had also from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
P. Box 1008, Varanasi-221001 (INDIA)
Phone { Off. : 2333458,
Resi. . 2334032 & 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambaseries.com

प्रो० श्रीनारायण मिश्र
Prof. S. N. Mishra
पूर्व अध्यक्ष, कला-सङ्काय
Ex-Dean, Faculty of Arts
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
वाराणसी-२२१००५ (भारत)
Varanasi-221005 (INDIA)

आवास :
Residence:
एल. १३१, भोगावीर,
संकटमोचन, लंका,
वाराणसी-५ (भारत)
L. 131, Bhogaveer,
Sankamochan, Lanka,
Varanasi-221005 (INDIA)

दिनाङ्क- ०६-१०-२००६

शुभाशंसा

धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में मनुस्मृति का स्थान निर्विवाद रूप से प्रथम है। इस मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य तथा मूल स्मृति के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत इस संस्करण को देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ। मनुस्मृति की प्राचीन टीकाओं में मेधातिथि का भाष्य सर्वाधिक विस्तृत है। यद्यपि विद्वत्समाज में सर्वोत्तम टीका के रूप में कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली प्रसिद्ध है और कुल्लूक भट्ट ने 'साराऽसारवचः प्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरी' कहकर मेधातिथि की कटु आलोचना भी की है तथापि मनुस्मृति के आशय के साथ-साथ सम्बद्ध विषयान्तर के विशद विवेचन की दृष्टि से मेधातिथि-भाष्य की गरिमा का अपलाप करना सम्भव नहीं है। यत्र-तत्र मतभेद तो विद्वता के लक्षण हैं।

इस भाष्य तथा मनुस्मृति के राष्ट्रभाषानुवाद के साथ हमारी दृष्टि में यह प्रथम संस्करण है। बृहद् भूमिका और परिशिष्ट आदि से युक्त होने के कारण यह संस्करण बहुत उपयोगी है।

प्रकृत संस्करण को सम्पादित करने का कार्य मेरे सुयोग्य शिष्य श्री केशव किशोर कश्यप ने किया है, एतदर्थ हम श्री कश्यप को इस दुरूहतर

कार्य को सम्पन्न करने के लिये हार्दिक साधुवाद प्रदान करते हुए आशा करते हैं कि गुणग्राही विद्वज्जन इस संस्करण का समादर करेंगे, जिससे ये भविष्य में भी अन्यान्य उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन-सम्पादन में संलग्न रह कर भारतीय परम्परा की श्रीवृद्धि में अविच्छिन्न रूप से अपना योगदान करते रहें।

धन्यवाद !

— श्रीनारायण मिश्र

भूमिका

अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान स्वेतर समस्त वस्तु-विलक्षण भगवान् श्री श्रीमन्नारायण के सङ्कल्पमात्र से जगत्पिता ब्रह्मा की उत्पत्ति के पश्चात् भगवान् वेद का अवतार हुआ । ब्रह्मा जी ने ही प्रकृत स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् की सृष्टि प्रारम्भ की, जिसके कारण वे जगत्पिता की उपाधि से विभूषित हुए । सृष्टिक्रम में ब्रह्मा ने चौरासी लाख योनियों से युक्त एक विशाल संसार का निर्माण किया । मान्यतानुसार इन्हीं योनियों में नित्य आत्मा कर्त्तव्याकर्त्तव्यरूप फलाफल के कारण भटकती रहती है, जिससे मुक्ति हेतु जन्म-जन्मान्तर तक कठोर तपस्या करने के उपरान्त सर्वोत्तम मानव योनि में प्रवेश कर अवाप्त पञ्चभूतात्मक शरीर के माध्यम से इस प्रपञ्चात्मक संसार से उसका विमुक्त होना सम्भव हो पाता है; परन्तु मानव शरीर प्राप्त कर संसार में आते ही सांसारिक चकाचौंध के वशीभूत होकर मनुष्य-शरीरधारी आत्मा अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है । जिस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कठोर तप के द्वारा वह अमर आत्मा मानव शरीर अवाप्त करती है, वह उद्देश्य ही विस्मृत हो जाता है । परिणामत: जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवात्मा को करुण-क्रन्दन करते हुए चौरासी लाख योनियों में पुन: भटकना पड़ता है । कर्म-चक्र के बन्धन में अनादि काल से भटकती जीवात्मा के दु:ख से द्रवित होकर उसके उद्धार हेतु ऋषियों ने धर्मरूप कर्त्तव्यपथ को पारिभाषित करने के लिए वेद को अभिव्यक्त किया; किन्तु यत: उन वेदों के द्वारा सामान्य जन का लाभान्वित हो पाना सर्वथा असम्भव था; अत: मानवी सृष्टिकर्त्ता अन्त:करुणाप्रवण भगवान् मनु ने अपने वंशजों के उद्धार हेतु वैदिक ज्ञान को सरल रीति से निरूपित करते हुये जीवात्मा के योग्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म का स्मृति (धर्म-शास्त्र) के रूप में वर्णन किया । वैदिक ज्ञान (श्रुति) का ही स्मरण किये जाने के कारण ही ऋषि-प्रणीत धर्मशास्त्र 'स्मृति' अभिधान से अभिहित हुये; जैसाकि मनुस्मृति में कहा भी गया है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।। (म०स्मृ०-२.१०)

धर्म का स्वरूप

धारणार्थक 'धृ' धातु से निष्पन्न 'धर्म' शब्द का अर्थ धारण करना, पालन करना तथा आलम्बन करना होता है । धर्म की परिभाषा समय तथा परिस्थितियों के अनुसार बराबर परिवर्तित होती रहती है । कभी धर्म का व्यापक अर्थ तथा कभी रूढ़ अर्थ, कभी

संज्ञा के स्वरूप में तो कभी विशेषण के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचलित बौद्ध धर्म रूढ़ होकर धर्मचक्र के रूप में आज भी अपनी पहचान बनाए हुए है। ऋग्वेद में १.२२.१८, ५.२६.६, ७.४३.२४ आदि स्थानों पर धर्म शब्द धार्मिक क्रिया-कलापों (संस्कारों) में प्रयुक्त हुआ है; किन्तु छान्दोग्य उपनिषदादि में धर्म शब्द का प्रयोग व्यापक सन्दर्भ में किया गया है। वहाँ पर इसका प्रयोग गृहस्थ, तापस तथा ब्रह्मचारी के धर्म-निर्देश करने हेतु किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में विशेषतया विद्यार्थियों के लिए आचार धर्म के पालन का सङ्केत मिलता है—'सत्यं वद धर्मं चर' (तै० १.११)। इसी प्रकार भगवती गीता भी कहती है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३.३५)। साथ ही गीता में ही आगे अट्ठारहवें अध्याय में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' आदि के द्वारा कथित धर्म शब्द का ही आनुपूर्वी रूप धर्मशास्त्रों में वर्णित दिखाई देता है। मनुस्मृति का तो प्रारम्भ ही 'धर्म' शब्द से किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मानव अपने जीवन में कौन-सा कार्य धर्म समझकर करे तथा किस कार्य का अधर्म समझकर परित्याग कर दे? इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद-विहित प्रयोजन सापेक्ष अर्थकारी कार्य धर्म है। भगवान् मनु ने श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित वचनों, सज्जनों द्वारा चरित आचार तथा मत्सररहित मन की प्रसन्नता को धर्म कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ (मनु०-२.६)

धर्म-विवेचन के प्रसङ्ग में मनु द्वारा धर्म के चार लक्षण निर्देशित किये गये हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु०-२.१२)

स्मृतियों का आवश्यकत्व

वेद समस्त ज्ञान-राशिस्वरूप हैं। तपःपूत महर्षियों ने मनुष्य को कर्त्तव्य का परिज्ञान कराने के लिए ही उन वेदों को अभिव्यक्त किया था, किन्तु वे सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं हो सके; क्योंकि वेदमन्त्रों के अभिप्राय गहन होते हैं, जिसे सामान्य ज्ञान द्वारा आत्मसात् नहीं किया जा सकता; साथ ही वेदवाक्यों की भाषा भी लौकिक वाक्यों से सर्वथा भिन्न होती है। दूसरा यह कि वेद में अधिसंख्य स्थानों पर सूत्ररूप में वर्णन प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में सामान्य लोगों के लिए वेदवाक्य अपेक्षा-नुरूप उपयोगी सिद्ध नहीं हो सके। इस स्थिति को त्रिकालद्रष्टा तपःपूत महर्षियों ने अपने तपोजन्य ज्ञान द्वारा अनुभव किया और वेद के अभिप्राय को सामान्य जनों के

लिए उपयोगी बनाने का निश्चय किया। उसी निश्चय का प्रतिफल स्मृति (धर्मशास्त्र) है। वस्तुतः वेद के भावों को स्पष्ट रूप से पारिभाषित करने वाले शास्त्र को ही धर्मशास्त्र या स्मृति नाम से अभिहित किया गया है। स्पष्ट है कि वेदज्ञान-विरहित प्राणी स्मृति-प्रतिपादित तथ्यों का अनुगमन कर निःश्रेयस की प्राप्ति कर सकता है—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्ति मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ (मनु०-२.९)

श्रुति-स्मृति का ऐक्य

'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे, सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' आदि स्थानों पर श्रुतिद्वय-प्रतिपादित परस्पर विरुद्ध वाक्य उपलब्ध होने की स्थिति में किसे प्रमाण माना जाय? इसका निराकरण करते हुए मनु ने विकल्पस्वरूप दोनों वाक्यों को धर्म में प्रमाण माना है—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ (मनु०-२.१४)

यद्यपि किन्हीं कारणों से स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय तत्त्व वर्त्तमान वेद में अनुपलब्ध हैं, तथापि उन तत्त्वों के वैदिक ज्ञान पर ही आधारित होने का अनुमान किया जाता है। श्री कुल्लूकभट्ट ने अपनी व्याख्या में प्रमाणस्वरूप जाबालस्मृति तथा भविष्यपुराण का उद्धरण दिया है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता ॥ (जाबालस्मृति)

श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना। (भ०पु०)

वेद में अद्यतन अनुपलब्ध तत्त्वों के स्मृति-प्रतिपादित होने के कारण उन स्मार्त्त-तत्त्वों के मूलभूत वैदिक विधि का जिस प्रकार अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार वर्तमान स्मार्तसिद्धान्तों के दृष्टिगोचर होने पर ऐसा अनुमान करना चाहिये कि इनका मूल भी वेद में अवश्य रहा होगा।

यद्यपि धर्मशासक ऋषियों द्वारा प्रणीत समस्त धर्मशास्त्रों में प्रतिपाद्य विषय के रूप में धर्म का ही व्याख्यान उपलब्ध होता है, तथापि मतान्तर का अभाव उपलब्ध नहीं होता। मानवी पिता मनु ने भी प्रकृत ग्रन्थ में धर्म के सभी उपादानों का विशद निर्देश किया है।

प्रकृत ग्रन्थ के प्रारम्भ में महर्षि मनु से उपस्थित अन्यान्य मुनिगण सभी वर्णों तथा सभी जातियों के लिए कर्त्तव्यपथ का प्रदर्शक धर्म का व्याख्यान करने का

आग्रह करते हुये कहते हैं—

भगवन् सर्वधर्माणां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ (मनु०-१.२)

अर्थात् हे भगवन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ-साथ अम्बष्ठादि अनुलोमज, सूत आदि प्रतिलोमज तथा भूर्जकण्टक आदि संकीर्ण जातियों के लिए यथोचित धर्मों का निर्देश दें।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ (मनु०-२.२५)

उपर्युक्त मनुप्रोक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये मनुस्मृति के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य मेधातिथि ने धर्म के पाँच प्रकार स्वीकार किये हैं—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिकधर्म (प्रायश्चित्त) तथा गुणधर्म । जैसा कि मेधातिथिभाष्य में कहा गया है—

इह पञ्चप्रकारो धर्म इति स्मृतिविवरणकाराः प्रपञ्चयन्ति—वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो नैमित्तिको धर्मो गुणधर्मश्चेति । तत्र यो जातिमात्रमपेक्ष्य प्रवृत्तो न वयो-विभागाश्रमादिकमाश्रयति स 'वर्णधर्मः' । यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति' जातिमात्रस्याऽऽन्त्यादुच्छ्वासादेष धर्मः । 'आश्रमधर्मो' यत्र जातिर्नापेक्ष्यते केवला यदाश्रमप्रतिपत्तिराश्रीयते । यथा ब्रह्मचारिणोऽग्नीन्धनभिक्षाचरणे । 'वर्णाश्रमधर्म' उभयापेक्षः । यथा मौर्वी ज्या क्षत्रियस्येत्यादिः । नाश्रमान्तरे न च जात्यन्तरस्य धारणमस्या उदाहरणम् । प्रथमोपादानन्तूपनयनधर्मो नाश्रमधर्मः । उपनयनं चाऽऽश्रमार्थं नाश्रमधर्मः । 'नैमित्तिको' द्रव्यशुद्ध्यादिः । गुणमाश्रितो 'गुणधर्मः' । 'षड्भिः परिहार्यश्चे'त्यादिः । बाहुश्रुत्येन गुणेनैते धर्माः । एवमभिषिक्तस्य क्षत्रियस्य ये धर्माः ।

इसी प्रकार आचार्य मनु के परवर्ती याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने अपनी मिताक्षरा व्याख्या में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा साधारणधर्मरूप षड्विध धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है—

'यत्र च धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः । तद्यथा—वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति' । तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादिः। आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्षचर्यादिः । वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मण-स्येत्येवमादिः । गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिः । निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम् । साधारणधर्मोऽहिंसादिः ।

इसी प्रकार मन्वर्थमुक्तावली में श्रीकुल्लूकभट्ट ने वर्णधर्म की व्याख्या करते हुए भविष्यपुराण का उदाहरण दिया है—

'इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकस्तथाधर्माणामुपलक्षक: । ते च भविष्यपुराणोक्ता:—

वर्णधर्म: स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामत: परम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणौ नैमित्तकस्तथा ।।

वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्म: सम्प्रवर्तते ।
वर्णधर्म: स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ।।

यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकार: प्रवर्त्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ।।

वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा ।।

यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्म: स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ।।

निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्म: संप्रवर्त्तते ।
नैमित्तक: स विज्ञेय: प्रायश्चित्तविधिर्यथा ।।

विज्ञानेश्वर ने मेधातिथि के पाँच उपादानों के अतिरिक्त छठे उपादान के रूप में सांधारण धर्म को भी स्वीकार किया है । मेधातिथि की व्याख्या तथा विज्ञानेश्वर की व्याख्या में एक मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ मेधातिथि व्यास शैली का अवलम्बन करते हैं, वहीं विंज्ञानेश्वर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से अपनी बात व्यक्त कर देते हैं ।

भगवान् मनु ने चारों वर्णों के लिए धर्म का निर्धारण मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में किया है। सर्वप्रथम मनु द्वारा कल्पित ब्राह्मणादि वर्णों का स्वरूप क्रमश: इस प्रकार है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानम्प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।

प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियाणां समासत: ।।

पशूनां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु: कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। (मनु०-१.८८-९१)

वर्णानुसारी धर्म का निर्देश भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत दोनों ही ग्रन्थों में उपलब्ध

आग्रह करते हुये कहते हैं—

भगवन् सर्वधर्माणां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ (मनु०-१.२)

अर्थात् हे भगवन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ-साथ अम्बष्ठादि अनुलोमज, सूत आदि प्रतिलोमज तथा भूर्जकण्टक आदि संकीर्ण जातियों के लिए यथोचित धर्मों का निर्देश दें।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ (मनु०-२.२५)

उपर्युक्त मनुप्रोक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये मनुस्मृति के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य मेधातिथि ने धर्म के पाँच प्रकार स्वीकार किये हैं—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिकधर्म (प्रायश्चित्त) तथा गुणधर्म। जैसा कि मेधातिथिभाष्य में कहा गया है—

इह पञ्चप्रकारो धर्म इति स्मृतिविवरणकाराः प्रपञ्चयन्ति—वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो नैमित्तिको धर्मो गुणधर्मश्चेति। तत्र यो जातिमात्रमपेक्ष्य प्रवृत्तो न वयो-विभागाश्रमादिकमाश्रयति स 'वर्णधर्मः'। यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति' जातिमात्रस्याऽऽन्त्यादुच्छ्वासादेष धर्मः। 'आश्रमधर्मो' यत्र जातिर्नापेक्ष्यते केवला यदाश्रमप्रतिपत्तिराश्रीयते। यथा ब्रह्मचारिणोऽग्नीन्धनभिक्षाचरणे। 'वर्णाश्रमधर्म' उभयापेक्षः। यथा मौर्वी ज्या क्षत्रियस्येत्यादिः। नाश्रमान्तरे न च जात्यन्तरस्य धारणमस्या उदाहरणम्। प्रथमोपादानन्तूपनयनधर्मो नाश्रमधर्मः। उपनयनं चाऽऽश्रमार्थं नाश्रमधर्मः। 'नैमित्तिको' द्रव्यशुद्ध्यादिः। गुणमाश्रितो 'गुणधर्मः'। 'षड्भिः परिहार्यश्चे'त्यादिः। बाहुश्रुत्येन गुणेनैते धर्माः। एवमभिषिक्तस्य क्षत्रियस्य ये धर्माः।

इसी प्रकार आचार्य मनु के परवर्ती याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने अपनी मिताक्षरा व्याख्या में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा साधारणधर्मरूप षड्विध धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है—

'यत्र च धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः। तद्यथा—वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति'। तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादिः। आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्षचर्यादिः। वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मण-स्येत्येवमादिः। गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिः। निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्। साधारणधर्मोऽहिंसादिः।

इसी प्रकार मन्वर्थमुक्तावली में श्रीकुल्लूकभट्ट ने वर्णधर्म की व्याख्या करते हुए भविष्यपुराण का उदाहरण दिया है—

'इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्म-नैमित्तिकस्तथाधर्माणामुपलक्षक: । ते च भविष्यपुराणोक्ता:—

वर्णधर्म: स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामत: परम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणौ नैमित्तकस्तथा ।।

वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्म: सम्प्रवर्तते ।
वर्णधर्म: स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ।।

यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकार: प्रवर्त्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ।।

वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा ।।

यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्म: स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ।।

निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्म: संप्रवर्त्तते ।
नैमित्तक: स विज्ञेय: प्रायश्चित्तविधिर्यथा ।।

विज्ञानेश्वर ने मेधातिथि के पाँच उपादानों के अतिरिक्त छठे उपादान के रूप में सांधारण धर्म को भी स्वीकार किया है । मेधातिथि की व्याख्या तथा विज्ञानेश्वर की व्याख्या में एक मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ मेधातिथि व्यास शैली का अवलम्बन करते हैं, वहीं विंज्ञानेश्वर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से अपनी बात व्यक्त कर देते हैं ।

भगवान् मनु ने चारों वर्णों के लिए धर्म का निर्धारण मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में किया है। सर्वप्रथम मनु द्वारा कल्पित ब्राह्मणादि वर्णों का स्वरूप क्रमश: इस प्रकार है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानम्प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।

प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियाणां समासत: ।।

पशूनां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। (मनु०-१.८८-९१)

वर्णानुसारी धर्म का निर्देश भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत दोनों ही प्रन्थों में उपलब्ध

होता है । गीता में तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणादि के धर्मों का विवेचन करते हुये कहते हैं कि—

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥—गीता- १८.४२

गीतोक्त क्षात्रधर्म—

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वर-भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥—गीता- १८.४३

गीतोक्त वैश्यधर्म—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।—गीता- ८.४४पू.

गीतोक्त शूद्रधर्म—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥—गीता-८.४४ उ.

एवमेव श्रीमद्भागवत में भी वर्णधर्म का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है—

श्रीमद्भागवत में वर्णित ब्राह्मणधर्म—

शमो दमः तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाऽच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० ७/११/२१)

श्रीमद्भागवत में वर्णित क्षत्रियधर्म—

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० ७/११/२२)

श्रीमद्भागवत में वर्णित वैश्यधर्म—

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० ७/११/२३)

शूद्रधर्म— शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० ७/११/२४)

इन चारों वर्णों के धर्मों के विवेचन के पूर्व कृष्णद्वैपायन व्यास ने वर्णसङ्कर धर्म का भी संक्षिप्त रूप में सङ्केत दिया है—

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्त्यावसाथिनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ७/११/१७)

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी वर्णाश्रमधर्म का निर्देश प्राप्त होता है—

इज्याऽध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानाम्परिपालनम् ।
कुसीद-कृषि-बाणिज्य-पाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥ (१.११८-२०)

आश्रमधर्म—आश्रम धर्म के अन्तर्गत चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास) से सम्बन्धित है। इसमें द्विजमात्र (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) के जीवन-अवधि को चार भागों में विभक्त किया गया है और प्रथम भाग को ब्रह्मचर्यावस्था अर्थात् वेदाध्ययन कार्य के निमित्त रखा गया है। मनु ने तीसरे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ (मनु०-३.१)

अर्थात् प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष १२ × ३ = ३६ वर्ष। अथवा प्रत्येक वेद के लिए ६ वर्ष ३ × ३ = १८ वर्ष अथवा प्रत्येक के लिए ३ वर्ष ३ × ३ = ९ वर्ष की अवधि वेदाध्ययन के लिए अपेक्षित है। एतदर्थ वेदाध्यायी को उपर्युक्त काल तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। पुनः विकल्प प्रदान करते हुए उक्त काल-सीमा समाप्त कर वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने का निर्देश देते हैं। उपर्युक्त विकल्प से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्राणी की जीवन-अवधि का निश्चयात्मक ज्ञान असम्भव होने के कारण विकल्प का आश्रयण किया गया है।

गार्हस्थ्य आश्रम—जीवन के द्वितीय सोपान का नाम गार्हस्थ्य आश्रम कहा गया है; इसका मुख्य धर्म पञ्चमहायज्ञ है—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ (मनु०-३.५७)

मनु ने सभी आश्रमों में श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम को कहा है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वायु का आश्रयण कर सभी जीव जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गार्हस्थ्य

आश्रम का आश्रयण सभी आश्रमियों को करना पड़ता है। अतएव सभी आश्रमों में यह श्रेष्ठ है; जैसा कि कहा भी है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ (मनु०-३.७७)

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही ॥ (मनु०-३.७८)

वानप्रस्थ तथा संन्यास—ब्रह्मचर्यावस्था में वेदाध्ययन के अनन्तर गार्हस्थ्य आश्रम में ऐश्वर्यादि भोगरूप उत्पन्न रागादि को तपश्चर्या द्वारा क्षय करना ही अभिप्रेत है, जिससे संन्यास ग्रहण का मार्ग प्रशस्त हो सके। कामना के शेष रहते मनुष्य संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। अतः वानप्रस्थ में तपश्चर्यादि के द्वारा उसे शमित कर संन्यास ग्रहण का निर्देश मनु ने किया है—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गं परिव्रजेत् ॥ (मनु०- ६.३३)

वर्णाश्रमधर्म—वर्णाश्रमधर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश या बेल का, क्षत्रिय ब्रह्मचारी को वट या खैर का तथा वैश्यकुल में उत्पन्न ब्रह्मचारी को पीलु अथवा गूलर का दण्ड धारण करना चाहिए। यथा—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ (मनु०-२/४५)

गुणधर्म—मनुस्मृति के प्रसिद्ध व्याख्याकार मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति के विज्ञानेश्वर ने शास्त्रविधि से अभिषिक्त राजा के प्रजापालनादि कर्त्तव्य को गुणधर्म माना है।

निमित्तधर्म—इसका अभिप्राय प्रायश्चित्त से है। प्रायश्चित्त का विधान कार्य-(अपराध)-विशेष पर निर्भर करता है।

साधारण धर्म—साधारण धर्म को यद्यपि मेधातिथि ने अपने भाष्य में परि-गणित नहीं किया है फिर भी व्यावहारिक तौर पर मनु ने धर्म के निम्न दश लक्षण बताये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (मनु०- ६.९२)

अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, अक्रोध यह जो दस प्रकार के धर्म के लक्षण हैं, वे ही सामान्य धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

धर्मविषयक लक्षण में मनु और याज्ञवल्क्य में कहीं साम्य तो कहीं वैषम्य की स्थिति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वेदाध्ययन के क्रम में मनु ने चार विकल्प प्रस्तुत किया है—३६, १८, ९ वर्ष अथवा अध्ययन पर्यन्त, वहीं याज्ञवल्क्य ने तीन विकल्प दिया है—१२, ५ अथवा वेदाध्ययन पर्यन्त। उसी प्रकार संन्यास ग्रहण में मनु ब्राह्मण को ही अधिकारी मानते हैं, जबकि कुछ परवर्ती स्मृतिकार द्विजमात्र को। याज्ञवल्क्य के मिताक्षराकार दूसरे मत को ही उत्तम मानते हैं— ऐसा अनुभव उनकी व्याख्या से परिलक्षित होता है।

मनु एवं मनुस्मृति

मनुस्मृति की रचना कब हुई? उसके रचयिता कौन हैं? इस प्रश्न पर विद्वानों द्वारा काफी तर्क-वितर्क उपस्थित किया गया। इसमें दो पक्ष हैं—

प्रथम पक्ष—आधुनिक इतिहासकार अपने अनुसन्धान के क्रम में मनु का काल ई०पू० २०० से ई०उ० १०० वर्ष का मानते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री पी०वी० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया है। काणे साहब ने मनु के सम्बन्ध में ऋग्वेद से लेकर वर्तमान स्मृति के प्रमुख शास्त्रों में जो मनु की चर्चा हुई है, उसका विवरण प्रस्तुत किया है। यथा—

महर्षि मनु

ऋग्वेद में मनु को मानव-जाति का पिता कहा गया है (ऋ० १.८०.१६; १.११४.२; १.३३.१३)। एक वैदिक कवि ने स्तुति की है ताकि वह मनु के मार्ग से च्युत न हो जाय। एक कवि ने कहा है कि मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया (ऋ० १०.६७.७)। तैत्तिरीय संहिता एवं ताण्ड्य-महाब्राह्मण में आया है कि मनु ने जो कुछ कहा है, औषध है ("यद्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम्", तै०सं० २.२.१०.२; "मनुर्वै यत्किञ्चावदत्तद् भेषजं भेषजतायै",—ताण्ड्य० २३.१६.१७)। प्रथम में "मानव्यो हि प्रजा:" कहा गया है। तैत्तिरीयसंहिता तथा ऐतरेयब्राह्मण में मनु के विषय में एक गाथा है, जिसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँटा है और अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया है। शतपथब्राह्मण में मनु और प्रलय की कहानी है। निरुक्त में भी मनु स्वायंभुव के मत की चर्चा हुई है। अत: यास्क के पूर्व पद्यबद्ध स्मृतियाँ थीं और मनु एक व्यवहार-प्रणेता थे। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब ने मनु का उल्लेख किया है। महाभारत में मनु को कभी केवल मनु, कभी स्वायंभुव मनु (शान्ति, २१.१२) और कभी प्राचेतस मनु (शान्ति, ५७.४३) कहा गया है। शान्तिपर्व (३३६.३८-४६) में आया है कि किस प्रकार भगवान् ब्रह्मा ने एक सौ सहस्र श्लोकों में धर्म पर लिखा, किस प्रकार मनु ने उन धर्मों को उद्घोषित किया और किस प्रकार उशना तथा बृहस्पति ने मनु

स्वायंभुव के ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया। महाभारत में एक स्थान पर विवरण कुछ भिन्न है और वहाँ मनु का नाम नहीं आया है। शान्तिपर्व (५८.८०.८५) में बताया है कि किस प्रकार ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ एवं काम पर एक लाख अध्याय लिखे और वह महाग्रन्थ कालान्तर में विशालाक्ष, इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति एवं काव्य (उशना) द्वारा क्रम से १०,०००, ५,०००, ३,००० एवं १,००० अध्यायों में संक्षिप्त किया गया। नारद-स्मृति में आया है कि मनु ने १,००,००० श्लोकों, १०८० अध्यायों एवं २४ प्रकरणों में एक धर्मशास्त्र लिखा और उसे नारद को पढ़ाया, जिसने उसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने भी इसे ८,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को दिया, जिन्होंने स्वयं उसे ४,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्त्तमान मनुस्मृति में आया है (१.३२.३३) कि बह्मा से विराट् की उद्भूति हुई, उन्होंने मनु को उत्पन्न किया, जिनसे भृगु, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुए; ब्रह्मा ने मनु को शास्त्राध्ययन कराया, मनु ने दस ऋषियों (१.५८) को वह ज्ञान दिया; कुछ बड़े ऋषि मनु के यहाँ गये और वर्णों एवं मध्यम जातियों के धर्मों (कर्त्तव्यों) को पढ़ाने के लिए उनसे प्रार्थना की और मनु ने कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे (१.५९.६०)। मनुस्मृति में यह पढ़ाने की बात आरम्भ से अन्त तक है और स्थान-स्थान पर ऋषि लोग भृगु के व्याख्यान को रोककर उनसे कठिन बातें समझ लेते हैं (५.१-२; १२.१-२)। मनु सर्वत्र विराजमान हैं; उनका नाम 'मनुराह' (९.१५८, १०.७८ आदि) या 'मनुरब्रवीत्' या 'मनोरनुशासनम्' (८.१३९, २७९; ९.२३९ आदि) के रूप में दर्जनों बार आया है। भविष्यपुराण के अनुसार, जैसा कि हमें हेमाद्रि, संस्कारमयूख तथा अन्य ग्रन्थों से पता चलता है, स्वायंभुव-शास्त्र के चार संस्करण थे, जो भृगु, नारद, बृहस्पति एवं अंगिरा द्वारा प्रणीत थे। अतिप्राचीन लेखक विश्वरूप ने मनुस्मृति के उद्धरण दिये हैं और वहाँ मनु स्वयंभू कहे गये हैं।

आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार ऋग्वेद के मनु से वर्तमान मनुस्मृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे लोग मानवधर्मसूत्र तथा मनुस्मृति में भी परस्पर सम्बन्ध का अभाव मानते हैं। इसी तरह महाभारत में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र के ज्ञाता मनु का भी वर्तमान मनुस्मृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुस्मृति की अतिप्रसिद्ध प्राचीन टीका मेधातिथि की उपलब्ध होती है, जिसका समय ८२५-९०० ई० माना गया है। श्रीकुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति पर मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका का प्रणयन किया है, जिसका समय बारहवीं शताब्दी है। इसी तरह कुमारिलभट्ट, शूद्रक, शबरस्वामी आदि के ग्रन्थों में भी वर्तमान मनुस्मृति के वाक्यों का उद्धरण प्राप्त होता है, जिसके आधार पर मनुस्मृति का उपर्युक्त काल ही विद्वानों ने निश्चय किया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसके रचयिता कौन हैं? यदि मनु इसके रचयिता नहीं हैं तो रचयिता के

रूप में मनु का नाम क्यों लिया गया है? आदि।

दूसरा पक्ष—परम्परावादी भारतीय विद्वानों के अनुसार मनुस्मृति की प्रामाणिकता वेद के सदृश है। परम्परानुसार १४ मनु माने गये हैं—

स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तापसि, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. रौच्यदेवसावर्णि तथा १४ इन्द्रसावर्णि।

वर्तमान मन्वन्तर में प्रजापति वैवस्वत मनु हैं, जो क्रमसंख्या में सातवें हैं; जिनका हम नित्यकर्म के अनुष्ठानक्रम में सङ्कल्परूप में आज भी प्रयोग करते हैं—'वैवस्वतमन्वन्तरे कलियुगे प्रथमचरणे०'। आलोच्य मनु मानवी सृष्टि के मूल पुरुष के रूप में विख्यात हैं। मनु से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। ये दिव्य पुरुष माने जाते हैं। प्रथम मनु को स्वायंभुव अर्थात् स्वतः उत्पन्न होना बतलाया गया है। वेद में वैवस्वत, स्वायंभुव और सावर्णि नाम बतलाये गये हैं। वेदोक्त यही बात इन्हें दिव्य पुरुष सिद्ध करती है। विवस्वत् की पत्नी सवर्णा थी, जिसके कारण इनका नाम सावर्णि पड़ा। सृष्टि के मूल पुरुष होने के कारण इन्हें प्रजापति की संज्ञा प्राप्त हुई है। विवस्वत् सूर्य का नाम है। अतः मनु वैवस्वत कहलाये। श्राद्ध एवं अन्य कर्म मनु ने आरम्भ किया। दस ऋषियों की उत्पत्ति मनु से हुई, जिसका उल्लेख मनुस्मृति में निम्नवत् प्राप्त होता है—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥ (मनु०-१.३४)

मनु को अमरत्व प्राप्त है, प्रलयकाल में भी उनकी मृत्यु नहीं होती। वे प्रलयकालीन एकमात्र द्रष्टा के रूप में विराजमान रहते हैं। जलप्रलय के समय मत्स्यावतार के रूप में विष्णु भगवान् ने इनकी रक्षा की थी, जिसकी चर्चा शतपथब्राह्मण में हुई है। इसी कथा को आधार बनाकर हिन्दी के स्वनामधन्य कवि जयशङ्कर प्रसाद ने 'कामायनी' नामक महाकाव्य की रचना की है। अयोध्या पर शासन करने वाले सूर्यवंशी राजाओं के कुल के प्रवर्त्तकरूप में भी मनु को ही स्वीकार किया जाता है।

आधुनिक अन्वेषकों और परम्परावादी विद्वानों में मौलिक अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। एक तरफ आधुनिक इतिहासकार लिखित साक्ष्यों को ही प्रमाण मानकर अपना निश्चय प्रकट करते हैं, वहीं भारतीय परम्परा के पोषक विद्वद्गण श्रुति-स्मृति में लिखित साक्ष्य को महत्त्व नहीं देते; क्योंकि अतिप्राचीन काल में लिख कर या मुद्रित पुस्तकों द्वारा पठन-पाठन का प्रचलन था ही नहीं; यह परम्परा तो बहुत बाद में प्रारम्भ हुई है; पूर्वसमय में तो पठन-पाठन में श्रौत प्रणाली ही प्रचलित थी।

वर्तमान मनुस्मृति के लेखक के रूप कतिपय विद्वान् भृगु जी को ही स्वीकार करते

स्वायंभुव के ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया। महाभारत में एक स्थान पर विवरण कुछ भिन्न है और वहाँ मनु का नाम नहीं आया है। शान्तिपर्व (५८.८०.८५) में बताया है कि किस प्रकार ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ एवं काम पर एक लाख अध्याय लिखे और वह महाग्रन्थ कालान्तर में विशालाक्ष, इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति एवं काव्य (उशना) द्वारा क्रम से १०,०००, ५,०००, ३,००० एवं १,००० अध्यायों में संक्षिप्त किया गया। नारद-स्मृति में आया है कि मनु ने १,००,००० श्लोकों, १०८० अध्यायों एवं २४ प्रकरणों में एक धर्मशास्त्र लिखा और उसे नारद को पढ़ाया, जिसने उसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने भी इसे ८,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को दिया, जिन्होंने स्वयं उसे ४,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्त्तमान मनुस्मृति में आया है (१.३२.३३) कि बह्मा से विराट् की उद्भूति हुई, उन्होंने मनु को उत्पन्न किया, जिनसे भृगु, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुए; ब्रह्मा ने मनु को शास्त्राध्ययन कराया, मनु ने दस ऋषियों (१.५८) को वह ज्ञान दिया; कुछ बड़े ऋषि मनु के यहाँ गये और वर्णों एवं मध्यम जातियों के धर्मों (कर्त्तव्यों) को पढ़ाने के लिए उनसे प्रार्थना की और मनु ने कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे (१.५९.६०)। मनुस्मृति में यह पढ़ाने की बात आरम्भ से अन्त तक है और स्थान-स्थान पर ऋषि लोग भृगु के व्याख्यान को रोककर उनसे कठिन बातें समझ लेते हैं (५.१-२; १२.१-२)। मनु सर्वत्र विराजमान हैं; उनका नाम 'मनुराह' (९.१५८, १०.७८ आदि) या 'मनुरब्रवीत्' या 'मनोरनुशासनम्' (८.१३९, २७९; ९.२३९ आदि) के रूप में दर्जनों बार आया है। भविष्यपुराण के अनुसार, जैसा कि हमें हेमाद्रि, संस्कारमयूख तथा अन्य ग्रन्थों से पता चलता है, स्वायंभुव-शास्त्र के चार संस्करण थे, जो भृगु, नारद, बृहस्पति एवं अंगिरा द्वारा प्रणीत थे। अतिप्राचीन लेखक विश्वरूप ने मनुस्मृति के उद्धरण दिये हैं और वहाँ मनु स्वयंभू कहे गये हैं।

आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार ऋग्वेद के मनु से वर्तमान मनुस्मृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे लोग मानवधर्मसूत्र तथा मनुस्मृति में भी परस्पर सम्बन्ध का अभाव मानते हैं। इसी तरह महाभारत में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र के ज्ञाता मनु का भी वर्तमान मनुस्मृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुस्मृति की अतिप्रसिद्ध प्राचीन टीका मेधातिथि की उपलब्ध होती है, जिसका समय ८२५-९०० ई० माना गया है। श्रीकुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति पर मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका का प्रणयन किया है, जिसका समय बारहवीं शताब्दी है। इसी तरह कुमारिलभट्ट, शूद्रक, शबरस्वामी आदि के ग्रन्थों में भी वर्तमान मनुस्मृति के वाक्यों का उद्धरण प्राप्त होता है, जिसके आधार पर मनुस्मृति का उपर्युक्त काल ही विद्वानों ने निश्चय किया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसके रचयिता कौन हैं? यदि मनु इसके रचयिता नहीं हैं तो रचयिता के

रूप में मनु का नाम क्यों लिया गया है? आदि।

दूसरा पक्ष—परम्परावादी भारतीय विद्वानों के अनुसार मनुस्मृति की प्रामाणिकता वेद के सदृश है। परम्परानुसार १४ मनु माने गये हैं—

स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तापसि, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. रौच्यदेवसावर्णि तथा १४ इन्द्रसावर्णि।

वर्तमान मन्वन्तर में प्रजापति वैवस्वत मनु हैं, जो क्रमसंख्या में सातवें हैं; जिनका हम नित्यकर्म के अनुष्ठानक्रम में सङ्कल्परूप में आज भी प्रयोग करते हैं—'वैवस्वतमन्वन्तरे कलियुगे प्रथमचरणे०'। आलोच्य मनु मानवी सृष्टि के मूल पुरुष के रूप में विख्यात हैं। मनु से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। ये दिव्य पुरुष माने जाते हैं। प्रथम मनु को स्वायंभुव अर्थात् स्वतः उत्पन्न होना बतलाया गया है। वेद में वैवस्वत, स्वायंभुव और सावर्णि नाम बतलाये गये हैं। वेदोक्त यही बात इन्हें दिव्य पुरुष सिद्ध करती है। विवस्वत् की पत्नी सवर्णा थी, जिसके कारण इनका नाम सावर्णि पड़ा। सृष्टि के मूल पुरुष होने के कारण इन्हें प्रजापति की संज्ञा प्राप्त हुई है। विवस्वत् सूर्य का नाम है। अतः मनु वैवस्वत कहलाये। श्राद्ध एवं अन्य कर्म मनु ने आरम्भ किया। दस ऋषियों की उत्पत्ति मनु से हुई, जिसका उल्लेख मनुस्मृति में निम्नवत् प्राप्त होता है—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥ (मनु०-१.३४)

मनु को अमरत्व प्राप्त है, प्रलयकाल में भी उनकी मृत्यु नहीं होती। वे प्रलयकालीन एकमात्र द्रष्टा के रूप में विराजमान रहते हैं। जलप्रलय के समय मत्स्यावतार के रूप में विष्णु भगवान् ने इनकी रक्षा की थी, जिसकी चर्चा शतपथब्राह्मण में हुई है। इसी कथा को आधार बनाकर हिन्दी के स्वनामधन्य कवि जयशङ्कर प्रसाद ने 'कामायनी' नामक महाकाव्य की रचना की है। अयोध्या पर शासन करने वाले सूर्यवंशी राजाओं के कुल के प्रवर्त्तकरूप में भी मनु को ही स्वीकार किया जाता है।

आधुनिक अन्वेषकों और परम्परावादी विद्वानों में मौलिक अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। एक तरफ आधुनिक इतिहासकार लिखित साक्ष्यों को ही प्रमाण मानकर अपना निश्चय प्रकट करते हैं, वहीं भारतीय परम्परा के पोषक विद्वद्गण श्रुति-स्मृति में लिखित साक्ष्य को महत्त्व नहीं देते; क्योंकि अतिप्राचीन काल में लिख कर या मुद्रित पुस्तकों द्वारा पठन-पाठन का प्रचलन था ही नहीं; यह परम्परा तो बहुत बाद में प्रारम्भ हुई है; पूर्वसमय में तो पठन-पाठन में श्रौत प्रणाली ही प्रचलित थी।

वर्तमान मनुस्मृति के लेखक के रूप कतिपय विद्वान् भृगु जी को ही स्वीकार करते

हैं और तर्क देते हैं कि वर्तमान स्वरूप में उपलब्ध स्मृति में 'मनुराह, मनुरवदीत्, मनोरनुशासनम्' आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि इसके रचयिता मनु नहीं हैं। यदि मनु होते तो फिर मनुराह, मनुरवदीत् आदि शब्द का प्रयोग कैसे होता?

श्रुति-परम्परानुसार यह भी सम्भव है कि कल्पभेद से उन शब्दों का प्रयोग किया गया हो। जब मानवी सृष्टि के स्रष्टा स्वयं पितामह मनु हैं तब उनके द्वारा अपनी सन्तति के कल्याण-हेतु कर्तव्यपथ के प्रदर्शक शास्त्र का निर्माण करना असम्भव कैसे कहा जा सकता है?

उपर्यङ्कित वर्णन-क्रम में स्मृति की प्रामाणिकता श्रुति के समान मानी गयी है और वेद अपौरुषेय है। उसकी रचना किसी देवता अथवा पुरुष ने नहीं की। ऐसी स्थिति में वेदोक्त तथ्यों को समयसीमा में पारिभाषित करना उचित नहीं है। व्यवस्था-जन्य कारणों से कुछ शताब्दियों में साक्ष्य का नष्ट-भ्रष्ट होना देखा जाता है। फिर सैकड़ों वर्षीय संस्कृति-विरोधी शासकों के राज्य में शास्त्रीय साक्ष्यों का क्या हाल हुआ होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अत: श्रुति-स्मृति के सम्बन्ध में गहन विचार-विमर्श की आवश्यकता है, जो विशेषज्ञों के चिन्तन का विषय है।

मनुस्मृति की टीका : मेधातिथि

द्वादश अध्यायों में निबद्ध मनुस्मृति का प्रभाव सर्वातिशायी होने के कारण अन्यान्य स्मृतियाँ भी उससे प्रभावित रही हैं। इस महनीय धर्मशास्त्र ग्रन्थ पर अनेकों विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं, जिनमें से आज बहुत सी टीकायें अनुपलब्ध हैं; किन्तु उनका नाम अन्यान्य स्मृतिग्रन्थों में उद्धृत होने से यह परिज्ञात होता है कि कभी उनकी उपलब्धता रही होगी। सम्प्रति उपलब्ध यशस्वी टीकाकारों में मेधातिथि, गोविन्दराज तथा कुल्लूक भट्ट माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त नारायण, राघवानन्द, नन्दन एवं रामचन्द्र का भी नाम आता है। कुछ अन्य व्याख्याकार भी हुए हैं, जिनकी कृतियाँ आज पूर्ण रूप से उपलब्ध नही हैं।

मनुस्मृति पर विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण भाष्यकार के रूप में मेधातिथि को सुयश प्राप्त है। बु हर के अनुसार मेधातिथि काश्मीर या उत्तर भारत के रहने वाले थे। यह अनुमान उनकी रचनाओं में काश्मीर-विषयक वर्णन से लगाया जाता है।

मेधातिथि ने अपने भाष्य में गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शंख, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, वृहस्पति, कात्यायन आदि स्मृतिकारों की चर्चा की है। उन्होंने वृहस्पति को वार्ता-राजनीति के लेखकों में स्वीकार किया है। उनके अनुसार उशना एवं चाणक्य दण्डनीति, राजनीति एवं राजशासन के विद्वान् थे। उन्होंने कौटिल्य

के ग्रन्थों से बहुत से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। 'कर्मणामारम्भोपाय: पुरुषद्रव्यसम्पद्देश-कालविभागो विनिपातप्रतीकार: कार्यसिद्धि:' नामक पाँच मन्त्रांगों के नाम जिस प्रकार कौटिल्य ग्रन्थ में आयें हैं, उसी प्रकार मेधातिथि में भी उल्लिखित हैं। इसी प्रकार मेधातिथि ने असहाय एवं अन्य स्मृतिकारों के नामोल्लेख के साथ-साथ सांख्यकारिका, वाक्यपदीय तथा पुराणों का भी उल्लेख किया है। मेधातिथि भाष्य में विधि-अर्थवाद आदि वाक्यों का बहुधा प्रयोग परिलक्षित होने से उनके मीमांसक होने का अनुमान सहजता से लगाया जाता है। उन्होंने जैमिनिसूत्रों, शावरभाष्य तथा कुमारिल भट्ट का भी उल्लेख किया है। इसी प्रकार अपने से पूर्व के अन्य आचार्यों का भी उल्लेख अपने भाष्य में किया है।

जिस प्रकार मनुस्मृति की कालविषयक अनिश्चितता विद्वानों में विद्यमान है, उसी प्रकार मनुस्मृति के सर्वप्राचीन व्याख्याकार मेधातिथि का भी समय बहुत स्पष्ट नही है। विद्वानों ने मेधातिथि द्वारा कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य का उल्लेख करने के कारण तथा मिताक्षराकार द्वारा इस टीका को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करने के कारण इनका समय ८२० इसवीं के उपरान्त तथा १०५० ई० के पूर्व स्वीकार किया है।

पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति

मानव शरीर धारण करने का परम लक्ष्य मोक्ष है। अन्यान्य स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में कहीं अर्थ की, कहीं धर्म की तो कहीं काम की प्रधानता पायी जाती है; परन्तु प्रकृत स्मृति द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था का अनुसरण कर मनुष्य पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति कर सकता है। मनु द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था धर्म, अर्थ एवं काम परम तत्त्व मोक्ष के ही उपादान हैं। सम्भवत: इसी दृष्टि से उन्होंने मनुष्य के आयु को चार भागों अर्थात् आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास) में विभक्त किया है। यथा—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विज: ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतचारो गृहे वसेत् ॥ (मनु०-४.१)

अर्थात् जीवन के प्रथम भाग में गुरु के समीप ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदाध्ययन करना, उसके उपरान्त द्वितीय चतुर्थांश भाग में गृहस्थाश्रमी बनना।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै: ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु: ॥ (मनु०-२.२८)

आशय यह है कि वेदाध्ययन काल में मधु, मांसादि तामस पदार्थों का त्याग करना चाहिये, ताकि विधिपूर्वक समयबद्ध प्रात:-सायंकालीन हवन से, त्रैविद्य नामक व्रत से ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षि-पितृतर्पण आदि क्रियाओं से, गृहस्थावस्था में पुत्रो-

त्पादन द्वारा महायज्ञों से तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से इस शरीर को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाना चाहिये।

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥ (मनु०-४.३)

उपर्युक्त श्लोक का आशय धर्म-नीतिपूर्वक धनसञ्चयन से है। अपने परिवार के सहित अनिन्दित कर्मों से अर्थात् वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में वर्णित रीति (उससे भिन्न नहीं) से शारीरिक क्षमता अर्थात् सञ्चयी प्रवृत्ति का त्याग कर भरण-पोषण के निमित्त धन का सञ्चय करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि भरण-पोषण से ज्यादा, शारीरिक कष्ट उठाकर अथवा वर्णविहित धर्म के विपरीत कार्य द्वारा धनसञ्चय से अनर्थ उत्पन्न होगा, जो मोक्षदायक परिव्राजक धर्म में बाधक होगा।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्वव्रर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ (मनु०-३.४५)

अर्थात् अपनी पत्नी के साथ प्रेम करने वाला पुरुष स्त्री के ऋतुमती होने के बाद शुद्ध होने पर (रजःस्राव के पाँचवें दिन ही स्त्रियाँ शुद्ध होती हैं) सम्भोग करे तथा रति की इच्छा से पर्वदिनों (पूर्णिमा, अमावस्या आदि) को छोड़कर अन्य दिनों में स्त्री के साथ सहवास करे।

काम का दो अर्थ है—एक वासनाजन्य काम तथा परमतत्त्व-प्रापक काम। सन्तानोत्पत्तिजन्य काम को धर्म का साधक मानना चाहिए। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' कहा गया है। यदि सन्तान की उत्पत्ति नहीं होगी, तब गृहाश्रमियों के लिए वक्ष्यमाण ब्रह्मयज्ञ आदि महायज्ञों की पूर्ति कैसे होगी? पितृतर्पणादि क्रिया अवरुद्ध हो जायेगी। अतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन हेतु सन्तानोत्पत्तिरूप कार्य धर्माचरण का ही अङ्ग है और वह मनुष्य को परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायक है।

धर्म, अर्थ, काम के उपरान्त पुरुषार्थचतुष्टय में चरम तत्त्व मोक्ष का क्रम आता है। इन तीनों उपादानों का धर्म-नीतिपूर्वक निवर्हण करने के उपरान्त मानव को देव-दुर्लभ मानव तन प्राप्त करने के उपरान्त उसका औचित्य सिद्ध करने का अब सुअवसर प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षप्राप्ति के साधनभूत परिव्राजक धर्म में प्रविष्ट होने का अवसर प्राप्त होता है। इसीलिये स्मृतिकार मनु ब्रह्मप्राप्ति हेतु समुचित मार्ग का निर्देश करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण को चाहिए कि चित्त को सावधान कर समस्त सत् तथा असत् को विचारपूर्वक देखे। जब सभी सत् तथा असत् को आत्मा में ब्राह्मण वर्त्तमान देखने लगता है, तब वह (ब्राह्मण) अधर्म से अपने मन को दूर करने में समर्थ हो जाता

है अर्थात् उसका चित्त निर्मल हो जाता है और उसकी प्रवृत्ति अधर्म से सर्वथा विमुख रहती है—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ।। (मनु०-१२.११८)

पुनः निर्मल मन के उपरान्त ब्रह्मध्यान में उपयोगी तत्त्वों का निर्देश करते हुए सभी देवताओं को आत्मा अर्थात् परमात्मा समझे, समस्त संसार को उस परमात्मा में अवस्थित माने और आत्मा ही अर्थात् परमात्मा ही इन देहियों के कर्मसम्बन्ध को उत्पन्न करता है—ऐसा परिज्ञान करे । यथा—

आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जयनत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।। (मनु०-१२.११९)

पुनः आत्मा एवं परमात्मा के एकाकार का निर्देश करते हुये शास्त्रकार कहते हैं—

खं सन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।
पंक्ति दृष्ट्योः पटं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ।।
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे कान्ते विष्णुबलं हरम् ।
वाच्याग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ।। (मनु०-१२.१२०-२१)

अर्थात् नासिका और उदर आदि शारीरिक आकाश में बाह्य आकाश को, चेष्टा तथा स्पर्शरूप शारीरिक वायु में बाह्य वायु को, उदरसम्बन्धी तथा नेत्रसम्बन्धी शारीरिक तेज में उत्कृष्ट सूर्य-चन्द्रसम्बन्धी बाह्य तेज को, शारीरिक स्नेह अर्थात् जल में बाह्य जल को, शारीरिक पार्थिव (पृथ्वी सम्बन्धी) भागों में बाह्य पृथिवी को, मन में चन्द्रमा को, कानों में दिशाओं को, चरणों में विष्णु को, बल में शिव को, वचन में अग्नि को, गुदा में मित्र को, शिश्न में प्रजापति को लीन हुआ समझकर अर्थात् उन सबमें एकत्व की भावना करे । तदनन्तर ब्रह्मध्यान का निर्देश करते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विधानं पुरुषं परम् ।।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ।।

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वं समतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।। (मनु०-१२.१२२-२४)

आत्मा में लीन बाह्य भूतों अर्थात् आकाशादि को भी भावना करके सम्पूर्ण चराचर जगत् का शासक, सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्मतर सुवर्ण के समान देदीप्यमान स्वप्न बुद्धि के ग्रहण करने योग्य उस श्रेष्ठ पुरुष का चिन्तन करे। उस परम पुरुष परमात्मा को कुछ लोग अग्नि अर्थात् याज्ञिक अध्वर्यु, कुछ लोग प्रजापति मनु, कुछ लोग ऐश्वर्यवान् होने से इन्द्र, कुछ लोग प्राण तथा कुछ लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं। वही परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में शरीरों को उत्पन्न करने वाली पञ्चमूर्तियों (पञ्च तत्त्व अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) से व्याप्त होकर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अर्थात् जन्म, स्थिति और मरण के द्वारा रथ के चक्र के समान उपर्युक्त जन्म-मरणादि कर्मचक्र में बनाये रखता है। इस प्रकार गीतोक्त—'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' सिद्धान्त को पुष्ट करता हुआ मनु द्वारा निर्देशित जो व्यक्ति सम्पूर्ण जीवों में स्थित परमात्मा को आत्मा के द्वारा देखता है, वह सबमें समानता प्राप्त कर ब्रह्मरूप परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

वर्ण्य-विषय

व्यक्ति, समाज एवं राज्य चेतन सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुस्मृति में चेतन से जड़ के विकास, सृष्टि, विद्या; उसके साथ कर्म, धर्म एवं व्यवस्था के उदय, कालचक्र आदि का विश्लेषण है। इसके व्यावहारिक पक्ष में समाज के विभिन्न घटकों का विश्लेषण है। मनुस्मृति के **प्रथम अध्याय** में संसारोत्पत्ति से प्रारम्भ कर देश-धर्म, जाति-धर्म एवं कुल-धर्म के अतिरिक्त पाषण्डी एवं गुण-धर्म अर्थात् अवैदिक राजनीतिक सङ्घटनों की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। मनु चारों वर्णों अम्बष्ठादि, अनुलोमज, सूत आदि प्रतिलोमज तथा भुर्जकण्टक आदि सङ्कीर्ण जातियों के संस्कार एवं कर्तव्यों का विश्लेषण करते हैं। ये अविज्ञेय तथा सर्वज्ञ ईश्वर के विषय में बताकर सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण देते हैं। सृष्टिरचना के क्रम में विराट् पुरुष ने मनु को उत्पन्न किया। वे संसार के निर्माता हैं। मनु से दस प्रजातियों की उत्पत्ति हुई है; जैसा कि बताया गया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ (मनु०-१.५-६)

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥ (मनु०-१.३३)

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ (मनु०-१.३४)

पुनः जीव, पशु, पक्षी तथा मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मनुस्मृति में चेतन से लेकर स्थावर तक की गतिविधियों का विश्लेषण है। महाप्रलय में विनाश का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय—इस अध्याय में मनु द्वारा धर्म का विश्लेषण किया गया है, जिसमें धर्म के उपादान, धर्म के लक्षण, वेद, स्मृति, भद्र लोगों का आचरण तथा आत्मतुष्टि है। यथा—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ (मनु०-२.१०)
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ (मनु०-२.१२)

ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश, आर्यावर्त की सीमा, यज्ञीय देश, म्लेच्छ देश आदि का विवेचन भी मनुस्मृति में द्रष्टव्य है—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ (मनु०-२.१६-१७)
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥
कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ (मनु०-२.१९-२३)

मनु व्यक्ति के सर्वोच्च विकास में इन्द्रियों पर विजय महत्त्वपूर्ण मानते हैं। गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध, उनके लक्षण माता-पिता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। मनु का

उक्त विवेचन भारतीय नैतिकता का उद्घोष है। इसी अध्याय में मनु का राष्ट्रवाद प्रस्तुत होता है। उन्होंने ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त-जैसे भू-भागों का विश्लेषण दूसरे आधार पर किया है। यज्ञिय और म्लेच्छ देश के रूप में दो प्रकार से भूमि का विभाग किया है। वे वैदिकों को इसी आर्यावर्त के विकसित सृष्टि का आदि पुरुष और सारी मानवता का अभिभावक मानते हैं। इस प्रकार भारत-भूमि, भारत और भारतीय नैतिकता का प्रतिपादन ही मनु-प्रणीत शास्त्र का उद्देश्य है।

तृतीय अध्याय—इस अध्याय में ब्रह्मचर्य व्रत अर्थात् वेदाध्ययन के उपरान्त धर्म के उपादानभूत गार्हस्थ्य जीवन के प्रवेश पर मनु ने विशद प्रकाश डाला है—वेदाध्ययन के बाद समावर्तन, विवाह, विवाह में त्याज्य कुल, विवाहयोग्य कन्या, कन्या के लक्षण, विवाह के भेद, विवाहों में वर्णानुसार हीनता तथा श्रेष्ठता, उत्तम ब्राह्म विवाह की प्रशंसा आदि विषयों की चर्चा गई है।

विवाहोपरान्त पति-पत्नी के बीच धर्मानुसार कैसा सम्बन्ध हो, इसका विशद वर्णन इस अध्याय में प्राप्त होता है; जिसमें स्त्री-समागम, स्त्री-सम्मान, पञ्चमहायज्ञ, गृहस्थाश्रम की प्रशंसा, नित्यश्राद्ध, पितृश्राद्ध, बलिवैश्वदेव-विधि, दान-विधि, अतिथिसेवा, अतिथियों के प्रकार, श्राद्ध के विविध पक्ष, श्राद्ध में सत्पात्र ब्राह्मण की आवश्यकता असत्पात्र की निन्दा, श्राद्ध की प्रशंसा तथा मृत पितर के वसु आदि देवस्वरूपत्व-प्राप्ति आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन मनु ने प्रकृत अध्याय में प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अध्याय—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयामायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ (मनु०-४.१)

तृतीय अध्याय में गृहाश्रमी बनने की पृष्ठभूमि तैयार कर जीवन के द्वितीय भाग अर्थात् यथाशक्य द्वितीय चतुर्थांश में पूर्ण गृहाश्रमी के दायित्व-निर्वहण का आदेश प्राप्त होता है। जिसमें प्राणियों की श्रेष्ठ जीवनवृत्ति का वर्णन सर्वप्रथम आया है।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ (मनु०-४.२-५)

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥
कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥ (मनु०-४.६-८)

इसी अध्याय में वर्णानुसार कर्मों का विवेचन विशद रूप से प्राप्त होता है। जिसमें घर के अन्दर का आचरण तथा सामाजिक आचरण दोनों पक्षों पर मनु की पैनी दृष्टि दिखाई पड़ती है। घर के अन्दर स्त्री के साथ कब-कैसे और क्या व्यवहार करना चाहिए इत्यादि। मल-मूत्र का त्याग कहाँ और किस दिशा में करना आदि व्यावहारिक अवस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित कराया गया है। पुनः निवास, अध्ययन, नित्य-नैमित्तिक कर्म तथा उसकी अवस्था एवं समय, वेद-वेदाङ्ग का अध्ययनरूपी कर्म का ज्ञान प्राप्त कराया गया है। जीवन की निर्विघ्नता के लिए शत्रु आदि के साथ नीतिपरक व्यवहार का निर्देश भी इस अध्याय में प्राप्त है—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम्॥ (मनु०-४.१३३)

साथ ही परस्त्री-सेवन के तीव्र विरोधपूर्वक उत्तम आचार का उत्कृष्ट निर्देश भी इसी अध्याय में प्राप्त होता है—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ (मनु०-४.१३४)

इस प्रकार अभिवादन, उठना, बैठना, सोना, खाना, पीना, चलना, जीविका चलाना, पूजा करना, किसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना, किसके साथ नहीं करना, किसका अन्न ग्रहण करना, किसका नहीं करना आदि का वर्णन करते हुए अपने योग्य पुत्र को समस्त दायित्व सौंपकर ब्रह्मचिन्तन का निर्देश दिया गया है—

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥ (मनु०-४.२५७-२५८)

पञ्चम अध्याय—इस अध्याय का प्रारम्भ में बताया गया है कि मृत्यु का कारण तत्त्व क्या है? इसकी जिज्ञासा होती है? भृगु जी ने इसका कारण वेदाध्ययन का

अभाव, आचारहीनता, अधर्म, अभक्ष्यभक्षण आदि तत्त्वों को मनुष्य की मृत्यु में कारण माना है। इसी क्रम में किसके लिए क्या भक्ष्य तथा क्या अभक्ष्य है, इसका विचार किया गया है। पुनः आशौच-विचार के क्रम में जनना-मरण दोनों प्रकार के आशौच का विचार किया गया है। मनु ने राजादि को आशौच से मुक्त रक्खा है—

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥
राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्॥ (मनु०-५.९३-९४)

इस अध्याय में शौच का बहुत ही स्पष्ट तथा सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है, जिसमें शरीर, अन्न, वस्त्र, थूक, खखार, गाय आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

षष्ठ अध्याय—गृहस्थ जीवन के उपरान्त वानप्रस्थ जीवन जीने की विधि इस अध्याय में वर्णित है। वानप्रस्थियों के लिए ग्राम्याहार का त्याग, मृगचर्मादि धारण तथा वानप्रस्थियों के अन्य नियमों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। वानप्रस्थ आश्रमियों को क्या खाना, क्या पीना, कहाँ सोना, उस अवस्था में भी अतिथि के उपस्थित हो जाने पर कैसा सत्कार करना, क्षुद्र जीवहत्याजन्य प्रायश्चित्त, प्रियाप्रिय में पाप-पुण्य का त्यागपूर्वक विषय की निःस्पृहता वानप्रस्थाश्रम का मुख्य विवेच्य है—

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥
यदा भावेन भवति सर्वाभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ (मनु०-६.७९-८०)

एवं प्रकार से प्रियाप्रिय से निःस्पृह व्यक्ति ही आत्मध्यान तथा वेदाध्ययन करता हुआ वानप्रस्थ आश्रम का निर्वहण कर सकता है।

सातवें अध्याय में समाज के नियंत्रण हेतु राजधर्म की विवेचना विस्तृत रूप से की गयी है। आचार्य मनु ने राजा को ईश्वरस्वरूप माना है। उन्होंने राज्य का पहला आधार भौतिक माना है। इनका मत है कि राज्य की स्थापना ऐसे वातावरण में हो, जहाँ अन्न का प्रचुर उत्पादन हो सके। उस राज्य में धार्मिक लोग निवास करें, जनता रोग-व्याधि से रहित हो, वातावरण शान्त हो, रमणीक हो, प्रजागण विनीत हों तथा जीविका का साधन भी सुगमतापूर्वक उपलब्ध हो। मनु ने दूसरा आधार राजनैतिक माना है। राजसत्ता राजनीतिक आधार की अभिव्यक्ति में साधन है। राजा एवं प्रजा के कर्त्तव्य के विषय में उनका विचार स्पष्ट है कि राज्य के सकुशल सञ्चालनार्थ राजा को न्यायालय में स्वयं उपस्थित होकर देश-कुल-काल-परिस्थिति एवं शास्त्रानुसार

न्याय प्रदान करना चाहिए। इसी का विवेचन सातवें अध्याय में करते हुए मनु ने स्वयं कहा है—

> राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
> संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥
>
> ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
> सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ (मनु०-७.१-२)

अर्थात् राजा के आचार, उत्पत्ति और इस लोक तथा परलोक में होने वाली उत्तम सत्पात्रता हो, ऐसे राजधर्म को कह रहा हूँ। शास्त्रानुसार क्षत्रियकुलोत्पन्न एवं वैदिक विधि से अभिषिक्त राजा न्यायपूर्वक सब प्रजा की रक्षा करे।

इस वचन का अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय के लिए ही मुख्यतः प्रजापालनरूप कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया गया है। आपत्तिकाल में ब्राह्मण भी क्षत्रिय वैश्यवृत्ति का आश्रयण कर सकता है। वैश्य क्षत्रिय वृत्ति कर सकता है और शूद्र भी क्षत्रिय वैश्य वृत्ति कर सकता है; किन्तु ब्राह्मण शूद्रवृत्ति और शूद्र ब्राह्मणवृत्ति आपत्तिकाल में भी नहीं कर सकते। आचार्य मनु का कथन है कि इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि होती है। राजा राज्य के सकुशल संचालन हेतु तीन अंगों की स्थापना करता है—कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका।

कार्यपालिका—आचार्य मनु ने कार्यपलिका को तीन भागों में विभक्त किया है—राजा, मंत्रिमण्डल और लोकसेवा। इसमें पहला राज्य का प्रधान अङ्ग राजा का होता है। मनुस्मृति में उसकी उत्पत्ति दैवी मानी गयी है। उनके अनुसार उसका देवत्व विधि और धर्मसापेक्ष है। दैवी सिद्धान्त मात्र राजा के दैवत्व का विश्लेषण करता है, दैवी अधिकार का नहीं। राजा का अधिकार धर्म-नियंत्रित है, वह समाज से विमुख नहीं है, बल्कि समाज का एक अङ्ग है। मनु राजा के अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य पर अधिक बल देते हैं। राजा समाज, विधि एवं धर्म का विषय है। राजा दण्ड के अधीन है। दण्ड सामाजिक शक्ति का प्रतीक है। राजा दण्ड का प्रयोग समाजविरोधी तत्वों के विरुद्ध करता है। यदि वह दण्ड का दुरुपयोग करता है, तो उसका उपयोग उसके विरुद्ध भी सम्भव है।

> तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
> ब्राह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥
>
> तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
> भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥

(म०अ०७ श्लोक १४-१८)

राजनीतिक सम्प्रभुता का प्रतीक राजा है । उसमें यह शक्ति प्रजा द्वारा प्रदत्त है । राजा प्रजा के संरक्षण के लिए है । प्रजा राजा के लिए नहीं है । अन्यायी राजा अपने जीवन और राज्य से हाथ धो बैठता है । आचार्य मनु वैसे राजा की बात करते हैं, जो वेद का ज्ञाता हो तथा अत्यनुशासित रहता हो । मनु का राजा विद्वान् होने के साथ ही जनकल्याण एवं राज्य के सुख समृद्धि का कारण बन सकता है । मनुस्मृति में राजा की दिनचर्या का उल्लेख इस बात का संकेत है कि वह कहीं से भी स्वच्छन्द अथवा स्वतन्त्र नहीं है । वह विधि, नियम एवं परम्परा के अधीन है ।

कार्यपालिका का दूसरा विभाग मंत्रिमण्डल है । राजा मंत्रियों की सहायता से शासन का संचालन करता है । मनु का मत है कि जो राजा मंत्री, सेनापति आदि सहायकों से रहित है, वह मूर्ख है, लोभी है, शास्त्रज्ञानविहीन है और विषयासक्त है । वह राज्यशासन न्यायपूर्वक नहीं कर सकता—

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहयन्यते ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ (मनु ७.२७-३१)

राजा को मंत्रियों की नियुक्ति एवं पदच्युति का अधिकार है । मंत्रियों को युद्धशक्ति के विभाग, मुद्रा, पुलिस और नागरिक कार्य सौपे गये हैं ।

कार्यपालिका का तीसरा अंग लोकसेवा है। मनुस्मृति में लोकसेवाहेतु मेधावी, वफादार, बहादुर एवं कुलीन व्यक्तियों की नियुक्ति का अधिकार राजा को दिया गया है। अतएव स्पष्ट है कि मनु के अनुसार कार्यपालिका के तीन अंग होते हैं—राजा, जिनका कर्त्तव्य लोगों की सेवा करना होता है, उसी क्रम में जनता की सहायता हेतु सुपरीक्षित मंत्रिमण्डल एवं प्रशिक्षित लोकसेवकों, राज्य कर्मचारीयों की नियुक्ति करना आदि भी राजा के अधिकार एवं दायित्व के अन्तर्गत आता है।

अष्टम अध्याय में न्यायपालिका से सम्बन्धित विषयों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। समाज के कुशलतापूर्वक संचालन हेतु विधि-व्यवस्था बनाये रखना, व्यक्ति एवं समाज के लिए उचित न्याय की व्यवस्था करना इसकी स्थापना का अधिकार है। न्यायपालिका का प्रधान राजा को माना गया है। न्याय-व्यवस्था हेतु विद्वान् ब्राह्मण की नियुक्ति की जाती है। तीन अन्य ब्राह्मण को नियुक्त कर राजा चार ब्राह्मणों को मिलाकर न्यायपालिका को न्यायिक संस्था का रूप प्रदान करता है।

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्राह्मणस्तां सभां विदुः॥ (म०अ० ८.९-११)

मनु के अनुसार न्यायपालिका में १८ प्रकार के विवादों पर विचार होता है; जो निम्नवत् है—

१. ऋण लेना, २. धरोहर रक्षा ३. किसी वस्तु या भूमि आदि का स्वामी न होने पर भी उसे बेच देना, ४. अनेक व्यक्तियों का मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करना, ५. दान आदि में दी गयी सम्पति या किसी वस्तु को क्रोध, लोभ आदि के कारण वापस ले लेना, ६. नौकरों को वेतन या मजदूरों की मजदूरी देना, ७. पूर्व-निर्णीत सन्धिपत्रादि को नहीं मानना, ८. क्रय-विक्रय में विवाद उपस्थित होना, ९. स्वामी तथा रखवाली करने वाले में परस्पर विवाद होना, १०. सीमा के विषय में विवाद होना, ११. दण्ड-पारुष्य (अत्यधिक मारपीट करना), १२. वाक्पारुष्य (अनधिकार गाली आदि देना), १३. चोरी करना, १४. अतिसाहस करना (डाका डालना, आग लगाना आदि), १५. स्त्री का परपुरुष से सम्भोग आदि करना, १६. स्त्री-पुरुष का धर्म, १७. पैतृक (पिता के) धन-सम्पत्ति या भूमि आदि का बँटवारा करना और १८. जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर (बाजी लगाकर अर्थात् दाँव पर धन आदि लगाकर), पशु (भेड़ा, भैंस

आदि), पक्षी (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) को लड़ाना। ये १८ स्थान व्यवहार (मुकदमें) की स्थिति में रक्खे गये हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि न्याय करना राजा का पदेन कर्त्तव्य है तथा न्याय की अवहेलना किसी भी कीमत पर नहीं होनी चाहिए। न्याय सामाजिक जीवन का आधार है। न्याय करते समय विभिन्न परिस्थितियाँ तथा उनसे सम्बधित मामलों को ध्यान में रखा जाना अनिवार्य है। सामाजिक स्थिति न्यायिक शक्ति का केन्द्रविन्दु है।

विधायिका—राज्य सरकार की तीसरी शक्ति विधायिका है, जो विधि-निर्माण की प्रक्रिया को पूरी करती है। यहाँ मनु ने कहा है कि इस कार्य में लगे लोग विशिष्ट विद्वान् होने चाहिए। उन्होंने वेदों या उसकी टीकाओं का भी ज्ञान उन विद्वानों के लिए अनिवार्य माना है; क्योंकि विधि श्रुति-स्मृति, सदाचार एवं आत्मविवेक से आती है। इस विधायिका संगठन को दशवरा तथा त्र्यम्वरा सभा कहा गया है, जिसमें सदस्यों की संख्या १० होती है उनको दशवरा सभा कहते हैं इसमें तीन व्यक्ति एक-एक वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक मीमांसक, एक निरुक्त, एक धर्मशास्त्रवक्ता एवं तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के होते हैं।

त्र्यम्वरा सभा तीनों वेदों के एक-एक विद्वान् को मिलाकर बनायी जाती है।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठक:।
त्रयश्चाश्रमिण: पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ (मनु० १२.१११)

यहाँ ध्यातव्य है कि मनु विकेन्द्रित प्रशासनिक-व्यवस्था पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से राज्य के प्रत्येक भाग की सुरक्षा संभव है। शासन-व्यवस्था हेतु उन्होंने एक ग्राम, दश ग्राम, सौ ग्राम और एक हजार ग्रामों के पृथक्-पृथक् संगठनों की व्यवस्था की है।

करप्रणाली के विषय में मनु का स्पष्ट मत है कि राज्य की कर-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये, जिसमें राज्य एवं नागरिक को समान लाभ प्राप्त हो सके एवं प्रजा पर अधिक कर का बोझ भी न पड़े।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदा:।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्रद्राज्ञाब्दिक: कर:॥
(मनु०- ७.१२८-१२९)

आचार्य मनु ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन युद्ध एवं शास्त्र दो विषयों के अन्तर्गत किया गया है। उन्होंने युद्ध की विधियाँ, सन्धि, आक्रमण, सुरक्षा, शक्तियों

का बँटवारा, व्यूहरचना इत्यादि का भी वर्णन किया है। उन्होंने अन्ताराष्ट्रीय नीति के चार आधार निर्धारित किये हैं—समझौता, दुर्व्यवहार, राज्य का विभाजन एवं युद्ध।

मनुस्मृति में राज्य का सावयवरूप निर्धारित किया गया है। राज्य के घटक हैं—स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड तथा सुहृद्। ये सभी अंग एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इनमें प्रत्येक अंग एक-दूसरे से अधिक शक्तिशाली है।

मनु ने राजा के कार्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। मुख्य रूप से राजा के दो कार्य हैं—आन्तरिक शक्ति-विकास एवं बाह्य शक्ति-नियंत्रण। मूल्य पर नियंत्रण करना राजा का आन्तरिक कर्त्तव्य है। समाज में उत्पन्न विवादों को निर्णीत करने में राजा की भूमिका निर्णायक होती है। श्रेणी एवं परिजन के मध्य विवाद का भी निपटारा राजा ही करता है।

जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ (मनु०- ८.४१)

प्रत्येक वर्ण अपने निश्चित कार्यों में संलग्न रहता है या नहीं—यह देखना राजा का कर्त्तव्य है; अन्यथा सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का खतरा रहता है—

वाणिज्यं कारयेद् वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥ (मनु ८.४१०)

आचार्य मनु ने शिक्षा पर विशेष बल दिया है। उन्होंने कहा है कि राजा को समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। शिक्षा ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जो न तो नष्ट होता है, न ही उसे कोई चुरा सकता है। राजा को विद्वानों को पुरस्कृत करना चाहिये। उनका कथन है कि वेदज्ञ विद्वान् से राष्ट्र के कल्याण एवं समृद्धि में सहायता मिलती है। मनु ने सामाजिक समरसता को कायम रखने के लिए कुछ लोगों को करमुक्त रक्खा है; यथा—ग्रामीण स्त्री, संन्यासी, योगी, वेदज्ञ आदि पर कर का बोझ नहीं होना चाहिए। नाबालिकों के सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये। नाबालिक ही समाज के बीज हैं। उन्होंने अपंगों की भी उचित देख-भाल करने की व्यवस्था करने को कहा है; जैसे—सन्तानविहीन स्त्रियाँ, विधवाओं एवं बीमार स्त्रियों की देखभाल करें। राजा अन्धे, लंगड़े, लूले, वृद्ध आदि से कर वसूल करने के लिए बल प्रयोग का निषेध किया है।

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव दाप्यास्तारिकं तरे॥ (मनु०- ८.४०७)

इस प्रकार मनुस्मृति के द्वारा राजा को समस्त प्रजाओं को सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करना तथा असामाजिकों को दण्डित करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

नवम अध्याय—नवें अध्याय में मनु स्त्री-पुरुष के धर्म के विषय में विशद् विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्त्री की रक्षा बचपन में पिता, युवावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र करता है—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (मनु०-९.३)

यहाँ मनु का विशेष अभिप्राय वैदिक मूल्यों का संरक्षण करना है । असंयमित काम से बलात्कार जैसी सामाजिक बुराई का जन्म होता है । वे बलात्कारी के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था करते हैं—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ (मनु०-९.१०)

स्त्रीरक्षा के उपाय का विशेष रूप से वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि पिता, पति या पुत्रादि अभिभावक उस स्त्री को धनसंग्रह, व्यय, वस्तु तथा पदार्थों की शुद्धि, पति तथा अग्नि की सेवा (पति एवं गुरुजन की शुश्रूषा तथा अग्निष्टोम कर्म), घर तथा घर के बर्तन आदि की सफाई में नियुक्त करे । धर्मपूर्वक भी उनकी रक्षा अनिवार्य है । स्त्रियों के छः दोष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(मद्यादि मादक द्रव्यों का) पति के साथ विरह, इधर-उधर घूमना, (असमय में) सोना और दूसरों के घर में विवाद करना— ये स्त्रियों के छः दोष हैं । स्त्रियों का स्वभाव, स्त्रियों की सामान्य क्रिया का निषेध, व्यभिचार-प्रायश्चित्त, पति-गुणानुकूल स्त्री-गुण होना, पति-संसर्ग से स्त्री-प्रशंसा, अव्यभिचार का सत्पुत्र, व्यभिचार का कुपुत्र, क्षेत्र के अप्राधान्य में दृष्टान्त, पर-स्त्री में बीजवपन का निषेध, पुत्राधिकारी होने का उदाहरण, स्त्री-पुरुष की एकता, विक्रय या त्याग से स्त्रीत्व से अनुमित भाग-विभाजनादि, एक बार सेव्य स्त्री-धर्म, वियोग प्रकरण की व्याख्या का भी विस्तृत रूप से वर्णन किया है । नियोगनिन्दा, वर्णसङ्कर, वाग्दत्ता कन्या के पति के मरने पर दूसरे पति से विवाह, सप्तपदी से पूर्व दोषवती कन्या का त्याग, स्त्री के मद्यपायन करने पर राजदण्ड, वर्णानुसार स्त्रियों का दाय क्रियाज्ञानादि सजातीय स्त्री के संग धर्मकार्य का विधान, गुणी वर के लिए कन्या का विधान, स्वयं वरण का समय, विवाह की आवश्यकता, स्त्री के साथ धर्म कार्यार्थ सम्भोग करने का विधान है—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ (मनु०- ९.९६)

पति से किसी प्रकार का शुल्क प्राप्त करना निन्दनीय माना गया है । तदनन्तर दायभाग का भी विवेचन प्राप्त होता है । इसमें बड़े भाई का विशेष अधिकार प्राप्त है

और पितृवत् ही वह सभी अनुजों को प्रेम और व्यवहार प्रदान करे। ज्येष्ठपुत्र को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। पितृधन में कन्या को भी अधिकार प्राप्त है। पुत्रहीन पिता कन्यादान करते समय—इस कन्या से जो पुत्र प्राप्त होगा, वह मेरी श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया करने वाला होगा—ऐसा जामाता से कहकर उस कन्या का 'पुत्रिका' कर्म करे। मनु ने कहा है कि पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र (पुत्र के पुत्र = पोते) से उन लोकों में अनन्त काल तक निवास करता है तथा परपौत्र (पुत्र के पौत्र परपोते) से सूर्यलोक को प्राप्त करता है। जिस कारण पुत्र पुंनामक नरक से पिता की रक्षा करता है, उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥
पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥ (मनु०-९.१३७-१३८)

मनु ने पुत्रहीन पिता कि लिए दत्तक पुत्र का विधान किया है। ब्राह्मण के चारो वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने का विधान है और अंश का भी विभाजन किया गया है।

आचार्य मनु छः प्रकार के पुत्र को दायाद (पितृधन के भागी) मानते हैं, वे हैं— औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूठोत्पन्न तथा अपविद्ध।

यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य है कि दायभाग में आचार्य मनु ने सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमों तक विधान किया है, जिसमें कोई भी व्यक्ति छूट न जाय तथा राजव्यवस्था में भी सभी की सहभागिता हो, ऐसा जो नहीं करता है, उसे तो वे राष्ट्रद्रोही मानते हैं। मनु के अनुसार राजा युग स्वरूप है। राजा अपने आचरण एवं व्यवहार से सबका पालन पोषण करता है। मनु ने सभी वर्णों को अधिकार से अधिक कर्त्तव्य पर ब्रह्म दिया है।

दशम अध्याय—इस अध्याय में मनु ने वेदाध्ययन का अधिकार तो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को प्रदान किया है, लेकिन उसकी व्यवस्था का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। यथा—

अधीन्यीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्तेषां नेतराविति निश्चयः॥ (मनु०-१०.१)

मनु ने सभी वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने आपत्ति-काल में वर्णों के कर्त्तव्य का भी विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। राजा को सभी वर्णों को दण्डित करने का अधिकार है, केवल ब्राह्मण वर्ण को छोड़कर। इस विषय में मनु

का विचार है कि पाप एवं अपराध की प्रवृत्ति ब्राह्मण में नहीं होती है, ऐसा तभी होता है जब राजा भ्रष्ट अथवा मूर्ख होता है—

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्तिपरमां गतिम् ।। (मनु०-१०.१३०)

मनु ने सजातीय कथन, पिता की जाति के समान जाति होना, वर्णसङ्कर का लक्षण तथा उसके दो भेद अनुलोमज और प्रतिलोमज की भी चर्चा की है । उन्होंने वर्ण-चतुष्टय के सामान्य धर्म का विधान बताते हुए ब्राह्मण वर्ण के षट् कर्मों का भी विधान किया है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।। (मनु०-१०-७५)

अर्थात् साङ्ग वेदों का अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणों के हैं । इनमें तीन कर्म जीविका के लिए—साङ्ग वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना ब्राह्मण की जीविका के लिए हैं । क्षत्रियों के तीन कर्म कहे गये हैं--

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ।। (मनु०-१०.७७)

अर्थात् ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियों के तीन कर्म—वेदाध्ययन, यज्ञ कराना तथा दान लेना निवृत्त होते हैं । अतः क्षत्रियों को इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना) ये ही करने चाहिए ।

वैश्यों के कर्म का भी विधान उन्होंने प्रस्तुत किया है । वैश्य के लिये भी सामान्य धर्म का पालन करने का ही विधान कर्म मान्य है । उन्होंने आपद्धर्म का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । कुछ वर्णित कर्म आपत्काल में भी नहीं करने का विधान है । उस काल में शिला तथा उञ्छ से भी जीविका चलाना चाहिए । वे सप्तविध धर्मयुक्त धनागम का विवेचन करते हैं—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ।। (मनु०-१०.११५)

अर्थात्—

१- दाय (धर्मयुक्त पितृ-सम्पत्ति का भाग)

२- लाभ (मूलधन या मियादि प्राप्त)

३- खरीदा हुआ

४- जय (धर्मपूर्वक किये गये युद्ध में विजय से प्राप्त)

५- प्रयोग (व्याज अर्थात् सूद आदि के द्वारा प्राप्त)

६- कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करने से प्राप्त)

७- सत्यप्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान से प्राप्त)।

ये सात धन के लाभ होने के स्थान धर्मयुक्त कहे गये हैं। जीवन-निर्वाह के इस हेतुओं की चर्चा करते हुए कहते हैं—१- विद्या (वेद-वेदाङ्गादि का तथा वैद्यक, तर्क, विष-निराकरण आदि की विद्या), २-शिल्प (वस्त्र, तैलादि को सुगन्धित करना), ३-भृति (इत्रादि बनाकर वेतन लेना), ४- सेवा (दूसरों की दासता, नौकरी करना), ५- गोरक्षण (गौ तथा अन्य पशुओं का पालन-संवर्धन आदि), ६-व्यापार, ७- खेती, ८- धैर्य (थोड़े धन पूर्वक भी सन्तोष से निर्वाह करना), ९- भिक्षासमूह और १०- सूद—ये इस जीवन-निर्वाह के हेतु हैं। वे राजाओं के भी आपद्धर्म का विधान किये हैं। प्रकार इस अध्याय में आपद्धर्म पर भी विशेष चर्चा की गई है।

एकादश अध्याय में मनु ने नवविध स्नातकों को दान देना तथा वेदी के भीतर भिक्षान्न देने का विधान किया गया है।

सान्ताकिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद् ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान्।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः॥ (मनु०-११.१-२)

अर्थात् सन्तानार्थ विवाहेच्छुक, यज्ञ करने का इच्छुक, पथिक, विश्वजित् आदि यज्ञ करने में अपनी समस्त सम्पत्ति को दान किया हुआ, विद्या गुरु, पिता-माता के लिए भोजन देने के इच्छुक, पढ़ने के लिए भोजन-वस्त्र का इच्छुक और रोगी—इन नव-विध स्नातक ब्राह्मणों को धर्मभिक्षु जानना चाहिए तथा इनके निर्वाह के लिए गौ, सोना, अन्न और वस्त्र आदि दान देना चाहिए। उन्होंने सोमयाग के अधिकारी, एकांग-हीन-यज्ञपूर्त्यर्थ वैश्य आदि से धन लाना, छः उपवास के बाद नीच से भी अन्न लाने का विधान किया है।

वे यज्ञशील के धन की प्रशंसा करते हैं। यज्ञार्थ शूद्र से भिक्षा लेने की तथा यज्ञार्थ धन लेकर बचाने का विशेष रूप से निषेध करते हैं। यज्ञ का प्रतिनिधि कैसा होना चाहिए। ब्राह्मणादि को स्वशक्ति से शत्रु पर विजय करना चाहिए। मनु कन्या तथा मूर्खादि को अग्निहोम करने का निषेध करते हैं। कम दक्षिणा देने से यज्ञ कर्त्ता को क्षति पहुँचती है। अगर सामर्थ्ययुक्त व्यक्ति हो, तो उसे अग्निहोम अवश्य करना चाहिए तथा नहीं करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त के योग्य मनुष्य तथा

का विचार है कि पाप एवं अपराध की प्रवृत्ति ब्राह्मण में नहीं होती है, ऐसा तभी होता है जब राजा भ्रष्ट अथवा मूर्ख होता है—

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्तिपरमां गतिम् ॥ (मनु०-१०.१३०)

मनु ने सजातीय कथन, पिता की जाति के समान जाति होना, वर्णसङ्कर का लक्षण तथा उसके दो भेद अनुलोमज और प्रतिलोमज की भी चर्चा की है । उन्होंने वर्ण-चतुष्टय के सामान्य धर्म का विधान बताते हुए ब्राह्मण वर्ण के षट् कर्मों का भी विधान किया है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ (मनु०-१०-७५)

अर्थात् साङ्ग वेदों का अध्यापन, अध्ययन, यजन; याजन दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणों के हैं । इनमें तीन कर्म जीविका के लिए—साङ्ग वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना ब्राह्मण की जीविका के लिए हैं । क्षत्रियों के तीन कर्म कहे गये हैं--

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ (मनु०-१०.७७)

अर्थात् ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियों के तीन कर्म—वेदाध्ययन, यज्ञ कराना तथा दान लेना निवृत्त होते हैं । अतः क्षत्रियों को इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना) ये ही करने चाहिए।

वैश्यों के कर्म का भी विधान उन्होंने प्रस्तुत किया है । वैश्य के लिये भी सामान्य धर्म का पालन करने का ही विधान कर्म मान्य है । उन्होंने आपद्धर्म का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । कुछ वर्णित कर्म आपत्काल में भी नहीं करने का विधान है । उस काल में शिला तथा उञ्छ से भी जीविका चलाना चाहिए । वे सप्तविध धर्मयुक्त धनागम का विवेचन करते हैं—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ (मनु०-१०.११५)

अर्थात्—

१- दाय (धर्मयुक्त पितृ-सम्पत्ति का भाग)

२- लाभ (मूलधन या मियादि प्राप्त)

३- खरीदा हुआ

४- जय (धर्मपूर्वक किये गये युद्ध में विजय से प्राप्त)

५- प्रयोग (व्याज अर्थात् सूद आदि के द्वारा प्राप्त)

६- कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करने से प्राप्त)

७- सत्यप्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान से प्राप्त)।

ये सात धन के लाभ होने के स्थान धर्मयुक्त कहे गये हैं। जीवन-निर्वाह के इस हेतुओं की चर्चा करते हुए कहते हैं—१- विद्या (वेद-वेदाङ्गादि का तथा वैद्यक, तर्क, विष-निराकरण आदि की विद्या), २-शिल्प (वस्त्र, तैलादि को सुगन्धित करना), ३-भृति (इत्रादि बनाकर वेतन लेना), ४- सेवा (दूसरों की दासता, नौकरी करना), ५- गोरक्षण (गौ तथा अन्य पशुओं का पालन-संवर्धन आदि), ६-व्यापार, ७- खेती, ८- धैर्य (थोड़े धन पूर्वक भी सन्तोष से निर्वाह करना), ९- भिक्षासमूह और १०- सूद—ये इस जीवन-निर्वाह के हेतु हैं। वे राजाओं के भी आपद्धर्म का विधान किये हैं। प्रकार इस अध्याय में आपद्धर्म पर भी विशेष चर्चा की गई है।

एकादश अध्याय में मनु ने नवविध स्नातकों को दान देना तथा वेदी के भीतर भिक्षान्न देने का विधान किया गया है।

सान्ताकिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्वदेसम्।
गुर्यर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद् ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान्।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः॥ (मनु०-११.१-२)

अर्थात् सन्तानार्थ विवाहेच्छुक, यज्ञ करने का इच्छुक, पथिक, विश्वजित् आदि यज्ञ करने में अपनी समस्त सम्पत्ति को दान किया हुआ, विद्या गुरु, पिता-माता के लिए भोजन देने के इच्छुक, पढ़ने के लिए भोजन-वस्त्र का इच्छुक और रोगी—इन नव-विध स्नातक ब्राह्मणों को धर्मभिक्षु जानना चाहिए तथा इनके निर्वाह के लिए गौ, सोना, अन्न और वस्त्र आदि दान देना चाहिए। उन्होंने सोमयाग के अधिकारी, एकांग-हीन-यज्ञपूर्त्यर्थ वैश्य आदि से धन लाना, छः उपवास के बाद नीच से भी अन्न लाने का विधान किया है।

वे यज्ञशील के धन की प्रशंसा करते हैं। यज्ञार्थ शूद्र से भिक्षा लेने की तथा यज्ञार्थ धन लेकर बचाने का विशेष रूप से निषेध करते हैं। यज्ञ का प्रतिनिधि कैसा होना चाहिए। ब्राह्मणादि को स्वशक्ति से शत्रु पर विजय करना चाहिए। मनु कन्या तथा मूर्खादि को अग्निहोम करने का निषेध करते हैं। कम दक्षिणा देने से यज्ञ कर्त्ता को क्षति पहुँचती है। अगर सामर्थ्ययुक्त व्यक्ति हो, तो उसे अग्निहोम अवश्य करना चाहिए तथा नहीं करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त के योग्य मनुष्य तथा

कर्त्तव्य, प्रायश्चित्त में मतभेद एवं प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ भी समझाया गया है—

प्रायो नाम तप: प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ (मनु०-११.५)

अर्थात् 'प्राय:' तप को कहते हैं और 'चित्त' निश्चय को कहते हैं; अत एव तप का निश्चय के साथ संयुक्त होना 'प्रायश्चित्त' कहा जाता है । कुरूप होने में कारण सुवर्ण-चौर्यादि से कुनखित्वादि होना आदि कहा गया है । वे पञ्चमहापातक की चर्चा अपनी स्मृति में विशेष रूप से करते हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागम: ।
महान्ति पातकान्याहु: संसर्गश्चापि तै: सह ॥ (मनु०-११.५४)

अर्थात् १· ब्रह्महत्या करना, २-निषिद्ध मद्य का पीना, ३- ब्राह्मण के सुवर्ण को चुराना, ४- गुरु की भार्या के साथ सम्भोग करना और इन चारो में से किसी एक के साथ भी एक वर्ष तक संसर्ग—ये पाँच महापातक हैं । इन पञ्चमहापातकों के समान कर्म भी बतलाये गये हैं । तत्पश्चात् उपपातक आदि का भी विधान करते हैं । यथा—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदार्यात्मविक्रया: ।
गुरुमातृपितृत्याग: स्वाध्यायाग्न्यो: सुतस्य च ॥ (मनु०- ११.५८)

अर्थात् गोवध, अयाज्य-यजन, परस्त्रीगमन, आत्मविक्रय, गुरु माता-पिता का त्याग अर्थात् उनकी सेवा शुश्रूषा नहीं करना, ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन), स्मार्त अग्नि और पुत्र का त्याग (पुत्र को संस्कृत तथा भूषणादि से अलंकृत नहीं करना आदि अनेक उपपातक का वर्णन किया है तथा उसके प्रायश्चित्त का भी विस्तृत रूप से चर्चा की गई है ।

द्वादश अध्याय में मनु मृत्यु के माध्यम से अपनी बात आगे बढ़ाते हैं । व्यक्ति के शारीरिक, वाचिक एवं मानासिक कर्म से उसकी शुभ एवं अशुभ फल की प्राप्ति होती है । दूसरा तथ्य है कि क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति उत्तम, मध्यम एवं अधमगति को प्राप्त होता है । यथा—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमा: ॥ (मनु०-१२.३)

अर्थात् उसके शरीरसम्बन्धी विविध (उत्तम, मध्यम, अधम) एवं दश लक्षण-युक्त मन, वाणी एवं शरीर के अधिष्ठानों के आश्रय में रहने वाले धर्मों के प्रवर्त्तक व्यक्ति का मन एवं भावनायें होती हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि व्यक्ति मन में जो विचार करता है, वही कर्म करता है । आचार्य मनु ने दस लक्षण वाले कर्मों में विविध मानासिक कर्मों को स्पष्ट किया है ।

१- दूसरों की सम्पत्ति को अन्यायपूर्वक लेने का विचार करना २- मन से निषिद्ध कर्मों को करने की इच्छा करना, ३- असत्य, हठ, मानसिक अशुभ कार्य हैं ।

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ (मनु०-१२.५)

मनु ने स्पष्ट किया है कि जिस व्यक्ति में वाग्दण्ड, मनोदण्ड, शरीरदण्ड—ये तीनों स्थित हैं, वही दुष्कर्मों से रहित पूर्ण व्यक्ति है ।

मनु का अभिप्राय है कि यदि प्राणी मनुष्य-शरीर से धर्म-कर्म करता है, तो वह स्वर्गसुख भोगता है; लेकिन पाप करता है तो वह नरक को जाता है ।

मनु ने मनुष्य में रहने वाले सत्य एवं तम प्रवृत्तियों की भी व्याख्या विस्तृत रूप से की है । उन्होंने कहा है कि शुभ कर्मों से मनुष्य अपने कर्मदोषों का नाश कर सकता है । अतः मनुष्य को समाहित चित्त होकर सत्,असत् सभी को अपने में देखना चाहिए ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि मनुष्य के सभी कर्मों, व्यवहारों, आचारों का सम्यक् विवेचन इस स्मृति में विशद् रूपेण वर्णित है ।

धर्मशास्त्र-प्रवर्त्तक ऋषि

स्मृतियों के सन्दर्भ में संख्याविषयक मतभेद भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है । भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा अलग-अलग संख्या में अनेकानेक ऋषियों को धर्मशास्त्र-प्रवर्त्तक के रूप में मान्यता प्रदान की गई है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी के याज्ञ-वल्क्यस्मृति (१.४-५) में धर्मशास्त्र-प्रवर्त्तक ऋषियों को निम्नवत् परिगणित किया है—

मन्वत्रि-विष्णु-हारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्ब-संवर्ताः कात्यायन-बृहस्पती ॥
पराशर-व्यास-शङ्ख-लिखिता दक्ष-गौतमौ ।
शातापतो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्र-प्रवर्त्तकाः ॥

जबकि देवल (बालम्भट्टी) के अनुसार यह संख्या निम्नवत् है—

मनुर्यमो वसिष्ठोऽत्रिर्दक्षो विष्णुस्तथाऽङ्गिराः ।
उशना वाक्पतिर्व्यास आपस्तम्बोऽथ गौतमः ॥
कात्यायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशरः ।
संवर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितस्तथा ॥

इसी प्रकार बोधायन के अनुसार (स्वसमेत) ८, वसिष्ठ के अनुसार ६, आपस्तम्ब के अनुसार ११, पराशर के अनुसार २०, कुमारिलभट्ट के अनुसार १८ तथा पैठी-नसि के अनुसार ३६ ऋषियों को स्मृतिकार के रूप में परिगणित किया गया है। इन स्मृतियों के अतिरिक्त १८ उपस्मृतियों तथा २१ अन्य स्मृतियों का भी नाम आता है।

मनुस्मृति का सर्वातिशायित्व

मनुस्मृति का प्रभाव भारत ही नहीं; अपितु भारतेतर देशों पर भी पड़ा है। सत्य तो यह है कि यह भारतीय ग्रन्थ न होकर विश्वग्रन्थ के रूप में वन्द्य है। दक्षिण-पूर्व एशिया से लेकर चीन, फारमोसा, फिलीपीन्स, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर भी मनुस्मृति का प्रभाव दृग्गोचर होता है। मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म, भाषा, वंश, राजनीति के प्रसार के सङ्केत उन देशों में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। सुमेरिया की परम्परा में स्थापित दैवी विधि तथा सूर्यमन्त्र एवं वैदिक मन्त्र की समानता वैदिक परम्परा का द्योतक है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य देशों पर भी वैदिक परम्परा की छाया दिखाई पड़ती है, जिसका श्रेय मनु-स्मृति को ही जाता है। वर्मा आदि देशों के विधिपुस्तक अर्थात् कानून की किताबें तो मनुस्मृति से सर्वथा प्रभावित दिखाई देती हैं। विश्ववन्द्य मनुस्मृति की लोकप्रियता इसी से सिद्ध हो जाती है कि विश्व के प्रायः सभी भाषाओं में आज इसका अनुवाद किया जा चुका है।

भारतीय जीवन, जीवनपद्धति, भारतीय कानून, विधान आदि का तो अस्तित्व भी मनुस्मृति के विना कल्पना से परे की बात है। सत्य तो यह है कि मनुस्मृति एक धार्मिक पुस्तक (धर्मशास्त्र) के साथ-साथ सामाजिक संहिता भी है, जो कि विश्वमानव को जन्म से मृत्युपर्यन्त सुसंगठित, सुसज्जित तथा संस्कारित करने का दीर्घ काल से कार्य करता चला आ रहा है।

यद्यपि मनुस्मृति के सैकड़ों संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं; फिर भी कोई भी ऐसा संस्करण उपलब्ध नहीं होता, जो मनु के भावों को सरलतापूर्वक सामान्य जन को हृदयङ्गम कराने में सक्षम सिद्ध हो सके। किसी संस्करण में हिन्दी टीका होने पर मूल भाष्य का अभाव है तो किसी संस्करण की हिन्दी व्याख्या ही ग्रन्थकार के भाव को स्पष्ट करने में असहाय दिखाई देती है। अतः सुरभारती की सेवा में अविच्छिन्न रूप से जुड़े चौखम्बा कृष्णदास अकादमी के सञ्चालकद्वय श्री वृजमोहन दास गुप्त एवं श्री कमलेश कुमार गुप्त ने मनुस्मृति को उसकी अतिप्राचीन तथा सर्वतोभावेन प्रतिष्ठित मेधातिथि टीका के साथ विमर्श द्वारा मनु के भावों को पूर्णतः स्पष्ट करते हुये विश्व-व्यवस्था के प्राणभूत उक्त मनुस्मृति को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने वाली

लब्धप्रतिष्ठ मणिप्रभा हिन्दी टीका के साथ सम्पादित करने का आग्रह किया था, जिसे मूर्त्त स्वरूप प्रदान करना अब सम्भव हो सका है। ग्रन्थकार के मूल भाव को स्पष्ट रूप से विस्तार के साथ विमर्श द्वारा सामान्य लोगों के लिये बोधगम्य बनाने में प्रकृत संस्करण सहायक सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। एतदर्थ प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशक चौखम्बा कृष्णदास अकादमी के सञ्चालकद्वय सर्वविध साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस महनीय ग्रन्थ का प्रकाशन कर सर्वसाधारण को सुलभ कराने का सराहनीय प्रयास किया है।

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में पुस्तकों का लेखन एवं सम्पादन वस्तुतः एक सर्वथा दुष्कर कार्य है, जो गुरुकृपा एवं आवश्यक परिवेश के अभाव में कथमपि सम्भव नहीं है। प्रकृत संस्करण भी पूज्य आचार्य प्रो० श्रीनारायण मिश्र, पूर्व अध्यक्ष, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा महामहोपाध्याय पद्मभूषण पं० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर जी की कृपा एवं वात्सल्यवत् स्नेह का ही प्रतिफल है। एतदर्थ सर्वप्रथम उन दोनों के श्रीचरणों में नमन करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इस अवसर पर अपने विभागीय गुरुजनों सर्वश्री प्रो० श्रीकिशोर मिश्र, डॉ० उमेशप्रसाद सिंह, डॉ० पर्णदत्त सिंह, डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव, डॉ० जमुना पाठक आदि से प्राप्त स्नेह को भी मैं कथमपि विस्मृत नहीं कर सकता। इसी क्रम में अपने पितृचरण डॉ० विजय शर्मा, प्राध्यापक, श्री वेङ्कटेश पराङ्कुश संस्कृत महाविद्यालय, अस्सी, वाराणसी, प्रवर्त्तक, ''श्रीपराङ्कुश पञ्चाङ्गम्'' जिनके स्नेहाभिषिञ्चन द्वारा अपनी बाल्यावस्था से ही अनवरत अभिषिक्त होने के फलस्वरूप आज मैं एवंविध दुरूह कार्य को करने में सक्षम हो सका हूँ, अतः उनके श्रीचरणों में कोटिशः नमन करते हुए स्नेह का सतत आकांक्षी हूँ।

आज अपने मामा डॉ० शिवदीपक शर्मा, रीडर, संस्कृत विभाग, अन्तर्गत बाबा भीमराव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय—लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार तथा चाचा श्री विनय कुमार, डॉ० रविन्द्र कुमार, श्री श्रीनिवास शर्मा, वेङ्कटेश पराङ्कुश संस्कृत महाविद्यालयीय परिवार, डॉ० विजय कुमार राय, प्राचार्य, प्रशिक्षण महाविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराञ्चल से प्राप्त स्नेह को विस्मृत करना कथमपि सम्भव नहीं है। साथ ही साथ अपने बन्धुओं—चिरञ्जीवी कौशल, विकास, शुभम् एवं भगिनियों—पद्मा, भार्गवी एवं कमला (मालिक) को शतशः शुभाशीर्वचनों से सिक्त करना सर्वविध उपयुक्त होगा, क्योंकि इनके द्वारा अहर्निश उत्साहवर्द्धन के परिणामस्वरूप ही इस महनीय कार्य को सम्पन्न करने में मैं समर्थ हो सका हूँ।

प्रकृत कार्य में जिन विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गई है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए दृष्टिदोष के कारण इस पुस्तक में होने वाली न्यूनताओं एवं

च्युतियों के लिए सुधी पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

आशा एवं विश्वास है कि मनुस्मृति का प्रकृत संस्करण विद्वज्जनों एवं सामान्य पाठकों—दोनों के लिये ही सर्वविध उपयोगी सिद्ध होगा और वे मनु के भावों को आत्मसात करने में समर्थ हो सकेंगे।

अन्त में अपने दीक्षागुरु के प्रति नमन करना सर्वतोभावेन आवश्यक समझता हूँ, जिनके कृपाकटाक्षों से सिञ्चित होने के प्रसादस्वरूप ही मैं इस सारस्वत-साधना में प्रवृत्त हो सका हूँ—

श्रीराजेन्द्रयतीन्द्रपादयुगले सद्भक्तिमानन्वहं
श्रीकौण्डिन्यकुले पराङ्कुशमुनीर्जातौ महाब्धौ विधुः।
तत्पादाश्रितलब्धबोधनिखिलं श्रीरङ्गरामानुजं
श्रीमत्काश्यपवंशजं गुरुवरं भक्त्या सदा संश्रये॥
कौण्डिन्यगोत्रसरसीरुहबालभानुं श्रीरङ्गदेशिकपदाब्जरसैकभृङ्गम्।
राजेन्द्रसूरिचरणाश्रितमप्रमेयं श्रीमत्पराङ्कुशगुरुं शरणं प्रपद्ये॥

विजया दशमी **—केशव किशोर कश्यप**
सं० २०६३

विषयानुक्रमणी

(प्रथम से षष्ठ अध्याय पर्यन्त)

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

।। श्रीः ।।

मनुस्मृतिः

मेधातिथिकृत'मनुभाष्य'हरगोविन्दशास्त्रीकृत'मणिप्रभा'हिन्दीटीकासहिता

प्रथमोऽध्यायः

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।।१।।

*** मनुभाष्य ***

वेदान्तवेद्यतत्त्वाय जगत्त्रितयहेतवे ।
प्रध्वस्ताशेषदोषाय परस्मै ब्रह्मणे नमः ।।१।।

चतुर्भिः पदश्लोकैर्विशिष्टकर्तृत्वमनन्यप्रमाणवेद्यपुरुषार्थोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यते प्रतिष्ठार्थम् । प्रतिष्ठिते हि शास्त्रे कर्तृभिः स्वर्गयशसी प्राप्येते यावत्संसार-मनपायिनी च भवतः । शास्त्रं च प्रतिष्ठां लभते यदि तत्र केचिदध्ययनश्रवणचिन्तनादिषु प्रवर्तन्ते । न च बुद्धिपूर्वव्यवहारिणोऽध्ययनादिष्वनवधृतप्रयोजनाः प्रवर्तितुमर्हन्ति । अतः पुरुषार्थसिद्धावुपायपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रमारभ्यते इत्येतत्प्रतिपादनार्थं श्लोक-चतुष्टयमाचार्यः पपाठ ।

न च वाच्यम्—"अन्तरेणैवादितः प्रयोजनवचनं वक्ष्यमाणशास्त्रपौर्वापर्यपर्या-लोचनयैवेदं पर्यवस्यामः किं तत्प्रतिपादनार्थेन यत्नेनेति । किञ्च । उक्तमपि प्रयोजनं यावत्परस्तान्नावमृष्टं तावन्न निश्चीयते । न हि सर्वाणि पुरुषवचांस्यर्थे निश्चयनिमित्तम् । न चैष नियमः सर्वत्र प्रयोजनपरिज्ञानपूर्विकैव प्रवृत्तिः स्वाध्यायाध्ययनेऽतन्निबन्धनायाः प्रवृत्तेर्दर्शनात् । पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते । तथाहि । भगवान्पाणिनिरनुक्तैव प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनमिति' सूत्रसंदर्भमारभते"।

अत्रोच्यते । आरम्भेऽनवधृतप्रयोजना नैव प्रथमतो ग्रन्थमुपाददीरन् । अनुपादा-नाच्च कुतः शास्त्रं कार्त्स्न्येन पर्यालोचयेयुः । किञ्च पौर्वापर्यपर्यालोचनया योऽर्थो बुद्धिगोचरतामावहति स एव त्वादितः सङ्क्षेपेणोच्यमानः सुग्रहो भवति । तदुक्तम् "इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणमिति"।

यत्तु—''उक्तमपि न निश्चीयते, पौरुषेयेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थनिश्चयाभावात्। एवमेवायं पुरुषो वेदेति प्रत्ययो न त्वेवमर्थ इति''—नात्र विवदामहे निश्चयोऽस्ति नास्तीति, ग्रन्थगौरवप्रसङ्गात्। अर्थसंशयेऽपि प्रवृत्तिसिद्धौ नियतविषयसंशयोत्पत्तिर्नान्तरेण प्रयोजनवचनम्। अनुक्ते हि किमिदं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं काकदन्तपरीक्षादिलक्षणरूपं वेत्यपि संशयः स्यात्। अभिहिते तु प्रयोजनेऽयं तावदेवमाह न श्रेयसः पन्थानं दर्शयामीति न च मे प्रवृत्तस्य काचित्क्षतिरस्ति। भवतु, पर्यालोचयामीति प्रवृत्तिसिद्धिः।

या तु स्वाध्यायाध्ययने प्रवृत्तिः साऽऽचार्यप्रयुक्तस्य, न स्वाधिकारप्रतिपत्त्या। नहि तदानीं बालत्वात्स्वाधिकारं प्रतिपत्तुमुत्सहते। परप्रयुक्त्यैव च प्रवृत्तिसिद्धिः। नाधिकारप्रतिपादनेनापि चावेद्यते। अतस्तत्र प्रवृत्तस्य प्रयोजनमर्थावबोधोऽतश्च प्रवृत्तिः। इह तु ''योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रममिति'' गृहीतवेदस्याध्ययनाधिकारः। तदानीं चाभ्युत्पन्नबुद्धित्वात्प्रयोजनमन्विच्छति। भगवतः पुनः पाणिनेरतिसङ्क्षिप्तानि सूत्राणि। नैवार्थान्तराभिधानपरत्वाशङ्का। तत्र आकुमारं च यशः पाणिनेः प्रख्यातमिति सुप्रसिद्धप्रयोजनत्वादनुपन्यासः। अयं तु विततो ग्रन्थोऽनेकार्थवादबहुलः सर्वपुरुषार्थोपयोगी। तत्र सुखावबोधार्थे प्रयोजनाभिधाने न किञ्चित्परिहीणम्।

द्वये च प्रतिपत्तारः—न्यायप्रतिसरणाः प्रसिद्धिप्रतिसरणाश्च। तत्र ''मनुर्वैयत्किञ्चावदत्तद्भेषजमिति''—''ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्रा आथर्वणाश्च ये सप्तर्षिभिस्तु यत्प्रोक्तं तत्सर्वं मनुरब्रवीदि''त्याद्यर्थवादेतिहासपुराणादिभ्यः प्रख्यातप्रभावः—लोके तत्प्रसिद्ध्यैव वा निरूपितमूलपातेन प्रजापतिनैतत्प्रणीतमित्येतावतैव—श्रोत्रियाः प्रवर्तन्त इति। तान्प्रति कर्तृविशेषसम्बन्धोऽपि प्रवृत्त्यङ्गम्। अत एव च प्रश्नप्रतिवचनभङ्ग्या प्रयोजनोपन्यासः। महर्षयः प्रष्टारः प्रजापतिर्वक्ता, धर्मलक्षणश्चार्थो न लोकावगम्यः, शास्त्रैकगोचरोऽयम् यत्र महर्षयोऽपि संशेरत इति एवंपर आदेशोऽपि—स तैः पृष्ट इति, नाहं पृष्ट इति—तथाऽऽत्मनो ब्रह्मणोऽकृत्रिमप्रतिमत्वं चेत्येवमादिः। तद्व्युत्पादनार्थो युक्तः शास्त्रारम्भ इति श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यम्।

यथा चानेन पुरुषार्थोपदेशपरता शास्त्रस्योच्यते तथा पदार्थयोजनात्प्रतिपादयिष्यामः।

तत्र मनुमभिगम्य महर्षय इदं वचनमब्रुवन् 'धर्मन्नो वक्तुमर्हसीति'। स पृष्टः प्रत्युवाच 'श्रूयतामिति'। एवं प्रश्नप्रतिवचने एकार्थप्रतिपादके तात्पर्येण भवतः। अतो धर्मा अत्र प्रतिपाद्यन्त इत्युक्तं भवति। धर्मशब्दश्च लोके श्रेयःसाधने प्रत्यक्षादिभिर्लौकिकैः प्रमाणैः शब्दादितरैरविहिते प्रयुज्यते। अतः स श्रूयतामिति सम्बन्धे विशिष्टपुरुषार्थसाधनत्वमुक्तं भवति।

मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नः स्मृति-परम्पराप्रसिद्धः। **तमभिगम्या**भिमुख्येन तत्समीपं गत्वा, व्यापारान्तरत्यागेन, न यदृच्छया, सङ्गम्य। अनेन चाभिगमनप्रयत्नेन पृच्छ्यमानवस्तुगौरवं वक्तुश्च प्रामाण्यं ख्याप्यते। न ह्यकुशलः प्रतिवचने यत्नेन पृच्छ्यते आगत्य।

एकाग्रमासीनमेकाग्रं स्थितमेकाग्रं सन्तम्। न त्वत्र वृस्याद्युपवेशनमासनम्, अनुपयोगात्। आसनेन स्वस्थवृत्तिता लक्ष्यते। तथाभूतः प्रतिवचनसमर्थो भवति। 'अभिगम्येति' केवल एव मनुः कर्म। प्रश्नक्रियायास्त्वेकाग्रमासीनमिति विशेषणम्। कुशल-प्रश्नानुरूपकथाप्रवृत्त्यादिनैकाग्रमविक्षिप्तमनस्कं ज्ञात्वा प्रश्नश्रवणे दत्तावधानमिदं वचनमब्रुवन्। एकाग्रशब्दो रूढ्या निश्चलतामाह। प्रत्याहारेण परिहृतरागादिदोषसंसर्गस्य विकल्पनिवृत्तौ तत्त्वावबोधचिन्तायां मनसः स्थैर्यमेकाग्रता। तथाभूत एव च सन्निहितरूपशब्दादिविषयावधारणे योग्यो भवति, न सदसद्विकल्पयुक्तः। अथवा योगतोऽग्र-शब्दो मनसि वर्तते, अर्थग्रहणे चक्षुरादिभ्योऽग्रगामित्वात्। प्रथमप्रवृत्तियुक्तः पुरःसरो लोकेऽग्र उच्यते। एकस्मिन् ध्येये ग्राह्ये वाऽग्रमस्येति विग्रहः, व्यधिकरणानामपि बहुव्रीहिर्गमकत्वात्। अत्रापि व्याक्षेपनिवृत्तिरेवैकाग्रता।

प्रतिपूज्य यथान्यायम्। न्यायः शास्त्रविहिता मर्यादा—तामनतिक्रम्य—यादृशी शास्त्रेणाभिवादनोपासनादिका गुरोः प्रथमोपसर्पणे पूजा विहता तथा पूजयित्वा, भक्त्यादरौ दर्शयित्वा।

महर्षयः। ऋषिर्वेदः तदध्ययनविज्ञानतदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽप्यृषि-शब्दः। महान्तश्च ते ऋषयश्च—तेषामेव गुणानामत्यन्तातिशयेन महान्तो भवन्ति। यथा "युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणमिति"। अथवा तपोविशेषात् पूजाख्यातिविशेषाद्वा महान्तः।

इदं वचनमब्रुवन्। उच्यतेऽनेनेति वचनम्—वक्ष्यमाणं द्वितीयश्लोकप्रश्न-वाक्यमिति। तदेव प्रत्यासन्नत्वादिदमिति प्रतिनिर्दिशति। येषामपि प्रत्यक्षवस्तुप्रति-निर्देशक इदं शब्दस्तेषामपि बुद्धिस्थत्वात् प्रश्नस्य प्रत्यक्षता। अथवोच्यत इति वचनं पृच्छ्यमान वस्त्वब्रुवन्। वाक्यपक्ष इदं वाक्यमुच्चारितवन्तः। कर्मसाधने तु वचनशब्द इदमपृच्छन्। द्विकर्मकश्च तदा ब्रूञ् अकथितकर्मणा मनुना। तिसृणां क्रियाणां मनुः कर्म ॥१॥

* मणिप्रभा *

(स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
मनुप्रणीतान्विविधान् धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ।।१।।)

शारदां सारदां शुभ्रां शङ्करं लोकशङ्करम्।
नत्वा मनूक्तधर्माणां व्याख्यां कुर्वे 'मणिप्रभाम्'॥१॥

[अपरिमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्मा को नमस्कार कर (मैं भृगु मुनि) मनु के कहे हुए विविध नित्य धर्मों को कहूँगा।]

[**विमर्श**—यह 'मनुस्मृति' भगवान् मनु से सुनकर भृगु मुनि ने बनायी है (श्लो० ५९-६०) तथा उन्होंने ने ही इस रूप में प्रश्नकर्ता महर्षियों को इसे सुनाया है, इस कारण भगवान् मनु के अर्थप्रवचनकर्ता होने पर भी ग्रन्थ के रचयिता नही होने से अनेक स्थलों पर (श्लो० १११, ...) भगवान् मनु ने कहा है' आदि वचन असङ्गत नहीं होते तथा "मनूक्त वचन भृगु कहते हैं (यथा मनुनोक्तं भृगुः)" यह याज्ञवल्क्यस्मृति के 'मिताक्षरा' टीकाकार विज्ञानेश्वर भट्टाचार्य का कथन भी सङ्गत होता है।" ब्रह्मा के पुत्र बुद्धिमान् मनु ने इस शास्त्र को रचा (स्वाम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्– श्लो० १०२)"। इस वक्ष्यमान वचन को भी, 'याज्ञवल्क्यस्मृति' नाम से सर्वप्रसिद्ध होने से पूर्वापर विरुद्ध नही मानना चाहिए।]

महर्षि लोग एकाग्रचित तथा सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् मनु के पास जाकर यथोचित (प्रश्नकर्ता के योग्य श्रद्धा-भक्ति आदि के साथ) प्रतिपूजन कर यह वचन बोले ॥१॥

विमर्श—'एकाग्रचित तथा सुखासीन' विशेषण होने से मनु भगवान् का अनाकुल होकर उतर देने का निश्चय होता है। महर्षियों के पहुँचने पर मनु ने उन अतिथियों का आतिथ्य सत्कार किया, तदनन्तर वे महर्षि स्वयं प्रश्नकर्ता होने से उनका श्रद्धा एवं भक्ति के साथ यथावत् प्रतिपूजन किया। इस स्मृति का विषय-धर्म, सम्बन्ध-उनके साथ मानवशास्त्र का प्रतिपाद्यपादकभाव रूप और प्रयोजन-स्वर्ग आदि (अर्थार्जन काम आदि) है।

अभिगम्य प्रतिपूज्य किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां द्वितीयं श्लोकः—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥

भाष्य—ऐश्वर्यौदार्ययशोवीर्यादौ भगशब्दः। सोऽस्यास्तीति, मनुः। तेन सम्बोधनं **भगवन्निति**। वर्णशब्दश्च तिसृषु ब्राह्मणादिजातिषु वर्तते। सर्वग्रहणं शूद्रावरोधार्थम्। इतरथा महर्षीणां प्रष्टृत्वात् त्रैवर्णिकविषये प्रश्नः कृतः स्यात्। **अन्तरं** तन्मध्यम्। द्वयोर्जात्योः सङ्करादेकाऽप्यपरिपूर्णा जातिः। अन्तरे प्रभव उत्पत्तिर्येषां तेऽन्तरप्रभवाः अनुलोमप्रतिलोमा मूर्धावसिक्ताम्बष्ठक्षत्तृवैदेहकादयः। न हि ते माता-पित्रोरन्यतरयाऽपि जात्या व्यपदेष्टुं युज्यन्ते। यथा रासभाश्वसंयोगजः खरो न रासभो नाश्वो, जात्यन्तरमेव। अतः वर्णग्रहणेनाग्रहणात्पृथगुपादीयन्ते।

''नन्वनुलोमा मातृजातीया इष्यन्ते''। नेति ब्रूमः। सदृशानेव तानाहुरिति मातृजातिसदृशास्ते न तज्जातीया एव। सोऽप्येषां धर्मो वाचनिको न वस्तुस्वभावसिद्धः। अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्धर्मपक्षपतितत्वे शास्त्रोपदेशार्हा एव। प्रतिलोमानामप्यहिंसादयो धर्मा वक्ष्यन्ते। यत्तु धर्महीना इति तद्व्रतोपवासादिधर्मभावाभिप्रायेण। सर्वपुरुषोपकारिता चानेन शास्त्रस्य प्रदर्श्यते।

यथावत्। 'अर्हत्यर्थे वतिः'—येन प्रकारेणानुष्ठानमर्हति। इदं नित्यमिदं काम्यमिदमङ्गमिदं प्रधानम्। द्रव्यदेशकालकर्त्रादिनियमश्च प्रकारोऽर्हतेर्विषयः। **अनुपूर्वशः**। अनुपूर्वः क्रमः। येन क्रमेणानुष्ठेयानि सोऽप्युच्यताम्। ''जातकर्मान्तरं चौडमौञ्जीनिबन्धनेत्यादि''। यथावदित्यत्र पदार्थविषयं कात्स्न्‍र्यमुपात्तम्। क्रमस्तु पदार्थो न भवत्यतः पृथगनुपूर्वश इत्युपात्तम्।

धर्मशब्दः कर्तव्याकर्तव्ययोर्विधिप्रतिषेधयोरदृष्टार्थयोस्तद्विषयायां च क्रियायां दृष्टप्रयोगाः। तस्य तु किमुभयं पदार्थ उतान्यतरत्र गौण इति नायं विचारः क्रियते, ग्रन्थातरे विस्तरेण कृतत्वादिहानुपयोगाश्च। सर्वथा तावत् 'अष्टकाः कर्तव्याः' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादावष्टका विषया कर्तव्यता प्रतीयते, कलञ्जभक्षणविषयश्च प्रतिषेधः। तदष्टकाख्यं कर्म धर्मस्तद्विषया वा कर्तव्यतेति फले न विशेषः। धर्मरूपोपदेशाश्च यत्तद्विपरीतमधर्मोऽसावित्यर्थात्सिध्यति। अतो धर्माधर्मावुभावपि शास्त्रस्य विषय इत्युक्तं भवति। तत्राष्टकाकरणं धर्मो ब्रह्महत्यादिवर्जनं च धर्मः, अष्टकानामकरणमधर्मो ब्रह्महत्यायाश्च करणमधर्मः—अयं धर्माधर्मयोर्विवेकः।

अर्हसीति सामर्थ्यलक्षणया योग्यतया प्रवचनाधिकारमाचार्यस्याहुः— यतस्त्वं समर्थो धर्मान्वक्तुमतोऽधिकृतः सन्नध्येष्यसे ब्रूहीति। यो यत्राधिकृतस्तत्तेन कर्तव्यमिति सामर्थ्यगम्यं ब्रूहीत्यध्येषणापदमध्याह्रियते ॥२॥

हिन्दी—हे भगवान्! सब वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और अम्बष्ठादि अनलोमज, 'सूत' आदि प्रतीलोमज तथा भूर्जकण्टक आदि सङ्कीर्ण (१०।८-४०) जातियों के यथोचित धर्मो को क्रमशः कहने के लिए आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिये) ॥२॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।।३।।

भाष्य—''उक्तमदृष्टार्थे व्यापारमात्रे धर्मशब्दो वर्तते। तत्र यथाऽष्टकादौ तस्य प्रयोग एवं चैत्यवन्दनादावपीति। तत्र कतमे धर्मा अत्रोच्यन्त'' इति संशये धर्मविशेषप्रतिपादनार्थमुक्तसामर्थ्यप्रतिपादनार्थं च **'त्वमेक इति'**। **'त्वमेवैकोऽ**सहायोऽ**द्वितीयः**। **सर्वस्य विधानस्य कार्यतत्त्वार्थवित्**। **विधानं** शास्त्रं विधीयन्तेऽनेन कर्माणीति।

तस्य **स्वयम्भुवो** नित्यस्याकृतकस्यापौरुषेयस्य वेदाख्यस्य । **सर्वस्य** प्रत्यक्षाक्षर-स्यानुमेयाक्षरस्य च । 'अग्निहोत्रं जुहुयादयं सहस्रमानव' इत्येतया आहवनीयमुपतिष्ठते इति प्रत्यक्ष एव वेदोऽयं होमं विधत्ते । एतयेति च तृतीयया प्रत्यक्षस्यैव मन्त्रस्याह-वनीयोपस्थाने विनियोगः । 'अष्टकाः कर्तव्या' इत्यत्र तु स्मृत्याऽनुमीयते वेदः । 'बर्हि-र्देवसदनं दामीति' लिङ्गादनेन बर्हिर्लुनातीति'श्रुतेरनुमानम् । अयं हि मन्त्रो दर्श-पूर्णमासप्रकरणे पठितो बर्हिर्लवनं च तत्राम्नातम् । अनेन मन्त्रेण लुनीयात् इत्येतत्त नास्ति । मन्त्रः पुनारूपाद्बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थः । प्रकरणात्सामान्यतः सिद्धो दर्शपूर्ण-माससम्बन्धः । स्वसामर्थ्येन तु बर्हिर्लवने प्रयुज्यते । एषा ह्यत्र प्रतीतिः । प्रकरणाद्दर्शपूर्ण-मासावनेन मन्त्रेण कुर्यात्—कथमिति—यथा शक्नुयादित्यनुक्ताऽपि शक्तिः सर्वत्र सहकारिणी । किं च शक्नोति मन्त्रः कर्तुम् । बर्हिर्लवनं प्रकाशयितुम् । ततः प्रकरणात् स्वसामर्थ्याच्चानेन मन्त्रेण 'बर्हिर्लुनातीति' बुद्धौ शब्द आगच्छति । सविकल्पकविज्ञानैः पूर्वं शब्दः प्रतीयत इति । स बुद्धिस्थः शब्दोऽनुमेयो वेद उच्यते । वेदत्वं च, तस्य दर्श-पूर्णमासवाक्यमन्त्रवाक्याभ्यां श्रुत्यन्तराभ्यां स्वसामर्थ्येनोत्थापितत्वादितिकुमारिलपक्षः ।

अथवा विधिर्विधानमनुष्ठानं प्रयोजनसम्पत्तिः । तस्य स्वयम्भुवो नित्यस्यानादि-परम्परायातस्य, स्वयम्भुवा वेदेन वा प्रतिपाद्यस्य, सर्वस्य श्रूयमाणक्षरप्रतिपाद्यस्य प्रतिपन्नार्थसामर्थ्यगम्यस्य च । द्विविधो हि वैदिको विधिः । कश्चित्साक्षाच्छब्दप्रतिपाद्यः । यथा 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम' इति सौर्यचरौ ब्रह्मवर्चसकामोऽधिक्रियते । तस्य चरोर्ब्रह्मवर्चसं साधयत इयमितिकर्तव्यता आग्नेयवदित्यवगम्यते । उभयत्रापि चेयं प्रतीतिः शब्दावगममूलत्वात् शब्द एव । उभावपि शब्दादभिधानतः प्रतीयेते, तथा चाभिधेयप्रतिपत्तितः । विशेषस्तु व्यवधानादिकृतो न शब्दतां विहन्ति । यथा वापीस्थमुदकं हस्तेनाभिहतं प्रदेशान्तरमभिहन्ति तदपि हस्तसंयोगेनैवाभिहतं भवति, न तु साक्षात् । शर्कराणां रेचकर्मण्याद्यप्रयत्नकृता एवोत्प्लुत्योत्प्लुत्य पाताः । तादृशमेतत् । वैकृते कर्मणि विशिष्टेतिकर्तव्यतासम्बन्धः । एवं विश्वजिता यजेतेत्युत्पत्तिर्नाधि-कारशून्याऽस्तीति स्वर्गकाम इत्यधिकारावगतिः प्रतिपन्नार्थसामर्थ्यगम्या । अतो द्वैरूप्ये विधानस्य सर्वस्येतिपदम् । सर्वस्य तात्पर्यमेवं रूपम्—वेदमूलाः स्मृतय इति ज्ञापयितुम् । द्वितीये चैतद्दर्शयिष्यामः ।

"ननु लिङादिप्रतिपाद्योऽर्थः कर्तव्यतारूपो विधिः । स च सर्वत्र प्रत्यक्षशब्दप्रति-पाद्य एव । तत्र किमुच्यते द्विविधो हि वैदिको विधिरिति । निर्वपेदिति कर्तव्यताऽव-गम्यते । इतिकर्तव्यताऽर्थसामर्थ्यगम्यो उक्तेन प्रकारेण' ।

नैष दोषः । निर्वपेद्यजेतेति न केवले धात्वर्थविषयत्वेऽवगते परिपूर्णा कर्तव्यता भवति यावदंशान्तराण्यधिकारेतिकर्तव्यताप्रयोगरूपाणि नावगतानि । एतैरंशैर्वितत-रूपो विधिः प्रतीयते । अतोंऽशरूपाण्यपि विधिशब्दाभिलप्यतया न विरुद्धानि ।

एतदेवाह **अचिन्त्यस्येति**। अप्रत्यक्षस्येत्यर्थः। प्रत्यक्षं ह्यनुभूयत इत्युच्यते, न चिन्त्यते इति, न स्मर्यत इति। **अप्रमेयस्य** कल्प्यस्य, प्रायशः स्मृतिवाक्यमूलस्य। न हि प्रत्यक्षेण प्रमीयते। अतोऽप्रमेयस्येत्युच्यते। अथवाऽप्रमेयस्येयत्तया परिमातुमशक्यस्यातिमहत्त्वात्। अनेकशाखाभेदभिन्नो वेदो न शक्यते सर्वैः प्रमातुम्। अत एवाचिन्त्यस्य। यदतिबहु तद्दुर्ग्रहत्वादचिन्त्यमित्युच्यते। यथा च लोके वक्तारो भवन्ति, 'अन्येषां का गतिः? चिन्तयितुमप्येतन्न युज्यत' इति। मनः किल सर्वविषयम्, अयं चातिमहत्त्वात्तस्यापि न विषय इति। पदद्वयेन बाह्यान्तःकरणाविषयतया महत्त्वस्य ख्यापनेनाचार्यः प्रोत्साह्यते। त्वयैव केवलेनैवंविधो वेद आगमितोऽतस्तस्य यः कार्यरूपस्तत्त्वार्थस्तं **वेत्सि** जानीषे।

कार्यमनुष्ठेयमुच्यते। यत्र पुरुषोऽनुष्ठातृत्वेन विनियुज्यते—इदं त्वया कर्तव्यमिदं त्वया न कर्तव्यमिति-अग्निहोत्रादि कर्तव्यम् कलञ्जभक्षणादि न कर्तव्यम्। प्रतिषेधोऽप्यनुष्ठानमेव। यद्ब्राह्मणवधस्याननुष्ठानं तदेव प्रतिषेधस्यानुष्ठानम्। प्रवृत्तिश्च क्रियानिवृत्तिश्च क्रियेति। न हि परिस्पन्दमानसाधनसाध्यमेवानुष्ठानमुच्यते, किं तर्हि प्राप्ते तद्रूपे तन्निवृत्तिरपि। यथा 'हितसेवी चिरायुरिति' यः प्राप्ते काले भुङ्क्तेऽप्राप्ते न भुङ्क्ते। अभोजनमपि हितमेव।

अथवा कार्यशब्दः प्रदर्शनार्थो विधेः प्रतिषेधस्य च। एतावदेव वेदस्य तत्त्वरूपः पारमार्थिकोऽर्थः। यस्त्वितिवृत्तसंवर्णनरूपः "सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति" स न तत्त्वार्थः, विध्यन्तरेणैकवाक्यत्वात्प्रशंसापरत्वेन स्वार्थनिष्ठत्वाभावात्। अस्ति ह्यत्र विध्यन्तरम् 'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयमिति'। 'सोऽरोदीदि'त्यादीनि 'पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवती'त्यन्तानि तदेकवाक्यतापन्नानि बर्हिषि रजतदाननिन्दया तत्प्रतिषेधं स्तुवन्ति। तदुक्तं 'साध्येऽर्थे वेदः प्रमाणं, न सिद्धरूपे'। अर्थवादानां हि सिद्धरूपोऽर्थः। न हि तदर्थस्य कर्तव्यता प्रतीयते। विध्युपदेशपरत्वं च प्रतीयते। यदि च स्वार्थपरा अपि स्युस्तद' विधिपरत्वं व्याहन्येत। ततश्च प्रतीयमानैकवाक्यता बाध्येत। न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न्याय्यः। न च साध्यस्य सिद्धार्थपरत्वेनैकवाक्यता घटते। तथाहि न किञ्चिद्वेदेनोपदिश्यते कर्तव्यम्। अतश्चाप्रमाणमेव वेदः स्यात्। विध्यर्थता चावगम्यमाना लिङादीनां त्यक्ता स्यात्। तस्मात्कार्यरूपो वेदस्य तत्त्वार्थ इति मनुर्भगवानाह। जैमिनिनाऽप्युक्तम् कार्येऽर्थे वेदः प्रमाणम् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति।

अतश्च निरवशेषपदार्थपरिज्ञानातिशययोगाद्धर्मप्रवचनसामर्थ्यं सिद्धवदुपादाय **प्रभो** इत्यामन्त्रणम्—हे प्रभो धर्माभिधानशक्त त्वमनुब्रूहि धर्मानिति। एवमनया त्रिश्लोक्या धर्मान् पृष्ट उत्तरेण श्लोकेन प्रतिजज्ञे ॥३॥

हिन्दी—क्योंकि हे प्रभोः ! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्म को जानने वाले हैं॥३॥

मनु का महर्षियों को उत्तर देना—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ।।४।।

भाष्य—**स** मनुर**मितौ**जास्तैर्महभि**र्महात्मभिः पृष्टस्तथा तान् प्रत्युवाच श्रूयता-मिति । तथा** तेन प्रागुक्तेन प्रकारेण । पृच्छ्यमानवस्तु प्रश्नविधिश्च प्रकारवचने तथा-शब्देऽन्तर्भूतः । तेनायमर्थस्तथापृष्ट**स्तान्** धर्मान् पृष्टः **प्रत्युवाच** । अथवा **तथेति** प्रकार-मात्रमाचष्टे । **पृष्ट** इति पूर्वश्लोकात्पृच्छ्यमानविशेषो बुद्धौ विपरिवर्तत एव । तेन यत्पृष्टस्तत्प्रत्युवाच **'श्रूयतामिति'** प्रश्नप्रतिवचनयोरेककर्मता सिद्धा भवति । तदा च तथाशब्दः श्लोकपूरणार्थः । आद्ये तु व्याख्याने तथाशब्दोपात्तैव प्रश्नप्रतिवचन-योरेककर्मता । **सम्यक्**शब्दः प्रतिवचनविशेषणम् । सम्यक् प्रत्युवाच । प्रसन्नेन मनसा न क्रोधादियोगेन । **अमितौजा** अक्षीणवाग्विभवः । अमितमनन्तमोजो वीर्यमभिधान-सामर्थ्यमस्येति । महात्मतया महर्षीणां धर्मप्रष्टृत्वं महर्षित्वं चाविरुद्धमित्याह—**महर्षीनिति** । 'परार्थकारी सततं महात्मे'त्युच्यते । तेन यद्यपि स्वयं विद्वांसोऽधिगत-याथातथ्याः—अन्यथा महर्षित्वानुपपत्तेः—तथाऽपि परार्थमपृच्छन् । मनुः प्रख्याततर-प्रमाणभावः । एतेन यदुच्यते तल्लोकेनाद्रियते । प्रत्ययतोऽयं समुपास्यतेऽतः शास्त्राव-तारार्थमुपाध्यायीकुर्मः । अस्माभिश्च पृच्छ्यमानः प्रमाणतरीकरिष्यते जनेनेति । अत **एवार्च्य तान्** सर्वानित्यर्चनमविरुद्धम् । अन्यथा शिष्यस्योपाध्यायात्कीदृश्यर्चेति । अर्चयतेराङ्पूर्वस्य ल्यबन्तस्य रूपमार्च्येति । पाठान्तरम् 'अर्चयित्वा तानिति' ।

अत्र यदुच्यते "यदि मनुनाऽयं ग्रन्थः कृतः परापदेशो न युक्तः—स तैः पृष्टः प्रत्युवाचेति । 'अहं पृष्टः प्रत्यब्रुवमिति' न्याय्यम् । अथान्यतर एव ग्रन्थस्य कर्ता मानवव्यपदेशः कथमिति"—तदचोद्यम् । प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते—'अत्राह' 'अत्र परिहरन्तीति' नैवम'हं तैः पृष्ट इति' । यो यः पूर्वतरः स स प्रमाणतरो लोकेनाभ्युपगम्यते—'तत्प्रमाणं बादरायणस्येति' । अथवा भृगुप्रोक्ता संहितेयम् । मानवी तु स्मृतिरुपनिबद्धेति मानवव्यपदेशः । प्रत्युवाच तान् महर्षीन् । किं तत् । यदहं पृष्टस्तत् श्रूयतामिति ॥४॥

हिन्दी—महर्षियों से इस प्रकार पूछे गये अपरिमित ज्ञान-शक्ति वाले मनु उन सब महर्षियों का सत्कार कर बोले—सुनिये ॥४॥

संसारोत्पत्ति-वर्णन–

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।।५।।

भाष्य—"क्व अस्ताः क्व निपतिताः । शास्त्रोक्तनिपतितधर्मान् पृष्टस्तानेव वक्तव्यतया प्रतिज्ञाय जगतोऽव्याकृतावस्थावर्णनमप्रकृतमपुरुषार्थं च । सोऽयं सत्यो जनप्रवादः 'आम्रान् पुष्टः कोविदारानाचष्ट' इति । न चास्मिन् वस्तुनि प्रमाणं न च प्रयोजनमित्यतः सर्व एवायमध्यायो नाध्येतव्यः" ।

उच्यते । शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते । ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते । 'तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुनेति' (श्लो० ४९) । वक्ष्यति च—'एता दृष्ट्वा तु जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मन' इति (अ० १२ श्लो० २३) ॥ ततश्च निरतिशयेश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्यध्यायतात्पर्यम् ।

मूलं त्वत्र मन्त्रार्थवादाः सामान्यतो दृष्टं च । तथा च मन्त्रः । "तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्" । (ऋग्वेद १०।१२९।३) । चन्द्रार्काग्न्यादिषु बाह्याध्यात्मिकेषु महाप्रलये प्रकाशकेषु नष्टेषु तम एव केवलमासीत् । तदपि तमः स्थूलरूपतमसा गूढं संवृत्तम् । न हि तदानीं कश्चिदपि ज्ञाताऽस्ति । अतो ज्ञातुरभावान्न कस्यचित् ज्ञानमस्तीति तमसा गूढमुच्यते । अग्रे भूतसृष्टेः प्राक् अप्रकेतमज्ञातं सर्व आः आसीत् । इदं सलिलं सरणधर्मकम्, क्रियावत् यत्किञ्चिच्चेष्टावत्तत्सर्वं निश्चेष्टमासीत् । तुच्छेन सूक्ष्मेणाभु स्थुलमपिहितं प्रकृत्यात्मनि विशेषरूपं लीनमित्यर्थः । एतावताऽव्याकृतावस्था जगतो द्योतिता । चतुर्थेन पादेनाद्या सृष्ट्यवस्थोच्यते । तपसस्तन्महिना महत्त्वेन एकं यदासीत्तदजायत विशेषात्मनाऽभिव्यज्यते स्म । कर्मवशात्पुनः प्रादुर्बभूवेत्यर्थः । अथवा तस्यामवस्थायां तपःकर्मणा महत्त्वेन हिरण्यगर्भ आत्मनाऽजायत प्रादुरासीत् । यथा वक्ष्यति 'ततः स्वयंभूरिति' (श्लो० ६) ।

सामान्यतो दृष्टेन महाप्रलयोऽपि सम्भाव्यते । यस्य ह्येकदेशे नाशोदृष्टस्तस्य सर्वस्यापि नाशो दृश्यते । यथा शालाऽपि क्वचिद्दह्यमाना दृष्टा कदाचित्सर्वो ग्रामो दह्यते । ये च कर्तृपूर्वा भावास्ते सर्वे विनश्वरा गृहप्रासादादयः । कर्तृपूर्वं चेदं जगत्सरित्समुद्रशैलाद्यात्मकम् । अतो गृहादिवन्नङ्क्ष्यतीति सम्भाव्यते । "कर्तृपूर्वतैव न सिद्धेति" चेत्तन्निवेशविशेषवत्त्वादिना गृहादिवत्साऽपि साध्यत इत्यादि सामान्यतो दृष्टम् ।

न च प्रमाणशुद्धौ तद्दूषणे वा प्रयतामहेऽनिदं परत्वाच्छास्त्रस्य । एतद्धि यावन्न

विचार्य निरूपितं तावन्न सम्यगवधार्यते। तथानिरूपणे च तर्कशास्त्रता स्यान्न धर्मशास्त्रता ग्रन्थविस्तरश्च प्रसज्यते।

प्रक्रियाबहुलं चेदं सर्वमुपन्यसिष्यते। क्वचित्पौराणी प्रक्रिया, क्वचित्सांख्यानाम्। न तया ज्ञातयाऽज्ञातया वा कश्चिद्धर्माधर्मयोर्विशेष इति निपुणतया न निरूप्यते। अर्थिता चेत्तत एवान्वेष्या। पदार्थयोजनाव्याख्यानमात्रं त्वध्यायस्योपदिश्यते तदेव करिष्यामः। तात्पर्यमुपदर्शितमेव।

आसीदिदं जग**त्तमोभूतं** तम इव। भूतशब्दोऽनेकार्थोऽह्युपमायां प्रयुक्तः। यथा 'यत्तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्द इति' सामान्यभूत इति सामान्यमिवेत्यर्थः। किं तमसा जगतः सादृश्यमत आह—**अप्रज्ञातम्**। विशेषाणां स्वभावानां विकाराणां प्रकृतावुपलयनादतः प्रत्यक्षेणाज्ञातम्। अनुमानात्तर्हि ज्ञायेत, तदपि **चालणक्षम्**। लक्षणं लिङ्गं चिह्नं, तदपि तस्यामवस्थायां प्रलीनमेव, सर्वविकाराणां विशेषात्मना विनष्टत्वात्। **अप्रतर्क्यम्**। यद्रूपमासीत्तर्कयितुमपि न तद्रूपतया शक्यम्। सर्वप्रकारमनुमानं निषेधति। न सामान्यतो दृष्टमनुमानमस्ति। तद्रूपकावेदकं न विशेषतो दृष्टमत**श्चाविज्ञेयम्**। नैव तर्ह्यासीदसदेवाजायतेति प्राप्तमेतन्निषेधति **प्रसुप्तमिव सर्वतः**। नासतः सत उत्पत्तिः। उक्तं च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेते' त्याद्युपनिषत्सु। अत**श्चाविज्ञेयम**वच्छेदविषयैः प्रमाणैः। आगमात्तादृशादेव गम्यते। प्रसुप्तमिव जाग्रत्स्वप्नवत्तां परित्यज्य सम्प्रसादावस्था सुषुप्तिर्दृष्टान्तत्वेनोपात्ता। यथा अयमात्मा सुषुप्त्यवस्थायां निःसम्बोधक्लेशप्रध्वस्ताशेषविकल्प आस्ते, न च नास्तीति शक्यते वक्तुं, प्रबुद्धस्य सुखमस्वाप्समिति प्रत्यक्षभिज्ञानदर्शनात्, एवं जगदागमात्सिद्धार्थरूपादाभासानुमानेभ्यश्च तार्किकाणामवसीयते। **आसीदिति**। वर्तमाना तु साऽवस्था न कस्यचित् विज्ञेयेत्यत उक्त**मविज्ञेयम्**। सर्वतो नैकदेशप्रलय इत्यर्थः ॥५॥

हिन्दी—यह संसार (प्रलयकाल में) तम (प्रकृति) में लीन; अज्ञेय (नहीं जान सकने योग्य), चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कों से हीन (अत एव) अविज्ञेय तथा सर्वत्र सोये हुए के समान था ॥५॥

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥६॥

भाष्य—तस्या महारात्र्या अनन्तरम्। स्वयं भवतीति **स्वयंभूः**। स्वेच्छया कृतशरीरपरिग्रहो, न संसार्यात्मवत्कर्मपरतन्त्रं शरीरग्रहणमस्य। **अव्यक्तो** ध्यानयोगाभ्यासभावनावर्जितानामप्रकाशः। अथवा 'अव्यक्तमिदमि'त्येवं पठितव्यम्। इदमव्यक्तावस्थम् **व्यञ्जयन्** स्थूलरूपैर्विकारैः प्रकाशमानयन्। यदिच्छया पुनर्जगत्प्रादुर्भवति। **प्रादुरासीत्**।

प्रादुःशब्दः प्राकाश्ये। **तमोनुदः**। तमो महाप्रलयावस्था तां नुदति विनाशयति पुनर्जगत्सृजत्यतस्तमोनुदः। **महाभूतानि** पृथिव्यादीनि। आदिग्रहणात्तद्गुणाः शब्दादयो गृह्यन्ते। तेषु वृत्तं प्राप्तमोजो वीर्यं सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स एवमुक्तः। स्वयमसमर्थानि महाभूतानि जगन्निर्वर्तयितुम्। यदा तु तेन तत्र शक्तिराधीयते तदा वृक्षाद्यात्मना विक्रियन्ते। न तु प्रकृतिशक्त्यवस्थानि प्रकृतिरूपापन्नानि महाभूतानि जगत्सर्गादौ महाभूतशब्देनाभिप्रेतानि। पाठान्तरं 'महाभूतानुवृत्तौजा' इति। अनुवृत्तमनुगतमिति प्रागुक्त एवार्थः ॥६॥

हिन्दी—तब स्वयम्भू (स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले), अव्यक्त—इन्द्रियों के अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं; किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति-प्रेरक) भगवान् आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रगट हुए ॥६॥

विमर्श—यहाँ यह शंका होती है कि महर्षियों के धर्मविषयक प्रश्न करने पर भगवान् मनु ने अप्रासङ्गिक सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन क्यों किया? इस विषय में 'मेधातिथि' तथा 'गोविन्दराज' का मत है कि "इस सम्पूर्ण के वर्णन से 'यह शास्त्र विशिष्ट प्रयोजनवाला है' यह सिद्ध होता है तथा ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक संसार तक की गतियाँ जो धर्म तथा अधर्म के कारण हैं, उनका यहाँ प्रतिपादन किया गया है (१।४१)। जीव की धर्माधर्म के कारण इन गतियों को देखकर धर्म में मन लगाना चाहिये (११।२३) यह कहनेवाले हैं, अत एव अनन्तैश्वर्य का कारण धर्म और उससे प्रतिकूल अधर्म है, उसके ज्ञान के लिए महाप्रयोजन वाले इस मानवशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, यह इस अध्याय का अभिप्राय है।" मेधातिथि तथा गोविन्दराज के इस सिद्धान्त से मुक्तावली सहमत नहीं हैं; क्योंकि उनके मत में महर्षियों के धर्म-विषयक प्रश्न करने पर संसार का कारण होने से ब्रह्म का प्रतिपादन करना भी आत्मज्ञान के धर्मस्वरूप होने से असङ्गत नहीं है; क्योंकि मनु भगवान् ने धैर्य आदि को धर्म का लक्षण कहा है (६।२२), उक्त लक्षण में 'विद्या' शब्द से आत्मज्ञान का समावेश हो जाता है, महाभारत में व्यास भगवान् ने भी आत्मज्ञान को धर्म स्वीकार किया है तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में तो उसे 'परम धर्म' कहा है, (या०स्मृ०-१।८) यह सिद्धान्त व्यास तथा श्रुति में भी अभीष्ट है, विशेष जिज्ञासुओं को 'म०मु०' देखनी चाहिये।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ ॥७॥

भाष्य—योऽसाविति सर्वनामभ्यां सामान्यतः प्रसिद्धमिव परं ब्रह्मोद्दिशति। योऽसौ वेदान्तेष्वन्यासु चाध्यात्मविद्यास्वितिहासपुराणेषु च **प्रसिद्धो वक्ष्यमाणैर्धर्मैः**

स एष प्रादुरासीदित्यत्रोक्तः । **स्वयमुद्भभावुद्भूतः** शरीरग्रहणं कृतवान् । भातिरनेकार्थत्वादुद्भवे वर्तते । अथवा दीप्यर्थ एव । स्वयम्प्रकाश आसीन्नादित्याद्यालोकापेक्षः । इन्द्रियाणामतीतोऽतीन्द्रियम् । अव्ययीभावः । **अतीन्द्रियग्राह्यः** सुप्सुपेतिसमासः । इन्द्रियाण्यतिक्रम्य गृह्यते, न कदाचिदिन्द्रियस्य गोचरः । अन्यदेव तद्योगजज्ञानं येन गृह्यते । अथवेन्द्रियाण्यतिक्रान्तमतीन्द्रियं मन उच्यते । परोक्षत्वादिन्द्रियाणामविषयः । तथा च वैशेषिका 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमि'त्यानुमानिकत्वं मनसः प्रतिपन्नाः । (न्यायसूत्र १।१।१६) । तेन गृह्यते । तथा च भगवान्**व्यासः**—'नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न तु शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिरिति' ।। 'प्रसन्नेन' रागादिदोषैरकलुषितेन, तदुपासनापरत्वेन लब्धसूक्ष्मदर्शनशक्तिभिः ।

सूक्ष्म इव **सूक्ष्मो**ऽणुः । न ह्यसावणुस्थूलादिविकल्पानामाश्रयः । सर्वविकल्पातीतो ह्यसौ । उक्तं च—

'यः सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थितः ।
तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः ।
व्यतीतो भेदसंसर्गाद्भावाभावौ क्रमाक्रमौ ।
सत्यानृते च विश्वात्मा स विवेकात्प्रकाशत इति' ।

सूक्ष्मत्वा**दव्यक्तः** सनातनोऽव्यक्तस्वाभाविकेनानादिनिधनेनैश्वर्येण युक्तः । येषामपि कर्मप्राप्यं हैरण्यगर्भं पदं तन्मतेऽपि सनातनत्वं सत्यप्यादिमत्त्वेऽन्यत्वाभावात् । न हि सर्गादिफलभोक्तृत्वावस्था कदाचिदपैति ।

सर्वाणि भूतानि मया स्रष्टव्यानीत्येवंभावितचित्तो भूतात्मा एवं सम्पन्नः **सर्वभूतमय** इत्युच्यते । यथा मृण्मयो घटो मृद्विकारत्वान्मृद्भिरारब्धशरीर एवं यः कश्चित्किञ्चिदत्यन्तं भावयति स तन्मय इत्युपचारादुच्यते । यथा स्त्रीमयोऽयं पुरुषः, ऋङ्मयो, यजुर्मय इति । अथवाऽद्वैतदर्शने—नैव चेतनाचेतनानि भूतानि पृथक्त्वेन सन्ति, तस्यैवायं विवर्तः, अतो विवर्तानां भूतमयत्वात्तैश्च तस्याभेदाद्युक्तमेव तन्मयत्वम् । "कथं पुनरेकस्य नानारूपविवर्तितोपपत्तिरेकत्वाद्विरोधिनी उच्यते" । एवमाहुर्विवर्तवादिनः—यथा समुद्राद्वायुनाऽभिहता ऊर्मयः समुत्तिष्ठन्ति, ते च न ततो भिद्यन्ते नापि लिप्यन्ते, सर्वथा भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्याः, एवमयं ब्रह्मणो विश्वविवर्तः ।

अपिशब्दाश्चात्र द्रष्टव्यः । स्वरूपे स्थितोऽग्राह्यो विवर्तावस्थायामिन्द्रियग्राह्यः । एवं सूक्ष्मः, अपिशब्दात् स्थूलावस्थायां स्थूलः । अव्यक्तो व्यक्तश्च । शाश्वतोऽशाश्वतश्च । भूतमयस्तद्रूपरहितश्च । विवर्तावस्थाभेदेनैव व्याख्येयम् ।

अचिन्त्यः आश्चर्यरूपः, सर्वविलक्षणया शक्त्या योगात् ।।७।।

हिन्दी—जो भगवान् (परमात्मा) अतीन्द्रिय (नेत्र आदि इन्द्रियों से अग्राह्य तथा

योग से ग्राह्य), सूक्ष्मस्वरूप, अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियों के आत्मा (अत एव) अचिन्त्य हैं; वे ही परमात्मा स्वयं प्रकट हुए ॥७॥

सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।।८।।

भाष्य—स पूर्वनिर्दिष्टविशेषणैः "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (ऋग्वेद १०।१२१।१) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्लब्धहिरण्यगर्भाभिधानः । **प्रजाः** विविधा नानारूपाः **सिसृक्षुः** स्रष्टुमिच्छन् **अपः** उदकम् आदौ प्रथमं **ससर्जो**त्पादितवान्। **शरीरात् स्वात्**-यत्तेन गृहीतं शरीरम् । अद्वैतदर्शने प्रधानमेव तस्येदं शरीरं, तदिच्छानुवर्तित्वात्, स्वतः शरीरनिर्माणहेतुत्वाच्च । सर्वलोकानां शरीरं किं भौतिकेन व्यापारेण कुद्दालखननादिना ससर्ज। नेत्याह । कथं तर्हि । **अभिध्याय** । 'आप उत्पद्यन्ताम्' एवमिच्छामात्रेण । अत्रेत्थं चोद्यते—"पृथिव्यादीनां तदानीमभावादपां सृष्टानां क आधारः ॥" अन्येभ्य इदमुच्यते । स्रष्टुरपि परमेश्वरस्य गृहीतशरीरस्य क आधार इत्यपि वाच्यम् । अथ विलक्षणैश्वर्यातिशययोगादन्यैव सा कर्तृशक्तिरसञ्चोद्या, प्रकृतधर्मसामान्येनेत्येवमेष्वपि द्रष्टव्यम् । **तासु-वीर्यं** शुक्रम**वासृजत्** न्यषिञ्चत् ॥८॥

हिन्दी—उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीज को छोड़ा ॥८॥

ब्रह्मा की उत्पत्ति—

तदण्डमभवद्धैम सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।।९।।

भाष्य—प्रथमं प्रधानं सर्वतोभवं मृद्रूपं सम्पद्यते । हिरण्यगर्भवीर्यसंयोगात्काठिन्यं प्रतिपद्यते । **तदाण्डं समभव**दित्युच्यते । हेम्न इदं **हैमं** स्वर्णमयमित्यर्थः । अंशुसामान्यात्तस्य सुवर्णमयस्य । 'ननु चागमिकोऽयमर्थः, न चात्र इवशब्दः श्रूयते, तत्र कथमुपचारतो व्याख्यानमसति प्रमाणान्तरे" । उच्यते । वक्ष्यति—'ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे' इति । इयं च भूमिर्मृण्मयी न सर्वतः सुवर्णमयीत्यत उपचार आश्रितः । **सहस्रांशु**रादित्य इत्यर्थः । अंशवो रश्मयस्तत्तुल्या प्रभा दीप्तिस्तस्याण्डस्य । **तस्मि-न्नण्डे स्वयं ब्रह्मा जज्ञे** जातः सम्भूतः । ब्रह्मा हिरण्यगर्भ एव । स्वयमिति उक्तार्थम् । योगशक्त्या प्राग्गृहीतं शरीरं परित्यज्यान्तरण्डमनुप्राविशत् । अथवाऽशरीर एवापः ससर्ज ततोऽन्तरण्डे स्वशरीरं जग्राह ।

अथवाऽन्यो 'योऽसावित्य'त्र निर्दिष्टः (श्लो० ७) अन्यश्चायमण्डजो ब्रह्मेति। तथा च वक्ष्यति (श्लो० ११) 'तद्विसृष्ट' इति। तेनेश्वरेण सृष्टः। ''कथं तर्हि स्वयं जज्ञे, स्वयंभूतश्च तत्र ब्रह्मोच्यते।'' नैष दोषः। पितृनाम्ना पुत्रो व्यपदिश्यते। 'आत्मा हि जज्ञ आत्मन' इति। अनिदम्परेभ्य आगमेभ्यो लिखितमाचार्येण, नचात्राभिनिवेष्टव्यम्। 'स एव स्वयं जायतामन्यो वा तेन सृज्यतामिति' न धर्माभिधान उपयुज्यत इत्युक्तम्। **सर्वलोकानां पितामह** इति संज्ञा। तस्योपचारतोऽवास्तवदृष्टत्वात्, पितुरपि सकाशादधिकः पितामहः पूज्यः ॥९॥

हिन्दी—वह बीज सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाश वाला, सुवर्ण (सोने) के समान शुद्ध अण्डा हो गया; उसमें सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए॥९॥

'नारायण' शब्द की निरुक्ति—

आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥१०॥

भाष्य—यः कुत्रचिन्नारायणशब्देन कर्तृज्ञातृशक्त्यतिशययोगेन जगत्कारणपुरुषतयाऽऽगमेरूवाम्नातः, सोऽयमेव। न शब्दभेदादर्थभेदः। ब्रह्मा नारायणो महेश्वर इत्येक एवार्थो नोपासना कर्मतया भिद्यते। तथा च द्वादशे दर्शयिष्यामः। यथा चैतत्तथोच्यते। **आपो नरा** इत्यनेन शब्देन प्रोक्ताः। ननु नायं वृद्धव्यवहारोऽथ न च तथा प्रसिद्धोऽत आह—**आपो वै नरसूनवः**। स तावद् भगवान्नरः पुरुष इति प्रसिद्धः। आपश्च तस्य सूनवोऽपत्यानि। अतस्ता नरशब्देनोच्यन्ते। दृष्टो हि पितृशब्दोऽपत्ये, वसिष्ठस्यापत्यानि वसिष्ठा भृगोरपत्यानि भृगवः तथा बभ्रुमण्डुलोमक इत्याद्यभेदोपचारेण। ता आपो नरशब्दवाच्याः। **यत्** येन प्रकारेण **अस्य** प्रजापतेः पूर्वमयनं प्रथमसर्ग आश्रयो वा गर्भस्थस्य, **तेन** हेतुना **नारायणः स्मृतः**। नरा अयनमस्येति नरायण इति प्राप्ते 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा०सू० ६।३।१३४) इति दीर्घः। 'पूरुष इति' यथा। अथवा सामूहिकोऽण् ॥१०॥

हिन्दी—जल को 'नारा' कहते हैं, क्योंकि वह नररूप परमात्मा की सन्तान है। वह 'नारा' (जल) परमात्मा का प्रथम आश्रय (निवास-स्थान) है, इस कारण से परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं॥१०॥

[नारायणपरोव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपात्र मेदिनी ॥४॥]

[**हिन्दी**—अतिशय अन्धकार युक्त और अव्यक्त संसाररूपी व्यक्त वह अण्डा नारायण से उत्पन्न हुआ, उस अण्डे के भीतर ये लोक और सात द्वीपों वाली पृथ्वी थी॥४॥]

ब्रह्मस्वरूपकथन—

यत्तत्कारणव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते।।११।।

भाष्य—कारणमेव न कार्यो न परेच्छाविधेयशरीरः, स्वाभाविकेन महिम्ना युक्तम् **अव्यक्तं** नित्यमुक्तमित्युक्तार्थम्। **सदसदात्मकम्**। सच्चासच्च सदसती। ते आत्मा स्वभावो यस्य तदेवमुच्यते। कथम्पुनरेकस्य विरुद्धभावाभावरूपधर्मद्वयस्य योगः। उच्यते। अर्वाग्दर्शनानां तद्विषयाया उपलब्धेरभावात्सत्ताव्यवहारायोग्यत्वादसदात्मेत्युच्यते। आगमेभ्यः सर्वस्यास्य तत्कारणत्वावगमात्सदात्मकम्। अतः प्रतिपत्तृभेदादुभयोऽपि व्यवहारो ब्रह्मण्यविरुद्धः।

"ननु च सर्व एव भावा एवंरूपाः त्वेन रूपेण सदात्मकाः पररूपेणासन्तः। किमुच्यते ब्रह्मण्यविरुद्ध इति।" उच्यते। अद्वैतदर्शने नैवान्यद्ब्रह्मणः किञ्चिदस्तीति किं तत् परं यत् तद्रूपतयाऽभाव इत्युच्यते।

तेन विसृष्ट उत्पादितोऽन्तरण्डं निर्मितः **पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते**। योऽसावुग्रतपसां देवासुरमहर्षीणां वरदानार्थं तत्र तत्रोपविष्ट इति महाभारतादौ श्रूयते स एष तेन महापुरुषेण परेण ब्रह्मणा प्रथमं विसृष्टः।

अन्ये तु 'त्वमेवैक' इत्याद्यन्यथा वर्णयन्ति। अस्येति प्रत्यक्षाभिनयेन जगन्निर्दिश्यते। सर्वस्यास्य जगतो यद्विधानं निर्माणं तत्स्वयम्भुवः सम्बन्धि। अचिन्त्यमद्भुतरूपं विचित्रमतिमहदप्रमेयं न शक्यं सर्वेण ज्ञातुम्। तथा ऋषिः। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिरिति।' किमिदं जगत्सर्वमुपादानमपेक्ष्य जायत उत नैर्माणिकमात्रम्, यथा बुद्धस्य दर्शनम्। किमीश्वरेच्छाधीनमुत केवलकर्मवशजमुत स्वाभाविकमप्रमेयम्। तथा किं महदादिक्रमेणोत्पद्यत उत द्व्यणुकादिक्रमेण। अस्य त्वं कार्यं तत्त्वमर्थं च वेत्सि। 'कार्यं' महतोऽहङ्कारोऽविशेषास्तन्मात्राण्यहङ्कारस्य, तन्मात्राणां विशेषाः पञ्चमहाभूतानि, अहङ्कारस्येन्द्रियाण्येकादश। विशेषाणामपि पिण्डः कार्यं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः। तेषामपि प्रत्ययात् तत्त्वं स्वभावो, यथा महतो मूर्तिमात्रत्वम्। प्रधानस्य सर्वस्य विकारावस्था महदित्युच्यते। प्रकृतेर्महानिति। प्रकृतिः प्रधानमित्येकोऽर्थः। अहङ्कारस्य तत्त्वमस्मिप्रत्ययमात्रत्वम्। अविशेषणामविशेषप्रत्ययसम्वेद्यत्वमिति। 'अर्थः'–प्रयोजनम्। पुरुषार्थमिदं वस्त्वनेन प्रकारेण पुरुषायोपयुज्यते इमं चार्थं साधयति। यद्यपि धर्मं जिज्ञासमानस्य जगन्निर्माणज्ञता आचार्यसम्बधिनी न क्वचिदुपकारिणी, न च प्रष्टव्या, तथाऽप्यन्यतो दुर्विज्ञानं महर्षीणां वैषम्याज्जगन्निर्माणमादौ प्रश्नार्हं भवति मनोश्च वचनीयम्। यद्वस्तु प्रमाणषट्कस्याप्यविषयस्तदपि

त्वमार्षेण चक्षुषा वेत्सि। धर्मः पुनर्वेदगोचरः सोऽवश्यं त्वया विज्ञात इत्येवं प्रकृत-विषयैव प्रवक्तृप्रशंसा।

एवं स्तुत्या प्रोत्साहितो जगन्निर्माणमेव तावद्वक्ति **'आसीदिदमिति'** (श्लो० ५)।

'ततः स्वयम्भूरिति' (श्लो० ६)। प्रधानमेवैतैः शब्दैरभिधीयते। स्वयं भवति परिणमति विक्रियामेति महदादितत्त्वभावेन। न कश्चिदीश्वरः स्वभावसिद्धोऽस्ति, यस्येच्छामचेतनं प्रधानमनुवर्तते। वस्तुस्वभाव एवायं यदुत प्रकृतिरूपं प्रधानं पुनर्विक्रियते। यथा क्षीरमचेतनं मण्डकावस्थाभिर्दधीभवति। **भगवानिति**। स्वव्यापार ईश्वरः। महाभूतादिद्वारेण प्रवृत्तः स्कार्योत्साह 'ओजः' सामर्थ्यम्। आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायाम्। तेन महदादिकारणमव्यक्तं भवति। विकारावस्थायां प्रच्युतं प्राग्रूपात्सूक्ष्मभावात्। प्रकाशमयं 'तमो नुदती'त्युच्यते। अर्थ शब्दाध्याहारेण वा प्रधाने पुल्लिङ्गनिर्देशः। पुरुषशब्दश्च प्रधानादिषु दृष्टः, 'तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणमिति' (मनु० १।१९)।

योऽसाविति (श्लो० ७) पूर्ववत्। **सोऽभिध्यायेति** (श्लो० ८)। अभिध्यानं गुणतः, अचेतनत्वात्प्रधानस्याभिध्यानासम्भवात्। यथा कश्चिदभिध्यायैव कार्यं निर्वर्तयेत्। अन्यकार्यनिरपेक्षमेव वस्तु स्वाभाव्येन परिणममानमीश्वरेच्छानपेक्षतयाऽभिध्यायेत्युच्यते। **अप आदौ ससर्ज**। महाभूतान्तरापेक्षया तासामादित्वं, न तु महदादितत्त्वोत्पत्तेः। वक्ष्यति हि 'तेषामिदं तु सप्तानामिति'। प्रथमं तत्त्वोत्पत्तिस्ततो भूतानाम्। **तासु वीर्यमिति**। वीर्यं शक्तिमवासृजत्। प्रधानमेव कर्तृ भवति।

सर्वतः प्रधानं पृथिव्यादिभूतोत्पत्तौ काठिन्यमेति, अण्डरूपं सम्पद्यते। **तदण्डमिति** (श्लो० ९)। यथा तत्त्वानि स्त्रीपुरुषसंयोगं विनोत्पन्नानि प्रथममेवं पूर्वकर्मवशेन ब्रह्माऽपि स्वमहिम्नैव। अयोनिजं तस्य शरीरं दंशमशकादिवत्।

तद्विसृष्टः (श्लो० ११)। तेन प्रधानेन विसृष्टः। तन्मयत्वात्तच्छरीरस्य तद्विसृष्ट इत्युच्यते। शेषं पूर्ववत्।

यदत्रार्थतत्त्वं तदस्माभिरुक्तमेव। अर्थवादा एते यथाकथञ्चिद्गुणवादेन नीयन्ते ॥११॥

हिन्दी—वह (जो अत्यन्त प्रसिद्ध) सब का कारण है, नित्य है, सत् तथा असत् स्वरूप है, उससे उत्पन्न पुरुष लोक में 'ब्रह्मा' कहा जाता है॥११॥

अण्डे को दो खण्ड करना–

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ।।१२।।

भाष्य—स भगवान् ब्रह्मा परिवत्सरं सम्वत्सरमुषित्वा **तदण्डमकारोद्द्विधा**।

तावता कालेन गर्भः परिपच्यते। **तस्मिन्नण्डे** स्थित उत्पन्नः सर्वज्ञः कथं निर्गच्छेयमिति ध्यातवान्। अण्डमपि तावत्कालेन भेदजातं परिपाकात्। अतः काकतालीयन्यायेन तदण्डमकरोद्द्विधेत्युच्यते ॥१२॥

हिन्दी—ब्रह्मा ने उस अण्डे में एक वर्ष (ब्रह्मा के वर्ष के प्रमाण से = ३६० ब्रह्म = दिन एकतीस खर्ब दस अर्ब चालिस करोड़ मानुष वर्ष; देखें श्लो० ६४-७२) तक निवास कर अपने ध्यान के द्वारा उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये ॥१२॥

अण्ड-खण्ड से स्वर्गादि की सृष्टि—

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥

भाष्य—शकलम् अण्डकपालम्। ताभ्यामण्डकपालाभ्यामुत्तरेण **दिवं निर्ममे** निर्मितवान्, अधरेण पृथिवीं, मध्ये व्योमाकाशं दिशोऽष्टौ च प्रागाद्याः, अवान्तर-दिग्भिर्दक्षिणपूर्वादिभिः सह। अपां स्थानमन्तरिक्षे, समुद्रमाकाशं च पृथिवीपाताल-गतम् ॥१३॥

हिन्दी—(और उन्होंने) उस अण्डे के उन दो टुकड़े से स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और बीच में आकाश, आठ दिशाओं तथा जल का आश्रय अर्थात् समुद्र की सृष्टि की ॥१३॥

[वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥५॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा।]

[वैकारिक, तैजस तथा भूत (जीव आदि साधन) आदि की सृष्टि की तीन खण्ड में विभक्त एक ही अण्डा 'महान्' कहलाया और सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा नाश की उस ब्रह्मा ने सृष्टि की ॥५॥]

मन तथा उससे पूर्व अहङ्कार की सृष्टि—

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥

भाष्य—तत्त्वसृष्टिरिदानीमुच्यते। या च यथावयवा पश्चादुक्ताऽर्थाद्वा पूर्वमिति तथोक्तन्तत्। प्रधानात् स्वस्माद्रूपान्मन उद्धृतवान्। प्रातिलोम्येनेयं तत्त्वोत्पत्तिरिहोच्यते। **मनसः पूर्वमहङ्कारमभिमन्तारम्।** अहमित्यभिमानिताऽहङ्कारस्य वृत्तिः। **ईश्वरं** कार्य-निर्वर्तनसमर्थम् ॥१४॥

हिन्दी—ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-असत् आत्मा वाले 'मन' की सृष्टि की तथा

मन से पहले 'अहम्' (मैं) इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहङ्कार की सृष्टि की ॥१४॥

'महत्' आदि तत्त्वों की सृष्टि—

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ।।१५।।

भाष्य—महानिति संज्ञया सांख्यानां तत्त्वं प्रसिद्धम् । **आत्मान**मिति महता सामानाधिकरयण्म् । सर्वपिण्डसृष्टौ च महत्तयाऽनुस्यूतमत आत्मव्यवहारः । अहङ्कारात्पूर्वं पूर्वेण न्यायेन ससर्ज । **सर्वाणि त्रिगुणनि च** । यथानुक्रान्तं यथानुक्रम्यते तत्सर्वं त्रिगुणम् । सत्वरजस्तमांसि गुणाः । क्षेत्रज्ञाः केवलं निर्गुणाः । प्राकृतो भागः सर्वः सत्त्वरजस्तमोमयः । **पञ्चेन्द्रियाणि,** तेषां निर्देश**विषयाणां** रूपरसादीनां यथास्वं **ग्रहीतॄणि** विज्ञानजनकानि । **पञ्च** 'श्रोत्रं त्वगित्यादिना' वक्ष्यन्ते विशेषनामानि । चशब्देन विषयांश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पृथिव्यादीनि च ॥१५॥

हिन्दी—अहङ्कार से पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्व (बुद्धि) की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की और रूप-रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियों (२।१०-९१) की तथा पाँच शब्दतन्मात्रादियों की सृष्टि की ॥१५॥

[अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ।।६।।]

[**हिन्दी**—सृष्टि के सामान्य तथा विशेष विषयों की पृथक्-पृथक् सृष्टि भी उसी अहङ्कार से की ॥६॥]

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ।।१६।।

भाष्य—तेषां षण्णां या **आत्ममात्रास्तासु सूक्ष्मानवयवान् सन्निवेश्य सर्वभूतानि निर्ममे** । तत्र षट्संख्यया वक्ष्यमाणानि पञ्च तन्मात्राणि अतिक्रान्तश्चाहङ्कारः प्रतिनिर्दिश्यते । आत्ममात्रास्तेषां स्वविकाराः—तन्मात्राणां भूतानि, अहङ्कारस्येन्द्रियाणि । पृथिव्यादिषु भूतेषु शरीररूपतया तिष्ठत्सु सूक्ष्मानवयवांस्तन्मात्राहङ्कारान् सन्निवेश्य–यथास्थानं योजनं कृत्वा—सर्वभूतानि देवमनुष्यतिर्यक्पक्षिस्थावरादीनि निर्ममे । एतदुक्तं भवति । षडविशेषा अवयवा एकदेशारम्भकाः सर्वस्य जगतस्तस्य तदारब्धत्वात् । सूक्ष्मत्वं तन्मात्रसंज्ञयैव सिद्धम् । तानि सन्निवेश्य संहत्य तेषामेवात्ममात्रांस्तद्विकारान् भूतेन्द्रियाणि निर्ममे । तैश्च पिण्डसृष्टिम् चकारात् । 'मात्रास्वि'त्यत्र 'मात्राभि'रिति युक्तः पाठः ॥१६॥

हिन्दी—अनन्त शक्ति वाले उन ६ (अहङ्कार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं अपने-अपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की ॥१६॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तानीमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ।।१७।।

भाष्य—'मूर्तिः' शरीरम् । तदर्थास्तत्सम्पादका **अवयवाः** । **सूक्ष्माः षडुक्तस्व**-रूपाश्च अविशेषाख्याः । **तानीमानी**न्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि च भूतान्याश्रयन्ति । तस्योत्पत्ते-र्भूतान्याश्रयन्तीत्युच्यते । तदाश्रयोत्पत्तिस्तेषाम् । पठितं च, 'पञ्चभ्यः पञ्चभूतानी'ति (सांख्यकारिका- २२) । यद्येन कारणेनाश्रयन्ति तस्मात् कारणात् 'शरीरम् तस्य' प्रधानस्य येयं मूर्तिः, शरीरमित्युच्यते । **मनीषिणः** । मनीषा बुद्धिस्तद्वन्तः पण्डिताः ।

अथवा विपरीतः कर्तृभावः । 'सूक्ष्माः' कर्तार 'इन्द्रियाणि' कर्म । अवयवाश्चेन्द्रि-याणामाश्रयभावं प्रतिपद्यमाना 'आश्रयन्ती'त्युच्यते । यथा 'बहुभिर्भुक्त' इति, भोजयन् 'भुक्त' इत्युच्यते । अथवाऽनेकार्थत्वाद्धातूनामाश्रयन्ति जनयन्तीत्यर्थः ॥१७॥

हिन्दी—प्रकृति-युक्त उस ब्रह्म की मूर्ति के शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ तथा अहङ्कार–ये छः सूक्ष्म अवयव हैं तथा कर्मभाव से उसका आश्रय करते हैं, इसी कारण से लोग ब्रह्म की मूर्त्ति को 'शरीर' कहते हैं। (यही बात साङ्ख्य मत से भी पुष्ट होती है[१]) ॥१७॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ।।१८।।

भाष्य—**तदे**तत्प्रधानं **सर्वभूतकृद्भ**वति । **अव्ययम**विनाशं कारणात्मना । कथं सर्वाणि भूतानि करोति? यतस्तदाविशन्तीमानि । कानि पुनस्तानि । **मनः सूक्ष्मैरवयवैः** सह तन्मात्रैर्बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियलक्षणैः । अनन्तरं महान्ति भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वा-काशाख्यानि । **सह कर्मभिः** । धृतिसंहननपक्तिव्यूहावकाशाः पृथिव्यादीनां यथाक्रमं कर्माणि । तत्र धृतिः धारणं सरणपतनधर्मकस्य एकत्रावस्थानम् । सङ्ग्राहकाद्विकीर्णस्य संहननम् । यथा पांसवो विकीर्णा उदकेन संहन्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते । पक्तिरन्नौषधतृणा-देस्तेजसः कार्यतया प्रसिद्धा । व्यूहो विन्यासः सन्निवेशः । अवकाशो मूर्त्यन्तरेणा-

---

१. तदाह साङ्ख्यकारिकायाम्—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गुणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥" इति । (कारिका २२)

प्रतिबन्धः । न हि यस्मिन्देशे मूर्तिरिका स्थिता तत्र मूर्त्यन्तरस्य स्थानम् । सुवर्णपिण्डे न कस्यचिदन्तः सम्भवः ।

मनोग्रहणं सर्वेन्द्रियप्रदर्शनार्थम् ।

कर्मग्रहणेन च कर्मेन्द्रियाणि वा गृह्यन्ते ।

अथवा तत्कार्यं सूक्ष्मैरवयवैर्युक्तं महान्ति भूतान्यधितिष्ठति पञ्चादित्येवं योजना । इन्द्रियाणि च, मनःशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् ॥१८॥

हिन्दी—विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई ॥१८॥

विनश्वर संसार की उत्पत्ति—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ।।१९।।

भाष्य—सूक्ष्मात्स्थूलमुत्पद्यते सम्भवति अव्ययाद् व्ययमित्येतावति तात्पर्यम्, न तु षण्णां सप्तानां वा तत्त्वानां मात्राभ्य इति । चतुर्विंशतितत्वानि । तानि सृष्टौ सर्वेषां निमित्तम् । अथवा पिण्डसृष्टौ सप्तैव प्रधानं कारणम्, षडविशेषाः सप्तमो महान् । तेभ्यो भूतेन्द्रियाण्युत्पद्यते । तेषु चोत्पन्नेषु पिण्डीभवति शरीरम् ।

अव्ययात् प्रधानादुपसम्भृतसर्वविकारादेकीभूतादिदं बहुधा विप्रकीर्णं विश्वरूपं जगदुत्पद्यते । किं युगपदेव समस्तैर्विकारैः स्थूलरूपैः प्रधानं विक्रियते? नेत्याह **तेषामिदमिति** । यादृशः प्रागुक्तः क्रमस्तेनैव । प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणस्तु षोडशक इति (साङ्ख्यकारिका-२२) । पुरुषशब्दस्तत्त्वे पुरुषार्थत्वात्प्रयुक्तः । **महौजसां** स्वकार्ये वीर्यवताम् । अपरिमितविकारहेतुत्वान्महत्वम् । तेषां याः **सूक्ष्मा मूर्तिमात्राः—मूर्तिः** शरीरं, तदर्था मात्राः, ताभ्य इदं भवति । अत उच्यते **अव्ययाद्व्ययमिति** ।

काः पुनस्तेषां सूक्ष्मा मात्राः । न हि तन्मात्राणामन्या मात्राः सम्भवन्ति येन तेषां सूक्ष्मा मात्रा इति व्यतिरेक उपपद्यते ।

न तेषां स्वगतमात्रापेक्षत्वम् किं तर्हि तन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मो महान्महतः प्रकृतिरिति ॥१९॥

हिन्दी—फिर विनाश रहित उस ब्रह्म से महाशक्तियुक्त सात पुरुषों (महत्तत्व, अहङ्कार तथा शब्द आदि पञ्चतन्मात्राओं) की सूक्ष्म मूर्ति के अंशों से विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ॥१९॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ।।२०।।

भाष्य—पूर्वश्लोके केचिदन्यथा सप्तसंख्यां परिकल्पयन्ति । पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वर्गीकृतान्येकीभवन्ति बोधहेतुतयैकेन धर्मेण योगादेकत्वेन निर्दिश्यन्ते । एवं कर्मेन्द्रियाणि । तौ च वर्गद्वित्वाद्द्वौ पुरुषौ भवतः । पञ्चभूतानि भेदेनैव निर्दिष्टानि कार्यवैलक्षण्यात् । तदेवं सप्तपुरुषास्तेषां या मूर्त्यर्थाः सूक्ष्मा मात्राः निर्माणकार्याणि तन्मात्राण्यहङ्कारश्च । अन्यत्समानम् ।

अतश्च भूतानां पूर्वश्लोके सन्निधाना**देषामिति** तेषां प्रतिनिर्देशः । यद्यपि च व्यवहिते बहूनि वचनानि सन्निहितानि तथापि य इहार्थः प्रतिपाद्यते विशिष्टसंख्याकर्तृगुणवत्त्वं तद्भूतानामेव सम्भवति नान्येषां, प्रकृतत्वे सत्यपि ।

अतोऽयं श्लोकार्थः । एषां भूतानां यद्यत आद्यं तस्य यद्रूपं ततोऽनन्तरं पठितं तत्तत्पूर्वस्य सम्बन्धेन गुणं गृह्णाति । गुणशब्देन शब्दादयः पञ्चोच्यन्ते । आद्यत्वं चात्र वक्ष्यमाणया व्यवस्थयाऽऽकाशं जायत इति । गुणत्वं च शब्दादीनां तत्रैव वक्ष्यति । यो य आकाशादिलक्षणोऽर्थो **यावतिथः** यावतां पूरणः । 'वतोरिथुक्' । द्वितीये तृतीयेऽवस्थाने स्थितः स **तावद्गुणः** । तावन्तो गुणास्तस्य भवन्ति । द्वितीयस्थाने स्थितो द्विगुण इत्यादि । परस्पराद्याद्यगुणसम्बन्धित्वं प्रथमोऽर्धश्लोक उक्तम् । तत्र यः स्वशब्देन यस्यैव यो गुणोऽभिहितः 'तस्य शब्दगुणं विदुः' (श्लो० १।७५) 'तद्रूपगुणमुच्यते' (श्लो० १।७७) इत्यादि, ततश्च पूर्वगुणावाप्तौ द्वैगुण्यम् आकाशं वर्जयित्वा भूतानां प्राप्तम् । अत उक्तं **यो यो यावतिथ** इति । तेन द्विगुणो वायुस्त्रिगुणं तेजश्चतुर्गुणा आपः पञ्चगुणा भूमिरिति ।

आद्याद्यस्येति कथम्? आद्यस्याद्यस्येह भवितव्यम् नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनेन । यथा परः पर इति ।

छन्दोभिरविशेषात् स्मृतीनां लुग्वृत्तानुरोधाच्चैवं पठितम् ॥२०॥

हिन्दी—उन पञ्चमहाभूतों के गुणों को आगे-आगेवाले तत्त्व प्राप्त करते हैं, जो तत्त्व जितनी संख्या का पूरक है, उसके उतने गुण होते हैं ॥२०॥

प्रत्येक जाति के नाम-कर्म की पृथक्-पृथक् सृष्टि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।२१।।

भाष्य—**स** प्रजापतिः सर्वेषामर्थानां नामानि चक्रे । यथा कश्चित् पुत्राणां जातानामन्येषां वा सम्व्यवहारार्थं करोति, 'वृद्धिरादैच्' 'धीश्रीस्त्री'मिति । शब्दार्थसम्बन्धं

कृतवान्, 'गौरश्वः पुरुषः' इति। कर्माणि च निर्ममे, धर्माधर्माख्यान्यदृष्टार्थान्यग्निहोत्रादीनि च। सृष्ट्वा च कर्माणि तत्र **संस्था** व्यवस्थाश्चकार, 'इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यं, कालेऽमुष्मै च फलाय'। अथवा दृष्टार्था मर्यादा **संस्था**। 'गोप्रचार इह च प्रदेशे न कर्तव्यः', 'इदं उदकं सस्यसेकार्थममुष्मिन् ग्रामे न देयं यावत्तस्माद्ग्रामादस्माभिरयमुपकारो न लब्धः'। दृष्टार्थानि च कर्माणि निर्ममे। तत्र यान्यदृष्टार्थानि तानि **वेदशब्देभ्यो** वैदिकेभ्यो वाक्येभ्यः।

ननु सर्वस्य तेनैव सृष्टत्वात्तस्यैव स्वातन्त्र्याद्वेदं ससर्ज कर्मानुष्ठानपरिपालनार्थमित्येवं वक्तव्यम्। वेदसृष्टिश्च वक्ष्यते 'अग्निवायुरविभ्यश्चे'त्यत्रान्तरे (श्लो० १।२३)

उच्यते। भिन्नमत्र दर्शनम्। केचिदाहुरन्यस्मिन्कल्पे वेदास्तेनाधीतास्ते च महाप्रलयेन प्रलीनाः पुनरन्यस्मिन् कल्पे सुप्तप्रतिबुद्धवत्सर्वं प्रथमं प्रतिभाति, स्वप्नपठितो यथा कस्यचिच्छ्लोकः प्रतिभाति। भाति च वेदे 'गौरनुबन्ध्यो'ऽ'श्वस्तूपरोगोमृग' (यजुर्वेद २४।१) इत्यादिवाक्येभ्यः शब्दानुस्मृतिपूर्वकं झटिति तानर्थान् स्मृत्वोत्पद्यमानांश्च पदार्थान् दृष्ट्वा तस्यार्थस्यायं शब्दः कल्पान्तरे नामासीत्सम्प्रत्यस्यैव क्रियतामित्युभयं वेदशब्देभ्य एव नामानि कर्माणि च सृष्टवान्। अथवा नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि। योऽसौ पुरुषः केषाञ्चिदिष्टस्तथा वेदा आसते। स एवान्तरण्डं ब्रह्माख्यं पुरुषं निर्माय वेदानध्यापयामास। एवं स ब्रह्मा वेदशब्देभ्यः सर्वं निर्मितवान्।

यदत्र तत्त्वं तदस्माभिरुक्तमेव। अथ पौराणिकी प्रक्रिया प्रयुज्यते साऽस्माभिः प्रदर्श्यत एव।

आदौ जगत्सर्गे इत्यर्थः। अथवाऽऽ**दौ** यानि नामान्यनपभ्रष्टानि न पुनरिदानीन्तनान्यशक्तिजानि गाव्यादीनि। **पृथक्**। न यथाशरीरं तत्त्वसमुदायरूपमेवं निर्ममे-किं तर्हि-पृथक्॥२१॥

हिन्दी—हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्मा ने सबों के नाम (यथा- 'गो' जाति का 'गौ' और 'अश्व' जाति का 'अश्व,.....) और कर्म (यथा-'ब्राह्मण' का वेदाध्ययनादि, क्षत्रियों का वेदाध्ययन तथा रक्षणादि, देखें श्लो० ८८-८९) तथा लौकिक व्यवस्था (यथा-कुम्हार का घटादि बनाना, बुनकर का कपड़ा बुनना, नापित का क्षौर करना आदि) को पहले वेद-शब्दों से ही जानकर पृथक्-पृथक् बनाये॥२१॥

देवगणादि की सृष्टि—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥२२॥

भाष्य—कर्मात्मनः शरीरिणः प्राणिनः कर्मसु तत्परा मनुष्या उच्यन्ते। तेषामर्थसिद्धये यज्ञमसृजत्। ये ब्रह्मोपासनास्वनभिरताः पुत्रपश्वादिफलार्थिनो द्वैतपक्षाश्रि-

तास्ते कर्मानुष्ठानपरत्वात्कर्मात्मान उच्यन्ते । षष्ठ्यपि तादर्थ्यं ब्रूत इति तदर्थं यज्ञमसृजदिति गम्यते । **देवानां च गणं** तदर्थमेवासृजत् ।

कर्मात्मनां च इत्ययमदेशे **चः** पठितः । तस्य देशो देवानामित्यतोऽनन्तरम् ।

यज्ञं ससर्ज । अग्निरग्नीषोभाविन्द्राग्नी इत्यादि यज्ञसिद्ध्यर्थं देवानां गणमसृजत् । तथा **साध्यानां** देवानां गणमित्यनुषज्यते । भेदेनोपादानमहविर्भाक्त्वात्तेषाम्, स्तुतिभाज एव ते केवलम्। 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' इति–'साध्या वै नाम देवा' इति–'साध्या वै नाम देवा आसन्' इति । अथवा ब्राह्मणपरिव्राजकवत् । **सूक्ष्मम्** मरुतो रुद्राङ्गिरस इत्येतदपेक्षया साध्यगणः सूक्ष्मः । साध्यग्रहणं चान्यासामप्यहविःसम्बन्धिनीनां देवतानां वेनोस्तुनीतिरित्यादीनां प्रदर्शनार्थम् ।

अन्ये तु **कर्मात्मनां देवानां प्राणिनामिति** समानाधिकरणानि मन्यन्ते । कर्माणि आत्मा स्वभावप्रतिमो येषां ते कर्मात्मानः । यागादिकर्मनिर्वर्तनपरत्वात् प्रधानतया वा कर्मात्मानः ।

काश्चिद्देवता यागादिकर्मण्येव स्वरूपत इतिहासे श्रूयन्ते । यथेन्द्रो रुद्रो विष्णुरिति । अन्यासां तु याग एव देवतात्वं न स्वरूपतः । अक्षा ग्रावाणो रथाङ्गानि । न हि यथा भारते इन्द्रादीनां वृत्रादिभिरसुरैर्युद्धादि कर्म श्रूयते तथाऽऽक्षादीनां वर्ण्यते । अस्ति च सूक्ते हविःसम्बन्धे तेषामपि देवतात्वम् । अक्षाणाम्–'प्रावेपामा' इति (ऋग्वेद १०।३४।१)। ग्राव्णाम्—'प्रैते वदन्त्विति' (ऋग्वेद १०।९४।१)। 'वनस्पते वीड्वङ्ग' इति (ऋग्वेद ६।४७।२६) रथाङ्गानाम् । अत एव **प्राणिनामिति** । द्विविधा हि देवताः–प्राणवत्यस्तद्रहिताश्च । यथेन्द्रादयः पुरुषविग्रहाः प्राणवन्तः पुराणे वर्ण्यन्ते नाक्षादयः । इतिहासदर्शनाश्रयश्चायं सर्वः सर्गादिप्रपञ्चः । चशब्दश्चात्र द्रष्टव्यः, प्राणिनामप्राणिनामपि । निरुक्तदर्शनेऽपि द्विविधा देवता । अश्वाः–'मानोमित्र' इति (ऋग्वेद १।१६२।१), शकुनिः–'कनिक्रदरिति' (ऋग्वेद ५।८३।१), गावः–'आगावो अग्मन्निति' (ऋग्वेद ६।२८।१)। एताः प्राणवत्यः । अप्राणा उक्ताः ।

सनातनग्रहणं यज्ञविशेषणम् । पूर्वकल्पेऽपि यज्ञस्य भावात्प्रवाहनित्यतया नित्यत्वम् ॥२२॥

हिन्दी—उस ब्रह्मा ने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव, प्राणी, अप्राणी (पत्थर आदि), साध्यगण और सनातन यज्ञ (अग्निष्टोमादि) की सृष्टि की ॥२२॥

वेदत्रय की सृष्टि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।।२३।।

भाष्य—तिस्र एव देवता अग्निप्रभृतय इति नैरुक्ताः; सम्यप्यभिधाननानात्वे। अतस्तेन दर्शनेनोच्यते। एताभ्यस्तिसृभ्यो यज्ञसिद्ध्यर्थम् यागसम्प्रदानत्वात्तासां चतुर्थी। त्रयमृग्यजुः सामलक्षणं **ब्रह्म** वेदाख्यं **दुदोह**।

द्विकर्मकोऽयं धातुः। प्रधानं कर्म'त्रयम्'। अप्रधानेन द्वितीयेन कर्मणा भवितव्यम्। न च तदस्ति। अतः पञ्चम्येवेयमिति मन्यामहे। अग्न्यादिभ्यो दुदोहाक्षारयदभावयत्।

"कथं पुनरगन्यादिभ्यो वर्णात्मा शब्दो मन्त्रवाक्यानि ब्राह्मणवाक्यानि च भवेयुः"। किं नोपपद्यते? किं शक्तीरदृष्टा असतीर्वक्तुमर्हति।

"नाख्याताथौं विकल्पयितुं युक्तः। पञ्चमी तर्हि किमर्थं? 'दुहि याचीति' द्वितीया भवितव्यम्। किञ्च दृष्टप्रमाणविरोधी प्राग्वृत्तोऽर्थ उच्यमानो न मनः परितोषमाधत्ते प्रामाणिकानाम्।"

परिहृतो विरोधः स्वरूपपरत्वाश्रयणेनैषामागमानाम् ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यादिति। अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र का नामानुपपत्तिः? अस्मिन् दर्शने पञ्चम्यपि विवक्ष्या। अतः कारकाणि कथितान्यत्रापादानसंज्ञेत्यपादानविवक्षायां भाष्ये समर्थितानि।

"अन्यदर्शने कथम्।"

चतुर्थी तावद्युक्तैव।

अर्थवादाश्चैते। तत्र द्वितीयं कर्मात्मैव-प्रजापतिरात्मानं दुदोह। दोहनं चाध्यापनं परसङ्क्रान्तिसामान्येन।

अथापि पञ्चमी, तत्राप्याग्नेया मन्त्रा आदावृग्वेदे—'अतोऽग्नेरजायते'त्युच्यते। यजुर्वेदेऽपि "इषेत्वोर्जेत्वेति"—'इट्' अन्नं तत् म व्यस्थानत्वाद्वायुना वर्षदानेन क्रियते। 'उर्क्' प्राणः, स वायुरेव। अत आदितो वायुकार्यसम्बन्धाद्वायोरित्युपमा। अथवाऽऽध्वर्यवमार्त्विज्यं बहुप्रकाराश्चेष्टाश्च सर्वा वायोरित्यनेन सामान्येन वायोर्जन्म यजुर्वेदस्य। अनधिकारस्य सामगीत्ययोग्यत्वादुत्तमाध्ययनानि समान्युत्तमस्थानश्चादित्य इति ॥२३॥

हिन्दी—उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया[1] ॥२३॥

समयादि की सृष्टि—

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान् समानि विषमाणि च ॥२४॥

---

१. तथा च श्रुतिः—"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद" इति।

भाष्य—धर्मसामान्यादाह। द्रव्यात्मा कालो वैशेषिककाणां, क्रियारूपोऽन्येषाम्। आदित्यादिगतिप्रतान आवृत्तिमान्। **कालविभक्तयो** विभागा मासर्त्वयनसम्वत्सराद्याः। **नक्षत्राणि** कृत्तिकारोहिण्यादीनि। **ग्रहा** आदित्यादयः। **सरितो** नद्यः। **सागराः** समुद्राः। **शैलाः** पर्वताः। **समानि** स्थलान्येकरूपा भूभागाः खातप्रदरवर्जिताः। **विषमाणि** आरोहावरोहवन्ति ॥२४॥

हिन्दी—फिर उस ब्रह्मा ने समय (निमेष, काष्ठ, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि), उनके विभाग, नक्षत्र (अश्विनी, भरणी २७ या २८) ग्रह (सूर्य-चन्द्रादि नव), नदी (यमुना, गङ्गा, गोदावरी आदि), समुद्र (क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र आदि सात), पर्वत, सम (समतल = बराबर), विषय (ऊँचा-नीचा) ॥२४॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्त्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥२५॥

भाष्य—**रति**र्मनसः परितोषः। **कामो**ऽभिलाषो मन्मथो वा। अन्यत्प्रसिद्धम्। एवमादिकां सृष्टिं **ससर्ज इमाम्**। अत्रश्लोके पूर्वा च या सृष्टिरुक्ता। **इमाः प्रजाः स्त्रष्टुमिच्छन्**। देवासुरा यक्षराक्षसगन्धर्वाद्यास्तदुपकरणं तदात्मधर्मवच्छरीरं धर्मं चादावसृजदित्यर्थः।

"अथ केयं वाचोयुक्तिः सृष्टिं ससर्जेति"।

य एवार्थः सृष्टिं कृतवानिति। सर्वे धातवः करोत्यर्थस्य विशेषावच्छिन्ने वर्तन्ते। पचति—पाकं करोति, यजति—यागं करोति। तत्र कृदन्ताद्विशेषेऽवगत आख्यातगतो धातु करोत्यर्थमात्रप्रतिपादनपरो भजति। तस्मिन्नपि कुतश्चित्प्रतिपन्ने पुनःप्रतिपादनेऽनुवाददोषो मा भूदिति कालकारकादिषु तात्पर्यम्। अथवा सृज्यमानविशेषा प्रमाणावच्छिन्ना 'सृष्टिः' सामान्यसृष्टेः कर्मः; यथा स्वपोषं पुष्ट इति ॥२५॥

हिन्दी—तप (प्राजापत्य आदि), वाणी, रति, इच्छा और क्रोध की सृष्टि की तथा इन प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए ब्रह्मा ने—॥२५॥

कर्मणां च विवेकाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रज्ञाः ॥२६॥

भाष्य—**धर्माधर्मौ व्यवेचयद्** विवेकेन पृथग्भावेन व्यवस्थापितवान्। अयं धर्म एवायमधर्म एव।

"ननु च नैवायं विवेकोऽस्ति। सन्ति हि कर्माण्युभयरूपाणि धर्माधर्मात्मकानि। यथाहुः—शबलानि वैदिकानि कर्माणि हिंसासाधनकत्वात्। यथा ज्योतिष्टोमः स्वरूपेण धर्मो हिंसाङ्गत्वात्त्वधर्म" इति अत आह—**कर्मणां तु विवेकाय**। कर्मशब्देनात्र

भाष्य—तिस्र एव देवता अग्निप्रभृतय इति नैरुक्ताः; सम्यप्यभिधाननानात्वे। अतस्तेन दर्शनेनोच्यते। एताभ्यस्तिसृभ्यो यज्ञसिद्ध्यर्थम् यागसम्प्रदानत्वात्तासां चतुर्थी। त्रयमृग्यजुः सामलक्षणं **ब्रह्म** वेदाख्यं **दुदोह**।

द्विकर्मकोऽयं धातुः। प्रधानं कर्म'त्रयम्'। अप्रधानेन द्वितीयेन कर्मणा भवितव्यम्। न च तदस्ति। अतः पञ्चम्येवेयमिति मन्यामहे। अग्न्यादिभ्यो दुदोहाक्षारयदभावयत्।

"कथं पुनरगन्यादिभ्यो वर्णात्मा शब्दो मन्त्रवाक्यानि ब्राह्मणवाक्यानि च भवेयुः"। किं नोपपद्यते? किं शक्तीरदृष्टा असतीर्वक्तुमर्हति।

"नाख्यातार्थो विकल्पयितुं युक्तः। पञ्चमी तर्हि किमर्थ? 'दुहि याचीति' द्वितीया भवितव्यम्। किञ्च दृष्टप्रमाणविरोधी प्राग्वृत्तोऽर्थ उच्यमानो न मनः परितोषमाधत्ते प्रामाणिकानाम्।"

परिहृतो विरोधः स्वरूपपरत्वाश्रयणेनैषामागमानाम् ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यादिति। अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र का नामानुपपत्तिः? अस्मिन् दर्शने पञ्चम्यपि विवक्ष्या। अतः कारकाणि कथितान्यत्रापादानसंज्ञेत्यपादानविवक्षायां भाष्ये समर्थितानि।

"अन्यदर्शने कथम्।"

चतुर्थी तावद्युक्तैव।

अर्थवादाश्चैते। तत्र द्वितीयं कर्मात्मैव-प्रजापतिरात्मानं दुदोह। दोहनं चाध्यापनं परसङ्क्रान्तिसामान्येन।

अथापि पञ्चमी, तत्राप्याग्नेया मन्त्रा आदावृग्वेदे—'अतोऽग्नेरजायते'त्युच्यते। यजुर्वेदेऽपि "इषेत्वोर्जेत्वेति"—'इट्' अन्नं तत् म व्यस्थानत्वाद्वायुना वर्षदानेन क्रियते। 'उर्क्' प्राणः, स वायुरेव। अत आदितो वायुकार्यसम्बन्धाद्वायोरित्युपमा। अथवाऽऽध्वर्यवमार्त्विज्यं बहुप्रकाराश्चेष्टाश्च सर्वा वायोरित्यनेन सामान्येन वायोर्जन्म यजुर्वेदस्य। अनधिकारस्य सामगीत्ययोग्यत्वादुत्तमाध्ययनानि समान्युत्तमस्थानश्चादित्य इति ॥२३॥

हिन्दी—उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया[1] ॥२३॥

समयादि की सृष्टि—

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान् समानि विषमाणि च ॥२४॥

---

१. तथा च श्रुतिः—"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद" इति।

भाष्य—धर्मसामान्यादाह । द्रव्यात्मा कालो वैशेषिककाणां, क्रियारूपोऽन्येषाम् । आदित्यादिगतिप्रतान आवृत्तिमान् । **कालविभक्तयो** विभागा मासर्त्वयनसम्वत्सराद्याः । **नक्षत्राणि** कृत्तिकारोहिण्यादीनि । **ग्रहा** आदित्यादयः । **सरितो** नद्यः । **सागराः** समुद्राः । **शैलाः** पर्वताः । **समानि** स्थलान्येकरूपा भूभागाः खातप्रदरवर्जिताः । **विषमाणि** आरोहावरोहवन्ति ॥२४॥

हिन्दी—फिर उस ब्रह्मा ने समय (निमेष, काष्ठ, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि), उनके विभाग, नक्षत्र (अश्विनी, भरणी २७ या २८) ग्रह (सूर्य-चन्द्रादि नव), नदी (यमुना, गङ्गा, गोदावरी आदि), समुद्र (क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र आदि सात), पर्वत, सम (समतल = बराबर), विषय (ऊँचा-नीचा) ॥२४॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्त्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ।।२५।।

भाष्य—**रति**र्मनसः परितोषः । **कामो**ऽभिलाषो मन्मथो वा । अन्यत्रसिद्धम् । एवमादिकां सृष्टिं **ससर्ज इमाम्** । अत्रश्लोके पूर्वा च या सृष्टिरुक्ता । **इमाः प्रजाः स्त्रष्टुमिच्छन्** । देवासुरा यक्षराक्षसगन्धर्वाद्यास्तदुपकरणं तदात्मधर्मवच्छरीरं धर्मं चादावसृजदित्यर्थः ।

"अथ केयं वाचोयुक्तिः सृष्टिं ससर्जेति" ।

य एवार्थः सृष्टिं कृतवानिति । सर्वे धातवः करोत्यर्थस्य विशेषावच्छिन्ने वर्तन्ते । पचति—पाकं करोति, यजति—यागं करोति । तत्र कृदन्ताद्विशेषेऽवगत आख्यातगतो धातु करोत्यर्थमात्रप्रतिपादनपरो भजति । तस्मिन्नपि कुतश्चित्प्रतिपन्ने पुनःप्रतिपादनेऽनुवाददोषो मा भूदिति कालकारकादिषु तात्पर्यम् । अथवा सृज्यमानविशेषा प्रमाणावच्छिन्ना 'सृष्टिः' सामान्यसृष्टेः कर्मः; यथा स्वपोषं पुष्ट इति ॥२५॥

हिन्दी—तप (प्राजापत्य आदि), वाणी, रति, इच्छा और क्रोध की सृष्टि की तथा इन प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए ब्रह्मा ने—॥२५॥

कर्मणां च विवेकाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रज्ञाः ।।२६।।

भाष्य—**धर्माधर्मौ व्यवेचयद्** विवेकेन पृथग्भावेन व्यवस्थापितवान् । अयं धर्म एवायमधर्म एव ।

"ननु च नैवायं विवेकोऽस्ति । सन्ति हि कर्माण्युभयरूपाणि धर्माधर्मात्मकानि । यथाहुः—शबलानि वैदिकानि कर्माणि हिंसासाधनकत्वात् । यथा ज्योतिष्टोमः स्वरूपेण धर्मो हिंसाङ्गत्वात्त्वधर्म" इति अत आह—**कर्मणां तु विवेकाय** । कर्मशब्देनात्र

प्रयोगः कर्मणामनुष्ठानमुच्यते । स एव पदार्थोऽन्यथा प्रयुज्यमानो विपरीतस्वभावो भवति । धर्मः सन्नधर्मरूपतामापद्यतेऽधर्मो धर्मत्वम् । तथा हिंसैव । हिंसा बहिःप्रयुज्यमाना अधर्मः सः; 'न हिंस्यात्सर्वभूतानीति' प्रतिषेधगोचरत्वात् । अन्तर्वेदिकृता अग्नीषोमीये धर्मः, विधिलक्षणत्वात् । एवं तपो धर्मः, तदेव तु दम्भेनासामर्थ्यादिना वा क्रियामाणमधर्मः । एवं देवरगमनं स्त्रीणामधर्मः, गुरुनियुक्तानां पुत्रार्थिनीनां घृताक्ताद्यनुग्रहेण धर्मः । अतः स्वरूपैकत्वेऽपि प्रयोगभेदाद्धर्माधर्मव्यवस्था । एकत्वेऽपि प्रमाणान्तरदृष्ट्या स्वरूपभेद एव ।

अथ च कर्मफलेषु कर्मशब्दः, कारणे कार्योपचारात् । तेनैतदुक्तं भवति । कर्माणि व्यवेचयत् कर्मफलविभागाय । कः पुनः कर्मणां फलविभागोऽत उक्तं **द्वन्द्वैरयोजयत् सुखदुःखादिभिः** । धर्मस्य फलं सुखमधर्मस्य दुःखम् । अत उभयकारिणो द्वन्द्वैर्योज्यन्ते, धर्मकारित्वात्सुखेनाधर्मकारित्वाद्दुःखेन । **द्वन्द्व**शब्दोऽयं रूढ्या परस्परविरुद्धेषु पीडाकरेषु वर्तते शीतोष्णवृष्ट्यातपक्षुत्सौहित्यादिषु । **आदि**ग्रहणं सामान्यविशेषभावेन ज्ञेयम् ।

केवलौ सुखदुःखशब्दौ स्वर्गनरकयोर्वाचकौ निरतिशयानन्दपरितापवचनौ वा । विशेषः स्वर्गग्रामपुत्रपश्वादिलाभस्तदपहारश्चादिशब्दस्य विषयः ।

कर्मणां पूर्वमुत्पत्तिरुक्ता । अनेन तेषामेव प्रयोगविभागः फलविभागश्च प्रजापतिना कृत इति प्रतिपाद्यविवेकः ॥२६॥

हिन्दी—कर्मों की विवेचना के लिए धर्म (अवश्य कर्तव्य यज्ञादि) और अधर्म (अवश्य त्याज्य प्राणि हिंसादि) को पृथक्-पृथक् बतलाया तथा इन प्रजाओं को सुख एवं दुःख आदि (राग-द्वेष, शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि) द्वन्द्वों से संयुक्त किया अर्थात् धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःख होता है यह प्रजाओं के लिए निश्चय किया ॥२६॥

स्थूल तथा सूक्ष्मादि की सृष्टि—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ।।२७।।

भाष्य—उपसंहारोऽयम् । **दशार्धानां** पञ्चानां महाभूतानां या **अण्व्यः** सूक्ष्मा **मात्रा** अवयवास्तन्मात्रास्ता **विनाशिन्यः** । परिणामधर्मित्वात् स्थौल्यप्रतिपत्त्या विनाशिन्य उच्यन्ते । **ताभिः सार्धमिदं** जगत्**सर्वं सम्भव**त्युत्पद्यते । **अनुपूर्वशः** क्रमेण । सूक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलतरम् । यादृशो वा क्रम उक्तः प्राक् ॥२७॥

हिन्दी—पञ्चमहाभूतों (आकाश आदि) की विनाशशील जो पञ्चतन्मात्रायें (शब्द

आदि) कही गयी हैं, उन्हीं के साथ पहले कहे गये तथा आगे कहे जाने वाले ये सब क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥२७॥

विमर्श—'अनुपूर्वशः' शब्द से सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतर से स्थूलतम आदि क्रम इष्ट है, इस कथन से— सर्वशक्तिसम्पन्न, परमात्मा की मानसिक सृष्टि कभी तत्त्वनिरपेक्ष भी हो सकती है, यह शंका भी उसके द्वारा ही इस सृष्टि की उत्पत्ति कहने से दूर कर दी गयी है।

कर्मानुसारिणी सृष्टि—

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ।।२८।।

भाष्य—अस्यायमर्थः । यद्यपि प्रजापतिरीश्वरो भूतसृष्टौ शक्नोति यथेच्छं प्राणिनः स्रष्टुं तथापि न पूर्वकल्पकृतानि कर्माण्यनपेक्ष्य प्राणिनः सृजति । येन यादृशं पुराकल्पे कर्म कृतं तत्कर्माक्षिप्तायां जातौ तं जनयति, न जात्यन्तरे । शुभेन कर्मणा तत्फलोपभोग्यायां देवमनुष्यादिजातौ जनयति, विपरीतेन तिर्यक्प्रेतादिषु । यथैव भूतेन्द्रियगुणाः कल्पादौ प्रकृतिस्था उद्भवन्ति एवं कर्माण्यपि प्रलये स्वप्रकृतिस्थानि पुनरुद्भवन्ति सर्गादौ । 'ततः शेषेणे'त्येष न्यायस्तत्राप्यस्त्येव ।

''यदि तर्हि कर्मापेक्षोत्पत्तिः, क्व प्रजापतेरैश्वर्यमुपयोगि कीदृशं वा सापेक्षमैश्वर्यम्''। तस्मिन् सति जगत उत्पत्तेः कथमनुपयोगः । न तमन्तरेण स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः सन्ति । नित्यत्वात्तस्य स्वकृतान्यपि कर्माणि कारणं तदिच्छाऽपि प्रकृतिपरिणामश्च । एतस्याः कारणसामग्र्या इदं जागदुत्पद्यते तिष्ठति प्रलीयते च । सापेक्षस्याप्यैश्वर्यं न विहन्वते । यथेह राजादिरीश्वरो । भृत्यादीन् फलेन योजयेदेवमेवादिकर्मानुरूपेणैव योजयति । न चानीश्वरः ।

''ननु नास्य श्लोकस्यायमर्थः प्रतीयते । किं तर्हि प्रतीयते? विधातुरेव प्राणिनां कर्मविनियोगे स्वातन्त्र्यम् । स यं प्राणिनं प्रथमं सर्गादौ यस्मिन् कर्मणि हिंसात्मके तद्विपरीते वा न्ययुङ्क्त स तदेव कर्म भजते करोति । न पित्रादेरनुशासनमपेक्ष्य स्वेच्छयाऽन्यथा प्रवर्तते, किं तर्हि, प्राक्प्रजापतिनियोगवशात्साध्वसाधु वा स्वयमन्यानुशासननिरपेक्षोऽनुतिष्ठति । **सृज्यमानः** पुनर्जायमानः । कल्पान्तरेऽस्मिन्नेव वा कल्पे प्रजापतिरेव क्षेत्रज्ञांस्तत्कर्तृत्वेन नियुङ्क्ते । अतस्तन्नियोगमेवानुवर्तमानाः प्राचीनं शुभमशुभं वा कर्म कुर्वन्ति । तदुक्तम् ।

'कर्तृत्वं प्रतिपद्यन्ते अनीशाः स्वेषु कर्मसु ।
महेश्वरेण प्रेर्यन्ते शुभे वा यदि वाऽशुभे' इति ।

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा' ।।''

उच्यते । एवं सति कर्मफलसम्बन्धस्त्यक्तः स्यात् पुरुषकारानर्थक्यं च स्यात् । अग्निहोत्रादिकर्माद्युपदेशो ब्रह्मोपासनाश्च व्यर्थाः प्रसज्येरन् । य एवेश्वरस्वरूपानभिज्ञास्त एव दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु प्रवर्तेरन् । ये तु तदधीनं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च मन्यन्ते तेषां सर्वत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गः । कृतमपि न तत्कर्म फलति-अकर्तारोऽपि भोक्ष्यामह इति मन्यमाना उदासीरन् । न च व्याधिरिवापथ्याद्विदुषां बलादिच्छोपजायते कर्तृत्व ईश्वरप्रेरणया । अथ कर्मफल सृष्ट्या तदिच्छा निश्चिता अस्मात्कर्मण इदं कर्तृत्वं भवतीति, न तर्हि 'यं तु कर्मणी'त्येतदस्ति । शास्त्रादेव नियोगः प्रतिपत्तव्यः । तस्मा**द्यं पुरुषं स प्रभुः** प्रथमं न्ययुङ्क्त—अनादौ संसारे 'प्रथमं' वर्तमानापेक्षम्, नियोक्तृत्वं चास्य सर्वभावेषु, दिक्कालनिमित्तकारणत्वात् ।

अन्ये तु व्याचक्षते । जात्यन्तरापन्नस्यात्मनो न पूर्वं जातिसंस्कारापेक्षा । अतः स्वभावानुवृत्तिः । यं जातिविशेषं यस्मिन्कर्मणि नियुक्तवान् परवधादौ स सिंहादिजातीय आत्मा सम्पन्नो मनुष्यत्वे मार्दवमभ्यस्तमपि हित्वा जातिधर्मं प्रतिपद्यते अन्येनानुपदिष्टमपि स्वाभाव्यात्प्रजापतिकृतत्वात् कर्माणि बलवन्ति प्रागभ्यासं जात्यन्तरगतस्य विस्मारयन्तीति प्रदर्शितं भवति ।।२८।।

एतदेव विस्तारयति—

हिन्दी—उस ब्रह्मा ने जिस (व्याघ्र आदि जाति-विशेष) को जिस कर्म (मारण आदि) में पहले लगाया था, बार-बार सृज्यमान (उत्पन्न होता हुआ) वह (जाति-विशेष अपने-अपने कर्मवश) उसी कर्म को करने लगा ।।२८।।

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ।।२९।।

भाष्य—हिंस्रं परप्राणिवियोगकरं सर्पसिंहहस्त्यादि । तद्विपरीत**महिंस्रं** रुरुपृषतादि । **मृदु** पेशलमनायासकम् । **क्रूरं** कठिनं परदुःखोत्पादनात्मकम् । अन्यत्प्रसिद्धम् । यदेतद्द्विशः प्रसिद्धं कर्म जातं ततो यस्य यदेव **अदधाद्द**त्तवान् कल्पितवान् स प्रजापतिः सर्गे सृष्ट्यादौ पूर्वकर्मानुरूप्यमवेक्ष्य, तत्कर्म स सृष्टः प्राणी **स्वयमाविशत्** प्रतिपद्यते । भूतकालता न विवक्षिता । अद्यत्वेऽपि जातिधर्मस्यानुपदिष्टस्य स्वयम्प्रतिपत्तिदर्शनात् ।।२९।।

हिन्दी—हिंसा (मारन—सिंह व्याघ्रादि का), अहिंसा (मृग आदि का), मृदु, (दया, सरलता आदि—ब्राह्मण का), क्रूर अर्थात् कठोर (युद्ध दण्ड आदि—क्षत्रिय

का) धर्म (गुरुशुश्रूषा आदि—ब्रह्मचारी का), अधर्म (मांसभक्षण एवं मैथुन आदि—उसी ब्रह्मचारी का), सत्य (प्रायः देवों का), और असत्य (प्रायः मानवों) की सृष्टि के प्रारम्भ में जिस-जिस के लिए बनाया; वह-वह बार-बार उसी-उसी को अदृष्टवश स्वयं ही प्राप्त होने लगा ॥२९॥

स्वयं स्व-स्व कर्म प्राप्ति में दृष्टान्त—

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ।।३०।।

भाष्य—अत्र दृष्टान्तः । अचेतना अपि यथा भावास्तन्मर्यादयैव व्यवस्थित-स्वभावाः एवं चेतना अपि पुरुषकृतकर्मसहायेन प्रजापतिना कृतां मर्यादां नातिक्रामन्ति, यस्यां जातौ जातास्तदेव कुर्वन्ति नान्यदिच्छन्तोऽपि शक्नुवन्ति कर्तुम् ।

ऋतवो वसन्तादयः । **स्वलिङ्गानि** चिह्नानि पत्रफलकुसुमशीतोष्णवर्षादीनि । **पर्यये** । यस्यर्तोर्यः पर्यायः स्वकार्यावसरः तस्मिन् स ऋतुस्तं धर्मं स्वयमेव प्रतिपद्यते, न पुरुषप्रयत्नमपेक्षते । चूतमञ्जर्यो वसन्ते स्वयमेव पुष्यन्ति, न मूले सलिलसेकमपेक्षन्ते । एवं पुरुषकर्माण्यदृष्टानि । नास्ति स पदार्थो यो न कर्मापेक्षते । तथाहि । वर्षाणां स्व-स्वभावो यो वृष्टिप्रदः—भवति च राजदोषाद्राष्ट्रदोषाद्वा कदाचिदवग्रहः । तस्मात्कर्म-शक्ति रेवानपसार्या ।

वृत्तानुरोधादसकृदृतुग्रहणम् ।

अन्ये तु श्लोकत्रयमप्यन्यथा व्याचक्षते । कर्मशक्तीनां स्वभावनियमोऽनेनोच्यत इत्याहुः ।

(२८) यत्फलं यस्मिन्कर्मण्याहितं प्रजापतिना स कर्मविशेषः पुनः पुनः सृज्य-मानोऽनुष्ठीयमानः स्वयं तत्फलं भजते ददातीत्यर्थः । तेन यागः कृतो यदा फलिष्यति न तदा किञ्चिदन्यदपेक्षत इति प्रतिपादितं भवति । सेवा हि स्वकृताऽपि मन्त्रि-पुरोहितादिवाक्यमपेक्षते । नैवं यागः । दृष्टस्तु व्यापारस्तेनापेक्ष्यते । दृष्टादृष्टकारणद्वय-जन्यत्वात्सर्वस्य कार्यस्यादृष्टान्तरापेक्षा निषिध्यते तदानीम् ।

(२९) कर्माणीष्टानिष्टफलप्रदानि विधिप्रतिषेधविषयाणि । कर्माणि द्विश उदा-हरति । हिंस्राहिंस्रे इति । हिंसा प्रतिषिद्धा । तस्या नरकादिफलप्रदानं नियमितम्, यो ब्राह्मणायावगुरेत् यो मामकायावगुरेत्तं शतेन यातयादिति वाक्यशेषेभ्यः । सा ततः स्वभावान्न च्यवते । प्रायश्चित्तेषु विशेषं वक्ष्यामः । अहिंस्रं विहितम् । तस्यापि नेष्ट-फलदानात् स्वभावच्युतिरस्ति । धर्माधर्मयोरेव विशेषायते । विहितं कर्म धर्मः, प्रति-षिद्धमधर्मः, तयोर्विशेषाः सत्याऽनृतादयः । सत्यं विहितमनृतं प्रतिषिद्धम् । एवं सर्वाणि पूर्वोत्तरपदानि विहितप्रतिषिद्धविशेषप्रदर्शनानि ।

(३०) अव्यभिरितदृष्टकार्यकारणसम्बन्धीनि कर्माणि। दृष्टान्तः यथर्तुलिङ्गानीति। शेषं समानम् ॥३०॥

हिन्दी—जिस प्रकार (वसन्त आदि ऋतु) परिवर्तन होने पर स्वयं ही अपने-अपने चिह्नों (पिक-कूलन, आम्र-मञ्जरी आदि) को प्राप्त करती है, उसी प्रकार देहधारी (जीव) अपने-अपने कर्मों (हिंसा, अहिंसा आदि पूर्व श्लोक्त) को स्वयं ही करते हैं ॥३०॥

ब्राह्मणादिवर्णों की सृष्टि—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥३१॥

भाष्य—पृथिव्यादीनां **लोकानां विवृद्ध्यर्थम्**। 'वृद्धिः' पुष्टिर्बाहुल्यं वा। ब्राह्मणादिषु चतुर्षु वर्णेषु सत्सु त्रयाणां लोकानां वृद्धिः। इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति। ते च यागाद्यधिकृताः। अतस्तैः कर्म कृतमुभौ लोकौ वर्धयति। पुरुषकर्मप्रचोदिता देवाः। आदित्याज्जायते वृष्टिरिति। अस्यापि लोकस्य सृष्टिर्वृद्धिः। ब्राह्मणादीन् वर्णा**न्निरवर्तय**न्निर्वर्तितवान् असृजत्। **मुखबाहूरुपादतः**। यथाक्रमम्, मुखाद्ब्राह्मणं, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, शूद्रं पादत इति। तसिः अपादाने। कारणात्कार्यं निष्कृष्यत भवति इवति अपाये सति अपादानत्वम्।

आद्यं कश्चिद्ब्राह्मणं स्वमुखावयवेभ्यो दैव्या शक्त्या निर्मितवान्—अद्यतनानां सर्वेषां मिथुनसम्प्रयोगद्वारेण तत्त्वेभ्य उत्पत्तिदर्शनात्।

परमार्थतः स्तुतिरेषा वर्णानामुत्कर्षापकर्षप्रदर्शनार्थम्। सर्वेषां भूतानां प्रजापतिः श्रेष्ठः। तस्यापि सर्वेषामङ्गानां मुखम्। ब्राह्मणोऽपि सर्वेषां वर्णानां प्रशस्यतमः। एतेन सामान्येन ब्रह्ममुखादुत्पन्न इत्युच्यते। मुखकर्माध्यापनाद्यतिशयाद्वा मुखत इत्युच्यते। क्षत्रियस्यापि बाहुकर्म युद्धम्। वैश्यस्याप्यूरुकर्म पशून् रक्षतो गोभिश्चरन्तीभिर्भ्रमणं स्थलपथवारिपथादिषु वाणिज्यायै गमनम्। शूद्रस्य पादकर्म शुश्रूषा ॥३१॥

हिन्दी—लोक-वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की ॥३१॥

स्त्री-पुरुष की सृष्टि—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥३२॥

भाष्य—एषा सृष्टिः साक्षात्परस्य पुरुषस्य। इयं तु ब्रह्मणस्तस्यैवेत्यन्ये। यत्तदन्तरण्डं समुद्गतं शरीरं तद् द्विधा कृत्वाऽ**र्धेन पुरुषोऽभवत्** पुमान् सम्पन्नः शुक्रसेकसमर्थः। **अर्धेन नारी** गौरीश्वरभङ्ग्या। अथवा पृथगेव तां निर्मितवान्। तां

निर्माय तस्यां मैथुनेन धर्मेण विराडिति यस्य नाम प्रसिद्धं तं जनितवान्। एतदुच्यते—प्रजापतिः स्वां दुहितरमगच्छत्। इदमपि जायापत्योः शरीरमात्रभेदात् सर्वत्र कार्येष्वविभागात् तदालम्बनं द्वैधङ्कारवचनम् ॥३२॥

हिन्दी—वे ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे भाग से पुरुष तथा आधे भाग से स्त्री हो गये और उसी स्त्री में (मैथुन-धर्म से) 'विराट्' संज्ञक पुरुष की सृष्टि की ॥३२॥

मनु की उत्पत्ति—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥

भाष्य—स विराट् **तपस्तप्त्वा यं पुरुषमसृजत् तं मां वित्त** जानीध्वम्। एवं स्मृतिपरम्परया नात्र वः किञ्चिदविदितं मम वर्णयितव्यमस्ति। तन्मध्ये शुद्धिमात्मन आचष्टे। **अस्य सर्वस्य स्रष्टारम्**। अनेन सर्वशक्तिमाह। जन्मकर्मातिशयवन्तं मां प्रत्ययितरीकरिष्यतीत्यभिप्रायः निश्चयोत्पत्त्यर्थं च, अन्यतोऽवगतेऽपि **मनु**जन्मनि स्वयमभिधानात्। यथाऽन्यतः श्रुतोऽपि कश्चित् पृच्छ्यते, 'देवदत्तस्य त्वं पुत्र' इति, 'वाढ़मिति' तेनोक्ते निश्चय उपजायते। अभिजनवर्णनं कवीनामत्रपाकरं सत्यामपि पारम्पर्येणात्मस्तुतौ। **द्विजसत्तमा** इत्यामन्त्रणम्। 'सत्तमाः' साधुतमाः श्रेष्ठा इति यावत् ॥३३॥

हिन्दी—(मनु भगवान् ऋषियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—) हे महर्षि श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! उस 'विराट्' पुरुष ने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया, उसे इस संसार को रचयिता मुझे (मनु को) जानो ॥३३॥

दश प्रजापतियों की उत्पत्ति—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥३४॥

भाष्य—अहमसृजमुत्पादितवान्। **दश** प्रजापतीन्महर्षीन्। **आदितः सुदुश्चरं तपः** कृत्वा। सुष्टु दुःखेन तपश्चर्यतेऽतिपीडाकरं बहुकालं च ॥३४॥

हिन्दी—प्रजापतियों की सृष्टि करने के इच्छुक मैंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्या कर पहले दश प्रजापतियों (महर्षियों) की सृष्टि की ॥३४॥

दश प्रजापतियों के नाम—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥३५॥

भाष्य—तान्महर्षीन्नामतो निर्दिशति मरीचिमिति ॥३५॥

हिन्दी—(उन प्रजापतियों के ये नाम हैं—) मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद ॥३५॥

पुनः सात मनुओं तथा देवों की सृष्टि—

एते मनूस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः ।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षिश्चामितौजसः ।।३६।।

भाष्य—**एते** महर्षयः **सप्तान्यान्यनूनसृजन्**। अधिकारशब्दोऽयं **मनुरिति**। मन्वन्तरे यस्य प्रजासर्गे तत्स्थितौ वाऽधिकार उक्तेन प्रकारेण स **मनुरित्युच्यते**। **भूरितेजस अमितौजस** इति चैक एवार्थः। एकं प्रथमान्तं स्त्रष्टुर्विशेषणम्, द्वितीयं द्वितीयान्तं स्त्रष्टव्यानां मन्वादीनां विशेषणम्।

"ननु देवा ब्रह्मणैव सृष्टाः"।

सत्यम्, न सर्वे। अपरिमिता हि देवसङ्घाताः। **देवनिकाया** हि देवस्थानानि स्वर्गलोकब्रह्मलोकादीनि ॥३६॥

हिन्दी—महातेजस्वी इन दश प्रजापतियों (महर्षियों) ने सात अन्य मनुओं, ब्रह्मा से पहले नहीं उत्पन्न किये गये देवों, उनके वासस्थानों (स्वर्ग आदि) तथा अपरिमित तेजस्वी महर्षियों की सृष्टि की ॥३६॥

यक्ष आदि की सृष्टि—

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान्।।३७।।

भाष्य—यक्षादीनां स्वरूपभेदश्चेतिहासादिप्रमाणक एव, न प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन परिच्छिद्यते। तत्र वैश्रवणानुचरा **यक्षाः**। **रक्षांसि** विभीषणादयः। तेभ्यः क्रूरतराः **पिशाचाः** अशुचिमरुदेशादिवासिनो, निकृष्टा यक्षराक्षसेभ्यः। हिंस्रास्तु सर्व एव। छद्मना केचित् प्राणिनां जीवमाकर्षन्त्यदृष्टया शक्त्या व्याधींश्च जनयन्तीत्यैतिहासिका मन्त्रवादिनश्च। **गन्धर्वा** देवानुचरा गीतनृत्तप्रधानाः। **अप्सरसो** देवगणिका उर्वश्याद्याः। **असुरा** देवशत्रवो वृत्रविरोचनहिरण्याक्षप्रभृतयः। **नागा** वासुकितक्षकादयः। **सर्पाः** प्रसिद्धाः। **सुपर्णाः** पक्षिविशेषा गरुत्मत्प्रभृतयः। **पितरः** सोमपाज्यपादिनामानः स्वस्थाने देववद्वर्तन्ते। तेषां गणमसृजन् ॥३७॥

हिन्दी—यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराएँ, असुर (विरोचन आदि), नाग (वासुकि आदि), सर्प, सुपर्ण (गरुड़) और पितृगण (आज्यप आदि) की सृष्टि की ॥३७॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ।।३८।।

भाष्य—मेघोदरदृश्यं मध्यमं ज्योतिर्**विद्युदु**च्यते । यस्यास्तडित्सौदामिनीत्यादय: पर्याया विशेषाश्रया: । **अशनि:** शिलाभूता हिमकणिका: सूक्ष्मदृश्याश्च वर्षधारादिवत्पतन्त्यो वेगवद्वातप्रेरिता: सस्यादिविनाशिन्य उच्यन्ते । **मेघा** अभ्रोदकमरुज्ज्योति: सङ्घाता आन्तरिक्षा: । **रोहितं** दण्डाकारमन्तरिक्षे नीललोहितरूपं कदाचित् दृश्यते । आदित्यमण्डल लग्नं कदाचित् कदाचित्प्रदेशान्तरेऽपि । तस्यैव विशेष **इन्द्रधनु:** । वक्रत्वं धनुराकारताऽधिकाऽस्य । **उल्का** संध्याप्रदोषादौ विसारिप्रभाण्युत्पाते दिक्षु पतन्ति यानि ज्योतींषि दृश्यन्ते । **निर्घात:** भूम्यन्तरिक्ष उत्पातशब्द: । **केतव** उत्पाते दृश्यमानानि शिखावन्ति ज्योतींषि प्रसिद्धानि । अन्यान्यपि ध्रुवागस्त्यारुन्धतीप्रभृतीनि नानाप्रकाराणि ।।३८।।

हिन्दी—तदनन्तर बिजली, वज्र, बादल, रोहित (सीधा इन्द्रधनुष), इन्द्रधनुष (सामान्यत: टेढ़ा इन्द्रधनुष), उल्का, निर्घात, (आकाश-पृथ्वी के बीच में होने वाला उत्पातसूचक शब्दविशेष), धूमकेतु (पुच्छलतारा) और अनेक प्रकार के ऊँची-नीची (छोटी-बड़े) ताराओं (ध्रुव तथा अगस्त्य आदि) की सृष्टि हुई।।३८।।

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून् मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदत: ।।३९।।

भाष्य—अश्वमुखा: प्राणिनो हिमवदादिपर्वतेषु भवन्ति ते **किन्नरा:** । **वानरा** मर्कटमुखा पुरुषविग्रहा: । **विहङ्गमा:** पक्षिण: । अजाविकोष्ट्रगर्दभादय: **पशव:** । **मृगा** रुरुपृषतादय: । **व्याला:** सिंहव्याघ्रादय: । द्वे दन्तपंक्ती उत्तराधरे येषां भवतस्ते **उभयतोदत:** ।।३९।।

हिन्दी—इसके पश्चात् किन्नर, वानर, अनेक प्रकार की मछलियाँ, पक्षी, पशु (गौ आदि), मृग (हरिण आदि); व्याल (हिंस-व्याघ्र आदि हिंसक जीव) और दोनों ओर (ऊपर-नीचे) दाँत वाले पशुओं की सृष्टि की।।३९।।

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ।।४०।।

भाष्य—कृमयोऽत्यन्तसूक्ष्मा प्राणिन: । **कीटा**स्तेभ्य ईषत्स्थूला भूमिचरा: । **पतङ्गा:** शलभादय: । **स्थावरं** वृक्षपर्वतादि । **पृथग्विधं** नानाप्रकारम् । 'क्षुद्रजन्तव:' इत्येकवद्भाव: ।।४०।।

हिन्दी—इसके अनन्तर कृमि (बहुत छोटे कीड़े), कीट (कृमि से कुछ बड़े कीड़े), पतग (फतिङ्गे-उड़ने वाले कीड़े), जूँ, मक्खी, खटमल, सब प्रकार के दंश

तथा मच्छर और अनेक प्रकार के स्थावर (लता, वृक्ष आदि) की सृष्टि की ॥४०॥

[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम् ।।७।।]

[(प्राणियों के) कर्म, समय, बुद्धि (ज्ञान), शास्त्र, युग, देश, आचार तथा कर्म के अनुसार (उस ब्रह्मा ने) सृष्टि की ॥७॥]

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।।४१।।

भाष्य—एवमिति प्रक्रान्तप्रकारपरामर्शः । **एतैर्महात्मभि**र्मरीच्यादिभिः । **इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम्** । **यथाकर्म** यस्य जन्मान्तरे यादृशं कर्म तदपेक्षम् । यस्यां जातौ यस्य तु युक्तमुत्पत्तुं कर्मवशात्स तस्यामेवोत्पादितः । **मन्नियोगा**न्मदाज्ञया । **तपोयोगा**न्तमहत्कृत्वा तपः । यावत्किञ्चिन्महदैश्वर्यं तत्सर्वं तपसा प्राप्यमित्येतदनेनाह ॥४१॥

हिन्दी—इस प्रकार इन महात्माओं (मरीचि आदि (श्लो० ३६) दश प्रजातियों) ने मेरे आदेश से तपोबल द्वारा इन स्थावर तथा जङ्गम् प्राणियों की सृष्टि उनके कर्म के अनुसार की ॥४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ।।४२।।

भाष्य—येषां भूतानां यादृशं कर्म स्वभावतो हिंस्रमहिंस्रं वा तद्वत्तथैव **कीर्तितम्** । इदानीं जन्म**क्रमयोगमभिधास्यामि** ।

"क्व पुनः कर्म कीर्तितम् । यत्रेदं यक्षरक्ष इत्यादि नामनिर्देशो न कर्मनिर्देशः" ।

उच्यते । नामनिर्देशादेव कर्मावगतिः, कर्मनिमित्तत्वादेषां नामप्रतिलम्भस्य । तथाहि यक्षणाद्भक्षणदशनाद्वा 'यज्ञाः' । रहसि क्षणनाद् रक्षणाद्वा 'रक्षांसि' । पिशिताशनात् 'पिशाचाः' । अद्भ्यः सृता इति 'अप्सरसः' । अमृताख्यायाः सुराया अलाभादसुरा । इत्याद्यप्यूह्यम् । **जन्मनि** क्रमयोगो जरायुजाण्डजा इत्यादि वक्ष्यते ॥४२॥

हिन्दी—(मनु भगवान् महर्षियों से कहते हैं—) इस संसार में जिस जीव का जो कर्म पूर्वाचार्यों ने कहा है, उसे तथा उन जीवों के क्रम को आप लोगों से मैं कहूँगा ॥४२॥

जरायुज जीव के लक्षण—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मानुषाश्च जरायुजाः ।।४३।।

भाष्य—एते **जरायुजाः**। जरायुरुल्वं गर्भशय्या। तत्र प्रथमं ते सम्भवन्ति। ततो मुक्ता जायन्ते। एष एतेषां जन्मक्रमः। दन्तशब्दसमानार्थो दत्शब्दोऽन्योऽस्तीत्युभयतोदत इति प्रथमाबहुवचने रूपं युज्यते ॥४३॥

हिन्दी—पशु (गौ आदि), मृग, हरिण आदि), व्याल (सिंह आदि हिंसक जीव), ऊपर-नीचे (दोनों ओर) दाँत वाले राक्षस, पिशाच और मनुष्य; ये सब जरायुज अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव हैं ॥४३॥

अण्डज जीव के लक्षण—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवम्प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥४४॥

भाष्य—नक्राः शिशुमारादयः। **कच्छपः** कूर्मः। **यानि चैवम्प्रकाराणि** कृकलासादीनि **स्थलजानि**। एवंरूपा**ण्यौदकानि** जलजानि शङ्खादीनि ॥४४॥

हिन्दी—पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुए तथा इस प्रकार के जो स्थलचर तथा जलचर जीव हैं; वे सब 'अण्डज' हैं ॥४४॥

स्वेदज जीव की गणना—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥४५॥

भाष्य—स्वेदः पार्थिवानां द्रव्याणामग्न्यादित्यादितापसम्बन्धादन्तः क्लेदस्ततो जायते दंशमशकादि। अन्यदपि यदीदृशमत्यन्तसूक्ष्मं पुत्तिकापिपीलिकादि यदूष्मण उपजायते। 'ऊष्मा' स्वेद एव, तद्धेतुर्वा तापः। 'उपजायन्ते' इति पाठे 'ये चान्ये केचिदीदृशा' इति पठितव्यम् ॥४५॥

हिन्दी—दंश, मच्छर, जूँ, मक्खी, खटमल और इस प्रकार के जो अन्य जीव (लिक्षा अर्थात् लीख आदि) हैं; वे सब 'स्वेदज' हैं (गर्मी या पसीने से उत्पन्न होते हैं) ॥४५॥

उद्भिज तथा औषधि जीव—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥४६॥

भाष्य—उद्भेदनमुद्भित्। भावे क्विप्। ततो जायन्त इति **उद्भिज्जाः**। उप्तं बीजं भूमिं च भित्वा विदार्य जायन्ते वृक्षाः। सर्वे बीजात्काण्डाच्च प्ररोहन्ति जायन्ते मूलस्कन्धादिना दृढीभवन्ति। **तथौषध्यः**। ओषधय इति युक्तम्। ईकारः कृदिकारादिति, छान्दसो वा। इदं तासां स्वाभाविकं कर्म। **पाकान्ताः** फलपाकः

अन्तो नाश आसामिति। पक्वेफले व्रीह्यादयो नश्यन्ति बहुना च पुष्पफलेनोपगताः युक्ता भवन्ति। औषधीनां वृक्षाणां च यथासम्भवमेतद्विशेषणम् ॥४६॥

हिन्दी—बीज तथा शाखा से लगने वाले लता वृक्ष आदि (यथा–आम, अमरूद, गुलाब आदि) स्थावर जीव 'उद्भिज' हैं। फल के पकने पर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं; वे (यथा–लौकी, सेम, काशीफल, धान, चना आदि) जीव 'ओषधि' कहलाते हैं ॥४६॥

वनस्पति तथा वृक्ष के स्वरूप—

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥

भाष्य—विना पुष्पेण फलं जायते येषां ते वनस्पतयः कथ्यन्ते, न वृक्षाः। पुष्पिणः फलिनश्च वृक्षा उभयोगात्। क्वचिद्वनस्पतयो वृक्षा अपि उच्यन्ते, वृक्षाश्च वनस्पतयोऽपि। तत्र विशेषहेतुं दर्शयिष्यामः।

वयं तु ब्रूमः। नायं शब्दार्थसम्बन्धविधिर्व्याकरणस्मृतिवत्। तेन नायमर्थो य एवं स्वभावास्ते वनस्पत्यादिशब्दवाच्याः, किं तर्हि पुष्पफलानां जन्मोच्यते। तस्य वक्तव्यतया प्रकृतत्वात् 'क्रमयोगं तु जन्मनीति'। द्विधा फलानामुत्पत्तिः। अन्तरेण पुष्पाणि जायन्ते पुष्पेभ्यश्च। एवं पुष्पाणि वृक्षेभ्यश्च। तेन यद्यप्येवमभिधानं 'ये फलिनस्ते वनस्पतयो ज्ञेयास्तथापि प्रकरणसामर्थ्याद्यत्तदोर्व्यत्ययः कर्तव्यः। 'ये वनस्पतय इति एवं प्रतिद्धास्तेऽपुष्पाः' फलवन्त'स्तेभ्यः पुष्पमन्तरेण फलानि जायन्ते इति।' सामर्थ्याच्चायं क्रमोऽवतिष्ठते। यथा 'वाससा स्तम्भं परिवेष्टयेति' वाससि-परिधातव्येऽयमर्थोऽस्य भवति—'स्तम्भे निधाय वासः परिधापयेति।'

प्रसिद्धमप्येतदनूद्यते 'तमसा बहुरूपेणेत्ये' तत्प्रतिपादयितुम् ॥४७॥

हिन्दी—बिना फूल लगे फलने वाले (यथा–बड़, गूलर, पाकर, पीपल आदि) को 'वनस्पति' और फूल लगने के बाद फलने वाले (यथा–आम, जामुन, अमरूद, आमड़ा आदि। को वृक्ष कहते हैं ॥४७॥

विमर्श—अप्राकृत होने से यह श्लोक नामकोष के समान संज्ञा-संज्ञिबोधक नहीं है; किन्तु पूर्व कथन ('..... क्रमयोगं च जन्मनि' श्लोक० ४२) के लिए है, इस प्रकार 'वृक्ष' के दो रूप हैं।

गुच्छ, गुल्म, तृण, प्रतान तथा वल्ली का स्वरूप—

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥४८॥

भाष्य—याः संहता भूमेर्बद्धाः एकमूला अनेकमूलाश्च लता उत्तिष्ठन्ति न च वृद्धिं महती प्राप्नुवन्ति तासां सङ्घातो '**गुच्छगुल्म**'शब्दवाच्यः तृणमूलकादिः। तयोस्तु भेदः पुष्पवदपुष्पकृतो वा। अन्या वा 'तृणजातयः' कुशशाद्वलशङ्खपुष्पीप्रभृतयः। **प्रताना** दीर्घा भूमिगतास्तृणप्ररोहाः। '**वल्ल्यो**' व्रतत्यःभूमेरुत्पत्य वृक्षमन्यं वा कञ्चित्-परिवेष्ट्योर्ध्वमारुहन्ति। सर्वमेतत् वृक्षवत् बीजकाण्डरुहम् ॥४८॥

हिन्दी—'गुच्छ' (जड़ से लता समूह वाले, यथा–मल्लिका आदि), 'गुल्म' (एक जड़ से अनेक होने वाले, यथा–ईख, सरपत्ता, कास आदि), 'तृण' (घास, यथा–उलप आदि), 'प्रतान' (सूत के समान रेशे वाले, यथा–करेला, कद्दू, काशीफल आदि) और 'वल्ली' (भूमि से वृक्षादि के सहारे चढ़ने वाले, यथा–गुडूची आदि); ये सब बीज तथा शाखा (डाल) से लगते हैं ॥४८॥

वृक्षादि में अन्तश्चेतना तथा सुखादि का होना—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता ॥४९॥

भाष्य—'**कर्म**' अधर्माख्यं हेतुर्यस्य तमसस्तेन **वेष्टिता**व्याप्ताः। **बहुरूपेण** विचित्रदुःखानुभव निमित्तेन। यद्यपि सर्वं त्रिगुणं तथाऽप्येषां उद्रिक्तम् अपचिते सत्व-रजसी। अतस्तमोबाहुल्यान्नित्यं निर्वेददुःखादियुक्ता अधर्मफलमनुभवन्तः सुचिरमासते।

सत्त्वस्यापि तत्र भावात् कस्याञ्चिदवस्थायां सुखलेशमपि भुञ्जते। तदाह—**सुखदुःख समन्विता इति**।

अन्तःसंज्ञेति। 'संज्ञा' बुद्धिस्तल्लिङ्गस्य बहिर्विहारव्याहारादेः कार्यस्य चेष्टा-रूपस्याभावादन्तःसंज्ञा उच्यन्ते। अन्यथाऽन्तरेव सर्वः पुरुषश्चेतयते। अथवा यथा मनुष्याः कण्टकादितोदं चेतयन्ते नैवं स्थावराः। ते हि महान्तं प्रतोदं परशुविदारणादि दुःखसंज्ञायामपेक्षन्ते। यथा स्वापमदमूर्च्छावस्थागताः प्राणिनः ॥४९॥

हिन्दी—पूर्व जन्म के कर्मों के कारण अत्यधिक तमोगुण से युक्त ये 'वृक्ष' आदि अन्तश्चेतना वाले (भीतर में चेतना युक्त होने पर भी उसे बाहर किसी से प्रकट करने में असमर्थ) तथा सुख-दुःख से युक्त हैं ॥४९॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥५०॥

भाष्य—एषोऽन्तोऽवसानं वल्लीगतिर्यासां गतीनां ता **एतदन्ताः**। कृतकर्मफलो-पभोगार्थमात्मनस्तत्तच्छरीरसम्बन्धो **गतिरुच्यते**। अस्याः स्थावरात्मिकाया गतेरन्या निकृष्टा दुःख बहुला गतिर्नास्ति। ब्रह्मगतेश्चान्याऽऽद्योत्तमा गतिरानन्दरूपा नास्ति।

एता गतयः शुभाशुभैः कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः प्राप्यन्ते । परब्रह्मावाप्तिस्तु मोक्षलक्षणा केवलानन्दरूपा ज्ञानात् ज्ञानकर्मसमुच्चयाद्वेति वक्ष्यामः ।

भूतसंसारे 'भूतानां' क्षेत्रज्ञानां 'संसारे जन्ममरणप्रबन्धे जात्यन्तरागमने । **घोरे** प्रमादालस्यवतां भीषणे, इष्टवियोगानिष्टयोगोत्पत्या । सततं सर्वकालं गमनशीले विनाशिन्यसारेऽपि **नित्यं** घोरे च कदाचिदघोरे । देवादिगतिष्वपि सुचिरं स्थित्वा मर्तव्यमिति नित्यं घोरः । तदनेन धर्माधर्मनिमित्तत्वसम्वर्णनेन संसारस्य शास्त्रस्य महाप्रयोजनता प्रतिपदिता भवति । शास्त्राद्धि धर्माधर्मयोर्विवेकज्ञानमित्यध्येतव्यम् ॥५०॥

हिन्दी—(मनु भगवान् महर्षियों से कहते हैं—) जन्म-मरणादि से भयङ्कर तथा सर्वदा विनाशील इस संसार (प्राणियों के जगत्) में ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक की गतियों को मैंने कहा ॥५०॥

ब्रह्मा का अन्तर्धान होना—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ।।५१।।

भाष्य—**एवं** किञ्चित्साक्षात्किञ्चित्प्रजापतिनियोगेन स भगवान् **सर्व**मिदं जगत्**सृष्ट्वो**त्पाद्य **मां** च जगत्स्थितौ नियोज्य । अचिन्त्य आश्चर्यरूपो महान् प्रभावः पराक्रमः सर्वविषया शक्तिर्यस्य स स्रष्टा**ऽन्तर्दधे**ऽन्तर्धानं कृतवानिच्छागृहीतं शरीरं योगशक्त्योज्झित्वा पुनरप्रकाशः सम्वृत्तः । **आत्मनीति** । यथाऽन्ये भावाः प्रकृतावन्तर्धीयन्त एवं सोऽन्यत्रेत्येवं न, किं तर्ह्यात्मन्येव प्रलीनः । न हि तस्यान्या प्रकृतिरस्ति यत्रान्तर्धीयेत, सर्वभूतानां तत्प्रकृतित्वात् । जगत्सर्वव्यापारान्निवृत्तिर्वा**ऽन्तर्धानम्** । **भूयःकालं कालेन पीडयन्** । सृष्ट्वेत्येतत्क्रियापेक्षः शता द्रष्टव्यः । प्रलयकाल सर्गस्थितिकालेन विनाशयन् । **भूयः** पुनः पुनरित्यर्थः । वक्ष्यति 'अनन्ताः सर्वसंहारा' इति ॥५१॥

हिन्दी—अचिन्त्य सामर्थ्य वाले ब्रह्मा इस प्रकार (श्लो० ५-४७) मेरी (मनु की) तथा समस्त स्थावर एवं जङ्गम जीवों की सृष्टि कर प्रलयकाल से सृष्टिकाल को नष्ट करते हुऐ अपने में अन्तर्धान हो गये ॥५१॥

यदा स देवो जागर्ति तदेवं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ।।५२।।

भाष्य—स देवो यदा जागर्ति यदैतदिच्छतीदं जगदुत्पद्यतामेतां स्थितिं च कालमियन्तं लभतामिति तदा चेष्टते । मानसवाचिकभौतिकैर्व्यापारैरान्तरैर्बाह्यैश्च श्वासप्रश्वासाहारविहारकृषियागादिभिर्युक्तं भवति । **यदा स्वपिति** यदा निवृत्तेच्छो भवति जगत्सर्गस्थितिभ्यां, तदा सर्वं निमीलति प्रलयं प्राप्नोति । जागर्या स्वापश्च प्रजापते-

रिच्छाप्रवृत्तिनिवृत्ती उच्येते। **शान्तात्म**त्वं भेदावस्थोपसंहार: ।।५२।।

हिन्दी—जब वे ब्रह्मा जागते (संसार की सृष्टि-स्थिति की इच्छा रखते) हैं, तब यह संसार (श्वास-प्रश्वास तथा भोजनादि के द्वारा) चेष्टा करता है; और जब वे (ब्रह्मा) सोते (संसार की सृष्टि तथा स्थिति की निवृत्ति अर्थात् नाश की इच्छा करते) हैं, तब यह संसार नष्ट हो जाता है। इसी को क्रमश: सर्ग तथा प्रलय कहते हैं ।।५२।।

प्रलयकाल में जीवों की अनुत्पत्ति तथा चेष्टाशून्यता—

तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे कर्मात्मान: शरीरिण: ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ।।५३।।

भाष्य—पूर्वव्याख्यानश्लोकोऽयं विस्पष्टार्थ: । **स्वस्थे** सुस्थिरे । शान्तात्मवच्छुद्धरूपे । स्वात्मन्यवस्थानमौपाधिकभेदनिवृत्ति: । **कर्मात्मान:** कर्मप्रधाना: संसारिण: क्षेत्रज्ञा: । **शरीरिण:** । कर्मसम्बन्धेन शरीरसम्बन्धानुभवादेवमुच्यन्ते । **तस्मिन्-स्वपति** शयाने **स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते** । शरीरचेष्टानिवृत्तिरेतेनोच्यते । **मनश्च ग्लानि-मृच्छति** । एतेनान्तरव्यापारनिवृत्ति: । अतो बाह्यान्तरव्यापारनिवृत्त्या प्रलय: प्रतिपादितो भवति । **ग्लानि**र्निरुत्साह: स्वव्यापारेऽशक्ततामृच्छति प्राप्नोति ।।५३।।

हिन्दी—स्वस्थ (सर्वकर्म-रहित) होकर उस ब्रह्मा के सोने पर अपने-अपने कर्मों के द्वारा शरीर को प्राप्त करने वाले देहधारी उन (अपने-अपने कर्मों) से निवृत्त हो जाते (देह को धारण नहीं करते) हैं और उनका मन भी ग्लानि को प्राप्त करता हुआ सब इन्द्रियों के साथ चेष्टाशून्य हो जाता है ।।५३।।

महाप्रलय का स्वरूप—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृत: ।।५४।।

भाष्य—यत्तदोर्व्यत्ययेनायं श्लोको व्याख्यातव्य: । अन्यथा पूर्वश्लोकापेक्षयेतरेतराश्रय: प्रसज्येत । एतदुक्तम्, यदा स्वपिति तदा निमीलति सर्वम् ।

सुखं स्वपिति निर्वृत: । सुखस्वरूपमेव परं ब्रह्म, न तस्य स्वापावस्थायां सुखमन्यदा दु:खम् । स्वापश्च तस्य यादृश: । स प्रागुक्त एव । निर्वृतिश्च तस्य सर्वकालम् । न ह्यसौ परमात्माऽविद्योपप्लवतरङ्गैरामृश्यते, केवलसुखमय: । तस्य सर्वस्य कर्तृत्वं उपपद्यते । यथाऽयं पुरुष उपरतो गृहकृत्येभ्य: कृतकृत्यतयाऽर्जितं मया धनं गृहोपयोगि निरुपद्रवश्चास्मि संवृत्त इत्येवं सुखं स्वपिति निर्वृतो निराशङ्कात्मबाध एवमुपमीयतेऽसावपि । तस्यापीदं जगत् कुटुम्बभूतमिति प्रशंसा ।

प्रधानविषयो वाऽयं श्लोको वर्णनीय: । तदा प्रधानं स्वपिति यदा युगपत्-

सर्वाणि भूतानि तत्र प्रलीयन्ते तदात्मतां कारणरूपतामापद्यन्ते विकारावस्थामुज्झन्ति युगपद्यावन्ति त्रैलोक्योदरवर्तीनि । स्वापश्च परिणामनिवृत्तिर्न पुनर्ज्ञानोपसंहृतिः अचेतनस्य प्रधानस्य। सुखं चोपचारतोऽचेतनत्वादेव ॥५४॥

हिन्दी—जब एक ही समय में सब प्राणी उस परमात्मा में लीन हो जाते हैं, जब ये सम्पूर्ण जीव निवृत्त (सर्वव्यापार शून्य) होकर (मानो) सुख से सोते हैं ॥५४॥

जीव का निर्गमन—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ।।५५।।

भाष्य—इदानीं संसारिणः पुरुषस्य मरणं देहान्तरप्राप्तिश्चाभ्यां श्लोकाभ्यां कथ्यते। **तमो** ज्ञाननिवृत्तिस्तां **समाश्रित्य चिरं तिष्ठत्यास्ते सेन्द्रियः** । **न च स्वं कुरुते कर्म** श्वासप्रश्वासादिकम्। **तदा मूर्तितः शरीरादुत्क्रामति** गच्छति।

ननु च सर्वगत आत्माऽऽकाशवद्विभुस्तस्य कीदृश्युत्क्रान्तिः?

कर्मोपार्जितशरीरत्याग एवोत्क्रान्तिः, न पुनर्मूर्तस्येवार्थस्य देशाद्देशान्तरगमनम्। अथवा कैश्चिदिष्यते-अस्त्यन्यदन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः। अन्यैस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते । यथाह भगवान्**व्यासः** । "अस्मिन्देहे व्यतीते तु देहमन्यन्नराधिप । इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः ।" **साङ्ख्या** अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः ।

"कोऽयमन्तराभवो नाम"

अस्मिञ्छरीरे नष्टे मातृकुक्ष्यादिस्थानं द्वितीयशरीरग्रहणार्थं यावन्न प्राप्तं, तावदन्तरा **निरुपभोगं** शरीरमुपजायते सूक्ष्मं, यस्य न कचित्संयोगो नाग्न्यादिदाहो न महाभूतैः प्रतिबन्धः।

अन्ये तु मूर्तिं परमात्मानमाहुः । सर्वात्मरूपः परमात्मा समुद्रस्थानीयस्ततः प्रादुर्भवन्ति जीवा अविद्यावशाद्भेदमुपयन्ति, महोदधेरिवोर्मयः । तस्य च ततो निष्क्रामतः पुर्यष्टाकाख्यं लिङ्गमभ्युपगम्यते, पूर्वकृतधर्माधर्मवशात्प्रत्येकस्य जीवस्य वासःस्थानीयं सूक्ष्मं शरीरम् । यथा **पुराणो**क्तम्—

पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणख्येन स युज्यते ।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु ॥

ते च प्राणापानव्यानोदानसमानाः पञ्च बुद्धीन्द्रियवर्ग एवं कर्मेन्द्रियवर्गोऽष्टमं मन इत्येतत्पुर्यष्टकम् । तच्छरीरं न नश्यति आमोक्षावस्थायाः । तदुक्तं "संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्" ॥५५॥

हिन्दी—जब यह जीव तम (अज्ञान) का आश्रय कर इन्द्रियों के साथ बहुत समय तक रहता है और अपना कर्म (श्वास-उच्छ्वास आदि) नहीं करता है, तब वह अपने शरीर से (बाहर) निकल जाता है ॥५५॥

जीव का देहान्तर धारण करना—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ।।५६।।

भाष्य—अण्व्यः सूक्ष्मा मात्रा अवयवा यस्य सोऽ**णुमात्रिकः**। पुर्यष्टकमन्तराभवदेहो वा, स्वभावत एव वाऽऽत्मानः सूक्ष्माः यथोक्तम्। "स एष आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयानित्यादि।" **बीजं** शरीरोत्पत्तिकारणम्। **स्थास्नु** वृत्तादिजन्महेतुभूतम्। **चरिष्णु** जङ्गमम्। **समाविशत्य**धितिष्ठति प्रतिनिबध्यते। यदा तेन **संसृष्टः** प्राणादिभिस्तदा मूर्तिं **विमुञ्चत्या**बध्नाति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥५६॥

हिन्दी—जब यह जीव अणुमात्रक ('पुर्यष्टक' से युक्त) होकर स्थिरताशील (वृक्ष आदि) तथा गमनशील (मनुष्य आदि) के बीच में प्रवेश करता है, तब ('पुर्यष्टक' से युक्त होकर कर्म के अनुसार) स्थूल देह को धारण करता है ॥५६॥

विमर्श—भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु तथा अविद्या— ये 'पुर्यष्टक'[१] हैं।

जाग्रत तथा स्वप्नावस्था से संसार को जिलाना व नष्ट करना—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ।।५७।।

भाष्य—उपसंहारः पूर्वोक्तस्य। आत्मसम्बन्धिभ्यां **जाग्रत्स्वप्नाभ्यां चराचरम्** स्थावरं जंङ्गमं जीवयति मारयति च जगत्। **अव्ययो**ऽविनाशी ॥५७॥

हिन्दी—विनाशरहित वह ब्रह्मा अपनी जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाओं से संसार को जिलाता (सृष्टि करता) और नष्ट करता है ॥५७॥

इस शास्त्र का प्रचार क्रम—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।५८।।

---

१. तदुक्तं सनन्दनेन—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः ।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं 'पुर्यष्ट'मृषिसत्तमैः ॥ इति (म०मु०)।

भाष्य—इह शास्त्रशब्देन स्मार्तो विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते, न तु ग्रन्थस्तस्य **मनुना** कृतत्वात्। तथा हि मानव इति व्यपदेशोऽस्य। इतरथा हि हैरण्यगर्भ इति व्यपदिश्येत। केचित्तु हिरण्यगर्भेनापि कृते ग्रन्थे मनुना बहूनां प्रकाशितत्वात्तेन व्यपदेशो युज्यत एव। यथा हिमवति प्रथममुपलभ्यमाना गङ्गाऽन्यतोऽप्युत्पन्ना हैमवतीति व्यपदिश्यते, यथा च नित्यं दर्शनात्काठकं प्रवचनं कठेन व्यपदिश्यते। सत्स्वप्यन्येष्वध्येतृष्वध्यापयितृषु च प्रवचनप्रकर्षात्कठेन व्यपदेश:। नारदश्च स्मरति—'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थ: प्रजापतिना कृतस्तत: स मन्वादिभि: क्रमेण सङ्क्षिप्त'इति। अतोऽन्यकृतत्वेऽपि मानवव्यपदेशो न विरुद्ध:। शास्त्रशब्देन ग्रन्थाभिधानमपि शासन-रूपार्थप्रतिपादकत्वाद्दृष्टमेव।

मामेव ग्राहयामासाहं तेनाध्यापित इत्यर्थ:। '**स्वयमादितो**' '**विधिव**'दित्येभि: पदैरागमस्याविभ्रंश उच्यते। ग्रन्थकारेण हि स्वकृतो ग्रन्थो य: स्वयमध्याप्यते प्रथमं तत्र मात्राऽपि न परिहीयते। अन्यस्य हि तस्मादधिगतवतोऽन्यमध्यापयतो न तद्-ग्रन्थाविनाशे यत्नो भवति। कर्तुरप्यध्यापितपूर्वस्य प्रतिष्ठापितो मया पूर्वमयं ग्रन्थ इति द्वितीयवारं प्रमादालस्यादिना भ्रंश:• सभाव्यत अत **आदित** इत्युक्तम्। **विधि-वच्छि**ष्योपाध्याययोरनन्यमनस्कतादिगुणोऽवहितचित्तता 'विधि:'। अर्हे वति:।

मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्। मरीच्यादय: प्रसिद्धप्रभावास्तैरप्येतन्मत्सकाशादधी-तमित्यात्मनो विशिष्टशिष्यसम्बन्धेन सिद्धमौपाध्यायिकं दर्शयन्महर्षीणां शास्त्रमाहा-त्म्येन च श्रद्धातिशयं जनयत्यध्ययनाविरामाय। एवंविधमेतन्महच्छास्त्रं यन्मरीच्यादि-भिरप्यधीतम्। एष चेदृशो महात्मा मनुस्तेषामुपाध्याय इति युक्तमेतस्य सकाशादेतद्-ग्रन्थाध्ययनमित्याशास्त्रपरिसमाप्तेर्नोपरमन्ते श्रोतार इत्युभयथाऽपि शास्त्रप्रशंसा॥५८॥

हिन्दी—(मनु भगवान् महर्षियों से कहते हैं—) उस ब्रह्मा ने इस शास्त्र को बनाकर पहले मुझे (मनु को) पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि महर्षियों को पढ़ाया॥५८॥

विमर्श—यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब इस शास्त्र को ब्रह्मा ने मनु को पढ़ाया, तब यह मानवशास्त्र कैसे कहलाया? इस विषय में यह उत्तर दिया जाता है कि— मनु को ब्रह्मा ने विधि-निषेधरूप शास्त्राशय का अध्ययन कराया और मनु ने उसका प्रतिपादन करनेवाला यह ग्रन्थ इस रूप में बनाया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि यद्यपि इस ग्रन्थ के कर्ता ब्रह्मा हैं, तथापि उनसे मनु ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थ के साथ मरीचि आदि के लिए प्रकाशित किया, अत एव यह यह मानव (मनुरचित) शास्त्र कहलाया, जैसे वेद के अपौरुषेय होने पर भी 'कठ-शाखा' आदि का व्यवहार होता है। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मा ने एक

लक्ष्य[१] पद्यों में इस शास्त्र की रचनाकर मनु को पढ़ाया था, उसे मनु ने संक्षिप्त कर मरीचि आदि शिष्यों को पढ़ाया। अतः इस शास्त्र को मनुरचित कहना असंगत नहीं है।

भृगु से इस शास्त्र को सुनने का कथन—

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।।५९।।

भाष्य—एतच्छास्त्रं **वो** युष्माकमयं **भृगुरशेषतः** सर्वं **श्रावयिष्यति** कर्णपथं नेष्यत्यध्यापयिष्यति व्याख्यास्यति च। एतच्छास्त्रस्यैतदा प्रत्यवमर्शः। **एत**च्छास्त्र-**मेव मुनिरखिलम्** अशेषं **मत्तो** मत्सकाशा**दधिजगे**ऽधिगतवान् ज्ञातवान् गुरुमुखा-द्विद्या निष्क्रामतीव शिष्यः प्रतिगृह्णातीवेत्यतः अपादाने तसिर्मत्त इति युक्तः। भृगुस्तु महर्षीणां प्रख्याततरप्रभावः। तस्य प्रवक्तृत्वनियोगेनानेकाशेषनिरतिशयविद्याविदामागम-परम्परयागतमेतच्छास्त्रमिति प्रदर्श्यते। अतश्च केषाञ्चिदयमपि प्रवृत्तिप्रकारो दृश्यते, बहुभ्यो महात्मभ्यः शास्त्रमिदमवतीर्णमिति किमिति नाधीमह इत्यध्ययनादिप्रवृत्त्याभि-मुख्यं शास्त्रे जन्यते ।।५९।।

हिन्दी—ये भृगु मुनि यह सम्पूर्ण शास्त्र आप लागों (महर्षियों) को सुनावेंगे; (क्योंकि) इस मुनि (भृगु) ने इस सम्पूर्ण शास्त्र को मुझसे प्राप्त किया (पढ़ा) है ।।५९।।

भृगु के द्वारा इस शास्त्र का कथन—

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।।६०।।

भाष्य—स महर्षि**र्भृगु**स्तेन **मनुना** तथोक्त एष वः श्रावयिष्यतीति नियुक्तस्ततो-ऽनन्तरं तानृषीनब्रवीच्छ्रू**यतामिति**। **प्रीतात्मा**ऽनेकशिष्यसन्निधावहमत्र नियुक्त इति बहुमानेन प्रीतात्मत्वं प्रवक्तृत्वयोग्यतयाज्ञाकरोऽहमनेन सम्भावित इत्यात्मनि भृगो-र्बहुमानः ।।६०।।

हिन्दी—इस प्रकार मनु से आदेश प्राप्त किये हुए भृगु मुनि ने प्रसन्नचित्त होकर उन महर्षियों से कहा—"सुनिए" ।।६०।।

मन्वन्तर का वर्णन—

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ।।६१।।

---

१. "तथा च नारदः— 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' इति स्मरति स्म" इति। (म०मु)

भाष्य—उपाध्यायो धर्मान्पृष्टो जगदुत्पत्त्यादि वर्णितवान्। तथैव शिष्योऽपि तन्नियुक्तस्तच्छेषमेव वर्णयितुमारब्धः। **अस्येति** साक्षात्कारेण मनुं प्रत्यवमृशति। अस्मदुपाध्यायस्य स्वायम्भुव इति ख्यातस्य षडन्येऽपरे मनवो वंश्या एकस्मिन्वंशे कुले जाताः सर्वे वंश्याः। सर्वे हि साक्षाद्ब्रह्मणा सृष्टा इत्येककुलसम्भवाद्**वंश्या** उच्यन्ते। अथवा एकस्मिन्कार्येऽधिकृता वंश्या एककर्मान्वयेन प्राणिनां वंशव्यवहारो भवति। 'द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ'। तेषां चैकं धर्मं दर्शयति **सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः** इति। मन्वन्तरे मन्वन्तरे यस्य मनोरधिकारः स एव प्रजानां पूर्वमन्वन्तरविनष्टानां स्रष्टा पालयिता च। अतो येन याः प्रजाः सृज्यन्ते तास्तस्य **स्वा** भवन्ति ॥६१॥

हिन्दी—इस स्वायम्भुव (ब्रह्मा के पुत्र) मनु के वंश में उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी अन्यान्य ६ मनुओं ने अपनी-अपनी प्रजाओं की सृष्टि की ॥६१॥

उन छः मनुओं के नाम—

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥६२॥

भाष्य—तान्मनून्नामतो निर्दिशति। **महातेजा** इति विशेषणम्। अन्यानि नामानि रूढ्या सम्बन्धेन वा। **विवस्वत्सुत** इति समासपदरूपं शब्दान्तरं कृष्णसर्पनरसिंहादिशब्दवत् ॥६२॥

हिन्दी—(उन छः मनुओं के नाम ये हैं—) स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी वैवस्वत (सूर्यपुत्र) ॥६२॥

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥६३॥

भाष्य—अत्र **सप्त मनवो** मया प्रोक्ताः। अन्यत्र चतुर्दश पठ्यन्ते। **स्वे स्वेऽन्तरे**ऽवसरे प्राप्तेऽधिकारकाले इति यावत्। **उत्पाद्य प्रजा आपुः** पालितवन्तः। **स्वेस्वेऽन्तरे**ऽधिकारावसरे, यस्य मनोर्यस्मिन्काले प्राप्तः सर्गस्थितिपालनाधिकारः।

अन्ये त्वन्तरशब्दं मासादिशब्दवत्कालविशेषवाचिनं मन्यन्ते। तदयुक्तम्। मनुशब्दोपसंहितः कालविशेषविषयो 'मन्वन्तरो' नाम कालो, न तु केवल इति ॥६३॥

हिन्दी—महातेजस्वी स्वायम्भुव आदि इन सात मनुओं ने अपने-अपने अधिकार काल में इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को उत्पन्नकर इसका पालन किया ॥६३॥

[कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत।]

[**हिन्दी**—समय के परिमाण को कहूँगा, उसे आपलोग यथाविधि मालूम करें॥८॥]

दिन-रात का परिणाम—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा, त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ।।६४।।

भाष्य—स्थितिप्रलयकालपरिमाणनिरूपणार्थं ज्योतिःशास्त्रगोचरं कालविभागं वक्तुमुपक्रमते। अष्टादश निमेषाः **काष्ठा** नाम कालो भवति। त्रिंशत्काष्ठाः **कला**। त्रिंशत्कला एको **मूहूर्तः** स्यात्। **तावतः** त्रिंशदित्यर्थः। त्रिंशन्मुहूर्तः **अहोरात्रम्**। विद्यादिति क्रियापदमाहृत्य तावतइति द्वितीयाबहुवचनम्। अथ कोऽयं निमेषो नाम। अक्षिपत्यक्ष्मणोर्नैसर्गिककम्प उन्मेषसहचारी। अन्यैस्तु पठितं यावता कालेन व्यक्तमक्षरमुच्चार्यते स निमेषः ॥६४॥

हिन्दी—१८ निमेष (पलक गिरने का समय-विशेष) की १ काष्ठा, ३० काष्ठा की १ कला, ३० कला का १ मुहूर्त (२ घटी = ४८ मिनट) और ३० मुहूर्त का १ दिन-रात (६० घटी = २४ घण्टे) होती है ॥६४॥

विमर्श—'नामलिङ्गानुशासन' (अमरकोष) के रचयिता 'अमरसिंह' ने '३० कला = १ काष्ठा, ३० काष्ठा = १ क्षण, १२ क्षण = १ मुहूर्त होता है'[१] ऐसा कहा है।

सूर्य द्वारा दैव-मानुष दिन-रात का विभाजन—

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ।।६५।।

भाष्य—अहश्च रात्रिश्च ते **अहोरात्रे**। तयोर्विभागं करोति आदित्यः। उदित आदित्ये यावत्तदीया रश्मयो दृश्यन्ते तावदहर्व्यवहारः। अस्तमिते तु प्रागुदयाद्रात्रिव्यवहारः। मनुष्यलोके देवलोके वा।

यत्र तर्ह्यादित्यो न व्याप्नोति रश्मिभिस्तत्र कथमयमहोरात्रविभागो विज्ञेयोऽत स्त्वाह। **रात्रिः स्वप्नायेति**। स्वयं प्रभेषु भूतेषु नित्यप्रकाशित्वा**त्कर्म**चेष्टाकार्यारम्भेण स्वापेन च विभागः। यथैवोषधीनां नियतः प्रादुर्भावकालः स्वाभाव्यादेवं कर्मचेष्टास्वापावपि कालस्वभावत एव नियतौ ॥६५॥

हिन्दी—सूर्य मानुष (मनुष्यों की) तथा दैव (देवताओं की) दिन-रात का विभाग करता है, उनमें जीवों के सोने के लिए रात तथा कार्य करने के लिए दिन होता है ॥६५॥

१. तद्यथा— अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
तास्तु त्रिंशत्क्षणस्ते तु मुहूर्तो द्वादश स्त्रियाम् ॥ इति।
(अ०को० १।४।११)

पितरों की दिन-रात का परिमाण—

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः, प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ।।६६।।

भाष्य—यो मनुष्याणां मासः स पितृणामहर्निशम् । कतरदहः कतमा च रात्रिरिति प्रविभागः । इदमहरियं रात्रिरित्येष विभागः । पक्षयोः पञ्चदशरात्रिसम्मित-योरर्द्धमासाख्ययोर्व्यवस्थितः । पक्षाश्रित इत्यर्थः । एकः पक्षोऽहरपरो रात्रिस्तयोश्च भिन्नस्वभावत्वान्नियतक्रमत्वाच्च विशेषमाह । अहः कृष्णः पक्षः । शुक्लः पक्षः शर्वरी रात्रिः । 'कर्मचेष्टाभ्य' इति युक्तः पाठः । यथा 'स्वप्नायेति' । तादर्थ्यमेव विषयभावेन विवक्षितम् । वृत्तानुरोधादतः सप्तमी ॥६६॥

हिन्दी—(मनुष्यों के) १ मास अर्थात् ३० दिन की पितरों की १ दिन-रात होती है, उनमें दो पक्षों (पखवारों) का विभाग है अर्थात् दो पक्षों का १ मास होता है; उन दोनों (पक्षों) में कृष्ण पक्ष (पितरों के) काम करने (जागने) तथा शुक्ल पक्ष (पितरों के) सोने के लिए है ॥६६॥

विमर्श—कृष्णपक्ष तथा शुक्लपक्ष— इन दोनों पक्षों का मनुष्यों के लिए एक मास होता है और यही पितरों की १ दिन-रात होती है, इनमें कृष्णपक्ष पितरों का दिन तथा शुक्लपक्ष पितरों की रात होती है।

देवों की दिन-रात का परिमाण—

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ।।६७।।

भाष्य—**वर्षं** मनुष्याणां द्वादशमासास्तदेकमहोरात्रं देवानाम् **तयोश्च विभाग**-उदगयनदक्षिणायनाभ्याम् । तत्रोदीचीं दिशमभिप्रतिष्ठमानस्यादित्यस्य षण्मासा **उदगयनं** भवति । 'अयनं' गमनमधिष्ठानं वा । तस्यां दिशि षण्मासानादित्य उदेति । ततः परावृत्त-स्य **दक्षिणायनम्** । तथा हि दक्षिणां दिशमाक्रम्योदीचीं हित्वा ह्युदयं करोति ॥६७॥

हिन्दी—१ वर्ष (मनुष्यों के १२ मास) देवों की १ दिन-रात होती है, उनमें उत्तरायण (मकर से मिथुन तक सूर्य का सङ्क्रमण काल) देवों का दिन और दक्षिणायन (कर्क से धनु तक सूर्य का सङ्क्रमण काल) देवों की रात होती है ॥६७॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ।।६८।।

भाष्य—ब्रह्मा प्रजानां स्त्रष्टा तस्या यो लोकस्तत्र **क्षपाहस्या**होरात्रस्य **यत्प्रमाणं** युगानां **चैतत्समासतः** सङ्क्षेपेण **निबोधत** मत्सकाशाच्छ्रुणुत । **एकैकशः** एकैकस्यं युगस्य ।

वक्ष्यमाणस्य प्रकरणस्य पिण्डार्थकथनार्थोऽयं श्लोकः श्रोतॄणामवधानार्थः। तथा च सम्बुध्यन्ते **निबोधतेति**। प्रकृते कालविभागे पुनः प्रतिज्ञानं प्रकरणान्तरत्वज्ञापनार्थम्। तेन वक्ष्यमाणोऽर्थो न शास्त्रारम्भशेष एव, अपि तु धर्मायापि। तथा च वक्ष्यति 'ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुरिति' तद्विज्ञानाच्च पुण्यं भवतीत्यर्थः ॥६८॥

हिन्दी—(भृगु महर्षियों से कहते हैं कि)—ब्रह्मा के दिन-रात का और चारों (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) युगों का जो परिमाण है, उसे आप लोग सङ्क्षेप से सुनें–॥६८॥

सत्ययुग का परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥

भाष्य—प्रकृतत्वाद्दैविकानि वर्षाणि परिगृह्यन्ते। तथा च पुराणकारः "इत्येतदृषिभिर्गीतं दिव्यया सङ्ख्यया द्विजाः॥ दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकीर्तिता"। तानि **चत्वारि सहस्राणि कृतयुगं** नाम कालः। तस्य कृतयुगस्य तावन्त्येव शतानि, चत्वारि, सन्ध्या। सन्ध्यांशस्तस्य **तथाविधः** तत्परिमाणश्चत्वारिवर्षशतानीत्यर्थः। यत्रातीतस्य कालस्यागामिनश्च स्वभावानुवृत्तिः सा सन्ध्या। उभयकालधर्मानुविधानं सन्ध्यांशः, यत्रेषत्पूर्वधर्मानुवृत्तिर्भूयसी भाविनो युगस्य ॥६९॥

हिन्दी—४००० दिव्य (देवों के) वर्ष 'सत्ययुग' का काल-परिमाण है और ४००-४०० दिव्य वर्ष उस सत्ययुग के सन्ध्या तथा सन्ध्यांश का परिमाण है ॥६९॥

विमर्श—यहाँ 'सन्ध्या' शब्द का युग का 'पूर्वसन्धिकाल' तथा 'सन्ध्यांश' शब्द का युग का अन्तिम 'सन्धि-काल' अर्थ है। उसका मध्यवर्तीकाल युग का काल होता है। यहाँ पर 'वर्ष' शब्द क्रमप्राप्त दिव्यवर्ष का वाचक है[1]। इस

---

१. युगस्य पूर्वा सन्ध्या, उत्तरश्च सन्ध्यांशः।
तदुक्तं विष्णुपुराणे—
तत्प्रमाणैः शतैः 'सन्ध्या' पूर्वा तत्राभिधीयते।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तमः।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः॥
वर्षसङ्ख्या चेयं दिव्यमानेन, तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात्।
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे।
इति विष्णुपुराणवचनाच्च" इति (म०मु०)

प्रकार ४००० + ४०० + ४०० = ४८०० दिव्यवर्ष × ३६० = १७२८०० मानुष वर्ष 'सत्ययुग' का परिमाण होता है।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषुः ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ।।७०।।

भाष्य—कृतयुगादन्येषु त्रेतादिषु त्रिषु युगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु सहस्राण्येकापायेन वर्तन्ते हानिरपायः । एकं सहस्रं हीनं त्रेतायां कृतयुगात् । एवं त्रेतातो द्वापरस्यद्वापरात्कलेः । एवं च त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेता, द्वे द्वापरः, एकं कलिरिति भवति । शतानि हीयन्ते सन्ध्यातदंशयोः ।

विशिष्टोऽहः सङ्घातो युगाख्यस्तस्य विशेषाः कृतादयः ।

तावच्छतीति ईकारः स्मर्तव्यः । इह स्मृतिः । तावतां शतानां समाहारः तावच्छब्दस्य 'बहुगणवतुडतीति' वत्वन्तत्वात्संख्यासंज्ञायां सत्यां 'संख्यापूर्वो द्विगुरिति' द्विगुरिति द्विगुसंज्ञायां सत्यां'टापोपबादो द्विगो'रिति ङीप् । तत् परिमाणमस्य इति । 'यत्तदेतेभ्य' इति वतुप् । 'आ सर्वनाम्न' इत्याकारः । अन्यथा बहुव्रीहौ तावन्ति शतानि यस्याः, शतशब्दस्याकारान्तत्वात् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापा भवितव्यम् । तस्मिन्कृते 'तावच्छता' इति स्यादित्यभिप्रायः ।।७०।।

हिन्दी—सत्ययुग की सन्धि (पूर्वसन्धिकाल) और सन्ध्यांश (अन्तिम सन्धिकाल) के सहित क्रमशः (सत्ययुग के काल परिमाण में से (१०००-१००० तथा) सत्ययुग के सन्ध्या और सन्ध्यांश में से १००-१०० (युग में १००० + सन्ध्या १०० + सन्ध्यांश १००-१२०० वर्ष प्रत्येक में क्रमशः कम करने से त्रेता, द्वापर और कलि का कालपरिमाण होता है ।।७०।।

विमर्श—सन्ध्या-सन्ध्यांश सहित सत्ययुग-काल-परिमाण ४८०० दिव्यवर्ष–१२०० = ३६०० दिव्यवर्ष (या ३६०० × ३६० = १२९६००० मानुष वर्ष) 'त्रेता युग' का काल-परिमाण है। त्रेता का कालपरिमाण ३६०० दिव्यवर्ष–१२०० = २४०० दिव्यवर्ष (या २४०० × ३६० = ८६४००० मानुष वर्ष) 'द्वापर' युग का काल परिमाण है और द्वापर का कालपरिमाण २४०० दिव्यवर्ष–१२०० = १२०० दिव्यवर्ष (या १२०० × ३६० = ४३२००० मानुष वर्ष) 'कलियुग' का कालपरिमाण है ।

इस प्रकार ४८०० दिव्यवर्ष (१७२८००० मानुष वर्ष) सत्युग, ३६०० दिव्यवर्ष (१२९६००० मानुष वर्ष) त्रेतायुग, २४०० दिव्यवर्ष (८६४००० मानुष वर्ष) द्वापरयुग, और १२०० दिव्यवर्ष (४३२००० मानुष वर्ष) 'कलियुग' का परिमाण होता है ।

देव युग का परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ।।७१।।

भाष्य—यदेतदिति लौकिकी वाचो युक्तिः । समुदायेन प्रकान्तोऽर्थः परामृश्यते । यदेतच्**चतुर्युगं परिसंख्यातं** चत्वारि सहस्राणीत्यादिना निश्चितसंख्या**मादौ** प्रागस्माच्छश्लोकात्—एतस्य चतुर्युगस्य द्वादशभिः सहस्रैर्देवानां युगमुच्यते । द्वादशचतुर्युगसहस्राणि 'देवयुगं' नाम काल इत्यर्थः । सहस्रशब्दात्स्वार्थेऽण् । द्वादश सहस्राणि परिमाणे यस्मिन्निति विग्रहः ॥७१॥

हिन्दी—जो यह (मनुष्यों के) चारों युगों का काल परिमाण बतलाया गया है, वह १२००० दिव्यवर्ष (चारों युगों का मिलित काल) देवों का एक युग होता है ॥७१॥

विमर्श—चतुर्युगमान १२००० दिव्यवर्ष (१२००० + ३६० = ३७,२०००० मानुष वर्ष) देव के १ युग का काल परिमाण है ।

ब्रह्मा के दिन-रात का परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्या ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ।।७२।।

भाष्य—देवयुगसाहस्रं **ब्राह्ममेकमहः** । **तावती** ब्रह्मणे**रात्रि**र्देवयुगसहस्रमेव । **परिसंख्यया** संख्यानेन यत्सहस्रमिति सम्बन्धः । श्लोकपूरणार्थश्चायमनुवादः । न ह्यसंख्यया सहस्रादिव्यवहारः । हेतौ तृतीया ॥७२॥

हिन्दी—देवों के १००० युग ब्रह्मा के दिन का काल परिमाण और उतना ही रात का काल परिमाण जानना चाहिये ॥७२॥

विमर्श—देवों के १००० युग = १२००० दिव्यवर्ष × १००० = १,२०,०००,००० दिव्यवर्ष अथवा १,२०,००,००० दिव्यवर्ष × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष 'ब्रह्मा के दिन' का परिमाण है और इतना ही रात्रि का परिमाण है, इस प्रकार १२००० × २००० = २,४०,००,००० दिव्यवर्ष अथवा २,४०,००,००० दिव्य वर्ष × ३६० = ८,६४,००,००,००० मानुष वर्ष ब्रह्मा के दिन-रात्र (अहोरात्र) का परिमाण है ।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।७३।।

भाष्य—युगसहस्रमन्तो यस्याह्नस्त**द्वैयुगसहस्रान्तम्** । ये मनुष्या एतज्जानते **तेऽहोरात्रविदः**। किं तेषामित्यपेक्षायां पुण्यं भवतीति सम्बन्धः । ब्राह्मस्याह्नः परिमाण-

१ निमेष	पलक गिरने का समय	४/९ विपल या ८/४५ सेकेण्ड
१८ निमेष	१ काष्ठा	८ विपल या २ १/५ सेकेण्ड
३० काष्ठा	१ कला	१ पल या १ मिनट ३६ सेकेण्ड
३० कला	१ मुहूर्त	२ घटि या ४८ मिनट
३० मुहूर्त	१ अहोरात्र	६० घटि या २४ घण्टे
१५ अहोरात्र	१ पक्ष (मानुष)	
२ पक्ष	१ मास (मानुष)	१ अहोरात्र (पित्र्य)
६ मास	१ अयन (मानुष)	१ दिन या रात्रि (दिव्य)
१२ मास	१ वर्ष (मानुष)	१ अहोरात्र
३६० अहोरात्रदिव्य	३६० वर्ष (मानुष)	१ वर्ष (दिव्य)
४००० दिव्यवर्ष	१४४०००० मानव वर्ष	सत्ययुग का मुख्यमान
४०० दिव्यवर्ष	१४४००० मानव वर्ष	सत्ययुग की सन्ध्या का मान
४०० दिव्यवर्ष	१४४००० मानव वर्ष	सत्ययुग के सन्ध्यांश का मान
४८०० दिव्यवर्ष	१७२८०००० मानव वर्ष	सत्ययुग का पूर्ण मान
३००० दिव्यवर्ष	१०८०००० मानव वर्ष	त्रेता का मुख्य मान
३०० दिव्यवर्ष	१०८००० मानव वर्ष	त्रेता की सन्ध्या का मान
३०० दिव्यवर्ष	१०८००० मानव वर्ष	त्रेता के सन्ध्यांश का मान
३६०० दिव्यवर्ष	१७९६००० मानव वर्ष	त्रेता का पूर्ण मान
२००० दिव्यवर्ष	७२०००० मानव वर्ष	द्वापर का मुख्य मान
२०० दिव्यवर्ष	७२००० मानव वर्ष	द्वापर की सन्धि का मान
२०० दिव्यवर्ष	७२००० मानव वर्ष	द्वापर के संध्यांश का मान
२४०० दिव्यवर्ष	८६४००० मानव वर्ष	द्वापर का पूर्ण मान
१००० दिव्यवर्ष	३६०००० मानव वर्ष	कलि का मुख्य मान
१०० दिव्यवर्ष	३६००० मानव वर्ष	कलि का सन्धि का मान
१०० दिव्यवर्ष	३६००० मानव वर्ष	कलि का पूर्ण मान
१२०० दिव्यवर्ष	४३२००० मानव वर्ष	चतुर्युग का मान
१२००० दिव्यवर्ष	४३२०००० मानव वर्ष	मन्वन्तर का मान
१२००००×७१ ,,	३०६७२०००० मानव वर्ष	ब्रह्मा के दिन या रात्रि का
१२०००×१०००= १२००००००	४३२००००००० मानव वर्ष	ब्रह्मा के अहोरात्र का मान
२४००००००दि०	८६४००००००० मानव वर्ष	

वेदनं पुण्यमतस्तद्वेदितव्यमिति स्तुत्या विधिप्रतिपत्तिः ॥७३॥

हिन्दी—देवों के उक्त १००० युग का ब्रह्मा का पुण्य दिन और उतने ही परिमाण की ब्रह्मा की पुण्य रात्रि होती है। (जैसा पूर्व श्लोक में स्पष्ट कर चुके हैं); उसे जो लोग जानते हैं, वे अहोरात्र के ज्ञाता कहे जाते हैं ॥७३॥

ब्रह्मा द्वारा मन को सृष्ट्यर्थ लगाना—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ।।७४।।

भाष्य—स ब्रह्मा तावतीं दीर्घां निशां निद्रां अनुभूय **प्रतिबुध्यते**। ततः पुनर्जगत्सृजति। स्वापो ब्रह्मण उक्तरूपः। न ह्यसौ प्राकृतपुरुषवत्स्वपिति, नित्यं प्रतिबोधात्। तत्र सर्गक्रममाह—**मनः सदसदात्मकमिति**।

ननु चाप एव ससर्जादावित्युक्तम्।

केचिदाहुर्द्विविधः प्रलयः महाप्रलयोऽवान्तरप्रलयश्च। अवान्तरप्रलयेऽयं क्रमः। मनश्चात्र न तत्त्वान्तर्गतं, तस्य पूर्वमुत्पन्नत्वात्, किं तर्हि प्रजापतिः प्रबुद्धः सन् 'मनः' सर्गाय 'सृजति' नियुङ्क्ते इत्यर्थः। द्वितीये तु महाप्रलयपक्षे मनःकारणत्वान्महत्तत्वमेव मनस्ततश्च न प्रागुक्तक्रमहानिः। **पुराणे** हि "मनो महान्मतिर्बुद्धिर्महत्तत्वं च कीर्त्यते। पर्यायवाचकाः शब्दा महतः परिकीर्तिता" इति ॥७४॥

हिन्दी—वे ब्रह्मा अपने अहोरात्र के अन्त में जागते और अपने मन को भूलोक आदि की सृष्टि में लगाते हैं अथवा सत्-असत् रूप मन अर्थात् महत्तत्त्व की सृष्टि करते हैं ॥७४॥

मन से आकाश की सृष्टि—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ।।७५।।

भाष्य—उक्ताऽप्येषा तत्त्वस्य सृष्टिः। यो विशेषो नोक्तस्तत्प्रतिपादनाय पुनरुच्यते। **विकुरुते** विशेषतः करोति ब्रह्मणा **चोद्यमानम्**। तस्माच्चोदितादा**काशं जायते**। तस्याकाशस्य शब्दाख्यो गुणो भवति। गुण आश्रित उच्यते, आकाशं तस्याश्रयः। न ह्याकाशं विना शब्दस्य सम्भवः ॥७५॥

हिन्दी—भू आदि लोकत्रय की सृष्टि करने की इच्छा से प्रेरित मन सृष्टि करता है, उससे आकाश उत्पन्न होता है, उस आकाश का गुण 'शब्द' है, ऐसा महर्षि कहते हैं ॥७५॥

आकाश से वायु की सृष्टि—

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः, स वै स्पर्शगुणो मतः ।।७६।।

भाष्य—भूताद्भू तान्तरस्योत्पत्तिर्नेष्यते । महतः सर्वभूतानामुत्पत्त्यभ्युपगमात् । तेनैवं व्याख्यायते । आकाशादनन्तरं महतो **विकुर्वाणा**त्स्पर्शमात्रभावं गताद्वायुर्जायते । सर्वगन्धान् शुचीनशुचींश्च वहति । अथ च **शुचिः** पवित्रः । **बलवान्** । यावती काचिद्विकृतिश्चेष्टारूपा सा वायुकर्म कम्पाक्षेपोर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनादिलक्षणा । यत्किञ्चिच्चलितं स्पन्दितं तत्सर्वं वाय्वायत्तमित्येतत्प्रदर्शयितुं बलवानित्युक्तम् ।

उत्तरत्रापि याः पञ्चम्यस्ता न जन्यर्थापेक्षाः, किं तर्हि वायोः परतोऽनन्तरमित्येवं योजनीयाः ।।७६।।

हिन्दी—विकारोत्पादक उस आकाश से सर्वविध गन्धों को धारण करने वाली, पवित्र एवं शक्तिशाली वायु उत्पन्न होती है; वह (वायु) 'स्पर्श' गुणवाली मानी गयी है ।।७६।।

वायु से तेज की सृष्टि—

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ।।७७।।

भाष्य—**विरोचिष्णु भास्वदिति** समानार्थेन शब्दद्वयेन स्वपरप्रकाशता प्रतिपाद्यते । स्वयं दीप्तिमत्परं च भासयति ।।७७।।

हिन्दी—विकारोत्पादक वायु से भी देदीप्यमान एवं अन्धकारनाशक ज्योति (तेज = प्रकाश) उत्पन्न होती है, वह 'रूप' गुणवाली कही गयी है ।।७७।।

तेज से जल तथा जल से भूमि की सृष्टि—

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ।।७८।।

भाष्य—रसो मधुरादि सलिलगुणः । गन्धः सुरभिरसुरभिश्च । स भूमेर्गुणः । तथा च वैशेषिकाः 'क्षितावेव गन्ध' इति । एते सांसिद्धिका एकैकस्य गुणाः संसर्गात्तु सङ्कीर्यन्ते । तदुक्तं 'यो यो यावतिथ' इति ।

एतच्च गुणानुकथनमध्यात्मचिन्तायामुपयुज्यते । उक्तं हि पुराणकारेण—

"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिनः" ।।

अहङ्कारचिन्तका: —

"महात्मका: सहस्राणि दश तिष्ठन्ति विज्वरा: ॥
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तका ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य परिसंख्या न विद्यते" ॥७८॥

हिन्दी—विकारजनक ज्योति (तेज) से 'रस' गुण वाला 'जल' उत्पन्न होता है, पुन: जल से 'गन्ध' गुणवाली भूमि उत्पन्न होती है। ये भूत (आकाश-वायु-ज्योति-जल-भूमि) सृष्टि के आदि के हैं ॥७८॥

[परस्परानुप्रवेशाद् धारयन्ति परस्परम् ।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ।।८।।]

[वे परस्पर के अनुप्रवेश के दूसरे से सम्बन्ध होने से पूर्व-पूर्व (आकाश आदि सत्त्वों) के गुणों को आगे-आगे वाले (वायु आदि तत्त्व) धारण करते हैं ॥८॥]

विमर्श—पूर्व-पूर्व के गुणों को आगे-आगे वाले तत्त्वों के द्वारा धारण करने से आकाश का शब्द; वायु के स्पर्श तथा शब्द; ज्योति (तेज) के शब्द, स्पर्श और रूप; जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण होते हैं।

मन्वन्तर का परिमाण—

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।।७९।।

भाष्य—एकसप्ततिर्दैविकानि युगानि मन्वन्तरं नाम काल: ॥७९॥

हिन्दी—जो पहले (श्लो० ७१) १२००० दिव्य वर्ष (मनुष्यों के चारों युगों के परिमाण = ४३,२०,०००० वर्ष) का 'देवों का युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाण का इस शास्त्र में 'मन्वन्तर' कहा गया है ॥७९॥

विमर्श—इस प्रकार १२०० दिव्य वर्ष = १ दैव युग = ४३,२०,००० मानुष वर्ष या मानुष चतुर्युग परिमाण × ७१ = ८,५२,००० दिव्य वर्ष = ७१ दैव युग = ३०,६७,२०,००० मानुष वर्ष एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण होता है।

मन्वन्तर आदि की असंख्यता—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्ग: संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुन: पुन: ।।८०।।

भाष्य—नैषां संख्या विद्यत इत्यसंख्यानि।

"ननु चतुर्दश मन्वन्तराणीति संख्या श्रूयते ज्योति:शास्त्रादौ"।

उच्यते। आवृत्त्या ह्यसंख्यानि। यथा द्वादशमासाः।
सर्गसंहारयोरप्यावृत्तिरनुपरतैव।

क्रीडन्निवैतत्कुरुत इति। "सुखार्थितया क्रीडा। तस्य चाप्तकामत्वादानन्दैकरूपत्वाच्च न क्रोडाप्रयुक्तौ सर्गसंहारौ।" अत इवशब्दः प्रयुक्तः। अत्र यथा परिहारः स प्रागुक्त एव। लीलया निष्प्रयोजनापि लोके राजादीनां प्रवृत्तिर्दृश्यत इति ब्रह्मविदः॥८०॥

हिन्दी—मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय; ये सभी असङ्ख्य हैं। दिव्य-स्थान वासी ब्रह्मा क्रीडा करते हुए के समान इस संसार की सृष्टि बार-बार करते हैं॥८०॥

विमर्श—यद्यपि पुराणादि ग्रन्थों में १४ मन्वन्तरों का वर्णन मिलता है, तथापि सृष्टि एवं प्रलय के असंख्य होने से मन्वन्तर को भी असंख्य कहा गया है, इस प्रकार आवृत्त सृष्टि तथा प्रलय भी असंख्य है। आप्तधर्मा ब्रह्मा का सुखजनक क्रीड़ा करना अनुचित होने से 'इव' शब्द से मानो क्रीड़ा करते हुए के समान यह उल्लेख किया गया है। निष्प्रयोजन सृष्टि में ब्रह्मा का प्रवृत्त होना उसी प्रकार लीलामात्र है, जिस प्रकार सभा स्थल मे व्याख्यान देते हुए व्यक्ति का हस्तसञ्चालन करना तथा ताली बजाना आदि है।

सत्ययुग में धर्म की परिपूर्णता-

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यानुपवर्तते॥८१॥

भाष्य—चत्वारः पादा यस्य स **चतुष्पाद्धर्मः**। यागादेश्च धर्मत्वात्तस्य चानुष्टेयस्वभावत्वाद्विग्रहाभावान्न पादशब्दः शरीरावयववचनः, किं तर्हि अंशमात्रवचनः। न हि धर्मस्य शरीरमस्ति पुरुषविधं पशुपक्ष्यादिविधं वा। तेन स्वांशैश्चतुर्भिरुपेतश्चतुष्पादुच्यते। तेन योऽयं धर्मः चतुष्पात्**सकलः** कृतयुग आसीत्। यागस्य तावत् प्रयोगावस्थस्य चत्वारो होतृकाः, होता ब्रह्मा उद्गाता अध्वर्युरिति। चत्वारो वर्णाः कर्तार आश्रमा वा। सर्वथा यावान्वेदे धर्म उक्तः स सर्वस्तस्मिन्कालेंऽशतोऽपि न हीनः अविगुणः सर्वोऽनुष्ठीयते। बाहुल्येन चतुःसंख्या। एवं दानादिष्वपि योज्यम्। दाता द्रव्यं पात्रं भावतुष्टिः। अथवा यागदानतपांसि ज्ञानं च। तथा वक्ष्यति—'तपः परमिति'।

अथवा धर्मप्रतिपादकं वाक्यं धर्मः। तस्य च चत्वारः पादाः चत्वारि पदजातानि। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तथा चाह। "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः" (ऋग्वेद १।१६४।४५)। मनस ईषिणः समर्था विद्वांसो धार्मिकाः। अद्यत्वे तु 'गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति'। न हि प्रकाशन्ते। 'तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति"। चतुर्थं भागं वैदिका मनुष्या वदन्ति। एतदुक्तं भवति आदौन वेदवाक्यं किञ्चिदन्तरितम्, न च काचिद्वेदशाखा। अद्यत्वे तु बह्वन्तरिम्।

सत्यं चैवं सकलमित्यनुषङ्गः । सत्यपि सत्यस्य विहितत्वाद्धर्मत्वे प्राधान्यार्थं पृथगुपदेशः, हेत्वर्थे वा । सकलस्य धर्मानुष्ठानस्य सत्यं हेतुः । येत्वनृतिनस्ते लोकावर्जनार्थं किञ्चिदनुतिष्ठन्त्यत् त्यजन्ति ।

नाधर्मेण निषिद्धेन मार्गेण **कश्चिदागमो** विद्या वाऽर्थो वाऽनुष्ठातुरु**पवर्तते** आगछति युगस्वाभाव्यात् । न मनुष्या अधर्मेण विद्यामागमयन्ति नापि धनमर्जयन्ति । विद्याधने धर्मानुष्ठानकारणे, तत्परिशुद्धिः सकलधर्मसद्भावस्य हेतुत्वेनानेनोच्यते ॥८१॥

हिन्दी—सत्ययुग में सब धर्म तथा सत्य चतुष्पाद (चार पैरों वाला अर्थात् सर्व प्रकार से स्थिर) था । अधर्म के द्वारा किसी को विद्या या धन आदि की प्राप्ति नहीं थी ॥८१॥

विमर्श—भगवान् वृष (बैल) को धर्म कहने से उसकी पूर्णतया स्थिति चार पैरों के बिना नहीं हो सकती । अतः यहाँ धर्म को चार पैरों वाला कहकर उसकी स्थिरता प्रतिपादन किया है अथवा तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को धर्म का पाद रूप मानकर सत्ययुग की स्थिरता चारों पैरों के होने से प्रतिपादित की गयी है, यहाँ सब धर्मों में श्रेष्ठ होने से 'सत्य' का अलग निर्देश किया गया है ।

त्रेता आदि युगों में उत्तरोत्तर धर्म का ह्रास—

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ।।८२।।

भाष्य—कृतयुगादन्येषु युगेष्वा**गमाद्**वेदाख्या**द्धर्मः पादशः** युगेयुगे पादेना**वरोपितो** व्यपनीतः । अन्तर्हिता वेदशाखाः, पुरुषाणां ग्रहणावधारणशक्तिवैकल्यात् ।

योऽप्यद्यत्वे धर्मो ज्योतिष्टोमादिः प्रचरति सोऽपि चौर्यादिभिः पादशो हीयते । ऋत्विजां यजमानानां दातॄणां सम्प्रदानानां चैतैर्दोषैर्युक्तत्वान्न यथाविधि धर्मो निष्पद्यते । फलमतो यथोक्तं न प्राप्यते । तेन धर्मापायहेतूनां चौरिकादीनां न युगैर्यथासङ्ख्यं सम्बन्धः सर्वेषामद्योपलम्भात् ॥८२॥

हिन्दी—अन्य त्रेता आदि तीन युगों में अधर्म से धन-विद्यादि के उपार्जन (या वेद) से यज्ञ आदि धर्म प्रत्येक युग में क्रमशः १-१ पाद से हीन हो गया तथा चोरी, असत्य और कपट से आवृत होकर १-१ पाद कम होता गया ॥८२॥

सत्युग आदि में मनुष्यों की पूर्णायु—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषां वयो ह्रसति पादशः ।।८३।।

भाष्य—अधर्मस्य रोगकारणस्याभावा**दरोगाः**। 'रोगो' व्याधिः। सर्व एव चत्वारो वर्णाः सिद्धाभिप्रेतार्थाः। अर्थः प्रयोजनम्। अथवा सर्वेऽर्थाः सिद्धाः येषां काम्यानां कर्मणाम्। प्रतिबन्धकाभावादव्याक्षेपेणाशेषफलसिद्धिः। **चतुवर्षशतायुष इति**।

"ननु 'स ह षोडशं वर्षशतमजीवदिति' परममायुर्वेदे श्रूयते।"

अत एवाहुः। वर्षशतशब्दोऽत्र वयोऽवस्थाप्रतिपादकः। चत्वारि वयांसि जीवन्तीति, न पुरायुषः प्रमीयन्ते, नाप्राप्य चतुर्थं वयो म्रियन्ते। अतएव द्वितीये श्लोकार्धे **वयो ह्रसती**त्याह। पूर्वत्र वयसो वृद्धायुक्तायामुत्तरत्र तस्यैवं ह्रासाभिधानोपपत्तिः। **पादश इति**। न चात्र चतुर्थो भागः पादः, किं तर्हि, भागमात्रमंशत आयुः क्षीयत इत्यर्थः। तथा च केचिद्बाला म्रियन्ते केचित्तरुणाः केचित्प्राप्तजरसः। परिपूर्णामायुर्दुर्लभम् ॥८३॥

हिन्दी—सत्ययुग में मनुष्य निरोग, सर्वविध सिद्धियों तथा अर्थों से युक्त और ४०० वर्ष की आयु वाले होते हैं। तथा त्रेता आदि शेष तीन युगों (त्रेता, द्वापर और कलि) में उन (मनुष्यों) की आयु १-१ चरण (चतुर्थांश अर्थात् १००-१०० वर्ष) कम होती जाती है ॥८३॥

विमर्श—इस प्रकार सत्ययुग में ४०० वर्ष, त्रेता में ३०० वर्ष, द्वापर में २०० वर्ष तथा कलियुग में १०० वर्ष मनुष्यों की आयु होती है। मनुष्यों की आयु का यह परिमाण सामान्यतः कहा गया है, अतएव वह पुण्यातिशय से अधिक तथा पापातिशय से कम भी हो सकती है, जैसा कि वर्तमान में मनुष्यों की औसत आयु ५० से ऊपर नहीं होती, इसी कारण वाल्मीकिरामायण में भगवान् रामचन्द्र के ११०००, वर्षों तक[1] राज्य करने की तथा पूराणों में भगीरथ, सगर, रावण आदि के हजारों वर्ष पर्यन्त तपस्या करने का वर्णन असङ्गत नहीं होता।

युगानुसार मनुष्यों की आयु आदि का होना—

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥८४॥

भाष्य—केचिदाहुर्वैदिकैः कर्मभिः सहस्रसंवत्सरादिभिरपेक्षितमायुः **वेदोक्तम्**, तत् **अनुयुगं फलति**, युगानुरूपेण सम्पद्यते, न सर्वेषु युगेषु। नाद्य कश्चित्सहस्रसंवत्सरजीवी; यः सर्वश्चिरञ्जीवति स वर्षशतम्।

तदपरे नाद्रियन्ते। यतो दीर्घसत्त्रेषुसंवत्सरशब्दे दिवसेषु व्यवस्थापिते विधेया-

१. तदुक्तम्—"दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
.... रामो राज्यमचीकरत् ॥ (वा०रा० १।१।१००)

न्तरविरोधाद्वाक्यभेदापत्तेः । एष हि तत्र ग्रन्थः । 'पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सरा' इत्यादि । तत्र त्रीण्याहानि गवामयनप्रकृतित्वात्प्राप्तानि । विशिष्टानुसंख्या पञ्चपञ्चाशत इति । अप्राप्तविधेया यद्यपरा संवत्सरता प्रतीयेत वाक्यं भिद्येत । तत्रावश्यमन्यतरस्यानुवाद आश्रयितव्यः । संवत्सरशब्दः सौरसावनादिमानभेदेन षष्ट्यधिकशतत्रयात्मनोऽहः सङ्घातादन्यत्रापि दृष्टप्रयोग एवेति । तस्यैव लक्षणया दिवसेष्वनुवादो युक्त इति ।

अन्ये तु मन्त्रार्थवादेषु 'शतमिन्नु शरदोऽन्ति देवाः' (ऋग्वेद १।८९।९) 'शतायुर्वै पुरुषः' (काठक ३४।५) इति शतशब्दश्च बहुनामसु पठितः, बहुत्वं चानवस्थितम् । युगानुरूपेण दीर्घजीविनोऽल्पायुषश्च भवन्ति । यथाश्रुतव्याख्याने तु कलौ सर्वे शतायुषश्च भवन्ति । अथवा आयुःकामस्य यानि कर्माणि, न च तत्र प्रमाणं श्रुतम्, तत्रानुयुगं परिमाणं वेद्यम् ।

आशिषः । अन्या अपि फलविषया वेदशासनाः । काम्यानां **कर्मणाम्** । आयुषः काम्यत्वेऽपि प्राधान्यात्पृथगुपदेशः । तथा ह्याह "आयुर्वै परमः कामः" ।

प्रभावोऽलौकिकी शक्तिरणिमादिगुणयोगः, अभिशापो, वरदानम् । **अनुयुगं फलन्तीति** सर्वत्र योज्यम् ।।८४।।

हिन्दी—वेदों में कही गयी मनुष्यों की आयु, कर्मों के फल तथा ब्राह्मण = ऋषि आदि के प्रभाव (वरदान या शाप आदि) युगों के अनुसार होते हैं ।।८४।।

युगानुसार मनुष्यों की आयु का होना—

अन्ये कृतयुगे[१] धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ।।८५।।

भाष्य—उक्तस्य कालभेदेन पदार्थस्वभावभेदस्योपसंहारः । धर्मशब्दो न यागादिवचन एव, किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते । अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति, यथा प्राक् दर्शितम् । यथा वसन्तेऽन्यः पदार्थानां स्वाभावोऽन्यो ग्रीष्मेऽन्य एव वर्षास्वेवं युगेष्वपि । अन्यत्वं चात्र न कारणानां दृष्टकार्यत्यागेन कार्यान्तरजनकत्वम्, अपि त्वपरिपूर्णस्य कार्यस्योत्पत्तेः शक्तेरपचयात् । तदाह— **युगह्रासानुरूपत इति** । ह्रासो न्यूनता ।।८५।।

हिन्दी—सत्ययुग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलि में दूसरे-दूसरे धर्म हैं, इस प्रकार युग के अनुसार धर्म का ह्रास होता है ।।८५।।

विमर्श—यहाँ धर्म शब्द यागादि का वाचक नहीं है, अपितु पदार्थ के गुण का

---

१. धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते । अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति यथा चतुर्वर्षशतायुष्ट्वमित्यादि ।

वाचक है, जैसे सत्ययुग में मनुष्य की आयु का ४०० वर्ष होना तथा त्रेता में ३०० वर्ष इत्यादि ।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ।।८६।।

भाष्य—अयमन्यो युगस्वभावभेदः कथ्यते। तपःप्रभृतीनां वेदे युगभेदेन विधानाभावात्सर्वदा सर्वाण्यनुष्ठेयानि। अयं त्वनुवादो यथाकथञ्चिदाख्येयः। इतिहासेषु ह्येवं वर्ण्यते। **तपः** प्रधानं तच्च महाफलम्। दीर्घायुषो रोगवर्जितास्तपसि समर्था भवन्त्यनेनाभिप्रायेणोच्यते। **ज्ञानम्** अध्यात्मविषयं; शरीरक्लेशादन्तर्नियमो नातिदुष्करः। यागे तु न महाक्लेश इति द्वापरे यज्ञः प्रधानम्। दाने तु न शरीरक्लेशो नान्तःसंयमो न चातीव विद्वत्तोपयुज्यत इति सुसम्पादता ॥८६॥

हिन्दी—सत्ययुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान को महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है ॥८६।

युगों की ब्रह्मादि संज्ञा—

[ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।
वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ।।९।।]

[सत्ययुग ब्राह्म (ब्राह्मण), त्रेता क्षत्रिय, द्वापर वैश्य और कलियुग शूद्र कहे गये हैं ॥९॥]

ब्राह्मणादि के लिए पृथक्-पृथक् कर्मों की सृष्टि—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ।।८७।।

भाष्य—उक्तः कालविभागः। ब्राह्मणादीनां गुणा इदानीं कथ्यन्ते। तत्रायमुपक्रमः। **सर्वस्य सर्गस्य** सर्वेषां लोकानां **गुप्त्यर्थं** रक्षार्थम्। महातेजाः प्रजापतिः मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां दृष्टादृष्टार्थानि **कर्माण्यकल्पयद्** व्यवस्थापितवान् ॥८७॥

हिन्दी—उस महातेजस्वी ब्रह्मा ने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्मों की सृष्टि की ॥८७॥

ब्राह्मण के कर्म—

अध्यापनध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।८८।।

भाष्य—तानीदानीं कर्माण्युच्यन्ते ॥८८॥

हिन्दी—(वेद) पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, करना, दान देना और लेना, इन कर्मों को ब्राह्मणों के लिए बनाया ॥८८॥

क्षत्रियों के कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समादिशत् ।।८९।।

भाष्य—विषयाभिलाषजनका गीतशब्दादयो भावा उच्यन्ते । तत्राप्रसङ्गः पुनः पुनरसेवनम् ॥८९॥

हिन्दी—प्रजा (तथा आर्त आदि) की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, विषय (गीत-नाच आदि उपभोग्य कर्म वा वस्तुओं) में आसक्ति नहीं रखना; सङ्क्षेप में इन कर्मों को क्षत्रियों के लिए बनाया ॥८९॥

वैश्यों के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।९०।।

भाष्य—वाणिक्पथः वणिक्कर्मणा स्थलपथवारिपथादिनां धनार्जनम् उपयुज्यमानदेशान्तरीयद्रव्यसन्निधापनं यस्य राज्ञो विषये वसति । **कुसीदं** वृद्ध्या धनप्रयोगः ॥९०॥

हिन्दी—पशुओं की रक्षा (पालन-पोषण, क्रय-विक्रयादि) करना, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना; इन कर्मों को वैश्यों के लिए बनाया ॥९०॥

शूद्र के कर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।।९१।।

भाष्य—प्रभुः प्रजापतिरेकं कर्म शूद्रस्यादिष्टवान् । **एतेषां** ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां **शुश्रूषा** त्वया कर्तव्या । **अनसूयया**ऽनिन्दया । चित्तेनापि तदुपरि विषादो न कर्तव्यः। **शुश्रूषा** परिचर्या तदुपयोगि कर्मकरणं शरीरसंवाहनादि तच्चित्तानुपालनम् ।

एतद्दृष्टार्थं शूद्रस्य। अविधायकत्वाच्चै**कमेवेति** न, दानादयो निषिध्यन्ते। विधिरेषां कर्मणामुत्तरत्र भविष्यति । अतः स्वरूपं विभागेन यागादीनां तत्रैव दर्शयिष्यामः ॥९१॥

हिन्दी—ब्रह्मा ने इन (ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की अनिन्दक रहते हुए सेवा करना ही शूद्रों के लिए प्रधान कर्म बनाया ।।९१।।

विमर्श—दान आदि कर्म भी शूद्रों को वर्जित नहीं है, किन्तु ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा ही उसका प्रधान कर्म है, यह बतलाने के लिए यहाँ पर 'एक' शब्द कहा गया है। अतः उक्त 'एक' शब्द को सङ्ख्यार्थक न मानकर प्रधानार्थक मानना चाहिये ।

सर्वाङ्गों में मुख की श्रेष्ठता—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ।।९२।।

भाष्य—आपादान्तान्मेध्यः पुरुषः । तस्य नाभेरूर्ध्वमतिशयेन्नामेध्यम् । ततोऽपि मुखम् । एतच्च स्वयमेव जगत्कारणपुरुषेणोक्तम् ।।९२।।

ततः किमत आह—

हिन्दी—ब्रह्मा ने पुरुष को अन्य जीवों से श्रेष्ठ बतलाया, उसमें भी पुरुष के नाभि से ऊपर के भाग (अङ्ग) को पवित्र बतलाया और नाभि से ऊपर के भाग से भी अधिक पवित्र मुख को बतलाया ।।९२।।

वर्णों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ।।९३।।

भाष्य—'उत्तमाङ्गं' मूर्धा तत उद्भव उत्पत्तिर्ब्राह्मणस्य । ज्येष्ठश्चासावन्येभ्यो वर्णेभ्यः पूर्वं ब्रह्मणा सृष्टः । 'ब्रह्मणो' वेदस्य धारणात्तस्य हि सविशेषं तद्विहितमतः **सर्वस्य जगतो**ऽस्माद्धेतुत्रयाद् **ब्राह्मणः प्रभुः** प्रभुरिव । प्रभुर्विनयेनोपसर्पणीयः, तदाज्ञायां च धर्मे स्थातव्यम् । **धर्मतः प्रभु**र्धर्मे प्रभुरित्यर्थः । आद्यादित्वात्तसिः ।।९३।।

हिन्दी—(ब्रह्मा के) मुख से उत्पन्न होने से, (क्षत्रियादि तीनों वर्णों की अपेक्षा पहले उत्पन्न होने के कारण) ज्येष्ठ होने से और वेद के धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण की सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी (सब में श्रेष्ठ) कहा जाता है ।।९३।।

ब्रह्मा के मुख से ब्रह्मणोत्पत्तिकथन—

तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ।।९४।।

भाष्य—पूर्वस्यैव हेतुत्रयस्य विशेषार्थमिदम् । अन्यस्यापि पुरुषस्योत्तमाङ्गं

प्रधानम् । तं पुनर्ब्राह्मणं स्वयम्भूः **स्वादास्या**न्मुखादसृजत् । तपश्च कृत्वैषोत्तमाङ्गा-दुत्पत्तिः । ज्यैष्ठ्यमाह—**आदितः** । यद्देवानुद्दिश्य क्रियते तद्धव्यम् । पितृनुद्दिश्य यत् क्रियते तत्कव्यम् । तयोरभिवहनाय, देवान्पितृंश्च प्रति प्रापणाय । **अभिवाह्या-येति** भावे कृत्यः कथञ्चिद्द्रष्टव्यः । सकर्मत्वाद्वहतेः । तेन च कर्मणा सर्वस्य त्रैलोक्यस्य गुप्तिः परिपालनं भवति । इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति । ते च शीतोष्ण-वर्षैरोषधीः पचन्ति पाचयन्ति । अतः परस्परोपकाराद्गुप्तिः ॥९४॥

हिन्दी—स्वयम्भू उस ब्रह्मा ने हव्य (देव-भाग) तथा कव्य (पितृ-भाग) को पहुँचाने के लिए और सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया ॥९४॥

यस्यास्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ।।९५।।

भाष्य—हव्यादिवहनं पूर्वोक्तं दर्शयति । त्रिदिवमोको गृहं येषां त एवमुच्यन्ते स्वर्गवासिनो देवाः । ब्राह्मणेन भुक्तमन्नं देवा उपतिष्ठन्ति । श्राद्धे पित्र्यस्य कर्मणोऽङ्गभूतं विश्वेदेवानुद्दिश्य ब्राह्मणभोजनं विहितम् । तदपेक्ष्यैतदुक्तम् । **किं भूतमन्यदधिकं** श्रेष्ठं ततस्तस्मादिति स्वयं विस्मर्यते । देवाः पितरश्चोत्तमस्थाना मध्यमस्थानाश्चा-प्रत्यक्षा न तेषां भोजनोपायोऽन्योऽस्त्यन्यतो ब्राह्मणभोजनादतो महान्ब्राह्मणः ॥९५॥

हिन्दी—जिस (ब्राह्मण) के मुख से देवता लोग हव्य को तथा पितर लोग कव्य को खाते हैं, उस (ब्राह्मण) से अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा? ॥९५॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ।।९६।।

भाष्य—पृथिव्यां ये भावाः स्थावरा वृक्षादयो जङ्गमाः कृमिकीटादयस्ते भूत-शब्देनोच्यन्ते । तेषां ये प्राणिन आहारविहारादिचेष्टासमर्थास्ते श्रेष्ठाः । ते हि पटुतरं सुखमनुभवन्ति । तेषां ये बुद्ध्या जीवन्ति हिताहिते विचिन्वन्ति श्वशृगालादयः । ते हि धर्मेणोपतप्ताः छायामुपसर्पन्ति, शीतेनार्दिता आतपं; निराहारं स्थानं त्यजन्ति । तेषामधिकतरा मनुष्याः तेषां च ब्राह्मणाः । ते हि लोके पूज्यतमा; न च सर्वेण परि-भूयन्ते । जातिमात्राश्रयं हि तद्वधे महत्प्रायश्चित्तम् ॥९६॥

हिन्दी—भूतों (पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों) में प्राणी (प्राणधारी जीव) श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी (बुद्धि से काम करने वाले जीव) श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥९६॥

ब्रह्मज्ञानी की श्रेष्ठता—

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ।।९७।।

भाष्य—विदुषां श्रैष्ठ्यं महाफलेषु यागादिष्वधिकारात् । तेषामपि **कृतबुद्धयः** परिनिष्ठितवेदतत्त्वार्था न बौद्धादिभिः कलुषीक्रियन्ते । तेषामपि **कर्तारः** कर्मणा-मनुष्ठातारः । ते हि विहितप्रकरणात्प्रतिषिद्धासेवनाच्च नोपहन्यन्ते । तेषामपि **ब्रह्म-वादिनः**, ब्रह्मस्वरूपत्वात्तत्र ह्यक्षय्यानन्दः ॥९७॥

हिन्दी—ब्राह्मणों में भी विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में कृतबुद्धि (शास्त्रोक्त कर्तव्य में बुद्धि रखने वाले) श्रेष्ठ हैं, कृतबुद्धियों में अनुष्ठान (शास्त्रोक्त कर्त्तव्य के अनुसार आचरण) करने वाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥९७॥

[तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ।।१०।।]

[तीनों लोकों में कोई भी ब्रह्मज्ञानियों का पूज्य नहीं है। तपोविद्याविशेष से वे आपस में पूजते हैं । इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानियों से बड़ा इस संसार में कोई भी नहीं है ॥१०॥]

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।९८।।

भाष्य—विद्वत्तादिगुणसम्बन्धिनो ब्राह्मणस्य विशेषे दर्शिते जातिमात्रं ब्राह्मणं कश्चिदवमन्येत तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । **उत्पत्तिरेव** गुणानपहाय जन्मैव, ब्राह्मणस्य जातिरेव **शाश्वती धर्मस्य मूर्तिः** शरीरम् । **धर्मार्थमुत्पन्नो** द्वितीयेन जन्मनोपनयनेन संस्कृतः । सा हि तस्य धर्मार्थोत्पत्तिर्ब्रह्मत्वाय **कल्पते** सम्पद्यते । धर्मशरीरमुज्झित्वा परानन्दभाग्यवतीति स्तुतिः ॥९८॥

हिन्दी—केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की नित्य देह है; क्योंकि धर्म के लिए उत्पन्न वह (ब्राह्मण) मोक्षलाभ के योग्य होता है ॥९८॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये ।।९९।।

भाष्य—सर्वलोकस्योपरि भवति । श्रैष्ठ्यमुपरिभावेनाह—**ईश्वरः सर्वभूताना-मिति** । प्रभुत्वं धर्माख्यस्य कोषस्य **गुप्तये** जायते । द्रव्यसञ्चयः **कोषः** । उपमानाद्धर्म-सञ्चय उच्यते कोष इति ॥९९॥

हिन्दी—उत्पन्न होता हुआ वह ब्राह्मण पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि वह धर्म की रक्षा के लिए समर्थ होता है ॥९९॥

समस्त सम्पत्ति का स्वामी ब्राह्मण—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ।।१००।।

भाष्य—असन्तुष्टस्य प्रतिग्रहादिषु पुनः प्रवृत्तौ दृष्कृतितामाशङ्क्य समाधत्ते । **सर्वमिदं** त्रैलोक्यान्तर्वर्ति धनं **ब्राह्मणस्य स्वम्** । नात्र प्रतिग्रहो विद्यते । प्रभुत्वेनासौ गृह्णाति, न प्रतिग्रहीतृतयेति । प्रशंसैषा न विधिरत **एवार्हति**शब्दः । **अभिजनो**ऽभिजातताविशिष्टत्वम् ॥१००॥

हिन्दी—पृथ्वी पर जो कुछ भी है, वह सब कुछ ब्राह्मण का है अर्थात् ब्राह्मण उसे अपने धन के समान मानता है। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न तथा कुलीन होने के कारण यह सब धन (ग्रहण करने) का अधिकारी होता है ॥१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।।१०१।।

भाष्य—यत्परगृह आतिथ्यादिरूपेण **भुङ्क्ते** तदात्मीयमेव। नैवं मन्तव्यं परपाकेनेति । **स्वं वस्ते** याचित्वाऽयाचित्वा वा वस्त्रं लभते नासौ तस्य लाभाय, अपि तु स्वकस्याच्छादने विनियोगः । तिष्ठतु तावदात्मोपयोगि यद्गृह्णाति तत्र प्रभुत्वम् । यदन्येभ्यो ददाति परकीयं तदपि तस्य नानुचितम् । **आनृशंस्यं** कारुण्यम् । तदीयया महासत्त्वतया पृथिव्यां राजानः स्वानि धनान्युपयुञ्जते । अन्यथा यद्यसाविच्छेत् 'अहमेतदादाय स्वकार्ये विनियुञ्जीयेति' तदा सर्वे निर्धनाः निरुपभोगाः स्युः ॥१०१॥

हिन्दी—ब्राह्मण अपना ही (अन्नादि) खाता है, अपना ही (वस्त्र आदि) पहनता है, अपना ही (धनादि) दान करता है तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मण की दया से सब (अन्न आदि पदार्थों) का भोग करते हैं ॥१०१॥

इस शास्त्र की रचना का उद्देश्य तथा प्रशंसा—

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणां चानुपूर्वशः ।
स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।।१०२।।

भाष्य—सर्वस्याः ब्राह्मणस्तुतेः फलप्रदर्शनार्थं श्लोकोऽयम् । एवंविधमिदं महार्थं शास्त्रं यत्तस्य—स्वहिम्नाऽऽत्यन्तिकेन महत्तमस्य ब्राह्मणस्य—**कर्मविवेकार्थं**–इमानि कर्माणि कर्तव्यानि इमानि वर्ज्याणि–एष **विवेकस्त**दर्थम् । **शेषाणां** च क्षत्रियादीनाम् । अनुपूर्वशः प्राधान्याद्ब्राह्मणस्यानुषङ्गात्क्षत्रियादीनामिदं शास्त्रमकल्पयत्–कृतवान् ॥१०२॥

हिन्दी—सर्वशास्त्र ज्ञाता स्वयम्भू पुत्र मनु ने उस ब्राह्मण तथा शेष (क्षत्रिय आदि तीन वर्णों) के कर्मज्ञान के लिए इस शास्त्र को बनाया ॥१०२॥

इसको पढ़ने का अधिकारी ब्राह्मण—

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ।।१०३।।

भाष्य—**अध्येतव्यं प्रवक्तव्यमि**त्यर्हेकृत्यो न विधौ। द्वितीयादध्यायात्प्रभृति शास्त्रं प्रवर्तिष्यते। अयं ह्यध्यायोऽर्थवाद एव। नात्र कश्चिद्विधिरस्ति। तेन यथा 'राजभोजनाः शालयः, इति शालिस्तुतिर्न राज्ञोऽन्यस्येति तद्भोजननिषेधः, एवमत्रापि **नान्येन केनचिदिति** नायं निषेधः, केवलं शास्त्रस्तुतिः—'सर्वस्मिञ्जगति श्रेष्ठो ब्राह्मणः, सर्वशास्त्राणां शास्त्रमिदमतस्तादृशस्य विदुषो ब्राह्मणस्याध्ययनप्रवचनार्हं न सामान्येन शक्यते अध्येतुं प्रवक्तुं वा'। अत एवाह—**प्रयत्नत इति**। यावन्न महान्प्रयत्न आस्थितो, यावन्न शास्त्रान्तरैस्तर्कव्याकरणमीमांसादिभिः संस्कृत आत्मा, तावदेतत्प्रवक्तुं न शक्यते। अत एवाध्ययनेन श्रवणं लक्ष्यते। तत्र हि विद्वत्तोपयोगिनी न सम्पाठे। विधौ ह्यध्ययने विद्वत्ताऽदृष्टायैव स्यात्र च "विधौ श्रवणमध्ययनेन लक्ष्यत" इति युक्तं वक्तुम्। न विधेये लक्षणार्थता युक्ता। अर्थवादे तु प्रमाणान्तरानुसारेण गुणावादो न दोषाय। तस्मात्त्रैवर्णिकार्थं शास्त्रम्। एतच्च परस्ताद्विशेषतो वक्ष्यते ॥१०३॥

हिन्दी—विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र यत्नपूर्वक तथा (अधिकारी) शिष्यों को यथायोग्य पढ़ाना चाहिए, अन्य कोई (क्षत्रियादि तीनों वर्ण) इस शास्त्र को नहीं पढ़ावें ॥१०३॥

विमर्श—इस धर्मशास्त्र के अध्ययन के लिए क्षत्रिय तथा वैश्य को भी अधिकार है, किन्तु व्याख्यान या अध्यापन करने का उन्हें (क्षत्रिय तथा वैश्य को) अधिकार नहीं है, यह वचन उक्तानुवादमात्र है ऐसा मेधातिथि का मत है, किन्तु वह द्विजमात्र को यह शास्त्र पढ़ना चाहिये तथा ब्राह्मण मात्र को पढ़ाना तथा इसका व्याख्यान करना चाहिये यह अर्थ अपेक्षित होने से ठीक नहीं है। 'तीनों वर्णों को अध्ययन करना चाहिए' (१०।१) यह अग्रिम वचन भी वेद-विषयक है। अतः 'ब्राह्मण को ही यह धर्मशास्त्र पढ़ाना चाहिये' इस अर्थ के आवश्यक होने से इस वचन को अनुवादमात्र मानना मेधातिथि का दुराग्रह ही है, यह मन्वर्थमुक्तावलीकार का मत है।

यहाँ 'अध्येतव्यम्' (पढ़ना चाहिये) पद में 'तव्यत्' 'अर्ह' (योग्य) अर्थ में ही हुआ है, 'विधि' में नहीं। अतः यह वचन 'अर्थवाद' (प्रशंसापरक) है, 'विधिपरक'

नहीं। जैसे 'राजभोजना: शालयः' (राजा का भोज्य पदार्थ चावल है) इस वाक्य में 'शालि' भोजन का राजातिरिक्त के लिए निषेध नहीं किया जाता, अपि तु 'शालि' (चावल) की प्रशंसा मात्र की जाती है; वैसे ही 'नान्येन केनचित् (दूसरे किसी को नहीं पढ़ाना चाहिए), इस वाक्य के द्वारा भी ब्राह्मणातिरिक्त के लिए निषेध नहीं किया गया है किन्तु यह ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ है और यह शास्त्र भी सब शास्त्रों में श्रेष्ठ है, अत: वैसे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को ही इस शास्त्र का अधिकार होना अभीष्ट माना गया है, सामान्य व्यक्ति को नहीं। अत: व्याकरण-न्याय-मीमांसादि के अध्ययन से परिपक्व बुद्धिवाले एवं प्रयत्नशील व्यक्ति को ही इस शास्त्र के प्रवचन का अधिकार है, अन्य व्यक्ति को चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो इसका अधिकार होना शास्त्रकार को अभीष्ट नहीं है। इस कारण यहाँ पर 'अध्ययन' से 'श्रवण' करना लक्षित होता है, विद्वान् होना ही इस शास्त्र के लिए उपयोगी है। ....अत: 'द्विजमात्र का इस शास्त्र में अधिकार है' यह पूज्यपाद नेने शास्त्री का मत है।

इस शास्त्र के अध्ययन का फल—

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ।।१०४।।

भाष्य—एवं सम्बन्धिद्वारेण ब्राह्मणार्थतया शास्त्रं स्तुत्वाऽधुना साक्षात्स्तौति। इदं शास्त्रं जानानः **शंसितव्रतो** भवतीति परिपूर्णयमनियमानुष्ठायी भवति। शास्त्राद-ननुष्ठाने प्रत्यवायं ज्ञात्वा तद्भयादनुतिष्ठति सर्वान् यमनियमान् यथाशास्त्रं सर्व-मनुतिष्ठति। अनुतिष्ठन्विहितातिक्रमप्रतिषिद्धकर्मजनितै**र्दोषैः** पापैः **न लिप्यते** न सम्बध्यते ।।१०४।।

हिन्दी—इस शासत्र को पढ़ता हुआ इसके अनुसार नित्य व्रतानुष्ठान करने वाला ब्राह्मण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मदोषों से लिप्त नहीं होता अर्थात् उक्त दोषों से मुक्त हो जाता है ।।१०४।।

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्तसप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ।।१०५।।

भाष्य—पङ्क्तिपावनो भवति। विशिष्टानुपूर्वीकः सङ्घातः **पङ्क्तिरुच्यते**। तां **पुनाति** निर्मलीकरोति। सर्वे दुष्टास्तत्सन्निधानाददुष्टाः सम्पद्यन्ते। **वंश्यान्**स्वकुलसम्भूतान्-**सप्तपरा**नुपरितनान्पित्रादीनागामि**नोऽवराञ्ज**निष्यमाणान्। समुद्रपर्यन्तां पृथिवीं प्रति-ग्रहीतुमर्हति। धर्मज्ञाता हि प्रतिग्रहाधिकारे हेतुः, इतश्च सर्वे धर्मा ज्ञायन्ते ।।१०५।।

हिन्दी—वह (इस शास्त्र को पढ़ता हुआ) ब्राह्मण (श्राद्ध आदि में भोजन करने के समय में बैठने से पंक्ति को दूषित करने वाले ब्राह्मणों से दूषित हुई) पंक्ति को,

अपने कुल में उत्पन्न हुए (पिता आदि) तथा उत्पन्न होने वाले (पुत्र आदि) सात पीढ़ियों तक के वंशजों को पवित्र करता है और सम्पूर्ण पृथ्वी को भी (सत्पात्र होने से) ग्रहण करने के योग्य होता है ॥१०५॥

[यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ।।११।।]

[तीनों वेदों के अध्ययन के समान इस धर्मशास्त्र का अध्ययन है; स्वर्ग के इच्छुक ब्राह्मण को अवश्य ही इसका अध्ययन करना चाहिए ॥११॥]

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्यं सततमिदं निःश्रेयसं परम् ।।१०६।।

भाष्य—**स्वस्त्य**भिप्रेतस्यार्थस्याविनाशः । **अयनं** प्रापणम् । स्वस्ति प्राप्यते येन तत्**स्वस्त्ययनम् श्रेष्ठम**न्येभ्यो जपहोमादिभ्यः । न हि शास्त्रमन्तरेण तेषामनुष्ठानं सम्भवति, अतस्तदनुष्ठानहेतुत्वाच्छ्रेष्ठमेतत् । अथवा धर्मज्ञानार्थवाक्यान्येव श्रेयस्यान्यनुष्ठानं तु क्लेशकरमत उच्यते श्रेष्ठमिति । **इदं बुद्धिविवर्धनम्** । शास्त्रे ह्यासेव्यमाने तदर्थस्य प्रकाशनाद्ग्रन्थिप्रमोक्षाद्बुद्धिविवृद्धिः प्रसिद्धैव । **इदं यशस्यम्**, धर्मज्ञः संशयानैः पृच्छ्यमानः ख्यातिं लभते । यशसो निमित्तं 'यशस्यम्' । विद्वत्तौदार्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धि**र्यशः** । **निःश्रेयसं** दुःखाननुविद्धाया प्रीतेः स्वर्गापवर्गलक्षणायास्तत्प्राप्तिहेतुकर्मज्ञानहेतुत्वान्निः**श्रेयसं परं** श्रेष्ठम् ॥१०६॥

हिन्दी—स्वस्त्ययन (अभीष्टार्थ के अविनाश का स्थान अर्थात् प्राप्त कराने वाला) यह धर्म शास्त्र बुद्धिवर्द्धक, आयुवर्द्धक और मोक्ष का साधक है ॥१०६॥

अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ।।१०७।।

भाष्य—इदानीं स्वशास्त्रस्य स्वविषये साकल्येन वृत्तेरन्यनिरपेक्षतामाह । कश्चिद्यो नाम धर्मः स सर्वः शास्त्रेऽस्मिन्कात्स्न्र्येनाभिहितः । न तस्माद्धर्मज्ञानाय शास्त्रान्तरापेक्षा कर्तव्येत्यतिशयोक्तिः स्तुतिः । **अस्मिञ्छास्त्रे धर्मः** स्मार्तोऽ**खिलेन** निःशेषेणोक्तः । **गुणदोषौ** च **कर्मणाम्** । इष्टानिष्टे फले'गुणदोषौ कर्मणां' यागादिब्रह्महत्यादीनाम् । एवं हि साकल्यं भवति यत् कर्मस्वरूपमितिकर्तव्यताफलविशेषः कर्तृविशेषसम्बन्धो नित्यकाम्यताविवेकः । एतत्सर्वं गुणदोषपदेन प्रतिज्ञातम् । धर्म इत्युक्ते कर्मग्रहणं वृत्तपूरणार्थम् ।

चतुर्णामपि वर्णानाम् । एतदपि साकल्यार्थम् । यो नाम कश्चिद्धर्मेऽधिकृतस्तस्य सर्वस्येतो धर्मलाभः । **आचारश्चैव शाश्वतः** । आचारप्रमाणकोधर्म 'आचार'इत्युक्तः ।

द्वितीये चैनं विवेक्ष्याम:। **शाश्वतो** वृद्धपरम्परया नेदानीन्तनै: प्रवर्तित:॥१०७॥

हिन्दी—इस धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्मो के गुण तथा दोष और चारों वर्णों के सनातन आचार बतलाये गये हैं ॥१०७॥

आचार की प्रधानता—

आचार: परमो धर्म: श्रुत्युक्त: स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विज: ।।१०८।।

भाष्य—**परम:** प्रकृष्टो धर्म आचारस्तथा श्रुतौ वेदे य उक्त:, **स्मार्त:** स्मृतिसूक्त**स्तस्मादाचार**धर्मे नित्यं युक्त: स्यान्नित्यमनुतिष्ठे**दात्मवानात्**मनो हितमिच्छन्। सर्वस्वाऽऽत्मास्त्यतो मतुपा तद्धितपरत्वमुच्यते ॥१०८॥

हिन्दी—वेदों तथा स्मृतियों में कहा गया आचार ही श्रेष्ठ धर्म है, आत्महिताभिलाषी द्विज को इस (अचार के पालन) में प्रयत्नवान् होना चाहिये ॥१०८॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्त: सम्पूर्णफलभाक्स्मृत: ।।१०९।।

भाष्य—प्रकारान्तरेणेयमाचारस्तुति: । **आचारात्प्रच्युत** आचारहीनो न वेदफलं प्राप्नोति । वेदविहितकर्मानुष्ठानफलं **वेदफलमित्युक्त**म् । समग्राण्यविकलानि वैदिकानि कर्माण्यनुतिष्ठन्यद्याचारभ्रष्टो न तत: पुत्रकामादिफलमश्नुत इति निन्दा । एष एवार्थो विपर्ययेणोच्यते । **आचारेण तु संयुक्त:** सकलं फलं प्राप्नोति, काम्यानाम् । अत्र यद्वदन्ति ''सम्पूर्णवचनादाचारहीनस्याप्यस्ति काम्येभ्य: फलसम्बन्धो न कृत्स्नफललाभ'' इति तन्न किञ्चित्, अर्थवादत्वादस्य ॥१०९॥

हिन्दी—आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेद के फल को नहीं प्राप्त करता और आचारवान् ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोक्त फल का भागी होता है ॥१०९॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहु: परम् ।।११०।।

भाष्य—यावत्किञ्चि**त्तप:** प्राणायाममौनयमनियमकृच्छ्रचान्द्रायणानशनादि तस्य **सर्वस्य** फलप्रसवे **मूलमा**चारोऽतस्तमेव **मुनय**स्तप:फलार्थिनो मूलत्वेन कारणतया **जगृहु:** गृहीतवन्त: । आचाराद्दृष्ट्वा **धर्मस्य मुनयो गतिं** प्राप्तिमतिक्लेशकरं तपस्तथाप्याचारहीनस्य न फलतीति श्रुति: ॥११०॥

हिन्दी—इस प्रकार आचार से धर्मलाभ देखकर महर्षियों ने तपस्या के श्रेष्ठ मूल आचार का ग्रहण किया ॥११०॥

इस शास्त्र के अध्यायानुसार विषयसूची—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ।।१११।।

भाष्य—उक्ता धर्मा अत्र विशिष्यन्ते। श्रोतृप्रवृत्त्यर्थं चानन्तफलता धर्मस्योक्ता 'एतदन्ता'स्त्वित्यादिना। तत्रातीन्द्रियोऽयमनन्तो दुष्पार इति मन्वाना अवसीदेयुरत उत्साहजननार्थं शास्त्रार्थसङ्कलनात्मिकामनुक्रमणीं पठति। एतावन्त्यत्र वस्तूनि, नातिबहूनि, शक्यन्ते श्रद्दधानैः पुरुषैर्ज्ञातुमिति। सङ्क्षेपोपदिष्टमार्ग आक्रम्यमाणो न दुःसहो भवतीति।

जगतश्च समुत्पत्तिमिति कालपरिमाणं तत्स्वभावभेदो ब्राह्मणस्तुतिरित्यादि सर्वं जगदुत्पत्तावन्तर्भूतम्। एतच्चार्थवादतयोक्तं न प्रमेयतया। **संस्कारविधिं व्रत-चर्योपचारञ्च**। गर्भाधानादयः **संस्काराः**। तेषां **विधिः** कर्तव्यता। ब्रह्मचारिणो व्रतचर्याया उपचारोऽनुष्ठानमितिकर्तव्यता वा। एतद्द्वितीयाध्यायप्रमेयार्थः। **स्नानं** गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषः ॥१११॥

हिन्दी—संसार की उत्पत्ति (प्रथमाध्याय का विषय); संस्कारविधि (जातकर्म आदि षोडश संस्कारों का विधान), ब्रह्मचर्य आदि व्रत का आचरण और गुरु का अभिवादन, सेवन आदि उपचार (द्वितीयाध्याय का विषय); ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर गुरुकुल से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व स्नानरूप संस्कार-विशेष का श्रेष्ठ विधान ॥१११॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ।।११२।।

भाष्य—दाराणामधिगमनं भार्यासङ्ग्रहः। **विवाहानां** ब्राह्मादीनां तत्राप्त्यु-पायानां च **लक्षणं** स्वरूपाधिगमने हेतुम्। **महायज्ञाः** पञ्च वैश्वदेवादयः। **श्राद्धस्य** पितृयज्ञस्य **कल्पो** विधिरितिकर्तव्यता। 'पर' ग्रहणं 'शाश्वत' ग्रहणं च वृत्तपूरणार्थम्। एष तृतीयाध्यायार्थः ॥११२॥

हिन्दी—विवाह, आठ प्रकार के (२।२७-३४) विवाहों के लक्षण, महायज्ञ (वैश्वदेव आदि पञ्च महायज्ञ—३।७०) का विधान; श्रद्धा की नित्य विधि (तृतीयाध्याय का विषय) ॥११२॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ।।११३।।

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ।।११४।।
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ।।११५।।
वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ।।११६।।

भाष्य—वृत्तीनां जीवनोपायानां धनार्जनात्मकानां भृत्यादीनां **लक्षणम्** । **स्नातकस्य** समाप्तवेदाध्ययनस्य गुरुकुलान्निवृत्तस्य **व्रतानि** नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादीनि । एष चतुर्थाऽर्थः ।

भक्ष्याभक्ष्यम् । 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' 'अभक्ष्यं' पलाण्डादि । **शौचं** कालकृतं जन्मादावुदकादिना च **द्रव्यशुद्धिः** । **स्त्रीधर्मयोगः** सम्बन्धो बालयुवेत्यादि । एतत्पाञ्चामिकम् ।

तापसाय हितं **तापस्यम्** । तपः प्रधानस्तापसो वानप्रस्थस्य धर्मस्तापस्यम् । **मोक्षः** परिब्राजकधर्मः । **संन्यासश्च** तद्विशेष एव । स च तत्रैव दर्शयिष्यते । षष्ठाध्यायवस्त्वेतत् ।

राज्ञः पृथिवीपालनाधिकृतस्य प्राप्तैश्वर्यस्य **धर्मोऽखिलो** दृष्टार्थोऽदृष्टार्थश्च । एष सप्तमाध्यायगोचरः ।

कार्याणामृणादानादीनां **विनिर्णयो** विचार्य संशयच्छेदेनावधारणमनुष्ठेयनिश्चयः । **साक्षिणां** च प्रश्ने यो विधिः । प्राधान्यत्पृथङ्निर्देशः । आष्टमिकोऽयमर्थः ।

धर्मः स्त्रीपुंसयोरित्येकदेशे स्थितयोः प्रवासवियुक्तयोश्च परस्परं वृत्तिः । रिक्थ**विभाग**धर्मः । **द्यूतम्** । तद्विषयो विधिः द्यूतशब्देनोक्तः । **कण्टकादीनां** चोराटविकादीनां **शोधनं** राष्ट्रान्निरसनोपायः । यद्यपि विभागादिरष्टादशपदान्तर्गतत्वात्**कार्याणां** चेत्यनेनैवोपादानादृणादानादिवन्न पृथङ्निर्देश्यः,—अध्यायभेदात्तु पृथङ्निर्देशः । **वैश्यशूद्रयोरुपचारः** स्वधर्मानुष्ठानम् । एतन्नवमे ।

सङ्कीर्णानां क्षत्तृवैदेहकादीनां **सम्भवमु**त्पत्तिम् । **आपद्धर्मं** च स्ववृत्त्याऽजीवतां प्राणात्यये यो धर्मः । एतद्दशमे ।

प्रायश्चित्तविधिरेकादेशे ।।११३-११६।।

हिन्दी—जीविकाओं (ऋत, अमृत, प्रमृत आदि—४,५-६) के लक्षण, गृहाश्रमियों (गृहस्थों) के नियम (चतुर्थाध्याय का विषय) भक्ष्य (भक्षण करने योग्य अन्न, दुग्ध, दही आदि) और अभक्ष्य (लहसुन, मांस, उच्छिष्ट आदि), `शौच (मृत्यु के बाद

ब्राह्मणादि की दशाह कर्मादि द्वारा शुद्धि), जल-मिट्टी आदि के द्वारा द्रव्यों की शुद्धि। स्त्रियों का धर्मोपाय (पञ्चमाध्याय का विषय); वानप्रस्थ-कर्म, यति-धर्म (मोक्ष) संन्यास-धर्म (षष्ठाध्याय का विषय), राजा का सम्पूर्ण धर्म (सप्तमाध्याय का विषय), कर्तव्य अर्थात् व्यवहार (लिए तथा दिये गये ऋण) का विशेष निर्णय। साक्षियों (गवाहों) से प्रश्न करने (विवाद विषयक प्रश्न पूछने या जिरह करने) का विधान (अष्टमाध्याय का विषय), पत्नी और पति का संयुक्त एवं पृथक् रहने पर धर्म, विभाग (बँटवारा अर्थात् हिस्से को यथायोग्य अधिकारियों को बाँटने) का धर्म, द्यूत (जुआ) तथा शरीरस्थ कण्टक के समान चोर (डाकू, जेबकट, विष देकर यात्री आदि का धन लेने वाले आदि) का निवारण। वैश्य तथा शूद्रों का अपना-अपना धर्मानुष्ठान (नवमाध्याय का विषय); वर्णशङ्कर (भिन्न-भिन्न जाती वाले स्त्री-पुरुषों के संभोग से सन्तान (१०।१-४०) की उत्पत्ति, आपत्ति काल में जीविका-साधनोपदेश (दशमाध्याय का विषय); प्रायश्चित्त का विधान (एकादशाध्याय का विषय)॥११३-११६॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम्।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्॥११७॥

भाष्य—संसारगमनम्। धर्मेण धर्मी लक्ष्यते, संसारी पुरुष आत्मा, तस्य गमनं देहाद्देहान्तरप्राप्तिः। अथवा संसारविषयाः पृथिव्यादयो लोका उच्यन्ते, तत्र गमनम् पूर्ववत्। **त्रिविधम्** उत्तमाधममध्यमम् **कर्मसम्भवं** शुभाशुभकर्मनिमित्तम्। **निःश्रेयसम्** न केवलं कर्मनिमित्ता गतय उक्ताः यावद्यतः परमन्यच्छ्रेयो नास्ति तदुपायोऽप्यध्यात्मज्ञानमुक्तम्। **कर्मणां च** विहितप्रतिषिद्धानां **गुणदोषपरीक्षा**॥११७॥

हिन्दी—वर्णानुसार तीन प्रकार की (उत्तम; मध्यम और अधम) सांसारिक गति, मोक्षदायक आत्मज्ञान, विहित तथा निषिद्ध कर्मो के गुण-दोषों की परीक्षा॥११७॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः॥११८॥

भाष्य—तदेव साकल्याभिधानं द्रढयति। प्रतिनियते देशेऽनुष्ठायमाना न सर्वस्यां पृथिव्यां ते **देशधर्माः**। ब्राह्मणादिजात्याश्रया **जातिधर्माः**। **कुलधर्माः** प्रख्यातवंशप्रवर्तिता इति। **पाषण्डं** प्रतिषिद्धव्रतचर्या बाह्यस्मृतिसमाश्रयास्तत्र ये धर्माः—पाषण्डिनो विकर्मस्थानिति। **गणः** सङ्घातो, वणिक्कारुकुशीलवादीनाम्। तान्सर्वधर्मान्भगवान्मनुरस्मिञ्छास्त्रे उक्तवान्॥११८॥

हिन्दी—देशधर्म (किसी देश-विदेश में नियत धर्म-विशेष) जाति-धर्म (ब्राह्मणादि जातिविशेष के लिये नियत धर्म-विशेष) पाखण्डियों (वेद तथा धर्मशास्त्रों के प्रतिकूल आचरण करने वालों) के समुदायों का धर्म (द्वादशाध्याय का विषय);

प्रथमाऽध्याय का उपसंहार—

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ।।११९।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

भाष्य—अवधानार्थः प्रतिबोधः ।।११९।।

इति श्रीभट्टमेधातिथि विरचिते मनुभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि)—पूर्व काल में पूछने पर भगवान् मनु ने इस शास्त्र को जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही आप लोग भी मुझसे इस धर्मशास्त्र को मालूम करें ।।११९।।

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संसारोत्पत्तिवर्णनम् ।
श्रीगणेशकृपादृष्ट्या 'प्रथमे पूर्णतामगात्' ।।१।।

●

।।अथ द्वितीयोऽध्यायः।।

सामान्य धर्म का लक्षण—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।१।।

भाष्य—प्रथमोऽध्यायः शास्त्रप्रतिपाद्यार्थतत्त्वदर्शनार्थोऽनुक्रान्तः। जगत्सृष्ट्यादिवर्णनं च तच्छेषमेत्र व्याख्यातम्। इदानीं शास्त्रमारभते। तत्र प्रतिज्ञातोऽर्थो जगत्सर्गादिवर्णनेन व्यवायाद्विस्मृत इत्यनुसन्धानार्थं पुनः शिष्यान्प्रति बोधयति।

यो धर्मो भवतां शुश्रूषितस्**त**मिदानीं मयोच्यमानं **निबोधता**वहिता भूत्वा शृणुत। प्रथमेऽध्याये पञ्चषाः श्लोकाः प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थाः। परिशिष्टमर्थवादरूपम्। तच्चेन्नातिसम्यगवधारितं न धर्मपरिज्ञाने महती क्षतिः। इह तु साक्षाद्धर्म उपदिश्यते। ततोऽवधानवद्भिरवधारणीयोऽयमर्थ इति पुनरुपन्यासफलम्।

धर्मशब्द उक्तार्थोऽष्टकाद्यनुष्ठानवचनः। बाह्यदर्शनिनस्तु भस्मकपालादिधारणमपि धर्मं मन्यन्ते। तन्निवृत्त्यर्थं विद्वद्भिरित्यादीनि विशेषणपदानि।

विद्वांसः शास्त्रसंस्कृतमतयः प्रमाणप्रमेयस्वरूपविज्ञानकुशलाः। ते च वेदार्थविदो विद्वांसो नान्ये। यतो वेदादन्यत्र धर्मं प्रति ये गृहीतप्रामाण्यास्ते विपरीतप्रमाणप्रमेयग्रहणादविद्वांस एव। एतच्च मीमांसातस्तत्त्वतो निश्चीयते।

सन्तः साधवः प्रमाणपरिच्छिन्नार्थानुष्ठायिनो हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थाय यत्नवन्तः। हिताहितं च दृष्टं प्रसिद्धम्। अदृष्टं च विधिप्रतिषेधलक्षणम्। तदनुष्ठानबाह्या असन्त उच्यन्ते। अत उभयमत्रोपात्तं ज्ञानमनुष्ठानं च।

विद्यमानतावचनः सच्छब्दो न सम्भवति, आनर्थक्यात्। यद्धि येन सेव्यते तत्तेन विद्यमानेनैव।

सेवाऽनुष्ठानशीलता। भूतप्रत्ययेनानादिकालप्रवृत्तमाह। नायमष्टकादिधर्मोऽद्यत्वे केनचित्प्रवर्तित इतरधर्मवत्। एतदेव **नित्य**शब्देन दर्शयति। यावत्संसारमेष धर्मः। बाह्यधर्मास्तु सर्वे मूर्खदुःशीलपुरुषप्रवर्तिताः कियन्तं कालं लब्धावसरा अपि पुनरन्तर्धीयन्ते। न हि व्यामोहो युगसहस्रानुवर्ती भवति। सम्यग्ज्ञानमविद्यया सञ्छन्नमपि तत्क्षये निर्मलतामेवैति। न हि तस्य निर्मलतया छेदः सम्भव इति।

अद्वेषरागिभिः । इदं बाह्यधर्मानुष्ठाने द्वितीयं कारणम् । व्यामोहः पूर्वमुक्तः । अनेन लोभादय उच्यन्ते, रागद्वेषग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । लोभेन मन्त्रतन्त्रादिषु प्रवर्तयन्ति । अथवा रागद्वेषयोर्लोभोऽन्तर्भूतः । आत्मनि ये भोगोपायास्तेषु रक्ताः उपायान्तरेण जीवितुमसमर्था लिङ्गधारणादिना जीवति । तदुक्तं 'भस्मकपालादिधारणं, नग्नता, काषाये च वाससीबुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति' ।

द्वेषो विपरीतानुष्ठानकारणम् । द्वेषप्रधाना हि नातीव तत्त्वावधारणे समर्था भवन्त्यतोऽधर्ममेव धर्मत्वेनाध्यवस्यन्तीति ।

अथवोभावपि रागद्वेषौ तत्त्वावधारणे प्रतिबन्धकौ । सत्यामपि कस्याञ्चिच्छास्त्रवेदनमात्रायां लब्धेऽपि विद्वद्व्यपदेशे रागद्वेषवत्तया विपरीतानुष्ठानं सम्भवति । जानानां अपि यथावच्छास्त्रं कस्यचिद् द्वेष्यस्योपघाताय प्रियस्य चोपकाराय कौटसाक्ष्याद्यधर्मं सेवन्ते । तेषां वेदमूलमेवानुष्ठानमित्यशक्यनिश्चयं कारणान्तरस्य रागद्वेषलक्षणस्य सम्भवात् । अतस्तत्प्रतिषेधः ।

अत्र चोद्यते । "**सद्भिरिति** सच्छब्दः साधुतावचनो वर्णितः । कीदृशी च साधुता तस्य यदि रागद्वेषाभ्यामधर्मे प्रवृत्तिः सम्भाव्यते । तस्माद**द्वेषरागिभिरिति** न वक्तव्यम् ।"

एवं तर्हि हेतुत्वेनोच्यते । यतो रागादिवर्जिता अतः सन्तो भवन्ति । रागद्वेषप्रधानत्वाभावश्चात्र प्रतिपाद्यते । न सर्वेण सर्वं तदभावयोग्यावस्थागतस्य हेतोर्निरन्वयमुच्छिद्यते । तथा च श्रुतिः—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति"॥

रागो विषयोपभोगगृध्नुता । तत्प्रतिषेधव्यापारो **द्वेषः** । लोभो मात्सर्यमसाधारण्येन स्पृहा, परस्य चैतन्माभूद्विभवख्यात्यादि । चित्तधर्मा एते । अथवा चेतनावत्सु स्त्रीसुतसुहृद्बान्धवादिषु स्नेहो रागः; लोभोऽचेतनेष्वपि धनादिषु स्पृहा ।

हृदयेन । हृदयशब्देन चित्तमाचष्टे । **अनुज्ञानं** च हृदयस्य प्रसादः । एषा हि स्थितिः । अन्तर्हृदयवर्तीनि बुद्ध्यादितत्त्वानि । यद्यपि बाह्यहिंसाभक्ष्यभक्षणादिषु मूढा धर्मबुद्ध्याप्रवर्तन्ते, तथाऽपि हृदयाक्रोशनं तेषां भवति । वैदिकेत्वनुष्ठाने परितुष्यति मनः ।

तदस्य सर्वस्यायमर्थः । न मया तादृशो धर्म उच्यते यत्रैते दोषाः सन्ति । किन्तु य एवंविधैर्महात्मभिरनुष्ठीयते स्वयं च यत्र चित्तं प्रवर्तयति वा । अत आदरातिशय उच्यमानेषु धर्मेषु युक्तः ।

अथवा **हृदयं** वेदः । स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो 'हृदयम्' । ततश्च त्रितयमत्रोपात्तम् । यदि तावदविचार्यैव स्वाग्रहात्काचित्प्रवृत्तिः कस्यचित्तथाऽप्यत्रैव युक्ता । एतद्धृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यनेनोच्यते । अथाप्ययं न्यायो 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'

इति, तदप्यत्रैवास्ति। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके। अथा-प्रमाणिकी प्रवृत्तिः, साऽपि वेदप्रामाण्यात्सिद्धैवेति। सर्वप्रकारं प्रवृत्याभिमुख्यमनेन जन्यते।

अन्ये त्वेतं श्लोकं सामान्येन धर्मलक्षणार्थं व्याचक्षते। एवंविधैर्यः सेव्यते स धर्मोऽवगन्तव्यः। प्रत्यक्षवेदविहितस्य स्मार्तस्य वाऽऽचारतः प्राप्तस्य सर्वस्यैतल्लक्षणं विद्यते। अत्र तु य एतैः सेव्यते तं धर्मं निबोधतेति पाठो युक्तः ॥१॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) धर्मात्मा एवं रागद्वेष से रहित विद्वानों द्वारा सर्वदा सेवित और हृदय से अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है, उसे (तुम लोग) सुनो ॥१॥

सकाम कर्म का निषेध वेदादि प्राप्ति की काम्यता—

कामात्मता न प्रशस्ता चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ।।२।।

भाष्य—फलाभिलाषः कर्मप्रवृत्तेर्हेतुर्यस्य स कामात्मा तद्भावः **कामात्मता**। तत्प्रधानता 'आत्म' शब्देन प्रतिपाद्यते। सा न **प्रशस्ता** निन्दिता।

अतश्च निन्दया प्रतिषेधानुमाने 'न कर्तव्येति' प्रतीयते। अर्थात्सौर्यादीनां सर्वेषां काम्यानां निषेधोऽयम्। अथवा किं विशेषण ब्रूमः सौर्यादिनामिति, सर्वमेव क्रियानुष्ठानं फलसिद्ध्यर्थं, न स्वरूपनिष्पत्तये। न च काचन निष्फला क्रिया। यदपि–'न कुर्वीत वृथा चेष्टामिति, भस्मनि हुतं विषयान्तरे देशराजवार्ताद्यन्वेषणं'—तत्रापि क्रियाफलं विद्यते, किन्तु प्रधानफलं स्वर्गग्रामादि पुरुषस्य यद्दृष्टादृष्टयोरुपयुज्यते तदभावाद् वृथा चेष्टेत्युच्यते अथोच्यते—'भवतु क्रिया फलवती। तद्विषयेऽभिलाषो न कर्तव्यः वस्तुस्वाभाव्यात्फलं भविष्यति'–अत्रापि सौर्यादीनामफलत्वं, काम्यमानं फलं ज्ञातम्। नानिच्छोस्तद्भविष्यतीति। न च लौकिकी प्रवृत्तिर्दृश्यते फलाभिसन्धिनिरपेक्षा। न चात्र विशेषः श्रुतौ-वैदिकेषु कर्मसु फलं नाभिसन्धेयमिति। तत्र फलवत्तु श्रुतेषु कामनानिषेधाद-प्रवृत्तौ श्रुतिविरोधः। नित्येषु तु प्राप्तिरेव नास्ति। विशेषानुपादानाच्च लौकिकव्यापार-निवृत्तौ दृष्टविरोधः। तदिदमापतितम्, न—किञ्चित्केनचित्कर्तव्यं सर्वैस्तूष्णींभूतैः स्थातव्यम्''।

उच्यते। यत्तावदुक्तं काम्येषु सौर्यादिषु निषेधप्रसङ्ग इति, तत्र वक्ष्यति'यथा-सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुत' इति। निषेधे हि कुतः सङ्कल्पः कुतश्च कामा-वाप्तिः। यद्यपि विशेषानुपादानाल्लौकिकेऽपि प्रसक्त इति—तत्रोपात्त एव विशेषः, 'यो धर्मस्तं निबोधतेति' धर्मस्य प्रकृतत्वात्। यदप्युक्तं नित्येषु फलाश्रवणात्फलाभिसन्धेः

प्राप्तिरेव नास्ति, किं निषेधेनेति,—तत्राप्युच्यते। फलाभावात्कश्चित्सम्यक्शात्रार्थमजानानो न प्रवर्तेत, सौर्यादिषु च श्रुतफलेषु फलाभिसन्धिपूर्विकां प्रवृत्तिं दृष्ट्वा सामान्यतोदृष्टेन यत्कर्तव्यं तत्फलहेतोः क्रियत इत्यश्रुतमपि फलमभिसन्दधीत तन्निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते। यद्यप्ययं न्यायोयत्फलवच्छ्रुतं तत्तथैव कर्तव्यम्, यदापि निष्फलमेव कर्तव्यतया शास्त्रेण यावज्जीवादिपदैर्विनैव विश्वजिन्यायेन फलकल्पनयाऽवगमितं तस्यान्यथानुष्ठाने प्रसङ्ग एव नास्ति, तथापि य येंतं न्यायं प्रतिपत्तुमसमर्थः स वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायतः प्रतिपत्तौ हि गौरवम्, वचनात्तु लघीयसी मुखप्रतिपत्तिरिति सुहृद्भूत्वा प्रमाणसिद्धमर्थमुपदिशतिस्म।

कामशब्दोऽयं यद्यपि तदृच्छयवचनो दृष्टस्तथाऽपि तस्येहासम्भवात्काम इच्छाऽभिलाष इत्यनर्थान्तरम्। तत्र वक्ष्यमाणपर्यालोचनया फलाभिलाषेण न सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्ययमर्थः स्थास्यति।

परन्तु कामात्मतामिच्छामात्रसम्बधमात्रं पदार्थं मन्वानश्चोदयति। **न चैवेहास्त्यकामतेति**। न चेह लोके काचिदकामिनः प्रवृत्तिरस्तीत्यर्थः। आस्तां तावत्कृषिवाणिज्यादि व्युत्पन्नबुद्धिना क्रियमाणम्, यः स्वयं **वेदाधिगमो** वेदाध्ययनं बालः कार्यते पित्रादिना ताड्यमानः सोऽपि न काममन्तरेणोपपद्यते। अध्ययनं हि शब्दोच्चारणरूपम्। न चोच्चारणमिच्छया विना निर्घातध्वनिवदुत्तिष्ठति। इच्छति चेत्किमिति ताड्यत इति। सैवतथेच्छोपजन्यते। अभिमते तु विषये स्वयमुपजायत इत्येतावान्विशेषः। यश्चायं **वैदिको** वेदविहितः **कर्मयोगो** दर्शपूर्णमासादिकर्मानुष्ठाने नित्यत्वेनावगतः सोऽपि न प्राप्नोति। न ह्यनिच्छतो देवतोद्देशेन स्वद्रव्यत्यागोपपत्तिः। तस्मात्कामात्मतानिषेधे सर्वश्रौतस्मार्तकर्मनिषेधः प्रसक्त इति ॥२॥

हिन्दी—कर्म-फल की इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं किन्तु इच्छा का अभाव (त्याग) भी नहीं है। वेद को स्वीकार (ज्ञान) और वेदोक्त कर्म करना भी इच्छा से ही होता है ॥२॥

व्रतों की सङ्कल्पमूलता—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥

भाष्य—ततश्च यदुक्तं यागस्य कामेन विना न स्वरूपनिष्पत्तिरिति, तदनेन विस्पष्टं कृत्वा कथयति। **सङ्कल्पो** यागादीनां **मूलं**, कामस्य च। यागादींश्चिकीर्षन्नवश्यं सङ्कल्पं करोति। सङ्कल्पे च क्रियमाणे तत्कारणेन कामेन सन्निधातव्यमनिष्टेनापि। यथा पाकार्थिनो ज्वलनं कुर्वतस्तत्समानकारणो धूमोऽप्यनिष्टो जायते। तत्र न शक्यं यज्ञादयः करिष्यन्ते कामश्च न भविष्यतीति।

'अथ कोऽयं सङ्कल्पो नाम यः सर्वक्रियामूलम्'?

उच्यते। यच्चेतःसन्दर्शनं नाम यदनन्तरं प्रार्थनाध्यवसायौ क्रमेण भवतः। एते हि मानसा व्यापाराः सर्वक्रियाप्रवृत्तिषु मूलतां प्रतिपद्यन्ते। न हि भौतिका व्यापारास्तमन्तरेण सम्भवन्ति। तथाहि प्रथमं पदार्थस्वरूपनिरूपणम् 'अयं पदार्थ इमामर्थक्रियां साधयतीति यज्ज्ञानं स इह **सङ्कल्पो**ऽभिप्रेतः'। अनन्तरं प्रार्थना भवति इच्छा। सैव **कामः**। 'कथमहमिदमनेन साधयामीति' इच्छायां सत्यामध्यवस्यति करोमीति निश्चिनोति सोऽध्यवसायः। ततः साधनोपादाने बाह्यव्यापारविषये प्रवर्तते। तथाहि बुभुक्षित आदौ भुजिक्रियां पश्यति, तत इच्छति भुञ्जीयेति, ततोऽध्यवस्यति 'व्यापारान्तरेभ्यो विनिवृत्त्य भोजनं करोमीति,' ततः कर्मकारणस्थानाधिकारिण आह 'सज्जीकुरुत, रसवतीं सञ्चारयतेति'।

"नन्वेवं सति न यज्ञादयः सङ्कल्पमात्राद्भवन्ति अपि तु सङ्कल्पप्रार्थनाध्यवसायेभ्यः; तत्र किमुच्यते 'यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' इति।"

सङ्कल्पस्याद्यकारणत्वाददोषः। अत एवोत्तरत्र 'नाकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यत' इति वक्ष्यति।

व्रतानि मानसोऽध्यवसायो व्रतम्। 'इदं मया यावज्जीवं कर्तव्यमिति' यद्विहितम्। यथा स्नातकव्रतानि।

यमधर्माः प्रतिषेधरूपाः अहिंसादयः।

कर्तव्येषु प्रवृत्तिः निषिद्धेभ्यो निवृत्तिः नान्तरेण सङ्कल्पमस्ति ॥३॥

हिन्दी—इच्छा सङ्कल्पमूलक (इच्छा का मूल सङ्कल्प ही) है, यज्ञ सङ्कल्प से होते हैं और सब व्रत एवं (चतुर्थाध्याय में वक्ष्यमाण) यम आदि सङ्कल्प से ही होते हैं ॥३॥

क्रिया की काम-सापेक्षता—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

भाष्य—"पूर्वेण शास्त्रीये प्रवृत्तिनिवृत्ती सङ्कल्पाधीने व्याख्याते। अनेन लौकिकेषु कर्मसु तदधीनतोच्यत इति विशेषः। **नेह** लोके **कर्हिचित्क**दाचिदपि जाग्रदवस्थायां **क्रिया काचिद**नुष्ठेयत्वेनानिच्छतः सम्भवति। यत्किञ्चिल्लौकिकं वैदिकं वा कुरुते कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च तत्सर्वं **कामस्य चेष्टितम्**। हेतुत्वाच्चेष्टितं कमास्यैवेत्युक्तम्।

तदिदमतिसङ्कटम्—कामात्मता न प्रशस्ता, न चानया विना किञ्चिदनुष्ठानमस्ति" ॥४॥

हिन्दी—इस संसार में इच्छा के बिना किसी मनुष्य का कोई काम कभी भी नहीं देखा जाता है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब इच्छा की चेष्टा है (इच्छा के द्वारा ही करता है)॥४॥

तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते॥५॥

भाष्य—अत्र प्रतिविधत्ते— **तेषु** कामेषु **सम्यग्व**र्तितव्यम्। "का पुनः सम्यग्वृत्ति?"

यद्यथा श्रुतं तत्तथैवानुष्ठेयम्। नित्येषु फलं नाभिसन्धेयम्, अश्रुतत्वात्। काम्येषु त्वनिषेधः तेषां तथाश्रुतत्वात्। फलसाधनतयैव ताऽनि विधितोऽवगम्यन्ते। फलानिच्छो-स्तदनुष्ठानमश्रुतकरणं स्यात्। नित्येषु फलाभिसन्धिर्व्यामोह एव। न ह्यभिसन्धि-मात्रात्प्रमाणतोऽनवगते फलसाधनत्वे फलमुत्पद्यते।

एवं कुर्वन् **गच्छति** प्राप्नोत्य**मरलोकताम्**। अमराः देवाः तेषां लोकः स्वर्गः। तन्निवासात् अमरेषु लोकशब्दः स्थानस्थानिनोरभेदात् 'मञ्चाः क्रोशन्तीति' वत्। तेनायं समासः। अमराश्च ते लोकाश्च अमरलोकास्तद्भावः अमरलोकता। देवजनत्वं प्राप्नोति देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः। वृत्तानुरोधादेवमुक्तम्। अथवाऽमरांल्लोकयति पश्यत्यमरलोकः। 'कर्मण्यम्'। तदन्ताद्भावप्रत्ययः। (पाणिनि सू० ३।२।१)। देवदर्शी सम्पद्यते। अनेनापि प्रकारेण स्वर्गप्राप्तिरेवोक्ता भवति। अथवाऽमर इव लोक्यते लोके।

अर्थवादश्चायम्। नात्र स्वर्गः फलत्वेन विधीयते। नित्यानां फलाभावात्काम्यानां च नानाफलश्रवणात्। तेन स्वर्गप्राप्त्या शास्त्रानुष्ठानसम्पत्तिरेवोच्यते। लक्षणया यदर्थं कर्मणामनुष्ठानं तत्सम्पद्यत इत्यर्थः। तत्र नित्यानां प्रत्यवायानुत्पत्तिर्विध्यर्थसम्पत्तिर्वा प्रयोजनम्। काम्येषु तु **यथासङ्कल्पितान्** यथाश्रुतं सङ्कल्पितान्। प्रयोगकाले यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तत्सङ्कल्प्य अभिसन्धाय मनसा कामयित्वेदमहमतः फलं प्राप्नु-यामिति। ततः **सर्वान्कामान्** काम्यानर्थान् **समश्नुते** प्राप्नोति।

अतः परिहृता सङ्कटापत्तिः, यतो न सर्वविषयः कामो निषिध्यते, किं तर्हि, नित्येषु फलाभिलाषलक्षणः। साधनसम्पत्तिस्तु काम्यैव।

ब्रह्मवादिनस्तु सौर्यादीनां निषेधार्थं **कामात्मतेति** मन्यन्ते। फलार्थितया क्रियमाणा बन्धात्मका भवन्ति। निष्कामस्तु ब्रह्मार्पणन्यायेन कुर्वन्मुच्यते। तदुक्तं भगवता कृष्ण-द्वैपायनेन 'मा कर्म फलहेतुर्भूः' (भ०गी० २.४७)। तथा "साधनानामकृत्स्नत्वान्मौ-र्ख्यात्कर्मकृतस्तथा। फलस्य चभिसन्धानादपवित्रो विधिः स्मृतः" इति।

बहवश्चात्र व्याख्याविकल्पाः, असारत्वात्तु न प्रदर्शिताः॥५॥

हिन्दी—उन (शास्त्रोक्त) कर्मों में अच्छी तरह नियत मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता

है और इस संसार में इच्छानुसार सब कर्मों को प्राप्त करता है ।।५।।

[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः ।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ।।१।।]

[यदि तृष्णा से नष्ट बुद्धि वाला ईप्सित विषयों के लिए अवैधानिक अर्थात् यथेच्छ आचरण करता है, तो वह नरक जाता है और उसे ईप्सित फल भी नहीं मिलता है ।।१।।

[तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम् ।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ।।२।।]

इसलिए श्रुति और स्मृति में बताया हुआ काम्य कर्म यथाविधि करने से कल्याण के लिये होता है, अन्यथा नहीं ।।२।।]

धर्म के प्रमाण—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले[1] च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।६।।

भाष्य—पूर्वपक्षः—कोऽस्याभिसम्बन्धः । यावता धर्मोऽत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातः । स च विधिप्रतिषेधलक्षणः । तत्र न वेदस्य धर्ममूलता विधेया—'वेदो धर्ममूलत्वेन ज्ञातव्यो धर्मप्रामाण्य आश्रयणीयः,' अन्तरेणैवोपदेशं तत्सिद्धेः । न हि मन्वाद्युपदेशसमधिगम्यं वेदस्य धर्ममूलत्वम् । अपि तु अवाधितविषयप्रतीतिजनकत्वेनापौरुषेयतया च पुरुषसंसर्गदोषैरपि मिथ्याभिधानाशङ्काभावात्, स्वतश्च शब्दस्यादुष्टत्वात्प्रत्यक्षवत्स्वतःप्रामाण्यसिद्धिः । अथोच्यते—'न्यायतः सिद्धं वेदस्य प्रामाण्यमनूद्य मन्वादिस्मृतीनां तन्मूलता वचनेन ज्ञाप्यत इति'—तदपि न । तत्रापि पूर्वज्ञानसापेक्षत्वात्स्मरणस्य भ्रान्तिविप्रलम्भादीनां महाजनपरिग्रहादिना निरस्तत्वादतीन्द्रियार्थदर्शनस्याशक्यभावाच्च पुरुषस्य च स्वानुभवसिद्धेर्वेदार्थस्मरणस्य वेदमूलतैवावशिष्यते । न हि वेदविदां कार्यार्थविषयं स्मरणं सम्भवति । वेदस्य च मूलत्वेन मूलान्तरकल्पनाया अनवसरः ।

नाप्येतद्युज्यते वक्तुम्—'स्मृतिशीले च तद्विदामित्येतदप्यनूद्यते, बाह्यस्मृतिनामप्रामाण्याय'—यतस्तासां न्यायत एव सिद्धमप्रामाण्यम् । न हि शाक्यभोजकक्षपणकादीनां वेदसंयोगसम्भवो येन तन्मूलतया प्रमाणं स्युः, स्वयमनभ्युपगमात्, तैश्च वेदस्याप्रमाण्याभिधानात् । प्रत्यक्षवेदविरुद्धार्थोपदेशाच्च तत्रासम्भवः, तासु स्मृतिषु

---

१. तदुक्तं हारीतेन— 'ब्रह्मण्यता, पितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोऽपतापिता अनसूयता, मृदुता, अपारुष्यं, मित्रता, प्रियवादित्वं, कृतज्ञता, शरणयता, कारुण्यं, प्रशान्ति'श्चेति त्रयोदशविधं शीलमीति। - म०मु०

वेदाध्ययननिषेधात्। सति हि वेदाध्येतृत्वे बुद्धादीनां तन्मूलता स्यान्न वेति जायते विचारणा। यत्र तु तत्सम्बन्धो दूरापेतस्तत्र का तन्मूलताशङ्का। स्वयं च मूलान्तरं परम्परायातमभ्युपगच्छन्ति–'पश्याम्यहं भिक्षुकानां दिव्येन चक्षुषा सुगतिं दुर्गतिं च'। एवं सर्व एव बाह्या भोजकपाञ्चरात्रिकनिर्ग्रन्थानार्थवादपाशुपतप्रभृतयः स्वसिद्धान्तानां प्रणेतृन्पुरुषातिशयान् देवताविशेषांश्च प्रत्यक्षतदर्थदर्शिनोऽभ्युपयन्ति, न वेदमूलमपि, धर्ममभिमन्यन्ते। प्रत्यक्षेण च वेदेन विरुद्धास्तत्रार्था उपदिश्यन्ते। तथाहि हिंसा चेद्धर्म उच्यते संसारमोचकादिभिः, सा चात्र प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा। तथाऽन्यत्र तीर्थस्नानमधर्मोऽभ्युपेयते, इह त्वहरहः स्नानात्तीर्थानि सेवेतेति च विधिः। तथाऽग्निष्टोमीयवधः क्वचित्पापहेतुरिष्यते, स च ज्योतिष्टोमविधिना विरुद्धः। तथाऽन्ये सर्वानेव यागहोमानात्मार्थान्सम्मन्यन्ते, देवताभेदविधिभिर्नानादैवत्यास्तेऽवगमिताः। अतो विरोधः।

येऽप्याहुः—ग्रहणाग्रहणवदुदितानुदितहोमकालवत्प्रत्यक्षश्रुतिविरोधदर्शनात् स्यात्सम्भवः शाखान्तरस्योच्छिन्नस्यानुच्छिन्नस्य वा तद्विरुद्धार्थविधिपरस्य। अनन्ता हि वेदशाखाः। ताः कथमेकस्य प्रत्यक्षाः। उत्साहश्च सम्भवतीति। तत्र स्यात्तादृशी वेदशाखा यस्यामयं नरास्थिपात्रभोजननग्नचर्मादिरुपदिष्टो भवेत्।

उच्यते—न वयं ब्रूमः वेदे विरुद्धार्थोपदेशासम्भव इति। किन्तु समकक्षत्वात्तयोर्विकल्पितप्रयोगयोरव्याघातः। इह तु कल्प्यो वेदः। न च प्रत्यक्षविरोधिकल्पनाया अवसरः। न च सम्भवमात्रेण तावता निश्चयः। निश्चितस्तु तद्विरुद्धप्रत्यक्षविधिः। अनिश्चितेन न वा निश्चितं बाध्यते। शाखोत्सादपक्षं चात्रैव श्लोके परस्तात्प्रपञ्चयिष्यामः। सर्वत्र च प्रत्यक्षश्रुतिभिर्मन्वादिस्मृतीनां व्यतिषङ्गः। क्वचिन्मन्त्रेण क्वचिद्देवतया क्वचिद्द्रव्यविधिभिः। न च बाह्यासु तत्सम्भवतीति तासामप्रामाण्यम्।

एवमाचारस्यापि वेदविद्भिरदृष्टार्थतयाऽऽचर्यमाणस्य स्मृतिवदेव प्रामाण्यं मूलसम्भवात्। असाध्वाचारस्यापि दृष्टकारणादिसम्भवादविदुषां च भ्रान्त्यादिसम्भवादप्रामाण्यम्।

एवमात्मनास्तुष्टेरपि।

यदि च वेदस्मृत्याचाराणां मन्वाद्युपदेशसमधिगम्यं प्रामाण्यं मन्वादीनां कथम्। तत्राप्युपदेशान्तरात् स्मार्तश्च मनुरब्रवीदित्यादेः। तत्र कथम्। तस्मादिदं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति युक्तित एतदवसेयम् नोपदेशतः। तथाचायमनर्थकः श्लोकः। एतत्समानरूपा उत्तरेऽपि।

सिद्धान्तः। अत्रोच्यते। इह ये धर्मसूत्रकारा अव्युत्पन्नपुरुषव्युत्पादनार्थं पदार्थ-

सम्पादनपरतयाग्रन्थसन्दर्भानारभन्ते तत्र यथैवाष्टकादीनां वेदात्स्वयं कर्तव्यतामवगम्य परावबोधनार्थमुपनिबन्धः, एवं प्रमाणान्तरसिद्धस्य वेदप्रामाण्यादेः । सन्ति केचित्प्रतिपत्तारो ये न्यायतस्तत्त्वविवेचनासमर्था ऊहापोहादिरूपबुद्ध्यभावात् । तान्प्रति न्यायसिद्धोऽप्यर्थः सुहृदुपदेशवदुपदिश्यते । तत्र यन्न्यायतः सिद्धं वेदस्य धर्ममूलत्वं तदेवानेनानूद्यते । **वेदो धर्ममूलम्** । धर्मस्य मूलत्वेन वेदो विचार्य युक्त्या सिद्धो नात्राप्रामाण्यशङ्का कर्तव्या । भवन्ति च लोके शङ्का प्रमाणान्तरसिद्धानामर्थानामुपदेष्टारः । 'न त्वयाऽजीर्णे भोक्तव्यमजीर्णप्रभवा हि रोगाः' । न चैतद्वक्तव्यम्,—"ये न्यायतो वेदस्य धर्ममूलत्वं न शक्नुवन्ति प्रतिपत्तुं ते वचनादपि न प्रत्येष्यन्ति" । यतो दृश्यते य आप्तत्वेन प्रसिद्धास्तदीयं वचनमविचार्यैव केचन प्रमाणयन्ति । तदेवं सर्वमिदं प्रकरणं न्यायमूलं, न वेदमूलम् । अन्यत्रापि व्यवहारस्मृत्यादौ यत्र न्यायमूलता तत्र यथावसरं दर्शयिष्यामः। अष्टकादीनां यथा वेदमूलता तथाऽत्रैव निर्दिश्यते।

वेदशब्देनर्ग्यजुःसामानि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते । तानि चाध्येतॄणां वाक्यान्तरेभ्यः प्रसिद्धभेदानि । उपदेशपरम्परासंस्कृता अध्येतारः श्रुत्वैव वेदोऽयमिति प्रतिपद्यन्ते यथा ब्राह्मणोऽयमिति । तत्र वाक्यसमूहेऽपि 'अग्निमीले' 'अग्निर्वैदेवानामवम' इत्यादौ 'संसमिद्युवसे' 'अथ महाव्रतमि'त्यन्ते, वेदशब्दः प्रयुज्यते; तदवयवभूतेषु केवलेषु वाक्येष्वपि । न च ग्रामादिशब्दवद्गौणमुख्यता विद्यते । तत्र समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इत्येष न्यायः । ग्रामशब्दो हि प्रसिद्धभूयिष्ठप्रयोगः समुदाय एव, 'ग्रामो दग्ध' इत्यादिपदसम्बन्धात्तदवयवे वर्तते । कतिपयशालादाहेऽपि लौकिका 'ग्रामो दग्ध' इति प्रयुञ्जते । अथवा तत्रापि समुदायवचन एव । दाहस्त्वेकदेशवर्ती समुदायसम्बन्धितया व्यपदिश्यते । अवयवद्वारक एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धः । एष एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धो योऽवयवानाम् । न ह्यवयवान् परिहाप्य समुदायो द्रष्टुं स्प्रष्टुं वा शक्यते ।

व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः । विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति 'वेदः'। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद्भवति, न यावानृग्वेदादिशब्दवाच्योऽध्यायानुवाकसमूहः। एवं चोदाहरणे जिह्वाच्छेद इत्येकवाक्यविषयोऽप्ययं दण्डः । कृत्स्नोऽधिगन्तव्य इति कृत्स्नग्रहणं सकलवेदवाक्याध्ययनप्राप्त्यर्थम् । अन्यथा कतिचिद्वाक्यान्यधीत्य कृती स्यात्, न पुनः कृत्स्नं वेदम् इति । अत्रैतन्निरूपयिष्यामः ।

स च वेदो बहुधा भिन्नः । सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्रिराणायनीयादिभेदेन; एकशतमध्वर्यूणां, काठकवाजसनेयकादिभेदेन; एकविंशतिबाहवृच्या आश्वलायनैतरेयादिभेदेन; नवधा आथर्वणं मोदकपैप्पलादकादिभेदेन ।

"ननु नैव केचिदाथर्वणं वेदं मन्यन्ते यतः 'त्रयी विद्या ऋचः सामानि यजूंषीति'

'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' । तथा 'त्रैवेदिकं व्रतं चरेरि'त्यादौ न क्वचिदाथर्वणनामाप्यस्ति' । प्रतिषेधश्च श्रूयते 'तस्मादाथर्वणेन न शंसेदिति' । अतस्त्रयीवाह्यानाथर्वणिकान्पाषण्डिनः प्रतिजानते'' ।

तद्युक्तम् । अविगानेन शिष्टानां वेदव्यवहारात् । 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीरित्यत्रापि व्यवहारः । श्रुतिर्वेद इत्येकोऽर्थः । न च वेदशब्दवाच्यताऽग्निहोत्रादिवाक्यानामपि धर्मप्रमाण्ये कारणम् । इतिहासायुर्वेदयोरपि वेदव्यवहारदर्शनात् 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति' । किं तर्हि अपौरुषेयत्वे सत्यनुष्ठेयार्थावबोधकत्वाद् विपर्ययाभावाच्च । तच्चाथर्ववेदेऽपि सर्वमस्ति, ज्योतिष्टोमादिकर्मणां यजुर्वेदादिष्विव तत्राप्युपदेशात् । अभिचारमूलककर्मणां बाहुल्येन तत्रोपदेशादवेदत्वमिति विभ्रमः केषाञ्चित् । अभिचारा हि परप्राणवियोगफलत्वात्प्रतिषिद्धाः; आथर्वणिकैश्च त एव प्राधान्येनानुष्ठीयन्ते राजपुरोहितैरतस्ते निन्द्यन्ते । यत्तु ''वेदैरशून्य'' इत्यादावथर्ववेदस्यानिर्देश इति । अर्थवादा एते । किं तत्र निर्देशेनानिर्देशेन वा । मन्त्रभेदाभिप्रायं वैतद्वचनं त्रयो वेदास्त्रयी विद्येत्यादि । न हि चतुर्थं मन्त्रजातमस्ति ऋग्यजुःसामव्यतिरेकेण । प्रैषनिविन्निगदेन्द्रगाथादीनामत्रैवान्तर्भावात् । अथर्ववेदे चर्चएव मन्त्रत्वेन समाम्नाताः । अत ऋग्वेद एवायं मन्त्राभिप्रायेण । यस्तु प्रतिषेधः स विपरीतसाधनः प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधोपपत्तेः । अयं वाऽस्यार्थः । अथर्ववेदाधीतैर्मन्त्रैस्त्रैवेदिकं कर्म न मिश्रयेत् । वाचः स्तोमे सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि विनियुक्तानि तत्राथर्ववेदाधीतानां प्रतिषेधः ।

स वेदो विशिष्टः शब्दराशिरपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणाख्योऽनेकशाखाभेदभिन्नः धर्मस्य **मूलं** प्रमाणं परिज्ञाने हेतुः । कारणं मूलम् । तच्च वेदस्मृत्योर्धर्मप्रतिज्ञापकतयैव, न निर्वर्तकतया न च स्थितिहेतुतया, वृक्षस्येव ।

धर्मशब्दश्च प्राग् व्याख्यातः । यत्पुरुषस्य कर्तव्यं प्रत्यक्षाद्यवगम्यविलक्षणेन स्वभावेन श्रेयःसाधनम् । कृषिसेवादि भवति पुरुषस्य कर्त्तव्यं, तस्य च तत्साधनत्वस्वभावोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । यादृशेन व्यापारेण कृष्यादेर्व्रीह्यादिसिद्धिः साऽपि प्रत्यक्षाद्यवगम्यैव । यागादेस्तु साधनत्वम् येन च रूपेणापूर्वोत्पत्तिर्व्यवधानादिना तत्र प्रत्यक्षाद्यवगम्यम् । श्रेयश्चाभिलषितस्वर्गग्रामादिफलप्राप्तिः सामान्यतः सुखशब्दवाच्या । व्याधिनिर्धनत्वासौख्यनरकादिफलप्राप्तिः सामान्यतो दुःखशब्दवाच्या तत्परिहारश्च । अन्ये तु परमानन्दादिरूपं 'श्रेयः' ।

अयं धर्मो ब्राह्मणवाक्येभ्योऽवगम्यते लिङादियुक्तेभ्यः । क्वचिच्च मन्त्रेभ्योऽपि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभत' इत्येवमादिभ्यः ।

तत्र कामपदयुक्तानि वाक्यानि फलार्थमनुष्ठानमवगमयन्ति । 'सौर्यं चरुं निर्वपेद्

सम्पादनपरतयाग्रन्थसन्दर्भानारभन्ते तत्र यथैवाष्टकादीनां वेदात्स्वयं कर्तव्यतामवगम्य परावबोधनार्थमुपनिबन्धः, एवं प्रमाणान्तरसिद्धस्य वेदप्रामाण्यादेः । सन्ति केचित्प्रतिपत्तारो ये न्यायतस्तत्त्वविवेचनासमर्था ऊहापोहादिरूपबुद्ध्यभावात् । तान्प्रति न्यायसिद्धोऽप्यर्थः सुहृदुपदेशवदुपदिश्यते । तत्र यन्न्यायतः सिद्धं वेदस्य धर्ममूलत्वं तदेवानेनानूद्यते । **वेदो धर्ममूलम्** । धर्मस्य मूलत्वेन वेदो विचार्य युक्त्या सिद्धो नात्राप्रामाण्यशङ्का कर्तव्या । भवन्ति च लोके शङ्का प्रमाणान्तरसिद्धानामर्थानामुपदेष्टारः । 'न त्वयाऽजीर्णे भोक्तव्यमजीर्णप्रभवा हि रोगाः' । न चैतद्वक्तव्यम्,—"ये न्यायतो वेदस्य धर्ममूलत्वं न शक्नुवन्ति प्रतिपत्तुं ते वचनादपि न प्रत्येष्यन्ति" । यतो दृश्यते य आप्तत्वेन प्रसिद्धास्तदीयं वचनमविचार्यैव केचन प्रमाणयन्ति । तदेवं सर्वमिदं प्रकरणं न्यायमूलं, न वेदमूलम् । अन्यत्रापि व्यवहारस्मृत्यादौ यत्र न्यायमूलता तत्र यथावसरं दर्शयिष्यामः। अष्टकादीनां यथा वेदमूलता तथाऽत्रैव निर्दिश्यते।

वेदशब्देनर्ग्यजुःसामानि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते । तानि चाध्येतॄणां वाक्यान्तरेभ्यः प्रसिद्धभेदानि । उपदेशपरम्परासंस्कृता अध्येतारः श्रुत्वैव वेदोऽयमिति प्रतिपद्यन्ते यथा ब्राह्मणोऽयमिति । तत्र वाक्यसमूहेऽपि 'अग्निमीले' 'अग्निर्वैदेवानामवम' इत्यादौ 'संसमिद्युवसे' 'अथ महाव्रतमि'त्यन्ते, वेदशब्दः प्रयुज्यते; तदवयवभूतेषु केवलेषु वाक्येष्यपि । न च ग्रामादिशब्दवद्गौणमुख्यता विद्यते । तत्र समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इत्येष न्यायः । ग्रामशब्दो हि प्रसिद्धभूयिष्ठप्रयोगः समुदाय एव, 'ग्रामो दग्ध' इत्यादिपदसम्बन्धात्तदवयवे वर्तते । कतिपयशालादाहेऽपि लौकिका 'ग्रामो दग्ध' इति प्रयुञ्जते । अथवा तत्रापि समुदायवचन एव । दाहस्त्वेकदेशवर्ती समुदायसम्बन्धितया व्यपदिश्यते । अवयवद्वारक एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धः । एष एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धो योऽवयवानाम् । न ह्यवयवान्परिहाप्य समुदायो द्रष्टुं स्प्रष्टुं वा शक्यते ।

व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः । विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति 'वेदः'। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद्भवति, न यावानृग्वेदादिशब्दवाच्योऽध्यायानुवाकसमूहः। एवं चोदाहरणे जिह्वाच्छेद इत्येकवाक्यविषयोऽप्ययं दण्डः । कृत्स्नोऽधिगन्तव्य इति कृत्स्नग्रहणं सकलवेदवाक्याध्ययनप्राप्त्यर्थम् । अन्यथा कतिचिद्वाक्यान्यधीत्य कृती स्यात्, न पुनः कृत्स्नं वेदम् इति । अत्रैतन्निरूपयिष्यामः ।

स च वेदो बहुधा भिन्नः । सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्रिराणायनीयादिभेदेन; एकशतमध्वर्यूणां, काठकवाजसनेयकादिभेदेन; एकविंशतिबाहवृच्या आश्वलायनैतरेयादिभेदेन; नवधा आथर्वणं मोदकपैप्पलादकादिभेदेन ।

"ननु नैव केचिदाथर्वणं वेदं मन्यन्ते यतः 'त्रयी विद्या ऋचः सामानि यजूंषीति'

'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' । तथा 'त्रैवेदिकं व्रतं चरेरि'त्यादौ न क्वचिदाथर्वणनामाप्यस्ति' । प्रतिषेधश्च श्रूयते 'तस्मादाथर्वणेन न शंसेदिति' । अतस्त्रयीवाह्यानाथर्वणिकान्पाषण्डिनः प्रतिजानते'' ।

तद्युक्तम् । अविगानेन शिष्टानां वेदव्यवहारात् । 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीरित्यत्रापि व्यवहारः । श्रुतिर्वेद इत्येकोऽर्थः । न च वेदशब्दवाच्यताऽग्निहोत्रादिवाक्यानामपि धर्मप्रमाण्ये कारणम् । इतिहासायुर्वेदयोरपि वेदव्यवहारदर्शनात् 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति' । किं तर्हि अपौरुषेयत्वे सत्यनुष्ठेयार्थावबोधकत्वाद् विपर्ययाभावाच्च । तच्चाथर्ववेदेऽपि सर्वमस्ति, ज्योतिष्टोमादिकर्मणां यजुर्वेदादिष्विव तत्राप्युपदेशात् । अभिचारमूलककर्मणां बाहुल्येन तत्रोपदेशादवेदत्वमिति विभ्रमः केषाञ्चित् । अभिचारा हि परप्राणवियोगफलत्वात्प्रतिषिद्धाः; आथर्वणिकैश्च त एव प्राधान्येनानुष्ठीयन्ते राजपुरोहितैरतस्ते निन्द्यन्ते । यत्तु ''वेदैरशून्य'' इत्यादावथर्ववेदस्यानिर्देश इति । अर्थवादा एते । किं तत्र निर्देशेनानिर्देशेन वा । मन्त्रभेदाभिप्रायं वैतद्वचनं त्रयो वेदास्त्रयी विद्येत्यादि । न हि चतुर्थं मन्त्रजातमस्ति ऋग्यजुःसामव्यतिरेकेण । प्रैषनिविन्निगदेन्द्रगाथादीनामत्रैवान्तर्भावात् । अथर्ववेदे चर्चएव मन्त्रत्वेन समाम्राताः । अत ऋग्वेद एवायं मन्त्राभिप्रायेण । यस्तु प्रतिषेधः स विपरीतसाधनः प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधोपपत्तेः । अयं वाऽस्यार्थः । अथर्ववेदाधीतैर्मन्त्रैस्त्रैवेदिकं कर्म न मिश्रयेत् । वाचः स्तोमे सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि विनियुक्तानि तत्राथर्ववेदाधीतानां प्रतिषेधः ।

सा वेदो विशिष्टः शब्दराशिरपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणाख्योऽनेकशाखाभेदभिन्नः धर्मस्य **मूलं** प्रमाणं परिज्ञाने हेतुः । कारणं मूलम् । तच्च वेदस्मृत्योर्धर्मप्रतिज्ञापकतयैव, न निर्वर्तकतया न च स्थितिहेतुतया, वृक्षस्येव ।

धर्मशब्दश्च प्राग् व्याख्यातः । यत्पुरुषस्य कर्तव्यं प्रत्यक्षाद्यवगम्यविलक्षणेन स्वभावेन श्रेयःसाधनम् । कृषिसेवादि भवति पुरुषस्य कर्त्तव्यं, तस्य च तत्साधनत्वस्वभावोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । यादृशेन व्यापारेण कृष्यादेर्व्रीह्यादिसिद्धिः साऽपि प्रत्यक्षाद्यवगम्यैव । यागादेस्तु साधनत्वम् येन च रूपेणापूर्वोत्पत्तिर्व्यवधानादिना तत्र प्रत्यक्षाद्यवगम्यम् । श्रेयश्चाभिलषितस्वर्गग्रामादिफलप्राप्तिः सामान्यतः सुखशब्दवाच्या । व्याधिनिर्धनत्वासौख्यनरकादिफलप्राप्तिः सामान्यतो दुःखशब्दवाच्या तत्परिहारश्च । अन्ये तु परमानन्दादिरूपं 'श्रेयः' ।

अयं धर्मो ब्राह्मणवाक्येभ्योऽवगम्यते लिङादियुक्तेभ्यः । क्वचिच्च मन्त्रेभ्योऽपि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभत' इत्येवमादिभ्यः ।

तत्र कामपदयुक्तानि वाक्यानि फलार्थमनुष्ठानमवगमयन्ति । 'सौर्यं चरुं निर्वपेद्

ब्रह्मवर्चसकामो' 'वैश्वदेवींसाङ्ग्रहिणीं निर्वपेद्ग्रामकाम' इति। तानि फलमनिच्छता न क्रियन्ते। अन्यानि यावज्जीवादिपदैर्नित्यतया समर्पितानि। तानि न फलहेतोरनुष्ठीयन्ते, फलस्याश्रुतत्वात्। न च "विश्वजिता यजेते"त्यादिवदश्रुतफलत्वेऽपि फलकल्पना। यतो यावज्जीवादिपदैर्विनैव फलेन कर्तव्यतयाऽवगम्यन्ते। तत्रकरणे शास्त्रार्थातिक्रमदोषः। तत्र तत्परिहारार्थं तानि क्रियन्ते। प्रतिषेधानामपि, 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया' इत्येषैव वार्ता। न हि फलार्थं प्रतिषिद्धवर्जनमपि तु प्रत्यवायपरिहारार्थम्।

अखिलः कृत्स्नः। न किञ्चित्पदं वर्णो मात्रा वा यन्न धर्माय।

अत्र चोदयन्ति। ननु च विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मको वेदः। धर्मश्च कर्तव्यतास्वभाव इत्युक्तम्। तत्र युक्तं यद्विधिवाक्यानि धर्मे प्रमाणं स्युः। तेभ्यो हि यागादिविषया कर्तव्यता प्रतीयते। 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' 'स्वर्गकामो जुहोतीति'। अत्र ह्यग्निहोत्राख्यं कर्म कर्तव्यतया प्रतीयते। 'दध्नेति' तत्रैव द्रव्यम्। 'यदग्नये चेति' देवता। 'स्वर्गकाम' इत्यधिकारः। यत्तु "अग्निर्वै सर्वा देवता अग्निरेव दैव्यो होता स देवानाह्वयति च जुहोति च" इत्यादयः, तथा "प्रजापतिर्वपामात्मन उदखिदत्" इत्यादयः, न तैः किञ्चित्कर्तव्यमुपदिश्यते। केवलं पुरावृत्तमन्यद्वाऽसाम्प्रतिकं भूतमनुवदन्ति। प्रजापतिना पुरा आत्मनो वपोत्खाता। उत्खिदतु—किमस्माकमेतेना? तथाऽग्नेरपि सर्वदेवतात्मत्वं नाग्नेयकर्मण्युपयुज्यते। अग्निशब्देनोद्देशार्थनिवृत्तेः। अन्यदेवत्वेऽन्यत्वादग्नेरुद्देश एव नास्ति। आवाहनस्यापि वचनान्तरेण "अग्निमग्न आवहे"त्यादिना विहितत्वात्। 'स देवानाह्वयति च जुहोति'चेत्यादिरनर्थकः। मन्त्रा अपि "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" "सुदेवो अद्य पतेदनावृत्" इत्यादयो भाववृत्तपरिदेवनादिरूपार्थाभिधायिनः कं धर्मं प्रमिमते? तस्मिन् काले न मृत्युर्जातो नाप्यमृतं जीवितं, प्राक् सृष्टेर्भूतानामनुत्पन्नत्वान्न कस्यचिज्जीवितमासीन्नापि मृत्युः; प्रलये सर्वेषां मृतत्वाद्भवतु वा मृत्युर्मा वा; न किञ्चिदेतेन कर्तव्यमुपदिष्टं भवति। एवं सुदेवोऽसौ महापुण्यो, देवतुल्यो मनुष्यो योऽद्य प्रपतेच्छ्वभ्र आत्मानं क्षिपेदनावृदावृत्तिः प्रत्युज्जीवनं यस्मात्प्रपातान्न भवति। उर्वश्याविप्रलब्धाः पुरूरवाः परिदेवयाञ्चक्रे। तथा नामधेयम् "उद्भिदा यजेत' 'बलभिदा यजेत" इत्यादि, न कस्याचिदर्थस्य क्रियाया द्रव्यस्य वा विधायकमाख्यातेन क्रियाया विधानादद्रव्यवचनत्वाच्च बलभिदादेः। सोमस्य वा व्यक्तचोदनत्वेन प्रकृतितः प्राप्तत्वान्न क्लेशेन द्रव्यवचनता कल्प्यते। तस्मान्नाम्ना न धर्म उपदिश्यते। अतः कथमुच्यते कृत्स्नो वेदो धर्ममूलमिति।

उच्यते। अनयैवाशङ्कयाऽखिलग्रहणं कृतम्, यतः सर्वेषामेतेषां धर्मप्रतिपादनपरत्वम्।

तथा ह्यर्थवादा नैव विधायकेभ्यो वाक्येभ्यः पृथगर्थाः येन धर्मं न प्रमिमीरन्। विभज्य मानसाकाङ्क्षत्वे विधिपरत्वावगमात्, तत्परत्वे च सिद्धायामेकवाक्यतायां, यथा तदर्थानुगुण्यं प्रतिपद्यन्ते तथा व्याख्येयाः। अतः प्रजापतेर्वपोत्खादनवचनं न स्वार्थ-निष्ठम् किं तर्हि विधिशेषम्। न च विधेयं द्रव्यगुणादि अर्थवादेभ्यः प्रतीयत इति प्रकारान्तरेण विधेयार्थस्तावकत्वेन तच्छेषतां प्रतिपद्यन्ते। तदपि तत्र प्रतीयत एव। इत्थं नाम पशुयागः कर्तव्यो यदसत्सु पशुषु गत्यन्तराभावात्प्रजापतिनाऽऽत्मैव पशु-त्वेन कल्पितो वपा चोत्खिन्ना। यतस्तत्सहितान्येव विधायकानि यत्रार्थवादाः सन्ति। यद्यपि तैर्विनाऽपि भवति विध्यर्थावगतिः, विध्युद्देशादेव ''वसन्ताय कपिञ्जलाना-लभत'' इति, तथापि न तेषामानर्थक्यम्। तेषु हि सत्सु न केवलादवगतिः। न च केनचित्कृते वेदो येनोच्यते 'यथाऽन्यत्र न सन्ति तथात्रापि मा भूवन्'। सत्स्वर्थवा-देष्वस्माभिर्गतिर्वक्तव्या। सा चौक्ता। न चायमलौकिकोऽर्थः। लोकेऽपि हि स्तुति-पदानि दृश्यन्ते विधिशेषभूतान्येव। यथा भृतिदाने प्रवृत्तस्य स्वामिनः कश्चिद्भृतकः प्रीत्याऽऽचष्टे साधुर्देवदत्तो नित्यसन्निहितः परिचर्याभूमिज्ञस्तत्परश्चेति। अतो विधेयार्थ-स्तुतिद्वारेणार्थवादा विधायका एव। तथा क्वचिदर्थवादादेव विधेयविशेषावगतिः। यथा ''अक्ताः शर्करा उपदधाति''। अत्र ह्यञ्जनसाधनं सर्पिस्तैलादि यत्किञ्चिद्विधिना-ऽपेक्षितम्। ''तेजो वै घृतम्'' इत्यर्थवादे घृतस्तुत्या घृतमध्यवसीयते। ''एवं प्रति-तिष्ठन्ति य एता रात्रीरुपयन्तीति'' रात्रिष्वर्थवादादधिकारावगमः। तस्मादर्थवादा अपि धर्ममूलम्।

मन्त्रास्तु केचिद्विधायका एव। यथा ''वसन्ताय कपिञ्जलानिति''। आधारे देव-ताविधिर्मान्त्रवर्णिक एव। न हि तत्र देवता कर्मोत्पत्तिवाक्ये श्रुता नापि वाक्यान्तरेण विहिता। मन्त्रस्तु विहितो नियुक्तः ''इत इन्द्र'' इत्यादिः। अतोऽस्मान्मन्त्रवर्णाद्देवता-प्रतिपत्तिः। सहस्रशश्च मान्त्रवर्णिका देवताविधयः सन्ति। येऽप्यन्ते क्रियमाणानुवादिन-स्तेऽपि स्मृतिलक्षणं धर्ममेव बुद्धं कुर्वन्तीति भवन्ति धर्ममूलमनुष्ठेयार्थप्रकाशनेन।

नाम त्वाख्यातार्थादभिन्नार्थमाख्यातार्थवत्सुप्रसिद्धधर्ममूलभावम्। गुणविधयश्च प्रायशो नामाश्रय एव। ''शरदि वाजपेयेन यजेत स्वाराज्यकामो वाजपेयेनेति''।

तस्मात्सिद्धं कृत्स्नस्य वेदस्य धर्ममूलत्वम्।

अन्ये तु श्येनादिवाक्यानां धर्मोत्पत्तिमत्त्वाभावमाशङ्कमाना निषेधानां च ''न लशुनं भक्षयेदि''त्यादीनामखिलग्रहणं मन्यन्ते।

''अभिचारा हि श्येनादयो मारणात्मानो हिंसारूपाः। क्रूरत्वाच्च हिंसाया अभि-चाराणां च प्रतिषेधादधर्मत्वम्। अतो न कृत्स्नो वेदो धर्ममूलम्। कर्तव्यश्च धर्म उक्तः।

ब्रह्महत्यादिश्च न कर्तव्यः । अतः कथं तद्वाक्यानि धर्ममूलं स्युः ? किञ्च येऽपि पशु-याग अग्नीषोमीयादयस्तेऽपि हिंसासाधकत्वाद्दूरापेतधर्मभावाः । हिसा हि पापमिति सर्वप्रवादेष्वभ्युपगमः । उक्तं च 'यत्र प्राणिवधो धर्मअधर्मस्तत्र कीदृशः''।

कथं पुनरियमाशङ्काऽपनुद्यते? अखिलग्रहणात् । न ह्यस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति । हेतुर्नोक्त इतिचेदागमग्रन्थोऽयं सिद्धमर्थमाह । हेत्वर्थिनो मीमांसातो विनीयन्ते । अस्मा-भिरुक्तं य आगममात्रेण प्रतियन्ति तान्प्रत्येतदुच्यते ।

विवरणकारास्तु युक्तिलेशमात्रं दर्शयन्ति । यदुक्तं श्येनादयः प्रतिषिद्धत्वादधर्म इतितत्सत्यम् । तथापि प्रतिषिद्धेष्वपि तेषु योऽत्यन्तप्रवृद्धद्वेषो न हिंस्याद्भूतानीत्यति-क्रान्तनिषेधाधिकारस्तस्य ते शत्रुवधलक्षणां प्रीतिमनुष्ठीयमानां निर्वर्तयन्तीत्येतावता-ऽशेन वेदस्य धर्ममूलत्वं श्येनादिवाक्येष्वपि न विहन्यते । निषेधेष्वपि यो रागतः प्रवृत्तो हनने स निषेधे नियुज्यते । एतदेव निषेधस्यानुष्ठानं यन्निषिध्यमानस्याननु-ष्ठानम् । अग्नीषोमीयादौ तु नैव हिंसाप्रतिषेधोऽस्ति द्वेषलक्षणाया लौकिक्या हिंसाया निषेधेन निषिद्धत्वात् । शास्त्रीया तु विधिलक्षणा न निषेधेन विषयीक्रियते, लौकिक्यां चरितार्थत्वान्निषेधस्य । न च सामान्यतोदृष्टेन हिंसात्वाल्लौकिकहिंसावद्वैदिक्याः पाप-हेतुत्वमापादयितुं शक्यते । यतो न हिंसात्वं पापहेतुत्वे कारणम् अपि तु प्रतिषेधेन विषयीकरणम् । न चात्र प्रतिषेधोऽस्तीत्युक्तम् ।

कैश्चित्तु मूलशब्दः कारणपर्यायो व्याख्यायते । धर्मस्य वेदो मूलं प्रतिष्ठाकारणं साक्षात्प्रणाड्या च । 'स्वाध्यायमधीयीत' 'ऋग्वेदं धारयन्विप्र' इत्यादि चोदनासु साक्षात् । अग्निहोत्रादिकर्मस्वरूपज्ञापकतया प्रणाड्या ।

स्मृतिशीले च तद्विदाम् । अनुभूतार्थविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते । **तच्छ**ब्देन वेदः प्रत्यवमृश्यते । तं विदन्ति **तद्विदः** । वेदार्थविदामिदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति यत्स्मरणं तदपि प्रमाणम् ।

''ननु च स्मृतिर्न प्रमाणमित्याहुः । सा हि पूर्वप्रमाणावगतप्रमेयानुवादिनी नाधिकमर्थं परिच्छिनत्तीति वदन्ति'' ।

सत्यम् । ये स्मरन्ति तेषामाद्यमेव तत्र शब्दादि प्रमाणं नात्मीया स्मृतिः । अस्माकं तु मन्वादिस्मृतिरेव प्रमाणम् । नहि वयं तामन्तरेणान्यतोऽष्टकादिकर्तव्यतामवगच्छामः । तच्च मन्वादीनामीदृशं स्मरणं तत्कृतेभ्यो वाक्येभ्यः स्मृतिपरम्परायातेभ्योऽवसीयते । तस्माच्च स्मरणादनुभूतोऽयमर्थः प्रमाणेन मन्वादिभिरिति निश्चिनुमो, यत एते स्मरन्ति, नह्यननुभूतस्य स्मरणोपपत्तिः ।

''ननु कल्पयित्वा ग्रन्थमुपनिबध्नीयुरननुभूयैव केनचित् प्रमाणेन । यथोत्पाद्य

वस्तु कथानकं केचन कवय: कथयेयु:''।

अत्रोच्यते। भवेदेवं यद्यत्र कर्तव्यतोपदेशो न स्यात्। कर्तव्यतोपदेशो ह्यनुष्ठा-नार्थ:। न च केचित्स्वेच्छया कल्पिते बुद्धिपूर्वव्यवहारिणोऽनुष्ठातुमर्हन्ति।

''भ्रान्त्याऽप्यनुष्ठानसिद्धिरिति'' चेत्। स्यादप्येकस्य भ्रान्ति:, सर्वस्य जगतो भ्रान्तिर्यावत्संसारभाविनी चेत्यलौकिकी कल्पना। न च सम्भवति मन्वादीनां वेद-मूलत्वे भ्रान्त्यादेरवसर:। अत एव प्रत्यक्षतो मन्वादयो धर्मान्ददृशुरिति नाभ्युप-गम्यते। इन्द्रियैरर्थानां सन्निकर्षे यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। न च धर्मस्येन्द्रियै: सन्निकर्ष: सम्भवति, तस्य कर्तव्यतास्वभावत्वात्। असिद्धं च कर्तव्यम्। सिद्धवस्तुविषयश्च सन्निकर्ष:। अनुमानादीनि तदात्वे यद्यप्यसन्तमर्थमवगमयन्ति पिपीलिकाण्डासञ्चारेण हि भविष्यन्तीं वृष्टिमनुमिमते तथापि न तेभ्य: कर्तव्यतावगति:। तस्मात्कर्तव्यता-स्मरणस्यानुरूपकारणकल्पनायां वेद एवोपदिश्यते। स च वेदोऽनुमीयमानो मन्वादि-भिरुपलब्ध:। इदानीमुत्सन्ना सा शाखा यस्याममी स्मार्ता धर्मा आसन्।

तथा किमेका शाखाऽथ बह्व्य: तासु च कश्चिदष्टकादि: कस्याञ्चिदित्येतदनुमानं प्रवर्तते। अथाद्यत्वे पठ्यन्त एव ता: शाखा:। किन्तु विप्रकीर्णास्ते धर्मा:। कस्याञ्चि-च्छाखायामष्टकादीनां कर्मणामुत्पत्ति:, कस्याञ्चिद्द्रव्यं, क्वचिद्देवता, क्वचिन्मन्त्र इत्येवं विप्रकीर्णानां मन्वादयोऽङ्गोपसंहारं सुखावबोधार्थं चक्रु:।

अथ मन्त्रार्थवादलिङ्गमात्रप्रभवा एते धर्मा: अथायमनादिरनुष्ठेयोऽर्थोऽविच्छिन्न-पारम्पर्यसम्प्रदायायातो वेदवन्नित्य उतास्मदादीनामिव मन्वादीनामपि परप्रत्ययानुष्ठानो नित्यानुमेयश्रुतिक इत्येवमादि बहुविकल्पं विचारयन्ति विवरणकारा:।

एतावांस्तु निर्णय:। वैदिकमेतदनुष्ठानं स्मार्तानां वैदिकैर्विधिभिर्व्यतिषङ्गावगमाद-नुष्ठातॄणां च तद्दृष्ट्वानुष्ठानात्। व्यतिषङ्गश्च दर्शित:। क्वचिद्वैदिकमङ्गम् प्रधानं स्मार्तं क्वचिदेतदेव विपरीतं क्वचिदुत्पत्ति: क्वचिदधिकार: क्वचिदर्थवाद इति। एवं सर्व एव स्मार्ता वैदिकैर्व्यतिषक्ता:। निपुणतश्चैतन्निर्णीतमस्माभि: स्मृतिविवेके—

स्मार्तवैदिकयोर्नित्यं व्यतिषङ्गात्परस्परम्।
कर्तृत: कर्मतोवाऽपिवियुज्यतेतेनजातुतौ॥
प्रत्यक्षश्रुतिनिर्दिष्टं येऽनुतिष्ठन्ति केचन।
त एव यदि कुर्वन्ति तथा स्याद्वेदमूलता॥
प्रामाण्यकारणं मुख्यं वेदविद्भि: परिग्रह:।
तदुक्तं कर्तृसामान्यदनुमानं श्रुती: प्रति॥

विशेषनिर्धारणे तु न किञ्चित्प्रमाणं न च प्रयोजनम्।

उत्सादोऽपि सम्भाव्यते । दृश्यन्ते हि प्रविरलाध्येतृका अद्यत्वेऽपि शाखाः । ताभ्यः सम्भाव्यभाव्युत्सादाभ्यो विधिमात्रमर्थवादविरहितमुद्धृत्योपनिबद्धं स्मृतिकारैरिति कैश्चिदभ्युपगम्यते । ''ब्राह्मणोक्ता विधयः तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्त'' इत्यापस्तम्बः (१।४।१०) ।

अत्र तु यैवं महाप्रयोजना शाखा यस्यां सर्वे स्मार्ता गार्ह्याश्च सर्ववर्णाश्रमधर्मा आम्नातास्तस्या उपेक्षणमसम्भाव्यम्, सर्वाध्येतृणां चोत्साद इत्यादि बह्वदृष्टं प्रकल्प्यम् ।

विप्रकीर्णानां त्वर्थवादगहनानां क्रत्वर्थपुरुषार्थतया च दुर्विज्ञानानां प्रयोगोन्नयनमभियुक्तानां न्यायतो निश्चितार्थानां घटते ।

अस्मिंस्तु पक्षे विरोधद्वयस्यापि प्रत्यक्षश्रौतत्वाद्विकल्पेन स्मृतेर्बाधः । स च विशिष्टानां नाभिप्रेतः । स्मृतिकाराश्च बाधमनुमेयश्रुतिमूलत्वं च प्रतिपन्नाः । एवमप्याह गौतमः (३।३५)–''ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति'' । यदि हि मन्वादीनां प्रत्यक्षास्ताः शाखा अभवन्केयं वाचोयुक्ति गार्हस्थ्यस्य प्रत्यक्षविधानादिति । ननु सर्व एवाश्रमाः प्रत्यक्षविधानाः । स्वमतमेव चैतद्गौतमेनाचार्यपदेशेनोपदिष्टम्–'तस्याश्रमविकल्पम्' (३।१) इत्याद्युपक्रम्यानेनोपसंहृतत्वात् ।

मन्त्रार्थवादप्रमाणभावोऽप्यविरुद्धः । यद्यप्यर्थवादा विध्युद्देशस्तुतिपरा न स्वार्थस्य विधायकास्तथापि केषाञ्चिदन्यपरतैव नोपपद्यते यावत्स्वार्थविषयो विधिर्नावगमितः । यथा 'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्चे'त्यादेः पञ्चाग्निविधिशेषतैवमेतावतैव नोपपद्यते यावद्धिरण्यस्तेयादेः प्रतिषेधो नावगमितः । य एतां विद्यामधीते स हिरण्यस्तेयाद्यप्याचारंस्तैश्च संवसन्न पतति, अन्यथा तु पततीत्यवगतिरविरुद्धा ।

''अथ विध्युद्देशो विधेः प्रतिपादको, नार्थवाद इति केनैषा परिभाषा कृता । 'एते पतन्ति चत्वार' इत्यत्राप्याख्यातश्रवणमस्ति । 'लिङादयो न सन्तीति' चेत् 'प्रतितिष्ठन्तीति' रात्रिष्वपि नैव लिङ्श्रुतिरस्ति । अथ 'तत्राधिकाराकाङ्क्षायामेकवाक्यतायां सत्यां पञ्चमलकारादिकल्पनया विध्यवसायः', एवमत्रापि भविष्यति । बहवश्च द्रव्यदेवताविधायोऽर्थवादावगम्याः सन्ति । तत्र यस्य विधेः शेषा अर्थवादास्तद्विधिनैव द्रव्यदेवतादेरपेक्षितत्वाद्विशेषसमर्पणमात्रे व्यापारान्तर्गतविशेषावगतिरर्थवादाधीना न दोषाय । इह तु तदसम्बद्धस्य विध्यन्तरस्येष्यमाणत्वाद्वाक्यभेदापत्तिरतश्च न प्रकृतिशेषता । तदभावे च तन्मूला प्रतिषेधावगतिर्न स्यादतश्च 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' 'तेजो वै घृतमि'त्यनेन वैषम्यमित्याहुः ।''

तदसत् । सत्यप्यर्थान्तरत्वे तदेकवाक्यतामूलत्वादस्यावगतेर्नास्ति वाक्यभेदाभिचोद्यापत्तिः ।

मन्त्राः प्रयोगप्रकाशत्वेन रूपादेवावगतास्तस्य प्रयोगस्यान्यतोऽसिद्धेः प्रकाशकत्वनिर्वहणाय प्रकाश्यं कल्पयन्ति । न वाऽसतोरुत्पत्त्यधिकारयोः प्रकाशनमष्टकायाः सम्भवतीत्युत्पत्त्यधिकारविनियोगबोधका मन्त्राः । एवं मान्त्रवर्णिकाश्च विधयोऽप्युपगम्यन्ते । यथाऽऽधारे देवताविधिः ।

चतुष्पाद्धि धर्मोऽभ्युपगतस्तत्राल्पतरांशः श्रुतः, सकलेतरांशबोधहेतुस्तथाविध एव, विधौ सम्बन्धग्रहणादिति । सर्वथा तावत्सम्भवति वेदसंयोगः ।

मनुर्बहुभिर्बहुशाखाध्यायिभिः शिष्यैरन्यैश्च श्रोत्रियैः सङ्गतस्तेभ्यः शाखाः श्रुत्वा ग्रन्थं चकार । ताश्च मूलत्वेन प्रदर्श्य ग्रन्थं प्रमाणीकृतवान् । एवमन्ये तत्प्रत्ययादनुष्ठानमादृतवन्तो न मूलोपलम्भे यत्नं कुर्वन्ति । अस्माकं चैतदनुमानम् ।

अतो विरोधे सत्यपि तुल्ये श्रौतत्वे बाधोपपत्तिः । प्रत्यक्षया श्रुत्या प्रयोगसम्पत्तौ श्रुत्यन्तरं प्रत्याकाङ्क्षैव नास्ति । यथा सामिधेनीषु साप्तदश्यपाञ्चदश्ययोः पाञ्चदश्येन प्रकृतिरवरुद्धा साप्तदश्यं प्रत्यक्षश्रुतमपि नाकाङ्क्षति । आभिधानिको ह्यर्थः सन्निकृष्यतेऽभिहितार्थाकाङ्क्षावगम्यं प्रत्ययं विप्रकर्षाद्दुर्बलं बाधते । न चैतावताऽप्रामाण्यापत्तिः । यथा प्राकृतान्यङ्गानि विकृतिषु चोदकप्राप्तानि वैकृतिकैर्विरुध्यमानानि बाध्यन्ते तद्वदेव द्रष्टव्यम् ।

यत्र सम्प्रदायविच्छेदस्तत्र च परम्परापत्तिः । न हि तत्र कस्यचित्प्रमाणं प्रवृत्तम् । नित्यानुमेयपक्षोऽपि सम्प्रदायपक्षान्नातीव भिद्यते । मन्वादिस्मरणस्य वयं मूलं परीक्षितुं प्रवृत्ताः । यदि च तेषामप्यसावनुमेयो वेदो वयमिव न ते स्मर्तारः । नच यः पदार्थो न कस्यचित्प्रत्यक्षस्तस्यानुमेयता सम्भवत्यन्वयासम्भवात् । क्रियादिषु सामान्यतोऽस्त्येव सम्बन्धदर्शनम् । यदि वाऽर्थापत्त्यवसेयाः क्रियादयो न चेहान्यथाऽनुपपत्तिरस्ति ।

तस्मादस्तिमन्वादीनामस्मिन्नर्थे वेदसम्बन्धो, न पुनरयमेव प्रकार इति निर्धारयितुं शक्यम् । द्रढीयसी कर्तव्यतावगतिर्वेदविदां वेदमूलैव युक्ता कल्पयितुं, न भ्रान्त्यादिमूलेत्यवगत्यनुरूपकारणकल्पना कृता भवति । तत्रोत्सादविप्रकीर्णे मन्त्रार्थवादे प्रत्यक्षवेदानां कारणानां सम्भवात्कल्प्यत्वमुपशेते । प्रत्यक्षोऽपि विधिः क्वचिन्मूलत्वेन दृश्यते 'न मलवद्वाससा सह संवदेदिति' । स चाध्ययने चोपनयने च पठ्यते ।

तदेतल्लेशतोऽस्माभिरुक्तम् । विस्तरस्तु स्मृतिविवेकाज्ज्ञातव्यः ।

शाखाः काश्चित्समुत्पन्नाः, पक्षो नैष मतो मम ।
पक्षेऽस्मिन्न प्रमाणं हि वह्वदृष्टं प्रसज्यते ॥
उपपन्नतरः पक्षो विक्षिप्तानां ततस्ततः ।
उत्पत्त्यादिसमाहारः प्रायशो दृश्यते ह्यदः ॥

अनेकशिष्योपाध्यायैः श्रोत्रियैरादृतोऽपरैः ।
शक्तो रचयितुं श्रुत्वा शाखां तां तां कुतश्चन ॥
उपपन्नस्तदानीं च दृष्टमूलैः परिग्रहः ।
निश्चयोऽस्माकमप्यद्य यथा सम्भवतः स्थितः ॥
प्रयोगद्योतकामन्त्रा, द्योतनं तस्य नामतः ।
नतेऽधिकारोत्पत्तिभ्यां प्रयोगस्यास्ति सम्भवः ॥
विशिष्टदेवतालाभ आधारे मान्त्रवर्णिकः ।
प्रकाशकत्वान्मन्त्रस्य तन्निर्वहणहेतुकः ॥
या सिद्धरूप एकस्मिन्रूपान्तरगतिर्भवेत् ।
न सा स्वरूपनाशाय विश्वजित्यधिकारवत् ॥
प्रतिपन्ने विधौ युक्तं तत्सम्बन्धार्थकल्पनम् ।
गतिर्मन्त्रार्थवादेभ्यो न दृष्टा चेद्विधेः क्वचित् ॥
"लिङादिगम्यंभगवान्विधिं स्मरति पाणिनिः ।
न शक्तास्ते विधिं वक्तुं सिद्धवस्त्वभिधायिनः ॥
व्याख्येयो गुणवादेन योऽर्थवादादतत्परात् ।
अर्थोऽधिगन्तुमिष्येत कथं स्यात्तस्य सत्यता ॥
भिन्द्याद्वाक्यं न प्रतिष्ठा साकाङ्क्षा रात्रयो यतः ।
विशेषे तद्गते युक्ता वाक्यशेषावगम्यता ॥
स्तेयादीनां निषेधेऽपि विध्यन्तरगतिर्ध्रुवा ।
ततश्च वाक्यभेदः स्यान्नोपन्यासस्ततः समः ॥
वाचः स्तोमे प्रयुज्यन्ते सर्वे मन्त्रविधिश्रुतेः ।
नाष्टकादौ विशेषोऽस्ति हेतुर्मन्त्रस्य बोधने ॥
विना सामान्यसम्बन्धाल्लिङ्गं च विनियोजकम् ।
न च नास्त्यस्य सम्बन्धो विना प्रकरणादिभिः॥
परिहारं ब्रुवन्त्यत्र केचित्तन्मूलवादिनः ।
रात्रिषु प्रतितिष्ठन्तीत्यसत्स्वेव लिङादिषु ॥
पञ्चमेन लकारेण तदर्थगतिरिष्यते ।
पतन्ति न म्लेछितवा इत्यादिषु तथा भवेत् ॥
ऋचां विधिर्वाचिस्तोमे सर्वदाशतयोरिति ।
दशभ्यो मण्डलेऽभ्यस्ता वर्णिताः पठिता वहिः॥
सामान्यसम्बन्धकारी समाख्यैवेति गीयते ।
समाख्या गृह्यमन्त्राणां तेन तेनास्ति कर्मणाम् ॥

पञ्चाग्निविद्याशेषत्वं हिरण्यस्तेननिन्दया।
स्तोनो हिरण्यवाक्यस्य, न विना तन्निषेधतः ॥
शेषत्वावगमोर्थात्तु तदकर्तव्यता तु या।
द्रढिम्ने शेषतायाः, सा न पुनस्तद्विरोधिनी ॥
नित्यानुमेयपक्षो यो वाऽप्यागमपरम्परा।
तयोरन्धप्रवाहत्वं न भेदः कश्चिदीक्ष्यते ॥

एवं च सति या गौतमेन प्रत्यक्षविधानता गार्हस्थ्यस्योक्ता सा शब्दस्याव्यवहित-व्यापाराभिप्रायेण। श्रवणान्तरं योऽर्थः प्रतीयते स प्रत्यक्षः। यस्तु प्रतीतेऽर्थे तत्सामर्थ्यलोचनया गम्यः स विलम्बितत्वात्प्रतिपत्तेर्न प्रत्यक्षः इति सर्वमुपपन्नम्।

स्मृतिशीले च तद्विदाम्। स्मृतिश्च शीलं च स्मृतिशीले। शीलं रागद्वेषप्रहाण-माहुः। तच्च धर्ममूलं वेदस्मृतिवन्न ज्ञापकतया किन्तु निर्वर्तकत्वेन। रागद्वेषप्रहाणाद्धि धर्मो निर्वर्तते ॥

"ननु च श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तम्। रागद्वेषप्रहाणमेव च तत्स्वभावम्। तत्रासति व्यतिरेके किमुच्यते रागादिप्रहारणाद्धर्मो निर्वर्तत इति।"

उक्तमस्माभिर्धर्मशब्दोयं स्मृतिकारैः कदाचिद्विधिनिषेधविषयभूतायां क्रियायां प्रयुज्यते, कदाचित्तदनुष्ठानजन्य आफलप्रदानावस्थायिनि कस्मिंश्चिदर्थे। तस्य च सद्भावे शब्द एव प्रमाणम्। यदि हि यागस्तथाविधं वस्त्वनुत्पाद्य विनश्येत्तदा कालान्तरे कुतः फलोत्पत्तिः। तदेतद्वस्तु धर्मशब्देनात्राभिप्रेतम्। तस्य शीलं मूलमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। तदभिप्राया एव व्यवहाराः। "एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः" इति। क्रियाया अनुष्ठानसमनन्तरमेव नाशात्कुतः कालान्तरान्वयः।

अत्र चोद्यते। "ननु सर्व एव श्रुतिस्मृतिविहितोऽर्थो धर्मस्य मूलम्। शीलस्यापि तत्रान्तर्भावाद्भेदेनोपादानमनर्थकम्। विधायिष्यते च 'इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणाविति'। अयमेव मनसो जयो यो रागद्वेषयोः परित्याग इति वक्ष्यामः"।

केचिदाहुरादरार्थः पृथगुपदेशः। एतद्धि सर्वकर्मणामनुष्ठान उपयुज्यते, स्वप्रधानं च अग्निहोत्रादिकर्मवत्। सर्ववर्णधर्मश्चायं सर्वाश्रमधर्मश्च। अतः सामान्यधर्मलक्षणावसरेऽस्मिन्नुच्यते।

वयं तु ब्रूमः। समाधिः शीलमुच्यते। तथाहि 'शीलसमाधाविति' धातुषु पठ्यते। समाधानं च मानसो धर्मः। यच्चेतसोऽन्यविषयव्याक्षेपपरिहारेण शास्त्रार्थनिरूपणप्रवणता तच्छीलमुच्यते।

द्वन्द्वश्चायमितरेतरयोगे। तेन परस्परसापेक्षयोः स्मृतिशीलयोः धर्मप्रति प्रामाण्यमे-

वाभिप्रेतं, न पूर्ववन्निर्वर्तकत्वम् । एतदुक्तं भवति । समाधानवती या स्मृतिः सा प्रमाणं न स्मृतिमात्रम् । तेन सत्यपि वेदार्थवित्त्वे यदतत्पराणां स्मरणं न तद्धर्ममूलं भ्रान्त्यादिसम्भवाच्छास्त्रार्थावधानशून्यानाम् ।

च शब्द इह पठ्यते । स तद्विदामित्यस्मादनन्तरं द्रष्टव्यः । वृत्तानुरोधात्त्वेवं पठितः । समुच्चयार्थश्चासौ पूर्वप्रकृतस्य च समुच्चेतव्यस्याभावात्तृतीये पादे यत्साधूनामित्युक्तं तत्समुच्चिनोति । अतस्त्रीणि विशेषणान्यत्राश्रीयन्ते । विदुषामुपाध्यायादागमितविद्यानां तथा तदभ्यासपराणामनुष्ठानपराणां च स्मृतिः प्रमाणम् । एतत्सर्वं मन्वादीनामासीदिति स्मर्यते । नान्यथा तत्कृतेषु ग्रन्थेषु शिष्टानां परिग्रहोपपत्तिः ।

"यद्येवं स्पष्टमेव वक्तव्यम्, 'मन्वादिवाक्यानि धर्ममूलमिति ।' किमेतेन लक्षणेन ।"

सत्यम् । यः कथञ्चित्तत्प्रामाण्ये विप्रतिपद्येत तं प्रति न्यायशास्त्रप्रसिद्धं प्रामाण्यहेतुकथनमेतत् । अद्यत्वेऽपि यस्यैतद्धेतुसद्भावः सोऽपि मन्वादिवद्ग्राह्यवाक्यः स्यात् । तथा च विदुषां प्रायश्चित्ताद्युपदेशे । तथाभूता एव परिषत्त्वेन प्रमाणीभवन्ति "एकोऽपि वेदविद्धर्मं यो व्यवस्येद्द्विजोत्तम" इति । अत एव स्मर्तृपरिगणना मनुर्विष्णुर्य्यमोऽङ्गिरा इति निर्मूला । तथा हि पैठीनसिबौधायनप्रचेतःप्रभृतयः शिष्टैरेवंरूपाः स्मर्यन्ते । न च परिगणनायामन्तर्भाविताः । सर्वथा यमविगानेन शिष्टाः स्मरन्ति वदन्ति वा एवंविधैर्गुणैर्युक्तम् । तेन चैतत्प्रणीतमिति तस्य वाक्यं सत्यपि पौरुषेयत्वे धर्मे प्रमाणं स्यादिति । **स्मृतिशीले च तद्विदाम्** इत्यस्यार्थः ।

अद्यत्वे य एवंविधैर्गुणैर्युक्त ईदृशेनैव च हेतुना ग्रन्थमुपनिबन्धीयात्स उत्तरेषां मन्वादिवत्प्रमाणीभवेत् । इदानीन्तनानां तु यदेव तत्र तस्य बोधकारणं तदेव तेषामस्तीति न तद्वाक्यादवगतिः । इदानीन्तनो हि यावन्मूलं न दर्शयति तावन्न विद्वांसस्तद्वाक्यं प्रमाणयन्ति । दर्शिते तु मूले प्रमाणीकृते ग्रन्थे कालान्तरे यदि कथञ्चिदष्टकादिमूलतुल्यता स्यात्तदा तेषां शिष्टपरिग्रहान्यथानुपपत्त्या तन्मूलानुमानं युक्तम् ।

आचारश्चैव साधूनाम् । चशब्देन वेदविदामिति सम्बध्यते । पदद्वयेन शिष्टत्वं लक्ष्यते । शिष्टानां य आचारः सोऽपि धर्मे मूलम् । आचारो व्यवहारः अनुष्ठानम् । यत्र श्रुतिस्मृतिवाक्यानि न सन्ति शिष्टाश्च धर्मबुद्ध्याऽनुतिष्ठन्ति तदपि वैदिकमेव पूर्ववत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा विवाहादौ कङ्कणबन्धनादि माङ्गलिकत्वेन यत्क्रियते, या च कन्यायास्तदहर्विवाहयिष्यमाणायाः प्रख्यातवृक्षयक्षचतुष्पथादिपूजा देशभेदन, तथा चूडासङ्ख्यादेशभेदश्च, या चातिथ्यादीनां गुर्वादीनां चानुवृत्तिः प्रियहितवचनाभिवादनाभ्युत्थानादिरूपा, तथा पृश्निसूक्तं तृणपाणयोऽधीयते अश्वमेधमश्वं यथा समर्पयन्तः । ईदृश **आचारः** ।

एषोऽपि हि स्वभावभेदेन पुरुषाणां मनःस्वास्थ्यादौःस्थ्यादिभेदेनानेकरूपः प्रति-

विशेषमानन्त्यादशक्यो । ग्रन्थेनोपनिबद्धुम् । यदेव बहुशः प्रियमस्येत्युपलक्षितं तदेवा-वसरान्तरे विपरीतं सम्पद्यते । तथा पर्युपासनं गृहस्थेनातिथेः क्रियमाणं कस्यचित्प्रीति-करं 'ममायं भृत्यवत्तिष्ठति', अन्यस्त्वन्यथा 'निर्यन्त्रणया न लभ्यत आसितुमस्मिन्सन्नि-हित' इति पर्युपासनयैव विरज्यति । न तत्र सामान्यतः शक्यं वेदानुमानं न विशेषतः । अष्टकादीनां तु नियतैकरूपसमस्तप्रयोगस्मरणमित्येष स्मृत्याचाराणां भेदः ।

आत्मनस्तुष्टिरेव च । धर्ममूलमित्यनुषज्यते·। वेदविदां साधूनामिति च ।

अस्याश्च धर्ममूलत्वं प्रामाण्येनैवेत्याहुः । यत्र ह्येवंविधानामनुष्ठेयेऽर्थे मनः प्रसी-दति द्वेषो न भवति स धर्मः ।

"ननु च यस्य प्रतिषिद्ध एवार्थे मनः प्रसीदेत्स धर्मः प्राप्नोति । विहिते च किङ्कथिका स्यात् स न धर्म इति ।"

एवमेतदीदृशानां महात्मनां मतिमतां महाप्रभावो मनःप्रसादो येनाधर्मोऽपि धर्मता-मेति धर्मश्चाधर्मतां न रोगद्वेषादिदोषवताम् । यथा रुमायां यत्किञ्चिद्द्रव्यं प्रविशति तत्सर्वं लवणसात्सम्पद्यते, एवं वेदविदा सहसोत्पन्नेन मनःपरितोषेण सर्वं निर्मली-क्रियते । अतो यथा प्रतिषिद्धमपि ग्रहणं षोडशिनि विधिनाऽनुष्ठीयमानं न दोषाय । न चात्र ग्रहणवद्विकल्पः । प्रतिषेधा ह्यात्मतुष्टिव्यतिरेकेणान्यत्र विषये व्यवस्थाप्यन्ते । अथवा नैव तेषामधर्मे आत्मा परितुष्यति । यथा विषघ्नीमेवौषधीं नकुलो दशति ना-न्याम् । अत उच्यते "नकुलो यां यां दशति सा सा विषघ्नीति" । इह भवन्तश्चाहुः । ये वैकल्पिकाः पदार्थास्तेषु यस्मिन्पक्षे मनः प्रसीदति स पक्ष आश्रयितव्यः । वक्ष्यति च द्रव्यशुद्धौ प्रायश्चित्तेषु च "तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्" । अथवा योऽ-श्रद्दधानो नास्तिकतया तस्यानधिकारमाह । नास्तिकस्य हि न वैदिकं कर्म कुर्वतोऽ-प्यात्मा तुष्यति । अतस्तेन क्रियमाणमपि कर्म निष्फलमेव । अथवा सर्वकर्मविषयो भावप्रसाद उपदिश्यते, अनुष्ठानकाले क्रोधमोहशोकादि त्यक्त्वा प्रमुदितेन भाव्यम् । अतश्च शीलवदस्याः सर्वशेषतया धर्ममूलत्वाभिधानम् ॥६॥

हिन्दी—सब देव, उन्हें (वेदों को) जानने वालों (मनु आदि) की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता (जहाँ धर्मशास्त्रों में अनेक पक्ष कहे गये हैं, वहाँ जिस पक्ष वाले विधान को स्वीकार करने में अपना मन प्रसन्न हो), ये सब धर्म के मूल हैं ॥६॥

धर्मों की देवमूलकता—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।।७।।

भाष्य—यदुक्तं वेदवित्सम्बन्धेन स्मृतेः प्रामाण्यं तदनेन प्रकटयति।

यः कश्चिद्धर्मो वर्णधर्म आश्रमधर्मः संस्कारधर्मः सामान्यरूपो विशेषरूपश्च कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्वर्णस्य। **मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽपि वेदेऽभिहितः** प्रतिपादितः। यथा चैतत्तथा पूर्वश्लोक उक्तम्। **सर्वज्ञानमयो हि सः**। सर्वेषां ज्ञानानामदृष्टविषयाणां हेतुर्निमित्तं वेदः। सर्वैर्ज्ञानैर्निर्मित इवेति ज्ञाने तद्विकारत्वमध्यारोप्य मयट् कृतः। यो हि यद्विकारः स तन्मयस्तत्स्वभाव इत्युच्यते। वेदश्च ज्ञानहेतुत्वात्तन्मय इति। सत्कार्यदर्शने कारणं कार्यस्वभावमिति। अथवा सर्वज्ञानाद्धेतोः आगतः 'हेतुमनुष्येभ्य' (पा०सू० ४-३-८१) इति मयट् क्रियते ॥७॥

हिन्दी—मनु ने जिस किसी (ब्राह्मण आदि) का जो धर्म कहा है, वह सब धर्म वेदों में कहा गया है। वे मनु सब वेदों के अर्थों के ज्ञाता हैं (अथवा वह सब ज्ञानस्वरूप हैं) ॥७॥

धर्म-निश्चय के विषय में विद्वानों के कर्त्तव्य—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥८॥

भाष्य—सर्वं ज्ञेयं कृतकाकृतकम्। शास्त्रगोचरं प्रत्यक्षादिगोचरमप्रत्यक्षादिगोचरम्। **समवेक्ष्यैतज्ज्ञानचक्षुषा** तर्कव्याकरणनिरुक्तमीमांसादिविद्यास्थानश्रवणचिन्तनात्मकेन। चक्षुरिव चक्षुः शास्त्राभ्यासो, ज्ञानस्य कारणत्वसामान्यात्। यथा चक्षुषा रूपं ज्ञायते एवं शास्त्रेण धर्म इति सामान्यम्। **समवेक्ष्य** सम्यग्विचारपूर्वकं निरूप्य। **श्रुतिप्रामाण्यतो** वेदप्रामाण्येन **धर्मे निविशेत**। धर्ममनुतिष्ठेत्।

सर्वेषु हि शास्त्रेषु सम्यग्ज्ञातेषु वेदप्रमाण्यमेवावतिष्ठते। नाज्ञातेषु। तथाहि तानि शास्त्राणि निपुणत्वेन चिन्तयन् न तेषां प्रामाण्ये सम्यग्युक्तिरस्ति, वेदे त्वस्तीति निश्चिनोति। सर्वग्रहणं ज्ञेयविशेषणम्। निखिल शब्दश्च **समवेक्ष्ये**ति क्रियाविशेषणम्। **निखिलं समवेक्ष्य** निःशेषेणपूर्वपक्षेण शास्त्रान्तराणां प्रामाण्ये, वेदस्य वाऽप्रामाण्ये यावन्त्यः काश्चन युक्तयः प्रतिभासन्ते ताः सर्वाः प्रदर्श्य, सिद्धान्तसिद्धैर्हेतुभिर्यथालक्षणलक्षितैर्निराकृत्य स्वपक्षसाधने चोपन्यस्ते वेदप्रामाण्यमवतिष्ठत इति निखिलशब्देन प्रदर्श्यते। तेन तौ निखिलसर्वशब्दौ पर्यायावपि भिन्नविषयत्वान्न पुनरुक्तौ। स्वग्रहणमनुवादः। यो ह्यन्यस्य धर्मः सोऽन्यस्याधर्म एव ॥८॥

हिन्दी—विद्वान् मनुष्य वेदार्थज्ञानोचित सम्पूर्ण शास्त्र-समूह को व्याकरण-मीमांसादि को ज्ञानरूपी नेत्रों से सब देखकर (विचार कर) वेद-प्रमाण से अपने कर्तव्य धर्म को निश्चय कर अनुष्ठान करे ॥८॥

श्रुति-स्मृत्युक्त धर्म के अनुष्ठान का फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।।९।।

भाष्य—यो नास्तिकतया वैदिकानि निष्फलानि कर्माणीति व्यामुह्य न तदनुष्ठाने प्रवर्तेत तस्य प्रवृत्त्यर्थं सुहृद्भूत्वा दृष्टफलप्रदर्शनं करोति । तिष्ठतु तावदन्यत्फलम् । श्रुतौ स्मृतिषु च यदुदितमुक्तं धर्माख्यं कर्म तदनुतिष्ठन्निहास्मिंल्लोके यावज्जीवति तावत्कीर्तिं प्रशस्यतां पूज्यतां सौभाग्यं लभते । न्याय्ये पथि स्थितो महापुण्योऽयमिति सर्वेण पूज्यते, प्रियश्च सर्वस्य भवति । **प्रेत्य** देहान्तरे । यस्मादन्यदुत्तमं नास्ति तत्सुखं प्राप्नोति । प्रायेण स्वर्गकामस्याधिकार: । निरतिशया च प्रीति: स्वर्गस्तत उच्यते **अनुत्तममिति** । तस्मान्नास्तिकस्यापि दृष्टफलार्थिनोऽत्रैव प्रवृत्ति: प्रयुक्तेत्येवम्परमेतत् ॥९॥

हिन्दी—वेदों और स्मृतियों में कहे गये धर्म का अनुष्ठान (पालन) करता हुआ मनुष्य इस संसार में यश पाता है और धर्मानुष्ठानजन्य स्वकर्मादि के अनुत्तम सुख को पाता है (अतएव वेद-स्मृति-प्रतिपादित धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए) ॥९॥

श्रुति और स्मृति का परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्तृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।१०।।

भाष्य—"किमिदं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणमभिधानकोशशास्त्रम्–'आत्मभू: परमेष्ठी'त्यादिवन्न धर्मशास्त्रं, येनेदमुच्यते 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिरिति ।'

उच्यते । इह सदाचारो न श्रुतिर्न स्मृतिर्निबन्धाभावात् । निबद्धाक्षरा हि स्मृतय: प्रसिद्धा: । अतस्तस्य स्मृतित्वमुपपादयति । यत्कार्यधर्मशास्त्यर्थं तत् **धर्मशास्त्रम्** । यत्र धर्म: शिष्यते कर्तव्यतया प्रतीयते सा स्मृति: । निबन्धानिबन्धावप्रयोजकौ । शिष्ट-समाचारादपि धर्मस्य कर्तव्यतावगति: । सोऽपि स्मृतिरेव । ततश्च यत्र कस्मैचित्कार्याय स्मृतेरुपादानं तत्र सदाचारोऽपि ग्रहीतव्य: ।

धर्मशास्त्रं चेत्स्मृतिर्वेदोऽपि सर्वमुख्यं धर्मशासनमिति तस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्ग-स्तन्निवृत्त्यर्थमाह—**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः** । यत्र श्रूयते धर्मानुशासनशब्द: सा **श्रुतिः** । यत्र च स्मर्यते सा **स्मृतिः** । तच्च समाचारेऽप्यस्तोत्यत: सोऽपि स्मृतिरेव । न हि तत्रा-प्यस्मृतवैदिके शब्दे प्रामाण्यम् । अथवा श्रुतिग्रहणं स्मृतेर्वेदतुल्यत्वार्थम् ।

"किं पुन: श्रुतिस्मृत्यो: समानं कार्यं यत्समाचारेऽप्यनेन प्राप्यते" ।

उच्यते । ते **सर्वार्थेष्वमीमांस्ये** । 'ते' श्रुतिस्मृती । सर्वेष्वर्थेष्वत्यन्तासम्भाव्येष्वपि दृष्टविषयैः प्रमाणैः,—यथा तस्मादेव हिंसालक्षणात्पदार्थात्क्वचिदभ्युदयः क्वचित् प्रत्यवायः, (२) 'सुरापानान्नरकः सोमपानात्पापशुद्धिः' इत्यादौ पक्षप्रतिपक्षगमनेन विचारो न कर्तव्यः । आशङ्कापक्षान्तरसम्भावनं मीमांसनम् । यथा—''हिंसा चेत्पापहेतुः स्वरूपाविशेषाद्वैदिक्यपि तथा भवितुमर्हति । अथ वैदिक्यभ्युदयहेतुर्लौकिक्यपि तथा स्यात्, तद्रूपसमानत्वात्'' । यस्य यद्रूपं वेदादवगतं तस्य तद्विपरीतरूपसम्भावनमसत्तर्काश्रयैरसम्यग्घेतुभिर्यद्विचारणं तत्सिद्धान्ताभिनिवेशः स इह प्रतिषिध्यते । न पुनरयमर्थोवेदस्याद्यः पूर्वपक्ष उतस्विद्यः सिद्धान्त इत्येषा मीमांसा निषिध्यते । यतो वक्ष्यति ''यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर'' इति ॥

''किं पुनरयमदृष्टार्थो मीमांसनप्रतिषेधः ॥''

नेति ब्रूमः । **ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ** । अनेन तार्किकप्रमाणानां वेदार्थविपरीतसाधनानामाभासतामाह । ईदृशा हि तेषां हेतवः—''वैदिकी हिंसा पापहेतुः, हिंसात्वाल्लौकिकहिंसावत्'' । तत्र हिंसायां पापहेतुत्वं न कुतश्चिदन्यतः प्रमाणात्सिद्धमन्तरेणागमम् । एवं चेन्नास्ति हिंसायाः पापसाधनसिद्धौ हेतुः यावदागमः प्रामाण्येन नाभ्युपगतः । अभ्युपगते चागमप्रामाण्ये तद्विरुद्धो हेतुर्न युज्यते, अप्रामाण्यापत्तेरागमस्य । ततश्चेतरेतरव्याघातः । पूर्वं प्रामाण्येन परिग्रहः पश्चादप्रामाण्यमिति । सोऽयं स्ववचनविरुद्धः पक्षः । नैनं तार्किका अनुमन्यन्ते, 'मम माता बन्ध्येति' वत् । आगमविरुद्धश्च ।

अथोच्यते—''नैवागमः प्रमाणम् । कथं तद्विरोधोद्भावनं दूषणम् । अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः । कारीर्यादिकर्मणां तत्समनन्तरं फलार्थितयाऽनुष्ठीयमानानां न नियमतोऽनुष्ठानसमनन्तरं फलप्राप्तिः । कालान्तरे भविष्यतीति चेदुक्तमत्र—'कृता शरदि कारीरी भृशं शुष्यत्सु शालिषु । वसन्ते जायते वृष्टिस्तस्या गोमरकः फलमिति' । यान्यप्यन्यत्रभाविफलानि ज्योतिष्टोमादीनि तत्रापि निरन्वयविनाशात्कर्मणो वर्षशते फलं भविष्यतीति निःसन्दिग्धवैतालिकव्यवहारोपममेतत् । तस्मादनृतम् । व्याघातः—उदिते होतव्यमनुदिते जुह्वतो दोषः । ''प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्'' । तथाऽनुदिते होतव्यं–''यथा अतिथये प्रद्रुताय दद्यात्तदृगेतद्यज्जुहुया''-दित्येकत्रोदितहोमो विधीयतेऽनुदितहोमनिन्दया तदेव विपरीतमन्यत् । तत्रैकः पक्ष आश्रीयतामित्यनध्यवसायः । यदेवाग्निहोत्राद्येकस्यां शाखायां विद्यते तदेव शाखान्तरेऽपि । सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेत्यभ्युपगमः । ततश्च पुनरुक्तम् ।''—

तत्रानृतमेव तन्न भवतीत्येतेनैव पादेन प्रतिपाद्यते । यतो वेदाद्धर्म एव कर्तव्यतामात्रं यागादिविषयं निर्बभौ विभाति गम्यते । न पुनः कालविशेषः फलस्योत्पत्तौ,

अधिकारवाक्येषु कालविशेषाश्रवणात्। विधितो हि फलं भवतीत्येतावद्गम्यते। कालावच्छेदो न विधिः। धात्वर्थसम्बन्धिनो हि कालविभागा भूतभविष्यद्वर्तमानाः। न चैतद्धात्वर्थः फलं किन्तु वैधम्। धात्वर्थफलं हि तदानीमेव निर्वर्तते देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो हविर्विकारादि। यदि कश्चित्कस्यचिदाज्ञाकरो भवति तेन प्रेष्यते 'गच्छ याहि ग्राममिति' स आज्ञासम्पादने प्रवृत्त कदाचित्प्रारम्भ एव वेतनफलं लभते, कदाचिन्मध्ये, कदाचित्कृत्आज्ञाविषये; समनन्तरमन्येद्युर्वा कालान्तरेऽथवा। एवमेतच्छास्त्रफलनियतकालम्। दिव्यवृष्ट्यादेस्तु स्वाभाव्येन प्रत्यासत्तिमात्रं गम्यते। न तु तदहरेवोत्पत्तिः। प्रतिबन्धकानि च यथा फलस्यैवंविधस्य लोके भवन्ति तथा वेदेऽपि, पुराकृतं दुष्कृतादि। तथा च वेद एवैतद्दर्शयति, 'यदि न वर्षेत्तथैव वसेदिति'। सर्वस्वारे तु विवदन्ते। 'नैतत्क्रतुफलम्। अङ्गमेतत्स्मरणम्। क्रतुफलं यः कामयेतानामयः स्वर्गलोकमियामिति'।

यच्चोक्तं हिंसायां लोकवेदयोर्न विशेष इति तत्र शास्त्रावगम्यो हि तस्या अयं स्वभावो न प्रत्यक्षादिगोचरः। तत्र च भेदः। रागलक्षणा लौकिकी हिंसा, विधिलक्षणाऽलौकिकी हिंसा। विधिलक्षणा त्वग्नीषोमीयस्तेति महान्भेदः।

तस्मान्न किञ्चिद्वेदेऽनृतम्। व्याघातं परस्तात्परिहरिष्यति श्लोकेनैव ॥१०॥

हिन्दी—(ऋक् आदि) वेद को श्रुति तथा (मनु आदि के द्वारा कथित) धर्मशास्त्र को स्मृति जानना चाहिये, वे सभी विषयों में प्रतिकूल तर्क के योग्य नहीं हैं (उनके किसी भी विषय में प्रतिकूल तर्क नहीं करना चाहिये), क्योंकि उन दोनों (श्रुति = वेद और स्मृति = धर्मशास्त्र) से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है ॥१०॥

नास्तिक-निन्दा—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥११॥

भाष्य—असत्याप्रामाण्यहेतोर्वेदस्य यो द्विजो **हेतुशास्त्राश्रयाद्**धेतुशास्त्रं नास्तिकतर्कशास्त्रं बौद्धचार्वाकादिशास्त्रम्, यत्र वेदोऽधर्मायेति पुनः पुनरुद्धुष्यते, तादृशं तर्कमाश्रित्य योऽवज्ञां कुर्यात्। श्रुतौ स्मृतौ च केनचिदकार्यान्निवर्त्येत 'मैवं कार्षीः प्रतिषिद्धं वेदेनेति' तमनादृत्य चिकीर्षेत् 'किंनाम यदि वेदे स्मृतिषु वा प्रतिषिद्धं, नहि किञ्चित् तयोः सम्यक् प्रामाण्यमस्तीति' कथयेत् मनसा वा विचिन्तयेत्। तर्कशास्त्रेषु निबद्धादरो यदि दृश्येत। **स साधुभिः** शिष्टै**र्बहिःकार्य्य**स्तिरस्कार्यः तत्तत्कार्येभ्यो याजनाध्यापनातिथिसत्कारादिभ्यः। क्रियाविशेषस्यानिर्देशाद्विद्वद्र्हेभ्य इति गम्यते। यतोऽविद्वान्सम्यगसंस्कृतात्मा तार्किकगन्धितयैवं व्यवहरति। आसु च क्रियासु विद्वानधिक्रियते।

अत एव पूर्वश्लोके विचार ईदृशः प्रतिषिध्यते यस्तदवज्ञानपरतया क्रियते, नतु यस्तदर्थविशेषजिज्ञासया। एवमर्थमेव हेतुमाह—**नास्तिको वेदनिन्दकः**। अतश्च पूर्वपक्षे यो वेदस्याप्राणाण्यं ब्रूयान्नासौ नास्तिकः स्यात्। सिद्धान्तदार्ढ्यार्थमेव पूर्वपक्षे हेतुकथनम्। वेदनिन्दक इति स्मृतिग्रहणं न कृतम्। तुल्यत्वेनोभयोः प्रकृतत्वादन्यतरनिर्देशेनैव सिद्धमुभयस्यापि ग्रहणमित्यभिप्रायः ॥११॥

यस्त्वेतमर्थमविदित्वा वेदशब्दस्य विवक्षितार्थत्वमेव मत्वा स्मृतिनिन्दकस्य न बहिष्कारः, अनेन वेदनिन्दकस्यैव विहित इति प्रतिपद्येत। तं प्रत्याह—

हिन्दी—जो मनुष्य तर्कशास्त्र के आधार पर उन दोनों (वेद और स्मृति) का अपमान करे, नास्तिक एवं वेदनिन्दक वह मनुष्य सज्जनों के द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है॥११॥

धर्म के चतुर्विधलक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥१२॥

भाष्य—नात्र कश्चिद्विशेषः। वेदनिन्दाप्रतिषेधेन स्मृतिसदाचारात्मतुष्टीनामपि निन्दकस्य बहिष्कारोऽनेन विहितः। तेषामपि वेदमूलधर्माभिधानम्। अतः स्मृत्यादिनिन्दको वेदनिन्दक एव।

"ननु श्लोकद्वयेन नार्थः। एवं वक्तव्यम्। श्रुत्यादीनात्मतुष्ट्यन्तान्हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः यो निन्देत्स बहिष्कार्यः साधुभिर्नास्तिकत्वतः"।

उच्यते। नाचार्या ग्रन्थगौरवं मन्यन्ते। बुद्धिगौरवं यत्नेन परिहरन्ति। तस्मिन्हि सति असम्यगवबोधो धर्मस्य। स च पुरुषार्थं विहन्ति।

भेदनिर्देशेऽपि हि चोदयेयुर्वेदग्रहणमेव कर्तव्यम् सर्वस्य धर्मस्य वैदिकत्वात्। स्माद्विस्पष्टार्थं भेदेनोभयनिर्देशः, सङ्क्षिप्तरुचीनां पूर्वश्लोकः। अन्येषां श्लोकद्वयम्।

स्वस्य च प्रियमात्मनःइत्यनेन प्रागुक्ता आत्मतुष्टिरेवोक्ता। स्वग्रहणं वृत्तपूरणार्थम्। एतत्**साक्षाद्धर्मस्य लक्षणं** निमित्तं, ज्ञापकम्, न पुनः प्रत्यक्षम्। यथाऽन्यैरुक्तं 'साक्षात्कृतधर्माण' इति।

विधाशब्दः प्रकारवचनः। एकमेव धर्मे प्रमाणं वेदाख्यम्। तस्य त्वेते भेदाः स्मृत्यादयः।

अन्ये तूपसंहारार्थमिमं श्लोकं व्याचक्षते। समाप्तं धर्मलक्षणप्रकरणमिति पुनः पाठः समाप्तिं सूचयति। यथा द्विरभ्यासो वेदाङ्गेषु 'संस्थाजपेनोपतिष्ठन्त उपतिष्ठन्त' इति। तथा च पिण्डीकृत इव प्रागुक्तोऽर्थो हृदि वर्तते। यथा नैयायिका 'अनित्यः' शब्द

इति प्रतिज्ञाय साधनोपन्यासं कृत्वा निगमयन्ति 'तस्मादनित्यः शब्द इति'। प्रायेण चैषा ग्रन्थकाराणां रीतिः। तथा महाभाष्यकारोऽपि क्वचित्सूत्रं वार्तिकं वा पठित्वा व्याख्याय पुनः पठति ॥१२॥

हिन्दी—वेद, स्मृति, आचार और मन की प्रसन्नता (किसी विषय में जहाँ एकाधिक पक्ष बतलाये गये हों, वहाँ जिस पक्ष के ग्रहण करने में अपने मन की प्रसन्नता हो); ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं ॥१२॥

श्रुति-स्मृति के विरोध में श्रुति की प्रामाणिकता—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥

भाष्य—गोभूमिहिरण्यादिधन**मर्थः**। तत्र सक्तिस्तात्पर्येण तदर्जनरक्षणार्थं कृषि-सेवादिव्यापारकरणम्। **कामः** स्त्रीसम्भोगः। तत्र सक्तिः नित्यं तदासेवनं तदङ्गानां च गीतवादित्रादीनाम्। तद्वर्जितानां पुरुषाणां **धर्मज्ञानं** धर्मावबोधो **विधीयते** विशेषेण धीयते; व्यवस्थितं भवति। 'धीङ् आधाने' इत्यस्यैतद्रूपम्।

"किमर्थं पुनस्तत्र सक्तानां न भवति धर्मज्ञानम्। यावता तेपि यथाक्षणं तद-विरोधिन्यवसरे भोजनादावितिहासश्रवणादन्योपदेशात्समाचाराद्वा शक्नुवन्ति ज्ञातुम्"—इत्यत आह—**धर्मं जिज्ञासमानानामिति**। मुख्यं प्रमाणं धर्मे वेदः, स च तैर्न शक्यो ज्ञातुम्। अत्यन्तदुर्विज्ञानो ह्यसौ निगमनिरुक्तव्याकरणतर्कपुराणमीमांसाशास्त्रश्रवणमपेक्षते स्वार्थबोधे। न चेयान्ग्रन्थराशिः सर्वव्यापारपरित्यागेन विना शक्य आसादयितुम्। समाचारेतिहासादेः कतिपये धर्मा अवगम्यन्ते, न वेदादिवत्समस्ताङ्गयुक्तो ज्योतिष्टो-मादिप्रयोगः। अत उक्तम्—**प्रमाणं परमं श्रुतिः**। न तु समाचारादेः प्रामाण्यापकर्षः।

तदुक्तं—

योऽहेरिव धनाद्भीता मिष्टान्नाच्च विषादिव।
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥

अपरे त्वर्थकामा दृष्टफलैषिण उच्यन्ते। तत्र 'सक्तानां' पूजाख्यात्यादिकामानां दृष्टफलार्थितया लोकपक्तिमात्रप्रयोजनानां 'न धर्मज्ञानं' धर्मानुष्ठानं 'विधीयते' उप-दिश्यते। ज्ञायतेऽस्मिन्निति ज्ञानमनुष्ठानमित्युच्यते। अनुष्ठीयमानो हि धर्मो व्यक्ततरो भवति शास्त्रावगमकालतोऽपि। अतोऽनुष्ठानं धर्मज्ञानमुच्यते। अत एतदुक्तं भवति। यद्यपि धर्मानुष्ठानाल्लोकपक्त्यादि दृष्टं प्रयोजनमुपलभ्यते तथापि न तत्सिद्धिपरतया तत्र प्रवर्तितव्यम्, किं तर्हि शास्त्रेण तच्चोदितमिति कृत्वा। तथा च प्रवृत्तौ यदि दृष्ट-मपि भवति भवतु, न विचार्यते। तथा च श्रुतिः स्वाध्यायस्य दृष्टं फलमनुवदति "यथा

लोकपक्तिरिति'' ''लोकः पच्यमानश्चतुर्भिरेनं भुनक्ति अर्चया दानेनाजेयतया चावध्यतया'' इत्यादि । श्लोकश्चात्र भवति—

''यथेक्षुहेतोरिह सेचितं पयस्तृणानि वल्लीरपि च प्रसिञ्चति ।
तथा नरो धर्मपथेन सञ्चरन्यशश्च कामांश्च वसूनि चाश्रुते ।।''

''ननु च यस्य यः स्वभावोऽवगतः सोऽन्योद्देशेनाप्यनुष्ठीयमानो न स्वभावाच्च्यवते करोत्येव तत्कार्यम् । यथा विषमौषधौद्देशेनापि पीतं हन्त्येव । अतो दृष्टार्थतयाऽप्यनुष्ठीयमानानि कर्माणि शास्त्रीयाण्यदृष्टार्थान्यपि भविष्यन्ति । को भवतो मत्सरो लोकावर्जनहेतुतया न प्रवर्तितव्यमिति येनात्थ ।''

अत आह 'धर्मं जिज्ञासमानानां' वेदो धर्मे प्रमाणम् । तेन चैतदुक्तम्—दृष्टफलकामार्थानां नादृष्टं भवति । न केवलं अदृष्टं न भवति । यावत्प्रतिषिद्धसेवनादधर्मोऽपि भवति ।।१३।।

हिन्दी—अर्थ और काम (इच्छा) में अनासक मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश किया जाता है, धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद ही मुख्य प्रमाण है ।।१३।।

श्रुति-द्वय के विरोध में दोनों की प्रामाणिकता—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्ययुक्तौ मनीषिभिः ।।१४।।

भाष्य—प्रागुक्तो व्याघातः परिह्रियते । यत्र श्रुत्योर्द्वैधं, विरुद्धाभिधानं, यं धर्मोऽयमिति काचिच्छ्रुतिराह, तमेवाधर्ममित्यन्या— तत्र **उभावपि तौ धर्मा**नुष्ठेयौ विकल्पेन । तुल्यवले हि ते श्रुती । तत्रेयं प्रमाणमियं नेत्यशक्यो विवेकः । अत एकार्थतुल्यबलविरोधे विकल्प इति ।

''उभावपि तौ धर्मावित्युक्तम् । तत्र समुच्चयः प्राप्नोति । एवमुभौ धर्मौ भवतः । अन्यथा एकः स्यात्'' ।

नेति ब्रूमः । पर्यायेणापि प्रयोगे नोभयशब्दस्य प्रवृत्तिविरोधः । न ह्ययं सापेक्ष्यद्वयविषय एव ।

न्याय्यश्च विकल्पः । यथाऽग्निहोत्राख्यमेकं कर्म; तस्य कालत्रयमुपदिष्टम् । तत्र कर्मप्रधानं, कालो गुणः । न चैकस्मिन्प्रयोगे कालत्रयसम्भवः । न च कालानुरोधेन प्रयोगावृत्तिर्युक्ता । नाङ्गानुरोधेन प्रधानमावर्तनीयम् । तस्मान्न्याय्योऽयं तुल्यबलविरोधे विकल्प इति वचनात् ।

''**उभावपि हि तौ धर्मौ**—ननु च को भेदस्तत्र धर्मावित्यस्मादेतस्य ।''

न कश्चित्। पूर्वेण स्वमतमुपन्यस्तमुत्तरेणान्यैरपि गनीषिभिरेतदेवोक्तमिति स्वमतमाचार्यान्तरमतसंवादेन द्रढयति ॥१४॥

हिन्दी—जहाँ पर श्रुतिद्वय (दो वेद वचनों) का परस्पर में विरोध होता हो, वहाँ पर वे दोनों ही वचन धर्म हैं; क्योंकि मनु आदि विद्वानों ने उन दोनों को ही सम्यक् (उत्तम) ज्ञान बतलाया है ॥१४॥

श्रुति-द्वय-विरोध का दृष्टान्त—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ।।१५।।

भाष्य—उदाहरणमिदं समनन्तरप्रदर्शिते विरोधे। य एते त्रयः काला इतरेतरनिन्दया होमस्य विहिताः तत्रायमर्थःश्रुतिवाक्यानाम्। **सर्वथा वर्तते यज्ञः**। सर्वप्रकारो होमः प्रवर्तते प्रवर्तनीय इत्यर्थः। या उदितहोमनिन्दा सा न तत्प्रतिषेधार्था किं तर्ह्यनुदितहोमविध्यर्था। एवमितरत्रापि। तेनायमर्थं उक्तो भवति 'सर्वथा कर्तव्य एतेषां कालानामन्यतमस्मिन्काले'। तत्र यस्मिन्कृतस्तत्र सम्पूर्णः शास्त्रार्थो भवतीतीयं **वैदिकी श्रुतिरे**वम्परा। अस्मिन्नर्थेऽस्यास्तात्पर्यं न पुनर्निन्द्यमानप्रतिषेधे।

यज्ञो होमोऽत्राग्निहोत्राख्योऽभिप्रेतः। यागहोमयोर्यतो नात्यन्तं भेदः। देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य स्वत्वत्यागो 'नेदं मम देवताया इदमिति' यागः। एतच्च स्वरूपं होमेऽप्यस्ति। अयं तु विशेषो द्रव्यस्य होमे प्रक्षेपः अधिक; आरोपणविशेषोऽग्न्यादौ। अतो यज्ञशब्देनात्र होमस्याभिधानम्। होमे ह्येते कालाः श्रुतावाम्नाता न यागमात्रे।

उदितादिशब्दैश्चोदिते होतव्यमित्यादिका श्रुतिरेकदेशेन लक्ष्यते। येयमुदिते होतव्यं नोदिते होतव्यमिति श्रुतिः सैवम्परेत्येवं योजना।

समयाध्युषितशब्देन समुदायेनैवोषसः काल उच्यते। अन्ये तु पदद्वयमेतदित्याहुः। 'समया'शब्दः समीप वचनः समीपिनमपेक्षते। उदितानुदितयोः सन्निधानात्तत्समीपी संध्याकालः। 'अध्युषितं राहोर्ववासकालः, व्युष्टायां रात्रावित्यर्थः। कासुचिच्छ्रुतिष्वेवं पठितं कासुचिदेवमिति श्रुतिवाक्यानुकरणमेषा स्मृतिस्तत्र किं पदद्वयमेतदुक्तैकमिति तत एव निर्णयः।

अतो विकल्पेनैकं होमाख्यं कर्म, प्रतिकालत्रयविधानान्नास्ति विरोधः। सिद्धरूपे हि वस्तुनीतरेतरविरुद्धरूपसमावेशासम्भवात्स्याद्विरोधो, न साध्ये। साध्यं ह्यनेनापि सिध्यत्यनेनापीत्यवगम्यते। तत्र कुतो विरोधः।

एष एव च स्मृतिनां विरुद्धानां विकल्पो न्याय्यः ॥१५॥

हिन्दी—"सूर्य के उदय होने पर, सूर्य के उदय नहीं होने पर (जब पूर्व दिशा

लालिमा युक्त हो जाय तथा कहीं-कहीं एक-दो तारे भी दृष्टिगोचर हो रहे हों तब) और अध्युषित काल में (न तो सूर्योदय ही हुआ हो और न तो तारे ही दृष्टिगोचर हो रहे हों; ऐसे समय में) सर्वथा यज्ञ (अग्निहोत्र-सम्बन्धी हवन) करना चाहिये'' ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं (यहाँ उक्त तीनों समय परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं), अतएव इस प्रकार का द्वैध अर्थात् विकल्प वचन आने पर उक्त तीनों समयों में से किसी भी समय में यज्ञ (अग्निहोत्र-सम्बन्धी हवन) करना धर्मशास्त्र के अनुकूल ही है ॥१५॥

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृतिः ।
तस्मात्प्रमाण मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ।।३।।]

[मुनि लोग सब वेदों का साक्षात्कार करते हैं और अन्य लोग स्मृति के अनुसार वेदों की कल्पना करते हैं; इसलिये सभी लोगों में मुनि लोग ही प्रमाण हैं और वे ही प्रमाण तथा पृथ्वी में ख्यात हैं ॥३॥]

[धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा ।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ।।४।।]

['सूर्य के उदित या अनुदित रहने पर हवन किया जाय' इत्यादि धर्मों में व्यतिक्रम (किसी को कुछ करते तो किसी को कुछ करते) देखा गया है और श्रेष्ठ लोगों का साहस भी (यही कल्याणकारी है तो यही कल्याणकारी है ऐसा कहना भी) देखा गया है। इसलिए इनको अच्छी तरह समझ कर (स्वस्य च प्रियमात्मनः) इसके अनुसार चलने वाले कल्याण पाते हैं और जो इनमें द्वैध देखकर अन्य धर्म का अवलम्बन करते हैं, वे 'परधर्मो भयावहः' के अनुसार क्लेश पाते हैं ॥४॥]

वैदिक संस्कार से संस्कृत ही इस धर्मशास्त्र का अधिकारी—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ।।१६।।

भाष्य—'विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यमिति' पठन्ति । स चार्थवादः । तत्र तव्यप्रत्ययदर्शनात्कस्यचिद्विधिभ्रान्तिः स्यात् । तथा च सति क्षत्रियवैश्ययोरध्ययनं निवर्तेत इत्येदाशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः क्षत्रियवैश्ययोः प्राप्तिं दर्शयति । तथा यथाकामी शूद्रोऽप्यप्रतिषेधादध्येतुं प्रवर्तेत तन्निवृत्त्यर्थमपीत्येवमिमं श्लोकं पूर्वे व्याचक्षिरे ।

शास्त्रशब्दोऽयं मानवग्रन्थवचनः । **अधिकारो** मयैतदनुष्ठेयमित्यवगमः । न च शब्दराशेः सिद्धस्वभावस्यानुष्ठेयत्वावगतिः सम्भवति । न हि द्रव्यमनाश्रित्य क्रियाविशेषं साध्यतयाऽवगम्यते । अतः शास्त्रविषयायां कस्याञ्चित्क्रियायामधिकार इत्यवगम्यते । तत्र कृभ्वस्तयस्तावन्न विषयतया प्रतीयन्ते । भ्वस्त्योर्भवत्यर्थत्वात् । भ्वस्ति-

सम्बन्धे ह्ययमर्थः प्रतीयते 'शास्त्रस्य यद्भवनं या च सत्ता तामनुतिष्ठेदिति' । न चान्यदीयायां सत्तायामन्यस्यानुंष्ठातृत्वसम्भवः । करोत्यर्थेपि न सम्भवति । पदानां नित्यत्वाद्वाक्यानां चान्येन कृतत्वात् । अतः शास्त्रसहचारिण्यध्ययनक्रिया प्रतीयते । अतोऽयमर्थ उक्तो भवति–'शास्त्राध्ययने तस्याधिकारः' यथैवाध्ययने तथैव श्रवणेऽपि ।

"न न्वादिमत्त्वान्मानवस्य ग्रन्थस्य कथं तद्विषयो विधिरनादिवेदमूल इति शक्यते वक्तुम् ।"

उच्यते । यानि कानिचन शास्त्रप्रतिपादकानि वाक्यानि न तानि शूद्रेणाध्येयानीति शक्यते सामान्यतोऽनुमानम् । यानि वेदवाक्यानि यानि तदर्थव्याख्यानवाक्यानि व्याख्यातृणां तत्प्रतिरूपकाणि तान्यपि प्रवाहनित्यतया नित्यान्येव ।

अर्थानुष्ठानं तु शास्त्रविषयः । तत्र चातुर्वर्णस्याधिकारः ।

"नन्वेवं सत्यनुपात्तकर्तृविशेषेषु सामान्यधर्मेषु शूद्रस्याधिकारप्रसङ्गः ।"

यथा न भवति तथा तत्र तत्र कथयिष्यामः ।

"ननु कथमध्ययनावबोधाधिकारनिषेधे कर्माधिकारः? न ह्यविदितकर्मरूपस्य तदनुष्ठानसम्भवः, न चाध्ययनमन्तरेण तदर्थावबोधसम्भवः, न चावैद्योऽधिक्रियते ।"

सत्यम् । परोपदेशादपि यावत्तावत्सिद्ध्यति परीज्ञनम् । यं ब्राह्मणमाश्रितः शूद्रो, यो वाऽर्थतः प्रवृत्तः स एनं शिक्षयिष्यतीदं कृत्वेदं कुर्विति । अतो न कर्मानुष्ठानप्रयुक्ते शूद्रस्याध्ययनवेदने, स्त्रीवत्परप्रत्ययादप्यनुष्ठानसिद्धेः । यथा स्त्रीणां भर्तृविद्यैव प्रसङ्गादुपकरोति न कर्मश्रुतयो विद्यां प्रयुञ्जते । तेषामेव स्वप्रत्ययोऽनुष्ठानहेतुर्येषां 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधिरस्ति पुंसाम् । स च पुंसां त्रैवर्णिकानाम् । तेषामपि नार्थज्ञानप्रयुक्तेऽध्ययनवेदने, अपि तु विधिद्वयप्रयुक्ते आचार्यकरणविधिना स्वाध्यायाध्ययनविधिना च ।

निषेको गर्भाधानं स आदिर्यस्य संस्कारकलापस्य स **निषेकादिः** । गर्भाधानं च विवाहादनन्तरं प्रथमोपगमे विष्णुर्योनिं कल्पयतु इति मन्त्रवत्केषाञ्चिद्विहितम् । परेषामागर्भग्रहणात्प्रत्यृतु ।

श्मशानमन्तोऽस्येति **श्मशानान्तः** । श्मशानशब्देन मृतशरीराणि यत्र निधीयन्ते तत्स्थानमुच्यते । तच्च साहचर्यात्प्रेतसंस्कारं पराचीमिष्टिं लक्षयति । सा हि मन्त्रवती, न स्थानम् ।

अनेन च द्विजातयो लक्ष्यन्ते । तेषां हि मन्त्रवन्तः संस्काराः । द्विजातीनामिति नोक्तम् । विचित्रा श्लोकानां कृतिः स्वायम्भुवस्यास्य मनोः ।

मन्त्रैरुदित वक्तो विधिरिति नायं सम्बन्धः । न हि मन्त्रा विधिं वदन्ति । किं तर्हि

प्रयोगावस्थस्य विधेयस्य स्मारकाः, न विधायकाः । तस्मादेवं व्याख्येयम्–मन्त्रैर्युक्तः समन्त्रको येषामयं विधिरिति ।

नान्यस्य कस्यचिदित्यनुवादो, द्विजातीनां नियतत्वात् । अथवा कश्चिन्मन्येत– "द्विजातीनामयं विहितोऽवश्यकर्तव्यः, शूद्राणां त्वशिष्टोऽप्रतिषिद्ध इति" । तदा शङ्का-निवृत्त्यर्थमिदमुक्तम् ॥१६॥

हिन्दी—गर्भाधान संस्कार से आरम्भ कर अन्त्येष्टि (मरण) संस्कार पर्यन्त वेद मन्त्रों के द्वारा पहले से ही जिसके संस्कार का विधान है, उसी (द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का इस शास्त्र में (शास्त्र के पढ़ने तथा सुनने में) अधिकार है, दूसरे किसी (चाण्डाल या शूद्रादि) का नहीं (अध्यापन के लिये अध्ययन करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है, यह बात पहले (१।१०३ में) ही कह आयें हैं) ॥१६॥

ब्रह्मावर्त देश—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ।।१७।।

भाष्य—उक्तानि धर्मे प्रमाणानि । विरोधे च विकल्पोऽभिहितः । अधिकारिणश्च सामान्येनोक्ताः । इदानीं येषु योग्यतया धर्मोऽनुष्ठेयतामापद्यते ते देशा वर्ण्यन्ते । **सरस्वती** नाम नदी । अपरा **दृषद्वती** । तयोर्नद्यो**र्यदन्तरं** मध्यं **तं देशं ब्रह्मावर्त** इत्यनया संज्ञया **प्रचक्षते** व्यवहरन्ति शिष्टाः ।

देवग्रहणमवध्यवधिमतोः स्तुत्यर्थम् । देवैः स निर्मितोऽतः सर्वेभ्यो देशेभ्यः पावनतर इति ॥१७॥

हिन्दी—सरस्वती तथा दृषद्वती, इन दो देव-नदियों के मध्य का जो देश है, उसे देव निर्मित (देव-नदी-निर्मित) 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं ॥१७॥

सदाचार का लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।।१८।।

भाष्य—"अथास्मिन्देशे य आचारस्तस्य प्रामाण्ये किं विद्वत्ता शिष्टता चोपाधि-रङ्गीक्रियते, अथाविदुषामशिष्टानां च देशोपाधिरेव प्रमाणम् । किं चातः । यदि नापेक्ष्यते, यत्तदुक्तं 'आचारश्चैव साधूनामिति' विशेषणद्वयमनर्थकम् । न त्वसाध्वाचारस्य धर्म-मूलतोपपद्यते, वेदसंयोगासम्भवात् । अथापेक्ष्यते, देशविशेषसम्बन्धानुपकारः । न हि देशान्तरेऽपि शिष्टसमाचारस्याप्रामाण्यं शक्यते वक्तुम्" ।

उच्यते। प्रायिकमेतदभिधानम्। प्रायोवृत्त्याऽस्मिन्देशे शिष्टानां सम्भव इत्युक्तम् **तस्मिन्देशे य आचारः स सदाचार इति**।

अन्ये तु देशान्तरे मातुलदुहितुः परिणयनाद्देशाचारनिषेधार्थमिदमित्याहुः।

तदयुक्तम्। अविशेषैणैवोक्तं "तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्"। स च विरुद्ध 'ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो मातृबन्धुभ्यश्च पञ्चमात्' इत्येतेन। अस्मिन्नपि देशेऽनुपनीतेन सहभोजनादिराचारो नैव धर्मत्वेनेष्यते। न च स्मृतिविरुद्धस्याचारस्य प्रामाण्यसम्भवः, श्रुति विप्रकर्षात्। आचारात्स्मृतिरनुमातव्या, स्मृतेः श्रुतिः। स्मृतिस्त्वव्यवहितामेव श्रुतिमनुमापयति। किञ्च कारणग्रहाच्चैवमादेराचारस्य। रूपवतीं मातुलकन्यां कामयमाना राजभयादूढवन्तः, कन्यागमनं दण्डो माभूदिति। अन्ये त्वविद्वांसो "येनास्य पितरो याता" इत्यस्य यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वा धर्मोऽयमिति प्रतिपन्नाः। अपि च 'एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेतेति' प्रायश्चित्तं श्रुतमपि। भ्रान्तिहेतुराभ्यस्तिसृभ्योऽन्या न प्रतिषिद्धा इति। यथा चास्य नायमर्थस्तथा वक्ष्यामः। न च दृष्टकारणयोः स्मृत्याचारयोः प्रामाण्यम्। उक्तं च **भट्टपादैः**—

विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दृष्टकारणा।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा सम्भवश्रुतिः॥

तस्मात्'एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्'इत्येतद्विधिशेषा देशप्रशंसार्थवादा एते।

परम्परैव **पारम्पर्य्यम्**। अन्यस्मादन्यमुपसंक्रामति, तस्मादन्यं ततोऽप्यन्यमित्येवंरूपः प्रवाहः परम्परा। '**क्रमः** तदविच्छेदस्तत **आगतः** सम्प्राप्तः।

सङ्कीर्णयोनयः '**अन्तरालाः**'। तत्सहिंतानां वर्णानाम्॥१८॥

हिन्दी—उस देश में ब्राह्मणादि और अम्बष्ठ:रथकार आदि वर्णसङ्कर जातियों का कुल- परम्परागत (आधुनिक नहीं) जो आचार है, वही "सदाचार" कहा जाता है॥१८॥

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा संभवश्रुतिः॥५॥]

[**हिन्दी**—प्रत्यक्ष विषयों से इष्ट-सम्पादन के लिए जो (चार्वाकों की) वेदविरुद्ध और सज्जन निन्दित स्मृति है, वह श्रुतिमूलक नहीं है। अतः नहीं मानना चाहिये किन्तु वेदमूलक जो यह स्मृति है इसे ही मानना चाहिये॥५॥]

कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देश—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥१९॥

भाष्य—देशनामधेयान्येतानि। **कुरुक्षेत्रं** स्यमन्तपञ्चकं प्रसिद्धम्। कुरवस्तत्र क्षयं गताः। 'कुरु वा सुकृतं क्षिप्रमत्र त्राणं भविष्यतीति' व्युत्पत्तिः। मत्स्यादयः शब्दा बहुवचनान्ता एवं देशवचनाः।

ब्रह्मर्षिदेश इति समुदायसंज्ञा। देवनिर्मितो देशो ब्रह्मावर्तः। देवेभ्यः किञ्चिन्न्यूना ब्रह्मर्षय इत्यतोऽयं देशो ब्रह्मर्षि सम्बन्धाद्ब्रह्मावर्तान्न्यूनः। तथा चाह। **ब्रह्मावर्तादनन्तर** ईषद्भिन्नः। नञ्ईषदर्थः। यथाऽनुष्णां यवागूं पिबेदामयावीतीषदुष्णामुपदिशन्ति। **अन्तर**शब्दो भेदवचनः। 'नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरमिति' यथा ॥१९॥

हिन्दी—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल (पञ्जाब या कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौज का समीपवर्ती भाग) और सूरसेन देश; वह "ब्रह्मर्षि देश" ब्रह्मावर्त से कुछ कम उसके बाद में हैं ॥१९॥

उन देशों के ब्राह्मणों से आचार-शिक्षा-ग्रहणोपदेश—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

भाष्य—एतेषु देशेषु कुरुक्षेत्रादिषु प्रसूतस्या**ग्रजन्मनो** ब्राह्मणस्य **सकाशात्स्वं स्वं चरित्र**माचारं **शिक्षेर**ञ्जिज्ञासेरन्। 'तस्मिन्देश' इत्यनेनैतद्व्याख्यातम् ॥२०॥

हिन्दी—इन देशों (श्लो० १७ तथा १९ में कथित) में उत्पन्न ब्राह्मणों से पृथ्वी पर सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र सीखें (वहाँ के निवासी ब्राह्मण जैसा कहें तथा स्वयं आचरण करें, वैसा ही पृथ्वी मात्र के मनुष्य करें ॥२०॥

मध्यदेश—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

भाष्य—उत्तरस्यां दिशि हिमिवान्पर्वतो दक्षिणस्यां विन्ध्यः। **विनशनं** सरस्वत्या अन्तर्धानदेशः। **प्रयोगो** गङ्गायमुनयोः सङ्गमः। एतान्देशानवधीकृत्य **मध्यं** मध्यदेशनामानं **देशं** विद्यात्। नात्युत्कृष्टो नातिनिकृष्ट इत्यतोऽयं मध्यदेशो, न तु पृथिवीमध्यभवत्वात् ॥२१॥

हिन्दी—(उत्तर-दक्षिण भाग से क्रमशः) हिमालय और विन्ध्याचल के बीच, बिनशन (सरस्वती नदी के अन्तर्धान होने का देश कुरुक्षेत्र) के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम का देश "मध्यदेश" कहा गया है ॥२१॥

आर्यावर्त देश—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।।२२।।

भाष्य—आपूर्वसमुद्रादापश्चिमसमुद्राद्योऽन्तरालवर्ती देशस्तथा तयोरेव पूर्वश्लोकोपदिष्टयोर्गिर्योः पर्वतयोर्हिमवद्विन्ध्ययोर्यदन्तरं मध्यं स आर्यावर्तो देशो बुधैः शिष्टैरुच्यते। आर्या वर्तन्ते तत्र पुनःपुनरुद्भवन्ति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति। आङत्र मर्यादायां नाभिविधौ। तेन समुद्रद्वीपानि नार्यावर्तः। एते चतसृषु दिक्षुदेशावधय उपात्ताः प्राच्यां पूर्वसमुद्रः, प्रतीच्यां पश्चिमः, उदग्दक्षिणयोर्हिमवद्विन्ध्यौ। एतौ ह्यवमित्वनोपात्तौ। न तयोरार्यावर्तत्वमस्यतस्तत्र निवासाभावे प्राप्ते इदमाह ।।२२।।

हिन्दी—(पूर्व पश्चिम भाग से क्रमशः) पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र और उन्हीं दोनों पर्वतों (हिमालय और विन्ध्याचल) के मध्य स्थित देश को पण्डित लोग "आर्यावर्त" देश कहते हैं ।।२२।।

यज्ञिय और म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो तेशो म्लेच्छदेशस्त्वत परः ।।२३।।

भाष्य—कृष्णश्वेतः कृष्णपीतो वा कृष्णसाराख्यो **मृगो यत्र चरति** निवसति। सम्भव उत्पत्तिर्यत्र देशे तस्य **स्वभावतो**, न पुनर्देशान्तरात्प्राशस्त्योपायनादिना निमित्तेनानीतस्य कियन्तमपि कालं निवासः। **स देशो यज्ञियो** यागार्हो बोद्धव्यः। अतः कृष्णमृगचरणात्परोऽन्यो **म्लेच्छदेशः**। म्लेच्छाः प्रसिद्धाः। चातुर्वर्ण्यजात्यपेताः प्रतिलोमजातीयानधिकृता मेदान्ध्रशबरपुलिन्दादयः।

न चानेन यागाधिकरणताऽस्य देशस्य विधीयते, 'समे यजेतेति'वत्। चरतीति वर्तमाननिर्देशात्। न हि यत्रैव चरितुं प्रवृत्तस्तदैव तत्र यागः शक्यः कर्तुम्। यागस्य हि देशोऽधिकरणं तत्साधनकर्त्रादिकारकाश्रितद्रव्यादिधारणद्वारेण। न च द्वयोर्मूर्त्तयोरेककाले एकदेशे स्थानसम्भवः–न च कालान्तरलक्षणा न्याय्या, विधौ लक्षणाया अन्याय्यत्वात्। यथोक्तं शूर्पाधिकरणे–'एतद्धि क्रियत इत्युच्यत' इति।

"ननु च नाभिव्यापक एवाधेयो येन कृत्स्नाधाराभिव्याप्त्यैवाधिकरणार्थनिर्वृत्तिः स्यात्, तिलेषु तैलमितिवत्। किंतर्हि एकदेशसम्बन्धिनाऽप्याधेयेन भवति कृत्स्नस्याधारभावः, 'प्रासाद आस्ते रथमधितिष्ठतीति'। एवमिह ग्रामनगरसमुदायस्य नंदीपर्वतान्ताद्यवधिकस्य देशस्य प्रकृतत्वादेकदेशेऽपि पर्वतारण्यादौ चरन्सर्वमाधारीकरोति। तेना-

यमदोषः मूर्तयोर्नैकदेशः सम्भवति''।

उच्यते। नैवात्र यष्टव्यमिति विधिरस्ति। जानातेः परो विधायकः श्रुतो न यजेः। यागस्य तत्रार्हता श्रुता, यागार्होऽसौ देश इति। सा च यागार्हताऽसत्यपि विधौ घटते। एतेषु देशेषु यागाङ्गानि दर्भपलाशखदिरादीनि प्रायेण च भवन्ति। अधिकारिणश्च त्रैवर्णिका त्रैविद्याश्च तेष्वेव देशेषु दृश्यन्ते। अत एतदवलम्बनो यागार्हतानुवादः। कृत्योऽपि 'ज्ञेय' इत्यध्यारोपितविध्यर्थो 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयादि' तिवद्विधिवन्निगदार्थवाद एव।

यच्चोक्तं 'म्लेच्छदेशस्त्वतः पर' इत्येषोऽपि प्रायिकोऽनुवाद एव। प्रायेण ह्येषु देशेषु म्लेच्छा भवन्ति। न त्वनेन देशसम्बन्धेन म्लेच्छा लक्ष्यन्ते, स्वतस्तेषां प्रसिद्धेर्ब्राह्मणादिजातिवत्। अथार्थद्वारेणायं शब्दः प्रवृत्तो म्लेच्छानां देश इति। तत्र यदि कथञ्चिद्ब्रह्मावर्तादिदेशमपि म्लेच्छा आक्रमेयुः तत्रैवावस्थानं कुर्युर्भवेदेवासौ 'म्लेच्छदेशः'। तथा यदि कश्चित्क्षत्रियादिजातीयो राजा साध्वाचरणो म्लेच्छान्पराजयेत् चातुर्वर्ण्यं वासयेत् म्लेच्छांश्चार्यावर्त इव चाण्डालान्व्यवस्थापयेत्सोऽपि स्याद्यज्ञियः। यतो न भूमिः स्वतो दुष्टा। संसर्गाद्धि सा दुष्यत्यमेध्योपहतेव। अत उक्तदेशव्यतिरेकेणापि सति सामग्र्ये त्रैवर्णिकेनाकृष्णमृगचरणेऽपि देशे यष्टव्यमेव। तस्मादनुवादोऽयम् 'संज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः पर' इत्युत्तरविधिशेषः ॥२३॥

हिन्दी—जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही (कहीं अन्यत्र से लाकर रखा या छोड़ा गया नहीं) विचरण करता है ''यज्ञिय'' (यज्ञ के योग्य) देश है, इसके अतिरिक्त ''म्लेच्छदेश'' कहते हैं ॥२३॥

एतान् द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिंस्तस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥२४॥

यदर्थं देशसंज्ञाभेदकथनं तमिदानीं विधिमाह। एतान्ब्रह्मावर्तादीन् **देशान्द्विजातयो** देशान्तरेऽपि जाताः **संश्रयेरन्**। जन्मदेशं त्यक्त्वा ब्रह्मावर्तादिदेशसंश्रयणं प्रयत्नेन कर्तव्यम्।

अत्र केचिदाहुरदृष्टार्थ एवायमेतद्देशसंश्रयणविधिः। सत्यपि देशान्तरेऽधिकारसम्भवे एतेषु निवासः कर्तव्यः। तत्र कल्प्याधिकारत्वे, यदि वा गङ्गादितीर्थस्नानवदेतद्देशनिवासविधिः पावनत्वेन कल्प्यते। यथैव काश्चिदापः पवित्रतरा एवं भूमिभागा अपि केचिदेव पवित्राः, यथोक्तं पुराणे। यदि वा संश्रयणादेव स्वतन्त्रात्स्वर्गो विश्वजिद्वत्।

तत्रैतौ द्वावपि पक्षावप्राप्तौ। यद्यप्राप्तः संश्रयो विधीयते कल्प्येताप्यधिकारः। तत्र चिन्त्यते कतरः पक्षो युक्त इति। स तु नित्यकाम्यानामुक्तया रीत्या एतद्देश एवानुष्ठानसम्भवादधिकृतानां प्राप्त एव। न ह्येतद्देशव्यतिरेकेण कृत्स्नधर्मानुष्ठानसम्भवः।

तथाहि। हिमवती तावत्काश्मीरादौ शीतेनार्दिता न बहिः सन्ध्योपासनेऽधिक्रियन्ते। न च यथाविधि स्वाध्यायसम्भवः प्राग्वोदग्वा ग्रामादुपष्क्रिम्येति। न हि हेमन्तशिशिरयो-रहरहर्नदीस्नानादिसम्भवः।

इदमेव **च द्विजातय** इति वचनलिङ्गम्। न कश्चिदेव देशोऽसति म्लेच्छसम्बन्धे स्वत एव म्लेच्छदेशः। अन्यथा तद्देशसम्बन्धान्म्लेच्छत्वे कथं द्विजातित्वम्? अथोच्यते– "न गमनमात्रान्म्लेच्छताऽपि तु निवासात्। स चानेन प्रतिषिध्यते"—तच्च न। संश्र-योऽत्र श्रूयते। स च देशान्तरे भवतस्तत्त्यागेनान्यदेशसम्बन्धः। न संश्रितस्यैव संश्रय-णम्। अन्यथा एवमेवावक्ष्यत् 'एतान्देशांस्त्यक्त्वा नान्यत्र निवसेत्'। अथ सिद्धे संश्रयणे तद्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थमिति–परिसङ्ख्या तथा स्यात्। तस्याश्च त्रयो दोषाः। "अथ हानिर्लक्ष्यते–एतान्देशान्न जह्यादिति"—न श्रुतार्थसम्भवे लक्षणा युक्ता। अत एव न भूतपूर्वगतिः। तस्माल्लिङ्गमिदं न देशसम्बन्धेन पुरुषा म्लेच्छाः, किं तर्हि पुरुषसम्बन्धेन म्लेच्छदेशता।

शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषाया विहितत्वात्तद्देशनिवासे सर्वदा प्राप्ते तत्राजीवतो देशान्तर-निवासोऽभ्यनुज्ञायते। यदा बहुकुटुम्बतया शुश्रूषाशक्त्या वाऽयं द्विजातिमाश्रितः स एनं बिभृयात्। तदा देशान्तरे सम्भवति धनार्जने निवसेत्। तत्रापि न म्लेच्छभूयिष्ठे, किं तर्हि यज्ञिये; म्लेच्छावृते यानासनाशनादिक्रियानिमित्तस्य संसर्गस्यापरिहार्यत्वात्त-द्भावापत्तिप्रसङ्गात्।

वृत्तिकर्शितो वृत्त्यभावपीडितः। 'वृत्ति'रात्मकुटुम्बस्थितिसमर्थं धनम्। तदभावे यत्'कर्शनं' तत्सम्बन्धितयोच्चते। यथा वर्षाकृते सुभिक्षदुर्भिक्षे। दुर्भिक्षं वर्षाभाव-कृतम्। दुर्भिक्षं वर्षाकृतत्वेन व्यपदिश्यते।

यस्मिंस्तस्मिन्नित्यनियममाह ॥२४॥

हिन्दी—द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, वे चाहे इन देशों में उत्पन्न हों चाहे अन्यत्र कहीं भी उत्पन्न हों) इन देशों का आश्रय करें अर्थात् इन देशों में निवास करें; परन्तु शूद्र तो वृत्ति के लिए कहीं भी निवास करें ॥२४॥

वर्णादि-धर्म—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत॥२५॥

भाष्य—अतिक्रान्तस्य सर्वस्य ग्रन्थार्थस्य पिण्डार्थकथनमविस्मरणार्थम्। **योनिः** कारणम्। **समासेन** सङ्क्षेपेण। **सम्भवश्चेति** प्रथमाध्यायार्थावमर्शः। **अस्य सर्व-स्येति**। जगन्निर्माणं बुद्ध्या प्रत्यक्षीकृत्य निर्दिशति। वर्णानुष्ठेया धर्मा **वर्णधर्माः**। **तान्निबोधत**। विस्तरेणेति शेषः।

इह पञ्चप्रकारो धर्म इति स्मृतिविवरणकारा प्रपञ्चयन्ति । वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो नैमित्तिको धर्मो गुणधर्मश्चेति । तत्र यो जातिमात्रमपेक्ष्य प्रवृत्तो न वयोविभागा-श्रमादिकमाश्रयति स 'वर्णधर्मः' । यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' । 'ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति' जातिमात्रस्याऽऽन्त्यादुच्छ्वासादेष धर्मः । 'आश्रमधर्मो' यत्र जातिर्नापेक्ष्यते केवला, यदाश्रमप्रतिपत्तिराश्रीयते । यथा ब्रह्मचारिणोऽग्नीन्धनभिक्षाचरणे । 'वर्णाश्रमधर्म' उभयापेक्षः । यथा मौर्वी ज्या क्षत्रियस्येत्यादिः । नाश्रमान्तरे न च जात्यन्तरस्य धारण-मस्या उदाहरणम् । प्रथमोपादानन्तूपनयनधर्मो नाश्रमधर्मः । उपनयनं चाऽऽश्रमार्थं नाश्रमधर्मः । 'नैमित्तिको' द्रव्यशुद्ध्यादिः । गुणमाश्रितो 'गुणधर्मः' । 'षड्भिः परिहार्यश्चे'-त्यादिः । बाहुश्रुत्येन गुणेनैते धर्माः । एवमभिषिक्तस्य क्षत्रियस्य ये धर्माः ।

तदेतद्वर्णग्रहणेन सर्वं गृहीतमिति दर्शितम् । अवान्तरभेदस्तु ततएवावतिष्ठते । पुरुषत्वमात्राश्रिता अवर्णधर्मा अपि सन्ति । तेऽपि भेदेन वाच्याः स्युः । एवमन्योऽपि भेदोऽभ्यूह्यः । वर्णग्रहणं चात्र प्रदर्शनार्थम्, नान्तरप्रभवव्युदासार्थम् । पूर्वं प्रतिज्ञात-त्वात् । तदनुवादिनी ह्येषा प्रतिज्ञा ॥२५॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) मैंने आप लोगों से धर्म के कारण तथा सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति को सङ्क्षेप में कहा । अब वर्ण-धर्मों को (१ वर्ण-धर्म, २. आश्रम-धर्म, ३ वर्णाश्रम-धर्म, ४ गौण-धर्म और ५ नैमित्तिक धर्मों को) सुनो ॥२५॥

विमर्श—१. वर्णधर्म—ब्राह्मण आदि वर्णमात्र के आश्रय से प्रवृत्त होने वाला धर्म; यथा—यज्ञोपवीत आदि । २. आश्रमधर्म—ब्रह्मचर्य आदि आश्रयमात्र से प्रवृत्त होने वाला धर्म; यथा—भिक्षा-वृत्ति तथा दण्ड-धारण आदि । ३. वर्णाश्रम-धर्म—ब्राह्मण आदि वर्ण तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रम–इन दोनों के आश्रय से प्रवृत्त होने वाला धर्म; यथा—मौञ्जी मेखला तथा पालाश-पैप्पल (पलाश का और पीपल का) दण्ड आदि । ४. गुण-धर्म—गुणों के आश्रय से प्रवृत्त होने वाला धर्म; यथा—अभिषिक्त राजा का प्रजापालन आदि और ५. नैमित्तिक धर्म-एक निमित्त के आश्रय से प्रवृत्त होने वाला धर्म; यथा—प्रायश्चित विधान आदि[1] ।

---

१. "तदुक्तं भविष्यपुराणे—

वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणोनैमित्तिकस्तथा वर्णत्व-मेकमाश्रित्य यो धर्मः सम्प्रवर्तते । वर्णाश्रमः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप! यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते । स खल्वाश्रमधर्मस्तुभिक्षदण्डादिको यथा । वर्णत्त्वमाश्रमत्वञ्च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्द्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः सम्प्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा । इति (म०मु०) ।

वैदिक मन्त्रों से द्विजों के संस्कार का विधान—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।। २६ ।।

भाष्य—मन्त्रप्रयोगा 'वैदिककर्माणि' । 'वेदा' मन्त्रा इहाभिप्रेताः । तेषां यान्युच्चारणानि तानि तत्र भवानि । अतोऽध्यात्मादित्वाट्ठक् । वेदमूलत्वाद्वोपचरितो वैदिकशब्दः । कर्मशब्देन च इतिकर्तव्यतारूपं कर्म गृह्यते । ततश्च **कर्मभिर्निषेकादिः संस्कारः कार्य** इति साध्यसाधनभेदोपपत्तिः । प्रधानं निषेको, मन्त्रोच्चारणमितिकर्तव्यता ।

'निषेका' योनौ शुक्रनिक्षेपः । स आदिर्यस्य संस्कारकलापस्य वक्ष्यमाणस्योपनयनपर्यन्तस्य । एकवचनं **शरीरसंस्कार** इति समुदायापेक्षम् । संस्कारशब्देन च सगुणशरीर निर्वर्तकमुच्यते । तत्र निषेको निर्वर्तकोऽन्यानि विशेषजनकानि ।

एतदेवाह— **पावन इति** । पावयति अशुद्धतामपकर्षतीति पावनः ।

प्रेत्य चेह चेति । संस्कृतस्य सर्वत्रात्र दृष्टादृष्टफलेषु कर्मसु कारीरीज्योतिष्टोमादिष्वधिकारादुभयलोकोपकारकत्वमाह ।

पुण्यैः शुभैर्मङ्गलैरिति यावत् । सौभाग्यमावहन्ति दौर्भाग्यं चापनुदन्तीति पुण्यपावनशब्दयोरर्थभेदः ।

द्विजन्मनामिति शूद्रपर्युदासार्थम् । संस्कार्यनिर्देशश्चायम् । लक्षणया च त्रैवर्णिकाः प्रतीयन्ते । न हि तदानीं द्विजन्मानो भवन्ति ॥२६॥

हिन्दी—इस लोक में तथा मृत्यु के बाद परलोक में पवित्र करने वाला ब्राह्मणादि वर्णों का गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रों से करना चाहिए ॥२६॥

संस्कार का पापक्षय कारणत्व—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।। २७ ।।

भाष्य—उक्तं संस्कारप्रयोजनं पावनः शरीरसंस्कारःपुण्यश्च । तत्र पावनत्वमुच्यते दुष्टस्य दोषापकर्षणम् ।

कुतः पुनः शरीरस्य दुष्टतेत्याशङ्कायामाह—**बैजिकं गार्भिकं चैन इति** । बीजे भवं बीजनिमित्तं वा 'बैजिकम्' । एवं 'गार्भिकम्' । 'एनः' पापमदृष्टं दुःखकारणम् । तस्य बीजगर्भयोर्निमित्तभावादशुचित्वमात्रमिहोच्यते । शुक्रशोणिते पुरुषस्य 'बीजम्' । ते च स्वाभावादशुचिनी । गार्भाधान्यपि दोषसङ्क्रान्त्या दुष्टैव । अतस्तन्निमित्तमशुचित्वं पुरुषस्य संस्कारैर**पमृज्यते**ऽपनुद्यते ।

तानिदानीं कांश्चिन्नामधेयेन, कांश्चित्संस्कार्यविशेषोपलक्षितान् कृत्वा निर्दिशति। **गार्भैर्होमैः** । गर्भे सम्भूते नार्याः क्रियन्ते । गर्भं वा ग्रहीतुम् गर्भप्रयोजनकत्वाद्गार्भाः । नारी तत्र द्वारमात्रम् । प्रयोजकस्तु गर्भ एव । अतस्तत्प्रयुक्तत्वाच्च तदर्था होमाः पुंसवन सीमन्तोन्नयनगर्भाधानानि । होमशब्द उपलक्षणार्थः कर्ममात्रस्य । न हि गर्भाधानं होमः । एतेषां च कर्मणां द्रव्यदेवतादिरूपं गृह्यस्मृतिभ्योऽवसातव्यम् । यथैव गार्भैर्होमैरेवं जातकर्माख्येन संस्कारेण । एवं **चौडेन** । चूडार्थः 'चौडः' । **मौञ्जीनिबन्धन**मुपनयनम् । तत्र हि मुञ्जविकारो मेखला बध्यते । अतस्तेनोपनयनकर्मोपलक्ष्यते । बन्धनमेव निबन्धनम् । निः वृत्तपूरणः । जातकर्मादीनि संस्कारनामधेयानि कृतद्वन्द्वानि करणविभक्त्या एनोपमार्जनस्य एनोपमार्जनस्य निर्दिश्यन्ते ।

संस्कारश्च सर्वः संस्कार्ये कार्यान्तरशेषभूते कृतार्थे करिष्यमाणार्थे वा कश्चिद्दृष्टमदृष्टं वा विशेषमादधाति । 'व्रीहीनवहन्तीति', 'व्रीहिभिर्यजेते'ति यागं निर्वर्तयिष्यतां तुषकणविप्रमोक्षो दृष्टो विशेषः । 'शिरसोऽवतार्य स्रजं शुचौ देशे निदधातीति' उपभुक्ताया आकीर्णाकारायाः प्रतिपत्तिनियमाददृष्टः स्रजो विशेषः । तत्रेमे संस्काराः शरीरशुद्ध्यर्थाः श्रुताः । न च गन्धाद्यपकर्षणं मृद्वारिसम्बन्धादिव शरीरे दृश्यते । तेनेयं जन्मादिकालशुद्धिवददृष्टविशेषा शुद्धिर्वेदितव्या । एतया च शुद्ध्या पूतः श्रौतस्मार्तेषु कर्मस्वधिक्रियते । यथा मन्त्रपूतमाज्यं होमे । लौकिके तु कार्ये द्रव्यशुद्ध्यैव शुद्धिर्यथाऽऽज्यस्य भोजनादौ । स्पृश्यता हि कुमारस्य 'अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ती'त्येतावतैव भवति । तथा चाह–'न तदुपस्पर्शनादशौचमिति' ।

"कथं पुनः कर्मार्थत्वमेतेषाम् । युक्तमुत्पवनस्याज्यद्वारकं प्रकरणेन विनियोगात् । अमी तु बाह्या न कस्यचित्कर्मणः प्रकरणे श्रुताः । अतः पुरुषद्वारिका कर्मार्थता दुर्भणा । न चासति कार्योपयोगे स्वरूपतः संस्कार एवं निर्वर्त्यः । तथा सति संस्कारतैव हीयेत प्रधानकर्मता स्यात् । अतश्च 'कार्यः शरीरसंस्कार' इति, 'कुमारे जाते पुराऽन्यैरालम्भादिति' च द्वितीया श्रुतिर्बाध्येत । 'सक्तूञ्जुहोतीति'वद्विनियोगभङ्गः स्यात् । तत्र चाधिकार कल्पनेत्यादिबह्वसमञ्जस प्राप्नोति" ।

उच्यते । न वयं श्रुत्यादिप्रामाण्यापेक्षं तादर्थ्यमङ्गलक्षणं ब्रूमः अपि तूपकारकत्वम् । तच्चानङ्गत्वेऽप्युपपद्यते । यथाऽऽधानविधिः स्वाध्यायाध्ययनविधिश्च । न ह्यत्र श्रुत्यादयः सन्ति । यदाहवनीये जुहोतीत्याहवनीयादयो विनियुक्ताः । अलौकिकत्वाच्च तत्स्वरूपस्याधानविधिनैव सिद्धिः 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति । अत आहवनीयादिनिर्वृत्तिद्वारेणाधानं क्रतुषूपयुज्यते । न चाङ्गम् । अध्ययनविधिरप्यर्थावबोधद्वारेण क्रतूपकारकः । एवममी संस्काराः एतत्संस्कृतस्याध्ययनविधिः, निष्पादिताध्ययन-

विध्यर्थस्य विवाहः, कृतविवाहस्याधानम्, आहिताग्नेरधिकार इत्यस्ति संस्कारकार्योपयोगिता बाह्यपुरुषसंस्काराणाम् ।

निषेकग्रहाच्च सर्वत्रापि पितुरधिकारः । तथा च जातकर्मणि मन्त्रः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति । तस्य ह्यपत्योत्पादनमपत्यानुशासनं च विहितम् । 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (अ० ६।३५) इति । 'तस्मादनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः' इति । अनुशासनं च स्वाधिकारप्रतिपादनम्, तच्च वेदाध्यापनेनार्थावबोधपर्यन्तेन भवतीति वक्ष्यामः । अत एवोभयोपकारकाः संस्काराः, अपत्योत्पत्तिविधौ पितुर्माणवकस्य च संस्कृतसाध्यासु क्रियासु । तस्मात्पितुरधिकारस्तदभावे तत्स्थानापन्नस्य । तथा चाह 'असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः' इति ॥२७॥

हिन्दी—गर्भ—शुद्धिकारक हवन, चूड़ाकरण (मुण्डन) और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारों से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं ॥२७॥

येषु कर्मसु माणवकस्य संस्कारा उपकारकास्तानिदानीमुपहारणमात्रेण दर्शयति—

स्वाध्यायादि का मोक्षकारणत्व—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।२८।।

भाष्य—अध्ययनक्रिया स्वाध्यायशब्देनात्राभिप्रेता । तस्या एष विषयनिर्देश-**स्त्रैविद्येनेति** । व्यवधानेऽप्यर्थलक्षणः सम्बन्धो, 'यस्य येनार्थसम्बन्ध' इति न्यायेन । अत एव सामानाधिकरण्येऽपि श्रुतेर्विषयविषयिभावो विभक्तिविपरिणामेन, 'त्रयाणां वेदानामध्ययनेने'त्यर्थः । त्रय एव वेदाः त्रैविद्यम् । चातुर्वर्ण्यादिवद्रूपसिद्धिः । अथवा 'स्वाध्यायेनेति' वेदाध्ययनं 'त्रैविद्येनेति' तदर्थावबोधः ।

व्रतैः सावित्रादिभिर्ब्रह्मचारिकर्तृकैः ।

होमैर्व्रतादेशनकाले ये क्रियन्ते । यदि वा सायम्प्रातः समिद्भिरग्नीन्धनं ब्रह्मचारिणो होमशब्देनाग्न्याधारसम्बन्धसामान्यादुच्यते ।

"अथ किं समिदाधानं न होमो येनैवमुच्यते सम्बन्धसामान्यादिति" । न भवतीति ब्रुवन्ति, अदनीयद्रव्यसाध्यत्वाद्यागहोमयोः ।

"कथं तर्हि 'सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः' इत्युक्तम्" ।

लक्षणया समिदाधानं होमशब्देनोच्यते । यथैव हूयमानं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिप्यते एवं समिन्धनार्थाः समिधोऽपि अत एतेन सामान्येन समिन्धनमेव होम इत्युच्यते । उत्पत्तिवाक्ये हि 'समिधमादध्याद्' इति श्रुतम् । जुहुयात्ताभिरग्निमित्यनुवादोऽयमन्यार्थ इति

परस्ताद्वक्ष्यामः । न चानुवादे लक्षणादोषः ।

इदं तु युक्तं यन्मेध्यमात्रद्रव्यसाध्यौ यागहोमौ । तथा च सति बह्व्यश्चोदना यथार्था भवन्ति । यथा 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरतीति' । तत्र हि प्रस्तरं द्रव्यमाहुर्हरतिं च यजतिम् ।

''अथ वचनादसौ तादृश एव यागः । दर्भाश्चाप्यदनीयाः केषाञ्चित्'' ।

कथं शाकलहोमे ।

''तत्रापि हि 'शकलान्यभ्यादधाति' इत्युत्पत्तिरिति'' चेद्ग्रहयज्ञे का गतिः । ग्रहेभ्य एकैकस्यै समिधो जुहुयादर्कादीनाम् । अतो यत्र जुहुयादिति देवतासम्बन्धश्च काष्ठादेरपि श्रुत उत्पत्तिवाक्ये सोऽपि होम एव ।

इज्यया देवर्षितर्पणेन । एष तावदुपनीतस्य ब्रह्मचर्ये क्रियाकलापः ।

इदानीं गृहस्थधर्माः । **सुतैर**पत्योत्पत्तिविधिना । **महायज्ञैः** पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः । **यज्ञैः** श्रौतैर्ज्योतिष्टोमादिभिः ।

''ननु यद्येषां कर्मणां किञ्चित्प्रयोजनं स्यात्तदा तदधिकारयोग्यतोत्पत्त्यर्था बाह्या संस्कारा अर्थवन्तः स्युः'' । अत आह—**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः** । 'ब्रह्म' परमात्मा कारणपुरुषः, तस्येयं सम्बन्धिनी 'तनुः' शरीरम्, एतैः श्रौतस्मार्तैः सर्वैः कर्मभिः क्रियते । ब्रह्मसम्बन्धिता च तद्भावापत्तिलक्षणा । स हि परः पुरुषार्थः । सम्बन्धान्तराणि सर्वस्य कस्यचित्कारणत्वेन सिद्धत्वान्नाभिलषितव्यानि । ततो मोक्षप्राप्तिरुक्ता भवति । ब्राह्मीत्येनन तनुशब्देन च तदधिष्ठाता पुरुषो लक्ष्यते । तस्य ह्येते शरीरद्वारकाः संस्काराः । तस्यैव च मोक्षप्राप्तिः । शरीरस्य पञ्चतापत्तेः ।

अन्ये त्वाहुर्ब्रह्मत्वप्राप्तौ योग्या क्रियते । न हि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्वप्राप्तिः, प्रज्ञानकर्मसमुच्चयात्किल मोक्षः । एतैस्तु संस्कृत आत्मोपासनास्वधिक्रियते । तथा च श्रुतिः । 'य एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा यजते जुहोति तपस्तप्यते अधीते ददात्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति ।

''ननु च नैतेषां कर्मणां ब्रह्मप्राप्तिः फलं श्रुतम् । तथा हि नित्यानि तावदश्रुत-फलान्येव । कल्पनायां च पौरुषेयत्वम् । यावज्जीवादिपदैश्च नित्यताया अवगमितत्वा-द्विश्वजिन्न्यायोऽपि नास्ति । अथास्मादेव वचनादेतत्फलत्वमिति यद्युच्येत, मोक्षार्थिनः तदाधिकारः स्यात्तथा च नित्यत्वहानिस्ततश्च श्रुतिविरोधः । 'निष्फलं न कश्चिदनुतिष्ठति तत्रानर्थक्यमिति' चेत् काममननुष्ठानम् । प्रमाणस्य प्रमेयावगतिरर्थः । सा चेत्कृता जातमर्थत्त्वम् । अस्ति चात्र कर्तव्यतावगतिः । सत्यां च तस्यामकरणे शास्त्रार्थातिक्रम-स्ततश्च प्रत्यवायः । ईदृश एवार्थे लिङादीनां वृद्धव्यवहारे व्युत्पत्तिः । यो हि भृत्यादिः

कर्तव्यं न करोति कस्यचिदाज्ञातुः स वेतनार्थी वेतनं न लभते, यदि वा प्रत्यवायेन योज्यते। तत्र फलस्याश्रुतत्वान्न फलानुत्पत्तिः प्रत्यवायः, अपि तु दुःखेन योजनं नित्येषु। एवं सर्वपुरुषाधिकारो नित्यः समर्थितो भवति। तस्मान्न नित्यानां किञ्चित्फलम्। काम्यानां त्वन्यदेव फलं, न मोक्षः, श्रुतत्वात्। तत्र कथमेतत्सर्वकर्मानुष्ठानसाध्यः परः पुरुषार्थ इति ॥''

अत एव कैश्चिदर्थवादोऽयमिति व्याख्यायते। संस्कारविधिस्तुत्यर्थः।

अत्र च ब्राह्मीयमिति यत्किञ्चिदालम्बनमाश्रित्य गुणवादेन नीयते। 'ब्रह्म' वेदस्त-दुच्चारणार्हा तत्कर्माधिकारिणी च।

''यत्तर्हि **गौतमे**नोक्तम् (अ० ८ सू० ८)। 'चत्वारिंशत्संस्काराः' इति, तत्कथम्। तत्र हि सोमसंस्थाऽपि संस्कारत्वेनोक्ता। न च प्रधानकर्मणां संस्कारत्वोपपत्तिः। नाप्ये-तदर्थवादतया शक्यं व्याख्यातुमविशेषत्वात्।''

तत्राप्यात्मगुणशेषसंस्कारत्वाध्यारोपेण स्तुतिः।

एवमिहाप्यसंस्कारैः संस्कारान् समानीकृत्य तुल्यफलताध्यारोपेण संस्काराणाम-वश्यकर्तव्यतामाचष्टे। तथा च संस्कारप्रकरणान्नोत्कृष्यते।

स्तुतिः क्रियत इचि च वर्तमानापदेशः। न विधिविभक्तिः। तत्र कुतो ब्रह्मप्राप्तेः फलत्वावगमः। न चात्र कर्माणि विधीयन्ते, येनाधिकाराकाङ्क्षायां सत्यपि वर्तमान-निर्देशे रात्रिसत्रे प्रतिष्ठावत्फलनिर्देशः स्यात्।

तस्मात्संस्कारस्तुत्यर्थमेव सर्वमेतदुच्यते।

येऽपि विभागेन वर्णयन्ति—''नित्यानां ब्रह्मप्राप्तिफलं काम्यानां तु यथाश्रुत-मेव'' तदप्यप्रमाणं, सर्वस्यास्यार्थवादत्वात्। अन्तरेण च फलं नित्येष्वनुष्ठानसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। तदुक्तं 'कामात्मता न प्रशस्तेति' (अ० २ श्लो० २) ॥२८॥

हिन्दी—वेदाध्ययन से, मधु-मांसादि के त्यागरूप व्रत अर्थात् नियम से, प्रातः-सायं कालीन हवन से, त्रैविद्य-नामक व्रत से, ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षि-पितृतर्पण आदि क्रियाओं में गृहस्थावस्था में पुत्रोत्पादन से, (३।६८-७० में वक्ष्यमाण ब्रह्म-यज्ञ आदि) महायज्ञों से और ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य यह शरीर बनाया जाता है ॥२८॥

नव-जात बालक का जातकर्म संस्कार—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९॥

भाष्य—**वर्धनं** छेदनम् । **जातकर्मेति** कर्मनामधेयमेतत् । रूपं चास्य गृह्य-स्मृतिभ्यो ज्ञातव्यम् ।

कस्य पुनः कर्मणो जातकर्मेति नाम? तदर्थमुक्तं **प्राशनं हिरण्यमधुसर्पिषाम् । अस्येति** दारकं व्यपदिशन्ति, कर्म वा, **अस्य** जातकर्मण इदं प्रधानम् यन्मन्त्र-**वत्प्राशनमिति** ।

समन्त्रकं मन्त्रेण कर्तव्यमित्यर्थः । मन्त्रस्य चेहानुक्तत्वात् सर्वस्मृतीनां चैकार्थ्याद्य-दन्यत्रोक्तं तदत्रापि प्रतीयते । तेन गृह्यस्मृतिषु ये मन्त्रा उपात्तास्तै**र्मन्त्रवदिति** द्रष्टव्यम् ।

"यदि गृह्यस्मृतयोऽपेक्ष्यन्ते द्रव्यनिर्देशोऽपि न कर्तव्यः । एवं हि तत्र पठ्यते—'सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्' 'प्रते ददामि मधुनो घृतस्य' इति । किञ्च बह्व्यो गृह्यस्मृतयो, भिन्नाश्च प्रतिगृह्यं मन्त्राः, अन्याऽपि भिन्नेतिकर्तव्यता, तत्र काऽ-ऽश्रीयतामिति न विद्मः । अथ चरणसमाख्या नियामिका भविष्यति–व्यर्थस्तर्हि जात-कर्माद्युपदेशस्तत एव सिद्धेः । कठानां गृह्यं बह्वृचामाश्वलायनानां च गृह्यमिति यद्येन समाख्यायते स तदुक्तमनुष्ठास्यतीति ।"

उच्यते । द्रव्यादिनिर्देशेन सुस्पष्टं कर्मैकत्वमिति प्रतीयते । तथा हि प्रत्यभिज्ञा-सिद्धिः । तद्द्रव्यमेवेदं तन्नामधेयकं चेदं कर्मातस्तदेवेदमिति, भूयसा दृष्टं तद्गुण-योगेन प्रत्यभिज्ञायते । सति चैकत्वे यदङ्गजातं क्वचिन्नोक्तं तदविरुद्धमन्यत आने-तव्यम् । यथा सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एवं सर्वस्मृतिप्रत्ययमपि । यत्तु बहुत्वाद्गृह्य-स्मृतीनां काऽऽश्रीयतामित्यनध्यवसायः—सर्वासां प्रामाण्याविशेषादेकार्थानां च विकल्पः भिन्नार्थानां समुच्चयः । चरणसमाख्या तु नैव नियामिका । यतो न समाख्यया पुरुषस्य नियतः सम्बन्धः गोत्रप्रवरवत् । यैव शाखा येनाधीता स एव समाख्यायते 'कठो बह्वृच' इति न चाध्ययने नियमोऽस्त्यनेनेयं शाखाऽध्येतव्येति । अनेकशाखाध्ययनम-प्यस्ति, वेदानधीत्येति । तत्र त्रिवेदाध्यायिनः सर्वे व्यपदेशाः प्रवर्तन्ते । केऽप्यूचुः कौथुमाः कठा बह्वृच इति तत्रावश्यं विकल्प आस्थेयः । एकशाखाध्यायिनस्तु यद्गृह्यं यया शाखया समाख्यायते तदुक्तमेव तस्य युक्तं कर्तुम् । एष हि तदुक्तमेव शक्नोति कर्तुं तच्छाखामन्त्रा एव तेनाधीताः, शक्नोति तान्प्रयोक्तुम् । तमेव वा वृतं वेद ।

"वेदने च कर्मानुष्ठानार्थं वेदाध्ययनं येन तावतो मन्त्रान्कर्मोपयोगिनोऽध्ये-ष्यत इति ।"

उच्यते । स्वाध्यायविधिवशेन वेदाध्ययनम् । अनधीतवेदस्य नाधिकारः । न च कर्मप्रयुक्तमध्ययनम् । अत इयं समाख्या मन्त्रविशेषविनियोगनिमित्तैव 'कठानां गृह्यं' 'वाजसनेयिनां गृह्यमिति' । यस्यां शाखायां ये मन्त्रा अधीतास्ते यत्र बाहुल्येन विनि-

युक्तास्तद्गृह्यं तथा समाख्यायते। प्रमाणं गृह्यस्मृति:। सा कठानामियमिति व्यपदिश्यमाना बह्वृचानामपि स्वार्थावगमनं करोत्येव। कर्तव्यता वेदस्य स्वार्थे स्मृतीनां च। अवगतायां च कर्तव्यतायां कर्तृविशेषाश्रवणे स्वाधिकारो न स्याद्यथा च तनूनपाति प्रयाजे वसिष्ठानां, निषेधाद्वा पतितम्। न चेह द्वयमप्यस्ति। न च शक्यं कल्पयितुं न हि कठानां बाह्वृच्यं प्रमाणं, बह्वृचानां वा काठकम्। यतो य एव कठ: स एवाकठोऽसति तच्छाखाध्ययने। गोत्रं तु नियतमित्यसमान:।

एष एवार्थ: 'स्वसूत्रं य: परित्यज्य परसूत्रेण वर्तत' इति। तदेव स यदधीते तदर्थ: शक्योऽनुष्ठातुम्। तेन य: स्वाधीतां शाखामतिक्रम्य पित्राद्यधीतशाखया कर्माणि कुर्यात्तद्गृह्यं च समाश्रयेत् तस्य शाखात्यागदोष:। पित्रादीनां वा शाखात्याग: यैर्माणवक: क्रमाधीतां शाखां नाध्यापित:। माणवकस्यात्र दोषो नास्ति। यदा मृतपितृको जाबालवदयं बाल: स्वयमाचार्यमाश्रयेत्तदा 'येनास्य पितरो याता:' इत्यनेन शास्त्रेण सैवाध्येतुं युक्ता स्यात्। अथात्मशाखाध्ययनं न सम्भवति, तदा स्वशाखात्याग:।

अत: स्थितमिदं—सर्वं सर्वासु स्मृतिषु जातकर्माद्युपदिश्यते। तत्र भिन्नार्थमङ्गजातं समुच्चीयते, विरुद्धं विकल्प्यते समानार्थं च।

पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्यावृत्त्यर्थम्।

अन्ये त्वविवक्षितं पुमर्थं मन्यन्ते। द्विजन्मनामिति सामान्येन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वेन प्रकृतत्वात्। संस्कार्यश्च प्रधानमुद्देशो न च प्रधाने लिङ्गसङ्ख्यादिविशेषणं विवक्ष्यते। 'ग्रहं सम्मार्ष्टीति' सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहा: सम्मृज्यन्ते। 'ज्वरितं ज्वरमुक्तं च दिवान्ते भोजयेन्नरम्' इति नार्या अपि ज्वरिताया एष एव भोजनकाल:। तथा च प्राप्तप्रतिषेध:। स्त्रीणां 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्' इति (अ० २ श्लो० ६६)। नपुंसकानां च पाणिग्रहणदर्शनं 'यद्यर्थिता तु दारै: स्यात्क्लीवादीनामिति' (अ० ९ श्लो० २०३)।

तत्रोच्यते—नायं पुंशब्दो मनुष्यजातिवचनो नरशब्दवद्येन विभक्तिवाच्यं लिङ्गं न विवक्ष्येत। एष हि सर्वत्र स्थावरमूर्तामूर्तगतं लिङ्गविशेषं प्रसवरूपमाचष्टे। प्रातिपदिकार्थो ह्यत्र लिङ्गम्। विभक्तिवाच्यस्य ह्यर्थस्य विवक्षाविवक्षे युज्येते। यतो न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनं, कर्माद्यर्थान्तराभिधानेनाप्यर्थवत्त्वात्। इह त्वविवक्षायामानर्थक्यमेव प्राप्नोति पुंस्पदस्य। यथा तत्रैव ग्रहप्रातिपदिकार्थो विवक्ष्यते वाक्यानर्थक्यपरिहाराय।

यथोच्येत ''न प्रत्ययार्थमात्रस्याविवक्षा। कृत्स्नोऽपि पदार्थ उद्दिश्यमानविशेषणं न विवक्ष्यते। यथा 'यस्योभयं हवि:,' इति सत्यप्युभयपदश्रवणे दधिपयसोरन्यतरावृत्तावपि तदेव प्रायश्चित्तम्। न विवक्षित उभयशब्द:''।

भाष्य—**वर्धनं** छेदनम्। **जातकर्मेति** कर्मनामधेयमेतत्। रूपं चास्य गृह्य-स्मृतिभ्यो ज्ञातव्यम्।

कस्य पुनः कर्मणो जातकर्मेति नाम? तदर्थमुक्तं **प्राशनं हिरण्यमधुसर्पिषाम्**। **अस्येति** दारकं व्यपदिशन्ति, कर्म वा, **अस्य** जातकर्मण इदं प्रधानम् यन्मन्त्र-**वत्प्राशनमिति**।

समन्त्रकं मन्त्रेण कर्तव्यमित्यर्थः। मन्त्रस्य चेहानुक्तत्वात् सर्वस्मृतीनां चैकार्थ्याद्य-दन्यत्रोक्तं तदत्रापि प्रतीयते। तेन गृह्यस्मृतिषु ये मन्त्रा उपात्तास्तै**र्मन्त्रवदिति** द्रष्टव्यम्।

"यदि गृह्यस्मृतयोऽपेक्ष्यन्ते द्रव्यनिर्देशोऽपि न कर्तव्यः। एवं हि तत्र पठ्यते—'सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्' 'प्रते ददामि मधुनो घृतस्य' इति। किञ्च बह्व्यो गृह्यस्मृतयो, भिन्नाश्च प्रतिगृह्यं मन्त्राः, अन्याऽपि भिन्नेतिकर्तव्यता, तत्र काऽऽश्रीयतामिति न विद्मः। अथ चरणसमाख्या नियामिका भविष्यति–व्यर्थस्तर्हि जात-कर्माद्युपदेशस्तत एव सिद्धेः। कठानां गृह्यं बह्वृचामाश्वलायनानां च गृह्यमिति यद्येन समाख्यायते स तदुक्तमनुष्ठास्यतीति।"

उच्यते। द्रव्यादिनिर्देशेन सुस्पष्टं कर्मैकत्वमिति प्रतीयते। तथा हि प्रत्यभिज्ञा-सिद्धिः। तद्द्रव्यमेवेदं तन्नामधेयकं चेदं कर्मातस्तदेवेदमिति, भूयसा दृष्टं तद्गुण-योगेन प्रत्यभिज्ञायते। सति चैकत्वे यदङ्गजातं क्वचिन्नोक्तं तदविरुद्धमन्यत आने-तव्यम्। यथा सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एवं सर्वस्मृतिप्रत्ययमपि। यत्तु बहुत्वाद्गृह्य-स्मृतीनां काऽऽश्रीयतामित्यनध्यवसायः—सर्वासां प्रामाण्याविशेषादेकार्थानां च विकल्पः भिन्नार्थानां समुच्चयः। चरणसमाख्या तु नैव नियामिका। यतो न समाख्यया पुरुषस्य नियतः सम्बन्धः गोत्रप्रवरवत्। यैव शाखा येनाधीता स एव समाख्यायते 'कठो बह्वृ च' इति न चाध्ययने नियमोऽस्त्यनेनेयं शाखाऽध्येतव्येति। अनेकशाखाध्ययनम-प्यस्ति, वेदानधीत्येति। तत्र त्रिवेदाध्यायिनः सर्वे व्यपदेशाः प्रवर्तन्ते। केऽप्यूचुः कौथुमाः कठा बह्वृ च इति तत्रावश्यं विकल्प आस्थेयः। एकशाखाध्यायिनस्तु यद्गृह्यं यया शाखया समाख्यायते तदुक्तमेव तस्य युक्तं कर्तुम्। एष हि तदुक्तमेव शक्नोति कर्तुं तच्छाखामन्त्रा एव तेनाधीताः, शक्नोति तान्प्रयोक्तुम्। तमेव वा वृतं वेद।

"वेदने च कर्मानुष्ठानार्थं वेदाध्ययनं येन तावतो मन्त्रान्कर्मोपयोगिनोऽध्ये-ष्यत इति।"

उच्यते। स्वाध्यायविधिवशेन वेदाध्ययनम्। अनधीतवेदस्य नाधिकारः। न च कर्मप्रयुक्तमध्ययनम्। अत इयं समाख्या मन्त्रविशेषविनियोगनिमित्तैव 'कठानां गृह्यं' 'वाजसनेयिनां गृह्यमिति'। यस्यां शाखायां ये मन्त्रा अधीतास्ते यत्र बाहुल्येन विनि-

युक्तास्तद्गृह्यं तथा समाख्यायते। प्रमाणं गृह्यस्मृतिः। सा कठानामियमिति व्यपदिश्यमाना बह्वृचानामपि स्वार्थावगमनं करोत्येव। कर्तव्यता वेदस्य स्वार्थे स्मृतीनां च। अवगतायां च कर्तव्यतायां कर्तृविशेषाश्रवणे स्वाधिकारो न स्याद्यथा च तनूनपाति प्रयाजे वसिष्ठानां, निषेधाद्वा पतितम्। न चेह द्वयमप्यस्ति। न च शक्यं कल्पयितुं न हि कठानां बाह्वृच्यं प्रमाणं, बह्वृचानां वा काठकम्। यतो य एव कठः स एवाकठोऽसति तच्छाखाध्ययने। गोत्रं तु नियतमित्यसमानः।

एष एवार्थः 'स्वसूत्रं यः परित्यज्य परसूत्रेण वर्तत' इति। तदेव स यदधीते तदर्थः शक्योऽनुष्ठातुम्। तेन यः स्वाधीतां शाखामतिक्रम्य पित्राद्यधीतशाखया कर्माणि कुर्यात्तद्गृह्यं च समाश्रयेत् तस्य शाखात्यागदोषः। पित्रादीनां वा शाखात्यागः यैर्माणवकः क्रमाधीतां शाखां नाध्यापितः। माणवकस्यात्र दोषो नास्ति। यदा मृतपितृको जाबालवदयं बालः स्वयमाचार्यमाश्रयेत्तदा 'येनास्य पितरो याताः' इत्यनेन शास्त्रेण सैवाध्येतुं युक्ता स्यात्। अथात्मशाखाध्ययनं न सम्भवति, तदा स्वशाखात्यागः।

अतः स्थितमिदं—सर्वं सर्वासु स्मृतिषु जातकर्माद्युपदिश्यते। तत्र भिन्नार्थमङ्गजातं समुच्चीयते, विरुद्धं विकल्प्यते समानार्थं च।

पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्यावृत्त्यर्थम्।

अन्ये त्वविवक्षितं पुमर्थं मन्यन्ते। द्विजन्मनामिति सामान्येन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वेन प्रकृतत्वात्। संस्कार्यश्च प्रधानमुद्देशो न च प्रधाने लिङ्गसङ्ख्यादिविशेषणं विवक्ष्यते। 'ग्रहं सम्मार्ष्टीति' सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहाः सम्मृज्यन्ते। 'ज्वरितं ज्वरमुक्तं च दिवान्ते भोजयेन्नरम्' इति नार्या अपि ज्वरिताया एष एव भोजनकालः। तथा च प्राप्तप्रतिषेधः। स्त्रीणां 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्' इति (अ० २ श्लो० ६६)। नपुंसकानां च पाणिग्रहणदर्शनं 'यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीवादीनामिति' (अ० ९ श्लो० २०३)।

तत्रोच्यते—नायं पुंशब्दो मनुष्यजातिवचनो नरशब्दवद्येन विभक्तिवाच्यं लिङ्गं न विवक्ष्येत। एष हि सर्वत्र स्थावरमूर्तामूर्तगतं लिङ्गविशेषं प्रसवरूपमाचष्टे। प्रातिपदिकार्थो ह्यत्र लिङ्गम्। विभक्तिवाच्यस्य ह्यर्थस्य विवक्षाविवक्षे युज्येते। यतो न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनं, कर्माद्यर्थान्तराभिधानेनाप्यर्थवत्त्वात्। इह त्वविवक्षायामानर्थक्यमेव प्राप्नोति पुंस्पदस्य। यथा तत्रैव ग्रहप्रातिपदिकार्थो विवक्ष्यते वाक्यानर्थक्यपरिहाराय।

यथोच्येत "न प्रत्ययार्थमात्रस्याविवक्षा। कृत्स्नोऽपि पदार्थ उद्दिश्यमानविशेषणं न विवक्ष्यते। यथा 'यस्योभयं हविः,' इति सत्यप्युभयपदश्रवणे दधिपयसोरन्यतरावृत्तावपि तदेव प्रायश्चित्तम्। न विवक्षित उभयशब्दः"।

अत्र केचित्परिहारमाहुः । नैतत्तेन समानम् । न हि हविरर्थः पञ्चशरावः । हविर्विनाशे हि नैमित्तिकोऽधिकारः । इह तु माणवकार्था एव संस्काराः ।

एष त्वप्रयोजको विशेषः । वाक्यभेदभयाद्विशेषणविवक्षा नेष्यते । तादर्थ्येऽपि वाक्यभेदो नैवापैति । तस्मादयं परिहारः । एतदेवोत्पत्तिवाक्यं जातकर्मणो वैदिकैः कर्मभिरित्येतदुपक्रमम् । तत्र पुमानेव संस्कार्यतया निर्दिष्टः । तदविवक्षायां वाक्यानर्थक्यं, यथा तत्रैव हविःपदं विवक्ष्यते ।

"यद्येवं शूद्रस्यापि प्राप्तिः, जातिविशेषानिर्देशात्" ।

न प्राप्स्यति, मन्त्रसाध्यत्वात् । अथवा द्विजन्मनामिति वाक्यशेषको भविष्यति । न च तदानीं विधेयार्थविषयत्वेन निर्दिष्टो येन तत एव संस्कार्यावगतौ पुंस इत्येतदुभयपदवदविवक्षितमाशङ्क्येत ।

स्त्रीणां त्वप्राप्तेऽपि विधानमुपपद्यते क्लीबस्यापि दारदर्शनम् । वातरेता यः क्लीब उभयव्यञ्जनोऽप्रवृत्तेन्द्रियो वा । बहुप्रकारव्यावृत्तिकरं जातकर्मादिसंस्कारकालेऽपरिच्छेद्यत्वाच्छक्यप्रतीकारत्वाच्च । न च यो न नियतो धर्मः सोऽधिकारं व्यावर्तयति, यथाऽद्रव्यत्वं, न ह्यद्रव्यत्वं नियतं जातिवत् । य एवाद्रव्यः सोऽपि द्रव्यवान्भवति । चिरमधनो भूत्वा भवत्यह्ना महाधनः । ईदृशस्यैव षण्ढस्य वधे पलालभारकशुद्धिः । स ह्यसंस्कृतोऽनुपनीतः शान्त्यै न कस्यचित्तिष्ठति ।

अतः स्थितं पुंसामेवैते संस्कारा एभिर्विधीयन्ते । विध्यन्तरेण स्त्रीणाममन्त्रकाः । नपुंसकस्य नैव सन्तीति ॥२९॥

हिन्दी—नाभिच्छेदन (नार काटने) के पहले पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है और सोना, घी तथा मधु (शहद) का (अपने गृह्योक्त) मन्त्रों से (इस नवोत्पन्न बच्चे को) प्राशन कराया जाता है ॥२९॥

नाम-करण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ।।३०।।

भाष्य—दशम्यां तिथौ **द्वादश्यां वाऽस्य** दारकस्य **नामधेयं** कुर्वीत । णिजर्थो न विवक्षितः । तथा च गृह्यम् "दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति" इति ।

नामैव 'नामधेयम्' । येन शब्देन कार्येष्वाहूयते तन्नाम ।

'प्राङ्नाभिवर्धनादिति' जातकर्मणः प्रकृतत्वाज्जन्मनः प्रभृति दशमीद्वादश्यौ गृह्येते न चन्द्रतिथी ।

इह केचिद्दशमीग्रहणमाशौचनिवृत्तिरित्युपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । अतीतायामिति चाध्याहारः । दशम्यामतीतायां ब्राह्मणस्य द्वादश्यां क्षत्रियस्य पञ्चदश्यां वैश्यस्योत ।

तदयुक्तम् । लक्षणायां प्रमाणाभावाज्जातकर्मवदाशौचेऽपि करिष्यते । यदि तु ब्राह्मणभोजनं विहितं क्वचित्तदा युक्ता लक्षणा ।

यदि दशमीद्वादश्यौ वक्ष्यमाणगुणयुक्ते भवतः तदा तयोः कर्तव्यम् । अथ न, तदाऽन्यस्मिन्नपि **पुण्ये**ऽहनि । पुण्यान्यहानि द्वितीयापञ्चम्यादीनि । 'पुण्यं' प्रशस्तं, नवमीचतुर्दश्यादयो रिक्तास्तिथयः अपुण्याः ।

मुहूर्तो लग्नं कुम्भादि । तस्मिन्पुण्ये पापग्रहैरनधिष्ठिते गुरुभ्यां च दृश्यमाने । लग्नशुद्धिर्ज्योतिषादवगम्यते ।

नक्षत्रे च गुणयुक्ते । नक्षत्रं श्रविष्ठादि, तद्यस्मिन्नहनि गुणयुक्तं भवति । नक्षत्रगुणाश्च क्रूरग्रहपापग्रहविष्टिव्यतीपातविवर्जतम् ।

वा शब्दः समुच्चये । तेन प्रशस्तायां तिथौ नक्षत्रे च शुद्धे लग्न इत्युपदिष्टं भवति । समुच्चयश्च ज्योतिषाऽवगम्यः ।

अयं च परमार्थः । दशमीद्वादशीभ्यामर्वाङ्न कर्तव्यम् । उत्तरकालं च यदहर्नक्षत्रं लग्नं परिशुद्धं तदहरेव कर्तव्यम् ॥३०॥

इदानीं यादृशं नाम कर्तव्यं तन्नियमयति स्वरूपतोऽर्थतश्च—

हिन्दी—जन्म से दशवें ('शङ्ख' के मत से ग्यारहवें) या बारहवें दिन उस बालक का 'नामकरण' संस्कार किया जाता है । (उन दिनों में नहीं करने पर ज्योतिष-शास्त्र में कहे गये) शुभ तिथि, मुहूर्त्त और गुणयुक्त नक्षत्र में 'नामकरण' संस्कार किया जाता है[१] ॥३०॥

प्रत्येक वर्ण के नामकरण का पृथक्-पृथक् वर्णन—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ।।३१।।

भाष्य—तत्र स्वरूपमवधारयिष्यन्नाह । मङ्गलाय हितं तत्र वा साधु **मङ्गल्य-मिति** व्युत्पत्तिः । अभिमतस्यार्थस्य चिरजीवित्वबहुधनादेर्दृष्टादृष्टसुखफलस्य सिद्धि-र्मङ्गलम् । तदभिधानमेव शब्दस्य हितत्वं साधुत्वं चेति तद्धितसिद्धिः । 'साधुत्वं' नाभि-

१. तदुक्तं मुहूर्तचिन्तामणौ—

तज्जातककर्मादि शिशोर्विधेयं पर्वाख्यरिक्तोनतिथौ शुभेऽह्नि।
एकादशे द्वादशकेऽपि घस्रे मृदुध्रुवक्षिप्रचरोडुषु स्यात् ॥ इति (५।११)

विशेष विवरणं मुहूर्तचिन्तामणेः पीयूषधाराटीकायां ग्रन्थान्तरेषु च द्रष्टव्यं जिज्ञासुभिरिति ।

प्रेतार्थसिद्धिप्रतिपादनमेव विवक्षितम्, किं तर्हि, य आशास्यते तद्वचनेनैव सिद्धिः।

समासाद्वायुःसिद्धिः धनसिद्धिः पुत्रलाभ इत्यादिः प्रतीयते। तद्धिताद्वा हितनिमित्त-प्रयोजनार्थीयात्। तत्र गृह्ये तद्धितान्तं प्रतिषिद्धं "कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति"। समासेऽपि पदद्वयैकार्थीभावस्तत्र वह्वक्षरप्रयोगप्रसङ्गः। यतो वक्ष्यति 'शर्मवद्ब्राह्मणस्ये' त्युप-पदनियमम्। तत्र चतुरक्षरे त्र्यक्षरे वा नाम्नि शर्मशब्दे चोपपदे पञ्चाक्षरं षडक्षरं नाम भवति। तच्च प्रतिषिद्धं "द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कुर्यादिति"। तेन यद्यत्किञ्चित्प्रायेण सर्वस्याभिलषणीयमगर्हितं पुत्रपशुग्रामकन्याधनादि तद्वचनाः शब्दा नामधेयत्वेन विनियो-क्तव्याः शर्मान्ताः। तेन गोशर्मा धनशर्मा हिरण्यशर्मा कल्याणशर्मा मङ्गलशर्मेत्यादि-शब्दपरिग्रहः सिद्धौ भवति।

अथवा 'मङ्गलं' धर्मः तत्साधनं मङ्गल्यं नाम।

"कतमत्पुनर्धर्मसाधनं नाम"। य एते देवताशब्दाः इन्द्रोऽग्निर्वायुः। तथा ऋषि-शब्दाः–वसिष्ठो विश्वामित्रो मेधातिथिः। तेषामपि धर्मसाधनत्वमस्ति। 'ऋषीस्तर्पयेत्-पुण्यकृतो मनसा ध्यायेदिति'। "देवतानामृषीणां च द्विजानां पुण्यकर्मणाम्। प्रातः प्रबुद्धः श्रीकामो नरो नामानि कीर्तयेद्" इति।

मङ्गल्यग्रहणाच्च यदप्रशस्तं यमो मृत्युरित्यादि तन्निरस्यते, यच्चानर्थकं डित्थादि यदृच्छानिमित्तम्।

क्षत्रियस्य बलान्वितम्। बलसंयुक्तं बलवाचि। अन्वयः सम्बन्धः। शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः प्रतिपादकभाव एव। सामर्थ्यं बलम् तद्येन प्रतिपाद्यते तादृशं नामक्षत्रियस्य कर्तव्यम् 'शत्रुन्तपः' दुर्योधनः प्रजापाल इत्यादि। येन विभागेन च नामनिर्देशो जातिचिह्नम्।

एवं **वैश्यस्य धनसंयुक्तम्**।

न चात्र पर्याया एव गृह्यन्ते–"धनं वित्तं स्वापतेयमिति"। किं तर्हि येन प्रकारेण तत्प्रतिपत्तिः। यदि वा धनादिशब्दप्रयोगादर्थसम्बन्धाद्वा। धनकर्मा महाधनः गो-मान्धान्यग्रह इति।

एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तथा चान्वितादिशब्दप्रयोगो बलान्वितं धनसंयुक्तमिति। इतरथा एवमेवावक्ष्य'द्बलनामानि कुर्यादिति'। स्वल्पत्वाद्बलाद्यर्थवाचिनामानन्त्याच्च पुरुषव्यक्तीनां दुरवधाने भेदे व्यवहारोच्छेद एव स्यात्।

शूद्रस्य जुगुप्सितम्। कृपणको दीनः शबरक इत्यादि ॥३१॥

भाष्य—ब्राह्मण का मङ्गल-सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल-सूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन-वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित-शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए ॥३१॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञा रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ।।३२।।

भाष्य—अत्र स्वरूपग्रहणं पाठानुक्रमश्चादौ मङ्गल्यमन्ते शर्मशब्दः । तथा चोदाहृतम् ।

क्षत्रियादिनाम्नां तु नैतत्सम्भवति । रक्षाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य श्रवणात्पुंसां सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । तस्मादेकोपक्रमत्वात्समाचाराच्च सर्वत्रार्थग्रहणम् । वाक्यभेदाच्च समुच्चयः । यन्मङ्गल्यं तच्छर्मार्थवत् । शर्म शरणमाश्रयः सुखं च । अर्थग्रहणात्स्वामिदत्तभवभूत्यादिशब्दपरिग्रहः । इन्द्रस्वामीन्द्राश्रयः इन्द्रदत्तः । तदाश्रयता प्रतीयते । एवं सर्वत्रोन्नेयम् ।

"अथ कोऽयं हेतुर्वाक्यभेदात्समुच्चय इति । व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेतेति किं न समुच्चय इति" ।

उच्यते । लिङ्गदर्शनमात्रमेतत्पौरुषेयत्वात् ग्रन्थस्य । विकल्पेऽभिप्रेते मङ्गल्यं शर्मवद्वेति लाघवादवक्ष्यत् । वाक्यभेदे हि द्विराख्यातोच्चारणम् । तद् गुरु भवति ।

रक्षा परिपालनं **पुष्टिर्वृ**द्धिर्गुप्तिश्च । गोवृद्धो धनगुप्त इति । **प्रेष्यो** दासः । ब्राह्मणदासो देवदासो ब्राह्मणाश्रितो देवताश्रित इति ।।३२।।

हिन्दी—ब्राह्मण का[१] 'शर्मा' शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा-शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि-शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास) शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिये ।।३२।।

विमर्श—क्रमशः इनका उदाहरण—ब्राह्मण का यथा—शुभ शर्मा, मङ्गलदेव, क्षत्रिय का यथा—बलवर्मा, विजयप्रताप वर्मा.......वैश्य का यथा—वसुभूति, कुबेरदत्त, ... और शूद्र का यथा—दीनदास, ...।

स्त्रियों का नामकरण—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टाथ मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ।।३३।।

भाष्य—पुंस इत्यधिकृतत्वास्त्रीणामप्राप्तौ नियम्यते ।

सुखेनोद्यते **सुखोद्यम्** । स्त्रीबालैरपि यत्सुखेनोच्चारयितुं शक्यते तत्स्त्रीणां नाम कर्तव्यम् । बाहुल्येन स्त्रीणां स्त्रीभिर्बालैश्च व्यवहारस्तेषां च स्वकरणसौष्ठवाभावान्न सर्वं संस्कृतं शब्दमुच्चारयितुं शक्तिरस्ति । अतो विशेषेणोपदिश्यते । नतु पुंसामसुखोद्यमभ्यनुज्ञायते । उदाहरणं 'मङ्गलदेवी' 'चारुदती' 'सुवदनेत्यादि' । प्रत्युदाहरणं 'शर्मिष्ठा' 'सुश्लिष्टाङ्गी'ति ।

अक्रूरमक्रूरार्थवाचि । क्रूरार्थवाचि क्रूरार्थं 'डाकिनी' 'परुषेति' ।

विस्पष्टार्थं यस्यार्थो व्याख्यानगम्यो न भवति, श्रुत एव विदुषामविदुषां वाऽर्थ-प्रतीतिं करोति । अविस्पष्टार्थं यथा, 'कामनिधा' 'कारीषगन्ध्येति' । 'कामस्य निधेव निधा तया कामस्तत्रैव तिष्ठतीति' एवं यावन्न व्याख्यातं तावन्नावगम्यते । एवं करीषगन्धे-र्दुहिता कारीषगन्ध्येति व्याख्यानमपेक्ष्यते ।

मनोहरं चित्ताह्लादकरं, 'श्रेयसी' । विपरीतं तु 'कालाक्षी' ।

शर्मवती **मङ्गल्यम्** । विपरीतम् 'अभागा' 'मन्दभागेति' ।

दीर्घो वर्णोऽन्ते यस्य । विपरीतं शरत् ।

आशिषं वदतीत्या'शीर्वादम्', 'अभिधानं' शब्दः, तयोर्विशेषणसमासः । तद्यस्मि-न्नस्ति विद्यते तत्**आशीर्वादाभिधानवत्** । 'सपुत्रा' 'बहुपुत्रा' 'कुलवाहिकेति' । एते ह्यर्था आशीर्विषया । विपरीता 'अप्रशस्ता' 'अलक्षणेति' ।

"अथ मङ्गल्यस्याशीर्वादस्य च को विशेषः" ।
न कश्चित् । वृत्तपूरणार्थं तु भेदेनोपादानम् ॥३३॥

हिन्दी—स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला मनोहर, मङ्गल सूचक, अन्त में दीर्घ अक्षर (स्वर) वाला और आशीर्वाद से युक्त अर्थ वाला करना चाहिये (यथा—यशोदा, शान्ता, सुषमा, मनोरमा) ॥३३॥

बालकों को प्रथम बार घर में बाहर निकालना और अन्नप्राशन संस्कार—

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

भाष्य—जन्म**चतुर्थमासे गृहाद्बहिर्निष्क्रमण**मादित्यदर्शनं **शिशो**र्बालस्य **कर्तव्यम्** । त्रीन्मासान् गर्भगृह एव वासयेत् । शिशुग्रहणं शूद्रस्यापि प्राप्त्यर्थम् । एवं षष्ठे मास्य-प्यन्नप्राशनम् । पञ्चमासान्क्षीराहार एव । यद्वा कुले दारकस्य श्रेयस्यं मङ्गल्यं पूतना-शकुनिकैकवृक्षोपहारादि प्रसिद्धम् । कालविशेषे वा तत्कर्तव्यम् । अयं च सर्वसंस्कार-शेषः । तेन नामधेयमुक्तलक्षणव्यतिरेकेणापि यथाकुलधर्मं लभ्यते । 'इन्द्रस्वामी' 'इन्द्र-शर्मा' 'इन्द्र भूमिः' 'इन्द्रघोष' 'इन्द्ररात' 'इन्द्रविष्णुः' 'इन्द्रदेव' 'इन्द्रज्योतिः' 'इन्द्र-यशा' इत्यादि कुलभेदेनोपपन्नं भवति ॥३४॥

---

१. तथा च यमः— शर्म देवश्च विप्रस्य' वर्म त्राता च भूभुजः ।
भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥ इति।

विष्णुपुराणेऽपि— शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ इति (म०मु०)

हिन्दी—चौथे मास में बालकों को (सर्वप्रथम) घर से बाहर निकालना चाहिये (इस संस्कार में मूख्यतः सूर्य भगवान् का दर्शन कराना उचित होता है) और छठे मास में अन्नप्राशन कराना चाहिये; अथवा जैसा कुलाचार हो, वैसे ही उक्त संस्कारों को कराना चाहिये ॥३४॥

संस्कार का समय—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिनोदनात् ।। ३५ ।।

भाष्य—'चूडा' शिखा तदर्थं 'कर्म' **चूडाकर्म**। केषुचिन्मूर्द्धदेशेषु केशानां स्थापनं रचना विशेषश्चैतच्चूडाकर्मोच्यते।

प्रथमवर्षे तृतीये वा। ग्रहसौस्थित्यापेक्षा विकल्पः।

श्रुतिनोदनादित्यनुवादस्तन्मूलतयैव प्रामाण्यस्योक्तत्वात्। अथवा श्रुतिशब्देन न विधायकान्येव वाक्यान्युच्यन्ते, किं तर्हिमन्त्राः। ते च रूपात् चूडाकर्म—याञ्जना इति-वददष्टकां—प्रकाशयन्ति। 'यत्क्षुरेण मार्जयेते'त्यादि (पारस्कर २.१.१९)। तेन समन्त्रकमेतत्कर्मेत्युक्तं भवति। विशेषापेक्षायां गार्ह्यो विधिरङ्गीक्रियते। अतः शूद्रस्य नायं संस्कारः, द्विजातिग्रहणाच्च। अनियतकालं तु केशवपनं शूद्रस्यार्थप्राप्तं न निवार्यते ॥३५॥

हिन्दी—सभी द्विजाति बालकों का 'चूड़ाकरण' (मुण्डन) संस्कार वेद के अनुसार पहले या तीसरे वर्ष (अथवा कुलाचारानुकूल समय) में कराना चाहिए ॥३५॥

उपनयन संस्कार का समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्त द्वादशे विशः ।। ३६ ।।

भाष्य—गर्भस्थस्य यः संवत्सरस्तत आरभ्य योऽष्टमोऽब्दः। गर्भशब्देन साह-चर्यात्संवत्सरो लक्ष्यते। न हि मुख्यया वृत्त्या गर्भस्य संवत्सरोऽष्टम इति व्यपदेशं लभते। तस्मि**न्नौपनायनं ब्राह्मणस्य कुर्वीत**। उपनयनमेवोपनायनम्। स्वार्थिकोऽण्। "अन्येषामपि दृश्यते" (पा०सू० ६।३।१८७) इत्युत्तरपदस्य दीर्घः। छान्दसत्वा-द्वोभयपदवृद्धिः। उपनयनमिति हि एष संस्कारो वेदविदां गृह्यस्मृतिषु प्रसिद्धो मौञ्जी-बन्धनापरपर्यायः। उपनीयते समीपं प्राप्यते येनाचार्यस्य स्वाध्यायाध्यनार्थं न कुड्यं कटं वा कर्तुं तदुपनयनम्। विशिष्टस्य संस्कारकर्मणो नामधेयमेतत्।

गभदिकादशे राज्ञः। गर्भात्प्रभृति गर्भाद्वा परो य एकादशोऽब्दस्तत्र क्षत्रियस्य कर्तव्यम्। राजशब्दोऽयं क्षत्रियजातिवचनो नाभिषेकादिगुणयोगमपेक्षते ग्रन्थेषु तथा

प्रयोगदर्शनात्, ब्राह्मणादिजातिशब्दसाहचर्याच्च । गुणविधिषु च क्षत्रियशब्ददर्शनात् 'क्षत्रियस्य तु मोर्वीति' । यस्तु राजशब्दस्य क्षत्रियादन्यत्र जनपदेश्वरे वैश्यादौ प्रयोगः स गौण इति वक्ष्यामः । मुख्ये चासति गौणस्य ग्रहणम् । तथा च गृह्यकारः—"अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेदेकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यमिति" । भगवांश्च पाणिनिः एवमेव प्रतिपन्नो 'राज्ञः कर्म राज्यं' इति राज्यशब्दस्य राजशब्दं प्रकृतिं ब्रुवन्नेव जनपदैश्वर्येण राजशब्दार्थप्रसिद्धिमाह ।

एवं **गर्भात्तुद्वादशेऽब्दे विशः** वैश्यस्य ॥३६॥

हिन्दी—ब्राह्मण-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार कराना चाहिये ॥३६॥

अधिक ज्ञानादि प्राप्ति के लिए प्रतिवर्ण के यज्ञोपवीत का अन्य समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य काम विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।।३७।।

भाष्य—पितृधर्मेणापत्यं व्यादिशति 'ब्रह्मवर्चसी मे पुत्रः स्यादिति' पितृकामनया पुत्रो व्यपदिष्टस्तत्कामस्येति । पुत्रस्य बालत्वान्नैवंविधा कामना सम्भवति ।

"ननु चैवमन्यकृतात्कर्मण अन्यस्य फलेऽभ्युपगम्यमानेऽकृताभ्यागमदोषापत्तिः । अकाम्यमानं च फलं भवत्येतदप्युत्क्रान्तशब्दप्रमाणन्यायमर्यादयोच्यते" ।

नैष दोषः । श्येनवदेतद्भविष्यति । श्येनमभिचरन्करोत्यभिचर्यमाणश्च म्रियते । अथोच्यते "कामिन एवैतत्फलम् । शत्रुमरणं हि यजमानः कामयते । तदेव प्राप्नोतीति, नाकर्तृगामिता फलस्य"–अत्रापि विशिष्टपुत्रवत्तालक्षणमुपनेतुरेव फलम् । यथा पुत्रस्यारोग्येण पितुः प्रीतिः एवं ब्रह्मवर्चसेनाप्यतोऽधिकृतस्य कर्तुश्च तत्फलमन्वयानुसारी हि शास्त्रार्थावसायः । इह च पुत्रस्य फलकामेनैवं कर्तव्यमित्यन्वयः प्रतीयते । न च यथाश्रुतान्वयत्यागे किञ्चन प्रमाणमस्ति । एतेन पितृरौर्ध्वदेहिकः पुत्रकृत उपकारो व्याख्यातः। तत्रापि हि पुत्रः कर्ता पितृतृप्तिश्च फलम् । तथा च लिङ्गं "आत्मा वै पुत्रनामासीति" । पित्रैव हि तावच्छ्राद्धमात्मसम्प्रदानकं वस्तुतः कृतमेव येनापत्योत्पादनमेवमर्थमेव कृतम् । यथा 'सर्वस्वारे मृतस्यार्भवपवमानात् ये पराञ्चः पदार्थास्तेष्वपि यजमानस्यैव कर्तृत्वम् । 'ब्राह्मणाः संस्थापयत यज्ञमिति' प्रैषेण, दक्षिणाभिर्वरणेन वा प्रयोगसमाप्तावृत्विजां विनियोक्तृत्वात्—एवमिहापि तादर्थ्येन पुत्रस्योत्पादनाद्यच्छ्राद्धादिकं क्रियते पित्रैव तत्कृतं भवति ।

अध्ययनविज्ञानसम्पन्नं 'ब्रह्मवर्चसम्' ।

बलं सामर्थ्यम्, आभ्यन्तरं बाह्यं च। उत्साहशक्तिर्महाप्राणता चेत्येतदाभ्यन्तरम्। बाह्यं च हस्त्यश्वरथपदातिकोशसम्पत्। तदुक्तं 'स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां चार्वानामिति'।

ईहा चेष्टा, बहुना धनेन कृषिवाणिज्यादिव्यहार:।

सर्वत्र गर्भादिसङ्ख्या वर्षाणाम्। गर्भादिति ह्यनुवर्तते ॥३७॥

हिन्दी—वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य-प्राप्ति आदि तेज के लिए ब्राह्मण-बालक का गर्भ से पाँचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिये क्षत्रिय बालका का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिए वैश्य-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये ॥३७॥

यज्ञोपवीत संस्कार का अन्तिम काल—

आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विश: ॥३८॥

भाष्य—एवं तावन्मुख्यकाम्यावुपनयनकालावुक्तौ। इदानीं पितुरभावे व्याध्वा-दिना वा कथञ्चिदनुपनीते माणवके कालातिपत्तावनुपनेयता प्राप्ता, सत्यपि कालस्याङ्गत्वे तदभावेऽधिकारनिवृत्ते:। यथा सायम्प्रात:कालातिपत्तावग्निहोत्रस्याकरणे। अतो विहित-कालव्यतिरेकेण प्रतिप्रसवार्थमिदमारभ्यते।

यावत्षोडशं वर्षं गर्भादारभ्य तावद्ब्राह्मणस्योपनयनार्हता न निवर्तते। सावित्रीशब्देन तदनुवचनसाधनमुपनयनाख्यं कर्म लक्ष्यते। **नातिवर्तते** नातिक्रान्तकालं भवतीत्यर्थ:।

एव**मा द्वाविंशात्क्षत्रबन्धो:** क्षत्रियजातीयस्येत्यर्थ:। बन्धुशब्दोऽयं क्वचित्कुत्सायां प्रवर्तते, यत्स्वं कथं वेत्स ब्रह्मबन्धविति। ज्ञातिवचन: यथा—

"ग्रामता जनता चैव बन्धुता च सहायता।
महेन्द्रस्याप्यगम्याऽसौ भूमिभागभुजां कुत: ॥"

द्रव्यवचनो "जात्यन्ताच्छ बन्धुनीति" (पा०सू० ५।४।९)। तत्र पूर्वयोरर्थयोर-सम्भवात्तृतीयोऽर्थो गृह्यते। द्वाविंशते: पूरणो द्वाविंशोऽब्द: तद्धितार्थ:।

आ चतुर्विंशतेर्विश:। प्राप्तोऽप्यत्र पूरणप्रत्ययो वृत्तानुरोधात्र कृत:, प्रतीयते तु तदर्थ:। न हि समुदायविषयायाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याया अवधित्वेन सम्भव:। तदवय-वस्तु चतुर्विंशो भवति संवत्सरोऽवधि:।

आङमभिविधौ व्याचक्षते।

लिङ्गदर्शनं चोदाहरन्ति। "गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्" इति। एतेषां च छन्दसामियता कालेन द्वौ पादौ पूर्येते। तावन्तं कालं

बलवन्ति न त्यजन्ति स्वाश्रयभूतान्वर्णान्। तृतीये तु पादेऽपक्रान्ते गतरसान्यतिवयांसि न्यूनसामर्थ्यानि भवति। समाप्तिमुपयान्ति। यथा "पञ्चाशता स्थविरो मनुष्यः" इति। अतश्च नैतेन वयमुपासितानीति त्यजन्ति तं वर्णम्। ततो 'न गायत्रो ब्राह्मणो, न त्रैष्टुभो राजन्यो, न जागतो वैश्य' इति।

सविता देवता यस्या ऋचः सा सावित्री; सा च गायत्री द्रष्टव्या प्रदर्शिता, गृह्याच्च। एवं क्षत्रियस्य त्रिष्टुप् सावित्री 'आकृष्णेनेति' वैश्यस्य जगती "विश्वारूपाणीति"॥३८॥

हिन्दी—सोलह वर्ष की आयु तक (गर्भ से) ब्राह्मण की, बाईस वर्ष की आयु तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष की आयु तक वैश्य की सावित्री का उल्लङ्घन नहीं होता है। अतः १६, २२ तथा २४ वर्ष की अवस्था पूर्ण होने के पहले क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों का यज्ञोपवित संस्कार करना आवश्यक माना गया हैं॥३८॥

व्रात्य लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥३९॥

भाष्य—अस्मात्कालादूर्ध्वं परेण त्रयोऽप्येते वर्णाः ब्राह्मणादयो यथाकालं यस्योपनयनकालः तत्रानुकल्पिकेऽ**प्यसंस्कृता** अकृतोपनयनाः **सावित्रीपतिता** उपनयनभ्रष्टा भवन्ति। **व्रात्याश्च** संज्ञया। 'आर्यैः' शिष्टैः 'विगर्हिताः' निन्दिताः। व्रात्यसंज्ञाव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थोऽयं श्लोकः। अनुपनेयत्वं तु पूर्वेणैव सिद्धम्॥३९॥

हिन्दी—इसके बाद यथा समय (ब्राह्मण १७, क्षत्रिय २३ और वैश्य २५ वर्ष तक) उपवीत (यज्ञोपवीत) संस्कार से रहित ये तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सावित्री से पतित (भ्रष्ट) तथा शिष्टों से निन्दित होकर "व्रात्य" कहलाते हैं॥३९॥

उक्तम् "आर्यैर्निन्दितः"। का पुनरेषां निन्देत्याह—

व्रात्य के साथ व्यवहार-त्याग आवश्यक—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धान्नाचरेद्ब्राह्मणैः सह॥४०॥

भाष्य—एतैर्व्रात्यै**रपूतै**रकृतप्रायश्चित्तै**र्विधिव**द्यादृशो विधिः प्रायश्चित्तशास्त्रेणोपदिष्टः 'तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रानिति'—**आपद्यपि हि कर्हिचि**त्कस्याञ्चिदप्यापदि न **सम्बन्धानाचरेत्कु**र्यात्तैः सह।

किं सर्वसम्बन्धनिषेधो नेत्याह—**ब्राह्मान्यौनांश्च**। 'ब्रह्म' वेदः। तन्निमित्ताःसम्बन्धाः याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः। न ते याज्याः न याजकाः कर्तव्याः। एवं नाध्याप्या नैतेभ्यो-

ऽध्येतव्यम्। वेदार्थं विदुषः प्रतिग्रहाधिकारादेशोऽपि ब्राह्मसम्बन्धो भवति। 'यौनः सम्बन्धः' कन्याया दानादाने।

ब्राह्मणग्रहणं प्रदर्शनार्थम्।

अस्माच्च दोषदर्शनाद्व्रात्यतापरिहारार्थे पितुरभावेऽपि व्युत्पन्नबुद्धिना माणवकेनाप्यात्मनाऽऽत्मोपनाययितव्य इति प्रतीयते। काम्यो ह्ययमाचार्यस्य विधिः। तत्राचार्यत्वमकामयमानो यदि कश्चिन्न प्रवर्तते तदा माणवकेन प्रार्थयितव्यो दक्षिणादिना। तथा च श्रुतिः—"सत्यकामो जाबालः हारिद्रुमतं गौतममियाय ब्रह्मचर्यं भवति वक्ष्यामीति," स्वयमाचार्यमभ्यर्थितवानुपनयनार्थम् ॥४०॥

हिन्दी—अपवित्र (श्लो० ३८ में कथित यज्ञोपवीत समय बीत जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहणपूर्णक यज्ञोपवीत-धारण नहीं किये हुए) इन व्रात्यों के साथ आपत्ति में भी कभी वेदाध्ययन और विवाहादि सम्बन्ध को ब्राह्मण नहीं करे ॥४०॥

ब्रह्मचारियों के लिये कृष्ण-मृग-चर्मादि धारण—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

भाष्य—कृष्णशब्दो यद्यपि कृष्णगुणयुक्तवस्तुमात्रे वर्तते "कृष्णा गौः, कृष्णः कम्बलः" इति तथापीह स्मृत्यन्तराद्रौरवसाहचर्याच्च मृग एव प्रतीयते। **रुरु**र्मृगजातिविशेषः। **बस्तः** छात्रः। सर्वत्रविकारेऽवयवे वा तद्धितः। कृष्णाजिनं ब्राह्मणो, रुरुचर्म क्षत्रियो, वैश्यश्छागचर्म **वसीर**न्नाच्छादयेयुः। शणक्षुमोर्णास्तत्र कृतानि **च** वस्त्राणि। च शब्दः समुच्चये। क्षत्रानुत्तरीयाणि शाणादीनि। चर्माण्युत्तरीयाण्यौचित्यात् कौपीनाच्छादनानि च वस्त्राणि। आनुपूर्व्येण नैकैकस्य सर्वैरभिसम्बन्धो नापि व्युत्क्रमेण। प्रथमस्य ब्रह्मचारिणः प्रथमेन चर्मणा वस्त्रेण च सम्बन्धो द्वितीयस्य द्वितीयस्थानस्थेन। तथा च दर्शितम्।

ननु चान्तरेणापि वचनं लोकत एवैतत्सिद्धं, "चूर्णिताक्षिप्तदग्धानां वज्रानिलहुताशनैरिति" यथाक्रमं सम्बन्धप्रतिपत्तिः, चूर्णिता वज्रेणाक्षिप्ताः अनिलेन दग्धा अग्निनेति।

उच्यते। भवेदेतदेवं यदि भेदेन निर्देशः स्यात्समसङ्ख्यात्वं च। इह तु 'ब्रह्मचारिण' इत्येकशब्दोपादानान्न क्रमोऽवगम्यते। त्रयश्च ब्रह्मचारिणः। षडनुदेशिनः त्रीणि चर्माणि त्रीणि वस्त्राणि। आनुपूर्व्यग्रहणे तु सति वाक्यान्तरोपात्तः क्रम आश्रीयते। तथा च चर्मभिः सम्बध्य पुनर्ब्रह्मचारिपदमावर्त्य वासोभिः सम्बध्यते। ततः सङ्ख्यासाम्यसिद्धिः। ईदृश एव विषये भगवता **पाणिनिना** यत्नः कृतो "यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति" (पा०सू० १।३।१०) ॥४१॥

हिन्दी—ब्राह्मणादि तीनों वर्ण के ब्रह्मचारी (दुपट्टे के स्थान पर) कृष्णमृग, रुरुमृग और बकरे के चमड़े को, (धोती एवं कौपीन के स्थान पर) सन, क्षौम (रेशम) और भेंड़ के बाल (ऊन) के बने कपड़ों को क्रमशः धारण करें ॥४१॥

मेखला—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ।।४२।।

भाष्य—मुञ्जस्तृणजातिस्तद्विकारो **मौञ्जी** । सा ब्राह्मणस्य **मेखला** रशना कर्तव्या मध्यबन्धनी । **त्रिवृत्** त्रिगुणा । **समा** न क्वचित्सूक्ष्मा न क्वचित्सूक्ष्मतरा किं तर्हि सर्वत एव समा । **श्लक्ष्णा** तनुत्वगुणयुक्ता परिघृष्टा च ।

क्षत्रियस्य पुनर्ज्या धनुर्गुणः । सा कदाचिच्चर्ममयी भवति, कदाचित्तृणमयी, भङ्गोमादिरज्जुर्वा । तदर्थमाह—**मौर्वीति** । तया धनुषोऽवतारितया श्रोणीबन्धः कर्तव्यः । यद्यपि त्रिवृत्तादिर्गुणो मेखलामात्राश्रितो न मौञ्ज्या एव, तथाऽपि ज्यायाः स्वरूपनाश-प्रसङ्गान्न भवति ।

शणतन्तुविकारः **शणतान्तवी** । छान्दसत्वादुत्तरपदवृद्धिः । अथवा केवला-त्तन्तुशब्दात्तद्धिते कृते तदन्तस्य शणैः सम्बन्धः—शणानां तान्तवीति । प्रकृतेर्विकारः प्रकृतिसम्बन्धितया व्यपदिश्यते । 'गव्यं घृतं' 'देवदत्तस्य पौत्र' इति । 'तन्तुः' सूत्रं शणमौञ्जीवत्कर्तव्या । गृह्यकारैर्वैश्यमेखलायाः त्रिवृत्तादिधर्मः सुस्पष्ट एवोक्तः ॥४२॥

हिन्दी—त्रिगुणित (तिगुनी), बराबर (मोटी-पतली नहीं) और चिकनी मूँज की बनी मेखला को ब्राह्मण ब्रह्मचारी, मौर्वी (धनुष की डोरी या मूर्वा नामक तृण-विशेष) की बनी मेखला को क्षत्रिय ब्रह्मचारी और सन की रस्सी की बनी मेखला को वैश्य ब्रह्मचारी धारण करे ॥४२॥

मौञ्जी आदि मेखला का प्रतिनिधि—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृत्ता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ।।४३।।

भाष्य—आदिशब्दलोपमत्र स्मरन्ति । **मुञ्जाद्यलाभ इति** । **कर्तव्या इति** च बहुवचनमुपपन्नतरम् । भिन्नजातिसम्बन्धितया सुव्यक्तो मेखलाभेदः । एकजातिसम्बन्धि-त्वे तु केवलव्यक्तिभेदालम्बनं बहुवचनं स्यात् । विप्रस्येति च प्रकृतस्य बहुवचनेन परिणामः कर्तव्यः । विकल्पश्चैकविषयत्वे स्यात् । न च सम्भवत्यां गतौ विकल्पो युक्तः ।

तेन मुञ्जाभावे कौशी । ज्याया अभावेऽश्मन्तकेन । शाणानां बल्वजैः । तृणौषधि-वचनात्कुशादयः ।

प्रतिनिधिनियमश्चायम् । कुशाद्यभावेऽप्यन्यन्मुञ्जादिसदृशमुपादेयम् ।

त्रिवृत्ता ग्रन्थिनैकेन । नायं ग्रन्थिसङ्ख्याभेदो वर्णभेदेन । अपि तु प्रत्येकं विकल्पः । कुशादिमेखलास्वप्ययं ग्रन्थिभेदो धर्मभेदश्चोद्यमानः स्मृत्यन्तरसमाचारस्यानित्यत्वेऽपि द्रष्टव्यः ॥४३॥

हिन्दी—मुञ्ज आदि के नहीं मिलने पर कुश, अश्मन्तक (तृण-विशेष या मल्लिका) और बल्वज (बबई नाम की घास) की बनी हुई (त्रिगुण, बराबर और चिकनी) मेखला को ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी क्रमशः धारण करें ॥४३॥

यज्ञोपवीत—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ।।४४।।

भाष्य—उपवीतशब्देन वासो विन्यासविशेष उच्यते । वक्ष्यति "उद्धृते दक्षिणे पाणाविति" । तच्च धर्ममात्रम् । तस्य न कार्पासता सम्भवत्यतो धर्मेण धर्मी लक्ष्यते, यस्यासौ विन्यासस्तत्कार्पासमुच्यते । अर्श आदित्वाद्वा मत्वर्थीयोऽकारः कर्तव्यः, उपवीतवदुपवीतमिति ।

ऊर्ध्ववृतं ऊर्ध्वां दिशं प्रतिवर्त्यते वेष्ट्यते । **त्रिंवृत्** त्रिगुणम् । कर्तनिकाभ्यो लब्धसूत्रभावस्य त्रिगुणीकृतस्येदमूर्ध्वनिवर्तनं विधीयते । संहत्य तन्तुत्रयं ऊर्ध्ववेष्टनेन रज्ज्वाकारं कृत्वा तेनोपवीतं कुर्यात् । सा च रज्जुरेकैव धारयितव्या तिस्रः पञ्च सप्त वा । यज्ञसम्बन्धाद्धि तद्यज्ञोपवीताख्यां लभते । यज्ञार्थोऽयमुद्यत इति भक्त्योपचर्यते । तत्रेष्टिपशुसोमानां यज्ञरूपतयैकत्वादेकतन्तुकं क्रियते । अग्नित्रयसाध्यत्वादहीनैकाहसत्रभेदाद्वा त्रितन्तुकम् । सोमसंस्थानां सप्तसङ्ख्यत्वात्सप्त वा तन्तवः । "त्रीणि सवनानि त्रिसन्ध्येनेति" पञ्च । सूत्राभावेऽपि पटादिनाऽपि कर्तव्यम् । स्मृत्यन्तर एवमुक्तम् ।

अविः मेषस्तस्य सूत्रं कृतं **आविकसूत्रिकम्** । अध्यात्मादित्वाट्ठञ् कर्तव्यः । 'अविकसूत्रिकमिति' वा पठितव्यम् । तत्र च मत्वर्थीयेन ठना रूपसिद्धिः ॥४४॥

हिन्दी—ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास (कपास की रूई के बने सूत) का, क्षत्रिय का यज्ञोपवीत सन के बने सूत का और वैश्य का यज्ञोपवीत भेड़ के बाल (ऊन) के बने सूत का, ऊपर की ओर से (दक्षिणावर्त) बँटा (ऐंठा हुआ) तीन लड़ी का होना चाहिए ॥४४॥

विमर्श—यद्यपि मनु भगवान् ने 'ऊर्ध्ववृतं त्रिवृत्' (ऊपर की) ओर अर्थात् दक्षिणावर्त बँटा हुआ तिगुना यज्ञोपवीत का प्रत्येक वर्ण के लिए विधान किया है, तथापि ऊपर की ओर तिगुना बाँटकर नीचे की ओर अर्थात् वामावर्त फिर तिगुना बाँटना

चाहिए। इस प्रकार ऊपर-नीचे (क्रमशः दक्षिणावर्त तथा वामावर्त) बँटने पर वह नौ सूत्र का यज्ञोपवीत (छन्दोगपरिशिष्ट) तथा देवल स्मृति के अनुसार होना चाहिए[1]।

दण्ड धारण—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ।।४५।।

भाष्य—सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे गुणविधिष्वेकत्वश्रवणात्केशान्तिक इति 'प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्' इति च विकल्पितं एकदण्डधारणं प्रतीयते। "बैल्वः पालाशो ब्राह्मणस्य दण्ड" इति **गृह्य**। **गौतमीये** चैकदण्डग्रहणमेवोक्तम्। इह केवला दण्डसत्ता श्रूयते। 'दण्डानर्हन्ति'। दण्डा एते ब्रह्मचारिणां योग्याः। कस्यां क्रियायां इत्येतदत्रैवोक्तं उत्तरत्र भविष्यति 'प्रतिगृह्येप्सितमिति'। तस्मिंश्च ग्रहणे दण्डस्योपायत्वाद्विवक्षितमेकत्वमत इह द्विवचननिर्देशः—देवश्चेद्वर्षेद्व्रहवः कृषिं कुर्युरिति यथा–प्राप्तानुवादः।

बिल्वपलाशवटखदिरपीलूदुम्बरा वृक्षजातिविशेषनामधेयानि। बिल्वस्य विकारोऽवयवो वा 'बैल्वः'। एवं सर्वत्र। प्रदर्शनार्थाश्चैते। 'यज्ञिया वा सर्वेषामिति' वचनात्।

एतान्दण्डान्वक्ष्यमाणे कार्ये **अर्हन्ति**। **धर्मतः** शास्त्रतः ॥४५॥

हिन्दी—धर्मानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी को बेल या पलाश (ढ़ाक) का, क्षत्रिय ब्रह्मचारी को वट या खैर का और वैश्य ब्रह्मचारी को पीबु या गूलर का दण्ड धारण करना चाहिये ॥४५॥

दण्डमान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ।।४६।।

भाष्य—आकारविशेषवचनो दण्डशब्दः। दीर्घं काष्ठं सम्मितायामं 'दण्ड' इत्युच्यते। कियत्तस्य दैर्घ्यमित्यपेक्षायामाह। केशान्तं गच्छति प्राप्नोति केशान्तगो मूर्द्धप्रमाणः। पादाग्रादारभ्य मूर्द्धावधिः केशान्तगः। केशा वाऽन्तोऽस्येति केशान्तकः। समासान्तः ककारः। **प्रमाणतः** प्रमाणेनानेन युक्तो **दण्डः कार्यः** कारयितव्यः **ब्राह्मणस्या**चार्येण। **ललाटसम्मितः** ललाटान्तमितः ललाटान्तप्रमाणः ललाटमात्रे

---

१. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

उर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यातस्यैको ग्रन्थिरिष्यते॥

देवलोऽप्याह— यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः। इति। (म०मु०)

चतुरङ्गुलेन मीयमानस्य दण्डशब्दवाच्यत्वाभावादेवं व्याख्यायते—पादाग्रादारभ्य यावल्ललाटान्तं प्राप्तः ।

एवं **विशो** वैश्यस्य नासान्तग इति ॥४६॥

हिन्दी—प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केश तक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाट तक और वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड नाक तक लम्बा होना चाहिये ॥४६॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥४७॥

भाष्य—**ऋजवः** अवक्राः । **सर्वे** इत्यनुवादः । प्रकृतत्वाविशेषात् । **अव्रणा** अच्छिद्राः । सौम्यं प्रियकरं दर्शनमेषां ते **सौम्यदर्शनाः** वर्णपरिशुद्धाः, अकण्टकिताश्च । **अनुद्वेगकराः** । नैतैः कश्चिदुद्वेजयितव्यः श्वा वा मनुष्यो वा । **नृणामिति** प्रदर्शनार्थम् । **सत्वचः** अतष्टाः । **अनग्निदूषिताः** वैद्युतेन दावीत्थेन वाऽस्पृष्टाः ॥४७॥

हिन्दी—(उन ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियों के वे) दण्ड सीधे; बिना कटे हुए, देखने में सुन्दर, लोगों में भय नहीं पैदा करने वाले (मोटापन आदि के कारण उन्हें देखकर किसी को भय नहीं हो; ऐसे) छिलकों के सहित बिना जले हुए होने चाहिये ॥४७॥

सूर्योपस्थानादि के बाद भिक्षावृत्ति—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

भाष्य—प्रावृतेषु चर्मसु मेखलाबन्धनं कर्तव्यम् । आबध्य मेखलामुपनयनं कर्तव्यम् । कृते चोपवीते दण्डग्रहणम् । दण्डं गृहीत्वा **भास्कर** आदित्य उपस्थेयः । अभिमुखं स्थित्वा ऽऽदित्यदैवतैर्मन्त्रैरुपस्थानमादित्यस्य कर्तव्यम् । गृह्यान्मन्त्रावगमः । अन्या चेतिकर्तव्यता तत एव । यत्सर्वसाधारणं तदिहोच्यते । **प्रदक्षिणं परीत्य** सर्वतो गत्वाऽ**ग्निम्** । **चरे**त्कुर्यात् । **भैक्षं** भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । तच्चरेद्याचेत । **यथाविधीति** वक्ष्यमाणविध्यनुवादः । भिक्षाशब्देन स्वल्पपरिमाणं भक्ताद्युच्यते ॥४८॥

हिन्दी—(ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियों को) ईप्सित (श्लो० ४५ में वर्णित विकल्प में से जो सुलभ या रुचिकर हो वह दण्ड धारण कर सूर्य का उपस्थान तथा अग्नि की प्रदक्षिणा कर विधि-पूर्वक भिक्षा माँगनी (भिक्षार्थ याचना करनी) चाहिये ॥४८॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

भाष्य—भिक्षाप्रार्थनावाक्यमत्र भैक्षशब्देनोच्यते। तस्य हि भवच्छब्दपूर्वता सम्भवति, न भक्तादेरर्थस्य। स्त्रीणां च प्रथमं भिक्ष्यमाणतयोपदेशात्प्रार्थनायां च प्रार्थ्यमानस्य सम्बोध्यत्वात्सम्बुद्धिविभक्त्यन्तः स्त्रीलिङ्गो भवच्छब्दः प्रयोक्तव्यः। क्रम एव चात्रा-दृष्टाऽर्थो नियम्यते। यथार्थं तु शब्दप्रयोगो 'भवति भिक्षां देहीति'।

"कुतः पुनः संस्कृतशब्दार्थलाभः, यावता स्त्रियः सम्बोध्यन्ते। ताश्च संस्कृतं नावबुद्ध्यन्ते।

नित्यमुपनयनम्। तम्य च शब्दोच्चारणमङ्गत्वेनोक्तमिति। अनित्याश्चापभ्रंशाः। न तैर्नित्यस्य संयोग उपपद्यते। यथैव च शिष्टा असाधूनुपश्रुत्यैकदेशसादृश्येन साधू-न्संस्मृत्यार्थं प्रतियन्त्यसाधुरनुमानेन वाचक इति दर्शनेन गाशब्दो हि सादृश्याद्गोशब्द-मनुमापयति। ततोऽर्थप्रतिपत्तेः, एवं स्त्रियः सादृश्यात्साधुभ्यः असाधूनुत्पन्नसम्बन्धान् स्मृत्वा तेभ्योऽर्थं प्रत्येष्यन्ति। स्वल्पाक्षरं चैतत्पदत्रयं सर्वत्र प्रसिद्धं स्त्रीभिरपि सुज्ञानम्।

एवं **भवन्मध्यं** क्षत्रियः 'भिक्षां भवति देहीति'। तथा वैश्यो—भवच्छब्द उत्तरम-स्येति। **भवदुत्तरं** वाक्यं समार्थम्।

उपनीत इति भूतप्रत्ययनिर्देशादान्वह्निकेऽपि वृत्त्यर्थे भैक्ष्यचरणेऽयमेव विधि-रिति दर्शयति। 'एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिक' इत्यत्रोपनयनप्रकरणमुपसंहरन्नुपनय-नाङ्गस्यापि भैक्ष्यस्यायमेव विधिरित्याह। अन्यथाकरणादुपनयनाङ्गमेवैतत्स्याद्यदि वा भूतप्रत्ययसामर्थ्यात्प्रकरणं बाधित्वा वृत्त्यर्थ एव भैक्ष्ये। उपनीयमानस्य तदङ्गं यद्भैक्षं यच्चाहरहवृत्त्यर्थं तत्र सर्वत्रायं धर्मः ॥४९॥

हिन्दी—उपनीत (यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त) ब्राह्मण ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के पहले उच्चारण कर (यथा-'भवति भिक्षां देहि'), क्षत्रिय ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के मध्य में उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां भवति देहि') और वैश्य ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के अन्त में उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां देहि भवति') भिक्षा याचना करनी चाहिये ॥४९॥

सर्वप्रथम भिक्षा किन-किन से माँगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

भाष्य—मात्रादयः शब्दाः प्रसिद्धार्थाः। **निजा** सोदर्या। **या चैनं न विमानयेत्**। विमानना अवज्ञानम्, 'न दीयत' इति प्रत्याख्यानम्। तथा च गृह्यम्—'अप्रत्याख्यायि-नमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वेति'। तदेव हि मुख्यं प्राथम्यं यदुपनीयमानस्य। अहरहस्तु न विमाननाभयमाश्रयणीयम् ॥५०॥

हिन्दी—(उक्त ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी) माता से, बहन से अथवा सगी मौसी से या जो निषेध के द्वारा अपमान न करे (अवश्य भिक्षा दे), उससे सर्वप्रथम भिक्षा माँगनी चाहिये ॥५०॥

भिक्षाद्रव्य की भोजन-विधि—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

भाष्य—समाहृत्येति शब्दो बह्वीभ्य आहरणं दर्शयति । नैकस्याः सकाशात् बह्व्यो ग्रहीतव्याः ।

तदिति यस्यानन्तरं शब्दसन्निधिः वृत्त्यर्थस्य, न प्राकरणिकस्योपनयनाङ्गस्य । तस्य हि गृह्यकारैः "अनुप्रवचनीयं अपयेदिति" विहितं, न भोजनम् । 'तिष्ठेदहः-शेषमिति' च कृतप्रातराशस्य चोपनयनम् । अतो नोपनयनाङ्गं भैक्षभोजनम् ।

यावदर्थं यावता भैक्ष्येण तृप्त्याख्यप्रयोजननिर्वृत्तिः । न बहु भिक्षितव्यम् ।

अमायया निवेद्य गुरवे, न कदन्नेन संस्कृतमन्नं प्रच्छाद्य कदन्नं गुरोः प्रकाशयेत्, कदन्नं किल एष न ग्रहीष्यतीत्यनया बुद्ध्या । निवेदनम् 'इदं प्राप्तमिति' प्रकटी-करणम् । अगृहीते गुरुणा अनुज्ञातो **अश्नीयात्** ।

"कथं पुनर्निवेदनमदृष्टसंस्कारार्थमेव न भवति" । इतिहासप्रामाण्यात् । तथा च भगवान् व्यासः । स्त्रितकूपाख्याने 'गुरुणा गृहीतमिति' दर्शितवान् । 'अनुज्ञातो भुञ्जीतेति' यत्क्वचिद्गृह्येश्रूयते ।

आचम्य प्राङ्मुखः । "आचमने प्राङ्मुखतेयमानन्तर्यादिति" केचित् तद-युक्तम् । 'प्रागुदङ्मुख' इत्याचमने दिङ्नियमो भविष्यति । तस्माद्भोजनेनैव सम्बन्धः ।

शुचिः । चाण्डालादिदर्शनमशुचि देशाक्रमनिष्ठीवनादि कृताचमनस्य भोजन-कालेऽनेन निषिध्यते ॥५१॥

हिन्दी—अपने को तृप्त करने योग्य भिक्षा एकत्रित कर निष्कपट हो (गुरुजी अच्छे अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थों को अपने लिये ले लेंगे; इस कपट भावना से अच्छे भोज्य पदार्थ को निकृष्ट भोज्य पदार्थ से बिना छिपाये) गुरु के सामने भिक्षा में प्राप्त हुए अन्न को निवेदन कर (उनकी आज्ञा पाने के बाद) आचमन कर पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस अन्न का भोजन करे ॥५१॥

पूर्व आदि दिशाओं की ओर मुखकर काम्य-भोजन-फल—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियन् प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङमुखः ॥५२॥

भाष्य—निष्कामस्य प्राङ्मुखस्य भोजनं विहितं नित्यतया। इदानीं काम्या विधय उच्यन्ते।

आयुषे हितं **आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्त इति**। यदि तद्भोजनादायुः प्राप्यते तत आयुष्यं तद्भवति, तेनायमर्थः सम्पद्यते 'आयुष्कामः। प्राङ्मुखो भुञ्जीत'। अधिकार-द्वयं प्राच्यां, नित्यं काम्यं च। आयुष्कामः फलमभिसन्दधीत। इतरस्तु न तथेति। यथा नित्यमग्निहोत्रम्, स्वर्गकामस्य चासकृत्प्रयोगात्तन्त्रेण फलकामस्य नित्योऽप्यधिकारो निर्वर्तते।

एवं यशःकामो दक्षिणामुखः। इमे काम्या एव विधयः।

श्रियमिच्छन् **श्रियन्** क्यजन्ताच्छता कृतः। श्रियै हितं वा श्रियमिति मकारान्तः पाठः, आयुष्यादिवत्। प्राण्यङ्गत्वात्स्वार्थे भुजिर्वर्तते। तथा **ऋतं भुङ्क्त** इति। श्रियं भोजनात्प्राप्नोतीति। तथा च द्वितीयान्तः पाठः श्रियमिति। तादर्थ्ये वा चतुर्थी 'श्रियै प्रत्यगिति'।

ऋतं सत्यं यज्ञश्च, तत्फलं वा स्वर्गः। स्वर्गकाम उदङ्मुखो भुञ्जीत।

अन्तरेणापि विधिप्रत्ययमप्राप्तत्वाद्विध्यर्थावगतिः पञ्चमलकारादिकल्पनया। एवमे-तद्दिग्विभागेन भोजनं फलविशेषार्थम्।

विदिग्भोजनं त्वर्थप्राप्तं नित्येन प्राङ्मुखतानियमेनापोद्यते।

अयं च काम्यो विधिर्न ब्रह्मचारिण एव भैक्ष्यभोजनविषयः, अऽपि तु गृहस्थादी-नामपि भोजनमात्राश्रितः। तथा चाश्नीयादिति प्रकृते भुङ्क्ष इत्याख्यातान्तरनिर्देशो लिङ्गम्। इतरथाऽश्नीयादिति यतो निःसन्दिग्धा प्रकृतविषयता प्रतीयते तदेव निरदेक्ष्यत्। भुङ्क्ष इति तु निर्देशे–किं प्रकृत एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्ट, उत शब्दार्थतया भोजनमात्रमिति सन्देहे—आख्यातवृत्तावर्थान्तरावगतिर्न प्रकृतप्रत्यभिज्ञानमेव।

यत्तु ''विधिप्रत्ययाभावादर्थवाद एवायं पूर्वशेष'' इति चोक्तः परिहारः 'वचनानि त्वपूर्वत्वादिति'। न च पूर्वैकवाक्यताहेतुर्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादिरस्ति।

यद्यप्युत्तरेषां चैतदवरोधीत्यनेनातिदेशेन ब्रह्मचारिधर्मोऽपि पुरुषमात्रविषयः स्यात्फलं तु न स्यात्। गुणकामनायां हि नातिदेशात्प्रवृत्तिमनुमन्यन्ते। 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' 'खादिरं वीर्यकामस्येति' विकृतिषु नेष्यते कैश्चित्॥५२॥

हिन्दी—हितकर अन्न को आयु के लिये पूर्व की ओर, यश के लिए दक्षिण की ओर, धन के लिए पश्चिम की ओर और सत्य के लिए उत्तर की ओर मुखकर भोजन करना चाहिए॥५२॥

[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ।।६।।]

[**हिन्दी**—(द्विज को सायं-प्रात: भोजन करने का विधान स्मृतियों में वर्णित है; बीच में भोजन नहीं करना चाहिये (तीन बार भोजन नहीं करना चाहिए)। यह विधि अग्निहोत्र के समान (पुण्यप्रद) है ।।६।।]

भोजन के आदि-अन्त में आचमन-विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ।।५३।।

भाष्य—आचमनोपस्पृशतिशब्दौ समानार्थौ शुद्ध्यर्थसंस्कारविशेषवचनौ शिष्ट-व्यवहारादवगम्येते । यद्यपि स्पृशतिरर्थान्तरे पठितश्चमुरप्यदनमात्रे तथापि विशेष एव सोपसर्गयो: प्रयोगदर्शनात्तदर्थतैव प्रतीयते । स्पृशे: सामान्यविषयत्वेऽपि प्रयोगो नियामक: । गडिर्वदनैकदेशे पठ्यते । स च कपोल एव गण्ड इति प्रयुज्यते, नैकदेशान्तरे । 'पुष्यसिद्ध्यौ' (पा०सू० ३।१।११६) नक्षत्रमात्रे पठ्येते, विशेषे च वर्तेते । धाय्या-शब्द: सामिधेनीमात्रे पठ्यते आवापिकीषु च वर्तते । अतोऽप एवाचम्येत्यर्थ: । स एवो-पस्पृश्येत्यस्यापि । स च परस्ताद्विधायिष्यते । सामानाधिकरण्यं चानयोर्दृश्यते नित्य-कालमुपस्पृशेदित्यभिधाय त्रिराचामेदित्याह । अत: समानार्थ: ।

उक्तेऽप्याचम्येति भोजनार्थतयाऽऽचमने पुनर्वचनमानन्तर्यार्थम्, अनन्तरमेव भुञ्जीत, न व्यापारान्तरेण व्यवदधीत । तथा च भगवान्व्यास:—"पञ्चार्द्रा भुञ्जते नित्यं तेषु वत्स्याम्यहं हरे" । श्री: किलैवमाह । द्वौ हस्तौ द्वौ च पादावास्यं च एषा पञ्चार्द्रता । सा चोपस्पर्शनान्तरं भुञ्जानस्य भवति, न विलम्बमानस्य । इहापि वक्ष्य'त्यार्द्रपादस्तु भुञ्जीतेति' स्नातकव्रतेषु । तस्यापौनरुक्त्यं च वक्ष्याम: ।

नित्यग्रहणं प्रकरणाद्ब्रह्मचारीभोजनधर्मो मा विज्ञायि, भोजनमात्रधर्मो यथा स्यादुप-देशत एव ।

अत्र "द्विजग्रहणं भोक्तृमात्रधर्मार्थं चाहु: नित्यग्रहणं चानुवादनम्" ।

न ते सम्यङ्मन्यन्ते । यदि द्विजशब्द: प्रकृते ब्रह्मचारिणि न समाविशेत्तदा स्या-दपि । यदा तु तस्याप्येतदभिधानं तदा नान्तरेण नित्यग्रहणं प्रकरणबाधोपलभ्यते ।

समाहित: । भुज्यमानं द्रव्यं स्वात्मशक्तिं चावेक्षमाण: । अन्यचेतस्कस्य हि गुरु-विरुद्धविदाहिवर्जनं सात्म्यभोजनं च न स्यात् ।

भुक्त्वा चोपस्पृशेत् । स्नेहादिलेपापनयनं द्रव्यशुद्धावुक्तम् । कृते तस्मिन्भुक्तवत इदमाचमनं विधीयते ।

अत्र केचिन्मन्यन्ते–'शुद्ध्यर्थमेकमाचमनम्, 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा चेति' अनेनादृष्टार्थं द्वितीयं कर्तव्यम्। एवं च पठ्यते "आचान्तः पुनराचमेदिति"।

एतत्पञ्चमे स्थापयिष्यामः।

सम्यगिति वैधतामाचमनपदार्थस्यानुवदति। 'यादृशो विधिरुक्तस्तं सर्वमनुतिष्ठेत्'।

अद्भिः खानि च संस्पृशेत्। खानि छिद्राणि शीर्षण्यानि।

"ननु चैतदुक्तमेव, 'खानि चैव स्पृशेतद्भिरिति'।"

आत्मशिरसोर्व्यावृत्त्यर्थमिति केचित्। यदा शुचिः सन्नभोजनार्थतयैवाचामति। येषां च भोजनोत्तरकालमेकं शुद्ध्यर्थमाचमनमपरमदृष्टार्थं तत्रादृष्टार्थ आत्मशिरसी न स्पृश्येते, शुद्ध्यर्थं तु तादृशमुत्पन्नम्। तस्य सम्पूर्णाङ्गस्य प्रयोगो वक्ष्यते (६१ श्लो०) "शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदिति"। यद्वा विधिप्रत्यभिज्ञानार्थ—शास्त्रीयमेतदाचमनं न लौकिकमिति। ज्ञाताङ्गविशेषसम्बन्धस्य तदङ्गिनिर्देशे तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानसिद्धिः। अतश्च यत्राचामेदिति श्रुतं तत्र न यस्य कस्यचिद् द्रव्यस्य भक्षणमात्रं प्रतीयते, किं तर्हि शास्त्रीयस्य संस्कारस्य सपरिकरस्येति यदुक्तं तद्दर्शितं भवति ॥५३॥

हिन्दी—द्विज नित्य (ब्रह्मचर्यावस्था के बाद भी) सावधान हो तीन आचमन कर भोजन करना आरम्भ करे तथा भोजन करने के बाद भी (तीन) आचमन करे और सम्यक् प्रकार से (शास्त्रानुसार) जल से ६ छिद्रों (दो नाक, दो आँख और दो कान) का स्पर्श करे ॥५३॥

श्रद्धा से अन्न-भोजन का विधान—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

भाष्य—अश्यत **इत्यशनं** भक्तसक्तवपूपाद्युच्यते। तदशनार्थमानीतं देवतारूपेण पश्येत। 'एषा वै परमा देवता यदन्नम्'। तस्य सर्वेषां भूतानां स्रष्टृत्वेन स्थितिहेतुतया च यद्दर्शनं साऽस्य 'पूजा'। अथवा प्राणार्थत्वेन भावनम्–'ध्यायन्मम तदर्थत्वं सम्पूजयति मां सदेति'। नमस्कारादिना वा प्रणम्य ग्रहणं 'पूजा'।

अद्याच्चैतदकुत्सयन्। कदन्नतया, दुःसंस्कारोपग्रहणेन वा कुत्साहेतुसम्भवे नान्नं कुत्सयेत्। 'किमिदमश्यते, अरुचिकरं, धातुवैषम्यजनकमि'त्येवमादिनाऽभिधानेन नाक्षिपेत्। यदि तु तद्रूपं भवति तदा नाद्यान्न कुत्सयन्नद्यात्।

दृष्ट्वा हृष्येत्। पुत्रस्त्र्यादिसन्दर्शनेन चिरप्रवासप्रत्यागत इव तुष्येत प्रीयेत।

प्रसीदेच्च। निमित्तान्तरजमपि कालुष्यमन्नदर्शनेन हित्वा मनःप्रसादमाश्रयेत्।

प्रतिनन्देच्च । समृद्ध्या शंसनं प्रतिनन्दम् । 'नित्ययुक्ता एतेन स्याम' इत्यादरोपदर्शनमभिनन्दनम् ।

सर्वशः सर्वदा । 'अन्यतरस्यामिति' व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्सप्तम्यर्थे शस् कर्तव्यः । सर्वदेति वा पठितव्यम् ॥५४॥

हिन्दी—भोजन के पदार्थ का ''यह प्राणार्थक है'' ऐसा ध्यान करे और उसकी निन्दा नहीं करते हुए सब अन्न को खा जाय (जूठा न छोड़े), उसे देखकर मन को प्रसन्न रखे और 'मुझे यह अन्न सर्वदा प्राप्त हो' इस प्रकार उसका प्रतिनन्दन करे ॥५४॥

श्रद्धा एवं अश्रद्धा से भोजन करने का सदसत्फल—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ।।५५।।

भाष्य—पूर्वविधिशेषोऽयमर्थवादः, न तु फलविधिः । फलविधौ हि काम्योऽयं विधिः स्यादूर्जकामस्य बलकामस्य च । ततश्च नित्यशब्दो नोपपद्येत 'पूजितं ह्यशनं नित्यमिति' । अतोऽयं यावज्जीविकः प्राङ्मुखतावन्नियमः ।

अपूजितं भुक्तं ह्युभयं नाशयेद्बलमूर्जं च ।

बलं सामर्थ्यमनायासेन भारोद्यमनादिशक्तता । कृशस्याप्यूर्जं महाप्राणता । अङ्गोपचयः महाकायो महाबलश्च भवति ॥५५॥

हिन्दी—पूर्वोक्त प्रकार से पूजित (सत्कृत अर्थात् अभिनन्दित) अन्न सामर्थ्य और वीर्य को देता है तथा अपूजित (निन्दित अर्थात् निन्दा करते हुए खाया हुआ) अन्न उन दोनों (सामर्थ्य और वीर्य) को नष्ट करता है ॥५५॥

भोजन-विषयक अन्य नियम—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्यादेतत्तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ।।५६।।

भाष्य—पात्रीस्थमन्नमास्यस्पर्शदूषित**मुच्छिष्टमु**च्यते । तत्र कस्यचिद्दद्यात् अनेनैव सिद्धे स्नातकव्रतेषु यः शुद्रविषयः प्रतिषेधः स तत्रैव निरूपयिष्यते । चतुर्थ्यां प्राप्तायां षष्ठी सम्बन्धमात्रनिषेधार्था । येऽपि दत्तमिदमस्मभ्यमिति न विदुस्तेषामपि भोजनाय न प्रकल्प्यं श्वबिडालादीनाम् । न ह्यत्र ददात्यर्थः परिपूर्णः स्वत्वनिवृत्तिमात्रं दातुः, परस्य सत्वापत्तिर्नास्ति ।

अन्तराशब्दो मध्यवचनः । द्वौ भोजनकालौ सायं प्रातश्च । ततोऽन्यस्मिन्काले न भुञ्जीत । अथवा व्यवधाने अन्तराशब्दः । त्यक्तभोजनव्यापारः क्रियान्तरेण व्यवधाय

पुनस्तदेव प्राक्पात्रगृहीतं न भुञ्जीत। स्मृत्यन्तरे तु विशेषः पठ्यते 'उत्थानाचमनव्यापेतमिति'। केचित्तु विच्छेदमन्तरमाचक्षते। 'सव्येन पाणिना पात्रमन्वालभ्य दक्षिणेनावदाय प्राणायास्ये जुहोतीति' श्रूयते। तत्र यः सव्येन पात्रस्यानुग्रहस्तदनन्तरम्।

न चैवात्यशनमतिमात्रमशनं कुर्यात्। एतच्चानारोग्यकारणं गुरुविरुद्धादीनां प्रदर्शनार्थम्। हेतूपदेशान्मात्राशितायाश्चायुर्वेदादतिमात्रता बोद्धव्या, यावदशितमन्नमुदरपूरं न करोति सम्यग्जीर्यति तावदशितव्यम्। त्रयः कुक्षेर्भागाः, अध्यर्धमन्नस्य भागार्धं पानस्य भागो दोषसञ्चाराय। अन्यथाऽनारोग्यम्।

न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्। अतश्चोच्छिष्टमपनीय शुचित्वमापादिते तस्मिन्नेव देश आचान्तव्यम् ॥५६॥

हिन्दी––उच्छिष्ट (जूठा) अन्न किसी को न दे तथा स्वयं भी न खावे, बीच में (प्रातः-सायं भोजन के बीच में अर्थात् तीन बार) न खावे, बहुत अधिक न खावे और जूठे मुँह (बिना आचमन या कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥५६॥

अधिक भोजन का निषेध—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥

भाष्य—दृष्टमूलतामत्यशनप्रतिषेधस्याचष्टे।

अनारोग्यं व्याध्युत्पत्तिर्ज्वरोदरादिपीडा। विषूचिकादिना जीवितनाश **अनायुष्यम्**। सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति शरीरपरिरक्षादिव्यतिक्रमाद**स्वर्ग्यम्**। नरकप्राप्तिः स्वर्गाभावेन प्रतिपद्यते। **अपुण्यं** दौर्भाग्यकरम्। **लोकविद्विष्टं** बहुभोजितया निन्द्यते।

तस्मात्कारणादत्यशनं **परिवर्जयेन्न** कुर्यात् ॥५७॥

हिन्दी—अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य के लिए अहितकर तथा लोक-निन्दित है; इस कारण उसे (अधिक भोजन करने को) छोड़ देना चाहिए ॥५७॥

आचमन के योग्य एवं अयोग्य तीर्थ—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा, न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥

भाष्य—तीर्थशब्देन पवित्रमुदकाधिकरणमुच्यते। तारणाय पापप्रमोचनाय च तिष्ठतीति तीर्थम्। क्वचित्तु तरन्त्यनेनेति तीर्थमुदकावतरणमार्गः। इह तूदकाधारकरतलैकदेश उच्यते। स्तुत्या च तीर्थशब्दप्रयोगः। न हि तत्र नित्यस्था आपः।

तेन **उपस्पृशेदा**चामेत्।

ब्राह्मेणेत्येतदपि स्तुत्यर्थमेव । ब्रह्मा देवताऽस्येति । न हि तीर्थस्य देवता भवत्ययागरूपत्वादमन्त्रत्वाच्च । यागरूपतां च केनचिद्धर्मेण शुद्धिहेतुत्वादिनाऽध्यारोप्य देवतातद्धितः ।

नित्यकालं शौचार्थे कर्माङ्गे च ।

कः प्रजापतिः, स देवताऽस्येति 'कायम्' । एवं त्रिदशा देवता अस्येति 'त्रैदशिकम्' । त्रिदशशब्दाद्देवताऽणिकृते स्वार्थे 'कः' । देवतात्वं च पूर्ववत् ।

एभिस्तीर्थैरुपस्पृशेत् । विप्रग्रहणमविवक्षितम् । यतः क्षत्रियादीनां विशेषं वक्ष्यति । न चासत्यां सामान्यतः प्राप्तौ विशेषविधानमुपपद्यते, 'कण्ठगाभिस्तु भूमिप' इत्यादि ।

न **पित्र्येण** पितृदैवत्येन कदाचिदपि । स्फोटपिटकादिना ब्राह्मादितीर्थेष्वयोग्यतामायातेष्वपि ।

"ननु चाविधानादेव पित्र्यस्याप्राप्तिः" ।

अस्त्यत्राशङ्का । पितृतीर्थज्ञापनार्थं तावत्पित्र्यं तयोरध इत्यवश्यं वक्तव्यम् । न च तस्येह कार्यं निर्दिश्यते । कार्याकाङ्क्षायाम् प्रकृतत्वात्तेन कार्येण सम्बन्ध आशङ्क्यते । अद्य पुनः प्रतिषेधे सति 'पित्र्य'मिति समाख्ययैव कार्यावगतिः, उदकतर्पणादि पितृकर्म एतेन तीर्थेन कर्तव्यम् । एवं स्तुतिरन्वयिनी भवति । श्रुतिनोदितत्वाच्च ब्राह्मादीनां, तदभावे प्राप्तशङ्कानिवृत्त्यर्थं युक्तमस्याभिधानम् ॥५८॥

हिन्दी—ब्राह्मण सर्वदा ब्राह्मतीर्थ से प्रजापति अथवा देवतीर्थ से आचमन करे, पितृतीर्थ से कभी भी आचमन न करे (उक्त तीर्थों के लक्षण श्लो० ५९ में वर्णित) हैं ॥५८॥

ब्राह्म आदि तीर्थों के लक्षण—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥

भाष्य—अङ्गुष्ठस्य मूलमधोभागः । तस्य तलप्रदेशो **ब्राह्मं तीर्थम्** । हस्ताभ्यन्तरं तलमाह । महारेखान्तमभिमुखमात्मनो ब्राह्मं हस्तमध्ये । अङ्गुलीनां मूले दण्डरेखाया ऊर्ध्वं 'कायम्' । अग्रे अङ्गुलीनां 'दैवम्' । एवमुपसर्जनीभूतोऽपि मूले अङ्गुलिशब्दः सापेक्षत्वादग्रशब्दे सम्बध्यते । **पित्र्यं तयोरधः** । अत्रापि गुणीभूतस्याङ्गुलीशब्दस्याङ्गुष्ठस्य च सम्बन्धः । प्रदेशिनी चात्राङ्गुलिर्विवक्षिता । तयोरध अन्तरं'पित्र्यम्' ।

स्मृत्यन्तरशिष्टप्रसिद्धिसामर्थ्यादेवं व्याख्यायते । यथाश्रुतान्वयासम्भवात् । तथा च शङ्खः—"अङ्गुष्ठस्याधरतः प्रागग्रायाश्च रेखाया 'ब्राह्मं' तीर्थं, प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तरा

'पित्र्यं', कनिष्ठातलयोः पूर्वेणा पर्वण 'कायं' अग्रमङ्गुलीनां दैविकमिति'' ।।५९।।

हिन्दी—हाथ के अँगूठे के पास 'ब्रह्मतीर्थ', कनिष्ठा अङ्गुली के मूल के पास प्रजापति तीर्थ', अङ्गुलियों के आगे 'देवतीर्थ' और अँगूठे तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली के बीच पितृतीर्थ होता है ।।५९।।

आचमन-विधि—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ।।६०।।

भाष्य—अन्यतमेन तीर्थेन **त्रिरप** उदक**माचामेदा**स्येन जठरं प्रवेशयेत् ।

तत उदकभक्षणादनन्तरं द्विरभ्यासेन **मुखम्** ओष्ठद्वयं **परिमृज्यात्** ओष्ठश्लिष्टानामुदकावयवानां सोदकेन हस्तेनापनयनं 'प्रमार्जन'मत्र ।

''कुतः पुनर्हस्तेनेति ।''

समाचारात्तीर्थाधिकाराद्वा । 'तीर्थेनैवाद्भिरि'ति चोत्तरत्र श्रुतमत्राप्यपकृष्यते । दृष्टार्थत्वाच्च प्रमार्जनस्य मुखशब्द एकदेशे यथोक्ते वर्तते ।

खानि छिद्राणि **चोपस्पृशेद**द्भिर्हस्तगृहीताभिः स्पर्शनमेवोपस्पर्शनम् । मुखस्य च प्रकृतत्वान्मुख्यानामेव खानामेष स्पर्शनविधिः । **गौतम**श्चाह ''खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि'' ।

आत्मानमिति हृदयं नाभिं वा निर्दिशति । उपनिषत्सु हि ''अन्तर्हृदयमात्मानं पश्येदिति'' कथ्यते । अतो हृदयस्यायं स्पर्शः क्षेत्रज्ञस्यात्मनो विभोः । अमूर्तस्य न स्पर्शसम्भवः । 'नाभिमालभेतेति' क्वचित्स्मर्यते; तेन नाभिं मन्यामहे ।

शिरः प्रसिद्धम् ।

स्मृतीनां चैकार्थ्यादा'मणिबन्धात्पाणी प्रक्षाल्ये'त्येवमादि लभ्यते । तथा अशब्दकरणं वाङ्नियमः पादाभ्युक्षणम् । महाभारते प्रक्षालनमपि पादयोर्दर्शितम् ।।६०।।

हिन्दी—पहले तीन बार आचमन कर दो बार मुख को (ओष्ठ बन्दकर अङ्गुष्ठ मूल से) स्पर्श करे और छिद्रों (नाक, नेत्र और कान के २-२ छिद्रों) का, हृदय का और सिर का जल से स्पर्श करे ।।६०।।

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ।।६१।।

भाष्य—उष्णशब्दः क्वाथोपलक्षणार्थः । तथा हि पठ्यत 'अशृताभिरद्भिरिति' । एवं च ग्रीष्मोष्मतप्ताः स्वभावोष्णाश्च न प्रतिषिध्यन्ते । फेनग्रहणं बुद्बुदानामपि प्रदर्श-

नार्थम् । पठितं च 'हीनाभिः फेनबुद्बुदैरिति' ।

तीर्थेन धर्मविदिति वृत्तपूरणमेव ।

शौचमाप्तुमिच्छुः **शौचेप्सुः** । शुद्धिकाम इत्यर्थः । नान्यथा शुद्धो भवति ।

सर्वदा । न प्रकरणाद्भोजन एव, किं तर्हि रेतोविण्मूत्रादिशुद्धिष्वपि ।

अपां भक्षणे कर्मत्वात्तृतीयानिर्देशो, न भक्षमाणानामेवायं धर्मोऽपि तु कारणभूतानामपि पादाभ्युक्षणादौ । वयं तु ब्रूमो भक्षणेऽपि करणमेवापो, न हि तासामाचमनं संस्कारः ।

एकान्ते शुचौ देशे । एकान्तो हि जनैरनाकीर्णः प्रायेण शुचिर्भवति ।

प्रागुदङ्मुखः । मुखशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । "प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा" एवं हि **गौतमेन** पठितम् । विग्रहश्चैवं कर्तव्यः प्रागुदङ्मुखमस्येति । नायं द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिरपि तु बहुव्रीहिरेव । द्वन्द्वगर्भतायां-समाहारे समासान्तेनाकारेण भवितव्यम् । इतरेतरयोगोऽपि नैव । न हि युगपदुभयदिङ्मुखता सम्भवति । तत्र कश्चिदाचमनभागः प्राङ्मुखेन कर्तव्यः कश्चिदुदङ्मुखेनेत्यापतति, न चैकदेशे आचमनम् । न च दिगर्थ उपादेयो येन परस्परापेक्षे सम्बन्ध्येयाताम् । नापि दक्षिणपूर्वादिवत्प्रागुदक्शब्दोऽपराजिताया दिशो वाचकत्वेन प्रसिद्धो येन दिक्समासबहुव्रीहिर्ज्ञायेत । तस्मान्नायं वृत्त्यन्तरगर्भो बहुव्रीहिः ।। अतो विकल्पः । उदाहृतं च स्मृत्यन्तरे "प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा शौचमारभेतेति" । यथा "बृहद्रथन्तरसाम षडहे" इति केषुचिदहःसु बृहत् केषुचिद्रथन्तरम्; न त्वेकस्मिन्नहनि समस्तोभयसामत्वम् ।।६१।।

हिन्दी—पवित्रता का इच्छुक धर्मात्मा पुरुष ठंडे और फेन-रहित जल से ब्राह्म आदि तीर्थों (श्लो० ५८) से एकान्त में पूर्व या उत्तर मुख बैठकर सर्वदा (ब्रह्मचर्याश्रम त्याग के बाद भी भोजनान्त में) आचमन करे ।।६१।।

आचमन में प्रत्येक वर्ण के लिए जल-प्रमाण—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ।।६२।।

भाष्य—उक्तामाचमनं तीर्थेनापां भक्षणम् परिमाणं तु नोक्तमतस्तदवधारणार्थमाह—हृदयं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति 'हृद्गाः' । 'अन्येष्वपि दृश्यत' (पा०सू० ६।२।१०१) इति गमेर्डः । 'हृदयस्य हृदिति' (व्या०सू० ६।३।५०) योगविभागाद्धृदादेशः ।

पूयते पवित्रतां प्राप्नोत्यशुचित्वं व्यावर्तते । आप ईषदूनचुलुकमात्रप्रमाणाः ।

कण्ठगाभिस्ताभिः कण्ठमात्रव्याप्निनीभिः **भूमिपः** क्षत्रियः । भूमेराधिपत्यं क्षत्रि-

यस्य विहितम् । तेन प्रसिद्धेन कर्मणा क्षत्रियजातिर्लक्ष्यते । आधिपत्यविवक्षायां राज-धर्मेष्वेवावक्ष्यत् ।

वैश्यःप्राशिताभिरन्तरास्यप्रवेशिताभिः । कण्ठमप्राप्ता अपि शुद्धिहेतवो वैश्यस्य ।

शूद्रः स्पृष्टाभिरन्तत अन्तेनेति । आद्यादित्वात्तृतीयार्थे तसिः । अन्तशब्दोऽयं समीपवचनोऽस्ति । 'उदकान्तं गत' उदकसमीपमिति गम्यते । अस्त्यवयववचनः । 'वस्त्रान्तो' 'वसनान्त' इत्युभयत्रापि वर्तमानः सम्बन्ध्यन्तरमपेक्ष्यते, कस्य समीपं कस्य वाऽवयव इति । तत्रेह येन स्थानेन वर्णान्तराणामाचमनं विहितम्, तीर्थैर्जिह्वोष्ठेन च तदन्तेनेति प्रतीयते । समीपवचनस्तु न सम्भाव्यः विधीयमानस्याचमनस्य तत्साध्य-त्वासम्भावात् । स्पर्शेति प्राशनमस्ति ।

जिह्वौष्ठेन हि स्पृश्यमानस्य रसास्वादनमवश्यम्भावि । तत्र वैश्यपरिमाणात्किञ्चि-न्यूनताऽत्र विवक्षिता । जिह्वामूलं यावद्वैश्यस्य; जिह्वाग्रं शूद्रस्य ।

द्रवत्वादुदकस्यापरिहार्योऽवध्यतिक्रमः, अवध्यप्राप्तौ त्वशुद्धिः ।

सर्वश्चायं तीर्थविभागो दक्षिणहस्तस्य उपस्पर्शने हस्तस्यौचित्याद्दक्षिणाचारतायाश्च पुरुषधर्मतया विहितत्वात् । एवमर्थमेव चास्मिन्नवधाविदमुच्यते ॥६२॥

हिन्दी—(आचमन-काल में) ब्राह्मण हृदय तक; क्षत्रिय कण्ठ तक, वैश्य मुख तक पहुँचे हुए तथा शूद्र ओष्ठ को स्पर्श किये हुए जस से शुद्ध होता है ॥६२॥

उपवीती (सव्य) आदि के लक्षण—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ।।६३।।

भाष्य—"ननु च लोकतः सिद्धाः पदार्था धर्मशास्त्रेऽप्याश्रीयन्ते । न पदार्थसंविज्ञा-नार्थानि मन्वादिवाक्यानि, व्याकरणाभिधानकाण्डस्मृतिवत्" ।

उक्तमस्माभिर्यो नातिप्रसिद्धोऽर्थस्तं चेल्लक्षयन्ति किमुपालम्भमर्हन्ति । अस्ति चात्र किञ्चित्प्रयोजनमन्यदपि । आचमनक्रममुच्यमानमुपसंव्यानादिकमाचमनाङ्गं यथा विज्ञायेत् । यद्यप्युपवीतधारणं व्रतार्थतया पुरुषार्थतया वा सर्वदा प्राप्तं तथापि तेन विनाऽऽचमनं कृतमप्यपरिपूर्णमेव स्यात् । असत्यस्मिन्वचने व्रते वैगुण्यं पुरुषदोषश्च स्यात् । अथ पुनरन्तरेणोपवीतमाचमनं कृतमप्यकृतसमं, दोषश्च स्यादप्यशुचिना कृतमपां भक्षणमिति ।

"कथं पुनः केवलस्योपवीतस्यैवाचमनाङ्गता यावताऽन्यदप्यत्र निर्दिष्टं प्राची-नावीति च ।"

उच्यते । प्राचीनावीतं स्वशब्देनैव पित्र्ये कर्मणि विहितं, तत्रार्थवत्तायामुपयातायां

नाकृतार्थेनोपवीतेन विकल्पितुमर्हति । निवीतमप्यभिचारेऽर्थवत् । यद्यप्यत्र निवीतस्य विनियोगो नास्ति, तथापि स्मृतीनां चैकार्थ्यादन्यत्र यो विनियोगस्तेनेहाप्यर्थवत्ता भवत्येव ।

पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थमुद्धृतबाहुर्यतो लोक उपवीतीत्युच्यते । सार्वकालिकं चोपवीतं वक्ष्यामः । न च केवलपाणावुद्धृत उपवीती ।

सव्ये उद्धृते **प्राचीनावीती** । समासपदान्नामधेयम् । असमासस्तु वृत्तानुरोधितया ।

कण्ठसज्जने । कण्ठे सज्जनं सङ्गः स्थापनम् । यदा वस्त्रस्य सूत्रस्य नान्यतरोपि बाहुरुद्ध्रियते तदा **निवीती** भवति ॥६३॥

हिन्दी—द्विज दाहिना हाथ उठाकर पहने गये (बायें कन्धे के ऊपर से दाहिनी काँख के नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होने पर 'उपवीती' (सव्य), बाँया हाथ उठाकर पहने गये (दाहिने कन्धे के ऊपर से बायें काँख के नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होने पर ''प्राचीनावीती'' (अपसव्य) और (मालाकी तरह) कण्ठ में लटकते हुए यज्ञोपवीत होने पर 'निवीती' कहलाता है ॥६३॥

पूर्व मेखलादि के नष्ट होने पर दूसरे का ग्रहण—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

भाष्य—विनष्टानामप्सु प्रासनमन्येषां च ग्रहणमत्र विधीयते । प्रासनग्रहणयोः पौर्वापर्यं यथाश्रुतमेव । अस्माच्च पुनरुपादानान्नैषामुपनयनाङ्गतैव । तदङ्गत्वे हि तत्प्रयोगापवर्गितैव स्यात् । किं तर्हि? यावद्ब्रह्मचर्यं धारणम् ।

''अथ किमुपनयनकाल एव प्राक्कर्मनिष्पत्तेः दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलाद्विनष्टानां प्रतिपत्तिर्न सम्भवति । प्रयोगसमाप्त्यर्थं च पुनरुपादानं, यथा कपालस्य; येनैवमुच्यते अस्मात् पुनरुपादानाद्धारणमनुमीयते'' ।

उच्यते । ग्रहणं तावद्दण्डस्य चोदितं, मेखलाया बन्धनम् । तत्र सूत्रस्य विन्यासस्तावदुपनयनाङ्गत्वेनावश्यं कर्तव्यम् । कृते तस्मिन्कृतः शास्त्रार्थः । उत्तरकालं किं तैर्नष्टैरनष्टैर्वा । अङ्गनाशे च प्रतिपत्तिविशेषः कर्मोपकारको भवति । न च तेषां किञ्चन कार्यमाम्नातं येन तत्सिद्ध्यर्थं विशिष्टे काले वाचनिकमुपादानम् । अकृतत्वाच्च कार्यस्य तत्प्रयुक्तं पुनरुपादानमर्थसिद्धमुच्यते । तस्मात्प्रतिपत्तिविधानादुपादानवचनाच्च धारणमङ्गं, न च प्रयोगापवर्गि । यतः कमण्डलुनोपनयनोत्तरकालानुवर्तिना तुल्यवन्निर्देशात्तेषामप्युत्तरत्रानुवृत्तिः प्रतीयते । सा च व्रताङ्गम् । अत उभयार्था मेखलादयः प्रकरणादुपनयनार्थाः । निवृत्ते चोपनयने दर्शनाद्यावद्ब्रह्मचर्यभाविनः । कमण्डलुश्चोदकार्थः कर्तव्यो-

ऽस्मादेव प्रतिपत्तिविधानात् । अन्यथा यदा कमण्डलुस्तदेयं प्रतिपत्तिरिति पाक्षिकत्वं स्यात् ।

तत्र दण्डधारणं प्रतिगृह्य दण्डं भिक्षां चरेदिति क्रमाद्भैक्ष्यचर्याङ्गत्वमेव प्राप्तं समाचारादभैक्षेऽर्थेऽपि भ्रमणे भवत्येव । न तु सर्वदैव करतलधृतदण्डस्य स्थानासनशयनभोजनादीनि । तथा च स्वाध्याये ब्रह्माञ्जलि वक्ष्यति ।

मन्त्रवदित्युपनयनविधिना ग्रहणमनुवदति । तत्र च मेखलाया मन्त्रो, न दण्डस्य॥६४॥

हिन्दी—मेखला, मृग-चर्म, पालाशादि दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु के नष्ट होने पर उन्हें जल में छोड़कर मन्त्रपूर्वक दूसरा धारण करना चाहिए ॥६४॥

केशान्त संस्कार का समय—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ।।६५।।

भाष्य—केशान्तो नाम संस्कारः । स गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य कर्तव्यः । तस्य च स्वरूपपरिज्ञाने गृह्यमेव शरणम् ।

द्वे वर्षेऽधिके यस्य द्वाविंशस्य तस्मिन्द्व्यधिके द्वाविंशे अथवा कालमात्रमन्यपदार्थः । ततो द्वाविशाद्वर्षाद्द्व्यधिके काले **वैश्यस्येति** । द्विशब्दस्य च वर्षाण्येव सङ्ख्येयानि । प्रकृतानि हि तानि ॥६५॥

हिन्दी—गर्भ से सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष में क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष में वैश्य का ''केशान्त'' संस्कार (ब्रह्मचर्यावस्था में धारण किए केश का छेदन) कराना चाहिए ॥६५॥

बिना मन्त्र के स्त्रियों के संस्कार का विधान—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ।।६६।।

भाष्य—इयमावृदशेषतः स्त्रीणाम**मन्त्रिका** कार्या । जातकर्मण आरभ्येयं संस्काराणाम् **आवृत्** परिपाटी, सेतिकर्तव्यताकः संस्कारकलाप इति यावत् ।

संस्कारार्थं शुद्ध्यर्थं शरीरस्य । पुंसामिव स्त्रीणामपि प्रयोजनमाह ।

यथाकालम् । यस्मिन्काले यः संस्कार उक्तस्तं कालमनतिक्रम्य । पदार्थानतिवृत्तौ 'यथाऽसादृश्ये' अव्ययीभावः ।

एवं क्रमेऽपि द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रमात्ररहिताया आवृतो विहितत्वदयथाकालक्रमप्राप्तिरेव नास्ति । अत्यतो निषेधो नित्यानुवादो वृत्तपूरणार्थ: । एतावद्विवक्षितं स्त्रीणां चैते अमन्त्रका इति ।।६६।।

हिन्दी—शरीर-संस्कार के लिए पूर्वोक्त समय और क्रम से स्त्रियों के विवाह को छोड़कर सब संस्कारों को बिना मन्त्र के ही करना चाहिए ।।६६।।

पूर्वेणावृद्धचनेन जातकर्मादिवदुपनयनेऽप्यमन्त्रके प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमारभ्यते ।

स्त्रियों के यज्ञोपवीतादि का निषेध तथा वेद मन्त्रों से विवाहसंस्कार का विधान—

वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृत: ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।।६७।।

भाष्य—वेदग्रहणार्थो **वैदिक: संस्कार** उपनयनाख्यो य: स **स्त्रीणां वैवाहिको विधि:** । विवाहे भवो विवाहविषयो विवाहसाध्य: । अतो विवाहस्योपनयनस्थाने विहितत्वात्तदापत्तिवचनं विवाहस्य । तस्यच निवृत्तिर्यदि विवाहस्तत्कार्यकर: ।

हन्त प्राप्तं वेदाध्ययनं, प्राप्ता च व्रतचर्या । उपनयनं नाम मा भूत् । एतदुभयमपि निवर्तयति **पतिसेवा गुरौ वास:** । पतिं यत्सेवत उपचरत्याराधयति स एवास्या गुरौ वसति: । गुरौ वसत्याऽध्ययनं कर्तव्यम् न चास्या गुरौ वासोऽस्त्यत: कुतोऽध्ययनम् । **गृहार्थो** गृहकृत्यानि रन्धनपारिणाह्यप्रत्यवेक्षणादीनि यानि नवमे वक्ष्यन्ते (श्लो० ११) "अर्थस्य संग्रहे चैनाम्" इत्यादि । सायम्प्रातर्ब्रह्मचारिणो यत्समिदाधानं तदेवास्या गृहकृत्यम् । अग्निक्रियया च यावान्यमनियमसमूहो ब्रह्मचारिण: स सर्वं उपलक्ष्यते ।

एवं चैतदुक्तं विवाहस्योपनयनापत्त्यम् । यथैव पुरुषस्योपनयनात्प्रभृति श्रौता: स्मार्ता आचारप्राप्ताश्च विधयो भवन्ति, प्राक्तनं कामचार:कर्माक्षमत्वमेवं स्त्रीणां प्राग्विवाहात्कामचार:, परस्मात् श्रौतस्मार्तेष्वधिकार: ।

एवं वा पदयोजना । विवाह एव स्त्रीणां वैदिक: संस्कार उपनयनम् । अनुपनयनेऽपि विवाहे भक्त्योपनयनत्वमुच्यते । किं तदुपनयनेन विवाहस्य साम्यं येनास्य तद्व्यपदेश अत आह—**पतिसेवेत्यादि** ।।६७।।

प्रकरणोपसंहार:—

हिन्दी—स्त्रियों का विवाह-संस्कार ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीतरूप), पति-सेवा ही गुरुकुल-निवास (वेदाध्ययन रूप) और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कर्म कहा गया है ।) अतएव उनके लिए यज्ञोपवीत, गुरुकुल-निवास और अग्निहोत्र कर्म करने की शास्त्राज्ञा नहीं है ।।६७।।

[अग्निहोत्रस्य शुश्रुषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ।।७।।]

[**हिन्दी**—अग्निहोत्र की सेवा, सायंकाल पति के कार्यों में सहयोगदान स्त्रियों को प्रतिदिन करना चाहिए, यही उनका वैदिक कर्म है ।।७।।]

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ।।६८।।

भाष्य—एतावदुपनयनप्रकरणम् । अत्र यदुक्तं तत्सर्वमुपनयनार्थम् ।

"ननु केशान्तोऽप्येवं प्राप्नोति" ।

न । अतिवृत्ते उपनयने स्वकाले तस्य विधानात् । प्रकरणेऽपि पठितस्य वाक्याद-न्यार्थता भवति । तथा च केशान्तः समावृत्तस्यापि कैश्चिदिष्यते ।

उपनयने भव **औपनायनिकः** । उत्तरपदस्य दीर्घत्वम् पूर्ववत् ।

उत्पत्तिः मातापित्रोः सकाशाज्जन्म तां व्यनक्ति प्रकाशयति सगुणतां करोती-**त्युत्पत्तिव्यञ्जकः** । जातोऽप्यजातसमोऽनुपनीतोऽधिकाराभावात् । अतोऽयं विधिरु-त्पत्तिव्यञ्जकः ।

पुण्य इत्युक्तार्थः ।

उपनीतस्य येन **कर्मणा योगः** सम्बन्धोऽधिकारो, यत्तेनोपनीतेन कर्तव्यं, तदिदानीं वक्ष्यमाणं **निबोधत** ।।६८।।

हिन्दी—(भृगुमुनि महर्षियों से कहते हैं—) द्विजों के (द्वितीय) जन्म का व्यञ्जक उपनयन-विधि तक पुण्यवर्द्धक संस्कार को मैंने कहा, (अब उनके यज्ञोपवीतोत्तर कर्तव्यों को कहता हूँ—) ।।६८।।

यज्ञोपवीत संस्कार के बाद कर्तव्य—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ।।६९।।

भाष्य— शिक्षयेद्व्युत्पादयेच्छौचमादितः । **आदितं इति**वचनेनाचारादिभ्यः प्रागुपदेशः शौचस्य नेष्यते, किंतर्ह्यनियतक्रमकाः परस्परमेते । केवलमुपनयनानन्तरं व्रतादेशनं वक्ष्यति । आदिष्टवेदव्रतस्य च वेदाध्ययनम् । अतोऽग्नीन्धनसन्ध्योपासनयोः समन्त्रकत्वादकृते व्रतादेशे मन्त्रोच्चारणमप्राप्तं विधीयेत । शौचं चानियतकालं, तदवश्यं तदहरेवोपदेष्टव्यम् । एवमाचारोऽपि । अत इदमादित इति वचनमादरार्थं न प्रथमोपदे-श्यतां शौचस्य विधत्ते ।

शौचम्—'एका लिङ्गे' (अ० ५ श्लो० १३६) इत्याद्याचमनान्तम्।

आचारो गुर्वादीनां प्रत्युत्थानासनदानाभिवादनादि। **अग्निकार्य**मग्न्याधानकार्यं समित्समिन्धनम्।

सन्ध्यायामादित्यस्योपासनं तत्स्वरूपभावनं **सन्ध्याया उपासनम्**। एवं वा 'पूर्वां सन्ध्यामित्यादि' (अग्रे १०१ श्लो०)। एष व्रतधर्म: ॥६९॥

अध्ययनधर्मानिदानीमाह—

हिन्दी—गुरु शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे शौच पवित्रता (५।१३६), आचार-स्नान क्रिया आदि, अग्नि-कार्य (समिधा को लाना तथा प्रात:-सायंकाल हवन करना) और सन्ध्योपासन कर्म को सिखलावे ॥६९॥

वेदाध्ययन-विधि—

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥७०॥

भाष्य—प्रत्यासन्ने भविष्यति लृडयं द्रष्टव्य:। अध्ययने प्रवर्तमान: अध्ययनमारभमाण: अध्येतुमिच्छन्निति यावत्।

उदङ्मुखोऽध्याप्य:। गौतमीये तु "प्राङ्मुखो वा शिष्य: प्रत्यङ्मुख आचार्य" इति (अ० १ सू० ५५)।

आचान्तो यथाशास्त्रमिति। प्रागुक्तमाचमनविधिं स्मारयति।

ब्रह्माञ्जलि: कृतो येनेति। आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य परनिपात:। ब्रह्माञ्जलिकृदिति वा पाठ:।

लघुवासा धौतवासा:। प्रक्षालनेन लघुनी वाससी भवत:। अतो लघुत्वेन वासस: शुद्धिर्लक्ष्यते। अथवाऽयं रोमादिस्थूलवसन: चित्तव्याक्षेपे ताड्यमानो न प्रहारं वेदयेत्ततश्च न युक्त: पठेत्। अपनीयमाने तु वाससि गुरो: खेद: स्यात्। निरावरणे च काये रज्ज्वादिना ताड्यमानो महतीं बालो वेदनामनुभवेत्। अतो दृष्टार्थं लघुवासस्त्वम्।

जितानि नियमितानीन्द्रियाण्युभयान्यपि येन स **जितेन्द्रिय:**। न इतस्ततो वीक्षेत, यत्किञ्चिन्न शृणुयादध्ययनेऽवहितो भवेदित्युक्तं भवति ॥७०॥

हिन्दी—अध्ययन करने वाला, शास्त्रोक्त विधि से आचमन किया हुआ ब्रह्माञ्जलि (श्लो० ७१ में वक्ष्यमाण) बाँधकर हल्के (कौपीन आदि लघु) वस्त्र को पहना हुआ और जितेन्द्रिय शिष्य पढ़ाने के योग्य होता है ॥७०॥

ब्रह्माञ्जलि का लक्षण—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ।।७१।।

भाष्य—**ब्रह्म**शब्दोऽयमनेकार्थोऽप्यध्ययनाधिकारादत्र वेदवचनः प्रतीयते । तस्या**रम्भे** । निमित्तसप्तम्येषा । अध्ययनाधिकारादेव च तद्विषयाऽध्ययनक्रिया, तस्यायमारम्भः, प्रथमावृत्तिः पुरुषस्य । तत्रेदं पादग्रहणम् । वेदस्य तु यान्याद्याक्षराणि 'अग्निमीले' 'इषेत्वा' 'अग्न आयाहि' इति न सोऽत्रारम्भ उच्यते । नहि तस्य निमित्तभावः सम्भवितः, नित्यत्वात् । कादाचित्कं हि निमित्तं भवति । तेनैतदुक्तं भवति—वेदाध्ययनमारिप्समानो गुरोः पादसङ्ग्रहणं कुर्यात् कृत्वा ततः स्वाध्यायाक्षराण्युच्चारयेन्न पुनः प्रवृत्ताध्ययनक्रियाः पादौ गृह्णीयात् ।

"ननु चाद्यक्रियाक्षण आरम्भः, स च निमित्तम् । विद्यमानस्य च निमित्तत्वं युक्तं जीवनस्येव । अत्र गेहदाहाद्यतीतमपि निमित्तं तत्र तथैव श्रवणम् । तस्मात्सहप्रयोग एवाध्ययनपादोपसङ्ग्रहणयोर्युक्तः" ।

उच्यते । अध्यापनाध्यवसाय 'आरम्भ' उच्यते, नाद्यः क्रियाक्षणः । यदैव गुरुरधीष्वेत्याह तदैवाध्यवस्यति माणवकः । अतस्तदनन्तरं पादोपग्रहः । उपकारप्रवृत्तस्य गुरोश्चित्तप्रसादनमेतत् । यथा लोके कश्चिदुपकारप्रवृत्तं सभाजयति वाचा 'ननु त्वया वयमस्मात्पापान्मोचिता' इति । अनक्षरा चेयमध्येषणा 'उपसन्नोऽस्म्यध्ययनायेति' । न हि गुरुपरोध्योऽध्यापयेति । केवलमुपसदनमस्य कर्तव्यं सम्बोधार्थमवसरोऽध्ययनस्येति । अतः कृतोपसदनस्य वेदाक्षरोच्चारणम् । अपि च **संहत्य हस्तावध्येत**व्यमित्युच्यते । तत्राधीयानः पादोपसङ्ग्रहणविधिमतिक्रमेत ।

अवसानं समाप्तिरध्ययनादुपरमः । यद्यपि ब्रह्मशब्द आरम्भे गुणभूतस्तथाप्यवसानस्य सापेक्षत्वात्सन्निहितत्वाद्ब्रह्मपदेनैव सम्बन्धः प्रतीयते, अन्यस्याश्रुतत्वात् ।

सदाग्रहणमन्वहं भाविप्रयोगारम्भावसानयोरेषविधिर्यथा स्यादितरथा य एव व्रतादेशान्तरो मुख्यप्रारम्भः तत्रैव स्यात् । यथाऽन्वारम्भणीया दर्शपूर्णमासारम्भे चोदिता य एवाधानानन्तरभावी दर्शपूर्णमासप्रयोगारम्भः तत्रैव भवति, न मासिकप्रयोगारम्भे ।

प्रातरारभ्य यावदाह्निकं न निवृत्तं प्रपाठकद्वयमात्रपरिमाणं, तावदेकैव साऽध्ययनक्रियेति । अन्तरा कथञ्चिद्विच्छेदेऽपि पुनः प्रवृत्तौ नारम्भशब्दवाच्यताऽस्तीति, न पुनः पादोपसदनं क्रियते । स्मृत्यन्तरे च पठ्यते "पादोपग्रहणं गुरोः प्रातरन्वहमिति" ।

संहत्य-संलग्नौ संश्लिष्टौ परस्परं कृत्वाऽ**ध्येयम्** । कच्छप इव यः सन्निवेशो हस्तयोः प्रसिद्धस्तथा कर्तव्यः । **स हि ब्रह्माञ्जलिः** । पदार्थकथनमेतत् ।।७१।।

हिन्दी—वेद पढ़ने के पहले और बाद में शास्त्रोक्त (श्लो० ७२ में वक्ष्यमाण)

विधि से गुरु के दोनों चरणों का स्पर्श करना और हाथ जोड़कर पढ़ना ही ''ब्रह्माञ्जलि'' कहलाता है ।।७१।।

गुरु के अभिवादन की विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ।।७२।।

भाष्य—यदुपसङ्ग्रहणं पूर्वश्लोके गुरोरुक्तं **तद्व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यम्** ।

कीदृशः पुनः पाण्योर्व्यत्यासः कर्तव्य इत्यत आह—**सव्येन** हस्तेन **सव्यः** पादः **स्प्रष्टव्यः** स्पर्शः कर्तव्यो, न तु चिरं निपीड्यासितव्यम् । एष च व्यत्यासो युगपदितरेतरदिक्सञ्चारेण हस्तयोर्भवति । अग्रतः स्थितेन सम्मुखेन **गुरोरुपसङ्ग्रहणं** कर्तव्यम् । तत्र वामो दक्षिणमार्गं नीयते, दक्षिणो वाममित्येवं सव्येन सव्यः स्पृष्टो भवति, **दक्षिणेन च दक्षिण** इत्येष पाणिव्यत्यासः ।

अन्ये तु विन्यस्तपाणिनेति पठन्ति । स्पर्शादेव च विन्यासे सिद्धे नाग्नितप्तायःपिण्डस्पर्शनवद्दाहभयादङ्गुल्यग्रमात्रेण स्पर्शनं कर्तव्यमपि तु हस्तौ विन्यसितव्यौ निधातव्यौ । पीडनं तु पीडाकरं निषिद्धमिति वर्णयन्ति ।।७२।।

हिन्दी—हाथों को हेरफेर कर गुरु के चरणों का स्पर्श करना चाहिए दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बाँयें हाथ से गुरु का बायाँ चरण स्पर्श करना (छूकर प्रणाम करना) चाहिये ।।७२।।

विमर्श—गुरु की वन्दना करने में दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना पैर तथा बाँयें हाथ से गुरु का बायाँ पैर स्पर्श करते समय हाथ को [1]उत्तान रखना चाहिए अर्थात् तलहथी को ऊपर की ओर करके गुरु के चरणों का स्पर्श करना चाहिये । उसमें भी दाहिने हाथ को ऊपर तथा बायें हाथ को उसके नीचे रखना चाहिये ।

अध्ययन का आरम्भ तथा समाप्ति—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ।।७३।।

भाष्य—**अध्येष्यमाण**मित्यादीनि प्राग्व्याख्यातानि पदानि । गुरोरयं नियोगः । गुरोर्यदा माणवकोऽध्यापयितुमभिलषितस्तदा **अधीष्व भो इत्या**मन्त्रयितव्यः । अनामन्त्रितेन न गुरुः खेदयितव्य 'उपदिशानुवाकमिति' । उक्तं च । ''आहूतश्चाप्यधीयीतेति'' ।

---

१. यदाह पैठीनभि—

''उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणं सव्येन सव्यं पादावभिवादयेत् ।'' इति (म०मु०)

विरामोऽस्त्वित्येतं शब्दं समुच्चा**र्यारमेत्** निवर्तेत । कः । गुरुदेव, प्रथमान्त-निर्देशात् । अथवा गुरुणोत्सृष्टो निवर्तेत, न स्वेच्छया । एवं चेदं व्याख्यायते, 'यदा गुरुर्विरामोऽस्त्विति ब्रूयात्तदा विरमेद्ब्रह्मचारी ।'

अन्ये त्वध्येतृमात्रस्य–शिष्याणामुपाध्यायस्य च–उपरमणकाले धर्ममिममिच्छन्ति । तथा च स्मृत्यन्तरम् । "स्वाध्यायमधीत्य विरमणकाले प्रदेशिन्या पृथिवीमालभ्य स्वस्ती-तियजुर्ब्रूयाद्विस्पष्टमिति सामसु, विरामः परमास्वृक्षु, आरमस्त्वथर्वसु" ।

अतन्द्रितः अनलसः । तन्द्राऽऽलस्यम् । तद्योगात्पुरुषस्तन्द्रित इत्युच्यते । त्यक्त्-वाऽऽलस्यमतन्द्रितः । अनुवादश्चायम् । नात्र तन्द्रा श्रमः । न त्वियमाशङ्का कर्तव्या "य अतन्द्रितस्तस्यायं विधिः, आलस्यवतस्त्वन्यः" ॥७३॥

हिन्दी—अध्ययन करने वाले शिष्य से आलस्य-हीन गुरु सर्वदा (प्रतिदिन अध्ययन आरम्भ करने के पहले) 'भो अधीष्व' अर्थात् 'हे शिष्य ! पढ़ो' ऐसा कहकर अध्ययन आरम्भ करावे तथा (अन्त में) 'विरामोऽस्तु' अर्थात् 'अब पढ़ना समाप्त हो' ऐसा कहकर अध्ययन को समाप्त करे ॥७३॥

वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवोच्चारण—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ।।७४।।

भाष्य—अत्रापि पूर्वोक्तेन न्यायेन **ब्रह्मण आदावन्ते च प्रणवं कुर्यात्,** ब्रह्मविष-याया अध्ययनक्रियाया इति द्रष्टव्यम् ।

प्रणवशब्द ॐकारवचनः । तथा च वक्ष्यति–**स्रवत्यनोङ्कृतमिति** ।

सर्वदाग्रहणमध्ययनविधिमात्रधर्मो यथा स्यादितरथा प्रकरणाद्ग्रहणार्थ एव ब्रह्म-चारिणः स्यात् । अस्मिंस्तु सति योऽप्यविस्मरणार्थो यच्च "अहरहः स्वाध्यायमधी-यीत" इति गृहस्थादीनां, तत्र सर्वत्र सिद्धं भवति । सन्ध्याजपादौ तु स्वशब्देन विधास्यति—'एतदक्षरमेतां चेति' । न चायं वेदधर्मो येन यत्र कुत्रचिद्वैदिकवाक्यो-च्चारणमारभेत तत्र प्राप्नुयात् । अतो होम-मन्त्रजप-शास्त्रानुवचन-याज्यादीनामारम्भे नास्ति प्रणवः, अन्यत्राप्युदाहरणार्थे वैदिकवाक्यव्याहारे । तस्मात्स्थितं प्राकरणिकस्वा-ध्यायाध्यनविधिधर्मार्थं **सर्वदा**ग्रहणम् ।

प्रवणप्रयोगस्यान्वाहिकारम्भार्थता तु नित्यकालग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धा ।

अस्यार्थवादः **स्रवत्येनांकृतम्** । पूर्वं प्रारम्भे अनोङ्कृतं ब्रह्म स्रवति । ओमा कृतं ॐ शब्देन संस्कृतम् । साधनं कृतेति समासः । अथवा ॐ कृत उच्चारितो यस्मिन्ब्रह्मणि तदोङ्कृतं सुखादित्वात्परनिपातः ।

परस्ताच्च समाप्तौ । चकारेणानोङ्कृतमिति सम्बध्यते ।

स्रवति विशीर्यति इत्युभाभ्यामपि नैष्फल्यमध्ययनस्य प्रतिपाद्यते । अधीतं ब्रह्म यस्मिन्कर्मणि विनियुज्येत तन्निष्फलं भवतीति निन्दार्थवादश्च । पाकार्थं निषिक्तस्याप्राप्तपाकक्षीरादेरवच्छिद्रिते भाजने य इतस्ततो विक्षेपः प्रक्षरणं तत् स्रवतीत्युच्यते । लब्धपाकस्य पिण्डीभूतस्य भोग्यतां प्राप्तस्य यो विनाशः स विशरणम् ।।७४।।

हिन्दी—शिष्य को वेदारम्भ (वेद पढ़ने के प्रारम्भ) में और अन्त में **ॐ** शब्द का उच्चारण करना चाहिये । पहले 'ॐ' शब्द का उच्चारण नहीं करने से अध्ययन धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है तथा अन्त में 'ॐ' शब्द का उच्चारण नहीं करने से वह नहीं ठहरता (स्थिर नहीं होता) है ।।७४।।

तीन प्राणायाम के बाद प्रणवोच्चारण-विधान—

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति ।।७५।।

भाष्य—कूलशब्दो दर्भाग्रवचनः । **तान्पर्युपासीनः** तेषु प्रागग्रेषु दर्भेषूपविष्ट इत्यर्थः । शीङ्स्थांसामिति' (पा०सू० १।४।४६) स्था आ आसामित्याङा प्रश्लेषात्कर्मत्वम् । परि उप आ आसीन इति इहाप्याङा श्लिष्टनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । पर्युपशब्दावनर्थकौ ।

पवित्रैर्दर्भैरिव **पावितः** शुचित्वमापादितः । अघमर्षणादिस्तु मन्त्रो नेह पवित्रशब्देनोच्यते, ब्रह्मचारिणस्तदानीमनधीतत्वात्तेषाम् । न च दर्भाः स्वसत्तामात्रेण काञ्चित्क्रियामकुर्वतः पावने करणं भवन्तीति । अवान्तरव्यापारापेक्षया स्मृत्यन्तरं प्राणोपस्पर्शनं प्रतीयते । आह च गौतमः (अ०१ सू० ४९/५०) । "प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः । प्राक्कूलेष्वासनं च" ।

प्राणायामैस्त्रिभिःपूतः । मुखनासिकासञ्चारी वायुः प्राणः तस्यायामो निरोधः शरीरे धारणं, बहिर्निष्क्रमणनिषेधः, तस्य स्मृत्यन्तरे धारणकालस्य मानं समाम्नातम् । मन्त्रानुस्मरणं च । "प्रतिप्रणवसंयुक्तां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते" । वसिष्ठेन भगवता महाव्याहृतयोऽप्युक्ताः । मन्त्रावसान एव निरोधावधिः अन्यस्यानाम्नातत्वात्सर्वस्मृतीनां चासति विरोध एकार्थत्वादिहाप्येवमेवानुष्ठानम् ।

"नन्वेवमितरेतराश्रयः स्यात् कृतेषु प्राणायामेषु ओङ्कारो न कर्तव्यो, न चोङ्कारेण विना प्राणायामो निर्वर्तते" ।

नैष दोषः । त्रिर्जपेदिति प्राणायामेषु मानसव्यापारेणोङ्कारस्य स्मरणमुच्यते । न हि निरुद्धप्राणस्य शब्दोच्चारणं सम्भवति । यद्यपि जपः कश्चिद्वाग्व्यापारसाध्यो भवति । स्वाध्यायाध्ययने तु पुनरुच्चारणं विवक्षितम् । अध्ययनक्रियाया एवंरूपत्वाच्छब्दक्रियायां

ह्ययं धातु:, श्रोत्रग्राह्यश्च शब्दो न केवलेन मनसा गृह्यते।

न चायमोङ्कारधर्मो येनान्यत्रापि तस्मिन्नुच्चार्यमाणेऽपि प्रसज्येत। उक्तं च "स्वाध्यायारम्भे कर्तव्य" इति। ओङ्कारधर्मत्वे हि लौकिकेषु वाक्येष्वोमिति ब्रूम इत्यादिषु प्रसज्येत। गौतमेन तु पठितम् (अ० १ सू० ४९)—"प्राणायामास्त्रय: पञ्चदशमात्रा" इति। मात्राशब्देन चाविकृतस्य स्वरस्याकारादेर्यावान्काल: स उच्यते। तत्र विरोधात्स्मृत्यन्तरोक्त: कालो नास्ति, न च मन्त्रस्मरणं, तत्रानोङ्कारा अपि प्राणायामा: सन्तीति नेतरेतराश्रयदोषापत्ति:।

ततॐकारमर्हति कर्तुमिति शेष:, यदाऽयं समुदाय एव रूढिरूपेण प्रणववचन:। यदा तु करणं कार:। ॐमित्येतस्य 'कार' उच्चारण'मोङ्कार'स्तदा नास्ति पदान्तरापेक्षा।

प्रणवशब्देन कर्तव्यतामुक्त्वाऽत्रोङ्कारमित्यनुवदत्यत एतावेकार्थौ। तथा च दर्शितम् ॥६५॥

हिन्दी—कुशासन पर पूर्वाभिमुख बैठा हुआ द्विजशिष्य दोनों हाथों में ग्रहण किये हुए (कुश निर्मित) पवित्रों से शुद्ध तथा तीन प्राणायामों से (अकारादि लघु मात्रा वाले १५ अक्षरों के उच्चारण-काल के बराबर 'प्राणायाम-काल' जानना चाहिये) शुद्ध होकर बाद में 'ॐ' शब्द के उच्चारण करने के योग्य होता है ॥७५॥

प्रणय तथा व्याहृतियों की उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥७६॥

भाष्य—पूर्वस्य विधेरर्थवाद:। अक्षरत्रयसमाहाररूप ॐकारस्तत्रैकैस्य उत्पत्तिमाह।

वेदत्रयान्त्रिभ्यो वेदेभ्य: **निरदुहदु**द्धृतवान्यथा दध्नो घृतमुद्ध्रियते। न केवलमक्षरत्रयं यावदिदम् अपरं **भूर्भुवःस्वरिति** ॥७६॥

हिन्दी—ब्रह्मा ने ऋक् आदि तीनों वेदों से क्रमश: "अ, उ, म" इन तीनों अक्षरों को तथा "भू:, भुव:, स्व:" इन तीनों व्याहृतियों को निकाला है ॥७६॥

सावित्री की उत्पत्ति—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥

भाष्य—अयं "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्येतस्या: गायत्राया उत्पत्त्यर्थवादो विधानार्थ:। पूर्वश्लोके चार्थवादादेव वयाहृतीनामपि विधानम्। क्रमस्तु पाठावगम्य:। वक्षयति च— "एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्" इति।

अदूदुहदुद्धृतवानिति। यद्यपि **तदित्ये**तत्प्रतीकेन 'तत्सवितुर्वृणीमह' इति वा शक्यते लक्षयितुम्। न तु सा त्रिपदेति। त्रिपदा च ग्राह्या। त्रिपदा चैव सावित्रीति।

कश्यपादयोऽपि प्रजापतयः सन्त्यतो विशिनष्टि **परमेष्ठीति** हिरण्यगर्भः। स हि परमे स्थानेऽनावृत्तिलक्षणे स्थितः। आदरातिशयार्थं चैतत्सावित्र्याः। साक्षात्किलेयं सर्व-मुख्येन प्रजापतिना **वेदेभ्यः** समुद्धृतेति ।।७७।।

हिन्दी—परमेष्ठी ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदों से "तत्" इस सावित्री का १-१ पाद निकाला है ।।७७।।

सावित्री-जप का फल—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ।।७८।।

भाष्य—सत्यपि स्वाध्यायविधिप्रकरणे वाक्यात्सन्ध्याजपविधिरयम्। तत्र गायत्र्या अनुवादः प्रणवव्याहृतीनामप्राप्तविधिः।

अत्र कश्चिदाह। "नायं सन्ध्याविधिरप्रकरणात्। विधिर्हि भवन्ब्रह्मचारिणः स्यात्तस्य प्रकृतत्वात्। न च तस्य सम्भवति। इह हि **वेदविदि**त्युच्यते। न च तस्य प्रथमो-पनीतस्य वेदवित्त्वमस्ति। अपि च फलमत्र श्रूयते—**वेदपुण्येन युज्यते**। नित्यश्च सन्ध्योपासनविधिः न फलार्थः। न चैतद्विद्मः किमिदं वेदपुण्यं नाम फलं, येन योगोऽयं जप उच्यते। यदि तावद्वेदाध्ययनात्पुण्यमभिप्रेतं तदवाप्तिर्वेदपुण्येन 'योगो'ऽभिप्रेत-स्तत्र यस्तावदयं प्रकृतः स्वाध्यायविधिस्तस्य नार्थावबोधादृते किञ्चित्फलमस्त्यश्रुत-त्वात् दृष्टत्वाच्चार्थाववोधस्य कल्पनाऽपि नास्ति। यश्च गृहस्थादीनां विधिः "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति सोऽपि नित्य एव। यत्तत्र फलश्रवणं 'पयो दधि घृतं मधु' इति-सोऽर्थवाद एव। तस्मान्नायं विधिः। विधौ हि सर्वमेतद्विवक्षितव्यम्। यदा त्वयमर्थवाद-स्तदा 'जपन्नि'ति प्रकृतमध्ययनमुच्यते, 'वेदपुण्येने'त्येतदपि यथाकथञ्चिन्नीयते"।

अत्रोच्यते। वाक्येन प्रकरणं बाध्यत इत्युक्तमेव। यत एव वेदवित्पदं सन्ध्यापदं च न प्रकृतविषयताऽन्वेति, तत एवान्यत्रायं विधिः। सन्ध्ययोरेतत्त्रयं जपेदित्येता-वान्विधिः। वेदवित्पदमनुवदिष्यते। "गृहस्थादीनां वेदवित्त्वस्य सम्भवात् ब्रह्मचारिणो वेदवित्त्वं न सम्भवतीति" चेत् किं तदीयेन सम्भवेन। यथा प्राप्तानुवादे हि सर्वा-श्रमिणामधिकारः। कर्तृविशेषणे हि वेदवित्पदे ब्रह्मचारिणो नाधिकारः स्यात्। "कथं पुनरस्यानुवादः"। वाक्यभेदप्रसङ्गात्। विधौ सन्ध्याविधौ प्राप्ते प्रणवव्याहृतयस्तावद-प्राप्तास्तत्र विधातव्याः। तत्र यद्यपरं वेदविदिति विधीयते तदा वाक्यभेदः स्यात्। प्राप्ते हि कर्मणि नानेकार्थविधानं सम्भवति। प्रणवव्याहृतीनां तु नानुवादः सम्भवति।

तेनायमत्र वाक्यार्थः 'सन्ध्ययोर्यत्सावित्रीं जपेदित्युक्तं तत्रायमपरो गुणः प्रणव-व्याहृतिपूर्विकां तां जपेत्' ।

विप्रग्रहणं च तदा प्रदर्शनार्थमेव ।

यदप्युक्तं—"फलमत्र श्रूयते नित्यश्च विधिः सन्ध्यायाः" । को नामायं विरोधः? नित्य एव तस्मिन्गुणे कामो भविष्यति । प्रणवव्याहृतिगुणकात्तस्मादिदं फलमिति । यथा गोदोहनप्रणयनकादग्निहोत्रात्पशवः फलम् "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इति । वाक्यसामर्थ्येनाध्यारुह्यैतदुक्तं, न त्वयं काम्यो विधिः । स्मृत्यन्तरे हि नित्य एवायं विधिः स्पष्ट एवोक्तो "गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम्" इति । फलानवगमो भवतैवोक्तः । अयं ह्यर्थो **वेदपुण्येनेति** । 'वेदे यत्सन्ध्योपासनात्पुण्यमुक्तं तेन त्रिकमेतज्जपन्युज्यते, न केवलं गायत्रीम्' । पुण्यं च धर्मः, वेदमूलत्वात्स्मृतीनां स्मृत्युक्तमपि वेदपुण्यतय व्यपदिश्यते, वेदस्य पुण्यं 'वेदपुण्यम्' । किञ्च वेदस्य पुण्यम् । यत्तेन प्रतिपाद्यते । पठ्यमानाद्वेदाद्यज्जायते तदपि शक्यते तस्येति वक्तुम्, किंत्वसाधारणत्वात्प्रतिपाद्यमेव युक्तं व्यपदेष्टुं नोत्पाद्यम् । यागादयो धर्ममुत्पादयन्ति, प्रतिपादकस्तु वेद एव ।

येऽप्यन्त्यस्य पादस्य सामर्थ्यमाहुः "यदुक्तं 'नित्यः स्वाध्याय' इति तत्र सन्ध्यायां त्रिकजपादेव कृतार्था भवन्तीति"—तदप्यसत् । एवं सति तेन विधिना विकल्पेत । तत्र च पाक्षिको नित्यस्वाध्यायताया बाधः स्यात् । न चाबाधे सम्भवति बाधोऽभ्युपगन्तव्यः ।

एतदक्षरमि त्योङ्कारस्य प्रतिनिर्देशः ।

"ननु च नैतदेकमक्षरम् । द्वे वा त्रीणि वा" ।

उच्यते । अक्षरशब्देन केवलं स्वर उच्यते, व्यञ्जनसंयोगश्च । तत्रेह यादृशः प्रकृतः तादृशस्याभिधानम् ।

एतां च "तत्सवितुर्वरेण्यमिति" सावित्रीम् । व्याहृतयः पूर्वाः यस्यास्तां **व्याहृति-पूर्विकाम्** । तिस्रः प्रकृता एव ता व्याहृतयो गृह्यन्ते, प्रकृतपरत्वादस्य, न सप्त सत्यान्ताः ।।६८।।

हिन्दी—इस अक्षर (ॐ) को तथा तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के सहित सावित्री ("तत्" को दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायंकाल) में जपता हुआ वेदवित् द्विज वेद के पुण्य से युक्त होता है ।।७८।।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य वहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाऽहिर्विमुच्यते ।।७९।।

बहिरित्यनाबृतो देश उच्यते। तेनैतदुक्तं भवति, ग्रामनगराभ्यां बहिररण्यं नदी-पुलिनादौ। सहस्रवारान् **अभ्यस्य** आवर्त्य।

"ननु कृत्वसुचोऽप्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते, अभ्यस्येत्यनेनापि। तत्र पौनरुक्त्यम्"।

सामान्यविशेषभावाददोषः। **अभ्यस्ये**त्यनेन सामान्यतोऽभ्यास उक्तस्तत्र विशेषापेक्षायां **सहस्रकृत्वे**ति। न च कृत्वसुजन्तादेवोभयाऽवगतिस्तस्य क्रियाविशेषापेक्षत्वात्। न हि देवदत्तः पञ्चकृत्वोऽह्न इत्युक्ते-यावद्भुङ्क्त इति नोच्यते-तावद्वाक्यार्थः समाप्यते।

"ननु चाभ्यस्येत्यनेनापि न काचिद्विशिष्टा क्रियोपात्ता"।

सत्यम्। जपः प्रकृतस्तमभ्यस्येति प्रतीयते। 'आवृत्तिः' पौनःपुन्येन सेवा।

महतोऽप्येनसः। महत्पापं च ब्रह्महत्यादि, ततोऽपि मुच्यते, किं पुनरुपपातकेभ्यः। **अपिः** सम्भावने, न समुच्चये। भेदोपादानेन समुच्चयावगमो यथा देवदत्तस्यात्र प्रभुत्वं यज्ञदत्तस्यापि। इह न तथा निर्देशः।

"केभ्यः पुनरुपपातकेभ्योऽयं मोक्ष उच्यते। गोवधादीन्युपपातकानि। तानि च प्रतिपापमाम्नातप्रायश्चित्तानि सरहस्यानि। यानि वा संवेत्ति न कृतान्यनुक्तपरिहाराण्यवश्यम्भावितया च ज्ञायते कृतानीति, तेषामपि नित्यानि सन्ध्योपासनादीन्यपनोदकानि। यदि चैतत्प्रायश्चित्तंस्यात्तदा तत्रैवावक्ष्यत्, "जपेद्वै नियताहारः त्रिर्वै वेदस्य संहितामिति"-वत्। प्रायश्चित्ते चास्मिन्प्रायश्चित्तप्रकरणमेवानर्थकं स्यात्। को हि दैवशप्तो जपमात्रसाध्यां निष्कृतिं हित्वा कृच्छ्रेषुशरीरप्राणहरेष्वध्यवस्येत्। उक्तं च-"अत्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्"। तथा "पणलभ्यं हि न प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैः" इति। न च प्रकृतेनैकवाक्यताबीजं किञ्चिद्विभज्यमानसापेक्षत्वाद्यस्ति येन तच्छेषतयाऽर्थवाद उच्येत"।

अत्रोच्यते। विधिरेवायम्। पापप्रमोचनार्थ एवायं प्रयोगः। यत्तूक्तं "विषमशिष्टैर्विकल्पो न सिद्ध्यतीति"-जपप्रायश्चित्त एवास्मिन्विकल्पार्थो भविष्यति। अघमर्षणादिभिः सर्वपापापनोदनमुक्तं, तेनास्य विकल्पः। अघमर्षणे हि त्र्यहमुपवास उक्तः। इहाश्नन्नेव मासिकेन प्रयोगेण शुध्यति। ततो न दूरविप्रकृष्टेन तपसा समीयते, येन विषमशिष्टता स्यात्।

अथवा पूर्वकृतस्यैनसः शुद्धिरेषा ग्रहदौस्थित्यादिसूचिते दैवे दोषे। तस्मान्मोक्षः। अनष्टिम् 'एन' उच्यते। तस्मान्मुच्यते। तत्फलेन न सम्बध्यत इत्यर्थः।

त्वचेवाहिः। जीर्णया त्वचा मुक्तः सर्पो यथा भवति। निरवशेषेण पापनाश

"कथं पुनः सर्वा वागोङ्कारेण सन्तृण्णा"।

वैदिक्यास्तावदोङ्कारपूर्वकत्वमुक्तम्। लौकिक्या अपि, 'तदादीनि वाक्यानि स्युरि' त्यापस्तम्बवचनात्।

उपनिषद्भाष्ये चैतदन्यथा व्याख्यातम्। तत्त्विहानुपयोगान्न प्रदर्शितम्।

प्राणायामशब्द आचमनवद्विशिष्टेतिकर्तव्यताके प्राणनिरोधे वर्तते। **'परं तपः'** चान्द्रायणादिभ्यः।

"किं पुनस्तस्य श्रैष्ठ्यम्"?

भक्तिरेषा।

सावित्र्याः परं मन्त्रज्ञानं **नास्ति**।

एषामिति प्रशंसा। **मौनात्सत्यं विशिष्यते**। मौनं वाङ्नियम उच्यते। तस्य च यत्फलं ततोऽधिकं सत्यवचनात्प्राप्यते। सत्यवचने विध्यर्थोऽपि तथाऽनुष्ठिते। भवति। मौने तु केवलमनृतप्रतिषेधानुष्ठानमेव।

अर्थवादोऽयं श्लोकः ॥८३॥

हिन्दी—केवल एक अक्षर (ॐ) ही (ब्रह्म-प्राप्ति का साधक होने से) सर्वश्रेष्ठ है, तीन प्राणायाम ही (चन्द्रायण आदि व्रतों से भी) श्रेष्ठ तप है, सावित्री से श्रेष्ठ कोई दूसरा मन्त्र नहीं है और मौन की अपेक्षा सत्य-भाषण श्रेष्ठ है ॥८३॥

प्रणव की प्रशंसा—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

भाष्य—यावन्तः केचन वैदिका 'होमा' अग्निहोत्रादयो, ये च 'यागा' ज्योतिष्टोमादयः, ते सर्वे **क्षरन्ति** न परिपूर्णफला भवन्ति, फलं वा तदीयं स्रवत्याशु विनश्यति।

अक्षरं त्वेतदोङ्काराख्य**मक्षरं ज्ञेयम**क्षयफलम्। ब्रह्मीभूतस्य न पुनः संसारापत्तिः। अतोऽक्षयफलत्वादक्षरमुच्यते। एकोऽक्षरशब्द उद्देश्यः संज्ञाशब्दो द्वितीयो यौगिकः क्रियाशब्दः। **ब्रह्म च** तदेव। **प्रजापति**श्चोङ्कार एव। स्तुतिरेषा।

जुहोतियजतीति धातुनिर्देशस्तयोः **क्रियाः**प्रतिपाद्यार्था यागहोमाः। व्यक्त्यपेक्षं बहुत्वम्। अथवा धात्वर्थनिर्देश एवायं जुहोतियजतीति। 'क्रिया'स्तद्व्यतिरिक्ता दानाद्याः। द्वन्द्वश्चायम्, 'जुहोतियजतीति च क्रियाश्च'। होमयागौ प्राधान्यत्पृथगुपादीयेते।

अत्रोक्ता ॐकारस्य स्तुतिः केवलस्यापि जपविधानार्थेति केचित्। न हि प्रकृतविधिशेषतैवात्र, पुनः परामर्शाभावात्। वैश्वानरे ह्यष्टत्वादीनां "यदष्टाकपालो भवति,

गायत्र्या चैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपालस्त्रिवृतैवाऽस्मिंस्तेजो दधाति'' इति। सर्वत्र वैश्वानरपदापेक्षया तदेकवाक्यत्वे सम्भवति न वाक्यभेदकल्पनया विध्यन्तर-सम्भवः। इह **त्वक्षरं ज्ञेय**मिति न पूर्वापेक्षा, नापि सावित्र्यादीनां पुनः परामर्शोऽस्ति। अतः स्वपदार्थैरेव वाक्यार्थपरिसमाप्तेर्नान्यशेषता। **ज्ञेयमि**त्यत्र कृत्यो विधायकः। ब्रह्म-पदेन च सम्बन्धाद्ब्रह्मरूपतया ज्ञेयमुपास्यं भावनीयम्। भाव्यमाने च तस्मिन्मानसजप उक्तो भवति ॥८४॥

हिन्दी—वेद विहित हवन तथा यज्ञ आदि क्रियायें, स्वरूप से तथा अपना-अपना फल देकर नष्ट हो जाती हैं, (एकमात्र) अक्षर (ॐ) ही दुष्कर ब्रह्म एवं प्रजापति है अर्थात् ॐ कार के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति होती है ॥८४॥

मानस जप की सर्वश्रेष्ठता—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।।८५।।

भाष्य—विधिविषयो यज्ञो **विधियज्ञो** ज्योतिष्टोमादिः। यत्कर्म यजेतेति चोदितं, वाह्येन व्यापारेण ऋत्विगादिसर्वाङ्गसम्पत्त्या क्रियते स 'विधियज्ञ' इहोच्यते। जपस्तु न यज्ञः, प्रशंसया यज्ञ उपचारेणोच्यते। अतो नासौ विधियज्ञः। स **विशिष्टः** प्रकृष्टः श्रेष्ठो यज्ञो, ज्योतिष्टोमादे**र्दशभिर्गुणैः**।

महाफलत्वमेतेन जपस्योच्यते। यदेव यागात्फलं तदेव बहुतरञ्जपात्प्राप्यते। न च यागेभ्यः श्रौतेभ्यो जपस्याधिकफलत्वं युक्तम्। तथाहि सति कः शरीरधनपरिक्षयरूपेषु यागेष्वध्यवस्येत्। तस्मात्प्रशंसैषा। पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोतीतिवत्। एतावद-स्यार्थः—तदेव स्वर्गादिफलमवाप्यते, किन्तु लोकवत्प्रयत्नविशेषात्। फलपरिमाण-विशेषः अविशेषित्वात् यज्ञस्य, स्वर्गग्रामपुत्रपश्वादि यस्य यज्ञस्य यत्फलं तत्तज्जपात्प्राप्यते।

उपांशुः शतगुणः, यदन्यो न शृणोति समीपस्थोऽपि।

सहस्रगुणः **साहस्रो मानसः** मनोव्यापारमात्रेण यश्चिन्त्यते।

जपमात्रविषय उपांशुत्वादिगुणः, प्रकृतस्य योऽधीतेत्यनेन विच्छेदात्, तेन यः प्रायश्चित्तादौ जपो यः शान्तिको यश्चाभ्युदयिकः सर्वत्रैते गुणाः।

सहस्रमस्यास्तीति **साहस्रः**। गुणानां प्रकृतत्वात्सहस्रगुणसद्भावः प्रतीयते। गुण-शब्दश्चावयववचनः। फलभूमा च सम्बन्धादवगम्यते ॥८५॥

हिन्दी—विधि—यज्ञों (अमावस्या तथा पूर्णिमा आदि तिथियों में किये जोने वाले यज्ञों) से जपयज्ञ (गायत्री अर्थात् प्रणवादि का जपरूप यज्ञ) दश गुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है ॥८५॥

विमर्श—'वाचिक, उपांशु तथा मानस' भेद से 'जप-यज्ञ' तीन प्रकार का होता है; उसमें—स्पष्ट स्वरों से, पदों एवं वर्णों से उच्चारण किये हुए जप को 'वाचिक' जप कहते हैं। जिस जप में वर्णादि का धीरे-धीरे उच्चारण करने से कुछ ओष्ट हिलते हों तथा थोड़ा-थोड़ा सुनायी पड़े, उस जप को 'उपांशु' जप कहते हैं तथा बुद्धि से पद-वर्ण आदि का विचार कर अर्थ ज्ञान-पूर्वक किए जाने वाले जप को 'मानस' जप कहते हैं।[1]

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।८६।।

भाष्य—महायज्ञाः **पाकयज्ञा** उच्यन्ते, ब्रह्मयज्ञं वर्जयित्वा **चत्वारो** यज्ञा भवन्ति। 'विधियज्ञा' उक्तास्तैः समन्विताः सहिताः। **कलामंशं षोडशीं नार्हन्ति**। षोडशेन भागेन न समा भवन्ति। अथवाऽर्हतिः प्राप्त्यङ्गे मूल्यपणने वर्तते। अर्हशब्दात्तिपं कृत्वा अर्हन्तिरूपम् ॥८६॥

हिन्दी—दर्श-पौर्णमास (अमावस्या एवं पूर्णिमा को किये जाने वाले) आदि विधियज्ञों के सहित भी (पञ्च-महायज्ञान्तर्गत) जो चार पाक-यज्ञ हैं, वे भी जपयज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर नहीं हैं ॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।।८७।।

भाष्य—**जप्येनैव** सिद्धिं काम्यफलावाप्तिं ब्रह्मप्राप्तिं वा प्राप्नुयात्। नात्र हृदि शङ्का कर्तव्या यत्'ज्योतिष्टोमादिभ्यो महाप्रयासेभ्यो भावनाभ्यश्च यल्लब्धव्यं तज्जपेन कथं सिध्यती'ति। सिद्ध्यत्वेव।

कुर्यादन्यत् अनित्यं ज्योतिष्टोमादि। अथवा तदपि **न कुर्याद्य**तो **मैत्रोब्राह्मण**

---

१. तदुक्तं हारीतस्मृति—

"त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तत्त्वं तस्य निबोधत।
वाचिकश्चाप्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधाकृतिः।
त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः॥
यदुच्चनीचोच्चारितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकः॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत्।
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात्स उपांशुर्जप स्मृतः॥
धिया पदाक्षरश्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम्।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम्॥" इति ४।४०-४४

उच्यते। मित्रमेव मैत्रम्। सर्वभूतमैत्रीरतेन ब्राह्मणेन भवितव्यम्। अग्निषोमीयपशु-हिंसायां च कुतो मैत्री।

अयमर्थवाद एव, न पुनः पश्वङ्गकर्मप्रतिषेधः, पूर्वशेषत्वावगतेः। प्रत्यक्षश्रुति-विहितत्वाच्च तेषाम्। अतिक्रान्तो जपविधिः ॥८७॥

हिन्दी—ब्राह्मण जप से ही सिद्धि को पाता है इसमें सन्देह नही है, अन्य कुछ करे या न करे, वह जप मात्र से ही ब्रह्म में लीन हो जाता है तथा सबका मित्र बन जाता है ॥८७॥

इन्द्रिय-संयम—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

भाष्य—इन्द्रियाणां संयमे यत्नमातिष्ठेदित्येतावाञ्छास्त्रार्थः। परिशिष्टोऽर्थ-वादः, आसन्ध्योपासनविधेः।

'संयमः प्रतिषिद्धेषु **विषयेषु** प्रवृत्तिपरिहारोऽप्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिवर्जनम्। तत्र प्रतिषिद्धपरिहारस्तैरेव प्रतिषेधैः सिद्धः। अप्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिनिषेधार्थोऽयं श्लोक-सङ्घातः। एतदेवाह। **विचरतां विषयेषु** स्वातन्त्र्येण वस्तुशक्त्या प्रवर्तमानानाम्। **अपहारिषु** विषयेषु–अपहरन्त्याकर्षन्त्यात्मसात्कुर्वन्ति पारतन्त्र्यमापादयन्ति पुरुषं त अपहारिणो विषया मनोहरा य उच्यन्ते। तत्र विचरतां विविधं विशेषेण चरताम्। यदीन्द्रियाणि विशेषेण न चरेयुरपरिहारिणोऽपि तदा विषयाः किं कुर्युः। भवन्तु वा निरङ्कुशानीन्द्रियाणि, यदि विषयाः प्रत्याख्यायिकास्तथाऽपि सुसंयमः पुरुषेणात्मा। यतस्तूभयं सापराधमतो यत्न आस्थेयो, दुर्नियमानि ह्येतानि।

यन्तेव वाजिनाम्। **यन्ता** सारथिरश्वानां यथा रथयुक्तानां स्वभावतो विचलन-शीलानां **संयमे** नियमे **यत्नं** करोति, ते न तदाऽनिच्छया उन्मार्गेण वहन्ति, विधेयतां तस्य भजन्ते, एवमिन्द्रियाणि विधेयीकर्तव्यानि ॥८८॥

हिन्दी—विद्वान् चित्त को आकर्षित करने वाले विषयों में भ्रमण करने वाली इन्द्रियों का संयम (वश में) करने का वैसा ही प्रयत्न करे, जैसे इधर-उधर भागने वाले घोड़े को सारथि अपने वश में रखने का प्रयत्न करता है ॥८८॥

ग्यारह इन्द्रियाँ—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥

भाष्य—सङ्ख्यानिर्देशोऽयं प्रमाणान्तरगम्यो न शास्त्रार्थः, सौहार्देन तु व्युत्पाद्यते। तानि **पूर्वे मनीषिण** आहुः । परस्तान्नामतः कर्मतश्च वक्ष्यामि । आनुपूर्व्यमनाकुलता । पूर्वग्रहणान्नेयं तार्किकैरेव व्यवस्था कल्पिता, किन्तु पूर्वेषामप्याचार्याणां स्थितैव । एताम-जानन्तो नागमिका इति लौकैरुपहस्यन्ते, इत्यतोऽयं वेदितव्यः ।

प्रसिद्धाः पदार्था व्याख्याताश्च प्राक् ॥८९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि : महर्षियों से कहते हैं कि) पूर्व विद्वानों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों को बतलाया है, उन्हें अच्छी तरह क्रम से कहता हूँ ॥८९॥

प्रथम दश इन्द्रियों के नाम—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ।।९०।।

भाष्य—श्रोत्रादीनि प्रसिद्धानि । अधिष्ठानभेदा**च्चक्षुषी** इति द्विवचनम् । अन्यत्र तदाधारायाः शक्तेरेकत्वादेक.वचनम् । **उपस्थः** शुक्रोत्सर्जनः पुंसो रजस्तदाधारश्च स्त्रियाः । द्वन्द्वनिर्दिष्टयोः 'प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः' (पा०सू० २।४।२) । **वाक्** ताल्वादिः शब्दाभिव्यञ्जकः शरीरावयवनामनिर्देशोऽयम् ॥९०॥

हिन्दी—कान, चर्म; नेत्र, जीभ, पाँचवीं नाक; गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दशवीं वाणी, ये दश इन्द्रियाँ कही गयी हैं ॥९०॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का विभाग—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।९१।।

भाष्य—कार्यमिदानीमेषामाह स्वरूपावधारणार्थम् । न हि तानि प्रत्यक्षानि । **बुद्धीन्द्रियाणि** बुद्धेरिन्द्रियाणि जनकानि कार्यकरणानि । कार्यकरणसम्बन्धे षष्ठी ।

श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । आदिशब्दस्य प्रकारार्थता मा विज्ञायीति **अनुपूर्वशः** क्रमेण-त्यर्थः । क्रमश्च सन्निवेशापेक्षो भवत्यतः पूर्वश्लोकोक्ता व्यवस्थाऽऽश्रीयते ।

कर्मेन्द्रियाणि । परिस्पन्दात्मकमत्र कर्म विवक्षितम् ॥९१॥

हिन्दी—(इनमें) कान आदि पाँच इन्द्रियाँ "ज्ञानेन्द्रिय" हैं और गुदा आदि पाँच इन्द्रियाँ "कर्मेन्द्रिय" हैं ॥९१॥

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।।९२।।

भाष्य—एकादशसङ्ख्यापूरकं **मन** इन्द्रियाणाम् । स्वो गुणो मनसः सङ्कल्पः । तेनोभयं शुभमशुभं वा सङ्कल्प्यते । अथवा बुद्धीन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियेषु स्वविषयप्रवृत्तौ सङ्कल्पमूलत्वात् **उभयात्मकमुच्यते** ।

यस्मिञ्जिते एतौ बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियवर्गश्च **पञ्चकौ** प्राक्प्रदर्शितपरिमाणौ **जितौ भवतः** । तत्त्वाख्यानमेतत् ॥९२॥

हिन्दी—दोनों प्रकार की इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के गुणवाला मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है, इसके जीत लेने (वश में कर लेने) पर वे दोनों पाँच-पाँच इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ) जीत ली जाती हैं ॥९२॥

इन्द्रिय-संयम से सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ।।९३।।

भाष्य—प्रसङ्गः तत्परता । तेन हेतुभूतेन **दोषं** दृष्टमदृष्टं च **ऋच्छति** प्राप्नोति । नात्र संशयो निश्चितमेतत् ।

सन्नियम्य तानीन्द्रियाणि **ततः सिद्धम**भिप्रेतार्थावाप्तिं श्रौतस्मार्तकर्मणामनुष्ठान-फलं निःशेषं गच्छति प्राप्नोति ॥९३॥

हिन्दी—इन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि) में आसक्त होकर मनुष्य अवश्य ही दोषभागी होता है और इन (इन्द्रियों) को वश में करके सिद्धि को प्राप्त करता है ॥९३॥

विषयोपभोग में इच्छा की पूर्ति न होने का दृष्टान्त—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।९४।।

भाष्य—तिष्ठतु तावद्विषयाभिलाषः, शास्त्रोपदेशान्न क्रियते । किन्तु दृष्टमेव सुखं तावन्निवृत्तेर्भवति । तथाहि सेव्यमाना विषया अपि अधिकं गर्द्धमुत्पादयन्ति उदरपूरं भुक्तवतस्तृप्तस्यातिसौहित्यमपि गतवतो भवति हृदयसमीहा 'किमिति न शक्नोमि अन्यद्भोक्तुम्', अशक्त्या तु न प्रवर्तते । ततो नैषा भोगेन शक्या निवृत्तिर्न कदा-चित्**कामो**ऽभिलाषः **कामानां** काम्यमानानां स्पृहणीयानामर्थाना**मुपभोगेन** सेवया **शाम्यति** निवर्तते । भूयोऽधिकतरं वर्धते । **हविषा** घृतेन **कृष्णवर्मा**ऽग्निरिव ।

दुःखरूपश्चाभिलाषः । अनुपभुक्तरसस्य त्वभिलाषानुत्पत्तिः । तत्त्वप्रसङ्ख्यानमेतत् । उक्तञ्च ''यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्'' ॥९४॥

हिन्दी—विषयों के उपभोग से इच्छा कभी शान्त (पूरी) नहीं होती, बल्कि घी में अग्नि के समान वह इच्छा बढ़ती ही जाती है ॥९४॥

विषयोपभोग की अपेक्षा उनकी उपेक्षा की श्रेष्ठता—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।।९५।।

भाष्य—पूर्वोक्तं हेतुत्वेनोपजीव्यायं निगमश्लोकः पठितः । यदा सेवया वर्धते कामः अतो य **एतान्**कामान्कामी **सर्वान्प्राप्नुयात्से**वेतानेकमण्डलेश्वर इव तरुणः, यश्चैतांस्त्यजति **केवलानि** ईषदपि न स्पृशति नैष्ठिक एव बालः । तयोर्यः प्रापको भोक्ता तस्मात्स **विशिष्यते** । अतिशयेन श्रेष्ठो भवति यः परित्यजेदिति । एतच्चात्मप्रत्यक्षम् ॥९५॥

हिन्दी—जो मनुष्य इन सब विषयों को प्राप्त कर ले और जो मनुष्य इन सब विषयों का त्याग कर दे उन दोनों में सब विषयों को प्राप्त करने वाले मनुष्य की अपेक्षा सब विषयों का त्याग करने वाला मनुष्य श्रेष्ठ है ॥९५॥

इन्द्रिय संयम के उपाय—

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ।।९६।।

भाष्य—यद्येवमरण्यवास एव तर्हि प्राप्तम् । न हि तत्र विषया सन्निधीयन्ते । असन्निहिताश्च न सेविष्यन्ते । तदर्थमाह—नासेवया इन्द्रियाणि नियन्तव्यानीति । निःसुखः स्यात् । अथ च स्मरन्ति न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः । न च शरीरधारणमसेवया भवति । किं तु गर्धनिषेधोऽयमुच्यते । स च गर्द्धः—सत्यामपि सेवायां—**ज्ञानेन**—विषयगतदोषज्ञानेन—अस्थिस्थूणस्नायुयुतमित्यादिशास्त्रोक्तेन, स्वसंविदा च विपाकविरसतया, किं विपाकफलमेवादिदोषभावनया वैराग्याभ्यासेन क्रमेण स्पृहा निवर्तते । न तु सुहसैव त्यक्तुं शक्यते । किन्तु **नित्यशः** नित्यकालं, ज्ञानविशेषणमेतत् ।

'प्रदुष्टानि' प्रवृत्तानि । दोषवत्त्वात् प्रवृत्तान्येव प्रदुष्टान्युच्यन्ते ।

अयं शस्तत्र तत्र **नित्यशः** अनुपूर्वशः **सर्वशः** पूर्वश इति व्यासमनुप्रभृतिभिर्महामुनिभिः प्रयुज्यते । तस्य साधुत्वे यत्नः कर्तव्यः । तत्र शस्विधौ । "एकवचनाच्च वीप्सायामिति" (व्या०सू० ५।४।४३) पठ्यते । तत्र वीप्सार्थः कथञ्चित् द्योतयितव्यः । अन्ये तु शसस्तिष्ठत्यर्थस्य क्विपि रूपं वर्णयन्ति । क्रियाविशेषणं चैतत् नपुंसकम् । नित्यस्थितेन ज्ञानेनेत्यर्थः ॥९६॥

हिन्दी—विषयों में आसक्त इन्द्रियाँ सर्वदा ज्ञान से जिस प्रकार रोकी जा सकती हैं, उस प्रकार विषयों को बिना सेवन किये नहीं रोकी जा सकतीं (अत: विषयों के दोषज्ञान आदि के द्वारा बहिरिन्द्रियों को वश में करें) ॥९६॥

अनियमित मन की विकार हेतुता—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।।९७।।

भाष्य—अयमत्र विधिरेव । **वेदास्**तद्विषयमध्ययनजपादि । **त्यागो** दानं लक्षणया । अथवाऽप्रतिषिद्धस्यापि मधुमांसभक्षणादेर्निवृत्ति: फलदेत्यनेन वर्जनम् । विप्रदुष्टो भावश्चित्तं यस्य तस्य । **सिद्धिं न गच्छन्ति** फलसाधकानि न भवन्ति, कस्मिंश्चिदपि काले । अतोऽनुष्ठानकाले नाभिप्रेतादिगतमानसेन भवितव्यम् । शक्यं तर्हि सर्वेतरविकल्पतिरस्कारेण कर्मणि मन आधेयम् ।

अङ्गं हि कर्मसु विषयचिन्तात्यागोऽनेन वाक्येन विहित: । तदभावे कर्मनैष्फल्यं स्यात् । एष हि भावदोषो यत्कर्मानुष्ठाने प्रवृत्तस्य तत्परतात्यागेन व्यसनेषु मनोऽवधानम् ॥९७॥

हिन्दी—दुष्ट स्वभाव वाले (सर्वदा विषय भोग की भावना में आसक्त) मनुष्य की वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्यायें कभी सिद्ध नहीं होती हैं ॥९७॥

जितेन्द्रिय का स्वरूप—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नर: ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रिय: ।।९८।।

भाष्य—**श्रुत्वा** वंशगीतादिध्वनिं, 'त्वं बृहस्पति'रित्यादिवचनं श्रुत्वा—न **हृष्यति** । रुक्षपरुषाक्रोशवाच: श्रुत्वा **न ग्लायति** न मनोदु:खं भजते । ग्लानि: खेद: । **स्पृष्ट्वा** राङ्कवकौशेयादिवस्त्रं अजलोमकृतश्च समत्वेनानुभवति । एवं सुवेषतरुणीजननटप्रेक्षासु शत्रुदर्शने च सम: । बहुघृतं क्षीरषष्टिकां कोद्रवांश्च समं भोजने । देवदारुतैलं कर्पूरादि च तुल्यं जिघ्रत: । तथाकर्तव्यं यथा केवलैर्मानसै: सुखदु:खैर्न स्पृश्यते । एवं तेन जितानीन्द्रियाणि भवन्ति । न त्वप्रवृत्त्यैव । इयत्पर्यन्त: संयम: आश्रयणीय: ॥९८॥

''ननु च ब्रह्मचारिणा स्त्रीसम्बन्धो यत्नेन वर्ज्य:, संस्कृतभिक्षालाभस्तु किमिति निषिध्यते'' । अत आह—

हिन्दी—जो मनुष्य (प्रशंसा या निन्दा की बात को) सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बल आदि को) छूकर (सुन्दर या कुरूप को) देखकर

(स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तु को) खाकर और (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तु को) सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, उसे "जितेन्द्रिय" जानना चाहिये ॥९८॥

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिबोधकम् ।।९९।।

भाष्य—निर्धारणे षष्ठी । एकमेव **यदीन्द्रियं क्षरति** स्वातन्त्र्येण स्वविषये वर्तमानं न निवार्यते । ततोऽस्य **क्षरति प्रज्ञा** धैर्यमिन्द्रियान्तरविषयमपि । दृतिश्छागादिचर्मोदकाद्याहरणभाजनं, तस्य संवृतेष्वपीतरेषु यद्येकस्मा**दुदकं पादात्स्र**वति, सर्वं रिच्यते । ज्ञानाभ्याससम्भृतं धैर्यं सम्यक्ज्ञानमेव वा । विषयगृह्नुतया तद्गतमानसस्य न तत्त्वतो युक्तिशास्त्रगम्या अर्थाः सम्यक् प्रतिभासन्ते ॥९९॥

हिन्दी—इन सब इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय विशयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़े के वर्तन (मशक आदि) के एक भी छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है ॥९९॥

इन्द्रिय संयम की सर्वपुरुषार्थ हेतुता—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ।।१००।।

भाष्य—उपसंहरति । सत्यपीन्द्रियत्वे मनसः प्राधान्यात्पृथगुपादानम् ।

ग्रामः सङ्घातः । विधेयीकृत्येन्द्रियाणि तथा मनः । सर्वानर्थाञ्श्रौतस्मार्तकर्मसाध्या**न्संसाधये**न्निष्पादयेत् । **तनुं** शरीर**मक्षिण्वन्न**पीडयन् ।

योगतः युक्त्या । सहसा कस्यचित्कठिनासनकृष्णाजिनादिप्रावरणात् पीडा भवति सुकुमारप्रकृतेः, तदर्थमिदमुच्यते । येषां सुशीलितं सुसंस्कृतं भोजनं मृदुशय्यादि, न तैः सहसा तत्त्यक्तव्यमपि तु क्रमेण सात्म्यताामानेतव्यं तद्विपरीतम् । 'योगः' क्रमेण प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र च योगतो वशे कृत्वेति सम्बन्धः । यथास्थानमेव वा योगत इति योजनीयम् । युक्त्या औचित्यतः शरीरं नापनयेत् । यदुचितं शरीरस्य न तज्झटिति निवर्तयेत् । तात्पर्यं वा 'योगः' । तृतीयार्थे तसिः । तात्पर्येण शरीरं रक्षेत् ॥१००॥

हिन्दी—बहिरिन्द्रियसमूह तथा मन को वश में करके उपाय से अपने शरीर को कष्ट देता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थों को सिद्ध करे ॥१००॥

सन्ध्योपासन की अवधि—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु सदाऽऽसीत सम्यगृक्षविभावनात् ।।१०१।।

भाष्य—सम्मुखे प्रातः 'पूर्वा' सन्ध्या। आदित्यास्तमये 'पश्चिमा'। तां **तिष्ठेत् जपन्सावित्रीम्**। आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे स्यात्। सावित्री उक्तैव—'तत्सवितुर्वरेण्यमिति'। तस्या ह्यनुवादः। ॐकारादिविधिः श्लोके सन्ध्याजपार्थं 'एतदक्षरमेतां चेति'। **आऽर्कदर्शनादिति**। यावद्भगवानादित्योदृष्टः। जपस्थानयोरयमेव विनिर्देशः।

"ननु किमवधिना। अर्कोदय एव सन्ध्या निवर्तते। तथाहि। 'न सर्वं तमः क्षीणं नापि परिपूर्णः प्रकाश एषा सन्ध्या'। उक्तं च 'दिवि प्रकाशो भुवि चान्धकारः कालः स सावित्र इति प्रदिष्टः'। **निरुक्ते**ऽप्युक्तं 'अधोभागः सावित्र' इति। पशुसमाम्नाये विज्ञायते 'कस्मात्सामान्यादधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्ण' इति। आदित्योदये च सर्वतस्तमो निवर्तते। उभयधर्मानिवृत्तौ च सन्ध्या—रात्रिधर्मेऽहर्धर्मे च। अत्यन्तसंयोगे चैषा द्वितीया **सन्ध्यामिति**। तेन यावत्सन्ध्याकालं तिष्ठेदित्युक्तं भवति। ततः परं स्वातन्त्रयं स्थितमेव।"

केचिदाहुर्नैवेयमत्यन्तसंयोगे द्वितीया, किं तर्हि "कालश्चाकर्मकाणां कर्मसंज्ञो भवतीति" **वार्तिककार**स्तत्र 'कर्मणि द्वितीये' त्येव द्वितीया। यत्तु 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग" इति तद्यत्र क्रियावाची शब्दो न प्रयुज्यते। 'क्रोशं कुटिला नदी' 'सर्वरात्रं कल्याणी'। यत्र च सकर्मको धातुः, 'मासमधीयत' इति स तस्य विषयः। इह पुनः 'सन्ध्यां' तिष्ठेदिति तिष्ठतिरकर्मकः। अतो विधिनिर्देशः कृत्स्नसन्ध्याप्राप्त्यर्थं स्थानासनयोः कर्तुम्। आरम्भकालस्त्विह नोक्तः, सन्ध्याशब्देनैव समर्पितत्वात्। य एव हि सन्ध्याकालस्यारम्भः स एव तद्विधेः न हि पूर्णमास्यादिकालवद्दीर्घः सन्ध्याकालो, यदि विलम्बः स्याद्दुर्लक्षो ह्यसावतिसूक्ष्मत्वात्तुलान्तरयोरिव नामोन्नामौ। अलक्ष्यपौर्वापर्यौ रात्रेर्विरामोऽह्नश्च प्रारम्भः। अतिशीघ्रगतिर्भगवान्भास्करस्तस्य यथा निर्मुक्ते राशौ राश्यन्तसंक्रमणं त्रुटिमात्रकालमिच्छन्ति ज्यौतिषिकाः। एवं दिवसारम्भावसानयोरप्युदयास्तमयौ। प्रागुदयाद्रात्रिरुदितेऽहः। अनेन च नास्ति 'सन्ध्या'। आदित्योदयेनैव रात्रिविरामात्। अत एवोदयास्तमयसमीपयोरनुष्ठानप्रवृत्तिः। स्पष्टे च सूर्ये नक्षत्रेषु च निवृत्तिर्यतो च इयन्तं कालमुपास्ते तेनावश्यं मुख्ये काले विधिर्निर्वर्तितो भवति। अत एव च यावान्सावित्रः कालः सेह सन्ध्याऽभिप्रेता न ज्योतिःशास्त्रगणिता। सा चोक्ता पुरस्तात्।

"यद्येवं, येषामयमेवाग्निहोत्रकालस्तेषां सन्ध्याविधेरभावः प्रसक्तः"।

केयं परिचोदना। श्रौतेन स्मार्तस्य बाधो युक्त एव। नैव चात्र विरोधः। तिष्ठताऽपि शक्यं होतुमासीनेन च।

"ननु च न केवले स्थानासने सन्ध्ययोर्विहिते, किन्तु त्रिकजपोऽपि। तच्च

सावित्रीं जपन्कथं होममन्त्रमुच्चारयेत्''।

अस्तु जपस्य बाधः। प्रधाने तावत्स्थानासने न विरुध्येते। 'गुणलोपे च मुख्यस्ये' त्यनेन न्यायेन जपस्याङ्गत्वाद्बाधो युक्तः। तयोश्च प्रधानत्वं साक्षाद्विधिसम्बन्धात्तिष्ठेदासीतेति च। जपस्य तु गुणत्वं, शत्रन्तत्वाज्जपतेर्लक्षणत्वावगमात्। अधिकारसम्बन्धश्च स्थानासनयोरेव, ''न तिष्ठति तु यः पूर्वां'' तथा ''तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहतीति''।

यत्तु केनचिदुक्तं—''तिष्ठतिरत्र गुणः, प्रधानं जपकर्म। ततो हि फलमश्रौष्मेति''।

तत्रोच्यते। नैवायं कामिनोऽधिकारः। कुतः फलश्रवणम्। यत्तु प्रणवादिवाक्ये 'वेदपुण्येन युज्यत' इति फलानुवादभ्रमः, स तत्रैव निर्णीतः। तस्मात्स्थानासने प्रधाने।

अथवा अग्निहोत्रिणः सकृत्सावित्रीं जपिष्यन्ति त्रिरावर्तयिष्यन्ति वा। न तावताऽग्निहोत्रस्य कालातिपत्तिः। अश्नन् सायं विनिर्मुक्त इति न तावता विहन्यते। अश्नशब्दः चिरकालवचनः। तावता च कृतः सन्ध्यार्थो भवति। अर्कदर्शनपर्यन्तता ह्यङ्गमेव। उदितहोमिनां कृतसन्ध्यानामेवाग्निहोत्रहोमः।

गौतमेन तु 'सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनादिति' (अ० २ सृ० १७) सूत्रस्यार्थः। 'एतावान्कालः सन्ध्योच्यते'। न विध्यङ्गम्। तत्रैतावति काले नास्त्यावृत्तिः। यथा 'पौर्णमास्यां यजेतेति' न कालानुरोधेन कर्मण आवृत्तिः, तथा 'पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकरामिति' तदपि काललक्षणं 'एतावान्काल इह सन्ध्याशब्देनोच्यते, तत्र सान्ध्यो विधिरनुष्ठेयः।' तत्रेयति सन्ध्याशब्दवाच्यं काले च मुहूर्तमात्रे यदि त्रिचतुरासु कालकलासु स्थानासनजपान्कुर्यात् सम्पन्न एव विध्यर्थः। न ह्यत्र कृत्स्नकालव्याप्तिः श्रुता मानोरिव। सर्वथाऽग्निहोत्रसन्ध्याविधी समानकालावपि शक्यावनुष्ठातुम्।

सदाशब्दो नित्यतामाह। उभयसन्ध्याशेषः।

आसीत आसनमनूर्ध्वतावस्थानमुपविष्टो भवेत्। 'ऋक्षं' नक्षत्रम्। 'आ' तद्विभावनात्। आऽर्कदर्शनादिति य आकारः स इहानुषक्तव्यः।

सम्यक्शब्दो दर्शनविभावनयोर्विशेषणम्। सम्यग्यदा परिपूर्णमण्डल आदित्यो भवति, नक्षत्राणि च भास्वन्ति स्वभासा युक्तानि नादित्यतेजोभिभूतानि ॥१०१॥

हिन्दी—प्रातः काल के सन्ध्योपासन कर्म में एकासन से खड़ा होकर सूर्योदय तक सावित्री का जप करता रहे तथा सायंकाल का सन्ध्योपासन कर्म अच्छी तरह ताराओं के उदय तक बैठकर करे। शास्त्रों में दो घड़ी का सन्ध्याकाल कहा गया है[१]) ॥१०१॥

१. तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

''ह्रासवृद्धौ तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्।
सन्ध्यां मुहूर्तमात्रन्तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता॥'' इति।

विमर्श—यहाँ पर प्रात:काल आसन से उठकर खड़ा होकर तथा सायंकाल आसन पर बैठकर गायत्री-जप का विधान जो किया गया है, उसमें गायत्री जप के प्रधान होने से आसन (प्रात:काल खड़ा होकर तथा सायंकाल बैठकर जप करना) गौण है। मेधातिथि ने आसन को ही प्रधान माना है। विशेष ज्ञान के लिये 'काशी सं० सीरीज' नं० ११४ सङ्ख्या में प्रकाशित मनुस्मृति की मन्वर्थमुक्तावली पर 'नेने' शास्त्रकृत टिप्पणी देखनी चाहिए ॥१०१॥

सन्ध्योपासन से पापनाश—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ।।१०२।।

भाष्य—अयमत्राधिकार उच्यते। **एन:** प्रतिषिद्धसेवनाज्जातो दोषस्तं **व्यपोहत्य**पनुदति। निशि भवं **नैशं** रात्रौ कृतम्। एवं **मल**मेन:शब्देन समानार्थम्।

न च सर्वस्य दिवाकृतस्य नैशिकस्य चैतत्प्रायश्चित्तम्। तथा सति कृच्छ्राद्युपदेशप्रायश्चित्तविशेषोऽनर्थक: स्यात्। "अत्केचेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेदिति" लौकिकात्प्रवादात्। किं तर्हि यदनुचितं कृतं अशक्यपरिहारमनाम्नातप्रायश्चित्तविशोलङ्घीय एनस्तदपैति। यथा सुप्तस्य हस्तचारशय्यापरिवर्तनादिना सूक्ष्मप्राणिवधो, गुह्याङ्गकण्डूकर्षणं 'नाकस्मात्स्पृशेदिति' प्रतिषिद्धम्, लालास्रवादिना चाशुचित्वमतत्कालकृतशौचस्यावस्थाने प्रतिषिद्धसेवनादि। एतदभिप्रायमेवेदं "सर्वदैवाशुचिर्ज्ञेय: सन्ध्योपासन वर्जित:" इति।

न चानित्यतापत्ति:, एवंविधस्य दोषस्य सर्वदाभावात्।

दिवा च पथि गच्छन्नन्यस्त्रीमुखसन्धानसम्पन्नं तज्जन्यचित्तविकारोन्मीलने क्रुद्धाश्लीलसम्भाषणम्। तत्सन्ध्याविधी अपनुदत: ॥१०२॥

हिन्दी—प्रात:काल की सन्ध्या में (एकासन से) बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है; तथा सायंकाल की सन्ध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिन में किये हुए पापों को नष्ट करता है ॥१०२॥

प्रात:सायं सन्ध्योपासन के अभाव में शूद्रतुल्य बहिष्कार—

न तिष्ठति तु य: पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् वहिष्कार्य: सर्वस्माद् द्विजकर्मण: ।।१०३।।

भाष्य—अनेनाननुष्ठानप्रत्यवायं वदन्नित्यतामेव समर्थयति।

य: प्रात: सन्ध्यायां नोर्ध्व आस्ते, न च पश्चिमायामुपविष्टो भवति, स शूद्रतुल्यो

वेदितव्यः । **सर्वस्माद्द्विजकर्मणः** आतिथ्यादिसत्कारसम्प्रदानादितो **बहिष्कार्यो**ऽपनोद्यः । अतः शूद्रसमानतानिरासार्थं नित्यमनुष्ठेया सन्ध्या ।

इदमधिकारवाक्यम् । अत्र च स्थानासन एवोपात्ते जपे । यस्य चाधिकारसम्बन्धस्तत्प्रधानम्, अन्यत्तत्सबद्धमङ्गम् ॥१०३॥

हिन्दी—जो (द्विज) प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासन कर्म नहीं करता है, वह शूद्र के समान सम्पूर्ण द्विज कर्मों से (अतिथिसत्कारादि कर्म से भी) बहिष्कृत करने योग्य है ॥१०३॥

अशक्ति में सावित्री मात्र का भी जप—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

भाष्य—अयमपरः स्वाध्यायविधिः । प्रकरणान्तरेऽश्रुतत्वात्पूर्वस्माद्ग्रहणार्थाद्भिद्यते ।

बहिर्ग्रामान्निर्जनो देश **अरण्यम्** । तद्गत्वा प्राप्या**पां समीपे** नदीवाप्यादिस्थाने । तदभावे कमण्डल्वादिभाजनस्थानामपि ।

नियतः शुचिर्यत्नवान्वा । **समाहितः** परित्यक्तचित्तव्याक्षेपः ।

सावित्रीमप्यधीयीत । यदि बहुसूक्तानुवाकाध्यायादि कयाचित्कार्यातिपत्त्या न शक्यते ।

नैत्यकं विधिमास्थितः । नित्य एव नैत्येकः । नित्योऽयं विधिरित्येवं स्थितप्रज्ञः ।

ग्रहणार्थश्च स्वाध्यायाध्ययनविधिः प्रकृतिः, अयं विकारः संस्तदीयान्धर्मान्गृह्णाति । तेन 'ब्रह्मणः प्रणवं' "प्राक्कूलान्" इत्यादिधर्मो भवति ।

अन्ये तु 'विधि'र्विधा-प्रकार-इतिकर्तव्यतेत्यादि चक्षते । नित्ये ब्रह्मचारिणाऽवश्यकर्तव्ये स्वाध्यायाध्ययने विधेतिकर्तव्या तामाश्रितः । अस्य तु विधेस्तदा नित्यत्वं 'ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृत'मित्यादिवाक्येभ्योऽवसातव्यम् ।

आद्यमेव व्याख्यानं युक्तरूपं दृश्यते । न हि विधिशब्दः प्रकारवचनतया प्रसिद्धः। यदि च नैत्यकशब्देन ब्रह्मचारिणो विधिरुच्यते तदा "नैत्यके नास्त्यनध्यायः" इत्यत्रापि नैत्यकशब्देन तस्यैवाभिधानं स्यात्ततश्चानध्ययननिषेधस्तत्रैव प्रसज्येत ॥१०४॥

हिन्दी—वन में (बगीचा, फुलवाड़ी, उपवन आदि एकान्त स्थान में) जाकर (नदी; तालाब, वापी आदि के) जल के समीप में जितेन्द्रिय तथा एकाग्रचित होकर नित्य विधि को करने का इच्छुक द्विज सावित्री का भी अध्ययन (जप) करे । (यह ब्रह्मयज्ञ का स्वरूप है, विशेष वेदाध्ययन करने में असमर्थ द्विज को इतना तो करना आवश्यक ही है ॥१०४॥

अनध्याय में भी अवर्जनीय कार्य—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ।।१०५।।

भाष्य—उपकरणमुपकारकं वेदाङ्गं कल्पसूत्रनिरुक्ताद्युच्यते । तस्मिन्पठ्यमानेऽनध्यायेऽष्व**नुरोध** आदरो **नास्ति** । **स्वाध्याये होममन्त्रेषु चैव** ह्यनध्याया नादरणीया: । अनध्यायेष्वध्येतव्यम् ।

'न निरोध' इति वा पाठ: । निवृत्तिरनध्यायेष्वध्ययनस्य नास्ति ।

यद्यप्यध्ययनविधिधर्मोऽनध्यायेष्वनध्ययनं, अध्ययनविधिश्च स्वाध्यायविषय:, स्वाध्यायश्च वेदो, न च वेदशब्दवाच्यान्यङ्गानि, तथापि वेदवाक्यामिश्रत्वात् तद्बुद्धि:-स्यादिति स्पष्टार्थमुच्यते । दृष्टान्तो वाऽयम् । वेदाङ्गेष्विव वेदेऽप्यनध्यायो नास्ति ।

होममन्त्रेषु अग्निहोत्रहोमे ये मन्त्रा अन्यस्मिन्वा सावित्रादिशान्तिहोमे । एतच्च प्रदर्शनार्थम् । शश्वज्जपप्रैषादिमन्त्राणां कर्माङ्गानां वैदिकवाक्योच्चारणमात्रधर्मोऽनध्यायानध्ययनं स्वध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्त इति मन्यमानो होमादिमन्त्रेषु चतुर्दश्यादिष्वनुच्चारणं प्रपद्येत य:, स न्यायसिद्धेनार्थेनानूद्यमानेन प्रतिबोध्यते । स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्तमनध्यायानुक्रमणं न वेदधर्म:, ततो नास्ति कर्माङ्गमन्त्रेष्वनध्याय: ।

नैत्यके स्वाध्याये पूर्वेण वाक्येन सर्वाश्रमिणां विहिते नित्ये स्वाध्यायविधौ ॥१०५॥

हिन्दी—शिक्षा आदि वेदाङ्गों में, नित्य किये जाने वाले ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्याय में और हवन कर्म में अनध्यायकृत निषेध नहीं है । (४ अध्यायोक्त अनध्याय में भी इन्हें करना चाहिए) ॥१०५॥

नित्य कर्म में अनध्याय का अभाव—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ।।१०६।।

भाष्य—पूर्वविधिशेषोऽयमर्थवाद: ।

एतेन हेतुना **नैत्यके नास्त्यनध्यायो** यतो **ब्रह्मसत्रं तत्स्मृतम्** । सततप्रवृत्तं 'सत्रं' यथा सहस्रसंवत्सरादिसत्रं न कदाचिद् विच्छिद्यत इत्यत: सत्रमेवमिदमपि । ब्रह्माध्ययननिर्वर्त्यं 'ब्रह्मसत्रम्', सत्रत्वाच्च न कदाचिद्विच्छेत्तव्यम् । विच्छेदे हि सत्रत्वं न स्यात् ।

सत्रत्वमिदानीं रूपकभङ्ग्या योजयति । 'ब्रह्म' अध्ययनम्, 'आहुतिहुतम्' अन्यत्सत्रं सोमाहुत्या हूयते । जुहोतिर्निर्वृत्तौ वर्तते । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । ब्रह्मशब्देन तद्विषयाध्ययनक्रिया लक्ष्यते । ब्रह्माध्ययनमाहुतिरिव "उपमितं व्याघ्रादिभिरिति" (व्या०सू०

२।१।५६) समासः । 'अनध्याये यदध्ययनं' तेन 'वषट्कृतम्' । यथा याज्यान्ते अविच्छेदो वषट्कारेण क्रियत एवं चतुर्दश्याद्यनध्यायाध्ययनं वषट्कारस्थानीयम् । वषट्शब्देन वौषट्शब्दो लक्ष्यते । तेन **कृतं** युक्तं संस्कृतम् । साधनंकृतेति समासः ॥१०६॥

हिन्दी—पूर्वोक्त नित्यकर्म में अनध्याय नहीं है, उसे (मनु आदि महर्षियों ने) ब्रह्मयज्ञ कहा है । ब्रह्मरूपी आहूति में हवन किया गया अध्ययनरूप अनध्याय का वषट्कार भी पुण्य ही होता है ॥१०६॥

जपयज्ञ से इष्टसिद्धि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

प्रकृतविधिशेषोऽयम् । स च नित्यः समधिगतः । नित्ये च फलश्रवणमर्थवादः । न च विधिविभक्तिर्विद्यते । येन "एकस्य तूभयत्वे संयोगः पृथक्त्वमि"त्यनेन न्यायेनाधिकारान्तरहेतुः पयःप्रभृतिः स्यात् । लब्धे च नित्येऽधिकारे रात्रिसत्रन्यायोऽपि नास्ति, येन पय आदीनि निष्फलत्वेन कल्पेरन् । तस्मादर्थवाद एवायं अधीयानस्य लोकपक्त्या प्रतिग्रहादिना गोलाभात्पयःप्रभृतेः प्रक्षरणानुवादस्यालम्बनम् ।

स्वाध्यायं वेदम**धीतेऽब्दं** संवत्सरं **विधिना** प्राक्कूलाध्यासनेन । **नियतः** संयतेन्द्रियः । **शुचिः** स्नानादिना । **तस्य** पुरुषस्य **नित्यं** यावज्जीवम् । **क्षरति** स्रवति ददाति, एषः स्वाध्यायः । **'पयो दधीति'** ।

अन्ये तु धर्मार्थकाममोक्षान् पयआदिभिः शब्दैरभिहितान्मन्यन्ते । **पयः** शुद्धिसामान्याद्धर्मः, **दधि** पुष्टिहेतुत्वादर्थः, स्नेहसामान्यात्**घृतं** कामः, सर्वरसैक्यान्**मधु** मोक्षः । यावान्कश्चन पुरुषार्थः स सर्वो वेदाध्ययनात्संवत्सरेणैव प्राप्यते, किं पुनर्बहुना कालेन? अर्थवादत्वात्पय आदिशब्दानां कोऽर्थो युक्त इति नाभिनिवेष्टव्यम् ॥१०७॥

हिन्दी—जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे यह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है, (जिनसे वह देवों तथा पितरों को तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञ को पूर्ण करने वाले होते हैं[१]) ॥१०७॥

---

१. अत एव याज्ञवल्क्यः—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।
पितॄन् मधुघृताभ्याञ्च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥ —या० स्मृ०-१।४२

इत्युपक्रम्य वेदचतुष्टयस्य पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा शेषे—
"ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकालफलैः शुभैः ।" (या० स्मृ० १।४७) इत्युक्तवात् ।

समावर्त्तन तक होमादि कर्तव्य—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ।।१०८।।

भाष्य—सायम्प्रातः समिद्भिरग्नेरादीपनम**ग्नीन्धनम्** । अपर्यङ्कारोहण**मधःशय्या** । न तु स्थण्डिलशायित्वमेव । गुरवे हितमुदकुम्भाद्याहरणं शुश्रूषणलक्षणम् । यत्तु तदुपकारकरणं तद्यावज्जीविकम् । एतत् आ ब्रह्मचर्यसमाप्तेर्गुरुकुलनिवृत्तिलक्षणात् स्नानात्-कर्तव्यं, स्वाध्यायाध्ययनविध्यर्थत्वात् । ब्रह्मचर्यस्य तद्धर्माणां च यावद्ग्रहणमनु-वृत्तिस्तन्निवृत्त्या च निवृत्तिः सिद्धैवेति ।

अग्नीन्धनादीनां पुनर्वचनं तद्व्यतिरिक्तस्यातिक्रान्तस्य धर्मकलापस्योत्तरेषामप्या-श्रमिणामनुष्ठानार्थम् । तथा च **गौतमः** (अ०३ सू०९) "इतरेषां चैतदविरोधि" इति ।

"अथैवं कस्मान्न भवति—'एते यावद्ब्रह्मचर्यभाविनः, अन्ये पुनरर्वागपि निवर्तन्त' इति" । स्मृत्यन्तरमत्र दर्शितम् । प्रधानकालानुवर्तिनश्च नियमा इत्येष न्यायः सत्यां गतौ स्यात् ।

गुरवे हितमिति हितयोगे चतुर्थी (पा०सू० २।१।३६) न्याय्या ॥१०८॥

हिन्दी—जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, ऐसा द्विज समावर्त्तन काल (वेदाध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्वकाल) तक प्रातःकाल तथा सायंकाल समिधा का अग्नि में त्याग अर्थात् हवन, भिक्षावृत्ति (२।४९) पृथ्वी पर शयन (खाट-चारपाई पर सोने या चढ़ने तक का सर्वथा निषेध है) और गुरुहित कार्य (गुरु के लिए जल, पुष्प आदि लाकर हिताचरण) को करे ॥१०८॥

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ।।१०९।।

भाष्य—वक्ष्यति (श्लो० २३३) 'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यत' इति । तत्र कीदृशाय विद्या दातव्या इति पात्रलक्षणार्थः श्लोकः । ब्रह्मचारिधर्मप्रसङ्गेनाध्या-पनविधिरयमुच्यते ।

आचार्यस्य पुत्रः । शुश्रूषा परिचर्या गृहोपयोगि शक्तितः कर्मकरणं शरीरसंवाहनं च । **ज्ञानदः** यः कश्चिद्ग्रन्थ आचार्यस्य न विदितः, शिष्येण कथञ्चिच्छिक्षितोऽर्थका-मकलाविषयो धर्मविषयो वा । विद्याविनिमयेनेदमध्यापनम् । **धार्मिकः** अग्निहोत्रादि-कर्मानुष्ठानप्रधानः । **शुचि**र्मृद्वारिशुद्धः अर्थशुद्धश्च । गोबलीवर्दवत्पदत्रयमपुनरुक्तं—

'धार्मिकः' 'शुचिः' 'साधुरिति' । **आप्तः** सुहृद्वान्धवादिः प्रत्यासन्नः । **शक्तः** ग्रहणधारणसमर्थः । **अर्थदः** । **स्वः** पुत्रः उपनीतश्च । पूर्वे अन्योपनीता अप्य**ध्याप्याः** ।

"ननु च धर्मत इत्युच्यते, एतैरध्यापितैर्धर्मो भवति । **अर्थद**श्च दृष्टेनोपकरोति. तत्र कुतोऽदृष्टकल्पना"?

केनोक्तं कल्पनोति । श्रुते का कल्पना । साक्षादेव हि श्रुतं **अध्याप्या दश धर्मत** इति ।

उपाध्यायस्त्वाह धर्मशास्त्रव्यवस्थोच्यते । एतैरध्यापितैर्धर्मातिक्रमो न भवति, न पुनरर्थदे अध्यापिते विद्यादानलक्षणो धर्मो भवति ॥१०९॥

हिन्दी—आचार्य पुत्र, सेवा करने वाला[1], अन्य विषय की शिक्षा देने वाला[2], धर्मात्मा, पवित्र, बान्धव, ज्ञान के ग्रहण-धारण में समर्थ, धन देने वाला[3] हिताभिलाषी और स्वजातीय ये दश (गुरु के द्वारा) धर्मानुसार पढ़ाने योग्य हैं ॥१०९॥

प्रश्नादि के बिना तत्त्वकथन का निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ।।११०।।

भाष्य—अधीयानेनानुपसन्नेन यदि नाशितमपाक्षरं विस्वरं वाऽधीतं तदाऽपृष्टेन न वक्तव्यम् 'नाशितं त्वयैवमेतत्पठितव्यमि'ति । शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम् । पृच्छमानोऽपि यद्य**न्यायेन** पृच्छति तथापि **न** वक्तव्यम् । प्रश्रयपूर्वकम्, 'अस्मिन्वस्तुनि मे सन्देहस्तदुपदेष्टुमर्हसीति' शिष्यधर्मेण प्रश्नो न्यायेन । अन्यथा तु **जानन्नपि जडवत्** मूक इव **लोके** वर्तेत **आचरेद**ज्ञ इव तूष्णीमासीत ।

शास्त्रविषयोऽयमपृष्टसन्देहापनयननिषेधः । व्यवहारे तु वक्ष्यति "नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हतीति ।" अन्ये त्वविशेषेणेच्छन्ति ॥११०॥

हिन्दी—वेदतत्त्व को जानता हुआ भी विद्वान् बिना पूछे किसी से (तत्त्वज्ञान को) न कहे (अशुद्धोच्चारण करने पर भी किसी को न टोके, किन्तु यदि शिष्य अशुद्धोच्चारण करे तो उसे अवश्य ही टोके और ठीक-ठीक बतलावे), अन्याय से (भक्ति, श्रद्धा-आदि का त्यागकर) पूछने पर भी (तत्त्वज्ञान को) न कहे; किन्तु जड़ के समान आचरण करे ॥११०॥

१.२.३. तदुक्तं नीतिकृद्भिः —

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थो नोपपद्यते ॥ इति ।

उक्त निषेध के नहीं पालन करने से हानि—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ।।१११।।

भाष्य—अस्य प्रतिषेधस्यातिक्रमे दोषमाह । **अधर्मेण** पृष्टोऽन्यायपृष्टश्च यः प्रब्रवीति 'एवमेतद्युक्तमध्येतुमिति' । **यश्च पृच्छति** । तावुभावपि म्रियेते अप्राप्तकालौ । अथैको व्यतिक्रमकारी स एव म्रियते । यद्यन्यायेन पृष्टो न वक्ति तदा प्रष्टैव वाऽथ प्रतिवक्ति तदोभावपि । अनेनान्यायप्रश्ने दोषदर्शनेन प्रष्टुर्न्याय्यः प्रश्नविधिः । **विद्वेषं वा** द्वेष्यतां लोके प्राप्नोति ॥१११॥

हिन्दी—अधर्म से पूछने पर भी कहता है या अधर्म से जो पूछता है, उन दोनों में से एक (व्यक्तिक्रम करने वाला) मर जाता है, अथवा उसके साथ में वैर हो जाता है ॥१११॥

धर्मादि के अभाव में विद्यादान की निष्फलता—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ।।११२।।

भाष्य—यदुक्तम् "अध्याप्या दश धर्मत" इति तस्यैवायं प्रकारान्तरेण सङ्क्षेपतः प्रतिनिर्देशो, नापूर्वार्थाभिधानम्, प्रकृतानुवादत्वात् । अर्थशब्द उपकारमात्रलक्षणापरो द्रष्टव्यः, विद्याविनिमयेनापि पूर्वमध्यनस्योक्तत्वात् । **तद्विधा**ऽध्यापनानुरूपा । महति महती स्वल्पे स्वल्पेति । **तत्र विद्या** । विद्यते ज्ञायते यया सर्वोऽर्थ इति सा 'विद्या' पाठोऽर्थावबोधश्च । अनुपकारी नाऽध्याप्यः, न चास्यार्थविवरणं कर्तव्यम् ।

उषरो भूमिभाग उच्यते यस्मिन्नखिलेऽपि मृत्तिकादोषाद्बीजं न प्ररोहति । **शुभं** श्रेष्ठं व्रीह्यादिकं लाङ्गलादिनोप्यते । एवं विद्याऽपि क्षेत्रे व्युप्ता महाफला भवति । न चैतन्मन्तव्यम्, अर्थमादाय यदध्यापनं सा भृतिः । न हि पणपरिमाणसम्भाषणपूर्विका तत्र प्रवृत्तिः—'यदेयद्ददासि तदैतदध्यापयामीति' । तदद्भृते रूपम् । न पुनरर्थोपकार-गन्धमात्रेण ।

यत्तु 'न पूर्वं किञ्चिद्गुरवे उपकुर्वीतेति' नासौ पूर्वोपकारप्रतिषेधः, किन्तु स्नास्यताऽवश्यमाज्ञप्तेन गुर्वर्थो यथाशक्ति सम्पाद्यः', तच्छेष एव प्रतिषेधो न पृथग्-वाक्यम् ॥११२॥

हिन्दी—जिस शिष्य में धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो; ऊसर में उत्तम बीज के समान उस शिष्य में विद्यादान न करे ॥११२॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ।। ११३।।

भाष्य—समं शब्दः सहार्थे। अप्रतिपादितया स्वदेह एव जर्जरितया युक्तं ब्रह्मवादिनो वेदाध्यायिनो मरणं, न पुनरपात्रे प्रतिपादनम्।

अनेन च ज्ञायते अध्यापनमप्यधीतवेदेनावश्यं कर्तव्यं, न केवलं वृत्त्यर्थम्। नापि वार्यादिदानवत्फलकामस्यैवाधिकारः। तथा च श्रुतिः "यो हि विद्यामधीत्यार्थिनं न ब्रूयात्स कार्यदा स्यात्। श्रेयसो द्वारमपावृणुयात्। अध्यापयेन्महदेतद्यशस्यं वाचोऽधिकारं कवयो वदन्ति। अस्मिन्योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्। य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।" स कार्यहा स्यादित्यनेनानध्यापने दोषमनुवदन्ती श्रुतिरेवावश्यकर्तव्यतां ज्ञापयति।

इरिणे। पूर्वोक्तप्रयोजनत्रयाभावो यत्र।

आपद्यपि हि घोरायां कष्टायामपि। कष्टा आपदुक्तशिष्याभावः। एतच्चावश्यकर्तव्यं सत्युपपद्यते। "नित्यत्वे हि मुख्याभावे प्रतिनिधिशिष्योपादानेनाध्यापननिर्वृत्तिः प्राप्ता। व्रीह्यभाववन्नीवारैः"। अतोऽस्यामवस्थायामध्यापनाधिकारनिवृत्तिरेव। यथोक्तलक्षणातिथ्यभावेऽतिथिपूजानिवृत्तिः।

वपेदिति लक्षणया बीजधर्मेणाध्यापनमुच्यते। बीजं किल क्षेत्रोप्तं बहुफलं भवत्येवं विद्याऽपि।

अन्ये तु धनाभावनिमित्तामापदमाचक्षते। अत्यन्तदुर्गतेनापि नेरिणे वप्तव्येति वरं म्रियताम्। "सर्वत एवात्मानं गोपायेद्" इति नैष विधिरतिक्रान्तो भवति सत्यपि तथाविधाध्यापने वृत्त्युपाये।

तदेतदयुक्तम्। अर्थदो नैवेरिणं, पूर्वोक्तानुवादत्वादिरिणशब्दस्य। यदि चार्थदोऽपि न भवति कथमापदि तत्र प्रवृत्तिः सम्भाव्यते, या निषिध्यते ॥११३॥

हिन्दी—वेदज्ञ विद्वान् विद्या के साथ में (बिना किसी को पढ़ाये) ही भले मर जाय, किन्तु घोर आपत्ति में भी अपात्र शिष्य को न पढ़ावे ॥११३॥

ब्राह्मण से विद्या का कथन—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्म रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ।। ११४।।

भाष्य—अयमप्यर्थवाद एव। **विद्या** मूर्तिमती कश्चिदुपाध्यायमागत्**याह** प्रोक्तवती। **शेवधि**र्निधिस्तवास्मि **रक्ष माम्**। का पुनस्ते रक्षा? **असूयकाय** कुत्साकराय

निन्दकाय **मां मादाः** । निन्दकं माऽध्यापय । तथा चैवमहं **वीर्य्यवत्तमा**ऽतिशयेन तव कार्यकारिणी भवामि । वीर्यं कार्यनिर्वृत्तौ सामर्थ्यातिशयः । 'शेवधिष्टेऽस्मीति' कृतषत्वं पठितं तच्छान्दसप्रयोगानुकरणम् ॥११४॥

हिन्दी—विद्या (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि 'मैं तुम्हारा कोष (खजाना) हूँ, मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करने वाले के लिए मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी (बनूँगी) ॥११४॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ।।११५।।

भाष्य—**यं** शिष्यं **शुचिं** जानीयाः **नियतं** संयतेन्द्रियं यत्नपरं **ब्रह्मचारिणं तस्मै मां ब्रूहि** । यो हि निधिं पाति रक्षति । यतोऽसा**वप्रमादी** न प्रमाद्यपि न स्खलति, तत्परत्वात् ।

शक्ताप्तार्थदादीनां सर्वशिष्यामाणामेतद्गुणसंयोगे देयेत्यस्मादर्थवादाद्गम्यते ॥११४॥

हिन्दी—और जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो; विद्यारूपी कोष रक्षा करने वाले अप्रमादी उस ब्राह्मण के लिये मुझे कहो। (उसे पढ़ाओ) ॥११५॥

बिना पढाये वेद-ग्रहण का निषेध—

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ।।११६।।

भाष्य—योऽभ्यासार्थमधीयानस्यान्यं चोद्दिश्यैवं व्याचक्षाणस्य तत्सन्निकर्षमन्य आगत्य तद्ब्राह्मापूर्वं गृह्णीयात्सन्देहं वाऽपनुदेत्तस्यैष दोष उच्यते । यावदनुज्ञामसौ न दाष्यते । 'यथैते त्वत्सकाशादधीयत एवमहमप्यधीयीयेत्यनुज्ञातुमर्हसीति' लब्धानुज्ञां शिक्षेत् । अन्यथा तु यद्ब्रह्माध्ययनं तत्स्तेयमिव । सोऽध्येताऽनेन ब्रह्मचौर्येण संयुक्तो नरकं महायातनास्थानं प्राप्नोति ।

अधीयानादिति पञ्चमी "आख्यातोपयोगे" (पा०सू० १।४।२९) इति । अपायस्य वा गम्यमानत्वाद् ब्रह्म ह्यध्येतुर्निष्क्रामतीव । ल्यब्लोपे वा कर्मणि । अधीयानं श्रुत्वाऽऽप्नोति शिक्षते ॥११६॥

हिन्दी—स्वयं अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करते हुए या दूसरे शिष्य को पढाते हुए वेद को गुरु की आज्ञा के बिना ही जो ग्रहण करता (स्वयं पढ़ लेता) है, वह ब्रह्म की चोरी करने का दोषी होकर नरकगामी होता है ॥११६॥

अध्यापकों की मान्यता—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽयात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।।११७।।

भाष्य—अतिक्रान्तं प्रासङ्गिकम्। अभिवादनविधिरिदानीं प्रक्रम्यते।

लोके भवं **लौकिकं** लोकाचारशिक्षणम्। अथवा गीतनृत्यवादित्रकलानां ज्ञानं वात्स्यायनविशाखिकलाविषयग्रन्थज्ञानं वा। **वैदिकं** विधिनोदितम्। वेदवेदाङ्गस्मृतिविषयम्। आध्यात्मिकविद्याऽऽत्मोपनिषद्विद्या। आत्मोपचाराद्वा शरीरस्य वैद्यकम्।

एत**ज्ज्ञानम्** यतः शिक्षेत **तं पूर्वमु**पदेष्टारं पुरुषम**भिवादयेत्**। प्रथमसङ्गमे यदाशीःविप्रयोगार्थं वक्ष्यमाणस्वरूपेण प्रयोगेण शब्देन सन्मुखीकरणं सोऽभिवादयतेरर्थः।

पूर्वमिति प्रथमम्। तेनासौ सम्बोध्यो, न पुनस्तदीयं वचनमपेक्षितव्यम्। तदा हि प्रत्यभिवादयिता भवेत्। "अभिवादयेदित्यनेनैव सिद्धत्वात् पूर्वशब्दोऽनर्थक" इति चेत्तन्न। सति ह्यस्मिन्नयमर्थो लभ्यते। धातूपसर्गार्थपर्यालोचनया ह्याभिमुख्येन वदनमात्रं प्रतीयते। अन्येनापि सम्बोधितस्य भवत्येव।

ये तु 'पूर्वं' स्वयोनिगुरुभ्य इति व्याचक्षते, तदप्रकृतसंशब्दितमित्युपेक्ष्यम्।।११७।।

हिन्दी—जिस (गुरु) से लौकिक (अर्थशास्त्रादिविषयक), वैदिक (वेदविषयक) और आध्यात्मिक (ब्रह्मविषयक) ज्ञान प्राप्त करे; उसे (बहुत मान्यों के मध्य में) पहले प्रणाम करे।।११७।।

विमर्श—इन तीनों गुरुओं से प्रथम की अपेक्षा द्वितीय को तथा द्वितीय की अपेक्षा तृतीय को श्रेष्ठ समझना चाहिए।

[जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत्।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात्।।८।।]

[**हिन्दी**—मनुष्य जन्म से लेकर जो कुछ धर्म, चित्त से करता है, वह सब एक हाथ से अभिवादन करने से निष्फल हो जाता है (अतएव दोनों हाथों से गुरु का चरणस्पर्श कर (२।७२) प्रणाम करना चाहिए।।८।।]

अविहिताचार की निन्दा—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।।११८।।

भाष्य—अभिवादनाद्याचारविधेः स्तुतिरियम्। सावित्रीमात्रं सारं प्रधानं यस्य स एवमुच्यते, सावित्रीमात्राध्ययनः। **वरं** श्रेष्ठो **विप्रो** यदि **सुयन्त्रितो** भवति शास्त्रनिगृही-

तात्मा। **अयन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि** शास्त्रविदपि। **सर्वाशी** सर्वमश्नाति लोकाचार-गर्हितं साक्षादप्रतिषिद्धमपि। एवं **सर्वविक्रयी**। प्रदर्शनार्थावशनविक्रयौ अन्यस्यापि प्रतिषिद्धस्य।

एतदुक्तं भवति। यथाऽन्यनियमत्यागान्निन्द्यते एवं प्रत्युत्थानादित्यागादपि।

"अथ कथं 'वरं विप्र' इति, यावता 'वरो विप्र' इति भवितव्यम्"।

केचिदाहुः सामान्योपक्रमस्य विशेषस्याभिधानात्, 'वरमेतत्'—किंतत्—'यत्सु-यन्त्रितो विप्र' इति। अन्ये त्वाहुराविष्टलिङ्गो वरशब्दो नपुंसकलिङ्गोऽप्यस्ति ॥११८॥

हिन्दी—केवल सावित्री मात्र का ज्ञाता शास्त्रानुसार आचरण करने वाला ब्राह्मण मान्य है, किन्तु निषिद्ध अन्नादि खाने वाला सब कुछ बेचने वाला तीनों वेदों का ज्ञाता भी ब्राह्मण मान्य नहीं है ॥११८॥

गुर्वादि के आसनादि पर बैठने का निषेध तथा उठकर प्रणाम करने का विधान—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥

भाष्य—शय्या चासनं चेति 'जातिरप्राणिनामिति' (व्या०सू० २।४।६) द्वन्द्वैक-वद्भावः। तस्मिन् **श्रेयसा** विद्याद्यधिकेन गुर्वादिना च **न समाविशेन्न** सहासीत। किं सर्वस्मिन्नेव नेत्याह **अध्याचरिते** कल्पिते शय्यात्वेनासनत्वेन च। यत्तुशिलाफलकादि-स्तत्र न दोषः। वक्ष्यति च (श्लो० २०४) "आसीत गुरुणा सार्धमिति", तस्यैवाय-मनुवादः।

अन्ये व्याचक्षत 'अध्याचरिते' अधिष्ठित इति। **न समाविशे**त्तत्रोत्तर कालमपि; न केवलं सहासनप्रतिषेधः। स हि वक्ष्यमाणेनैव सिद्धः। विधौ च सम्भवति नानु-वादो युक्तः।

तत्र केचिदाचारतो भेदं व्याचक्षते। यद्गुरोरसाधारण्येन शय्यात्वेनासनत्वेन च विज्ञातं, यत्र गुरुः शेते आस्ते च, तत्र शिष्यः प्रत्यक्षं परोक्षं च नोपविशेत्। यत्र तु कथञ्चिदेते क्रिये गुरुणा कृते तत्र गुरोः प्रत्यक्षं प्रतिषेधः। ईदृशमेवाध्याचरितमुच्यते, न स्वस्वामिसम्बन्धेन यदधिष्ठानम्।

शय्यासनस्थस्य च यदि श्रेयानागच्छति तदा तत उत्थायाभिवादनं कर्तव्यम्। यत्तु 'यानासनस्थ इति' तद्गुरूद्दिष्टमवरोहणम्। शय्यासनत्याग एव भूमिष्ठेन कर्तव्य इति तस्यार्थः। इदं त्वगुरोः श्रेयसः प्रत्युत्थानमासनस्थस्यैव सम्भवति ॥११९॥

हिन्दी—बड़ों (गुरु, माता, पिता आदि पूज्यजनों) की शय्या (खाट, गद्दी आदि)

और आसन (चटाई, कुर्सी, चौकी आदि) पर स्वयं न बैठे तथा स्वयं आसन पर बैठा हो तो (गुरुजनों) के आने पर उठकर उन्हें प्रणाम करे ॥११९॥

वृद्धों के प्रणाम करने में कारण—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ।।१२०।।

भाष्य—पूर्वस्यार्थवादः । **स्थविरे** वृद्धवय**स्यायत्या**गच्छति, **यूनस्**तरुण**स्योर्ध्वं प्राणाः** जीवितहेतवोऽन्तर्मरुत ऊर्ध्वमास्याद्बहिर्निष्क्रामन्ति । अपानवृत्तिं परित्यज्य जीवविच्छेदं चिकीर्षन्ति । प्रत्युत्थाय यदभिवादनं क्रियते तेन यथापूर्वं जीवितस्थेम्ने कल्पन्ते । **प्रतिपद्यते** प्रत्युज्जीवति ॥१२०॥

हिन्दी—युवा मनुष्यों के प्राण वृद्ध लोगों के आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है ॥१२०॥

बड़ों को प्रणाम करने का फल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते आयुर्धर्मो यशो बलम् ।।१२१।।

भाष्य—सर्वानेव प्रति पूर्वाभिभाषिता यथार्हाऽभिवादनशीलता न पुनरभिवादनशब्दोच्चारणमेव । शीलशब्देन प्रयोजनापेक्षाभाव उच्यते । **नित्यं** वृद्धानुपसेवते प्रियवचनादिना, यथाशक्त्या ह्युपकारेण चाराधयते । तस्य **चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते** । **आयुर्धर्मो**ऽमुत्र स्वर्गादिफलपादपः । **यशोबले** च प्रागुक्ते । अर्थवादोऽप्ययं फलावगमहेतुः ॥१२१॥

हिन्दी—उठकर सर्वदा वृद्धजनों को प्रणाम तथा उनकी सेवा करने वाले मनुष्य की आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं ॥१२१॥

अभिवादन के विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्तीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ।।१२२।।

भाष्य—येन शब्देन परः सम्बोध्यते, आशिषं प्रति प्रयोज्यते, कुशलप्रश्नं वा कार्यते, सो'ऽभिवादः' । अस्माद**भिवादाद**भिवादनप्रतिपादकाच्छब्दा**त्परम्** अव्यवहितपूर्वं इमं शब्दमुच्चारयेत् **असौ नामाहमस्मीति** । असाविति सर्वनाम सर्वविशेषप्रतिपादकम् । अभिमुखीकरणार्थोऽयमीदृशः शब्दप्रयोगः 'मया त्वमभिवाद्यसे आशीर्वादार्थमभिमुखीक्रियसे' । ततोऽध्येषणामवगम्य प्रत्यभिवादमाशीर्दानादि कर्तुमारभते ।

न च सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना प्रयुज्यमानेनैतदुक्तं भवतीदं नामधेयेन मयाऽभि-वाद्यसे इत्यतोऽध्येषणामनवबुध्य कस्याशिषं प्रयुङ्क्ताम्। अपि च **स्वंनाम परिकीर्तये-दिति** श्रुतम्। तत्रासौ देवदत्तनामाऽहमि त्युक्तेनाभिवादनं प्रतिपद्येत।

"असावित्येतस्य पदस्यानर्थक्यादर्थानवसायः"।

स्मृत्यन्तरतन्त्रेणापि व्यवहरन्ति सूत्रकाराः। यथा पाणिनिः (पा०सू० २।३।२) कर्मणि द्वितीयेति द्वितीयादिशब्दैः। इहाप्य साविति। 'स्वं नामातिदेशेनेति' यज्ञसूत्रेऽपि परिभाषितम्।

"यद्येवं स्वं नामेत्यनेनैव सिद्धेऽसौ नामेत्यनर्थकम्"।

नामशब्दप्रयोगार्थम्। कथम्। 'स्वं नाम कीर्तयेदिदन्नामाहमिति। अनेन स्वरूपे-णाहमस्मीति। समानार्थत्वाद्विकल्पं मन्यन्ते।

अत्र श्लोकद्वये एतावदभिवादनवाक्यस्य रूपं सिद्धम्। 'अभिवादये देवदत्तनामा-ऽहं भोः'। उत्तरेण श्लोकेन भोरित्येतद्विधास्यते।

ज्यायांसमिति वचनात्समहीनानामप्यभिवादनमस्ति, न त्वयं प्रकारः, ज्यायो विषयत्वादस्य ॥१२२॥

हिन्दी—वृद्धजनों को प्रणाम करता हुआ अभिवादक ("अभिवादये" इस शब्द) के बाद 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ("अभिवादयेऽमुकनामाऽहं भोः") ऐसा कहे ॥१२२॥

उक्त अभिवादन विधि के अनभिज्ञों तथा स्त्रियों की अभिवादन विधि—

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥

भाष्य—वित्ताद्याधिक्येनाविदुषोऽपि यथाविध्यभिवाद्यतायां प्राप्तायां तन्निवृत्त्यर्थ-मिदम्। **ये केचिद**विद्वांसो **नामधेयस्य** संस्कृतस्योच्चारितस्या**भिवादम**भिवादार्थम्। अभिवादिता एतेन वयमित्यवैयाकरण **न जानते**—संस्कृतं नावबुध्यन्ते—**तान्प्राज्ञः** नारीश्चाभिवाद्याः। एते न संस्कृतमुच्यमानं प्रतिपद्यन्ते, तत्र विध्येकदेशं स्वनामग्रहणं हित्वाऽभिवादयेऽहमित्येतावदेव **ब्रूयात् तद**पि चेन्नावबुध्यन्ते, लौकिकेनापभ्रंशेनाऽप्य-भिवाद्या इत्येवमर्थं **प्राज्ञ**ग्रहणम्। तदीयामबोधशक्तिं ज्ञात्वोहितव्योऽभिवादप्रयोगो, नोपदेश एवादर्तव्यः।

स्त्रियोऽप्येवमेव। सर्वग्रहणं गुरुपत्नीनां संस्कृतप्रयोगज्ञानामपि।

अन्ये तु य उपनामिकया प्रसिद्धो वनमालीवर्ण इति, पितृकृतं यत्तस्य नाम तत्र प्रसिद्धम्, यत्प्रसिद्धं न तन्नामेत्यतोऽसौ स्वनाम कीर्तयेत्।

अन्ये तु प्रत्यभिवादं न जानत इति वर्णन्ति। ''प्रत्यभिवादेऽशूद्रे'' (व्या०सू० ८।२।८३) इति नामान्ते प्लुतो विहितः। तं ये न विदुस्तेष्वहमित्येव वाच्यम्। व्याकरणप्रयोजनोपन्यासप्रसङ्गेन चैतन्महाभाष्यकारेण प्रदर्शितम्।

''अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्वि-वायमहं वदेत्''।

स्मृत्यन्तरसामर्थ्यादिवायमभिवादशब्दः प्रत्यभिवादे वर्तत इत्याहुः। यदि चैतदेवं न व्याख्यायते तदा 'नाभिवाद्यः स विदुषेति' सर्वेण सर्वमभिवादप्रतिषेध आश्रीय-माणे 'ऽयमहं वदेदिति' स्मृत्यन्तरविरोधः। अस्मिंस्त्वेवं व्याख्याते स प्रतिषेधः स्तुत्या-लम्बनो न विधायक एतदर्थानुसारितया नीयते ॥१२३॥

हिन्दी—जो (संस्कृतज्ञानहीन होने से) पूर्वोक्त नामोच्चारण सहित अभिवादन विधि को नहीं जानते हैं, उनको तथा सब स्त्रियों को ''मैं नमस्कार करता हूँ'' ऐसा कहकर विद्वान् मनुष्य अभिवाद करे ॥१२३॥

अभिवादन में स्वनाम के अन्त में ''भोः'' शब्द का कथन—

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

भाष्य—स्वस्य नाम्नोऽन्ते भोः शब्दं कीर्तयेत्। स्वग्रहणमभिवाद्यमानप्रति-षेधार्थम्। परिशिष्टोऽर्थवादः।

न च नामाक्षराणामेवान्तेऽपि तु ततः परेषाम् अहमस्मीति। एष हि तत्रेतिकरणं प्रयोगावधारणार्थम्। एवमेव प्रयोक्तव्यः। अपि च देवदत्तो भो अहमति दुःशिष्टे प्रयोगे विलम्बितायां प्रतिपत्तौ सम्मुखीभावश्चिरेण स्यात्तत्र कार्यविरोधः। व्यवहितसम्बन्धे कश्चिन्नैवावधानवान्स्यात्।

स्वरूपभावः स्वरूपस्य सत्ता। अथवाऽभिवाद्य**नाम्नां** 'स्वरूपे' भवति, तत्स्थाने भवत्यतस्तन्नामनिवृत्तिः। भावसाधनः कर्तृसाधनो वा भावशब्दः। स्वरूपभाव इति सप्तम्यन्तो वा पठितव्यः **भावः**। भो इत्येतस्य यद्भवनं यत्स्वरूपं त**न्नाम्नां** स्वरूपम्। यथैव नाम गृहीत्वा कस्यचित्सम्बोधनं क्रियते—'देवदत्त श्रूयमामि'त्येवं भोः शब्दो-ऽप्यभिमन्त्रितविभक्त्यन्तः सम्बोधनायैवं **ऋषिभिः** स्मर्यते ॥१२४॥

हिन्दी—अभिवादन में अपने नाम के बाद ''भोः'' शब्द का उच्चारण करे (यथा–अभिवादये शुभशर्माहं भो,.......)। ऋषियों ने 'भो' शब्द को नामों का स्वरूप कहा है ॥१२४॥

प्रत्यभिवादन विधि—

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ।।१२५।।

भाष्य—अभिवादने कृते प्रत्यभिवादः पित्राऽभिवादयिता एवं वाच्यः **आयुष्मान्भव सौम्येति**। इतिशब्दः प्रकारे। आयुष्मानेधि दीर्घायुर्भूयाश्चिरञ्जीवेत्येवमादिशब्दपरिग्रहः शिष्टाचारप्रसिद्धो भवति।

अकारश्चास्य प्रत्यभिवाद्यस्य यन्नाम तदन्ते योऽकारः स प्लुतः कर्तव्यः। प्लुत इति त्रिमात्रस्य संज्ञा। अकारग्रहणमिकारादीनामपि प्रदर्शनार्थम्। अजपेक्षमेव चान्तत्वं द्रष्टव्यम्। व्यञ्जनान्तस्यापि योऽन्त्यः स्वरस्तस्य भवति। **पूर्वाक्षर** इति प्लुतभाविनोऽकारस्य विशेषणमेतत्। **अक्षर**मत्र व्यञ्जनम्। तत्र पूर्वश्लिष्टः स एवमुच्यते। एतदुक्तं भवति—पूर्व एव नागन्तु**रकारः** प्लुतः कर्तव्यः, किं तर्हि य एव नाम्नि विद्यते स एव प्लावयितव्यः।

सर्वं चैतदेवं व्याख्यानं भगवतः पाणिनेः स्मृतिसामर्थ्येन। शब्दार्थप्रयोगे च मन्वादिभ्योऽधिकतरः प्रामाण्ये भगवान्पाणिनिः। स च 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (पा०सू० ८।२।८३) टेः प्लुतिं स्मरति। टिशब्देन योऽन्त्योच् तदादिशब्दरूपमुच्यते।

विप्रग्रहणमविवक्षितम्। क्षत्रियादीनामप्येष एव विधिः। स्मृत्यन्तरसमाचारो ह्येवमेव स्थितः। न चैषां विध्यन्तरमस्ति। अत्रोदाहरणमायुष्मान् भव देवदत्त३। व्यञ्जनान्तस्यायुष्मानेधि सोमशर्म३न्।।१२५।।

हिन्दी—(गुरु आदि श्रेष्ठ जन) अभिवादन करने पर ब्राह्मण से 'हे सौम्य! आयुष्मान् होवो' (आयुष्मान् भव सौम्य!) ऐसा कहे तथा अभिवादन कर्त्ता के नाम के अन्तिम अक्षर के पूर्व वाले अकार (आदि) स्वर को प्लुतोच्चारण करे (यथा–'आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त३।' इसी प्रकार अभिवादनकर्त्ता क्षत्रिय और वैश्यों से भी कहे) ।।१२५।।

विमर्श—नाम के अन्त में अकार स्वर होने का नियम न होने से तद्भिन्न स्वर का भी प्लुतोच्चारण[1] करना चाहिये। क्षत्रिय तथा वैश्य के नामान्तर स्वर के उक्त प्लुतोच्चारण का नियम पाक्षिक[2] है।

शूद्रों तथा स्त्रियों के नाम के विषय में उक्त प्लुतोच्चारण का सर्वथा निषेध[3] ही है। गोविन्दराजादि के मत को 'मन्वर्थमुक्तावली' में देखना चाहिये।

---

१. "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः"। (पा०सू० ८।२।८२) इत्यधिकृत्य "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पा०सू० ८।२।८२) इति प्लुतत्वविधानात्।

२. 'प्लुतो राज्यन्यविशां वा' इति कात्यायनवचनात् क्षत्रवैश्ययोः पाक्षिकत्वम्।

३. पूर्वोक्तसूत्रे 'अशूद्रे' इति प्रतिषेधात् "स्त्रियामपि निषेधः" इति कात्यायनस्मरणाच्च।

विद्वान् को मूर्खाभिवादन का निषेध—

योो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ।। १२६ ।।

"**यो न वेत्ति प्रत्यभिवादन**मित्येवं वाच्यमर**भवादस्येत्य**तिरिच्यते, न सङ्गच्छते ॥"

नैवम् । अभवादस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनमित्येवं योजना क्रियते । येन स्वनामोच्चार्याभिवादनं कृतं तस्य नामान्ते प्लुतिः कर्तव्या । यस्त्वहं भो यस्त्वहं भो इत्येवमभिवदेन्न तस्य नामोच्चारणं नापि प्लुतिरिति ।

नाभिवाद्य इत्यभिवादनशब्दोच्चारणप्रतिषेधः । यथाविहितमभिवादनं कर्तव्यम्, न पुनरहं भो इत्यादि, तस्य प्राग्दर्शितत्वात् । **यथा शूद्र** इति च दृष्टान्तेनैतदेव ज्ञायते। शूद्रस्यापि वृद्धवयसोऽभिवाद्यत्वं पूर्वाभिभाष्यत्वमिष्यते ।

विदुषेति पादपूरणार्थम् ॥१२६॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण अभिवादन के बाद प्रत्यभिवादन (शास्त्रसम्मत अभिवादन का आशीर्वादरूप प्रत्युत्तर) भी नहीं जानता हो, विद्वान् ब्राह्मण उसका अभिवादन भी न करे; क्योंकि जैसा शूद्र है, वैसा ही वह (शास्त्रसम्मत प्रत्यभिवादन विधि का अनभिज्ञ ब्राह्मण) भी है ॥१२६॥

प्रतिवर्ण से कुशल प्रश्न विधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।। १२७ ।।

भाष्य—कृताभिवादनप्रत्यभिवादनयोः सौहार्दे प्राप्ते जिज्ञासाप्रश्ने जातिभेदाश्रयःशब्दनियमोऽयमिष्यते । प्रष्टव्यानां जातिनियमोऽयं, न प्रष्टॄणाम् । नात्यन्तभिन्नार्थत्वाच्च एतेषां स्वरूपनियमोऽयं विधीयते । आरोग्यानामयशब्दौ समानार्थौ । एवं क्षेमकुशलशब्दावपि नात्यन्तभिन्नौ । कुशलशब्दो यद्यपि प्रावीण्यवचनस्तथापीह संयोगिनामर्थानां शरीराणां चानपाये वर्तते । एतेऽवश्यं प्रयोक्तव्याः । अन्येषामपि यथाप्रतिभं विशेषजिज्ञासयाऽप्रतिषेधः । तथा महाभारते कस्मिंश्चिदध्याये दर्शितम् ।

केचिदिह 'समागम्येति' लिङ्गात्र गुर्वादिविषयोऽयं प्रश्नः, किं तर्हि सवयसामेव । अभिगमनं हि गुरौ विहितं, न यदृच्छया समागमः ।

अभिगमनेऽपि समागमोऽस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ॥१२७॥

हिन्दी—मिलने वाले ब्राह्मण से कुशल, क्षत्रिय से अनामय, वैश्य से क्षेम तथा शूद्र से आरोग्य पूछे ॥१२७॥

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भो भवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ।।१२८।।

भाष्य—प्रत्यभिवादनकाले अन्यत्र च **दीक्षितो** ज्योतिष्टोमादिषु दीक्षणीयातः प्रभृत्या अवभृथा**न्नाम्ना** न वाच्यस्तस्य यन्नामधेयं तन्नोचारयितव्यम् । **यवीयान्क**नीयानचिरकालजातः । **अपि**शब्दात् ज्येष्ठस्यादीक्षितस्यापि नामग्रहणनिषेधोऽनुमीयते । तथा च गौतमः (अ० २ सू० २३) "नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत्" । 'मानः' पूजा तत्पूर्वकं नाम ग्रहीतव्यं, तत्रेश्वरो जनार्दनमिश्र इति ।

"कथं तर्हि दीक्षितेन कार्यार्थं सम्भाषः कर्तव्यः?"—**भोभवत्पूर्वकम्** । भोः शब्दं पूर्वं प्रयु**ज्यैनं** दीक्षितम**भिभाषेत**, दीक्षितयजमानादिशब्दैर्यौगिकैः । न तु भोः शब्दपूर्वकं नामग्रहणमभ्यनुज्ञायते ।

भोभवच्छब्दः पूर्वो यस्याभिभाषणस्य तदेवमुक्ते द्वयोश्चैतयोः शब्दयोरेकत्र वाक्ये प्रयोगाभावाद् व्यवस्थां व्याचक्षते । यदा तेन सह सम्भाषणं भवति तदाऽऽमन्त्रितविभक्त्यन्तेन भोःशब्देन सम्बोध्यः । यदा तु तदीयगुणाख्यानं परोक्षं करोति, 'तत्र भवता दीक्षितेनैवं कृतं, 'तत्र भवानेवं करोती'त्येवं प्रयोक्तव्यम् । भवदिति च प्रातिपदिकमात्रमुपात्तं, यथा विभक्त्या सम्बन्धमुपैति तदन्तं प्रयोक्तव्यम् ॥१२८॥

हिन्दी—यज्ञादि में दीक्षा लिये छोटे को भी नाम लेकर नहीं पुकारे, किन्तु धर्मज्ञ पुरुष 'भो' या 'भवत्' (आप) शब्द का प्रयोग कर इस (यज्ञादि में दीक्षित छोटे) से भी बातचीत करे ॥१२८॥

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बद्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ।।१२९।।

भाष्य—अर्थप्रयुक्तं सम्भाषणं स्त्रिया सहं यदा भवति तदैवं कर्तव्यम् ।

या तावत्परस्य पत्नी सा 'भवति सुभगे' अथवा 'भवति भगिनि' । भवच्छब्दोऽयं स्त्रीप्रत्ययान्तः सम्बुद्धौ कृतह्रस्वः । **भवतीत्य**त्रेतिकरणं पदार्थविपर्यासकृतस्वरूपं बोधयति; **सुभगे भगिनीत्य**त्र प्रकारे ।

ब्रूमादित्यधिकाराच्छब्दस्वरूपग्रहणं सिद्धम् ।

आचार्यतायां च मातर्यशस्विनि, कनीयसी च दुहितरायुष्मतीत्येवमादिभिः शब्दैः सम्भाष्या ।

पत्नीग्रहणात्कन्याया नैष विधिः।

असम्बद्धा च योनितः । मातृपक्षपितृपक्षाभ्यां या ज्ञातित्वं नागता मातुलदुहित्रादिः तासामन्यं विधिं वक्ष्यति (१३२ श्लोके) 'ज्ञातिसम्बन्धियोषित' इति।

"ननु च तेनैव तस्मिद्धम्, अस्योत्सर्गस्यान्यत्र चरितार्थत्वात्किमसम्बद्धा चेत्यनेन"।

नात्र पौनरुक्त्योद्भावने यतितव्यं, यद्यग्रन्थोऽयम् ॥१२९॥

हिन्दी—जो दूसरे की स्त्री हो तथा उससे अपना किसी प्रकार का यौन सम्बन्ध न हो (वह वहन आदि न हो), उससे भाषण करते समय 'आप या सुन्दरि या बहन' (भवति !, सुन्दरि !, भगिनि !) कहे ॥१२९॥

विमर्श—उक्त शब्दों से सम्बोधित कर भाषण करे। अविवाहित कन्यादि के लिये उक्त नियम नहीं है। अतः भानजी, भतीजी आदि को 'आयुष्मति या वत्से' आदि शब्दों से सम्बोधित कर भाषण करना चाहिए।

छोटे मामा आदि के अभिवादन का निषेध—

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१३०॥

भाष्य—**गुरूनिति** वचननिर्देशान्न य एवात्र गुरुरुतः स एव गृह्यते। किं तर्हि गौतमीय इव सामान्यशब्दो वित्तादिज्येष्ठवचनः। तान्**यवीयसो** भागिनेयादेः स्ववयोपेक्षया हीनवयसः। **असावहमिति** स्वं नाम निर्दिश्यते। तत्परश्चाहंशब्दोऽभ्यनुज्ञायते। एतच्च प्रत्युत्थायागतानां कर्तव्यम्। अभिवादने भोःशब्दप्रयोगो निषिध्यते। उक्तं च गौतमीये "प्रत्युत्थानमनभिवाद्याः" इति ॥१३०॥

हिन्दी—(आये हुए) छोटे मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज् और गुरूओं से उठकर 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ('असावहम्'— 'असौ' पद नामग्रहण के लिये आया है) ऐसा कहे ॥१३०॥

विमर्श—सम्बन्ध में श्रेष्ठ रहने पर भी वय में मामा अति छोटे हो सकते हैं, इसी प्रकार ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध होने के कारण गुरु भी वय में छोटे हो सकते हैं, इसलिये 'गुरु' शब्द प्रयुक्त हुआ।

मौसी आदि को गुरुपत्नी के समान पूज्यता—

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

भाष्य—एताश्च **गुरुपत्नीवत्सम्पूज्याः** प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः।

गुरुपत्नीवत् इत्यनेनैव सिद्धे **समास्ता** इति वचनमन्यदप्याज्ञादि गुरुपत्नीकार्यं कदाचिदनुजानाति। इतरथा प्रकरणात्सम्पूज्या इत्यभिवादनविषयमेव स्यात्। परिवयसश्च स्त्रियः स्मर्यन्ते। कनीयसीनामप्येष एवाभिवादनविधिः ॥१३१॥

हिन्दी—मौसी, मामी, सास और फूआ (बुआ-पिता की बहन) गुरु-स्त्री के समान (अभिवादनादि से) पूजनीय हैं; वे सभी गुरु-स्त्री जैसी हैं ॥१३१॥

भौजाई आदि की अभिवादन विधि—

भ्रातुर्भार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥१३२॥

भाष्य—भ्रातुर्ज्येष्ठस्येति द्रष्टव्यम्। **उपसङ्ग्राह्या** पादयोरभिवाद्या। **सवर्णा** समानजातीया। क्षत्रियादिस्त्रीणां तु ज्ञातिसम्बन्धिधर्मो भ्रातुर्भार्याणामपि।

विप्रोष्य ज्ञातिसम्बन्धियोषितः। 'विप्रोष्य' प्रवासात्प्रत्यागतेन। न हि श्वषित-स्योपसङ्ग्रहणसम्भवः। **ज्ञातयः** पितृपक्षाः पितृव्यादयः, **सम्बन्धिनो** मातृपक्षाः पूशु-रादयश्च, तेषां ज्येष्ठानां याः स्त्रियः। पूजारूपत्वादुपसङ्ग्रहणस्य, न कनीयस्यः जामर्हन्ति ॥१३२॥

हिन्दी—अपने बड़े भाई की स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्शकर अभिवादन करना चाहिये और जाति वालों (पिता के पक्ष वाले चाचा आदि) तथा सम्बन्धियों (माता के पक्षवाले मामा आदि तथा श्वशुर आदि) की स्त्रियों का परदेश से आकर (या प्रवास से वे आवें तब) अभिवादन करना चाहिए ॥१३२॥

मौसी आदि की पूज्यता तथा माता की पूज्यतमता—

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
तातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

भाष्य—पितुश्च या भगिनी मातुश्च या भगिनी तस्यां **स्वसरि** चात्मीयायां ज्येष्ठायां भगिन्यां मातृवद्वृत्तिरतिदिश्यते।

"ननु च मातृष्वसुः पितृष्वसुश्चायमुक्त (श्लो० १३१) एव धर्मो मातृष्वसा 'मातु-लानी' इत्यत्र। अथोच्यते। 'तत्र गुरुपत्नीवादित्युक्तम्। इह तु **मातृवद्वृत्ति**रित्युच्यत इति।' नैष भेदः। तुल्या हि गुरुपत्न्यां मातरि च वृत्तिः।"

केचिदाहुः **माता ताभ्यो गरीयसी**त्येतद्वक्तुमनूद्यते भगिन्योः पितुर्मातुश्च गरीय-स्त्वम्। यदा माताऽऽज्ञां ददाति स्वस्रादयश्च तदा मातुराज्ञा क्रियते न तासाम्। न चैतद्वाच्यमेतदपि सिद्धं "माता गौरवेणातिरिच्यत" इति। अर्थवादत्वात्तस्य।

अन्ये तु गुरुपत्न्या मातुश्च वृत्तिभेदं मन्यन्ते । गुरुपत्न्याः पूजाज्ञाद्यावश्यकम् । मातुस्तु शैशवाद्वाल्लभ्येनान्यथात्वमपि । लालनात्तत्रोभयापदेशान्तातृष्वसुः पितृष्वसुश्च व्यवस्था । शैशवे लालनं तुल्यमेव स्वस्यां स्वसरि । अतीतशैशवस्य तु गुरुपत्नीवत्-संपूज्यत्वमिति । न चानेनैवैतत्सिध्यति । असति हि वाक्यद्वये मातृवद्वृत्तिरित्येतावता प्राकरणिकी अभिवादननिर्वृतिरेव विज्ञायेत ॥१३३॥

अथ पुनः स्नेहवृत्तिरतिशिश्यते ।

हिन्दी—मौसी, फूआ तथा बड़ी बहन में माता के समान बर्ताव करे, किन्तु माता उनसे श्रेष्ठ है ॥१३३॥

विमर्श—"मातृष्वसा......" (श्लो० १३१) से ही मौसी आदि की गुरुस्त्री के तुल्य पूज्यता कहने से यहाँ पुनरुक्ति होने की आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि मौसी आदि की अपेक्षा माता की अधिक श्रेष्ठता बतलाने के लिए या माता मौसी आदि के द्वारा आज्ञा पाने पर प्रथम माता की आज्ञा का पालन करने के लिये अथवा मौसी आदि की पूज्यता (श्लो० १३१) से कहकर यहाँ स्नेहादि वृत्तिका अतिदेश करने के लिये इस श्लोक का कथन समझना चाहिये ।

नागरिक आदि के साथ मैत्रीकाल का वर्णन—

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ।।१३४।।

भाष्य—उक्तं पूर्वं "प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयतीति" । तत्र कियद्भि-र्वर्षैः स्थाविर्यं भवति । लोके हि शिरःपालित्ये स्थविरव्यवहारः तन्निरूपणार्थमिदम् ।

दशभिर्वर्षैर्जन्मनोऽधिकैरपि पौराणां संख्यमाख्यायते । तेन दशवर्षाधिको ज्येष्ठो भवति, अपि तु मित्रवद्व्यवहर्तव्यः । यथोक्तं 'भो भवन्निति वयस्य' इति । दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं ज्येष्ठः ।

आख्यानमाख्या । दशाब्दा आख्या यस्य सख्यस्य । त्रिपदो बहुव्रीहिः । आख्या-निमित्तत्वाद्वर्षाणां सामानाधिकरण्यं, निमित्तनिमित्तिनोर्भेदस्याविवक्षितत्वात् । एवावांश्च समासान्तर्भूतोऽर्थः-'यः पूर्वजो दशवर्षाणि यावत्स सखैव भवति' ।

पुरे भवाः 'पौराः' तेषाम् । पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं, ग्रामवासिनामपि एष एव न्यायः । ये केचिदेकस्मिन् ग्रामे वसन्ति तावत् यस्मिन् परस्परप्रत्यासत्तिहेतुर्विद्यते ते सखायः ।

ये तु कलां काञ्चन बिभ्रति शिल्पगीतवाद्यादिकां, तेषां पञ्चवर्षाणि योऽधिकः स सखा; तत ऊर्ध्वं ज्येष्ठः ।

त्रयोऽब्दाः पूर्वे यस्य तच्छोत्रियाणां सख्यम् ।

अल्पेनापि कालेन **स्वयोनिषु** एकवंश्येषु कतिचिदहानि योऽधिकः स ज्येष्ठः । "कियान्पुनः स्वल्पकालः ।"

न तावत् त्र्यब्दः । **त्र्यब्दपूर्वमिति** निर्दिश्याल्पेनेत्युच्यमानस्ततो न्यूनः प्रतीयते । एकवचननिर्देशाच्च न वर्षद्वयम् । नाप्येकोऽब्दः, **स्वल्पेनेति** विशेषणानुपपत्तेः । परिच्छिन्न-परिमाणो ह्यब्दवाच्योऽर्थःतस्याहोरात्रमात्रेण न्यूनस्य नाब्दत्वमस्ति । तस्मादल्पेनेति कालसामान्यमपेक्षते । संवत्सरादवरश्च तस्य विशेषः ।

अपिशब्दश्चैवशब्दस्यार्थे द्रष्टव्यः । अल्पेनैव कालेन सख्यं, बहुना तु ज्येष्ठत्वमेव ।

एतच्च समानगुणानां समानजातीयानां च द्रष्टव्यम् । एतेन लौकिकं स्थविर-लक्षणं निवर्तितमापेक्षिकमाश्रितम् ।

अन्ये तु व्याचक्षते । नानेन स्थविरत्वं लक्ष्यते, किं तर्हि सखित्वमेव । यथाश्रुत-त्यागेन स्थविरलक्षणं स्यात्, 'इयता कालेन सखा परतस्तु ज्येष्ठ इति' । अयं च श्लोकार्थः । एकत्र पुरे वसन्ति दशवर्षाणि यावत्तानि मित्राणि । कलाश्चतुःषष्टिस्तद्विदां सङ्गत्या पञ्चभिर्वर्षैः । **स्वयोनिषु** स्वल्पेनापि च कालेन सह वसतां मित्रत्वमेव । अतश्च न सर्वो वयसा तुल्यो वयस्यः; किं तर्हि एतदेव । समानवयस्त्वे चैतल्लक्षणम् ।

युक्तमेतत् । किन्तूत्तरश्लोको विरुध्यते । तत्र हि जातेः प्राधान्यं, न वयसः । यदि चात्रेयता कालेन ज्यैष्ठ्यमुक्तं भवति तदा विजातीयानामप्याशङ्क्यमानं न निवर्त्यत इति युक्तम् । पूर्वे च व्याख्यातार आद्यमेव व्याख्यानं मन्यन्ते ॥१३४॥

हिन्दी—अपने नागरिकों या ग्रामवासियों के साथ दश वर्ष, गीत, चित्र आदि के कलाविदों के साथ पाँच वर्ष, श्रोत्रियों (वैदिकों) के साथ तीन वर्ष सख्यभाव समझना चाहिये (उक्त काल तक बड़ाई-छोटाई का व्यवहार नहीं रखना चाहिये; किन्तु समान मित्रवत् व्यवहार रखना चाहिये और उक्त समय के बाद बड़े-छोटे का व्यवहार रखना चाहिये) और अपने कुलवालों के साथ थोड़े समय का अन्तर रहने पर भी बड़ाई-छोटाई का व्यवहार रखना चाहिए ॥१३४॥

सौ वर्ष के क्षत्रिय द्वारा दशवर्षीय ब्राह्मण की पूज्यता—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥१३५॥

भाष्य—दशवर्षाणि जातस्य यस्य स भवति 'दशवर्षः, परिच्छेदकः कालः, तस्य परिच्छेद्यो ब्राह्मणः श्रुतः । न च तस्योच्चनीचतादि कार्श्यादि वा कालेन परिमातुं शक्यम्, किं तर्हि तदीया काचित्क्रिया । सा च जन्मनः प्रभृति नित्यसमवायिनी प्राणधारणलक्षणैव ।

एवं **शतवर्षमिति**। **पितापुत्रौ** तौ द्रष्टव्यौ।

तयोः सम्प्रधार्यमाणयो**र्ब्राह्मणः पिता**। चिरवृद्धेनापि क्षत्रियेण स्वल्पवर्षोऽपि ब्राह्मणः प्रत्युत्थायाभिवाद्यश्चेति प्रकरणार्थः ॥१३५॥

हिन्दी—दश वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय को (परस्पर में) पिता-पुत्र समझना चाहिए, उनमें ब्राह्मण क्षत्रिय का पिता (पिता के समान पूज्य) होता है ॥१३५॥

उक्त वचन का अपवाद—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मानस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥

भाष्य—उक्तं जातेरुत्कर्षहेतुत्वम्। हीनजातीयेनोत्तमजातीयः पूज्यः। इदानीं समानजातीयानां य अभिवादनादिपूजाहेतवस्तेषां बलाबलमुच्यते। तत्र वसयः पुनरभिधानं बलाबलार्थम्।

वित्तादिसम्बन्धोऽत्र सर्वत्र पूजाहेतुः। वित्तवत्त्वं बन्धुमत्त्वं मानस्थानमिति। अयमत्रार्थः। न विशिष्टबन्धुतैव पितृव्यमातुलादिरूपता मानकारणं, बन्धुमान्यो बहुबन्धुः स पूज्यः।

वयः प्रकृष्टमिति ज्ञेयम्। ईदृश एव चार्थे प्रायेणायं प्रयुज्यते। "पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव सः" इति। यावच्च वयः पूजाहेतुः तदुक्तमेव 'दशाब्दाख्यमिति।'

कर्म श्रौतं स्मार्तं तदनुष्ठानपरता। **विद्या** साङ्गसोपकरणवेदार्थज्ञानम्।

"ननु विद्वान्यजते विद्वान्याजतीत्यविद्यस्य कर्मानुष्ठानानधिकाराद्विद्यया विना कथं कर्मणां मानहेतुता?"

नैष दोषः। प्रकर्षोऽत्राभिप्रेतः। अतिशयवती विद्या मानहेतुः। स्वल्पविद्यस्याप्यनुष्ठानोपपत्तिः। यो यावज्जानाति स तावत्यधिक्रियते। न विद्याया वाचनिकमधिकारहेतुत्वमपि तु सामर्थ्यलक्षणम्।

"अविदितकर्मस्वरूपो ह्यवैद्यस्तिर्यक्कर्मा क्वाधिक्रियताम्?"

शक्यं ह्यनेन कतिचित्स्मृतिवाच्यान्युपश्रुत्य जपतपस्यनुष्ठातुम्। अग्निहोत्रादिकर्मणां तु वेदवाक्यावबोध उपकरोति। तत्रापि यो यावज्जानाति स तावत्यधिक्रियते। अग्निहोत्रवाक्यानां योऽर्थं वेत्ति स तत्राधिक्रियते। क्रत्वन्तरज्ञानं न तत्रोपकारकम्।

अथोच्यते—" 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः' इति कृत्स्नवेदविषयोऽयं विधिरवबोधपर्यन्तः। तत्र कृत्स्नस्य वेदस्यावबोधे कर्तव्ये कुतोऽयं प्रतिभागावबोधसम्भवः।

येनोच्यते-'याऽग्निहोत्रवाच्यस्यार्थं वेत्ति वाक्यान्तरार्थमविद्वानप्यधिक्रियत' इति ॥''

अत्रोच्यते। एकशाखाध्ययनं तावदवश्यं कर्तव्यम्। तत्र येनैकशाखाऽधीता तस्याश्चार्थोऽवधृतः सोऽनवधृतशाखान्तरार्थोऽधिक्रियते।

''ननु च सर्वत्रैक एव शास्त्रार्थः। यदि नाम पदवर्णानुपूर्वीभेदः, शास्त्ररूपं त्वभिन्नम्। पदार्थन्यायव्युत्पत्त्या वाऽवबोधः। न च प्रतिशाखं पदार्था भिद्यन्ते। नाऽपि न्यायः। तत्र येनैव हेतुनैकस्याः शाखाया अर्थोऽवधार्यते शाखान्तरेऽप्यसावस्ति, न व्युत्पत्त्यन्तरमपेक्ष्यते। तत्र यद्येका शाखाऽवगता, सर्वा एवावगता भवन्ति ॥''

सत्यम्। यान्येकस्यामग्निहोत्रादीन्युपदिष्टानि तेषां शाखान्तरेऽप्युपदिश्यमानानां मा भूद् भेदः; किन्तु कस्याञ्चिच्छाखायां कानिचित्कर्माणि नैवोपदिश्यन्ते। यथा बाह्वृचे आश्वलायनके दर्शपूर्णमासौ श्येनादिराभिचारिकः, अन्ये च सोमयागवाजपेयबृहस्पतिसवादयः। तत्र यत्तच्छाखाधीनमग्निहोत्रज्योतिष्टोमादि तत्राधिक्रियते। शाखान्तरं त्वनधीतमश्रुतं कथं तद्विहितानि कर्माण्यतच्छाखाध्यायी वेत्तु। न चैते सोमयागा नित्या, येनाननुष्ठानप्रत्यवायभयात्परिज्ञानाय शाखान्तरमन्विष्येत। आवानं तु यद्यपि तत्र न पठितं तत्र'प्युद्धराहवनीयमि'त्याहवनीयस्य विधानम्। लोकात्तदर्थमनवबुध्यमानः कोऽयमाहवनीयो यस्याधानमिति शाखान्तरमन्विष्यति। ततः शाखान्तरे पठ्यमानमाधीनप्रकरणं सर्वं पर्यालोचयति। एवमामावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वेति श्रुत्वा कीदृशमनयोः कर्मणो रूपमिति तथैव शाखान्तरं गवेषयते। एवमन्यदपि यत्काम्यं नित्यं चानुष्ठेयं तस्य यत्किञ्चिदङ्गजातं तत्र नाम्नातमाध्वर्यवमौद्गात्रं वा तत्परिज्ञाय तथैव शाखान्तराधिगमः। यत्तु शाखान्तराधीतमनुष्ठेय तस्य न वेदनसम्भवः। अनेकशाखाध्यायिनस्तु तदर्थपरस्य सर्वमेतत्प्रत्यक्षमिति। अस्तीदृशीं विद्यामन्तरेणापि कर्मानुष्ठानम्। अथवा ईषद्व्युत्पत्त्याऽपि सम्भवत्यनुष्ठानम्।

यस्य तु निर्मला विद्या, व्याख्येयानि विद्यास्थानानि, तस्य विद्या मान्यतास्थानम्। 'गरीय' इति द्वयोर्द्वयोः सम्प्रधारणेऽयमियसुन्प्रत्ययः। चतुर्दशविद्यास्थानज्ञः पङ्ग्वन्धनिर्धनादिरनधिकृतोऽपि विद्ययैव पूज्यते।

तेषां विरोधे बलाबलमाह—**गरीयोयद्यदुत्तरम्**। एकस्य वित्तमन्यस्य बहुबन्धुता, तत्र वित्तवतो बन्धुमान्मान्यः। यस्माच्च यत्पर तत्तस्माद् गुरुतरम्। तथा बन्धोर्वयः ततः पूर्वस्मादपि वित्तात्तद्गुरु सिद्धम्। अत उपपन्नम् ''श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयस्तन्मूलत्वाद्धर्मस्येति'' गौतमवचनम् (अ० ६ सू० १९।२०)।

''गरीय इति कथं प्रकर्षप्रत्ययो यावता नैव पूर्वस्य गुरुत्वम्। यदि हि द्वे गुरुणी तत्रोत्तरस्य गरीयस्त्वमस्ति। तर्हि पूर्वापेक्षया वित्तस्य नास्तीति'' चेत्।

समुदाये सामान्येन गुरुत्वेऽपेक्षिते अपरस्य प्रकर्षविवक्षायां युज्यत ईयसुन्।

मानः पूजा तस्य **स्थानं** कारणम्।

'मान्यस्थानानीति' वा पाठेऽन्तर्भूतभावार्थो द्रष्टव्यः, 'मान्यत्वस्थानानि' मान्यत्वकारणानि ॥१३६॥

एकैकगुणसम्बन्धे परस्य ज्यायस्त्वमुक्तम्। यत्रेदानीं द्वौ पूर्वाविकस्य भवतोऽपरस्यैक पर इति तत्र कथमित्यत आह।

हिन्दी—तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में (श्लो० १३६) से पूर्वोक्त पाँच मान्य स्थानों में से आगे वाले की अपेक्षा पहले वाला यदि अधिक हो तो आने वाले द्वारा पहले वाला ही मान्य है तथा नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का मान्य है ॥१३६॥

विमर्श—धन और बन्धुरूप प्रथम दो गुणों से युक्त पुरुष वय में अधिक पुरुष का मान्य होता है; धन, बन्धु तथा अवस्था इन तीन गुणों से युक्त पुरुष श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म से युक्त पुरुष का मान्य होता है; इसी प्रकार धन, बन्धु, आयु और श्रुतिस्मृति प्रतिपादित कर्म से युक्त पुरुष विद्यारूप पाँचवें गुण से युक्त पुरुष का मान्य है अर्थात् विद्या आदि गुण से युक्त पुरुषों में से अधिक गुणवाला पुरुष थोड़े गुणवाले पुरुष का मान्य है।

धन, बन्धु आदि की उत्तरोत्तर मान्यता—

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥१३७॥

भाष्य—**पञ्चाना**मेतेषां मानस्थानानां यत्र **भूयांसि** बहून्यसर्वाणि स मान्यः। तत्र परत्वन्नातीवादर्तव्यम्। एकस्य वित्तबन्धु द्वे अन्यो वृद्धवयाः तत्र पूर्वे बाधके। सत्यपि बहुत्वे यदि न श्रेष्ठानि भवन्ति, एकं चैकस्यात्युत्कृष्टं, तदा साम्यम्। न पुनः परबाधकत्वम्। गरीय एकापेक्षया वरिष्ठत्वात्। यदि तु भूयांसि गुणवन्त्युत्कृष्टानि तदा साम्येऽपि संख्या परेषां, पूर्वाणि परैश्च समसङ्ख्यानि, तदा न पूर्वपरतया बाध्यबाधकभावः, किं तर्हि सामान्यमेव।

"ननु च यत्र गुणवन्ति स्युः सोऽत्र मानार्ह इत्यभिधानेन समसङ्ख्यस्यापि पूर्वस्य बाधकत्वमेव युक्तम्"।

नैवम्। तुल्यत्वे गुणानामेतस्य चरितार्थत्वात्। यथैकोऽपि विद्यावानपरोऽपि, तयोर्यस्य गुणवती प्रकृष्टा विद्या स प्रशस्यते। एवं सर्वत्र।

त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येषु। यद्येते गुणा भूयांसः प्रकृष्टाश्च क्षत्रियस्यापि

भवन्ति तदा हीनगुणेन ब्राह्मणेन जात्युत्कृष्टेनापि क्षत्रियः पूज्यः। एवं क्षत्रियेण वैश्यः। एवं त्रिभिरपि द्विजातिभिः **शुद्रोऽपि दशमी**मितः। 'दशमी' अन्त्यावस्थोच्यते। अत्यन्तवार्धकोपलक्षणमेतत् एवं च वित्तबन्धू शूद्रस्या माने न हेतू त्रैवर्णिकान्प्रति, दशमी ग्रहणात्। कर्मविद्ये तु नैव तस्य सम्भवतोऽनधिकारात्।

भूयांसीत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं न बहुत्वसङ्ख्यैव। तेन द्विविषयताऽपि सिद्धा भवति। न ह्ययं सङ्ख्यावाच्येव बहुशब्द इत्यत्र प्रमाणमस्ति। भूयःशब्दश्चायं न बहुशब्द आधिक्ये च तत्र तत्र दृष्टप्रयोगः। ''भूयाश्चात्र परिहारः'' ''भूयसाऽभ्युदयेन योक्ष्य'' इति। प्रत्ययार्थबहुत्वमपि न विवक्षितम्। ''जात्याख्यायाम्'' ह्येतद्बहुवचनम्। विवक्षायां हि एकस्य गुणतो मानहेतुत्वं न स्यात्। ततश्च पूर्वाऽवगतिर्बाध्येत। 'शूद्रोऽपि दशमी'-मित्यत्र च केवलस्यैव वयसः प्रकर्षे मानहेतुत्वं ब्रुवन्नविवक्षां दर्शयति। समाचारश्चैवमेव ॥१३७॥

हिन्दी—न्यायोपार्जित धन, चाचा आदि बन्धु, अवस्था (उम्र), श्रुति और स्मृति में कथित कर्म तथा विद्या, ये पाँच मान्यता के स्थान (पद) हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर (पूर्व की अपेक्षा पर अर्थात् धन से बन्धु, बन्धु से वय, वय से कर्म और कर्म से विद्या) श्रेष्ठ है ॥१३७॥

रथी आदि के लिये मार्ग देना—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च॥१३८॥

भाष्य—अयमन्यः पूजाप्रकारः प्रासङ्गिक उच्यते।

चक्री रथिको गन्त्रयादियानाधिरूढः। तस्य **पन्थादेयः**। येन भूमिभागेन ग्रामादि देशान्तरं गम्यते स पद्धतिः 'पन्था' उच्यते। तत्र यदि पृष्ठतः सम्मुखतो वा रथिक आगच्छेत्तदा तद्गमनोपरोधिनः पथाग्रदेशात्पदातिरक्रामेत्।

दशमीस्थोऽत्यन्तपरिणतवयाः।

रोगी व्याधिनाऽत्यन्तपीडितः।

भारी गृहीतव्रीह्यादिगुरुद्रव्यः। सोऽपि यथोपसर्तुमशक्तोऽनुग्राह्यः।

स्त्रियाः। अनपेक्ष्य जातिगुणभर्तृसम्बन्धान्स्त्रीत्वमात्रेणैव।

राजा च विषयेश्वरोऽत्राभिप्रेतः, न क्षत्रिय एव। तथा चोत्तरत्र पार्थिवग्रहणन निगमने, पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः।

''ननु चोपक्रमे राजशब्दश्रवणाद्वाक्यान्तरगतः पार्थिवशब्दस्तत्पर एव युक्तः।

राजशब्दो हि क्षत्रियजातिवचनो विज्ञातः । स तावदनुपजातविरोधित्वादुपक्रमगतो मुख्यार्थो ग्राह्यः । बलाबलादिवाक्ये तु तत्सापेक्षक्षत्रियजातिविहितेन धर्मेण पृथिवी-पालनाख्येन पार्थिवशब्दस्य प्रयोगसम्भवेन जात्यन्तरविषयत्वमयुक्तम्''।

अत्रोच्यते । मान्यताऽत्रश्रुता । स्नातको नृपमानभागीति । तत्र क्षत्रियजातीय-मात्रान्मान्यत्वं स्नातकस्य सिद्धमेव, 'ब्राह्मणं दशवर्षमिति' । तत्र हि 'भूमिप' शब्दः क्षत्रियजातिमात्रोपलक्षणार्थ इत्युक्तम् । उपलक्षणत्वाच्च राजजातेः क्षत्रियस्यापि प्रजेश्वर-स्यायं धर्मो विज्ञायते ।

वरो विवाहाय प्रवृत्तः । एतेषां **पन्था देयः** । त्यागमात्रं च ददात्यर्थः । त्यागश्च पथोऽपसरणम् । अतएव चतुर्थी न कृता ॥१३८॥

हिन्दी—रथ (गाड़ी, एक्का, ताङ्गा, बग्गी आदि) पर बैठे हुए, नव्वे वर्ष से अधिक आयुवाले, रोगी, बोझ लिए हुए, स्त्री, स्नातक, राजा, वर (दुलहा) को मार्ग देना चाहिये ॥१३८॥

सबको स्नातक के लिये मार्ग देना—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ।।१३९।।

तेषां तु समवेतानामेकत्र सन्निपतितानां **मान्यौ स्नातकपार्थिवौ** प्रकृतेन पथो दानेन । **नृपमानभाक्** नृपस्य सकाशान्मानं भजते लभते ।

षष्ठी निर्धारणे (व्या० सू० २।३।४१) ।

चक्र्यादीनां त्वन्योन्यं विकल्पः । स च शक्त्यपेक्षः ॥१३९॥

हिन्दी—पूर्वोक्त (श्लो० १२८ से) रथी आदि पुरुषों के स्नातक तथा राजा मान्य हैं (रथी आदि को स्नातक तथा राजा के लिए मार्ग देना चाहिये) और स्नातक तथा राजा में से राजा को स्नातक मान्य है (राजा को स्नातक के लिए मार्ग देना चाहिए) ॥१३९॥

आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।१४०।।

आचार्यादिशब्दानामेवार्थनिरूपणार्थमिदमारभ्यते । सोपचारो हि लोके एषां प्रयोगः । न च शब्दार्थसम्बन्धस्य स्मर्तृभिराचार्य्यपाणिनिप्रभृतिभिरेतन्निरूपितम् । इयं चाचार्य-पदार्थस्मृतिर्व्यवहारमूला, न वेदमूला, पाणिन्यादिस्मृतिवत् । न ह्यत्र किञ्चित् कर्तव्य-मुपदिश्यते । अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सिद्धरूपोऽयमर्थः, न साध्यरूपः ।

उपनीयोपनयनं कृत्वा **यो वदेम**ध्यापयति ग्राहयति स आचार्यः । ग्रहणं चात्राध्येत्रन्तरनिरपेक्षं वाक्यानुपूर्वीस्मरणम् ।

कल्पशब्दः सर्वाङ्गप्रदर्शनार्थः ।

रहस्यमुपनिषदः । यद्यपि तेऽपि वेदशब्देनैव गृहीतास्तथापि "द्वितीयस्तेषां व्यपदेशोऽस्ति, वेदान्ता इत्यन्तशब्दं समीपवचनं मान्यमानो नैते वेदा इति मन्येत" तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं रहस्यग्रहणम् ।

अन्ये तु 'रहस्यं' वेदार्थं वर्णयन्ति । तेन न स्वरूपग्रहणमात्रादाचार्यत्वनिष्पत्तिः, अपि तु तद्व्याख्यानसहितात् । तथा चाभिधानकोशेऽभिहितम् "विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते" इति । मन्त्रग्रहणं वेदवाक्योपलक्षणार्थम् ।

अस्मिंश्च व्याख्यानेऽर्थावबोधोऽप्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तः स्यान्न केवलं सम्पाठमात्रम् । ततश्च सर्वस्य सर्वः स्वाध्यायविधेरनुष्ठापकः स्यात् । "अस्तु परप्रयुक्तेऽप्यनुष्ठाने स्वाध्यायविधेर्ब्रह्मचारिणः स्वार्थसिद्धिः"। यदा तर्हि काम्यत्वादाचार्यकरणविधेराचार्यो न प्रवर्तते, तदा स्वाध्यायविध्यर्थानुष्ठाने न प्राप्नोति । ततश्च न नित्यः स्वाध्यायविधिः स्यात् । न च रहस्यशब्दो वेदार्थवचनतया प्रसिद्धः । तस्मात्पूर्वमेव रहस्यग्रहणस्य प्रयोजनम् । प्राधान्याद्वा पृथगुपादानम् । यत्तु 'विवृणोति च मन्त्रार्थान्' इत्यस्मृतिरेवैषा । मन्त्रशब्दस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात् । तस्मात्पाठाभिप्रायमस्य विधेः प्रयोजकत्वम् । अतो वेदस्वरूपग्रहणे माणवकस्य जाते आचार्यकरणविधिनिर्वृत्तिः ॥१४०॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों के सहित वेदशाखा) को पढ़ावे, उसे "आचार्य" कहते हैं ॥१४०॥

उपाध्याय का लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ।।१४१।।

भाष्य—वैदस्यैकदेशो मन्त्रः ब्राह्मणं वा । वेदवर्जितानि वा केवलान्यङ्गान्येव **योऽध्यापयतिः** तथा सर्वमपि वेदम् । **वृत्त्यर्थं** जीविकार्थम्, नाचार्यकरणविधिवशेन, **स उपाध्यायो** नाचार्यः ।

अन्येनोपनीतं यः कृत्स्नमपि वेदमध्यापयति नासावाचार्यः । उपनीयापि यः कृत्स्नं वेदं नाध्यापयति सोऽपि नाचार्यः ।

"यद्येवमेकदेशग्रहणमुपाध्यायलक्षणे कृतमाचार्यलक्षणे उपनयनग्रहणम्, यस्तर्ह्यनुपनेता कृत्स्नवेदाध्यापकश्च, तस्य किं लक्षणम् । नासावाचार्यो नाप्युपाध्यायः । न चापि नामान्तरं तस्य श्रुतम्"।

उच्यते । 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्ये'त्यनेन गुरुरसावाचार्यान्न्यून उपाध्यायादप्यधिकः । **अपि पुनः** शब्दौ पादपूरणार्थौ ॥१४१॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण वेद के एकदेश (मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दःशास्त्र) को जीविका के लिए पढ़ाता है; उसे "उपाध्याय" कहते हैं ॥१४१॥

गुरु (पिता) का लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।।१४२।।

भाष्य—निषेकग्रहणात्पितुरयं गुरुत्वोपदेशः ।

निषेको रेतःसेकः स आदिर्येषां कर्मणाम् । आदिग्रहणात्सर्वे संस्कारा गृह्यन्ते । तानि **यः करोत्यन्नेन च यः सम्भावयति** संवर्धयति ।

चैवैनमिति वा पाठः । अर्थस्तु स एव, अन्नेनैव सम्भावनोपपत्तेः । अर्थान्तरनिर्देशः 'एनं' कुमारम् । "ननु चान्वादेशः । न चेह कुमारस्य पूर्वमुपदेशः" ।

नैवम् । कस्यान्यस्य **निषेकादीनि** क्रियन्ते । सामर्थ्यादपि निर्देशो न निर्देशत एव । तानि **यः करोति** । एवमाभ्यां गुणभ्यां हीनः केवलजनकत्वे पितैव भवति न गुरुः । न चैवंमन्तव्यमसति गुरुत्वे नासौ मान्यः । सर्वप्रथममसावेव मान्यः । तथा च भगवान्व्यासः—

"प्रभुः शरीरप्रभवः प्रियकृत्प्राणदो गुरुः ।
हितानामुपदेष्टा च प्रत्यक्षं दैवतं पिता" इति ।

विप्रग्रहणं प्रदर्शनार्थम् ॥१४२॥

हिन्दी—जो शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारों को करता है और अन्नादि के द्वारा बढ़ाता (पालन-पोषण करता) है; उस ब्राह्मण को "गुरु" (यहाँ पर "गुरु" शब्द से पिता का ग्रहण है) कहते हैं ॥१४२॥

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ।।१४३।।

आहवनीयादीनामग्नोनामुत्पादक**कर्माग्न्याधेय**मुच्यते, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति विहितम् ।

पाकयज्ञा दर्शपूर्णमासादयः ।

अग्निष्टोमादयो मखाः सोमयागः । **मख**शब्दः कर्तुपर्यायः ।

एतानि कर्माणि **यस्य यः करोति स तस्यर्त्विगित्युच्यते** । यस्य तस्येतिशब्दौ सम्बन्धिता दर्शयतः । यस्यैवैतानि कर्माणि करोति तस्यैवासावृत्विगुच्यते नान्यस्य ।

सर्व एत आचार्यादयः सम्बन्धिशब्दाः ।

वृतः प्राथितः शास्त्रीयेण विधिना कृतवरणः ।

मान्यताप्रसङ्गादृत्विक्संज्ञोपदेशोऽत्र न हि ब्रह्मचारिधर्मेषु ऋत्विजामवसरः । आचार्यादिवत्पूज्य इत्यस्मिन्नवधौ तल्लक्षणमुच्यते ।।१४३।।

हिन्दी—जो (ब्राह्मण) वृत्त होकर (वरण—सङ्कल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्नि को उत्पन्न करने का कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है, उसे ''ऋत्विक्'' कहते हैं ।।१४३।।

अध्यापक की प्रशंसा—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावृभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ।।१४४।।

भाष्य—य उभौ श्रवणौ ब्रह्मणा वेदाध्यापने**नावृणोति स माता स पिता ज्ञेयः** ।

नेदमध्यापकस्य मातापितृशब्दवाच्यताविधानम् । आचार्यादिशब्दवत्प्रसिद्धार्थौ हि पितृमातृशब्दौ । जनकः 'पिता', जननी 'माता' । उपचारेणाध्यापकस्तुत्यर्थं प्रयुज्येते । यथा गौर्वाहीक इति । लोके ह्यत्यन्तोपकारकौ मातापितरौ प्रथितौ, तौ हितं जनयतो-भक्तादिना च पुष्णीतः, स्वशरीरानपेक्षमपि पुत्रहिते प्रवर्तेते । अतो महोपकारकत्वात्ता-भ्यामुपाध्यायः स्तूयते । यो विद्यायामुपकरोति स सर्वोपकारकेभ्यः श्रेयान् ।

अवितथं क्रियाविशेषणमेतत् । अवितथेन सत्येन ब्रह्मणाऽनक्षरविस्वरवर्णितेन तत्र दुष्येत ।

अपकारो द्रोहस्तदुपरि अवज्ञानं च । **कदाचन** निष्पन्नग्रन्थग्रहणे तदुत्तरकालमपि **न द्रुह्येत्** ।

तथा च निरुक्तकारः ''अध्यापिता ये गुरून्नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणावा''—'नाद्रियन्ते' अवज्ञां कुर्वन्ति—''यथैव ते शिष्या न गुरोर्भोजनीयाः''—न भोगाय कल्पन्ते—''तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्''।

पाठान्तरमातृणत्तीति । अर्थात् कर्णौ भिनत्ति विध्यतीत्युपमयाऽध्यापनमेवोच्यते ''अविद्धकर्ण किल स स्मृतो नरः श्रुतं न यस्य श्रुतिगोचरं गतम्'' इति ।

सर्वाध्यापकानामाचार्योपाध्यायगुरूणामयं कृतविद्यस्यापि द्रोहप्रतिषेधः ।।१४४।।

हिन्दी—जो दोनों कानों को अवितथ (ठीक-ठीक अर्थात् स्वरादि दोषहीन) वेद से परिपूर्ण करता (वेद सुनाता पढ़ाता) है, उसे माता-पिता के समान समझना चाहिये और उससे कभी भी वैर नहीं करना चाहिए ॥१४४॥

उपाध्याय, आचार्य तथा पिता से माता की श्रेष्ठता—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।१४५।।

भाष्य—स्तुत्यक्रमेण प्रकृष्टपूर्वविधानम् । उपाध्यायाच्छ्रेष्ठ आचार्यस्तस्मात्पिता ततोऽपि मातेति । दशादिसङ्ख्यानिर्देशः स्तुतिमात्रम् । पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्परस्य परस्यातिशयो विवक्षितः । अत एव सहस्रं पितॄनिति वचनम् ।

उपाध्यायान्दशातिरिच्यते । दशभ्य उपाध्यायेभ्योऽधिकः ।

"कथं पुनरत्र द्वितीया" ।

अतिरयं कर्मप्रवचनीयः । उपाध्यायानतिक्रम्यातिरिच्यते **गौरवेण** सातिशयेन युज्यते । अथवाऽऽधिक्यमतिरेकः तद्धेतुकोऽभिभवे धातुर्वर्तते । गौरवाधिक्येनोपाध्यायानभिभवति । अतिरिच्यत इति कर्मकर्तरि द्वितीया चाविरुद्धा 'दुहिपच्यार्बहुलं सकर्मकयोः' (वार्तिक पा०सू० ३।१।८७) इति बहुलग्रहणात् ।

"ननु चानन्तरमेव वक्ष्यति 'गरीयान् ब्रह्मदः पिता' इति, इह चाचार्यात्पितुराधिक्यमुच्यते तदितरेतरव्याहतम्"।

नैष दोषः । इहाचार्यो नैरुक्तदर्शने नाध्यापकः, संस्कारमात्रेणाचारोपदेशमात्रेण चाभिप्रेतः । 'आचार्य' आचारं ग्राहयतीति । न चैष नियमः स्वशास्त्रसिद्धाभिरेव संज्ञाभिर्व्यवहारः । गुरुशब्दो ह्यत्र पितरि परिभाषितः, आचार्ये च तत्र तत्र प्रयुज्यते । तेन स्वल्पोपकारादुपनयनमात्रकरादाचारग्राहकादध्यापनरहितादिदं पितुर्ज्यायस्त्वम् ।

अस्मिश्चक्रमे विवक्षिते समवाय एतेषां माता प्रथमं वन्द्या ततः पिता तत आचार्यस्तत उपाध्यायः ॥१४५॥

"मुख्याचार्यसन्निधौ पितरि च संस्कर्तरि सन्निहिते कः क्रमः ।" अत आह—

हिन्दी—दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है ॥१४५॥

विमर्श—यहाँ यज्ञोपवीत संस्कार के साथ सावित्री मात्र का उपदेश देने वाला "आचार्य" इष्ट है । अतएव अग्रिम (१४६) श्लोक से इस श्लोक का विरोध नहीं होता है ।

पिता से आचार्य की श्रेष्ठता—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।।१४६।।

भाष्य—उत्पादको जनक: **ब्रह्मदाता**ऽध्यापक: तौ द्वावपि पितरौ । तयो: पित्रो-**र्गरीयान्पिता यो ब्रह्मदः** । अत: पित्राचार्यसमवाये आचार्य: प्रथममभिवाद्य: ।

अत्र हेतुरूपमर्थवादमाह **ब्रह्मजन्म हि**, ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म **ब्रह्मजन्म** । शाकपार्थिवादित्वात्समास: (वार्तिकं पा०सू० २।१।६०) । अस्मिन्समासे उपनयनं **ब्रह्मजन्म** । अथवा ब्रह्मग्रहणमेव जन्म । **तद्विप्रस्य शाश्वतं** नित्यं **प्रेत्यो**पकारक**मिह** चोपकारकम् ।।१४६।।

हिन्दी—पैदा करने वाले पिता और ब्रह्मज्ञानोपदेशक (आचार्य) इन दोनों में से ब्रह्मज्ञान देने वाला (आचार्य) श्रेष्ठ है; क्योंकि (ब्रह्मज्ञानरूपी फलवाला होने से) ब्रह्मजन्म (यज्ञोपवीत-संस्कार) ही ब्राह्मण के लिए इस लोक तथा परलोक में कल्याणप्रद है ।।१४६।।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ।।१४७।।

भाष्य—श्लोकद्वयमर्थवाद: ।

मातापितरौ **यदेनं** दारकमु**त्पादयतो** जनयतो **मिथो** रहसि परस्परं **तत्कामा**द्धेतोर्मन्मथपरवशौ ।

सम्भूतिं तस्य तां विद्यात् तस्य दारकस्य सम्भवोत्पत्ति**र्यद्योनौ** मातृकुक्षाव**भिजायते**ऽङ्गप्रत्यप्रत्यङ्गानि लभते । सम्भवश्च येषां भावानां ते तथैव विनश्यन्ति । अत: किं तेन सम्भवेन यस्यानन्तरभावी विनाश: ।।१४७।।

हिन्दी—काम के वशीभूत होकर माता-पिता जिस (बालक को) उत्पन्न करते हैं, उसकी उत्पत्ति को पश्वादि-साधारण समझना चाहिए; क्योंकि वह माता की कुक्षि में अङ्गप्रत्यङ्ग को प्राप्त करता है ।।१४७।।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ।।१४८।।

भाष्य—आचार्यात्तु यत्तस्य जन्म तदविनाशि । गृहीते वेदेऽवगते च तदर्थे कर्मानुष्ठानात्स्वर्गापवर्गप्राप्तिरित्यस्य सर्वस्याचार्यमूलत्वात्स श्रेष्ठ: ।

यां जातिमुत्पादयति यं संस्कारमुपनयनाख्यं द्वितीयं जन्मेति जन्मसंस्तुतिं निर्व-

र्तयति, **सावित्र्या** तदनुवचनेन **सा** जातिः **सत्या साऽजरामरा**। यद्यप्येतेऽभिन्नार्थाः शब्दास्तथापीहोपनयनाख्यस्य जन्मनो मातृजन्मनः सकाशाद्गुणातिशयविवक्षायां प्रयुक्ताः। न हि जरामृत्यु प्राणिनामिव जातेः सम्भवतः। अविनाशित्वं त्वेकेनैव शब्देन शक्यते प्रतिपादयितुम्। न च तत्प्रतिपाद्यते। वेदपारग आचार्यो यां जातिं विधिवत्सावित्र्या उपनयनाङ्गकलापेन–सावित्रीशब्दस्य तल्लक्षणत्वात्–उत्पादयति सा श्रेयसीति, पदयोजना।

जातिर्जन्म ॥१४८॥

हिन्दी—(परन्तु) वेद का पारङ्गत आचार्य उस बालक की जिस जाति को विधिपूर्वक उत्पन्न करता है; वह जाति सत्य, अजर तथा अमर है। (क्योंकि सविधि यज्ञोपवीत संस्कार होने पर वेदाध्ययन द्वारा उसके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने से निष्काम होकर वह मोक्ष अधिकारी होता है) ॥१४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥१४९॥

भाष्य—य उपाध्यायो **यस्य** माणवक**स्योपकरोति श्रुतस्य** श्रुतेनेत्यर्थः। **अल्पं वा बहु वा** क्रियाविशेषणमेतत्। **तमपि** स्वल्पश्रुतोपकारिणं **गुरुं विद्यात्**।

एवं तु योजना ज्यायसी–**यस्य श्रुतस्य**–समानाधिकरणे–वेदविषयस्य वेदाङ्गविषयस्य वा शास्त्रान्तरविषयस्य तर्ककलाशास्त्रस्य–**यदल्पं बहु वा**–**तेनो**पकरोपीत्यध्याहारः।

श्रुतं तदुपक्रिया चासौ श्रुतोपक्रिया तया, उपकारक्रियया तद्धेतुत्वाच्छ्रु**तमुपक्रियेति** समानाधिकरण्यम्।

गुरुवृत्तिस्तत्र कर्तव्या तद्व्यपदेशो वा तत्राचार्यादिशब्दवत्स्मर्यते ॥१४९॥

हिन्दी—जो थोड़ा या बहुत वेदोपदेश के द्वारा उपकार करता है, उसे भी उस वेदोपदेशक्रिया के कारण 'गुरु' जानना चाहिए ॥१४९॥

बालक भी आचार्य पिता के समान—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

भाष्य—ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म **ब्राह्मम्** उपनयनम्, तस्य **कर्त्ता**। **स्वधर्मस्य शासिता** उपदेष्टा, वेदार्थव्याख्यानेन। स तादृशो **बालोऽपि** ब्राह्मणो **वृद्धस्य** ज्येष्ठस्य **पिता भवति**। पितृतुल्या तत्र वृत्तिः कर्त्तव्या ज्येष्ठेनापि।

"कथं पुनः कनीयाञ्ज्येष्ठमुपनयते। अष्टमे ह्युपनयनम्। यावच्च नाधीतश्रुतवेदस्तावन्नाचार्यकरणविधावधिक्रियते" ॥

एवं तर्हि नोपनयनमत्र 'ब्राह्मं जन्म', किं तर्हि स्वाध्यायग्रहणमेव। तस्य **कर्ता**ऽध्यापयिता। स्वधर्मस्य वेदार्थस्य शासिता व्याख्याता पिता भवति।

धर्मतः पितृधर्मास्तत्र कर्तव्याः। धर्मत इति धर्मनिमित्तं तत्र पितृत्वम्। न च ते धर्मा अध्यापकव्याख्यात्रोः पितृसम्बन्धिनः सिद्धाः सन्ति, अतो विधीयन्ते-ब्राह्मणवत्-क्षत्रिये वर्तितव्यमिति यथा ॥१५०॥

हिन्दी—वेद श्रवण के योग्य जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) करने वाला और अपने धर्म का उपदेश देने वाला बालक भी ब्राह्मण धर्मानुसार वृद्ध का पिता होता है ॥१५०॥

उक्त विषय में आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितृन शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥

भाष्य—पूर्वस्य पितृवद्वृत्तिविधेरर्थवादोऽयं परकृतिनामा। **अङ्गिरसः** पुत्रः **कवि**र्नाम **शिशुर्बालः** पितृतुल्यान्पितृव्यमातुलतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापयाञ्चकाराध्यापितवान्। स चाह्वाननिमित्तेषु **तान्पुत्रका** आगच्छत इत्याजुहाव। **ज्ञानेन परिगृह्य** तान्-स्वीकृत्य शिष्यान्कृत्वा ॥१५१॥

हिन्दी—अङ्गिरस के विद्वान् पुत्र ने अपने चाचा तथा (अवस्था में) बड़े भाइयों को पढ़ाया; इसलिए उनको 'पुत्र' शब्द से सम्बोधित किया ॥१५१॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

भाष्य—**ते** पित्रादिस्थानीया पुत्रका इत्याह्वाने**नागतमन्यव** उत्पन्नक्रोधा**स्तमर्थं** पुत्रशब्दाह्वानं **देवा**न्पृष्टवन्तः। 'अनेन बालेन वयमेवमाहूयामहे। किमेतद्युक्तम्।'

ते **देवाः** पृष्टाः सन्तः सर्वे समवायं कृतवन्तः '**समेत्य**' ऐकमत्यं स्थापयि**त्वैता**न्कवेः पितृनूचुरुक्तवन्तो '**न्याय्यं** युक्तं **वो** युष्मान् **शिशुरुक्तवान्**' ॥१५२॥

हिन्दी—इस पर क्रोधित होकर उन्होंने उसके अर्थ ('पुत्र'-शब्दार्थ) को देवताओं से पूछा तो उन देवताओं ने मिलकर (एकमत होकर) कहा कि हे 'अङ्गिरस' पुत्र ने तुम लोगों को जो 'पुत्र' कहा है, वह न्याययुक्त है ॥१५२॥

उक्त विषय में कारण—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बाल इत्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१४३॥

भाष्य—न च वयसा स्वल्पेन **बालो भवति** किं तर्ह्यज्ञो मूर्खो वृद्धोऽपि यः।

मन्त्रद उपलक्षणम्। मन्त्रान्वेदान्यो ददात्यध्यापयति विवृणोति च स **पिता भवति**। **वै** शब्द आगमान्तरसूचकः। देवानामप्येष आगमः पुराण एव। तथा चैतिह्यसूचकः परोपदेश **आहुरिति**। **अज्ञं** मूर्ख **बाल इत्याहु**स्मत्पूर्वेऽपि। **पितेति मन्त्रदम्**। इतिकरणं स्वरूपपरतां बोधयति। यतः परतः श्रूयते। बाल इत्येतेन शब्देनाज्ञमात्रः। अतश्च बालशब्दाद्द्वितीयाया अभावः।

छान्दोग्ये शैशवं ब्राह्मणमेतद्वस्तुतः स्मृतिकारेण वर्णितम् ॥१५३॥

हिन्दी—अज्ञानी ही बालक होता है (केवल थोड़ी आयु वाला ही नहीं) और वेद मन्त्रों को पढ़ाने वाला ही 'पिता' होता है; क्योंकि प्राचीन मुनियों ने भी अज्ञानी को बालक तथा वेदमन्त्रोपदेशक को पिता कहा है ॥१५३॥

अवस्थादि की वेदज्ञान से श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१५४॥

भाष्य—इयमपराऽध्यापकप्रशंसा।

हायनशब्दः संवत्सरपर्यायः। न बहुभिर्वर्षैः परिणतवया महान्पूज्यो भवति, **न पलितैः** केशश्मश्रुरोमभिः शुक्लैर्न **वित्तेन** बहुना, **न बन्धुभिः**। प्रागुक्तानि मान्यस्थानान्यापद्यन्ते। समुदितैर्न महान्भवति, किं तर्हि एकयैव विद्यया। यस्मा**दृषयश्चक्रिरे**। ऋषिर्दर्शनात्। निःशेषवेदार्थदर्शिनो निश्चित्येमं **धर्मं** व्यवस्थापितवन्तः। **योऽनूचानः**, अनुवचनमध्यापनं कृत्स्नाङ्गस्य वेदस्य, **स नो**ऽस्माकं **महा**ञ्छ्रेष्ठः। करोतिर्व्यवस्थापने वर्तते, नाभूतजनने ॥१५४॥

हिन्दी—वर्षों से (अधिक वर्षों की आयु होने से), पके हुए बालों से, धन से, अधिक बान्धवों से कोई बड़ा नहीं होता; (किन्तु) जो साङ्गवेदों का ज्ञाता है, वही बड़ा है, ऐसा ऋषियों ने कहा है ॥१५४॥

वर्ण के क्रम से ज्ञानादि की श्रेष्ठता—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥

भाष्य—अयमप्यर्थवाद एव। यदुक्तं 'वित्तादिभ्यः समुदितेभ्यः केवलाऽपि विद्याज्यायसीति' तदेव सप्रपञ्चमनेन निर्दिश्यते।

ब्राह्मणानां ज्ञानेन **ज्यैष्ठ्यं**, न वित्तादिभिः। **क्षत्रियाणां वीर्यतः**। वीर्यं द्रव्यस्य कौशलं, दृढप्राणता च। **वैश्यानां धान्यधनतः**। धान्यस्य पृथगुपादानाद्धनशब्दो

हिरण्यादिवचनः, ब्राह्मणपरिव्राजकवत् । बहुधनो वैश्यः स ज्येष्ठः ।

आद्यादित्वात्तृतीयार्थे तसिः, हेतौ तृतीया (पा०सू० २।३।२३) ॥१५५॥

हिन्दी—ब्राह्मणों की विद्या से, क्षत्रियों की बल (शक्ति) से, वैश्यों की धन से और शूद्रों की जन्म से श्रेष्ठता होती है ॥१५५॥

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान द्वारा वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।१५६।।

भाष्य—न तेन वृद्ध उच्यते **येनास्य पलितं** धवलं **शिरः** शिरःस्थाः केशाः । कथं तर्हि **यो वै युवाऽपि** तरुणोऽपि अथ चाधीते **तं देवाः स्थविरं विदुः** ब्रुवते । देवाः किल सर्वस्य वेदितार इति प्रशंसा ॥१५६॥

हिन्दी—बाल पक जाने मात्र से कोई बड़ा नहीं होता, किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध (बड़ा-बूढ़ा) कहते हैं ॥१६५॥

मूर्ख की निन्दा—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७।।

भाष्य—इयमध्ययनाध्येतृस्तुतिः ।

काष्ठमयः दारुणा यः क्रियते ककचादिना हस्त्याकृतिः, स यथा निष्फलः, न हस्तिकार्यं राज्ञां शत्रुवधादि करोति। एवं यो ब्राह्मणो नाधीते स काष्ठतुल्यः, न क्वचिदधिकारी ।

चर्ममयो मृगः चर्मविकारोऽन्योऽपि यो मृगः स निष्फलो नाऽऽखेटकादिकार्यं करोति । त्रय एते **नाम** मात्रं **बिभ्रति**, न तस्यार्थम् ॥१५७॥

हिन्दी—लकड़ी का हाथी, चमड़े का मृग और मूर्ख ब्राह्मण—ये तीन केवल नाममात्र धारण करते हैं ॥१५७॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८।।

भाष्य—षण्ढो नपुंसक उभयव्यञ्जनोऽशक्तः स्त्रीगमने, **यथा स्त्रीष्वफलः** । **यथा गौर्गवि** स्त्रीगौः स्त्रीगव्याम् । एवं **तथा विप्रोऽनृचोऽ**नधीयानो**ऽफलः** ।

सप्ताष्टश्लोकाः अध्येतृवेदित्रोः प्रशंसार्था अतिक्रान्ताः ॥१५८॥

हिन्दी—जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है, जैसे गायों में गाय निष्फल है और

जैसे अज्ञानी में दान निष्फल है; वैसे ही वेदज्ञानहीन ब्राह्मण निष्फल है ॥१५८॥

शिष्यों से मधुर भाषण—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।।१५९।।

भाष्य—इदानीमश्रद्धस्य शिष्यस्याधीयानस्येतस्ततश्चित्तं व्याक्षिप्यते । अध्यापयितुः क्रोधोत्पत्तौ ताडनपरुषभाषणाद्यमत्यर्थं प्राप्तं निषिध्यते ।

अहिंसया अताडनेन **भूतानां** भार्यापुत्रदासशिष्यसोदर्याणाम् । **श्रेयोर्थमनुशासनं कार्य्यम्** । भूतग्रहणान्मा शिष्यस्यैव विज्ञायि । दृष्टादृष्टफलावाप्तिः **श्रेयः** तदर्थम**नुशासनम्**, अग्रन्थको वोपदेशः, शास्त्रध्यापनव्याख्याने वा ।

यथासम्भवमतिताडनं कोशनं चात्र प्रतिषिध्यते। ईषत्ताडनं त्वभ्यनुज्ञातमेव 'रज्ज्वा वेणुदलेन' वेति ।

"कथं तर्हि मार्गे स्थाप्याः" ॥

वाक् चैव मधुरा सान्त्वपूर्विका । प्रियता वाचा **श्लक्ष्णया** नोच्चैरुद्धतेन काकरुक्षेण स्वरेण—प्रियणाऽपि 'अधीष्व पुत्रक मा चित्तमन्यत्राबद्धाः श्रद्धया समापय शीघ्रं प्रपाठकं तत्क्षणं विहरिष्यसि शिशुभिः सवयोभिः' । यस्तु न तथा श्रद्धामुपैति तस्योक्तो विधिः 'वेणुदलेनेति' ।

प्रयोज्या वक्तव्या ।

धर्ममिच्छता । एवं सातिशयोऽध्यापनधर्मो भवति ॥१५९॥

हिन्दी—धर्माभिलाषी पुरुष (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्यों की अहिंसा (८।९९ के अनुसार अल्पतम ताडनादि) के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिए तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिए ॥१५९॥

वचन तथा मन के संयम से वेदान्त फल की प्राप्ति—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ।।१६०।।

भाष्य—यस्याध्यापयितुरन्यस्य वा सङ्क्षोभहेतौ सति **वाङ्मनसी शुद्धे** न कालुष्यं गच्छतः । **सम्यग्गुप्ते** चोत्पन्नेऽपि कालुष्ये न परद्रोहव्यवसायो न च तत्पीडार्थः कर्मारम्भः,—एतत्सम्यग्गोपनं वाङ्मनसयोः ।

सर्वदाग्रहणं पुरुषमात्रधर्मार्थं, नाध्यापयितुरेव अध्यापनकाले ।

स वै सर्वमवाप्नोति । **वेदान्ता** वेदसिद्धान्ताः । सिद्धशब्दस्यात्यन्तं सिद्ध इति

'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यत्रात्यन्तशब्दस्येव लोप: । वैदिकेषु वाक्येषु य: सिद्धान्तो व्यवस्थितार्थोऽस्य कर्मण इदं फलमित्युपगत:, अभ्युपगतो वेदविद्भि:, **तत्फलं सर्वं प्राप्नोति** ।

एवं च वदता वाङ्मनससंयमस्यानेन वाक्येन क्रतुषु पुरुषोभयधर्मतोक्ता भवति । केवलपुरुषधर्मातिक्रमे ह्यसति क्रतुवैगुण्येऽसंयतोऽसि वाङ्मनसाभ्यां किमिति कृत्स्नं फलं न प्राप्नोति, येनोच्यते 'संयमी सर्वमाप्नोति' इति ।

अन्ये तु वेदान्तान् रहस्यब्राह्मणान्व्याचक्षते । तेषु यदभ्युपगतं फलं, नित्यानां कर्मणां निष्फलानां च यमनियमानां तत्फलं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं **सर्व**माप्नोति ।

''कथं पुनर्नित्यानि ब्रह्मप्राप्त्यर्थानीति'' चेदस्ति केषांचिद्दर्शनम् ।

अथवा वेदस्यान्तोऽध्यापनसमाप्तिस्ततो यत्फलमाचार्यकरणविधिस्तत्प्राप्नोति । एवं तु व्याख्यानेऽध्यापनविध्यर्थतैव स्यात् ॥१६०॥

हिन्दी—जिसके वचन तथा मन सर्वदा शुद्ध एवं वशीभूत हैं, वही वेदान्त के सम्पूर्ण फलों को प्राप्त करता है ॥१६०॥

परद्रोहादि का निषेध—

नारुन्तुद: स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधी: ।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ।।१६१।।

भाष्य—अयमपर: पुरुषार्थमात्रधर्म: । अरूंषि मर्माणि तुदति व्यथयतीत्य**यरुन्तुदो** मर्मस्पर्शिनीर्वाचोऽत्यन्तोद्वेजनकरीराक्रोशवाचो यो वदति । **आर्त्त:** पीडितोऽपि परेण न तादृशमप्रियं भाषेत ।

तथा परद्रोह: परोपकार: तदर्थं कर्म तद्धीश्च न कर्तव्या । अथवा परद्रोहश्चासौ कर्म च तत्र धी: बुद्धिरपि न कर्तव्या ।

यया वाचा नर्मप्रयुक्तयाऽपि पर **उद्विजते** अथ च **तां** वाचं **नोदीरयेत्** । वाक्यैकदेशमपि तादृशं नोच्चारयेद्यत एकदेशादर्थप्रकरणादिनाऽर्थान्तरसूचनं प्रतीयते । यत: सा वाक् **अलोक्या** स्वर्गादिलोकप्राप्तिप्रतिबन्धिनी ॥१६१॥

हिन्दी—स्वयं दु:खित होते हुए भी दूसरे किसी को दु:ख न दे, दूसरे का अपकार करने का विचार न करे और जिस वचन से कोई दु:खित हो, ऐसा स्वर्ग प्राप्ति का बाधक वचन न कहे ॥१६१॥

अपमान होने पर क्षमा करना—

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।१६२।।

भाष्य—भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणो गृहेवोपाध्यायस्य जीविकयाऽध्यापयतो यत्र सम्मानं न स्यान्न तेन चित्तसङ्क्षोभमाददीत, अपि तु **सम्मानादेवोद्विजेत** पूजयैव दीयमानं न बहु मन्येत।

अमृतमिवा**काङ्क्षेद**भिलषेदवमानमवज्ञां सर्वदा। उत्कण्ठासामान्यात् अधीरार्थत्व-माकाङ्क्षेरारोप्य षष्ठी कृता।

"ननु चानर्चितमभोज्यम्"।

सत्यं चित्तसङ्क्षोभप्रतिषेधार्थमेतत्। न तु तादृशस्य भोज्यतोच्यते। सम्मानाव-मानयोः समेन भवितव्यं न पुनरवमानं प्रार्थनीयम्।

ब्रह्मचारिणस्त्ववमतमपि भिक्षाऽऽदानम्। न चायं प्रतिग्रहो, 'योऽर्चितं प्रति-गृह्णाती'त्येतस्य येन विषयः स्यात् ॥१६२॥

हिन्दी—ब्राह्मण विष के समान सम्मान से सर्वदा घबराता रहे (सम्मान से न प्रेम करे) तथा अमृत के समान अपमान की सर्वदा आकाङ्क्षा करे (अपमान करने पर क्षमा करे। इस श्लोक से ब्राह्मण को मानापमान में सहिष्णुता धारण करने का विधान किया गया है) ॥१६२॥

अपमान के सहन में कारण—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

भाष्य—पूर्वस्य विधेरर्थवादोऽयं फलदर्शनार्थः। योऽवमानान्न क्षुभ्यति स **सुखं शेते**। अन्यथा द्वेषेण दह्यमानो न कथंचिन्निद्रां लभते। प्रतिबुद्धश्च तच्चिन्तापरो न **सुखं** विन्दति। उत्थितश्च शयनात्कार्येषु **सुखं चरति**। यस्त्ववमानस्य कर्ता स तेन पापेन विनश्यति ॥१६३॥

हिन्दी—अपमानित (अपमान होने पर भी क्षमा करने वाला) मनुष्य सूखपूर्वक सोता है, दुःखपूर्वक जागता है तथा इस लोक में विचरण (विहार) करता है और अपमान करने वाला (मनुष्य उस पाप से) नष्ट हो जाता है ॥१६३॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

भाष्य—**संस्कृतात्मो**पनीतो द्विजोऽ**नेन क्रमयोगेन तपः सञ्चिनुयात्**। 'अध्येष्यमाण' इत्यत आरभ्य यद्ब्रह्मचारिणः कर्तव्यमुक्तं तस्यानेनेति प्रत्यवमर्शः। **अनेन** विधिसङ्घातेन **क्रमयोगेन** क्रमेणानुष्ठीयमानेन तप आत्मसंस्कारं निष्कल्म-षत्वलक्षणम्। यथा तपसा चान्द्रायणादिना निष्कल्पषत्वं भवत्येवमनेनापि वेदग्रहणार्थेन

यमनियमसमूहेन। अतः **सञ्चिनुयात्** शनैरत्वरयाऽर्जयेच्च वर्धयेच्च।

क्रमः परिपाटी इदं कृत्वेदं कर्तव्यम्, 'ॐकारपूर्विका' इत्यादिः, तेन **योगः** सम्बन्धो यस्यानुष्ठानस्येति यावत्।

ब्रह्मणः आधिगमिकमधिगमार्थम्। अध्ययनबोधावधिगमः ॥१६४॥

हिन्दी—इस क्रम से संस्कृत (जातकर्म से लेकर उपनयन तक संस्कार प्राप्त) द्विज गुरु के समीप (गुरुकुल) में वास करता हुआ वेदग्रहण के लिए (वक्ष्यमाण—आगे कहा जाने वाला) तप का संग्रह करे ॥१६४॥

तपो-व्रतादि के द्वारा सरहस्य वेदाध्ययन—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१६५॥

भाष्य—तपोविशेषैः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभि**र्विविधै**र्बहुप्रकारैरेकाहारचतुर्थकाला-हारादिभिरभिक्षिण्वता शरीरम्। **व्रतै**श्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिः। **विधिनोदितै**र्गृह्य-स्मृतिष्वाम्नातैरनुष्ठीयमानै**र्वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः**।

ये तु "पूर्वश्लोके तपःशब्दो ब्रह्मचारिधर्मे प्रयुक्त, इहापि तपोविशेषास्त एवाभि-प्रेताः" इत्याहुर्न ते सम्यङ्मन्यन्ते। व्रतशब्देनैव तेषां संगृहीतत्वात्। **व्रत**मितिहि शास्त्रतो नियम उच्यते। सामान्यशब्दत्वाच्च व्रतशब्दस्य महानाम्निकादीनामपि ग्रहणसिद्धिः। तस्मात्तपांस्युपवासादीन्यभिप्रेतानि।

इह केचिद्वेद इत्यत्रैकवचनं विवक्षितं मन्यन्ते। यद्यपि तव्यप्रत्ययनिर्देशाद्विनि-योगतो वेदस्य प्राधान्यं संस्कार्यतया प्रतीयते, तथापि विधितो वस्तुतश्चार्थावबोधे गुण-भाव एव। गुणे च संविवक्षितेऽर्थावबोधपर्यन्तो ह्ययं वेदविषयो माणवकस्य व्यापारो विधिवृत्तपर्यालोचयनाऽवसीयते। अयं ह्यत्र विध्यर्थोऽधीतेन वेदेनार्थावबोध कुर्यात्'न संस्कार्यत्वमन्यथा निर्वहति। सर्वो हि कार्यान्तरे शेषभूतः संस्क्रियते। वेदस्य च दृष्ट-मेव कार्यमधीतस्य स्वार्थबोधजनकत्वमन्यथा 'सक्तूञ्जुहोति' इतिवत्प्राधान्यं श्रुतमप्यु-त्सृज्येत। धातुरप्यत्रबोधार्थ एव। 'अधिगमनं' हि ज्ञानमुच्यते। "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था" इति स्मृतम्। स्वरूग्रहणं च वेदस्य प्रागेव विहितं 'संहत्य हस्तावध्येयम्' इत्यादिना। तस्यैवार्थग्रहणपर्यन्तताऽनेन प्रतिपाद्यते। विवक्षामेव मत्वाऽनेकवेदाध्ययनमप्राप्तं प्रति-प्रसविष्यते 'वेदानधीत्येति'। "यद्यनेकवेदाध्ययनमस्ति क्वैकत्वविवक्षोपयुज्यते"। बाढ-मुपयुज्यते। एकस्यामेव शाखायामधीतायां 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विध्यर्थनिर्वृत्तिः। इच्छातस्त्वनेकवेदाध्ययनम्। "यदि न विधिचोदितं क उन्मत्तो दन्तकलशिकयाऽऽत्मानं क्लेशयिष्यति"। अस्त्येवाऽत्र विध्यन्तरं 'वेदानधीत्येति' तत्र फलकामस्य। फलं च

स्वर्गः । अथास्य विधेर्वाक्यशेषे किञ्चिदाम्नायते, घृतकुल्यादयोऽन्यद्वा, ततस्तदेव भवितुमर्हति । ब्रह्मचारिणो हि विधिरर्थावबोधविषयो दृष्टप्रयोजनश्च, अवबोधस्य कर्मानुष्ठानोपदर्शनाद्विदुषः कर्मण्यधिकारात् । अनेकवेदाध्ययनमदृष्टायैव । अन्यथैकवेदाध्ययनेनैव स्वाध्यायविधिनिर्वृत्तेरसति धर्माय विधौ वेदानधीत्येत्यादिवचनमनर्थकमेव स्यात् ।

अत्रोच्यते । कथमयं पक्षः सङ्गच्छेत यावतैकोऽयं विधिर्वेदोऽधिगन्तव्य इति, स चेत्संस्कारविधित्वाददृष्टकर्मानुष्ठानोपयोगाच्च नादृष्टार्थः कल्प्यते, तदनेकवेदाध्ययनेऽपि तुल्यम् । तत्रापि ह्ययं प्रकारोऽस्त्येव । वैरूप्यं च स्यात् । क्वचिदाधानविधिवदवबोधद्वारेण नित्यकाम्यकर्मसम्बन्धः, क्वचित्साक्षात्फलार्थतेति ।

अथ मतं ''वेदानधीत्येति विध्यन्तरमेतत्, न चाचार्यकरणविधिप्रयोज्यम् । तत्फलकाम एवात्राधिक्रियत'' इति ।

तदसत् । न चैतद्विध्यन्तरम् । प्रकृतस्यैव विधेरसत्यां संख्याविवक्षायां पञ्चषट्सप्तादिशाखाध्ययनं यावच्छक्ति प्राप्तं त्रयं नियमयति । न चाधीयोतेति विधिरत्र श्रूयते । अपि तु 'गृहस्थाश्रममावसेदि'त्ययमत्र विधिः ।

यदपि संख्याया विवक्षितत्वमुक्तं तदत्यन्तासम्बद्धम् । विनियोगतो हि संख्याविवक्षा, नोपपादनतः । स च विनियोगः स्वाध्यायार्थमध्ययनमाह । नार्थेन गुणभावेन द्वितीयान्ताभ्यामवगतं प्राधान्यमुपैति । एवं ह्याश्रीयमाणे ग्रहेऽप्येकत्वं विवक्ष्येत 'ग्रहं सम्मर्ष्टीति' । प्रधानभूतस्यापि हि तस्य सम्मार्ग प्रत्यस्त्येव साधनभावः । न त्वसौ शब्देनाभिधीयते । यथा ग्रहैर्जुहोतीति होमेऽपि गुणभावः । तस्मादभिधानविनियोगाभ्यां प्राधान्यं स्वाध्यायस्य । सति च प्राधान्ये, न विवक्षितमेकत्वम् ।

''हन्त तर्हि यद्येकेनापि वेदेन गृहीतेन निवर्तेत स्वाध्यायविध्यर्थो, वक्तव्यमनेकवेदाध्ययनप्रयोजनम्'' । तृतीये वक्ष्यामः ।

''ननु यद्यवबोधपर्यन्तोऽयं विधिस्तदा गृहीतेऽपि स्वरूपतो वेदे यावदर्थावबोधो न जातस्तावदन्तरा मधुमांसादियमनियमानुष्ठानमव्यावृत्तं स्यात् । 'तत्र को दोषः' । शिष्टसमाचारविरोधः । न हि शिष्टा अधीते वेदे तदर्थमुपशृण्वन्तोऽपि मधुमांसादि वर्जयन्ति'' ।

नैष दोषः । अस्ति हि स्मृत्यन्तरं 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति । तत्राधीत्येति पाठमात्रमुच्यते । 'स्नायादिति' च सकलस्वाध्यायविध्यङ्गयमनिवृत्तिर्लक्ष्यते । यथैव मधुमांसे प्रतिषिद्धे एवं स्नानमपि । तत्र स्नानमनुज्ञायमानं साहचर्यान्मधुमांसादीन्यपि तुल्यप्रकरणत्वादनुजानाति । स्त्रीसम्प्रयोगस्तु वचनान्तरेणाविप्लुतब्रह्मचर्य इति प्रतिषिद्धः । तद्व्यतिक्रमे च न स्वाध्यायविधेरर्थावबोधकाले किञ्चित्परिहीणम् । न हि तस्यामवस्थायां

तदङ्गं, सर्वेषां यमनियमानां ग्रहणान्तत्वात् । पुरुषार्थस्त्वयं प्रतिषेधः । अतएव कथञ्चि-द्विप्लवेनावकीर्णि प्रायश्चित्तम् । व्रतस्थस्य हि रेतःसेको विकारः, न च व्रतस्थश्चान्द्रा-याणादिनाऽनेनोपपातकप्रायश्चित्तेनाधिक्रियते ।

"किं पुनः स्नायादिति लक्षणात्वे कारणम्?"

उच्यते । न तावदिदं स्नादिदं स्नानमद्भिः शरीरक्षालनरूपमदृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । ब्रह्मचारिनियमानां चावध्यपेक्षत्वादस्य चावधिसमर्पकत्वेनापेक्षितार्थविधिनोपपत्तेः ।

"न पुनरेवं तेषामवध्यन्तरापेक्षा । स्वाध्यायविध्यर्था हि तेऽतस्तन्निवृत्तिरेव तेषाम-वधिः । तस्य च निवृत्तिर्विषयनिवृत्त्या । अध्ययनं च तस्य विषयः । तन्निवृत्तिः प्रत्यक्षैव"।

सत्यं–यद्यस्य श्रुतविषयनिष्ठतैव स्यात् । अश्रुतोऽप्यस्य विषयः फलभूतोऽर्थाधिग-मोऽपि संस्कारविधित्वान्यथानुपपत्त्या विषयतामापन्नः । यतः श्रुताध्ययननिष्ठत्वे विधि-त्वमेवास्य व्याहन्येत । विधेर्हि स्वार्थानुष्ठापकत्वं रूपम् । स्वार्थश्च कार्यकरणेतिकर्त-व्यतात्मकः । तच्च विध्यर्थव्यतिरेकेण नान्यत्किञ्चित् । न कार्यं करण विषयः, एक-पदोपादानात् । अधीयीतेत्यध्ययनादिधात्वर्थावच्छिन्नो भावार्थः । यमनियमानुष्ठानमिति-कर्तव्यता । न तत्र तावदस्य विधेः स्वार्थानुष्ठापकत्वसम्भवः । यतो विषयानुष्ठानद्वारिका सर्वा विधीनां स्वार्थानुष्ठानसम्पत्तिः । तस्यास्य विषयानुष्ठानं विध्यन्तरवशादेव सिद्धम् । आचार्यस्य हि विधिरस्ति 'उपनीय शिष्यं वेदमध्यापयेत्' इति । न चाध्ययनमन्तरेणाध्यापन-सिद्धिः । अत आचार्यः स्वविधिसम्पत्त्यर्थमध्ययने माणवकं प्रवर्तयति स्वयं च ज्ञात्वा नाचार्येणप्रवर्तितस्यानुष्ठानसम्भवः । अतोऽवश्यमाचार्यविधिप्रयुक्तता एषितव्या । तत्प्रयुक्त-त्वे सति सिद्धमनुष्ठानमिति न स्वाध्यायाध्ययने माणवकस्य विधिना कश्चिदर्थः । अतः प्रयोक्तृत्वासम्भवात्कीदृशी विधिरूपताऽस्य विधेः । स्वरूपनाशे प्रसक्ते स प्रकारोऽ-न्विष्यते, यथाऽस्य प्रयोक्तृत्वं लभ्यते । तत्र निश्चितत्वावदयं संस्कारविधिः । न च निष्फलः संस्कारः । अध्ययने सति यादृशस्य तादृशस्यार्थ बन्धस्य दर्शनात्तस्य च सकलतत्कर्मानुष्ठानोपयोगित्वात् । अतः श्रुताध्ययनविषयसम्बद्धावबोधकर्तव्यताऽतो विधेः प्रतीयते । यद्यपि च वस्तुस्वाभाव्येन वाक्यग्रहणसमनन्तरमवबोधो जायते, न तु निश्चितरूपो भवति । अतो येन प्रकारेण निश्चयो भवति तस्मिन्नंशे विधेः प्रयोक्तृत्वम् । निश्चयो विचार्य संशयादिव्युदासेन भवति । न च विचारोऽन्यतः प्राप्तः । नाचार्यविधेः, तस्याध्ययनमात्रेण निर्वृत्तेः । नापि दृष्टकार्यप्रयुक्तः, किं विचारमन्तरेण पुरुषस्य न सिद्ध्येद्यदर्थं प्रवर्तेत ।

"यदृच्छया ग्रामादिकामस्येव विचारोऽपि प्राप्त" इति चेत्–एवं तर्ह्यनियतत्वत् पुरुषेच्छायाः कश्चिन्न विचारयेत् । यदि विचारयेन्नाध्ययनसमनन्तरम् । अतोऽस्यांशस्या-

प्राप्तत्वाद्यावदप्राप्तं विधेर्विषय इत्यस्ति विधेर्व्यापारः । तस्मादध्ययनस्यान्यतः प्राप्तत्वात्तत्सम्बन्धस्यावबोधस्यानिश्चितरूपस्य वस्तुस्वाभाव्येनोत्पत्तेस्तादृशस्य न क्वचिदर्थवत्त्वात्सत्यपि तस्मिन्संस्कारकत्वान्निर्व्यूढे निश्चितस्यैव फलवत्कर्मानुष्ठानोपयोगित्वान्निश्चयस्य विचारसाध्यत्वात्तस्य च नियतकालावश्यकर्तव्यताप्राप्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारपर्यवसायी विधिरयमवतिष्ठते ।

अतो भवत्याकाङ्क्षा नियमानाम्—किं श्रुताध्ययनपर्यवसानावधिरुताऽऽक्षिप्तनिश्चितावबोधजननार्थविचारपर्यवसानः । अतोऽस्यामपेक्षायां 'वेदमधीत्य स्नायादि'त्यनेनावधिसमर्पणं क्रियते । तत्र प्रकृतस्यापेक्षायाश्चाविशेषाद्युक्ता लक्षणा ।

"ननु किमिदमुच्यतेऽश्रुतोऽवबोधः, यावता 'अधिगन्तव्य इति' श्रूयत एव । वेदे स्मृतिषु चान्यासु 'वेदमधीते' 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति च पठ्यते । मानव्या अपि स्मृतेरेतत्स्मृतिमूलत्वादभिन्नार्थतैव" ।

आक्षिप्तावबोधाभिप्रायोऽयमधिगमः । यदि वा स्वरूपग्रहणमेवाधिगमः । अवबोधपर्यन्तता तु तेनैव न्यायेन लभ्यते । न च विसमञ्जसमेकोऽयं विधिस्तस्य च विषयांशः कश्चिदाचार्यविधिना प्रयुज्यते, कस्यचिदंशस्य स एव प्रयोजक इति वैरूप्यम् । किमत्रानुपपन्नम्, अर्थभूतस्यैवावगमात् ।

यत्तूक्तं "अनेकवेदाध्ययनमदृष्टार्थं युक्तमिति"—तस्य 'षट्त्रिंशदाब्दिकम्' इत्यत्र परिहारं वक्ष्यामः ।

वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणवाक्यसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे । तदवयवेऽपि वाक्ये वेदशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थः **कृत्स्न**शब्दः । यद्यप्येकस्मिन्वाक्येऽधीते वाक्यान्तरस्यापि वेदशब्दवाच्यत्वादनिवृत्तमध्ययनं संस्कारकर्मत्वाद्ग्रहवत्तथापि विस्पष्टार्थं **कृत्स्न**ग्रहणम् ।

अन्ये त्वङ्गविषयं **कृत्स्नशब्दं** वर्णयन्ति । वेदशब्दो ह्युक्तपरिमाणस्य वाक्यसमुदायस्य वाचकः । तत्र ऋङ्गात्रेणापि न्यूने न स्वाध्यायोऽधीतो भवति । तस्मात्कृत्स्नशब्दोऽङ्गाध्ययनप्राप्त्यर्थः । तथा च स्मृत्यन्तरम् "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येय" इति ।

"ननु यो 'वेदः' स कृत्स्न इत्येतदत्र प्रतीयते । न चाङ्गानि वेदशब्दवाच्यानि । तत्र कुतोऽङ्गैः साहित्यम् । या त्वेषा स्मृतिः 'षडङ्गो वेदोऽध्येय' इति तत्र स्वशब्देनाङ्गान्युपात्तानि । इह तु वेदविशेषणत्वात्कृत्स्नशब्दस्य कथमिवाङ्गानि गृह्येरन्" ।

उच्यते । स्वाध्यायोऽध्येतव्य इतिमूलैवैषा स्मृतिः । सा चावबोधपर्यन्ता व्यवस्थापिता । अवबोधश्च नान्तरेणाङ्गानि कल्पत इत्यर्थसिद्धमङ्गानामुपादानम् । अतो

निगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसावेदनमपि विध्याक्षिप्तम् । एवमर्थमङ्गानामुपादानमङ्गीकृत्य कृत्स्नशब्दो द्योतकत्वेन युक्त उपादातुम् । तत्र यथाऽऽरम्भकाणि पुरुषस्य हस्तपादादीन्यङ्गान्युच्यन्ते, नैवं वेदस्य निरुक्तादीन्यारम्भकाणि । अथ च भक्त्याऽङ्गत्वेन वेदस्योच्यन्ते । न किल तैर्विना वेद: स्वार्थाय प्रभवत्ययोऽङ्गानीवाध्यासोऽत्र । एवमध्यारोपितदत्वेन कृत्स्नशब्द उपपद्यते ।

सरहस्य इति रहस्यमुपनिषद: । सत्यपि वेदत्वे प्राधान्यात्पृथगुपादानम् ॥१६५॥

हिन्दी—द्विज को शास्त्रोक्त विधि से बतलाए गए तथा अनेक प्रकार के व्रतों (नियम-श्लो० ७०, ७५ इत्यादि में कथित) से रहस्य (उपनिषदों) के साथ सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिए ॥१६५॥

वेदाभ्यास की श्रेष्ठता—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तम: ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तप: परमिहोच्यते ।।१६६।।

भाष्य—प्रकृतशेषतया प्राप्त एव ग्रहणार्थोऽभ्यासोऽनूद्यते स्तुत्यर्थम्; न पुनर्विध्यन्तरम् । **सदा**शब्दो ग्रहणकालापेक्ष एव ।

तप: शब्द: शरीरक्लेशजननेष्वाहारनिरोधादिषु शास्त्रीयेषु वर्तते । इह तु तज्जन्यात्मसंस्कारो वराभिशापादिसामर्थ्यं लक्षणयोच्यते ।

तत्तपस्तप्स्यन् तपसाऽर्जयितुमिच्छन्, अर्जनाङ्गे सन्तापे धातुर्वर्तते । कर्मकर्तृत्वस्याविवक्षितत्वात्परस्मैपदम् ।

हेतुरूपी द्वितीयश्लोकार्धोऽर्थवाद: । **वेदाभ्यासो** हि यावत्किञ्चित्प्रकृष्टं **तप:**, तत: परं श्रेष्ठम् वेदाभ्यासस्तत्तुल्यफलतामारोप्य स्तूयते ॥१६६॥

हिन्दी—तपस्या को (भविष्य में) करने वाला ब्राह्मण सर्वदा वेद का ही अभ्यास करे; क्योंकि ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन ही इस लोक में उत्कृष्ट तप कहा गया है ॥१६६॥

वेदाभ्यास की प्रशंसा—

आ हैव स नखाग्रेभ्य: परमं तप्यते तप: ।
य: स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ।।१६७।।

भाष्य—अयमपरो वाजसनेयकस्वाध्यायविधिर्ब्राह्मणेऽर्थवादानुवाद: ।

आ नखाग्रेभ्य एवेति सम्बन्ध: ।

हशब्द ऐतिह्यसूचक: ।

परमशब्दात्तपस: प्रकर्षे प्रतिपन्ने नखाग्रग्रहणं प्रकृष्टस्यापि प्रकर्षमाह । नखाग्राणि

निर्जीवानि तान्यपि तपसाऽनेन व्याप्यन्ते । तपो हि कृच्छ्रादिकं नखाग्राणामव्यापकत्वान्न निःशेषफलप्रदम्, इदं तु तान्यपि व्याप्नोतीति प्रशंसा ।

तप्यते तप इति । "तपस्तपःकर्मकस्यैव" (पा०सू० ३।१।८८) इति यगात्मनेपदे ।

यः स्रग्व्यपि । स्रगस्यास्तीति स्रग्वी, कृतकुसुमदामा पुरुष उच्यते । अनेन च ब्रह्मचारिनियमत्यागं दर्शयति । परित्यज्यापि ब्रह्मचारिधर्मान् यदि **शक्तितो** यावच्छक्नोति स्वल्पम**प्यन्वहं** प्रत्यहं वेद**मधीते** सोऽपि प्रकृष्टेन पुरुषार्थेन युज्यते ।

स्तुतिरियं न पुनर्नियमत्यागेऽध्ययनमुच्यते ॥१६७॥

हिन्दी—पुष्पमाला को धारण करता हुआ भी (ब्रह्मचर्यावस्था में पुष्पमाला पहनने का निषेध है, तथापि वैसा करता हुआ भी) जो ब्राह्मण प्रतिदिन शक्ति के अनुसार स्वाध्याय (वेदाभ्यास) करता है, वह नख के अग्र भाग तक (सिर से पैर के नखाग्र भाग तक अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में) श्रेष्ठ तपस्या को तपता (करता) ही है ॥१६७॥

वेदाभ्यास के विना अन्य शास्त्राभ्यास का निषेध—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।१६८।।

भाष्य—येषां तावत्कृत्स्नशब्दोऽङ्गपरिग्रहार्थस्तेषामनियतक्रमेऽध्ययने प्राप्ते क्रमो नियम्यते । प्रथमं वेदोऽध्येतव्यस्तोऽङ्गानि । येषां तु वेदस्यैवासाकल्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं, तेषां त्रैविद्यव्रतानन्तरं वेदस्यैव प्राप्तमध्ययनम् । अगृहीते वेदेऽङ्गानामध्ययनन्नाभ्यनुज्ञायते ।

यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्र शास्त्रे अङ्गेषु तर्कशास्त्रग्रन्थेषु वा **श्रम**मभियोगातिशयं **कुरुते स जीवन्नेव शूद्रत्वमा**प्नोति । **आशु** क्षिप्रम् । **सान्वयः** पुत्रपौत्रादिसन्तत्या सह ।

'श्रमो' यत्नातिशयस्तन्निषेधायोगात्तत्समाप्तौ यथावसरमन्यान्यपि विद्यास्थानानि पठ्यन्ते ।

शूद्रत्वप्राप्तिवचनं निन्दातिशयः ।

द्विज इति वचनादुपनीतस्यायं क्रमनियमः । प्राक्चोपनयनादङ्गाध्ययनमनिषिद्धं शिक्षाव्याकरणादि यद्वेदवाक्यैर्न मिश्रितम् ।

"ननु च स्वाध्यायविधिनाऽङ्गान्याक्षिप्यन्ते । तं च विधिमाचार्यप्रयुक्तो माणवकोऽनुतिष्ठति । प्रागुपनयनादसत्याचार्यो कुतोऽङ्गाध्ययनसम्भवः ?"

नैष दोषः । 'तस्मादनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुरिति' (बृहदारण्यक १।५।१७) पित्राऽयं संस्कर्तव्यः । स एनं प्रागुपनयनाद्व्याकरणाद्यध्यापयिष्यति ॥१६८॥

हिन्दी—जो द्विज वेद का विना अध्ययन किये ही दूसरे शास्त्र (अर्थशास्त्र आदि) में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही वंशसहित (पुत्र-पौत्रादि के साथ) शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त करता है ॥१६८॥

विमर्श—वेद का विना अध्ययन किये ही स्मृति तथा वेदाङ्गों के अध्ययन करने में उक्त दोष नहीं है, अतएव "वेद का विना अध्ययन किये वेदाङ्ग तथा स्मृतियों को छोड़कर अन्य विद्या (राजनीति, अर्थशास्त्र आदि) का अध्ययन न करे" ऐसा शङ्ख तथा लिखित[१] का वचन है।

द्विजत्वनिरूपण—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य, श्रुतिचोदनात् ।।१६९।।

भाष्य—मातुः सकाशाद**ग्रे** आदा**वधिजननं** जन्म पुरुषस्य। **द्वितीय मौञ्जिबन्धने** उपनयने। 'ङ्यापोर्बहुलम्' (पा०सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। **तृतीयं** ज्योतिष्टोमादि**यज्ञदीक्षायाम्**। दीक्षाऽपि जन्मत्वेन श्रूयते—"पुनर्वारं तदृत्विजोगर्भं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्तीति"। त्रीणि जन्मानि द्विजस्य श्रुतिनोदितानि।

"नन्वेवं सति त्रिजः प्राप्नोति" ॥

अस्तु। द्विजव्यपदेशे तावदुपनयनं निमित्तम्। तद्व्यपदेशनिबन्धश्च श्रौतस्मार्तसामयिकाचारिककर्माधिकारः। प्रथमतृतीयजन्माभिधानं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थम्। सर्वजन्मश्रेष्ठं तत्। अदीक्षितो हि यज्ञ एव नाधिक्रियते, अनुपनीतस्तु न क्वचिदेव।

अन्ये त्वाद्यत्वसामान्यादाधानं यज्ञदीक्षां मन्यन्ते। तस्यापि जन्मसम्भवोऽस्ति-'अजात एवासौ योऽग्नीन्नाधत्त' इति ॥१६९॥

द्विजातीनां तत्र तत्राधिकारः श्रुतः। तत्राचार्यादिशब्दवत्सुहत्त्वात्तदर्शनिरूपणार्थमाह—

हिन्दी—वेदवाक्यानुसार द्विज का प्रथम जन्म माता से, द्वितीय जन्य यज्ञोपवीत संस्कार से और तृतीय जन्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञों की दीक्षा से होता है।

विमर्श—यहाँ प्रथम, द्वितीय और तृतीय जन्म का कथन द्वितीय जन्म (द्विजत्व) की प्रशंसा के लिये है; क्योंकि द्विज ही यज्ञ-दीक्षाग्रहण में अधिकारी होता है ॥१६९॥

द्वितीय जन्म में आचार्य-पिता तथा सावित्री-माता—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।।१७०।।

---

१. "अत एव शङ्खलिखितौ—न वेदमनधीतयान्तां विद्यामधीयीतन्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः" इति। (म०मु०)

तत्र एतेषु त्रिजन्मसु **यदेतद्ब्रह्मजन्म** उपनयनं **मौञ्जीबन्धनचिह्नितं** मेखलाबन्धेनेनोपलक्षितम्। **तत्रास्य माता सावित्री**। तया ह्यनूक्तया तन्निष्पन्नं भवति। अनेन च सावित्र्यनुवचनमुपनयने प्रधानं दर्शयति तदर्थं ह्यसौ समीपमानीयते। **पिताऽऽचार्यः**।

मातापितृनिर्वर्त्यं जन्म। अतो रूपकभङ्ग्या तत्राप्याचार्यसावित्र्यौ मातापितरावुक्तौ ॥१७०॥

मौञ्जीबन्धनचिह्नितमित्युक्तम्। तत्र रज्ज्वासञ्जनादाचार्यः पितृवन्मान्यः स्यात्तदर्थमुच्यते—

हिन्दी—पूर्व श्लोकोक्त उस तीनों जन्मों में द्विज का यज्ञोपवीत से चिह्नित जो द्वितीय जन्म होता है, उसमें इसकी माता-सावित्री (गायित्री) तथा पिता आचार्य हैं। (इस प्रकार माता तथा पिता के द्वारा यज्ञोपवीत संस्कार में द्विजत्व रूप द्वितीय जन्म होता है) ॥१७०॥

बिना यज्ञोपवीत संस्कार के द्विजकर्म का अनधिकार—

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्॥१७१॥

भाष्य—वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते। कृत्स्नवेदाध्यापनान्नोपनयनाङ्गभूतसावित्र्यनुवचनमात्रादेव। **प्रदानं** माणवकस्य वेदाक्षरोच्चारणे स्वीकारोत्पादनम्।

"यद्येवं, यावन्नाचार्येण पितृत्वं प्राप्तं तावन्न माणवको द्वितीयं जन्म समश्नुते। अप्राप्तद्विजभावश्च प्रागिवोपनयनात्कामचारः स्यात्"—अत आह **न ह्यस्मिन्प्राङ्मौञ्जिबन्धनाद**स्य माणवकस्य **किञ्चित्कर्म** श्रौतस्मार्तमाचारप्रतिष्ठं वाऽदृष्टार्थं प्रयुज्यते—न तत्राधिक्रियते—उपनयनसमनन्तरमेव सर्वैर्द्विजातिपुरुषधर्मैरधिक्रियते।

"नन्ववैद्यत्वात्तस्यामवस्थायां कथमधिक्रियताम्"।

एतदर्थमेवोक्तं "गुरौ शिष्यश्च याज्यश्चेति"। आचार्येणासौ शिक्षयितव्यः। तदुक्तं 'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्' (मनु० २।६९)। यथा च गौतमः (अ० २ सू० ६)—'उपनयनादिर्नियम' इति। आचार्यस्य तु वेदसमापनान्तो व्यापारः ॥१७१॥

हिन्दी—मनु आदि महर्षि वेदोपदेश करने के कारण आचार्य को पिता कहते हैं; क्योंकि इसे (ब्राह्मण बालक को) यज्ञोपवीत संस्कार के पहले किसी श्रौत तथा स्मार्त कर्म को करने का अधिकार नहीं है ॥१७१॥

यज्ञोपवीत के पूर्व वेदमन्त्रोच्चारण का निषेध—

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ।।१७२।।

भाष्य—आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते । यदि वा **यावद्वेदे न जायत** इत्यर्थवादतो-ऽवधिपरिनिश्चयः ।

ब्रह्म वेदस्तन्नोच्चारयेत् । पितुरयमुपदेशः । यथा मद्यपानादिभ्यो रक्षेत्तथा वेदा-क्षरोच्चारणात् ।

केचित्त्विममेव ब्रह्माभिव्याहारनिषेधं प्रागुपनयानाद्व्याकरणाद्यङ्गाध्ययने ज्ञापकं वर्णा-यन्ति, णिजर्थं व्याचक्षते—'पित्रा न वाचनीयः बाल्यात्तु कानिचिदव्यक्तानि वेद-वाक्यानि स्वयं पठतो न दोषः' । एतत्तु न युक्तम् । स्मृत्यन्तरे हि पठ्यन्ते 'न ब्रह्माभि-व्याहरेदिति' (गौ० अ० २ सू० ५) । अर्थवादे च श्रुतं **शूद्रेण हि समस्तावदिति** । यथा शूद्रो दुष्यति तद्वदयमपीत्युक्तं भवति ।

'**स्वधा**'शब्देन पितृभ्यः कल्पितमन्नमिहोच्यते । अथवा पित्र्यं कर्म '**स्वधा**' शब्देनोच्यते । तन्निनीयते त्यज्यते प्राप्यते येन मन्त्रेण स '**स्वाधानिनयनः**', ''शुन्धन्तां पितरः'' इत्यादिः तं वर्जयित्वाऽन्यमन्त्रो नोच्चारयितव्यः । अनुपनीतेनोकदाननवश्राद्धादि पितुः कर्तव्यमित्यस्मादेव प्रतीयते । पार्वणश्राद्धादौ त्वग्निमत्त्वाभावादनधिकारः । पिण्डा-न्वाहार्यके हि तद्वक्ष्यते । तृतीये चैतन्निपुणमुपपादयिष्यामः ॥१७२॥

हिन्दी—ब्राह्मणादि विना यज्ञोपवीत संस्कार हुए श्राद्धकर्म के अतिरिक्त कर्म में वेदमन्त्र का उच्चारण न करे; क्योंकि वह जब तक वेद में अधिकारी (यज्ञोपवीत संस्कार युक्त) नहीं होता; तब तक वह (द्विज) शूद्र के समान है ॥१७२॥

यज्ञोपवीत संस्कार युक्त का वेदाधिकार—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतोदेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ।।१७३।।

भाष्य—'उपनीय गुरुः शिष्यम्' इत्यनेन शौचाचाराध्ययनानां क्रम उक्तः । अतश्च तेनैव क्रमेण पठेत् । उपनयनानन्तरमध्ययने प्राप्ते क्रमान्तरार्थमिदमारभ्यते ।

उपनीतस्य त्रैविद्यादिव्रतं च कर्तव्यम् । ततः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । **कृतोप-नयनस्य** ब्रह्मचारिणो **व्रतादेशनमिष्यते** क्रियते चाचार्यैः । शास्त्रांशेनैवमिष्यते । अतश्च कर्तव्यतैवैषणा प्रतिपाद्यते । ततो **ब्रह्मणो** वेदस्य **ग्रहणम्** । **क्रमेणा**नेन । **विधिपूर्वक**-मित्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥१७३॥

हिन्दी—यज्ञोपवीत संस्कार होने पर व्रतों का (हवन के लिये समिधा का लाना, दिन में सोने का निषेध) वेद का उपदेश तथा ग्रहण (अध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक इष्ट है। (अतः यज्ञोपवीत के पहले इनका उपदेशादि नहीं करना चाहिये) ॥१७३॥

गोदानादि व्रत में यज्ञोपवीतोक्त दण्डादिधारण—

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ।।१७४।।

भाष्य—गृह्यकारैर्व्रतमानधेयकानि कर्माण्युपदिष्टादि। 'संवत्सरं वेदं भागं वा किञ्चिज्जिघृक्षत'। इयं व्रतचर्या यो यमनियमसमूहः। तत्र पूर्वव्रतसमाप्तौ व्रतान्तरारम्भे उपनयने ये विधयस्तादृश एव व्रतादेशेषु।

"अथ प्रागुपात्तानां का प्रतिपत्तिः?"

अप्सु प्रासनम्।

"ननु च तदुक्तं प्रागुपात्तानाम्। विनष्टानां का प्रतिपत्तिः?"

विनाशे शास्त्रनोदितं चैषां कार्यमन्योपादानाच्च तेषां निवृत्तिः।

यच्चर्म यस्य ब्रह्मचारिणो विहितं यथा "कार्ष्णं ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य" इति। एवं दण्डादिष्वपि द्रष्टव्यम्। **तस्य व्रतेष्वपि**। प्रकृतत्वाद् व्रतशब्दो व्रतादेशे वर्तते ॥१७४॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी के लिये जो कर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र यज्ञोपवीत में बतलाये गये हैं (श्लो० ४१-४७), इनको उसे (गोदानादि) व्रतों में भी ग्रहण करना चाहिये ॥१७४॥

तपोवृद्धि के लिये नियम पालन—

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ।।१७५।।

भाष्य—वक्ष्यमाणस्य यमनियमसमूहस्य पृथक्प्रकरणत्वेन श्लोकोऽयं गौरवख्यापनार्थः। एवं तु यत्पूर्वमुक्तं तदवश्यकर्तव्यम्—इदं तु ततो गुरुतरमनुष्ठीयमानं महते फलाय।

ब्रह्मचारिग्रहणं प्रकरणान्तरत्वेनातद्धर्माशङ्कयाऽनुसन्धानार्थम्।

"यदि ब्रह्मचारिधर्म एव आसीत्किंतर्हीदमुच्यते प्रकरणान्तरमिति?"

पूर्वेभ्य एतेषामतिशयात्समानधर्मत्वादेतावता वैलक्षण्येन प्रकरणान्तरत्वव्यवहारः। परिशिष्टानि पदानि श्लोकपूरणार्थतयाऽनूद्यन्ते।

सेवेत अनुतिष्ठेत । **इमान्वक्ष्यमाणान्** । बुद्धौ सन्निहितत्वादिदमा निर्दिश्यन्ते । **गुरौ वसन्** गुरुसमीपे विद्याध्ययनार्थम् **वसन्** इति नित्यसन्निधानमाह । **सन्नियम्येन्द्रियग्रामं** प्रागुक्तेन मार्गेण । **तपोवृद्ध्यर्थम्** अध्ययनविध्यनुष्ठानजन्यात्मसंस्कारार्थम् ॥१७५॥

हिन्दी—गुरु के समीप में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रिय-समूह को वश में करके अपनी तपोवृद्धि के लिये नियमों का पालन करे ॥१६५॥

तानीदानीं पूर्वेण प्रतिज्ञातान् नियमानाह—

नित्य स्नान, तर्पण तथा हवनादि—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ।।१७६।।

भाष्य—प्रत्यहं **स्नात्वा शुचिः** स्नानेनापनीताशुचिभावो **देवर्षिपितृतर्पणं कुर्यात्** । यदि पुनः शुचिः न तदाऽवश्यं स्नायात् । शुचिग्रहणेन शुद्धिहेतुतयाऽत्र स्नानस्योपदिष्टत्वान्न स्नातकंव्रतवत्तदनुष्ठेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरे च स्नानं प्रतिषिद्धम् । स प्रतिषेधो मृदा स्नानस्य प्रसाधनलक्षणस्य । गौतमेन तु स्नानमेव विहितम्—दण्ड इवाप्सु परिप्लवेत, मलापकर्षणं करनिघर्षणादिना कर्तव्यम् । असत्यमेध्यादिसंसर्गे, यत्स्वेदजं वस्त्ररेणुसंयोगादिसहजं मलं न तदशुचित्वमापादयति । तद्धि नियतरूपमेव । तथा च ब्राह्मणं 'किं नु मलं, किमजिनं, किमु श्मश्रूणि किं तप' इति धर्मसाधनतामेवंविधस्य मलधारणस्य दर्शयति ।

''कथं पुनः स्नानस्य शौचार्थता प्रतीयते?''

न पुनः स्नातः शुचिश्चोभयविशिष्टो देवकार्ये विनियुज्यते । स्नातस्याशुचित्वाभावात्कृतशौचाचमनादेः स्नानविधानात्, 'स्नात्वा चाऽऽचान्तः पुनराचामेदिति' च स्नातस्यापि शुचिरित्येतावता यादृशी शुद्धिस्तस्यां विज्ञायमानायां स्नानमपि सति निमित्ते प्राप्तं पुनरुच्यते । स्मृत्यन्तरं चेदमसत्यशुचित्वे निमित्ते प्रतिषेधार्थम् । तथा च 'वेदमधीत्य स्नायादिति' समाप्ते स्वाध्यायविधौ प्रतिप्रसविष्यति ।

कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् । उदकदानं देवादिभ्यो गृहस्थधर्मेषु यदुक्तं तादृशमेव प्रतीयते, तर्पणशब्दसाहचर्यात् । 'यदेव तर्पयत्यद्भिरिति', तथा ''देवतास्तर्पयति'' (आश्व० गृ० ३।४।३) इति गृह्यकारैरुदकसाधनोऽयं विधिरुक्तः । उदकतर्पणमिति चैतत्संविज्ञायते ।

ते 'देवा' गृह्यकारैः पठिताः अग्निप्रजापतिब्रह्मेत्यादयः । तेषां च 'तर्पणं' न सौहित्योत्पादनं, किं तर्हि तदुद्देशेनोदकाञ्जलिप्रक्षेपः । अतोऽयमुदकद्रव्यको याग एवोक्तो भवति । न ह्यन्यथा देवतात्वं भवति । यागसम्प्रदानं हि सेति स्मर्यते, न तृप्तेः कर्त्री ।

एतावद्धि देवतालक्षणम्—'सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः'। तत्र सूक्तं स्तुत्यतया भजन्ते, हविः सम्प्रदानतया। तर्प्यत्वेन चोदकदानसम्प्रदानतामेव गुणवृत्त्या वक्ति। गुर्वादिसम्प्रदानं गवादिना तदुद्दिश्यमानस्वास्येन प्रतीयते। देवताऽपि सम्प्रदानभूतः। सम्प्रदानत्वसाम्यात् 'तृप्यन्ति' इत्युच्यते। यदि देवतातृप्त्यर्थमेतत्स्यात्तदा संस्कारकर्मोदकतर्पणं स्यात्। न च देवतानां संस्कार्यत्वोपपत्तिः। न हि ताः क्वचिदुपयुक्ता उपयोक्ष्यन्ते वा। न चाकृताकरिष्यमाणकार्यस्य संस्कारतोपपत्तिः।

ऋषयो ये यस्यार्षेयाः। यथा पराशराणां वसिष्ठशक्तिपाराशर्या इति। गृह्यकारैस्तु मन्त्रदृश ऋषयस्तर्पणोयत्वेनोक्ताः, मधुच्छन्दो गृत्समदो विश्वामित्र इति। अविशेषाभिधानादृषिशब्दस्योभयेऽपि प्राप्ताः। विशेषस्मृतित्वात् गृह्यस्मृतेस्त एव ग्रहीतुं न्याय्याः।

पितरः पूर्वप्रेताः पितृपितामहाः सपिण्डाः समानोदकाश्च। पितॄणां तर्पणं तर्पणमेव। एतच्च श्राद्धविधौ प्रत्यक्षेण वक्ष्यते।

देवताभ्यर्च्चनम्। अत्र केचिच्चिरन्तना विचारयांचक्रुः—"का एता देवता नाम यासामिदमभ्यर्चनमुच्यते। यदि तावच्चित्रपुस्तकन्यस्तः चतुर्भुजो वज्रहस्त इत्याद्याः—'प्रतिकृतय' इति लौकिका व्यवहरन्ति; अतो गौणस्तत्र देवताव्यवहारः। अथ याः सूक्तहविःसम्बन्धिन्यो वैदिकीभ्यश्चोदनाभ्यो मन्त्रवाक्येभ्यश्चावगम्यन्ते—शब्दार्थसम्बन्धविदश्च स्मरन्ति 'अग्निः अग्नीषोमौ मित्रावरुणौ इन्द्रो विष्णुः' इति,—यद्येवं तत्क्रियासम्बन्धितयैव तेषां देवतात्वं नार्थसम्बन्धितया। तत्रापि यस्यैव हविषो या देवता तेन चोदिता तस्यैव सा भवति। तथा हि आग्नेयोऽष्टाकपाल इत्याग्नेये पुरोडाशे देवता, न सौर्ये चरौ।" अयं च तेषां निर्णयः,—'मुख्यासम्भवाद्गौणस्यैव ग्रहणं न्याय्यं, समाचाराच्च।' अतः प्रतिमानामेवैतत्पूजाविधानम्।

यच्चात्र तत्त्वं तद् 'व्रतवद्देवदैवत्य' (श्लो. १८९) इत्यत्र वक्ष्यामः।

समिदाधानं सायंप्रातरग्नौ दारुशकलप्रक्षेपणम् ॥१७६॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी नित्य स्नानकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे ॥१७६॥

विमर्श—गौतम ने ब्रह्मचारी के लिये जो स्नान-निषेध किया है, वह सुखपूर्वक (जल क्रिडादि के साथ) स्नान विषयक निषेध है; इसी से "नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्" अर्थात् 'जल में श्लाघापूर्वक स्नान न करे' ऐसा कहा है, विष्णु ने तो प्रातः-सायं दो बार स्नान करने को कहा है[१]।

---

१. "कालद्वयमभिषेकाग्निकार्यकरणमप्सुदण्डवन्मज्जनम्।" इति (म०मु०)

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।१७७।।

भाष्य—मधु सारघम् । माध्वीकस्य तु मद्यत्वात्प्रागप्युपनयनात्प्रतिषेधो 'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति (गौतम २।२०) ।

मांसं प्रोक्षिताद्यपि ।

गन्धशब्देन सुरभित्वातिशययुक्तानि कर्पूरागरुप्रभृतीनि द्रव्याणि सम्बन्धिलक्षणया प्रतिषिध्यन्ते । तेषामनुलेपनाद्युपभोगप्रतिषेधः, गन्धस्तु स्वदेशान्निर्गत आगच्छतीत्यशक्यो निषेद्धुम् । तत्राप्याकस्मिकस्याप्यप्रतिषेधात्, भोगेच्छया त्वगरुधूपादौ दोष एव । अत उपाध्यायेन चन्दनवृक्षादिच्छेदने नियुक्तस्य तद्गन्धस्याघ्राणे वस्तुस्वभाव उत्पद्यमाने न दोषः । माल्यसाहचर्याच्चेदृशो गन्धः प्रतीयते । यस्तु नेदृशो हृदयोन्मादकरः कुष्ठघृतपूतिदार्वादिगन्धस्तस्याप्रतिषेधः ।

माल्यं कुसुमं ग्रथितम् ।

रसाः मधुराम्लादयः ।

''ननु च नीरसस्य भोज्यत्वासम्भवात्प्राणवृत्तिरेव न स्यात् ।''

सत्यम् । उद्रिक्तरसाः केवला गुडादयो निषिध्यन्ते । संस्कारकरणे द्रव्यान्तर्गतानामपि प्रतिषेधः । अथवाऽत्यन्तरसिनः संस्कृतस्यान्नस्य सक्तिप्रतिषेधोऽयम् । यथोक्तम्— ''योऽहेरिव धनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव—राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति'' इति ।

अन्ये तु शृङ्गारादीन्मन्यन्ते । नाटकादिप्रेक्षणेन काव्यश्रवणेन वा रसपुष्टिर्न कर्त्तव्या ।

अन्येषां तु दर्शनम्—इक्ष्वामलकादीनां योऽन्तर्द्रवरूपोदकवत् स रसस्तस्य निष्पीडितस्य पृथक् कृतस्य प्रतिषेधो न पुनस्तदन्तर्गतस्य ।

तच्चैतदयुक्तम् । न हि रसशब्दो द्रवपर्यायः प्रसिद्धः ।

यत्र च यस्योचितमुपभोगान्तत्वं तदेव तस्य निषिध्यते । तेन मधुमांसयोर्भोजने प्रतिषेधः, न दर्शनस्पर्शनयोः । गन्धमाल्यस्यापि शरीरमण्डनाभिमानतयोपादानं निषिध्यते, न तु कथञ्चिद्धस्तादिना ग्रहणम् । एवं स्त्रियो मैथुनसम्बन्धेन । तदाशङ्कयैव च प्रेक्षणालम्भौ निषेत्स्यति । तथा च **गौतमः** (अ० २, सू० १६) 'स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्' इति ।

शुक्तानि प्राप्ताम्लरसानि केवलात्परिवासाद्द्रव्यान्तरसंसर्गाद्वाऽम्लतामापन्नानि । तेषां च द्विजातिधर्मत्वादेव सिद्धः प्रतिषेधः । पुनर्ग्रहणं गौणशुक्तपरिग्रहणार्थम् । तेन

रुक्षपरुषा वाचो निषिद्धा भवन्ति। यदुक्तं **गौतमेन** (अ० २, सू० १९) 'शुक्तावाच' इति। तदिदं 'सर्व' ग्रहणं चास्यैवार्थस्याविष्करणार्थम्। रसशुक्तान्यनूद्य **सर्वाणीति** विधीयते। ततो गौणपरिग्रहः सिद्धो भवति।

ये त्वेवं व्याचक्षते—"शुक्तशब्देन रसप्रतिषेधः सर्वशब्देनामानसानि वचांसि";-त इदं प्रष्टव्याः। अर्थप्रतिषिद्धानां प्रतिषेधार्थं सर्वग्रहणं कस्मान्न भवति? तथा सति च दध्यादेः शुक्तीभूतस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति। यदि तु प्राप्तिमाश्रित्य पुनः प्रतिषेध उक्तार्थो व्याख्यायते तथा सति न कश्चिद्दोषः।

प्राणिनां मशकमक्षिकादीनां बाल्यात् **हिंसने** प्राप्ते यत्नतः परिहारार्थं पुनः प्रतिषेधः। स्वाध्यायविध्यङ्गत्वार्थो वा। न केवलं हिंसायां पुरुषार्थप्रतिषेधातिक्रमो यावत्स्वाध्यायविध्यर्थातिक्रमोऽपि। "शुक्तादिष्वप्येवं कस्मान्न कल्प्यत" इति चेदस्ति तत्र विषयान्तरे सावकाशम्, एकरूपस्य विषयस्य व्यर्थत्वं सति गत्यन्तरे गरीयः ॥१७७॥

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) मधु (शहद), मांस, सुगन्धित (कपूर, कस्तूरी आदि) पदार्थ, फूलों की माला, रस (गन्ना, जामुन आदि का सिरका आदि), स्त्री, अचार आदि और जीवों की हिंसा (किसी भी प्रकार के जीवों को कष्ट पहुँचाना) छोड़ दे ॥१७७॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥१७८॥

भाष्य—घृततैलादिनां स्नेहेन शिरःशरीरम्रक्षण**मभ्यङ्गः**। **अञ्जनं चाक्ष्णोः**। अक्षिग्रहणं वृत्तपूरणार्थम्। अनयोश्चापि देहमण्डनार्थतया प्रतिषेधो नौषधार्थतया। गन्धमाल्यादिसाहचर्यात्।

उपानहौ चर्मपादुके, न केवले।

छत्रधारणं च स्वहस्तेन परहस्तेन वोभयस्यापि निषेधः।

कामो रागः। मन्मथस्य स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धः।

क्रोधो रोषः।

लोभो मोहः। अहङ्कारममकारौ चित्तधर्मावेते।

नर्तनं प्राकृतपुरुषाणां हर्षाय गात्रविक्षेपो भरतादिदृष्टाभिनयप्रयोगश्च।

गीतं षड्जादिस्वरप्रदर्शनम्। **वादनं** वीणावंशादिभिः स्वरवच्छब्दकरणं, पणवमृदङ्गाद्यभिघातश्च तालानुवृत्त्या ॥१७८॥

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) सिर से पैर तक (सर्वाङ्ग में) तैल की मालिश या उबटन लगाना, आँखों में अञ्जन लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम (विषयाभिलाष) क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना छोड़ दे ॥१७८॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भादुपघातं परस्य च ।।१७९।।

भाष्य—द्यूतम् अक्षक्रीडा समाह्वयः कुक्कुटादिभिः प्रतिषिद्धः, द्यूतशब्दस्य सामान्यशब्दत्वात् ।

जनैर्वादः । अकारणेन लौकिकेष्वर्थेषु वाक्कलहः, देशवार्ताद्यन्वेषणं प्रश्नो वा ।

परिवादः असूयया परदोषकथनम् ।

अनृतम् अन्यथा दृष्टमन्यथा च श्रुतं यदन्यथोच्यते ।

सर्वत्र वर्जयेदित्यनुषङ्गाद्द्वितीया ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भौ अवयवसंस्थाननिरूपणम् **प्रेक्षणम्** इदमस्याः शोभतेऽङ्गमिदं नेति । **आलम्भः** आलिङ्गनम् । मैथुनशङ्कायां चैतौ प्रतिषिध्येते । बालस्य यथातथम् ।

परस्योपघातोऽपकारः कस्याञ्चिदर्थसिद्धौ प्रतिबन्धः । कन्यालाभादौ पृच्छमानेन अयोग्यस्याप्ययोग्यत्वं न वक्तव्यम्, तूष्णीमासितव्यम्, अनृतप्रतिषेधात् ।।१७९।।

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) जुआ, लोगों के साथ निरर्थक बकवाद, दूसरों की निन्दा, असत्य, अनुराग में स्त्रियों को देखना तथा उनका आलिङ्गन करना और दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ दे ।।१७९।।

इच्छा से वीर्यपात करने का निषेध—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।।१८०।।

भाष्य—एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्, अयोनावपि । योनौ स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धत्वात् ।

अत्रार्थवादः **कामाद्धि स्कन्दयन्** । इच्छाऽत्र 'कामः' । हस्तव्यापारादिना, अयोनौ मैथुनेन च, रेतः शुक्रं स्कन्दयन् क्षरयन्**हिनस्ति** नाशयति ब्रह्मचर्य**व्रतमात्मनः** ।।१८०।।

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) सर्वत्र अकेला ही सोवे, (इच्छापूर्वक) वीर्यपात न करे; क्योंकि इच्छापूर्वक वीर्यपात करता हुआ (ब्रह्मचारी) अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है ।।१८०।।

स्वप्न में वीर्यपात होने पर स्नानादि कार्य—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ।।१८१।।

भाष्य—कामाद्व्रतलोपेनावकिर्णिप्रायश्चित्तम्, अकामात्त्विदमाह ।

स्वप्नग्रहणमविवक्षितम्, **अकामत** इत्येतदेव निमित्तम्। न हि स्पप्ने कामसम्भवः। अतो यद्यसुप्तस्यापि कथञ्चिदनिच्छया स्वमलासृगवयववत्प्रक्षरति **शुक्रं** तत्राप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। अकामतो रेतः **सिक्त्वेदं** प्रायश्चित्तं कुर्यात्—पुनर्मामिति ऋचं जपेत् ॥१८१॥

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) विना इच्छा के स्वप्न में वीर्यपात हो जाने पर स्नान तथा सूर्य का पूजन कर तीन बार ''पुनर्मामैत्विन्द्रियम्''— मन्त्र का जप करे ॥१८१॥

आचार्य के लिये जलादि लाना—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥१८२॥

भाष्य—यावद्भिः **अर्थः** प्रयोजनमुपाध्यायस्य सिद्ध्यति तावदुदकुम्भादि आहरेत्। प्रदर्शनार्थं चैतत्। अन्यदपि गृहोपयोगि यदगर्हितं कर्म तत्कुर्यात्। गर्हितं गुरुव्यतिरेकेणोच्छिष्टापमार्जनादि न कारयितव्य इत्येवमर्थोऽयं श्लोकः। यतः सामान्येन शुश्रूषा गुरौ विहिता। यावानर्थ एषमिति विग्रहः।

भैक्षं चाहरहश्चरेत्सिद्धमन्नमत्यन्ताल्पं यात्राविषयं 'भैक्ष'मत्रोच्यते। नैकान्नादीति प्रतिषेधेऽन्नशब्दोपादानादन्नं प्रतीयते। 'समाहृत्य भैक्षं निवेद्याश्नीयात्' इति सामानाधिकरण्यात्सिद्धान्नप्रतिपत्तिः। शुष्के ह्यन्ने भिक्षिते कुतस्तस्याशनम्। समाहृतस्य गुरुगृहे पच्यमानस्य भैक्षप्रकृतिता, स्यान्न भैक्षता। प्रसिद्ध्या चेदृशमेव भैक्षमुच्यते।

अहरहः। ''ननु 'भैक्षेण वर्तयन्नित्यम् (१८८) इत्येतस्मादेव सिद्धमहरहश्चरणं सिद्ध्यति।''

वृत्तिविधानार्थं 'नित्य'ग्रहणम्। पर्युषितेनापि घृतादिस्नेहसंयुक्तेन स्याद्वृत्तिस्तदर्थमिदम्—अहरहर्भिक्षित्वाऽशितव्यम्, न पुनरेकस्मिन्नहनि भिक्षितमपरेद्युः परिवास्य यत्किञ्चित्स्नेहयुक्तमिति प्रतिप्रसवेन भुञ्जीत ॥१८२॥

येभ्यो भैक्षमासादयितव्यं तान् वक्ति—

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) पानी का घड़ा, फूल (देवपूजन के लिये) गोबर, मिट्टी और कुशों को आचार्य की आवश्यकता के अनुसार ही लाये। (एक बार ही अत्यधिक लाकर सञ्चय न करे) और प्रतिदिन भिक्षा (भोजन के लिये) माँगे ॥१८२॥

भिक्षायोग्य गृह—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥१८३॥

भाष्य—**वेदयज्ञैश्च ये अहीना** वेदाध्ययनेन संयुक्ताः, यज्ञानां च सत्यधिकारे कर्तारः । **अहीना** अवर्जिताः तदुपेता इति यावत् ।

स्वकर्मसु च प्रशस्ताः । येषां यज्ञेऽधिकारो नास्त्यन्तस्मिन् शस्ते कर्मणि तत्पराः । अथवा स्वकर्मप्रशस्तास्त उच्यन्ते ये स्ववृत्तावेव सन्तुष्टा न वार्द्धुषिकादिवृत्त्युपजीविनः ।

तेषां गृहेभ्यो **भैक्षमाहरे**द्याचित्वा गृह्णीयात्**प्रयतः** शुचिः ।

अन्वहमित्यनुवादः ॥१८३॥

हिन्दी—वेदाध्ययन तथा पञ्चमहायज्ञों से अहीन (इनको नित्य करने वाले) और अपने कर्म में श्रेष्ठ लोगों के घरों से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा लावे ॥१८३॥

गुरु के कुल तथा अपनी जाति आदि में भिक्षा याचना-निषेध—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ।।१८४।।

भाष्य—सत्यप्येतद्गुणयोगे गुरुगृहे **न भिक्षेत** । पूर्वं **कुलं** वंशः ततो गुरोर्ये पितृव्यादयस्तेभ्योऽपि न ग्रहीतव्यम् ।

ज्ञातयः, ब्रह्मचारिणः पितृपक्षाः, तेषां कुले । **बन्धुषु** च मातृपक्षेषु मातुलादिषु ।

नैवमभिसम्बन्धः कर्तव्यः—'गुरुज्ञात्यादिष्विति' । **गुरोः कुल** इति कुल शब्देनैव तेषां सङ्ग्रहीतत्वात् ।

"कुतस्तर्हि भिक्षेत?"

एतद्व्यतिरेकेणान्यगेहेभ्यः ।

अलाभेऽसम्भवे**ऽन्यगेहानाम्** । सर्व एव यदि ग्रामो गुरुज्ञातिबन्धुभिर्व्याप्तोभवत्यन्ये नैव सन्ति, सन्तो वाऽन्नं न ददति । एतेष्वपि गृहेषु भिक्षितव्यम् । अन्याभावे प्रथमं बन्धुं भिक्षेत, तदभावे ज्ञातिं, तदभावे गुरुकुलम् ॥१८४॥

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में, कुल बान्धव (मामा, मौसा आदि) में भिक्षा-याचना न करे । यदि भिक्षा-योग्य दूसरे घर नहीं मिले तो पूर्व-पूर्व का त्याग कर दे (योग्य गृह के अभाव में कुलबान्धव में, उसके अभाव में अपनी जाति वालों और उसके अभाव में गुरु के कुल (सपिण्ड) में भिक्षा-याचना करे) ॥१८४॥

योग्य गृहाभाव में सम्पूर्ण ग्राम में भिक्षा-याचना—

सर्वं वाऽपि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ।।१८५।।

भाष्य—पूर्वोक्तानां वेदयज्ञैरहीनानाम**सम्भवे सर्वं** ग्राममनपेक्षवर्णविभागं **विचरेत्** भ्राम्येत् जीवनार्थम्। केवल**मभिशस्ता**न्कृतपातकत्वेन प्रसिद्धान् अदृष्टपातकानपि वर्जयित्वा। तथा च गौतमः (अ० २, सू० ३५) "सार्ववर्णिकं भैक्ष्यचरणमभिशस्त-पतितवर्जम्।"

नियम्य वाचं भिक्षावाक्यं वर्जयित्वा आ भैक्षलाभादन्यां वाचं नोच्चरेत् ॥१८५॥

हिन्दी—अथवा पूर्वोक्त (श्लोक० १८०-१८४) योग्य गृहों के अभाव में मौन धारणकर तथा पवित्र होकर पूरे ग्राम में भिक्षा-याचना करे, किन्तु महापातकियों (९।२३४) के घरों को छोड़ दे। (उनके यहाँ भिक्षा-याचना कदापि न करे) ॥१८५॥

समिधा का लाना तथा प्रातः-सायं हवन करना—

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायंप्रातश्च जुहूयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ।।१८६।।

भाष्य—दूरग्रहणमपरिगृहीतदेशोपलक्षणार्थम्। ग्रामात्किल दूरमरण्यं, न च तत्र कस्यचित्परिग्रहः। अनुपलक्षणे हि दूरार्थे कियद्दूरमित्यनवस्थितः शास्त्रार्थः स्यात्।

आहृत्य आनीय।

सन्निदध्यात्स्थापयेत्।

विहायसि गृहस्योपरि। न हि निरालम्बनेऽन्तरिक्षे निधानं सम्भवति।

ताभिः सायंप्रातर्जुहूयात्।

आहरणं तु तात्कालिकमन्यदा वेच्छया।

विहायसि निधानमदृष्टार्थमित्याहुः। अन्ये तु ब्रुवते सम्प्रत्यानीयमानं वृक्षाद्दारु आर्द्रं भवतीति, गृहस्योपरि अन्यस्य वा प्राकारादेः तन्निधातव्यम् ॥१८६॥

हिन्दी—दूर से समिधा लाकर खुले स्थान में (जहाँ छप्पर आदि न हों) उन्हें रख दे और समिधाओं से प्रातःकाल तथा सायंकाल हवन करे ॥१८६॥

भिक्षा-याचना तथा हवन के त्याग से अवकीर्णिव्रत करना—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ।।१८७।।

भाष्य—अग्नीन्धनभैक्षचरणे नैरन्तर्येण **सप्तरात्रं** सप्ताह**मकृत्वा। अनातुरः** अव्याधितः सन् **अवकीर्णिव्रतं** नाम प्रायश्चित्तमेकादशे (श्लो० ११८) वक्ष्यमाण-स्वरूपं **चरे**त्कुर्यात्। दोषगुरुत्वख्यापनार्थं, न त्वेतदत्र प्रायश्चित्तमेव। स्मृत्यन्तरे ह्यत्राल्प-मन्यत्प्रायश्चित्तमुक्तम्, 'आज्यहोमः सवितुर्वा रेतस्यास्याम्' इति। इहापि च लिङ्गं—

यदि प्रायश्चित्तमिदमभविष्यत्तदा स्त्रीगमनमिवावकीर्णिप्रायश्चित्तप्रकरणे निमित्तत्वेनापठिष्यत ।

ये तु व्याचक्षते "सप्तरात्रमेतदुभयमवश्यकर्तव्यम् । अकरणात्तत्र दोष: । कृतसप्तरात्रस्य तु परतोऽक्रियायां न दोष: । तानि च सप्ताहानि प्राथम्यादुपनयनात्प्रभृति गृह्यन्ते"—तदेतदयुक्तम् 'आ समावर्तनात्कुर्यादिति' विरोधात्, उपरितनानन्तरश्लोकविरोधाच्च ॥१८७॥

हिन्दी—नीरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि विना भिक्षा माँगे तथा विना हवन किये सात दिन तक रहे तो 'अवकीर्णि' व्रत (११।११८) करे ॥१८७॥

भिक्षा-याचना के विना भोजन निषेध—

भैक्षेण वर्त्तयन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

भाष्य—"ननु च भैक्षमहरहश्चरेदिति श्रुतमेवैतत्" ।

एवं हि भैक्षचर्या दृष्टार्था भवति । उक्तं च "निवेद्य गुरवेऽश्नीयात्" इति । न च तदशनं भैक्षसंस्कार: येन न वृत्त्यर्थ: स्यात् ।

केचिदाहु:—"अनूद्यते **नैकान्नादी भवेद्व्रतीति** वक्तुम् ।"

एतदप्यसत् । भैक्षशब्देनैवैकान्नादनस्य निषेधात् । भिक्षाणां समूहो भैक्षमुच्यते । तत: कुत एकान्नादनप्राप्ति: ? तस्य पित्र्येभ्योऽनुज्ञानार्थं सर्वमेतदनूद्यते । **भैक्षेण वर्तये**दात्मानं भैक्षभोजनेन पालयेत् । जीवितस्थितिं कुर्यन्नैकस्य सम्बन्धि अन्नमद्यान्नैकभिक्षान्नं भुञ्जीत ।

न पुनरियमाशङ्का कर्तव्या "नैकस्वामिकं भुञ्जीत, अपि तु बहुस्वामिकम्, अविभक्तभ्रातृसम्बन्धि" । एकस्यान्नमेकं वाऽन्नमेकान्नं, तदत्ति भुङ्क्ते **एकान्नादी** ।

व्रती ब्रह्मचारी । प्रकरणादेव लब्ध:, श्लोकपूरणार्थो **व्रती**शब्द: ।

अत्रार्थवाद: । **भैक्षेणैव** केवलेन व्रतिनो या वृत्ति: शरीरधारणमुपवासतुल्यफला सा वृत्ति: स्मर्यते ॥१८८॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एक के अन्न का भोजन न करे । भिक्षान्न भोजन करने से ब्रह्मचारी की वृत्ति उपवास के समान कही गयी है ॥१८८॥

[न भैक्ष्यं परपाक: स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रह: ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत् ॥९॥]

[**हिन्दी**—भिक्षान्न दूसरे के द्वारा पकाया गया और प्रतिग्रह (दान) लेना नहीं माना जाता, भिक्षान्न सोमपान के समान है, इस कारण (ब्रह्मचारी) भिक्षावृत्ति करे ॥९॥]

[भैक्षत्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रामांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ।।१०।।]

[**हिन्दी**—आगम से शुद्ध, प्रोक्षित (जल छिड़के हुए) तथा हवन किये हुए भिक्षान्न के जिन ग्रासों को ब्रह्मचारी खाता है; वे ग्रास यज्ञों के समान हैं ।।१०।।]

पूर्वोक्त निषेध अपवाद—

व्रततद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ।।१८९।।

अयमपवादो निमित्तविशेषे भैक्षवृत्त्युपदेशस्य ।

देवदैवत्ये देवोद्देशेन ब्राह्मणभोजने क्रियमाणे, **पित्र्ये** च पितॄनुद्दिश्या**भ्यर्थितो**ऽध्येषितः, **काममे**कान्न**मश्नीयात्** । न तु स्वयं याचेत ।

तच्च **व्रतवद्** व्रताविरुद्धं मधुमांसवर्जितमित्यर्थः । **व्रतवदृषिवदिति** च शब्दद्वयेनैक एवार्थ उच्यते, न पुनर्ग्रामारण्ययोः कर्मभेदेन व्यवस्था । वृत्तानुरोधात्तु द्विरभिधानम् । ऋषिर्वैखानसस्तदशनाभ्यनुज्ञाने मांसमपि ब्रह्मचारिणोऽनुज्ञानं स्यात् । तस्य हि 'वैष्कव-वमप्युपभुञ्जीत' इति मांसाशनमप्यस्ति ।

देवा देवता यस्य तद् **देवदैवत्यम्** । तच्चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु दैवेषु कर्मसु ब्राह्मणभोजनमाम्नातम्, आग्रहायण्यादिषु चाम्नातं 'ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयेदिति' । तत्रेयमनुज्ञा ।

अन्ये तु सप्तम्यादावादित्यादिदेवोद्देशेन यत्क्रियते ब्राह्मणभोजनं **तद्देवदैवत्यं** मन्यन्ते ।

तदसत् । न हि भुजेर्देवतासम्बन्धोऽस्ति, अयागसाधनत्वात्तस्य । न तूद्देश्यमात्रं देवता । 'उपाध्यायाय गां ददाति', 'गृहं संमार्ष्टीत्यु'पाध्याये गृहेऽपि प्रसङ्गात् । भुजेर्हि प्रत्यक्षो भोक्त्रा सम्बन्धः । आदित्यस्तु न कारकं, न चोद्देश्यो गृहवत्, न तदर्थं भोजनम् । द्वितीया हि भोक्त्रर्थतां, ज्ञापयति, नादित्यार्थताम् । न चैतत्क्वचिन्नोदितम् 'आदित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणान्भोजयेदिति' ।

"समाचाराद्विधिः कल्प्यत" इति चेत्?

न । तस्योपलभ्यमानमूलत्वात् ।

"अस्ति हि मूलं, बाह्याः स्मृतयः ।।"

तत्र तर्हि ब्राह्मणभोजनेन देवताः प्रीणयेदिति शास्त्रार्थः । न चायमर्थः शक्यः कल्पयितुम् । न हि देवताप्रीतिप्रधानः शास्त्रार्थः, किं तर्हि विध्यर्थप्रधानः । न चास्मि-

न्विध्यर्थ आदित्यादीनां देवताभिमतानां विषयद्वारकः सम्बन्धः, नाप्यधिकारद्वारकः। न हि भेदनादिवन्निमित्तम्। नापि पश्वादिवत्स्वसम्बन्धितया काम्यते। अभोग्यरूपत्वात्। अथ तद्गता तुष्टिः काम्यते। साऽप्यात्मसिद्धौ प्रमाणान्तरमपेक्षते। न च तदस्ति। न ह्यादित्यादितुष्टिः प्रत्यक्षादिसिद्धा पश्वादिवद्येन काम्येत परेष्टिविधिना युज्येत।

अथ तु 'मत्प्रभुरिति स्वाभिप्रेतेन फलेन योजयिष्यतीति'।

एतदपि प्रमाणाभावादुपेक्षणीयम्। न चास्मिन्नर्थे विधिः प्रमाणम्। स हि ज्ञातस्यानुष्ठातृविशेषणस्य स्वसम्बन्धितया पुरुषं नियुङ्क्ते, न पुनः काम्यमानस्य सद्भावमवगमति। प्रमाणान्तरावगतं हि काम्यमनुष्ठातृविशेषणम्—अनुष्ठानसाध्यमनुष्ठातृसम्बन्धीति विधिः प्रमाणमिति मीयते।

"अथायं यागस्तस्य च भोजनं प्रतिपत्तिः",—भवतु, यदि शिष्टसमाचारः। भोजनं तावन्न देवतासम्बन्धि साक्षादिति न साध्यम्। यागव्यवहितस्तु सम्बन्धो न निवार्यते। न चात्र यागबुद्ध्या प्रवर्तते, किं तर्हि ब्राह्मणेषु भोजितेषु देवता तुष्यतीति। अतो न देवता भोजनकारकं न कारकविशेषणम्। ततो न विषयत्वेन सम्बन्धः। उद्देश्यत्वमप्यादित्यादीनां नास्ति। भोजने हि स उद्दिश्यते यस्मै भोजनं दीयते। तच्च ब्राह्मणेभ्यः। न चोद्देश्यमात्रं देवता उपाध्यायाय गां ददाति गृहं सम्मार्ष्टीति गृहोपाध्याययोरपि प्रसङ्गात्।

"ननु च पित्र्ये कथं ब्राह्मणभोजनम्? तत्रापि हि न पितरौ देवताः स्युः। न च होमस्य पित्र्यत्वम्, देवतान्तरश्रवणात्। आदित्यादिप्रातेरिव पितृप्रीतेः प्रमाणान्तरासिद्धत्वान्न विधेः सम्बन्धः साध्यतया।"

अत्र वदन्ति। सिद्धा ह्यत्र पितृप्रीतिः। आत्मनामविनाशित्वात् पितरः सिद्धास्तेषां च शरीरसम्बन्धः क्रियते कर्मभ्यः। तद्भोजनं ह्यत्र प्रधानम्। तस्य हि फलं श्रुतम्—'भोजयन्पुष्कलं फलमाप्नोति।' तच्च फलं पितृणां तस्य तृप्तिः स्यादिति तृप्तिश्च प्रीतिमात्रम्, न मनुष्याणामिव भुजिक्रियाफलं सौहित्यलक्षणमुत्पद्यते। काचित्पितृणां प्रीतिः स्वकर्मवशतो यत्र तत्र जातावुत्पन्नानाम्। प्रीतिमात्रवचनोऽयं धातुः सौहित्यं तु विशेषः। स प्रमाणान्तरावसेयः।

न चात्रैतच्चोदनीयम्—"पुत्रः कर्ता, पितृषु कथं कर्तृगामिफलम्? न हीमानि कर्माणि वैदिकानि परस्य फलदानीति न्यायविदो वदन्ति।"

यतः पितर एवात्राधिकारिणः कर्तारश्च। अपत्योत्पादननैव सर्वमेतत्पितृभिः कृतम्। एवमर्थमेवासावुत्पादितो 'दृष्टादृष्टमुपकारं करिष्यतीति।" ततश्च यथा सर्वस्वारेऽभावादौत्तरकालिकेष्वंगेषु 'ब्राह्मणाः संस्थापयत मे यज्ञमिति' प्रैष्य मृतस्य कर्तृत्वम्। एव-

मत्रापि द्रष्टव्यम् । एतावान्विशेषः । तत्राधिकारान्तरप्रयुक्ता जीविकार्थिनो भृतिपरिक्रीता ऋत्विजः 'कर्तारः' । इह तु तद्विधिप्रयुक्त एव पुत्रः । यथैवापत्योत्पत्तिविधिप्रयुक्तस्य पुत्रार्थेषु पितुः संस्कारेषु अधिकारोऽनुशासनपर्यन्तत्वात्तस्य विधेः, एवं पित्रर्थे श्राद्धादौ पुत्रस्य । तथैव जीविनः पितुः "वृद्धौ तु मातापितरौ" इत्यवश्यं कर्तव्यम् । एवं दिष्टं गतं तस्यापि ।

न चायं वैश्वानरवत्काम्योधिकारः । "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते । यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियवान् न भवति" इति । एवमादिपुत्रफलार्थिनोऽधिकारः पितुर्वैश्वानरे न चूडादिष्विवावश्यकः । इह तु 'मित्र्यमानिधनात्कार्यमिति' यावज्जीविकः ।

न कर्तुर्वैदिकं फलमित्येतदन्यथा परिक्ष्क्रियते । यथैव वैश्वानरविशिष्टपुत्रवत्तालक्षणं पितुरेव फलं, नाकर्तृगामिता फलस्य, एवमिहापि पुत्रस्यैव तत्फलं या पितुः प्रीतिः । उभयथा पितृकर्तृगामिता फलस्य न विरुध्यते । अपत्योत्पादनेनैवैतादृशस्य फलस्येष्टत्वात् पितृणामपि नाकामितफलापत्तिः ।

"यदि न श्राद्धे पितरो 'देवताः' कथं तर्हि पित्र्यमेतत्कर्मेति देवतातद्धितः ।"

उद्देश्यत्वसामान्यादिति वदामः । 'युष्मदुपकारार्थमिदं ब्राह्मणभोजनमिति' पितर उद्दिश्यन्ते । पिण्डपितृयज्ञे तु पितरो 'देवता' एव । न श्राद्धे पितृणां देवतात्वं मन्यन्ते । यत्तु ब्राह्मणा भोज्यन्ते तद्यथाऽग्नौ होम आज्यपुरोडाशादीनामवदानस्य, तादृशमेतत् । तथा च ब्राह्मणाः पितृत्वमापद्यन्ते । अतोऽन्नपरिवेषणकाले पितर एवोद्देश्याः—'युष्मभ्यमिदं न ममेति' ब्राह्मणास्त्वाहवनीयस्थानीयाः । एतावान्विशेषो यदाहवनीये हविः प्रक्षिप्यते, ब्राह्मणानां तु सन्निधाप्यते, ते तु स्वयमुपाददत इति ।

न च "श्राद्धं न यागो न तत्र देवतार्थः स्वाहाकारः" स्विष्टकृदादिषु दर्शनात् । अतो यागोऽपि सन् श्राद्धकर्म पित्र्यर्थं भविष्यति । पितृणां देवतात्वं फलभावित्वं न विरोत्स्यते । तृतीये किञ्चिदनुक्तमेव तत्सम्बद्धं वक्ष्यामः ।

तस्मान्नादित्यादयो ब्राह्मणभोजने देवता इति स्थितम् ।

"ननु चाव्यापकमेतदपि लक्षणम्—'यागे उद्देश्यः देवतेति', अन्तरेणापि यागसम्बन्धं देवताव्यवहारदर्शनात्—'देवतानां च पूजनम्' 'दैवतान्यभिगच्छेदिति' न पूजा नाप्याभिमुख्येन गमनं पादविहारात्मकं देवताः प्रति सम्भवति ।"

नैष दोषः । यत्र देवताचोदना तत्रैतत्पूजाविधानं भविष्यति, वैश्वदेवदेवतास्वग्निहोत्रादिसम्बन्धिनीषु वा ।

"ननु चैवमपि नोपपद्यते । न हि देवतायाः पूज्यत्वं सम्भवति, स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । पूजाकर्मत्वे हि यागसम्प्रदानता न स्यात् । उक्तम् 'न क्रियान्तरस्य किञ्चिद्भवति' इति । शक्तिर्हि कारकं, सा च प्रतिक्रियं भिद्यते । कार्यावगम्यत्वाच्च तस्या यावत्कार्यं भेदो न्याय्यः । अतो यत्सम्प्रदानं तत्सम्प्रदानमेव न तस्य कर्मापत्तिः । कथं तर्हि 'पाचकाय देहि' पचेः कर्ता ददातेः सम्प्रदानम् । 'शरैः क्षताङ्गः प्रियया कटाक्षैर्निरीक्ष्यमाणो विवशो जगाम ।' उक्तोऽत्र परिहारः । शक्तिशक्तिमतोर्भेदस्यौपचारिकत्वात्सिद्धं 'व्रजति भुक्त्वेति' । तस्माद्यदि पूजाविषयमेतत्, न देवतालाभः अथ देवता आदित्यादयः, न पूजाविधिः । न हि देवता सिद्धा यामुद्दिश्य पूजा विधीयते । न ह्यादित्यादीनां 'देवता' सामान्यशब्दः, गोशब्दवच्छागलेयादीनाम् ॥"

अत्रोच्यते । सत्यं, नादित्यादयः स्वरूपतो 'देवताः' । सम्बन्धिशब्दोऽयम् । विधित एव देवतार्थोऽवगन्तव्यः—"यस्य हविश्चोद्यते सा तस्य देवता" इति । स एवाग्निराग्नेयादन्यत्र न देवतेत्युक्तम्; किन्तु न पूजाविधिः पूज्यमानमन्तरेण सम्भवति । देवताश्च पूज्यत्वेन श्रुताः । तत्र यदि देवतार्थे मुख्येन पूजा सम्भवति तदा याग एव पूजा विज्ञेया । तस्य चारूपत्वादसति द्रव्यदेवताश्रवणे पूर्वाह्णकालविध्यर्थोऽयमनुवादो विज्ञेयः । अतः पूर्वाह्णे दैवतानि कर्तव्यानी'त्युक्तं भवति ।

"किमुच्यते देवता न श्रूयते ।"

यावता न साक्षाद्देवताशब्दोऽस्ति ।

"नायं सामान्यवचनो देवताशब्दः । यासामन्यत्र देवतात्वं दृष्टं तासामेतत्पूजाविधानम् । तेनाग्निरादित्यो रुद्र इन्द्रो विष्णुः सरस्वतीत्येवमादयः पूज्याः । पूजार्थं च धूपदीपमाल्योपहारादीनां निवेदनम् । तत्राग्नेस्तावत्साक्षात्सम्बन्धः । आदित्यस्य दूरदेशवर्तित्वाच्छुचौ देशे तदुद्देशेन गन्धादिप्रक्षेपः । इन्द्रादीनां स्वरूपस्याप्रत्यक्षत्वादिन्द्रादिशब्दोद्देशेनैव तथा विधानम् । यद्यपि पूज्यमानप्रधाना पूजा, तथापि हि पूज्यमानानां कार्यान्तरशेषभावे पूजैव कर्तव्यतया विज्ञायते । द्रव्यप्रधाने हि न विधिविषयत्वसम्भवः । "तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि" (मी०सू० २।१।६) "यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते" इति (२।१।७) ।"

न्याय्यं तु स्तुतिशस्त्रादिवत् । यथा न स्तुतिः स्तुत्यर्था एवमियमपि पूजा न पूज्यार्था । स्तौतिशंसत्योर्निर्देशो नास्तीति चेत्? अत्रोक्तम्—द्वितीया, सक्तुषु दर्शनात् ।

एवं 'मृदं गां दैवतं प्रदक्षिणानि कुर्वीतेति' दक्षिणाचारता विधीयते । दक्षिणेन दैवानि कर्माणि कर्तव्यानि । न हि मृदादिवद्देवताया दक्षिणेन मार्गेण स्थानममूर्तत्वात् युज्यते ।

एवं "दैवतान्यभिगच्छेदिति" । पादविहारव्यापारेण देवतासमीपप्राप्त्यसम्भवाद्गमेश्च ज्ञानार्थत्वादभिगमनं स्मरणात्किं विशिष्यते? देवता अभिगच्छेत्, कर्मकाले मनसा ध्यायेत् चित्तव्याक्षेपतामाकुलताख्यां परिहरेदित्यर्थः । तथा चोपलभ्य मानमूलैवेयं स्मृतिर्भवति । 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेदिति' ।

"ननु चैतदप्युद्देश्यत्वान्यथानुपपत्तेः प्राप्तमेव ।"

सव्याक्षेपस्याकुलस्य च सम्भवाददोषः ।

एवं 'देवस्वं' 'देवपशवो' 'देवद्रव्यमि'त्यादयो व्यवहारास्तादर्थ्येनोपकल्पितेषु पश्वादिषु द्रष्टव्याः ।

दण्डाधिकारे तु प्रतिकृतिविषयमेव देवताव्यवहारमिच्छन्ति । अन्यथा व्यवस्थाभङ्गः स्यात् । कल्पितदेवतारूपाणां प्रतिकृतीनां कल्पितेनैव स्वस्वामिभावेन यत्सम्बन्धि तदेव "देवब्राह्मणराज्ञां तु द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम्" इत्यादिषु 'देवद्रव्यम्' । न हि देवतानां स्वस्वामिभावोऽस्ति, मुख्यार्थासम्भवाद्गौण एवार्थो ग्राह्यः ।

"कः पुनरत्र गौणोऽर्थः? सर्वत्र हि साधारणगुणयोगाद्गौणार्थावगतिः ।"

अग्निर्माणवक इत्यादिषु शुक्ले माणवके तद्गुणदर्शनात् । ते च गुणाः प्रत्यक्षाद्यवसेयाः । इह तु देवतार्थस्य कार्यावगम्यत्वात् कार्यतः स्वरूपविशेषानवगमात् कुतः प्रतिकृतिषु साधारणगुणावसायः ।

अत्रोच्यते । मन्त्रार्थवादेषु तथाविधरूपश्रवणात्तेषां च गुणवादेन व्याख्यानम् । तन्मूलमपश्यन्तो यथाश्रुतार्थग्राहिणस्ताद्रूप्यमिन्द्रादिषु प्रतिपद्यमानाः प्रतिकृतिषु सादृश्यं पश्यन्तीति युक्तैव गौणता ।

ये तु श्राद्ध एव वैश्वदेवब्राह्मणभोजनं **देवदैवत्य**माचक्षते, तेषां पित्र्याङ्गत्वात् तस्य पित्र्यग्रहणेन गृहीतत्त्वादनर्थकं पुनर्वचनम् । सामान्यशब्दत्वाच्च कुतो विशेषावगतिः । साहचर्यादिति चेत्—यदि न पित्र्यशब्देन ग्रहणं भवेत् । गोबलीवर्दन्यायोऽप्यसति विषयभेदे भवति ॥१८९॥

हिन्दी—देवतोद्देश्यक कर्म (यज्ञादि) में सम्यक् प्रकार से निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी व्रत के योग्य एवं मधु-मांसादि से वर्जित एक व्यक्ति के भी अन्न को भोजन करे तथा पितरों के उद्देश्य वाले कर्म (श्राद्धादि) में सम्यक् प्रकार से निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी ऋषितुल्य मधु-मांसादि से वर्जित एक मनुष्य के अन्न को भी भोजन करे; इस प्रकार इस (ब्रह्मचारी) का व्रत नष्ट नहीं होता है ॥१८९॥

विमर्श—-"व्रतमस्य न लुप्यते" इस मनुवचन को देखते हुए विश्वरूप ने "ब्रह्मचारी के लिये इस मनुवचन के द्वारा विधान किया गया है" ऐसी व्याख्या की है;

किन्तु उक्त वचन वास्तव में एकान्न-भोजन-निषेधक होने से ब्रह्मचारी के लिए मांस-भक्षण का विधायक नहीं है।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ।।१९०।।

भाष्य—यदेतदेकान्नभोजनकर्मादिष्टमेतद्ब्राह्मणस्यैव **मनीषिभिर्**विद्वद्भिर्वेदादुपलभ्यो**पदिष्टम्** क्षत्रियवैश्ययोस्तु नैतदिच्छन्ति। न कदाचित्तयोरभैक्षभोजनम्।

"ननु च श्राद्धभोजने ब्राह्मणानामेवाधिकारः। 'ये तत्र भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः। अर्हत्तमाय विप्राय' इति वचनाद्ब्राह्मणस्यैव प्रतिग्रहाधिकारः। तत्र कुतोऽयं प्रतिषेधो राजन्यवैश्ययोरिति। प्रतिप्रसवश्चायं नापूर्वविधिः। प्राप्तिसव्यपेक्षाश्च प्रतिषेधा भवन्ति।"

उच्यते। भुक्तवतां ब्राह्मणानामेव शिष्टस्यान्नस्य प्रतिपत्तिराम्नाता—'ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्' इति। न च तत्र जात्यपेक्षा, यस्य ज्ञातिः स तेन भोजयितव्यः। न च तत्र क्षत्रियादयः प्रतिग्रहीतृतया सम्बध्यन्ते, अपि तु ज्ञातयः। अतोऽस्याः प्राप्तेः प्रतिषेधः ॥१९०॥

हिन्दी—पूर्वोक्त यह कर्म (यज्ञ या श्राद्ध में सम्यक् निमन्त्रित होकर एक मनुष्य के अन्न को (भोजन करने का विधान) केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए ही विहित है, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारी के लिये यह विधान (यज्ञ या श्राद्ध में निमन्त्रित होकर एक मनुष्य के अन्न को भोजन करने का नियम) नहीं है ॥१९०॥

अध्ययन तथा आचार्य-हित में तत्परता—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने योगमाचार्यस्य हितेषु च ।।१९१।।

भाष्य—नोदितो गुरुणाऽनियुक्तोऽपि कु**र्यादध्ययने योगं** यत्नम्।

"ननु चाहूतोऽधीयीत इत्युक्तम्। कथमप्रणोदितस्य योग उच्यते?"

गृहीतवेदैकदेशस्य परिशेषकगुणार्थमेतदुच्यते। न तत्राचार्यनियोगोऽपेक्षितव्यः। एवमाचार्याय **हितं** यदुदकुम्भाहरणादि श्रान्तसंवाहनादि तदप्यनियुक्तेन कर्तव्यम् ॥१९१॥

हिन्दी—आचार्य के करने पर अथवा नहीं करने पर भी ब्रह्मचारी अध्ययन और आचार्य हित में सर्वदा प्रयत्नशील रहे ॥१९१॥

गुरु की आज्ञा का पालन—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ।।१९२।।

भाष्य—कुतश्चिदागतो गुरोर्मुखं **वीक्षमाणस्तिष्ठेन्नो**पविशेत् ।

नियम्य च शरीरम्। पादहस्तचालनहसितानि न कुर्यात्, न किञ्चिद्वदेत्, अनुपयोगि ।

बुद्धीन्द्रियाणि नियच्छेत् । यदाश्चर्यरूपं किञ्चिद्गुरुसकाशे न तत्पुनः पुनर्भावयेत् । श्रोत्रादीन्यपि । चक्षुर्नियमस्तु गुरुवक्त्रप्रेक्षणादेव सिद्धः । मनश्च नियच्छेच्छास्त्रीयान्विकल्पान्गृहकुशलाद्यारम्भान्मनसा वर्जयेत् । उक्तस्यु 'संयमे यत्नम्' इति सक्तिप्रतिषेधार्थः स प्रतिषेधः । गुरुसन्निधौ स्वल्पेऽपीन्द्रियाणामप्रतिषिद्धेऽपि विषये प्रसरो न देयः ।

प्राञ्जलिरूर्ध्वकृतकरकपोतः ॥१९२॥

हिन्दी--शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मन को वशीभूत कर हाथ जोड़कर गुरु के मुख को देखता हुआ स्थित होवे (बैठे नहीं; किन्तु खड़ा रहे) ॥१९२॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंवृतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ।।१९३।।

भाष्य—न केवलं सूत्रकात्पाणिरुद्धर्तव्योऽपितु वाससोऽपि ।

नित्यग्रहणं—न तिष्ठत एवायं पाण्युद्धारः, नाप्यध्ययनवेलायाम्, किं तर्हि ततोऽन्यत्रापि ।

साध्वाचारः साधुः अनिन्द्यः आचारो वाग्व्यवहारादिः कार्यः । अश्लीलादिभाषणमसन्निधानेऽपि गुरोर्नित्यग्रहणान्न कर्तव्यम् ।

सुसंवृतः वाङ्मनश्चक्षुर्भिः नियतात्मा । स्वल्पोऽपि यो दोषस्तं परिहरेत् । अनावृतो लोक उच्यते यो यथाकामी; तद्विपरीतः **सुसंवृतः** ।

अन्ये तु मन्यन्ते—वस्त्रेणाच्छादितशरीरो गुरुसन्निधौ भवेत् नोत्तरीयमवतारयेत् ।

एवं तिष्ठेत् । यदा तु गुरुणा **आस्यतामित्युक्तः**—एतेन भ्रूविक्षेपादिना वा—विधेः प्रतिपादनार्थत्वात्, प्रतिपादनं च न शब्दव्यापार एव । तदा **आसीत** उपविशेत् । **अभिमुखं** सम्मुखम् ॥१९३॥

हिन्दी—और सर्वदा दुपट्टे के बाहर दाहिना हाथ रखे, सदाचार से युक्त और अच्छी तरह संयत रहे (वस्त्र से शरीर को ढका रखे, नंगे शरीर न रहे) तथा ''बैठो'' ऐसा गुरु के कहने पर उन (गुरु) के सामने बैठे ॥१९३॥

गुरु से कम अन्नवस्त्रादि को रखना आदि—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ।।१९४।।

भाष्य—**हीनं** न्यूनम् **अन्नं** भुञ्जीत **गुरुसन्निधौ**। न्यूनता च परिमाणतः क्वचित्क्वचित्संस्कारतः। यदि संस्कृतमाज्यं दधिक्षीरादिव्यञ्जनं भिक्षातो लब्धं स्यात्तदा, यदि गुरुणा तादृशमन्नं न भुक्तं स्यादेककाले च गुरुणा सह भोजने, यदि गुरोस्तादृशमन्नं गृहे न सिद्धं स्यात्, तदा तत्तेन नाशितव्यम्। अथ गुरोरपि तादृशमन्नं स्यात्तदाऽपचयः कर्तव्यः।

वस्त्रं यदि गुरोरौर्णं स्यात्तदा न कार्पासादि शिष्येण प्रावरीतव्यम्।

वेष आभरणमण्डनादिः। सोऽपि हीनः।

सर्वदा ब्रह्मचर्यात्परेणापि। अतएव वेषग्रहणम्। न च ब्रह्मचारिणो मण्डनमिष्यते।

उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य शय्याया रात्र्युपरमे, आसनाद्वा उत्थानावसरं बुद्ध्वा, **प्रथमं** पूर्वं गुरो**रुत्तिष्ठेत्**।

चरमं पश्चात्स्वापकाले सुप्ते गुरौ **संविशेच्छय्यां** समाश्रयेदासने चोपविशेत्॥१९४॥

हिन्दी—सर्वदा गुरु की अपेक्षा अन्न (भोज्य पदार्थ); वस्त्र तथा वेष को हीन रखे और गुरु के सोकर उठने के पहले उठे तथा सोने के बाद सोवे॥१९४॥

गुरु के आज्ञापालन का प्रकार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥१९५॥

भाष्य—**प्रतिश्रवणमा**हूयमानस्य कार्ये नियुज्यमानस्य गुरुसम्बन्धिवचनाकर्णनम्। **सम्भाषा** गुरुणा सहोक्तिप्रत्युक्तिकरणम्। ते **प्रतिश्रवणसम्भाषे**। **शयानः** स्वे स्रस्तरे निक्षिप्तगात्रः। **न समाचरेन्न** कुर्यात्। **नासीन** आसने चोपविष्टः। **न भुञ्जानः**। **न तिष्ठन्ने**कस्मिन्नेव देशेऽविचलन्नूर्ध्वं स्थितः। **न** पुनः **पराङ्मुखः**। यस्यां दिशि गुरुर्दृश्यते ततः परावृत्य स्थितिर्न कुर्यात्॥१९५॥

हिन्दी—गुरु की आज्ञा को अस्वीकार या उनसे सम्भाषण (बातचीत) स्वयं सोये हुए, आसन पर बैठे हुए, खाते हुए, खड़े हुए या मुख फेरे (गुरु के सामने पीठ किये) हुए न करे॥१९५॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥१९६॥

भाष्य—कथं तर्हि। आसीनो यदाऽऽज्ञां ददाति तदा **स्थित** आसनादुत्थाय प्रति श्रवणसम्भाषे **कुर्यात्**।

अभिगच्छंस्तु तिष्ठतः। तिष्ठन्गुरुर्यदाऽऽदिशति तदाऽऽभिगच्छंस्तदभिमुखं

कतिचित्पदानि गत्वा ।

आव्रजत आगच्छतः **प्रत्युद्गम्या**भिमुखमेव गत्वा । प्रतिराभिमुख्ये ।

धावतो वेगेन गच्छतः **पश्चाद्धावन्** ॥१९६॥

हिन्दी—किन्तु गुरु के आसन पर बैठे रहने पर स्वयं आसन से उठकर, खड़े रहने पर सामने जाकर, आते रहने पर कुछ आगे (पास में) बढ़कर और दौड़ते रहने पर दौड़कर गुरु की आज्ञा को स्वीकार करे या उनसे सम्भाषण (बातचीत) करे ॥१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ।।१९७।।

भाष्य—तथा **पराङ्मुखस्य** गुरोः सम्मुखोपविष्टः शिष्यः । यदि गुरुः परावृत्य कथञ्चित्स्थितः प्रेष्यति, तां दिशं गत्वाऽभिमुखीभूय पूर्वोक्तं कर्तव्यम् ।

दूरस्थस्य समीपं **अन्तिकं एत्या**गत्य प्राप्त ।

आसीनस्यापि **शयानस्य प्रणम्य** प्रह्वो भूत्वा गात्राण्यवनमय्य ।

निदेशे निकटे **तिष्ठतो**ऽपि प्रणम्यैव यत्प्रागुक्तम् 'अभिगच्छन्निति' ॥१९७॥

हिन्दी—और गुरु के पराङ्मुख (पीठ फेरे रहने) पर उनके सामने जाकर, दूर रहने पर स्वयं समीप जाकर, सोये (लेटे) रहने पर तथा निकटस्थ रहने पर प्रणाम कर (नम्र होकर—झुककर) उन (गुरु) की आज्ञा को स्वीकार करे तथा उनके साथ सम्भाषण करे ॥१९७॥

गुरु के समीप नीचे आसन रखना तथा चाञ्चल्य का निषेध—

नीचं शय्यासनं चास्य नित्यं स्याद् गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ।।१९८।।

भाष्य—**नीच**मनुन्नतम् गुरुशय्याद्यपेक्षया च नीचत्वम् ।

नित्यग्रहणाद्ब्रह्मचर्यादुत्तरकालमपि ।

गुरोश्च दृष्टिगोचरे, यत्र गुरुः पश्यति तत्र न **यथे**ष्टमासीत्, पादप्रसारणाङ्गनिषङ्गादिना । **आसन**ग्रहणं चेष्टामात्रोपलक्षणार्थम् । यथेष्टचेष्टो न भवेत् ॥१९८॥

हिन्दी—गुरु के समीप इस (ब्रह्मचारी) का आसन सर्वदा (गुरु की अपेक्षा) नीचा रहे और (ब्रह्मचारी) गुरु के सामने मनमाने (अस्त-व्यस्त) आसन से न बैठे ॥१९८॥

गुरु के नामग्रहण तथा चेष्टादि के अनुकरण करने का निषेध—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ।।१९९।।

नोदाहरेन्नोच्चारयेदस्य गुरोर्नाम, **केवलं** उपाध्यायाचार्यभट्टाद्युपपदरहितं, **परोक्षमपि** ।

न चैवास्यानुकुर्वीत सदृशं न कुर्यान्नाट्यकार इव । **गतिः**—एवमस्मद्गुरुरपक्रामति । **भाषितं**—द्रुतविलम्बितमध्यमत्वादि । **चेष्टितम्**—एवं भुङ्क्ते एवमुष्णीषं बध्नाति एवं परिवर्तत इत्यादि ।

उपहारबुद्ध्याऽयमनुकरणप्रतिषेधः ॥१९९॥

हिन्दी—(ब्रह्मचारी) परोक्ष में भी गुरु के केवल (उपाध्याय, आचार्य, गुरु आदि उत्तम एवं योग्य उपाधियों से रहित) नाम को उच्चारण न करे तथा उनके गमन, भाषण तथा चेष्टा आदि का अनुकरण (नकल) न करे ॥१९९॥

[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन् ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ।।११।।]

[**हिन्दी**—गुरु के परोक्ष में 'शिष्टता'पूर्वक गुरु का नामोच्चारण करे तथा प्रत्यक्ष में किसी प्रकार भी गुरु के नाम का उच्चारण न करे। गुरु के विषय में दुष्टाचरण करने वाला (शिष्य) इस लोक तथा परलोक में अधोगति पाता है ।११॥]

गुरु निन्दा सुनने का निषेध—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोन्यतः ।।२००।।

भाष्य—यत्र दुर्जनसम्पाते **गुरोः परीवादः** सम्भूतद्दोषानुकथनम् **निन्दा** अविद्यमानानां दोषाणामभिधानम्, **प्रवर्तते तत्र कर्णौ पिधातव्यौ** अङ्गुल्यादिना संवरीतव्यौ । **ततः** प्रदेशाद्वाऽन्यत्र **गन्तव्यम्** ॥२००॥

हिन्दी—जहाँ गुरु की बुराई (गुरु में वर्तमान दोषों का वर्णन) या निन्दा (गुरु में नहीं रहने वाले दोषों का कथन) होती हो, वहाँ ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहाँ से अन्यत्र चला जाय ॥२००॥

गुरु की बुराई आदि करने का फल—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ।।२०१।।

भाष्य—पूर्वप्रतिषेधशेषोऽयमर्थवादः ।

अत एवं व्याख्येयम् । परीवादाच्छ्रुत्वा **खरो भवति** । हेतौ ल्यब्लोपे वा कर्मणि पञ्चमी—परीवादं श्रुत्वा ।

निन्दकः—निन्दाश्रावी उपचारान्निन्दक उच्यते। तथा संस्कर्ताऽवघातकः। श्रवण-निषेधादेव साक्षात्करणनिषेधसिद्धिः।

परिभोक्ता यो गुरुमुपजीवति कुसृत्याऽनुवर्तते।

मत्सरी गुरुसमृद्धिमभ्युच्चयं न सहतेऽन्तर्दह्यते।

अनयोरप्राप्तत्वादपूर्वो विधिः।

परिवादपरीवादयोः "घञमनुष्ये बहुलमिति" (पा०सू० ६।३।१२२) दीर्घ-त्वादीर्घत्वे ॥२०१॥

हिन्दी—शिष्य गुरु के परीवाद (बुराई-उनके दोषों के कहने) से गधा, निन्दा (गुरु में नहीं रहने वाले दोषों के झूठमूठ कहने) से कुत्ता, धन का भोग करने से कृमि (विष्ठादि स्थित छोटा-छोटा कीड़ा), मत्सर (गुरु की उन्नति को असहन करने) से कीट (कृमि से कुछ बड़ा) होता है ॥२०१॥

स्वयं गुरुपूजा-विधान आदि—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

भाष्य—अत्र परप्रेषक्षणेन गन्धमाल्यादेरर्पणं प्रतिषिध्यते। स्वयंकृते च कारिते तुल्यं कर्तृत्वम्। प्रयोजकेऽपि कर्तृत्वस्मरणात्—इत्येतया बुद्ध्या प्राप्ते परमुखेनार्चने प्रतिषेधः। अशक्तौ ग्रामान्तरस्थस्य न दोषः। 'ग्रामान्तरं गच्छत्युपाध्याये भवानभि-वाद्रयतां' स गत्वा तमभिवादयत इत्यादिव्यवहारदर्शनात्।

न क्रुद्धः। गुरौ क्रोधासम्भवादन्यनिमित्तेऽपि क्रोधे पूजाकाले तत्त्यागेन चित्तप्रसादो-ऽभिधीयते। क्रुद्धमित्यन्ये पठन्ति।

नान्तिके समीपे **स्त्रियाः** कामिन्याः स्थितम्। गुर्वाराधनपरत्वाच्छुश्रूषाकलापस्य येन चित्तखेद आशङ्क्यते स निषिध्यते। अतः स्त्रिया इत्येवं व्याख्यातम्।

यानं गन्त्र्यादि। **आसनं** पीठिकामञ्चादि। ततोऽ**वरुह्या**वतीर्य **अभिवादयेत्**। 'शय्यासनस्थ' (२।११९) इत्यत्रासनादुत्थानमुक्तम्, अनेनावरोहणं विधीयते। मञ्चाद्या-ऽऽसनादुत्थानमनवरोहतोऽपि सम्भवति।

"अवरोहणं तर्हि अनुत्थितस्य च न सम्भवति। अतोऽनेनैव सिद्धे शय्यासनेत्य-त्रासनग्रहणमनर्थकम्।"

नानर्थकम्। यदि शिष्यः पराङ्मुखः प्रत्यग्देशादागतं गुरुं मन्येत तदासनस्थ एव सम्भ्रमपरावृत्तस्तदभिमुखीभूत उत्तिष्ठेन्न तूत्थायाभिपरावर्तेत। तथा ह्युत्थानक्रियया

सम्मुखीभवनं व्यवधीयेत। ततः कुप्येद्गुरुः। पराङ्मुखस्योत्तिष्ठतो गुरुरेवमपि मन्येत— 'नायं ममाभ्युत्थितो निमित्तान्तरकृतमेवास्याभ्युत्थानम्।' तस्मादर्थवदुभयत्राप्यासन-ग्रहणम् ॥२०२॥

हिन्दी—शिष्य स्वयं दूर रहकर (किसी अन्य मनुष्य के द्वारा), स्वयं क्रुद्ध होकर (झुझलाहट से) और स्त्री के समीप बैठकर गुरु की पूजा न करे तथा सवारी (रथ, गाड़ी, पालकी आदि) और आसन पर बैठा हुआ शिष्य उससे उतर कर गुरु को प्रमाण करे ॥२०२॥

विमर्श—पहले (श्लो० ११९) "शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्" इस वचन में शय्या और आसन पर स्थित होने पर उठकर अभिवादन करने के विधान में यहाँ पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस (श्लो० २०२) में यान और आसन से उतरकर अभिवादन करने का विधान है।

प्रतिकूलादि वायु में गुरु के साथ बैठने का निषेध आदि—

प्रतिवातानुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

भाष्य—यस्यां दिशि गुरुर्व्यवस्थितस्ततो देशाद्यदा वायुः शिष्यदेशमागच्छति शिष्यदेशाच्च गुरुदेशं ते **प्रतिवातानुवाते**। एकं 'प्रतिवातम्' अपरम् 'अनुवातम्' तदपेक्षया **गुरुणा सह नासीत**—अपि तु तिर्यग्वातसेवी गुरोर्भवेत्।

अविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन् **असंश्रवे**। **न किञ्चिदपि** गुरुगतमन्यगतं वा **कीर्तयेत्**। यत्र गुरुर्व्यक्तं न शृणोति, ओष्ठसञ्चलनादिना शिष्यसम्बन्धिना जानाति किञ्चिदयमेतेन सम्भाषते, तत्र कीर्तयेत् ॥२०३॥

हिन्दी—प्रतिवात (प्रतिकूल वायु अर्थात् गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली हवा) तथा अनुवात (अनुकूल वायु अर्थात् शिष्य की ओर से गुरु की ओर जाने वाली हवा) में गुरु के साथ न बैठे तथा जहाँ गुरु नहीं सुन सकते हों, वहाँ कुछ भी) गुरु या दूसरे विषय में कोई बात) न कहे ॥२०३॥

बैलगाड़ी आदि में गुरु के साथ बैठना—

गोश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेशु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

भाष्य—यानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। गोश्वोष्ट्रैर्युक्तं यानं **गोश्वोष्ट्रयानम्**। दधि-घटादिवत्समासे युक्तशब्दस्य लोपः। केवलेषु तु अश्वपृष्ठादिष्वारोहणं नास्ति। यदि स्वतन्त्रो यानशब्दो विज्ञायेत तदा स्यादप्यनुज्ञा। समाचारातु कदाचित्कमनुज्ञानं दृश्यते।

प्रासाद उपरिगृहादीनां या भूमिस्तस्यां गृहादिभूमिवत्सिद्धं सहासनम् ।

प्रस्तरः दर्भादितृणाकीर्णः आस्तरः । कटस्तु शरवीरणादिकृतः प्रसिद्धः ।

शिला गिरिशिखरादावन्यत्र वा ।

फलकं दारुमयमासनं पोतवर्तादि ।

नौर्जलतरणसंप्लवः । तेन पोतादावपि सिद्धं भवति ॥२०४॥

हिन्दी—बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, छत के ऊपर, बड़ी दरी आदि (बिछौना) शीतलपाटी, बेंत या ताड़ आदि की चटाई, पत्थर, लकड़ी का तख्ता और नाव पर शिष्य गुरु के साथ बैठ सकता है ॥२०४॥

गुरु के गुरु में गुरुतुल्य आचरण—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ।।२०५।।

भाष्य—उक्ता गुरुवृत्तिरिदानीमन्यत्रातिदिश्यते ।

अध्ययनधर्मत्वात्सर्वस्यास्य गुरुरत्राचार्यो विज्ञेयः । तस्य यो गुरुस्तस्मिन्सन्निहिते गुरुवद्वर्तितव्यम् । **सन्निहित** इति न तद्गृहगमनमभिवादनाद्यर्थं कर्तव्यम् ।

गुरुगृहे वसन् **गुरुणाऽनिसृष्टो** अननुज्ञातः **स्वान् गुरून्** मातापितृप्रभृतीन्नाभि-वादयितुं गच्छेत्, न पुनर्गुरुगृहे स्थितस्य यदि स्वे गुरव आगच्छन्ति तदा तदभिवादने गुर्वज्ञाऽपेक्षितव्या ।

"कुत एतत्?"

मातापित्रोरत्यन्तमान्यत्वात् । पितृव्यमातुलादीनामप्यभिवादनप्रवृत्तस्य न कश्चिद्-गुरुवृत्तेर्विघ्नः । आराधनार्थ एवायं सर्वः प्रयासः ।

मातापितृगुरुसन्निपाते कः क्रमोऽभिवादनस्येत्युक्तं "सर्वमहती माता" । पित्राचार्य-योस्तु विकल्पः । यतः पितृत्वाध्यारोपेणाचार्यस्य गौरवं विहितम्। अतः पिता श्रेष्ठः, यतश्चोक्तं "गरीयान् ब्रह्मदः पिता" (श्लो० १४६) इति तत आचार्यः । अतोऽयं विकल्पः ॥२०५॥

हिन्दी—गुरु के गुरु के पास गुरु के समान आचरण करे और गुरु के समीप में रहता (निवास करता) हुआ शिष्य (ब्रह्मचारी) गुरु की आज्ञा के विना (माता, चाचा आदि) गुरुजनों का अभिवादन न करे ॥२०५॥

विद्यागुरु आदि में आचरण—

विद्यागुरुष्वेवमेव, नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ।।२०६।।

भाष्य—अयमप्यतिदेशः ।

आचार्यादन्ये उपाध्यायादयो **विद्यागुरवः** । तेष्वेवमेव वर्तितव्यं, 'शरीरं चैव' (२।१९२) इत्यादिकृत्या ।

स्वयोनिषु ज्येष्ठभ्रातृपितृव्यादिषु । **नित्या वृत्तिर्**गुरुवृत्तिः । विद्यागुरूणां त्वाचार्य-व्यतिरेकेण यावद्विद्याग्रहणम् ।

अधर्मात् अकार्यात्परदारगमनादेः **प्रतिषेधत्सु** वयस्येष्वपि । अभ्यन्तरगत्यारूढतया-ऽकार्यं चिकीर्षन्यः सुहृदादिस्तम् "आकेशग्रहणान्मित्रमकार्येभ्यो निवर्तयेत्" इति—तस्मिन्समहीनवयस्केऽपि गुरुवद्वर्तितव्यम् । **हितं च** विधिरूपमग्रन्थकम् **उपदिशत्सु** । अथवा हितस्योपदेष्टारोऽभिजना उच्यन्ते ॥२०६॥

हिन्दी—उपाध्याय आदि अन्य (आचार्य को छोड़कर दूसरे) विद्यागुरुओं में, चाचा, मामा, मौसा आदि स्वबन्धुओं में, अधर्म का निषेध करने वालों (धर्मोपदेश करने वाले) हित के उपदेश देने वालों में गुरु के समान आचरण करे ॥२०६॥

विद्यादि में श्रेष्ठ लोगों के साथ आचरण—

श्रेयस्सु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रे तथाऽऽचार्ये गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ।।२०७।।

भाष्य—**श्रेयांस** आत्मापेक्षया वित्तवयोविद्याद्यतिशययुक्ताः । तेषु **गुरुवद्वृत्तिं** यथासम्भवमभिवादनप्रत्युत्थानादि **समाचरेत्** ।

बहवोऽत्र शब्दा गतार्थाः प्रयुज्यन्ते । तेषां वृत्तवशात्प्रयोगो न दुष्यति । श्रेयस्स्वि-त्येतावद्वक्तव्यम् । गुरुवदित्याक्षिप्यते । वृत्तिमित्यादि प्राप्तमेव । तदेतत्सर्वस्मिन्नेवास्मि-न्ग्रन्थे स्वयमुत्प्रेक्ष्यम् ।

गुरुपुत्रे तथाचार्ये । आचार्यग्रहणेनाध्यापकत्वं लक्ष्यते । यद्यसन्निहिते गुरौ तत्पुत्रो-ऽध्यापयति कतिचिदहानि तदा तस्मिन्गुरुवद्वृत्तिः । पाठान्तरम् 'गुरुपुत्रेष्वयार्येषु' । आर्यशब्दो गुणवद्ब्राह्मणजातिवचनः । शूद्राच्चार्यो ज्यायान् इति प्रयोगदर्शनात् । न च सर्वस्मिन्गुरुपुत्रे वृत्तिरेषा विधीयते ।

गुरोश्चैव स्वबन्धुषु । स्वग्रहणं गुरुवंश्यर्थम् । गुरुवंशसम्बन्धितैवात्र निमित्तम्, न वयोविद्याद्यपेक्ष्यते ॥२०७॥

हिन्दी—विद्या-तप आदि के द्वारा श्रेष्ठ लोगों में अवस्था में अपने से बड़े गुरु-पुत्र में और गुरु के आत्मीय बान्धवों में (शिष्य) गुरु के समान आचरण करे ॥२०७॥

छोटे गुरुपुत्रादि के साथ आचरण—

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ।।२०८।।

भाष्य—ये न पठन्ति गुरुपुत्रविशेषणार्थं पूर्वत्राचार्यग्रहणम्, तेषामध्यापयितरि गुणवति समानजातीये सर्वगुरुवृत्तिः प्राप्ताऽनेन विशेषेणावस्थाप्यते । **अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानं** पूजाम**र्हति**, नानाध्यापयन् ।

"ननु च विद्याग्रहणनिमित्तत्वाद्गुरुवृत्तिरध्यायपद्गुरुवद् गुरुपुत्रेऽप्यध्यापयितरि प्राप्तैव । शैशवब्राह्मणनिदर्शनात्कनीयसोऽपि सिद्धेत्यतो **बालः समानजन्मा वा** इत्येवमर्थमपि न वक्तव्यम्" ।

सत्यम् । यो वेदं वेदैकदेशं वाऽध्यापयति तस्यानाचार्यस्याप्येषा वृत्तिरुक्ता । अयं तु न ग्राहकः, केवलं कतिचिदहान्यहर्भागं वाऽध्यापयति, अतो नाचार्यो नोपाध्यायः—इत्यप्राप्तौ, विधिरयम् ।

अस्मादेव वचनादन्यस्य भग्नमन्त्रादेरध्यापकस्य न सर्वा गुरुवृत्तिः कर्तव्येति विज्ञायते ।

ये च पूर्वत्राचार्यशब्दं पठन्ति तेषामुत्तरार्थमिदमनूद्यते । "उत्सादनं चेति" वक्ष्यति । **शिष्यो वा यज्ञकर्मणि** । यज्ञकर्मग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । कचिदङ्गे वेदैकदेशे मन्त्रभागे कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणभागे वा—तथापि गुरुवत्पूज्यः यदि तु गुरुपुत्रः, तस्मादनेन प्रकारेण काञ्चिद्विद्यां शिक्षेत, तदा तेन तस्मिन्गुरुवद्वर्तितव्यमित्युक्तम्—एवमर्थवादत्वादस्यारम्भस्य ।

ये तु व्याचक्षते—"अध्यापयन्नित्यनेनाध्यापनसामर्थ्यं लक्ष्यते; अध्यापनसमर्थश्चे-दध्यापयतु, मा वाऽध्यापयेत्, गृहीतवेदश्चेद्गुरुवद्द्रष्टव्यः" तेषां शाब्दमेतद्व्याख्यानं सत्यं भवति । शता लक्षणार्थः, स तु क्रियायाः लक्षणहेत्वोः क्रियाया (व्या० सू० ३।२।१२६) इति । क्रिया चात्र श्रुता—**गुरुवन्मानमर्हति** ।।२०८।।

हिन्दी—गुरु का पुत्र अवस्था में अपने से छोटा (कम आयु वाला) हो, समान (या बराबर) हो, अध्ययन या अध्यापन करता हो, यज्ञ कर्म में ऋत्विक् हो, या अऋत्विक् रूप में यज्ञ दर्शन के लिये आया हो तो वह गुरु के समान (यजमान का) पूज्य है ।।२०८।।

गुरुपुत्र में अभ्यङ्गादि का निषेध—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ।।२०९।।

भाष्य—अभ्यक्तस्योद्वर्तनम् **उत्सादनं** न कुर्यात् । **गुरुपुत्रस्य । पादयोश्चावनेजनं** प्रक्षालनम् ।

अस्मादेव प्रतिषेधाद्गुरावेतदनुक्तामपि कर्तव्यतया प्रतीयते । यदा तु गुरुपुत्र एव गुरुः सम्पद्यते कृत्स्नवेदाध्यापनोपयोगितया, तदा स्वनिमित्तं तत्रोच्छिष्टभोजनाद्यस्ति; तदनेन न प्रतिषिध्यते । आतिदेशिकस्यानेन निषेधो नौपदेशिकस्य ॥२०९॥

हिन्दी—शिष्य गुरुपुत्र के शरीर में उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका जूठा भोजन करना और पैर धोना; इस कर्मों को न करे ॥२०९॥

गुरु की सवर्ण स्त्रियों के साथ व्यवहार—

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
अवसर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ।।२१०।।

भाष्य—**गुरुयोषितो** गुरुपत्न्यः । **सवर्णाः** समानजातीयाः । **गुरुवत्प्रतिपूज्या** आज्ञाकरणादिना । **असवर्णास्तु** केवलैः **प्रत्युत्थानाभिवादनैः** । बहुवचनादाद्यर्थोऽत्रान्तर्भवति । तेन हि प्रियहितादि गत्याद्यननुकरणाद्यप्यतिदिश्यते ॥२१०॥

हिन्दी—गुरु की सवर्ण स्त्रियाँ गुरु के समान पूजनीय हैं और असवर्ण स्त्रियाँ प्रत्युथान तथा नमस्कार मात्र से ही पूज्य हैं ॥२१०॥

गुरुस्त्रियों में अभ्यङ्गादि का निषेध—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ।।२११।।

भाष्य—घृततैलादिना केशकायोपदेहन**मभ्यञ्जनम्** ।

गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनम् । कार्यसामान्यात्पादधावनमपि ।

सर्वथा शरीरस्पर्शसाध्या या काचिदनुवृत्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । वक्ष्यति च हेतुं "स्वभाव एष नारीणाम्" इति (२१३) ।

केशानां च प्रसाधनम् विन्यासरचनादिकरणम्, कुङ्कुमसिन्दूरादिना सीमन्तोत्थापनम् । प्रदर्शनार्थं चैतदुक्तम् । तेन देहप्रसाधनमपि चन्दनानुलेपनानि निषिध्यन्ते ॥२११॥

हिन्दी—गुरु की स्त्रियों को तेल की मालिश, स्नान कराना, उबटन, लगाना, उनका बाल झाड़ना या फूल आदि से उनका श्रृंगार करना; इन कर्मों को (शिष्य) न करे ॥२११॥

युवा शिष्य को युवती गुरुस्त्री का पादस्पर्श निषेध—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ।।२१२।।

भाष्य—पूर्णविंशतिवर्षेण तरुणेनेत्यर्थः । बालस्य आ षोडशाद्वर्षाददोषः । पूर्णानि विंशति वर्षाणि यस्य स एवमुच्यते । अयं कालो यौवनोद्भेदोपलक्षणार्थः । अत एवाह—**गुणदोषौ विजानतं**। कामजे सुखदुःखे गुणदोषावभिप्रेतौ स्त्रीगतौ च स्वाकृतिदुराकृतिलक्षणौ धैर्यचापले वा ।

सर्वथाऽतन्त्रा विंशतिसंख्या ॥२१२॥

हिन्दी—बीस वर्ष की अवस्था वाला (युवक) गुण-दोष का ज्ञाता शिष्य गुरु की युवती स्त्री के चरण को स्पर्श कर अभिवादन न करे। (अलग से मस्तक झुकाकर अभिवादन करे) ॥२१२॥

उक्त निषेध में स्त्रीस्वभाव कारण—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ।।२१३।।

भाष्य—एषा प्रकृतिः स्त्रीणां **यन्नराणां** धैर्यच्यावनम् । सङ्गादिद्ध स्त्रियः पुरुषान्व्रता-च्च्यावयेयुः । **अतोऽर्थात्** अस्माद्धेतोः **न प्रमाद्यन्ति** । दूरत एव स्त्रियः परिहरन्ति । **प्रमादः** स्पर्शादिकरणम् । वस्तुस्वभावोऽयं यत्तरुणी स्पृष्टा कामकृतं चित्तसङ्क्षोभं जनयति । तत्र चित्तसङ्क्षोभोऽपि प्रतिषिद्धः तिष्ठतु तावदपरो ग्राम्यधर्मसंरम्भः ।

प्रमदाः स्त्रियः ॥२१३॥

हिन्दी—स्त्रियों का स्वभाव है कि इस जगत् में शृङ्गार चेष्टाओं के द्वारा व्यामोहित कर पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती है, अतएव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते हैं (किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं) ॥२१३॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ।।२१४।।

भाष्य—न चैतन्मन्तव्यं "नियमितानि येन चिरमिन्द्रियाणि, 'अतिगुरुपातकं गुरुदारेषु दुष्टेन भावेन प्रेक्षणमपीति' य एवं वेद तस्य न दोषः पादस्पर्शादाविति ।' यत एवंविधानपि दोषान् यो जानीते, यो वा न किञ्चिज्जानीते, तौ स्त्रीविषये समानौ । यतो नात्र विद्वत्ता प्रभवति । शक्नुवन्ति स्त्रियः सर्वम् **उत्पथम्** अमार्गं लोकशास्त्रविरुद्धं विषयं **नेतुं** प्रापयितुं—**कामक्रोधवशानुगं** सन्तम् । कामक्रोधाभ्यां यः सम्बध्यत इत्यर्थः ।

अवस्थाविशेषोपलक्षणार्थं चैतत् । अत्यन्तबालं अत्यन्तवृद्धं च प्राप्तयोगप्रकर्षणं च वर्जयित्वा, येन निरन्वयमुच्छिन्ना संसारपुरुषधर्मास्तद्व्यतिरेकेण, न कश्चित्पुरुषोऽस्ति यः स्त्रीभिर्नाकृष्यते—अयः कान्तेनेव लोहः । न चात्र स्त्रीणां प्रभविष्णुता; वस्तुस्वाभा-

व्यात्तरुणीजनदर्शने पुंसामुन्मथ्यते वित्तम्, विशेषतो ब्रह्मचारिणाम् ॥२१४॥

हिन्दी—स्त्रियाँ काम तथा क्रोध के वशीभूत मूर्ख या विद्वान् पुरुष को भी कुमार्ग में प्रवृत्त करने के लिये समर्थ होती हैं ॥२१४॥

माता-बहन आदि के साथ एकान्तवास का निषेध—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।।२१५।।

भाष्य—अतो **विविक्तासनः** निर्जने शून्ये गृहादौ नासीत । नापि निःशङ्कमङ्गस्पर्शादि कुर्यात् । अतिचपलो हीन्द्रियसङ्घातो **विद्वांसमपि** शास्त्रनिगृहीतात्मानमपि **कर्षति** हरति परतन्त्रीकरोति ॥२१५॥

हिन्दी—पुरुष (युवती) माता, बहन तथा पुत्री के साथ कभी एकान्त में न रहे; क्योंकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान् को भी अपने वश में कर लेता है ॥२१५॥

युवती गुरुपत्नी की अभिवादन विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ।।२१६।।

भाष्य—**काम**मित्यरुचिं सूचयति । उत्तरेण चैतत्सम्बध्यते 'विप्रोष्य पादग्रहणमिति ।'

भुवि तु पादवन्दनमिष्यत एव । **युवतीनां युवां** द्वयोर्यूनोरयं विधिः । यदि बालो ब्रह्मचारी वृद्धा वा गुरुपत्नी तदा पादापसंग्रहमविरुद्धम् । **असावहमिति** प्रागुक्तस्य विधेरनुवादः ।

विधिवदिति व्यस्तपाणिना ॥२१६॥

हिन्दी—युवा शिष्य युवती गुरुपत्नी को ''अमुक नाम वाला' मैं अभिवादन करता हूँ (अभिवादये शुभशर्माहं भोः!) कहकर पृथ्वी पर (उसका पादस्पर्श न कर) विधिपूर्वक अभिवादन करे ॥२१६॥

प्रवास से लौटकर गुरुपत्नी का चरणस्पर्शपूर्वक अभिवादन—

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ।।२१७।।

भाष्य—प्रवासादेत्य पादयोर्ग्रहणं 'सव्येन सव्य' इति । **अन्वहम्** अहन्यहनि । **अभिवादनं** भूमौ । **सतां** शिष्टानां एष धर्म आचार इत्य**नुस्मरन्** ॥२१७॥

हिन्दी—सत्पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुआ शिष्य प्रवास से लौटकर गुरुपत्नी का चरण-स्पर्श करके तथा प्रतिदिन बिना चरणस्पर्श किये ही अभिवादन करे ॥२१७॥

गुरु सेवा का फल—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ।।२१८।।

भाष्य—सर्वस्य शुश्रूषाविधेः फलमिदम् । गुर्वाराधनद्वारेण स्वाध्यायविध्यर्थवादः ।

यथा कश्चिन्मनुष्यः **खनित्रेण** कुद्दालादिना भूमिं **खनन् वारि** प्राप्नोति, नाक्लेशेन, एवमयं **विद्यां गुरुगतां शुश्रूषुः** गुरुसेवापरोऽ**धिगच्छति** ॥२१८॥

हिन्दी—जिस प्रकार खनित्र (कुदाल—जमीन खोदने का अस्त्र) से (जमीन) को खोदता हुआ मनुष्य पत्नी को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरु सेवा करने वाला शिष्य गुरु की विद्या को भी प्राप्त कर लेता है ॥२१८॥

ब्रह्मचारी के तीन प्रकार तथा ग्रामवास निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात् क्वचित् ।।२१९।।

भाष्य—मुण्डः सर्वतः केशवपनं कारयेत् । **जटिलो वा** । जटा परस्परमत्यन्तं संलग्नकेशाः, तद्वान् **जटिलः** । **शिखाजटः** शिखैव वा जटा यस्य । जटाकारां शिखां धारयेत् परिशिष्टे मुण्डः ।

तथा च कुर्याद्यथा **ग्रामे** स्थितस्य **सूर्यो नाभिनिम्लोचेत्** नास्तं गच्छेत् । ग्रामग्रहणं नगरस्यापि प्रदर्शनार्थम् । अस्तमयसमयमरण्ये सम्भावयेत् । एवं **ग्रामे नाभ्युदिया**-दुदयोऽपि सूर्यस्य यथाऽरण्यस्थस्य ब्रह्मचारिणो भवति तथा कुर्यात् ।

एनं प्रकृतं ब्रह्मचारिणम् ।

अन्ये तु ग्रामशब्दं 'ग्राम्येषु धर्मेषु स्वापादिषु वर्तमानं न निम्लोचेत्' इत्येवमर्थं वर्णयन्ति । तथा च उत्तरत्र, 'शयानम्' इत्याह । ततोऽयं सन्ध्ययोः स्वप्नप्रतिषेधः, नारण्ये तत्कालावस्थानम् । बालो हि ब्रह्मचारी विभियात् । गौतमेन तु (अ० २, सू० ९।१०) बहिः-सन्ध्यत्वं परतो गोदानादुक्तम् । गोदानव्रतं च षोडशवर्षे, तदा च प्राप्तः शक्नोत्यरण्ये सन्ध्यामुपासितुम् ॥२१९॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी (शिखारहित) मुण्डन करावे, जटायुक्त रहे (बिल्कुल बाल न बनवावे) या केवल शिखामात्र रखे (शिखा को छोड़ शेष बाल बनवा ले) और इस ब्रह्मचारी को किसी स्थान में सोते रहने पर न तो सूर्योदय हो औन न तो सूर्यास्त हो । (सूर्योदय तथा सूर्यास्त के पहले) ब्रह्मचारी ग्राम से बाहर जाकर अपना सन्ध्योपासना तथा अग्निहोत्रादि नित्य कृत्य करे ॥२१९॥

उक्त कर्म के भङ्ग होने पर प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ।।२२०।।

भाष्य—अत्रेदं प्रायश्चितं चरेत् ।

ब्रह्मचारिणं **शयानं** निद्रावशं गतम् **अभ्युदियात्** स्वेनोदयेनाभिव्याप्तदोषं कुर्यात् । 'अभिरभाग' इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । ततो द्वितीया **शयानमिति** । इत्थं भूतं सुप्तमिति-लक्षणं वा स्वापकाले यद्युद्येत । **जपन्नुपवसेद्दिनम्** ।

केचिदाहुः । "प्रातरतिक्रमे दिनं जपोपवासौ, रात्रौ तु भोजनम्, पश्चिमातिक्रमे तु रात्रौ जपोपवासौ, प्रातर्भोजनमिति । दिनशब्दः प्रदर्शनार्थः ।" गौतमवचनं चाप्युदा-हरन्ति । "तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीमिति" (२३।२१) ।

तदयुक्तम् । उभयत्रापि दिवैव प्रायश्चित्तं युक्तम् । दिनशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वे प्रमाणा-भावात् । न ह्यस्य तत्सापेक्षस्य स्वार्थप्रतिपादनम् । निरपेक्षं चैतत् । तस्माद्विकल्पो युक्तः । तत्र यस्य सर्वां रात्रिं जाग्रतो न व्याधिः प्रवर्तते स रात्रौ जपिष्यति, अन्यस्तु दिवैव ।

जपश्च गौतमवचनात्सावित्र्या एव ।

"नन्वत्र कथं गौतमः प्रमाणीक्रियते?"

उच्यते । सापेक्षमिदं वाक्यं जपेदिति, जपनीयस्यानिर्देशात् । सत्यामपेक्षायां श्रुत्यन्त-राद्युक्ता विशेषावगतिः ।

इह तु कालस्य निर्देशः । नास्ति कालान्तरं प्रत्यपेक्षेति न गौतमोऽपेक्ष्यते ।

अथवा सन्ध्यातिक्रमे प्रायश्चित्ताभिधानात्सावित्रीजपः सिद्ध एव । युक्तं च—सावित्र्यास्तु परं नास्तीति ।

कामचारतः । ज्ञात्वैव सन्ध्याकाले यः स्वपिति । **अविज्ञानात्** । चिरसुप्तस्य सन्ध्याकालोऽयं वर्तत इत्यनवबोधो**ऽविज्ञानम्** । एतदुक्तं भवति । इच्छया प्रमादकृते चातिक्रमे एतदेव प्रायश्चित्तम् । यः पुनरभ्युदितानस्तमितसन्ध्यामतिक्रामति तस्य प्रायश्चि-त्तमभोजनं—नित्यानां कर्मणां समतिक्रम इति ।

अथवा यः कामचारेण शास्त्रातिक्रमणं करोति तस्य तदविज्ञानमेव ।।२२०।।

हिन्दी—इच्छापूर्वक (रुग्णादि अवस्था में नहीं) ब्रह्मचारी के सोते रहने पर यदि सूर्योदय हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ दिनभर उपवास करे (और रात में भोजन करे) और भ्रम से (बिंना जाने सोते रहने पर) यदि सूर्यास्त हो जाय तो वह गायत्री जप

करता हुआ आगे वाले दिन में उपवास करे (और रात में भोजन करे) ॥२२०॥

विमर्श—"सूर्योदय के बाद सोकर उठा हुआ ब्रह्मचारी सावित्री जप करता हुआ दिन में उपवास करे और सोते रहने पर सूर्यास्त होने से सावित्री जप करता हुआ रात्रि में उपवास करे"[1] ऐसा गौतम के कहने से मनूक्त वचन का विरोध होता है, (क्योंकि मनु भगवान् दोनों अवस्थाओं में दिन में जप तथा उपवास और रात्रि में भोजन का विधान करते हैं और गौतम के वचन से सूर्याभ्युदित (प्रथमपक्ष में) ब्रह्मचारी के लिये दिन में जपोपवास तथा अभ्यस्तमित (द्वितीय पक्ष मे) ब्रह्मचारी को रात में जपोपवास करने का विधान है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। मनुक्तव्याख्या के सन्देहावस्था में दूसरे मुनि के अर्थ या अन्वय का आश्रय न कर मनु के द्वारा केवल 'मात्र का विधान होने से सन्देहोपस्थिति में उक्त गौतम-वचन से सावित्री के जप का ही ग्रहण करना है, किन्तु दोनों पक्षों में स्पष्ट कहे गये दिनोपवास विधायक मनु-वचन को अन्यथा नहीं करते, अतएव अभ्यस्तमित (दूसरी अवस्था में) ब्रह्मचारी के लिये मनु तथा गौतम के वचनों के विकल्प रूप से ग्रहण करना चाहिए। अभ्युदित (प्रथमावस्था में) वाले ब्रह्मचारी के लिए दोनों ऋषियों का ऐक्यमत्य है।

उक्त प्रायश्चित न करने पर दोष—

सूर्येण ह्यभिनिम्लुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ।।२२१।।

भाष्य—पूर्वप्रायश्चित्तविधेरयमर्थवादः। निम्लोचनेनाभिदुष्टः **अभिनिम्लुक्तः**। एव**मभ्युदितः**। **प्रायश्चित्तं** पूर्वोक्तं न करोति। तदा **महता** पापेन सम्बध्यते, न स्वल्पेन। नरकादिदुःखोपभोगनिमित्तमदृष्टं 'पाप'मुच्यते ॥२२१॥

हिन्दी—जिस ब्रह्मचारी के सोते रहने पर सूर्योदय या सूर्यास्त हो जाय और वह ब्रह्मचारी उक्त प्रायश्चित (श्लो० २२०) न करे तो बड़े पाप से युक्त होता है (अतः उसे उक्त प्रायश्चित अवश्य करना चाहिये) ॥२२१॥

सन्ध्योपासना की आवश्यकता—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ।।२२२।।

भाष्य—एवं महान्दोषोऽभ्युदयनिम्लोचनयोः तस्मात् **आचम्य**। **प्रयतः**तत्परः।

---

१. "सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन् सावित्रीम्" इति गौतमवचनम्।

समाहितः परिहृतचित्तकर्मविक्षेपः । **शुचौ देशे जपञ्जप्यं** प्रणवव्याहृतिसावित्र्याख्यम् ।

उपासीत उभे सन्ध्ये । सन्ध्ययोरेवात्रोपास्यत्वम् । उपासनं च तत्र भावविशेषः । अथवोभे सन्ध्ये प्रत्युपासीत भगवन्तं सवितारम् । मन्त्रो हि तद्देवत्योऽतस्तमेवोत्पासीत । संहृतसकलविकल्पस्तद्गतैकमना भवेत् । प्रागुक्तस्य विधेः शेषोऽनुवादः । उपासनं केवलं विधेयम् ।

अन्ये तु "शुचौ देश इत्येतद्विध्यर्थोऽयं श्लोक' इत्याहुः । तेषां पौनरुक्त्यम् । सर्वस्यैव कर्तव्यस्य "शुचिना कर्म कर्तव्यमिति" विहितम् । अशुचिदेशसम्बन्धे च का शुचिता ॥२२२॥

हिन्दी—आचमनकर पवित्र तथा सावधान ब्रह्मचारी पवित्र स्थान में सावित्री को जपता हुआ दोनों समय सन्ध्या का विधिपूर्वक अनुष्ठान करे ॥२२२॥

स्त्री-शूद्रादि के भी उत्तम कार्य को करना—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र चास्य रमेन्मनः ॥२२३॥

भाष्य—यदि स्त्री आचार्याणी । **अवरजः** कनीयान् । आचार्यादुपलभ्य **श्रेयः** धर्मादि त्रिवर्ग**समाचरे**त्तत्सर्वमाचरेत् । सम्भवति हि तयोस्तदाचार्यसम्पर्कात्परिज्ञानम् ।

शूद्रो वाऽऽचार्यभृतक **अवरजः** । स यद्युपदिशेत् 'एवं पायुलिङ्गौ मृद्वारिणा प्रक्षाल्येते, निपुणौ हस्तौ प्रक्षालय, विस्मृतस्ते मृद्वारिक्रमः, त्वदीय आचार्योऽसकृन्मया पायुप्रक्षालने जलं ददता दृष्टपूर्वः, पूर्वमद्भिः शौचं करोति ततो मृद्भिः' इत्येवमादि **समाचरे**त्तत्समाचाराद्युपपन्न उपदिशेत् । तथा चाचार्याणी आचमनं शिक्षयेत् । **तत्सर्वमाचरेद्युक्तः** श्रद्धया । न स्त्रीशूद्राचरितमित्यवजानीत ।

समाचरेदिति च समाचारपूर्वक उपदेश एवात्राभिप्रेतः । वक्ष्यति च "धर्मः शौचंस.... समादेयानि सर्वत" इति (२४०) ।

आचार्येणैव कदाचिदादिष्टं भवति—'ब्राह्मणे आचमय पुत्रस्थानीयमेतं यथाविधिपूर्वकम्'—ब्रूयाच्च 'अस्य मूत्रपुरीषशुद्ध्यर्थं मृद्वारिणी देये' इति । तत्र तदीयवचनमनुष्ठेयम् एवं मृदो गृहाण एवमद्भिः प्रक्षालंयेति ।

अथवा गुरुगृहे लोहोपलजलशुद्ध्यादिः स्त्रीशूद्राभ्यां समाचर्यमाणः प्रणाणीकर्तव्यः । एतावदाचारस्य स्त्रीशूद्रसम्बन्धिनः प्रामाण्यार्थोऽयं श्लोको युज्यते ।

ननु सर्वस्याचारस्यावेदवित्सम्बन्धिनः प्रामाण्यं घटते । अयुक्तमेतत् । न हि स्वल्पोऽप्याचार अवेदविदां प्रमाणीभवति । अथास्ति मूलं वेदवित्सम्बन्धः स एव तर्हि

प्रमाण .... स्त्री ग्रहणेन। न चैवंविधे विषये स्त्रीशूद्राचारस्य प्रामाण्यमभिप्रेतम्। तथा हि सति प्रामाण्याभिधानप्रकरण एवावक्ष्यत्। तस्माच्छ्रेयःपदार्थनिरूपणार्थोऽयमुपोद्घात इति परमार्थः।

यद्वाऽऽचार्यवचसां प्रामाण्यानुवादोऽयम्–यत् स्त्रीशूद्रावपि ब्रूयातां तदप्यनुष्ठातुं युक्तम्, किं पुनराचार्योपदिष्टम्।

यत्र चास्य रमेत्परितुष्येन्मनः। एतदप्यात्मनस्तुष्टिरित्यत्र व्याख्यातम्।

सर्वथा नास्य श्लोकस्यातीव प्रयोजनमस्ति ॥२२३॥

हिन्दी—स्त्री या शूद्र भी जिस किसी अच्छे काम को करते हों, उसे तथा शास्त्रानुकूल कर्मों में से जो कर्म रुचिकर हों उन्हें भी सावधान होकर करे ॥२२३॥

भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत से त्रिवर्ग का स्वरूप—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

भाष्य—यत्प्रशस्यं यदाचर्यमाणं दृष्टादृष्टे नोपहन्ति यच्छ्रेयो लोके उच्यते किं पुनस्तदिति सुहृद्भूत्वाऽन्वाचष्टे।

नायं वेदमूलोऽर्थो नाचार्योदिशब्दवत्पदार्थकथनम्। किं तर्हि श्रेयोऽर्थी सर्वः पुरुषः प्रवर्तते। तत्रेदमुच्यते—इदं श्रेयः एतदर्थं यत्नः कर्तव्यः।

तत्र मतान्तराणि तावदुपन्यस्यंति।

केषाञ्चिन्मतं **धर्मार्थौ श्रेयः**। **धर्मः** शास्त्रविहितौ विधिप्रतिषेधौ। **अर्थः** गोभूमिहिरण्यादिः। एतदेव **श्रेयः** एतदधीनत्वात्पुरुषप्रीतेः। अपरं मतं **कामार्थाविति**। **काम**स्तावन्मुख्य एव पुरुषार्थः। प्रीतिर्हि **श्रेयः**। **अर्थो**ऽपि तत्साधनत्वात्। एवं हि चार्वाका आहुः—काम एवैकः पुरुषार्थस्तस्य साधनमर्थः धर्मोऽपि यद्यस्ति। **धर्म** एव सर्वेभ्यः श्रेयान्तसर्वस्य तन्मूलत्वाच्च। उक्तं च "धर्मादर्थश्च कामश्च" इति। **अर्थ** एवेति वणिजः प्रयोगजीविनः। सिद्धान्तस्तु **त्रिवर्ग इति तु स्थितिः**। अतो धर्माविरोधिनावर्थकामावपि सेवितव्यौ न तद्विरोधिनौ। तथा च गौतमः (अ० ९, सू० ४६)। "न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कुर्यात् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः" इति। त्र्यात्मको वर्ग**स्त्रिवर्गः**। 'त्रिषु समुदितेष्वयं रूढः' ॥२२४॥

हिन्दी—कोई आचार्य (कामहेतुक होने से) धर्म अर्थ को, कोई आचार्य (सुख हेतुक होने से) काम तथा अर्थ को, कोई आचार्य (अर्थ और काम के उपायभूत होने से) धर्म को और कोई आचार्य (धर्म तथा अर्थ का साधन होने से) अर्थ को ही श्रेय

(कल्याणकारक) मानते हैं; किन्तु (पुरुषार्थता के कारण) त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) ही श्रेय है, ऐसा निश्चय है। (यह भोगाभिलाषियों के लिए उपदेश है, मोक्षाभिलाषियों के लिए तो मोक्ष ही श्रेय है यह आगे कहेंगे) ॥२२४॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ।।२२५।।

भाष्य—अन्योऽपि न कश्चिदवमन्तव्यः, एते पुनर्विशेषतः। प्रायश्चित्ताधिक्यमत्रेत्यर्थः। **आर्त्तेन** तैः पीडितेनापि। **अवमान**मवज्ञा, प्राप्तायाः पूजाया अकरणं न्यक्कारश्चानादराख्यः।

ब्राह्मणग्रहणं पूरणार्थम् ॥२२५॥

हिन्दी—आचार्य, पिता, माता, सहोदर बड़े भाई का अपमान दुःखित होकर भी न करे विशेषतः ब्राह्मण तो कदापि न करे ॥२२५॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ।।२२६।।

भाष्य—पूर्वस्यायमर्थवादः।

यत्परं ब्रह्म वेदान्तोपनिषत्प्रसिद्धं तस्य **आचार्यो मूर्तिः** शरीरम्। मूर्तिरिव मूर्तिः। **प्रजापतेर्हि**रण्यगर्भस्य **पिता**। येयं पृथिवी सैव **माता**, भारसहत्वसामान्यात्। **भ्राता** च **स्वः** सोदर्यः **आत्मनः** क्षेत्रज्ञस्येति प्रशंसा।

एते सर्वे देवतारूपाः महत्त्वयुक्ता अवमताघ्नन्ति, प्रसादिता अभिप्रेतैः कामैर्योजयन्ति। एवं तत्समा आचार्यादय इति स्तुतिः ॥२२६॥

हिन्दी—(क्योंकि) आचार्य परमात्मा की, पिता प्रजापति की, माता पृथिवी की और सहोदर बड़ा भाई अपनी मूर्ति है। (अतएव देवरूप इन आचार्यादिक का अपमान नहीं करना चाहिये ॥२२६॥

माता, पिता से उद्धार पाना असम्भव—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ।।२२७।।

भाष्य—भूतार्थानुवादेनेयमपरा प्रशंसा।

क्लेशं दुखं माता च पिता च न **नृणाम**पत्यानां सम्भवे गर्भात्प्रभृति यावद्दशमाद्वर्षात्। मातुः क्लेशः गर्भधारणम्। प्रसवः प्राणहरः स्त्रीणाम्। जातस्य च संवर्धनयोगः क्लेशः। स सर्वस्य स्वयं संवेद्यः। पितुरप्युपनयनात्प्रभृति आ वेदार्थव्याख्यानात्।

सम्भवशब्देनात्र गर्भाधानमुच्यते । तद्धि न क्लेशावहम्, किं तर्हि तदुत्तरकालभाविन्य एताः क्रियाः, ता हि क्लेशसाध्याः ।

न तस्य क्लेशस्य **निष्कृति**रानृण्यं प्रत्युपकारसमत्वं शक्यं **कर्तुं वर्षशतै**र्जन्मभिर्बहुभिः, किं पुनरेकेन जन्मना ॥ असंख्यधनदानेन महत्या वाऽऽपद उद्धरणेन मातापित्रोर्निष्कृतिरिति ॥२२७॥

हिन्दी—मनुष्यों के उत्पन्न होने में (गर्भधारण, प्रसववेदना, पालन, रक्षण, वर्द्धन, संस्कार तथा वेद-वेदाङ्गादि का अध्यापनादि कर्म द्वारा) माता-पिता जिस कष्ट को सहते हैं, सैकड़ों वर्षों (या अनेक जन्मों) में भी उनका बदला चुकाना अशक्य है ॥२२७॥

माता, पिता और आचार्य की तुष्टि से तपःपूर्णता—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ।।२२८।।

भाष्य—तस्मात्**तयो**र्मातापित्रो**राचार्यस्य च सर्वदा** यावज्जीवं यत्प्रियं तेषां तत्कुर्यात्, न सकृद् द्विस्त्रिर्वा कृत्वा कृती भवेत् ।

तेष्वेवाचार्यादिषु **त्रिषु तुष्टेषु** भक्त्याराधितेषु **तपः सर्वं** बहून्यवर्षगणांश्चान्द्रायणादि तपस्तप्त्वा यत्फलं प्राप्यते तत्तत्परितोषादेव लभ्यत इति ॥२२८॥

हिन्दी—इस कारण माता, पिता और आचार्य का नित्य प्रिय करे (उन्हें सन्तुष्ट करे) उन तीनों के सन्तुष्ट होने पर सब तप (चान्द्रायणादि व्रत) पूरा होता है (उन व्रतों का फल प्राप्त होता है) ॥२२८॥

माता-पितादि की आज्ञा के विना अन्य धर्माचरण का निषेध—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषां परमं तपः उच्यते ।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।।२२९।।

भाष्य—"कथं पुनस्तपः फलमतपसा मात्रादिशुश्रूषया?"

यस्मात् एतच्च सर्वोत्तमं **तपो** यत् **तेषां** पादसेवनम् ।

तैरननुज्ञातो माणवकः **धर्ममन्यं** तत्सेवाविरोधिनं तीर्थस्नानादिरूपं व्रतोपवासादि च शरीरशोषणयो तेषां चित्तखेदकरम् । ज्योतिष्टोमानुष्ठानेऽप्यनुज्ञा ग्रहीतव्या । यतोऽवमान्प्रतिषेधः कृतः । महारम्भेषु च कर्मसु बहुधनव्ययायाससाध्येषु मुह्यमाना अवमन्तव्याः भवेयुः । नित्यकर्माऽनुष्ठाने त्वनुज्ञा नोपकारिणी ॥२२९॥

हिन्दी—उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) की शुश्रूषा श्रेष्ठ तप कहा जाता है । उन तीनों से विना आज्ञा पाये किसी दूसरे धर्म का आचरण न करे ॥२२९॥

माता आदि तीनों लोकादि का स्वरूप—

त एव त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ।।२३०।।

भाष्य—कार्यकारणयोरभेदादेवमुच्यते ।

त्रयाणां लोकानां प्राप्तिहेतुत्वात्त **एव त्रयो लोका** उच्यन्ते ।

त एव च त्रयः प्रथमादब्रह्मचर्यादन्ये **त्रय आश्रमाः** । गार्हस्थ्यादिभिस्त्रिभिराश्रमैर्यत्फलं प्राप्यते तत्तैस्त्रिभिस्तुष्टैः ।

त एव **त्रयो वेदा** वेदत्रयजपतुल्यफलत्वात् ।

त एव त्रयोऽग्नयः । अग्निसाध्यकर्मानुष्ठानफलावाप्तेस्तच्छुश्रूषातः ।

एषाऽपि प्रशंसैव ।।२३०।।

हिन्दी—वे (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक हैं वे ही तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम) हैं, वे ही तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दाक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं ।।२३०।।

विमर्श—यहाँ पर माता, पिता और आचार्य को तीनों लोकों की प्राप्ति का कारण होने से लोकत्रय का गार्हस्थ्यादि आश्रमों का दाता होने से तीनों आश्रमों का, तीनों वेदों के जप का फलोपाय होने से तीनों वेदों का और तीनों अग्नियों द्वारा सम्पादनीय यज्ञों का फल होने से तीनों अग्नियों का आरोप उनमें किया गया है ।

माता, पिता और आचार्यरूप त्रेताग्नि की श्रेष्ठता—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ।।२३१।।

भाष्य—केनचित्सामान्येनायं पित्रादीनां गार्हपत्यादिव्यपदेशः ।

साऽग्नित्रेता आधानाग्नित्रेता या **गरीयसी** महाफला । त्राणं त्राणार्थमिता प्राप्ता त्रेता इति शब्दव्युत्पत्तिः ।।२३१।।

हिन्दी—पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु (आचार्य) आहवनीयाग्नि है, यह (माता, पिता और आचार्य रूप) अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है ।।२३१।।

माता, पिता और आचार्य के सेवा का फल—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ।।२३२।।

भाष्य—**एतेष्वप्रमाद्यन्**नाराधनेऽस्खलन्। तथा च तदाराधनात्**त्रीन् लोकाञ्जये-त्स्व**कुर्यादाधिपत्यमाप्नुयात्। **गृही**। गृहस्थावस्थस्य हि पुत्रस्य पित्रादीनां तत्कृतमारा-धनमुपयुज्यते। तदा हि तौ वृद्धौ भवतः।

दीप्यमानः शोभमानः प्रकाशमानो वा स्वेनैव तेजसा। **देववदा**दित्यव**द्दिवि** लोके **मोदते** ॥२३२॥

हिन्दी—इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) में प्रमादहीन (ब्रह्मचारी तथा) गृहस्थ तीनों लोकों को जीत लेता है और अपने शरीर से देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द करता है ॥२३२॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥

भाष्य—अयं लोकः पृथिवी। भारसहत्वात्तुल्या माता पृथिव्याः।

पितृभक्त्या मध्यमो लोकोऽन्तरिक्षम्। प्रजापतिः पितोक्तः। मध्यमस्थानश्च प्रजा-पतिर्नैरुक्तानाम्। स हि वर्षकर्मणां प्रजानां पाता वा पालयिता वा।

ब्रह्मलोकमादित्यलोकम्। आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। **लोकः** स्थानविशेषस्त**मश्नुते** प्राप्नोति।

अर्थवादा एते। तत्र नाभिनिवेष्टव्यम्। न च लोकाधिपत्यकामस्य तदाराधनाधिकारः। नायं काम्यो विधिः। पितृत्वमेवात्र निमित्तम्, अकरणे शास्त्रातिक्रमः ॥२३३॥

हिन्दी—माता की भक्ति से मृत्युलोक को, पिता की भक्ति से मध्यम (अन्तरिक्ष) लोक को और आचार्य की सेवा से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥२३३॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२३४॥

भाष्य—**आदृताः** सत्कृताः। आदृतवचनेन प्रत्युपकारपरत्वं लक्ष्यते। यो ह्यादृतो भवति स परितुष्टः प्रत्युपकाराय यतते। अथवा **आदृतः** परितुष्ट उच्यते। धर्मस्य चानन्त्यात्परितोषानुपपत्तेः फलदानोत्सुकत्वं लक्ष्यते। सर्वाणि तस्य कर्माण्याशु फल-दायीनि भवन्ति। **यस्यैते त्रय आदृताः** शुश्रूषया परितुष्टाः।

एतैस्त्वनाराधितैर्यत्फलकामेन किञ्चित्क्रियते शुभं कर्म तत्सर्वं निष्फलम्। **सर्वाः क्रियाः** सर्वाणि श्रौतस्मार्त्तानि कर्माणि।

अर्थवादोऽयम्। पुरुषार्थो ह्याराधनविधिः। तदतिक्रमे पुरुषः प्रत्यवयन्महता पापेन कर्मोपार्जितेऽपीष्टफलभोगे प्रतिबध्यते। अत उच्यते **सर्वास्तस्याफलाः क्रिया** इति॥२३४॥

हिन्दी—जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसने सब धर्मों का आदर किया (उसके लिए सब धर्म फल देने वाले होते हैं) जिसने उन तीनों का अनादर नहीं किया, उसकी (श्रुति-स्मृति-विधि-विहित) सब क्रियायें निष्फल होती हैं ॥२३४॥

माता आदि की सेवा का प्राधान्य—

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥

भाष्य—उक्तार्थोऽयं श्लोकः ।

नान्यं समाचरेद्दृष्टमदृष्टं वा तदनुज्ञानमन्तरेणेत्युक्तम् ।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् ।

प्रियहिते रतः । प्रियं च हितं च, तत् । यत्प्रीतिकरं तत् **प्रियम्** यत्पालनं तद् **हितम्** ॥२३५॥

हिन्दी—जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीते रहें तब तक किसी अन्य धर्म को स्वेच्छा से (विना उनकी आज्ञा पाये) न करे; किन्तु उन्हीं के प्रिय एवं हित में तत्पर रहते हुए नित्य सेवा करे ॥२३५॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥२३६॥

भाष्य—परत्र जन्मान्तरे यस्य फलं भुज्यते **तत्पारत्र्यम्** । छान्दसं रूपमेतत् ।

शुश्रूषाया अविरोधेनान्यं यं यं धर्मं समाचरेत्तं तं **निवेदयेत्तेभ्य**स्तान् ज्ञापयेत् । अनुपरोधग्रहणमेवमर्थं कृतम् । यत्तेषां विरोधि तत्र नवानुज्ञां दापयितव्याः । कश्चिदृजुप्रकृतिरभ्यर्थ्यमान आत्मपराधर्ममवगण्य्यानुजानाति, तन्निवृत्त्यर्थमेतत् ।

मनोवचनकर्मभिः । न निवेदनमदृष्टार्थमपि तु यादृशमनुज्ञानं तादृशमेव कर्मणा दर्शयेत् ।

अथवैवं सम्बन्धः कर्तव्यः—**मनोवचनकर्मभिः पारत्र्यं यद्यदाचरेत्तत्तन्निवेदयेत्तेभ्य** इति ॥२३६॥

हिन्दी—उन (माता, पिता और आचार्य) की सेवा के अविरुद्ध उनकी आज्ञा से जो कुछ परलोक के लिए कार्य करे, उसे मन, वचन और कर्म से उनके लिए अर्पित करे (उनसे निवेदन करे) ॥२३६॥

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

भाष्य—**इति**शब्दः समाप्तिवचनः कार्त्स्न्यं गमयति ।

यत्किञ्चन **पुरुषस्य** कर्तव्यं यावान्कश्चन पुरुषार्थः स **एतेष्वा**राधितेषु **समाप्यते** परिपूर्णमनुष्ठितो भवति ।

एष धर्मः परः श्रेष्ठः **साक्षा**त्त्वेन । **अन्य**श्चाग्निहोत्रादि**रूपधर्मः** प्रतिहारस्थानीयो न साक्षाद्राजवत्, इति प्रशंसा ।

अवमानप्रतिषेधः, प्रियहितकरणं, तद्विरोधिनः कर्तव्यस्याननुष्ठानम्, अविरोधिनोऽप्यननुज्ञातस्य च । परिशिष्टः श्लोकसङ्घातोऽर्थवादः ॥२३७॥

हिन्दी—इन तीनों (माता, पिता और आचार्य की सेवा) में ही मनुष्य का सम्पूर्ण (श्रुति-स्मृति विहित) कृत्य परिपूर्ण हो जाता है । यही (माता आदि की सेवा ही) मनुष्य का श्रेष्ठ (साक्षात् सब पुरुषार्थ का साधक) धर्म है और अन्य (अग्निहोत्रादि) धर्म उपधर्म है ॥२३७॥

नीच आदि से भी विद्यादि का ग्रहण—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।२३८।।

भाष्य—**श्रद्दधान** आस्तिक्योपगृहीतान्तरात्माऽभियुक्तो यः शिष्यः स **शुभां विद्यां** न्यायशास्त्रादितर्कविद्याम् । अथवा या शोभते केवलं सा विशदकाव्यभरतादिविद्याविभूषिता—मन्त्रविद्या वा न धर्मोपयोगिनी—ता**मवरादपि** हीनजातीयाद**प्याददीत** शिक्षेत ।

न त्वत्र **शुभा** वेदविद्या वेदितव्या, आपदि विधिर्भविष्यति (२४१), अनापदि तु नैवेष्यते । या त्वशुभा शाम्भवी मायाकुहकादि वा तां न क्वचित् ।

अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि यः **परो धर्मः** श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परोऽन्यः लौकिकः । धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि प्रयुज्यते । 'एषोत्र धर्म' इति यदि चाण्डालोऽपि ब्रूते—'अत्र प्रदेशे मा चिरं स्थाः', 'मा वाऽस्मिन्नम्भसि स्नासीः', एषोऽत्र ग्रामीणानां धर्मो, राज्ञा कृता वा मर्यादेति—न चैवं मन्तव्यम्—'उपाध्यायवचनं मया कर्तव्यं धिक् चाण्डालं जाल्मं यो मां नियुङ्क्ते' इति ।

न पुनरियं बुद्धिः कर्तव्या—**परो धर्मो** ब्रह्मतत्त्वज्ञानम् । न हि चाण्डालादेस्तत्परिज्ञानसम्भवः, वेदार्थवित्त्वाभावात् । न चान्यतस्तत्सम्भवः । न हि वृश्चिकमन्त्राक्षरवद्ब्रह्मोपदेशोऽस्ति ।

स्त्रीरत्नमिव स्त्रीचासौ रत्नं च तदिति वा । "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (पा०सू०

२।१।५६), ''विशेषणं विशेष्येणेति'' (पा०सू० २।१।५७) वा। यदा यत्किञ्चिदुत्कृष्टं वस्तु तद्रत्नमुच्यते तदा विशेषणमिति। अथ तु मरकतपद्मरागादीन्येव रत्नशब्दवाच्यानि उत्कर्षसामान्यादन्यत्र प्रयोगः, तदोपमितमिति। या स्त्री कान्तिसंस्थानलावण्यातिशयवती अथ धान्यबहुधनसुतादिशुभलक्षणा सा **दुष्कुलाद्वी**नक्रियादेरप्यानेया।

'अब्राह्मणा'दित्यस्य (२४१) विधेरयमुपोद्घातः। अलाभेन तु प्रदर्शितः ॥२३८॥

हिन्दी—श्रद्धायुक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) से भी श्रेष्ठ विद्या (जिसकी शक्ति अनेक बार देखी गयी हो, ऐसी गारुडादि विद्या) को सीखना चाहिये। चाण्डाल (पूर्व जन्म के किसी दुष्कृत-विशेष से चाण्डालता को प्राप्त जातिस्मरत्व आदि विहित योग प्रकर्ष वाले आत्मज्ञानी चाण्डाल) से भी उत्कृष्ट धर्म (मोक्षोपायभूत आत्मज्ञान) को प्राप्त करना चाहिये तथा अपने से नीच कुल से भी (शुभ लक्षणों से युक्त) स्त्री-रत्न को (विवाह के लिये) ग्रहण करना चाहिये ॥२३८॥

विमर्श—अत एव 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा नीच शूद्र से भी बार-बार श्रद्धापूर्वक मोक्षधर्म ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये[१], कहा है। मेधातिथि का कथन है कि ''श्रुति-स्मृति-विहित धर्म की अपेक्षा अन्य लौकिक धर्म (व्यवस्था) चाण्डाल भी कहे तो उसे मानना चाहिये, यदि चाण्डाल भी 'इस स्थान पर बहुत देर तक मत रुको, इस पानी में स्नान मत करो' आदि वचन कहे तो उसे मानना चाहिये'' (वह चाण्डालोक्त वचन भी एक प्रकार का धर्म अर्थात् व्यवस्था है और मनूक्त धर्म' शब्द 'व्यवस्था' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ)[२]। चाण्डाल को वेदार्थज्ञानोपदेश का अविधान होने से तज्जन्य मोक्षज्ञान का अभाव होना ही यद्यपि सिद्धान्त-सिद्ध है, तथापि पुण्यातिशयादि से कुलूकभट्ट के कथानानुसार पूर्वजन्मगत जातिस्मरणादि के द्वारा मोक्षधर्म (आत्मज्ञान) का होना सम्भव होने पर भी ब्राह्मणादि से उसका ज्ञान प्राप्त करना उत्तम जान पड़ता है। स्पष्टता के लिए म०मु० देखिये।

विष आदि से भी अमृत आदि की ग्राह्यता—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥

भाष्य—पूर्वं इमौ चापद्यब्राह्मणादप्यध्येतव्यमित्यस्य विधेः शेषः।

---

१. ''.......प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्धानेन नित्यम्।' ''न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता।'' इति म०मु०।

२. मेधातिथिस्तु– श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते। यदि चाण्डालोऽपि—''अत्र देशे मा चिरस्थाः, मा चास्मिन्नम्भसि। इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत्।'' इति (म०मु०)।

अनेन लोकप्रवादो दृष्टान्तीक्रियते। एवं हि लौकिका आहुः 'असतस्यदुपादेयम्।' विषेऽपि **यदमृतं तद्ग्राह्यमेव** यथा हंस उदकात्क्षीरं गृह्णाति। रसायनेषु केषुचिद्विषं इत्येतदभिप्रेत्योक्तम्।

बालोऽपि यत्किञ्चिदकस्मात्सुभाषितं माङ्गलिकं प्रस्थानादौ वक्ति तद्ग्राह्यम्।

अभित्रादेरपि सतां **यद्वृत्तम्** शिष्टाचारः। न द्वेष्यः—तेनैतदाचरितमिति त्याज्यम्।

प्रसिद्धतरोऽयं दृष्टान्तः—**अमेध्यादपि काञ्चनं** सुवर्णम्।

असदाश्रयादप्येते यथा गृह्यन्ते तद्वद्ब्राह्मणादध्ययनमिति ॥२३९॥

हिन्दी—विष से (यदि विष में अमृतयुक्त हो तो उस विष से) अमृत को, कालक से भी सुभाषित को, शत्रु से सदाचार को और अपवित्र से भी सुवर्ण (सोना) को लेना चाहिए ॥२३९॥

स्त्री, रत्न आदि की सबसे ग्राह्यता—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२४०॥

भाष्य—रत्नानि मणयः शम्बरपुलिन्दादिभ्योऽप्युपात्ताः शुद्धास्तद्वद्विद्याद्यपीति। **शिल्पानि** च विचित्रपत्रच्छेद्यादीन्यदुष्टान्यगर्हितानि चैलनिर्णेजनपटरञ्जनबन्धनादीनि। **सर्वतो** जातिविशेषमनपेक्ष्य **समादेयानि** स्वीकर्तव्यानि निश्चितातिधैर्यभावैः। विषादप्यमृतमित्येवमादिभिरनेकवाक्यत्वात् समानप्रक्रमत्वेन सर्व एतेऽर्थवादाः॥२४०॥

हिन्दी—स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, सुभाषित और अनेक प्रकार के शिल्प (कला-कौशल चित्र-लेखनादि) सबसे लेना चाहिये ॥२४०॥

आपत्तिकाल में अब्राह्मण से अध्ययन करना—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२४१॥

भाष्य—अयं त्वत्र विधिः।

आपद् ब्राह्मणाध्यापकाभावः। आपदः काल **आपत्कालः**। आपदित्येव सिद्धे कालग्रहणं वृत्तपूरणार्थम्।

पाठान्तर'मापत्कल्प' इति। कल्पनं 'कल्पः' आपद्येषां कल्पना विधीयते उपदिश्यते।

यदाचार्यः प्रारब्धाध्यापनः प्रायश्चित्तेनान्येन वा निमित्तेन शिष्यं हित्वा देशान्तरं व्रजेत्, न च ब्राह्मणोऽन्योऽध्यापकस्तस्मिन्देशे लभ्यते, बालत्वाद्दूरदेशगमनमशक्यम्, तदाऽब्राह्मणात् क्षत्रियात्तदभावे वैश्यादध्ययनम्। प्रकृतत्वात्— 'वेदः कृत्स्न' इति—वेदग्रहणं विधीयते।

यद्यप्यत्राब्राह्मणशब्दो ब्राह्मणजातेरन्यत्र जातित्रये वर्तमानं पुरुषत्वमाचष्टे, तथापि नेह शूद्रस्य ग्रहणम्, तस्याध्ययनाधिकाराभावात्। सत्यध्ययनेऽध्यापकत्वम्। अथ "शास्त्रातिक्रमेण शूद्रस्याप्यधीतवेदत्वस्य सम्भवः, क्षत्रियवैश्ययोरध्यापकत्वस्येव"। तदपि न। यतो धारणे शरीरभेदस्तस्याम्नातः। ततो दण्डमहत्त्वात् महदेतदकार्यमनुमीयते। निन्दितकर्माभ्यासे पतनं तत्संसर्गाच्च ब्रह्मचारिणोऽत्यन्तदुष्टता स्यात्। "क्षत्रियवैश्ययोरध्यापकत्वनिषेधात् तुल्यदोष" इति चेदस्त्यत्र विशेषः। यत्र दण्डप्रायश्चित्ते गुरुणी तत्र महादोषता, स्वल्पयोस्तु स्वल्पदोषता। न च क्षत्रियवैश्ययोरध्यापने महती दण्डप्रायश्चित्ते, शूद्रस्येव। किञ्च द्वे निन्दिते कर्मण्यध्ययनमध्यापनं च, क्षत्रियवैश्ययोस्त्वेकमेव। निषिद्धाध्यापनसंसर्गस्त्वनेनैवानुज्ञातः, नासौ दोषकरः। निषिद्धाध्ययनेन तु शूद्रेण संसर्गे न किञ्चित्प्रमाणमस्ति।

अनुव्रज्या च शुश्रूषा। वन्दनपादप्रक्षालनादिशुश्रूषाप्रतिषेधार्थमनुव्रज्यैव शुश्रूषा, नान्येति। **यावदध्ययनम्** यावद्ग्रहणम् ॥२४१॥

हिन्दी—आपत्तिकाल में अब्राह्मण (ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और क्षत्रिय के अभाव में वैश्य) से भी ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करे तथा अध्ययनकाल तक ही उक्त उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन और शुश्रूषा करे ॥२४१॥

विमर्श—ब्राह्मण आपत्तिकाल में अब्राह्मण द्विज से अध्ययन करने के समय में उक्त गुरु का पादप्रक्षालन तथा उच्छिष्ट भोजन न करे तथा अध्ययन के बाद विद्वान् होने से उक्त ब्रह्मचारी अब्राह्मण द्विजरूप अध्यापक का गुरु कहा जाता है। अत एव अध्ययन के बाद अनुगमन तथा सेवा का निषेध किया गया है[1]।

अब्राह्मणादि गुरु के पास आत्यन्तिक वास निषेध—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे वाननूचाने काङ्क्षन्गातिमनुत्तमाम् ॥२४२॥

भाष्य—अब्राह्मणे गुरौ वासोऽध्ययनाय पूर्वेणोक्तो नैष्ठिकस्यापि प्राप्तो विशेषेण निषिध्यते। **आत्यन्तिकं वासं** यावज्जीविकम्। **न वसेन्न** कुर्यात्। **वासं वसेदिति**। सामान्यविशेषभावाद्वासं वसेदिति सम्बन्धः कल्प्यः। गुरुविषयो वासस्तं वसेत्। समाप्ताध्ययनोऽन्यत्र गच्छेत्।

"ननु चाध्यायनमात्रमनुज्ञातमात्यन्तिकस्य वासस्य कुतः प्राप्तिः?"

---

१. गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः—
मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना।
प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः ॥ इति (म०मु०)

नैष दोषः । गुरौ तस्य वास उक्तः । अध्यापयिता च 'गुरु'रुक्तः । अतो भवत्याशङ्का । **ब्राह्मणे वाननूचाने** । वाशब्दोऽप्यर्थः । ब्राह्मणोऽपि यदि **अनूचानः** वृत्ताभिजनसम्पन्नौ न भवति, न च व्याख्यानाध्ययनशीलः । अनुवचनेनैतेऽपि गुणा लक्ष्यन्ते यतोऽननुवक्तर्यर्थाभावादेवावासः सिद्धः ।

गतिरत्र सुखातिशयप्राप्तिर्विवक्षिता । **अनुत्तमा**, यस्या अन्योत्तमा नास्ति, ता काङ्क्षन्परमात्मानन्दरूपं मोक्षम् ॥२४२॥

हिन्दी—उत्तम गति (मोक्ष) को चाहने वाला ब्रह्मचारी साङ्गवेद के ज्ञाता भी अब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) गुरु के पास तथा साङ्गवेद को नहीं जानने वाले ब्राह्मण गुरु के पास आत्यन्तिकवास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यावस्था में रहना) न करे ॥२४२॥

आत्यन्तिक वास में रुचि होने पर—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ।।२४३।।

भाष्य—अत्यन्तं भव**मात्यन्तिकं वासं गुरोः कुले** नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं **यदि रोचयेत्त**दा युक्तस्तत्परः **परिचरेदेनं** गुरुम्—आ शरीरस्य विमोक्षणात्पाताद्—यावच्छरीरं म्रियत इत्यर्थः ॥२४३॥

हिन्दी—यदि गुरुकुल में ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यरूप आत्यन्तिकवास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी कहकर वास करने) की इच्छा हो तो शरीर छूटने (मरने) तक सावधान होकर गुरु की परिचर्या (सेवा) करे ॥२४३॥

गुरुकुल में आत्यन्तिक वास से ब्रह्मलोक प्राप्ति—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ।।२४४।।

भाष्य—नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य फलविधिरयम् ।

शरीरस्य समाप्तिर्जीवितत्यागः । **आ** ततः कालाद्यो **गुरुं शुश्रूषते** परिचरति । स गच्छति **विप्रः** । **ब्रह्मणः सद्म** सदनं स्थानं **शाश्वतं**, न पुनः संसारं प्रतिपद्यत इति यावत् । **अञ्जसा**ऽक्लिष्टेन मार्गेण । न गत्यन्तरेण तिर्यक्प्रेतमनुष्यादिजन्मना व्यवधीयते ।

ब्रह्मशब्देन चेतिहासदर्शने देवविशेषश्चतुर्वक्त्रः, तस्य **सद्म**, स्थानविशेषः, दिवि विद्यते । वेदांतवादिनो तु **ब्रह्म** परमात्मा, तस्य **सद्म** स्वरूपमेव, तद्भावापत्तिः॥२४४॥

हिन्दी—जो ब्रह्मचारी शरीर छूटने (मरने) तक गुरु की सेवा करता है, वह ब्राह्मण शीघ्र ही विनाश रहित (नित्य) ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥२४४॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ।। २४५।।

भाष्य—नैष्ठिकस्यायं गुरवेऽर्थदानं प्रतिषिध्यते । स्नास्यतो गुर्वर्थविधानात् । न च नैष्ठिकस्य स्नानमस्ति । प्रकृतश्च नैष्ठिक एव । उपकुर्वाणस्य तु उपनयनात्प्रभृति यावत्स्नानमस्त्येव सति सम्भवे यथाशक्त्या दानम् ।

पूर्वं स्नानाद् गुरवे **किञ्चिदुपकुर्वीत** दद्याद् ददात्यर्थे धातुः सोपसर्गोऽतश्च स्वसाध्या चतुर्थी । अथवा क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति, ततः सम्प्रदानत्वम् ।

धर्मवित्पदमनुवादः ।

स्नास्यंस्तु स्नानकाले प्राप्ते **गुरुणा** आदिष्टम् 'अमुमर्थमाहरेति' । ततः **शक्त्या** यावन्तं शक्नोति तावन्तम् । **गुर्वर्थम्** । गुरोरिदं गुर्वर्थम् । गुरौर्येन प्रयोजनं तमा**हरे**-दुपनयेत् ।

"नन्वयं नैष्ठिकस्य गुर्वर्थकरणप्रतिषेधः ।"

न ह्येते द्वे वाक्ये, एकेन प्रतिषेधः, अपरेण गुर्वर्थविधिः । स्नाने गुर्वर्थोऽवश्यं कर्तव्यं इत्ययं विधिः । प्रतिषेधस्तच्छेषः । उपकारप्रतिषेधे च सर्वशुश्रूषाविधिरनर्थकः स्यात् । न च दानमेवोपकारो, येन धनोपकार एव निषिध्येत, नान्यः प्रियहितादिः । अर्थवादत्वे त्वयथार्थता न दोषः । गम्यते चात्रैकवाक्यता ।।२४५।।

हिन्दी—धर्मज्ञ (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययनकाल में) गुरु का कोई उपकार (गौ, वस्त्र, धनादि को देकर) न करे (स्वयं प्राप्त होने पर तो देवे ही[१]) । व्रतपूर्तिकाल में (समावर्तन संस्कार निमित्तक) स्नान करने के पहले गुरु से आज्ञा पाया हुआ ब्रह्मचारी (गुरु के लिए किसी धनिक[२] व्यक्ति से याचना कर) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दे ।।२४५।।

क्षेत्र, सुवर्ण आदि गुरुदक्षिण—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमन्ततः ।
धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतिमाहरन् ।। २४६।।

भाष्य—उक्तमुद्दिष्टं 'गुर्वर्थं' कुर्यात्तत्र न सर्वं कर्तव्यमित्येवमर्थोऽयं श्लोकः । यदि गुरुर्विरुद्धमादिशेत्—'अमुष्य स्त्रियमाहरेति', 'सर्वस्वं वा देहीति'—तत्र कर्तव्यम् । किं तर्हि **क्षेत्रं** धान्यानां भवनभूमिः **क्षेत्र**मुच्यते । **हिरण्यं** सुवर्णम् ।

वा शब्दो विकल्पार्थः । न समुदितानि देयानि ।

---

१. एतदर्थं रघुवंशस्य पञ्चमसर्गस्थो रघुकोत्सयोः कथाभागो द्रष्टव्यः ।

२. तथा चापस्तम्बः- 'मदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम् ।" इति

अन्ततः अन्याभावे **छत्रोपानहमपि** । द्वन्द्वनिर्देशात्साहित्यदानम् । **वासांसी**ति सर्वत्र संख्या न विवक्षिता ।

प्रीतिमाहरन्निति । एतदाहरेदिति पूर्वसम्बन्धः । 'प्रीतिमाहरेदिति' वा पाठे अत्रैव क्रियापरिसमाप्तिः । 'प्रीतिमावहेदिति' वा । प्रीतिमुत्पादयितुं धान्याद्याहरेत् । स्वतन्त्रैव वा **प्रीति**राहार्यतयोच्यते । ततश्च द्रव्योपदेशस्य प्रदर्शनार्थता सिद्धा भवति । अन्यदपि यदेवंविधं प्रीतिजनकम्, मणिमुक्ताप्रवालहस्त्यश्वतरीरथादि, तदपि देयमिति गम्यते । तथा च गौतमः (अ० ३, सू० ४८) "विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्यः" ।

आहरेद्यदि स्यादात्मीयं शक्त्यागतं तदा—न चेद् याच्ञादिनाऽर्जयेत् ॥२४६॥

हिन्दी—उक्त (व्रतसमाप्ति का स्नान कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का इच्छुक) ब्रह्मचारी भूमि, सुवर्ण गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ों को देकर गुरु की प्रसन्नता को प्राप्त करे ॥२४६॥

विमर्श—अपनी शक्ति के अनुसार उक्त सब वस्तुओं को दे या पृथक् किसी एक वस्तु को ही दे । विकल्प पक्ष में अन्य वस्तुओं के अभाव में छाता और जूता-दोनों ही (एक नहीं) दे । यह दिङ्मात्र निर्देश है, शक्ति होने पर अन्य वस्तु भी दी जा सकती है; क्योंकि अधिक से देने पर भी शिष्य गुरु के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता । यदि कुछ न दे सके तो केवल शाक[1] देकर ही उस शिष्य को गुरु को प्रसन्न करना चाहिये ।

आचार्य के मरने पर गुरुपुत्रादि में गुरुतुल्य व्यवहार—

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।।२४७।।

भाष्य—नैष्ठिकस्यायमुपदेशः ।

असत्या**चार्ये**, तत्पुत्रे श्रोत्रियत्वादिगुणयुक्ते—गुरुपत्न्यामाचार्याण्यां वा—सपिण्डे वा—गुरोरेव—वसेत् तत्र च **गुरुवद्वृत्तिमाचरेद्** भैक्षनिवेदनादि सर्वं कुर्यात् ।

दारशब्दो बहुवचनान्तो भार्यावचनो वैयाकरणैः स्मर्यते । स्मृतिकारास्त्वेकवचनान्तमपि प्रयुञ्जते । " 'धर्मप्रजासम्पन्ने' दारे नान्यां कुर्वीतेति" इति ॥२४७॥

हिन्दी—आचार्य के मरने पर गुणयुक्त गुरुपुत्र में; गुरुपत्नी में और गुरु के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक के परिवार) में गुरु के समान व्यवहार करे ॥२४७॥

---

१. तथा च लघुहारीतः—
"एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥
असम्भवे शाकमपि दद्यात् ॥" इति म० मु० ।

उक्त गुरुपुत्रादि के अभाव में कर्तव्य—

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ।। २४८।।

भाष्य—अविद्यमानता सर्वेषामभावः, यदि वा गुणहीनता । **एतेष्वसत्स्वग्नि-शुश्रूषां** प्रयुञ्जीत अग्निशरणोपलेपनं अग्नीन्धनं आचार्यवत्सन्निधाननियमाद्धृत्यवद-होरात्रासनम् एषाऽग्नेः **शुश्रूषा** तां कुर्वन्**देहं साधयेत्** शरीरं क्षपयेत् । यथाऽन्धश्चक्षुष्मानु-च्यत एवं साधयेदिति ।

स्थानासन एव **विहारः** तद्वान्—न कदाचिदा**सीत** एवं विहरेत् । अन्ये तु मन्यन्ते—**स्थानाय** स्वस्तिकादिना यत् **आसनं** ध्यानकाले तत् **स्थानासनं**, **विहारो**ऽन्यो भिक्षाचरणादिः ॥२४८॥

हिन्दी—इन (विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और गुरु के सपिण्ड) के नहीं रहने पर आचार्य की अग्नि-समाधि के समीप ही स्नान, आसन तथा बिहार में युक्त ब्रह्मचारी अग्निशुश्रूषा (प्रातःसायं विधिवत् अग्निहोत्र) करता हुआ अपने शरीर को साधे (ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनावे) ॥२४८॥

जीवनपर्यन्त गुरुकुल सेवा का फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेह जायते पुनः ।। २४९।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ।। २।।

भाष्य—एवमिति नैष्ठिकवृत्तिं प्रत्यवमृशति । **एवं यो ब्रह्मचर्यं चरत्यविप्लुतः** । अस्खलः **स** प्राप्नोत्**युत्तमस्थानं** धाम परमात्मप्राप्तिलक्षणम् । **न चेह पुनर्जायते** न संसारमापद्यते । ब्रह्मरूपं सम्पद्यत इति ॥२४९॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।। २।।

हिन्दी—(आचार्य के मरने पर भी) गुरु-पुत्रादि से लेकर अग्नि तक की शुश्रूषा करने वाला अखण्डित व्रतवाला जो ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आचरण करता है, वह उत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को पाता है और फिर इस संसार में (कर्मवश से) जन्म नहीं पाता है ॥२४९॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारादिकवर्णनम् ।
भागीरथ्याः कृपादृष्ट्या द्वितीये पूवर्णतां गतम् ।। २।।

●

।। अथ तृतीयोध्यायः ।।

ब्रह्मचर्य पालन की अवधि—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।।१।।

भाष्य—द्विविधो ब्रह्मचारी पूर्वत्र प्रतिपादितः, नैष्ठिक उपकुर्वाणश्चेति । "आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्" (अ० २, श्लो० २४४) इत्यनेन नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यमुक्तम् । "आ समावर्तनादिति" (२।१०८) पक्षान्तरमपि सूचितम् । तत्र नैष्ठिकस्य नामधेयस्य प्रतिलम्भेनैव निमित्तवता अवधिशेषः सुगमितः । निष्ठां समाप्तिं गच्छति 'नैष्ठिकः' । श्रुत्यैव कालो विहितः "आ समाप्तेरिति" । उपकुर्वाणस्य "अनेन क्रमयोगेन" (अ० ६, श्लो० ८५)—"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः, वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः" (अ० २, श्लो० १६५) इति संख्याया अविवक्षायां चैकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्तादिशाखाध्ययनं यथाशक्ति प्राप्तं नियम्यते । **त्रैवेदिकं व्रतं चर्यम्** । त्रयाणां वेदानां समाहारस्त्रिवेदी, तद्ग्रहणप्रयोजनं **त्रैवेदिकम्** । ग्रहणक्रिया वृत्तावन्तर्भवति वेदाधिगमस्य प्राग्विहितत्वात् । **व्रतं** ब्रह्मचारिधर्मकलापः । **चर्यं** चरित-व्यम् । कृत्यो विधौ ।

एवमाहरणादीनां ग्रहणान्ततायां प्राप्तायामाह—**षट्त्रिंशदाब्दिकमिति** । गृहीतेऽपि वेदे कालः पूरयितव्यः ।

"यदि स्वाध्यायाध्ययनविध्यर्थो धर्मः, तस्य च स्वाध्यायविधेर्ग्रहणे निवृत्तिः, किमर्था तर्हि द्वादशवार्षिकी ग्रहणोत्तरकालं व्रतचर्यानुवृत्तिः ?"

अत्यल्पमिदमुच्यते । दर्शपूर्णमासादिष्वप्याग्नेयादियागेभ्यः पराञ्चि यान्यङ्गानि तत्रा-प्येतद्वक्तव्यम् । समस्ताङ्गानुष्ठान एवारादुपकारकाद्यङ्गयुक्ताद्विशिष्टक्रमाद्विध्यर्थसम्पद्य-वगतायां परिचोदनाशब्दादेव विधिः सम्पद्यते ।

अथ "महतो लघीयांसस्तदर्धिकपादिकग्रहणावधयः पक्षाः सन्ति । तेषु सत्सु कः खलु महाप्रयासमतिचिरकालं तावद् द्वादशवार्षिकं व्रतचरणमाद्रियेतेति" चेत् ।

फलभूमार्थनोऽङ्गभूयस्त्वमनुष्ठास्यन्ति । तदुक्तम् 'प्रयत्नविशेषात्फलविशेषेण भवितव्यमिति ।

"ननु च नार्थावबोधादृते ग्रहणद्वारेण स्वाध्यायाध्ययनस्य किञ्चिदपरं फलमस्ति। एवं ह्याहुः—'न तस्याध्ययनमात्रं तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्तीति'। तथा "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नामेति" शाबरभाष्ये। तस्य च न कश्चिद्विशेषो दृश्यते॥"

यद्येवं ग्रहणकालेऽप्यन्तरेण व्रतधर्मानुष्ठातुं ग्रहणानुष्ठानप्रसङ्गः । कश्चैवमाह—'अर्थावबोधार्थः स्वाध्यायविधिरिति'। स्वाध्यायविधिः स्वार्थ एव। नान्यस्यान्यार्थतायां प्रमाणमस्ति। अर्थावबोधो हि ग्रहणे सति वस्तुस्वभावत उत्पद्यते न विधितः।

"अथ किं स्वर्गादिफलार्थिनोऽयं विधिः"।

एतदपि कथं भविष्यति?

"का तर्हीयं वाचोयुक्तिः—फलविशेषेणेति"॥

एषा वाचोयुक्तिः। संस्कारविधिस्तावदयं स्वाध्यायप्रधानः तस्य स्वाध्याये कर्मण्युत्पन्नत्वात्। संस्कारविधयश्च न साक्षादधिकारमर्हन्ति किन्तु संस्कार्यद्वारेण साधिकारविध्यन्तरमनुप्रविशन्ति। यथा व्रीहिमवहन्तीति दर्शपूर्णमासाधिकारविषयाग्नेयादियागसाधनभूतपुरोडाशप्रकृतिव्रीहितुषकणविप्रमोचनादिसंस्कारद्वारेण दर्शपूर्णमासापूर्वसम्बन्धमनुभवति अवघातः, न तन्निरपेक्षः, स एव कर्तव्यतया प्रतीयते। एवमिह वेदस्य संस्कार्यत्वं नान्यत्राशेषभूतस्य निर्वहति। दृष्टः स्वाध्यायाध्ययनानन्तरमर्थावबोधः। अत इदमध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमवघात इव तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तः। एतावांस्तु विशेषः। प्रकरणेऽधीतत्वादवघातो झटिति लब्धाधिकारविध्यन्तरसम्बन्धः। अयं त्वनारभ्याधीतत्वादवबोधपर्यवसायी सकलफलकर्मानुष्ठानोपयोगितया गम्यमानोऽधिकारः। तथा विध्यर्थनिर्वृत्तिरेव फलविशेषोऽभिप्रेतः। विधेर्हि पुरुषार्थत्वं व्युत्पन्नावगमम्, तत्साक्षाद्भवतु वा परम्परया वेति न विशेषः। गम्यमानाधिकारत्वाच्च स्वतन्त्र एवायं विधिः स्वात्मानमनुष्ठापयति, यद्यपि नित्यकामश्रुतिष्वर्थावबोध उपयुज्यते।

ये त्वर्थावबोधद्वारेण ज्योतिष्टोमादिविध्येककार्यत्वमिच्छन्ति तत्फलस्यैव च प्रयत्नविशेषादतिशयमाहुस्तेषामाचार्यकरणविधिना किमपराद्धं, येन महता यत्नेन तदेककार्यता निषिध्यते। अप्रामाण्यं वेदस्य भवतीति चेदस्तु। न प्रयोजनवशेन युक्तिसामर्थ्यायातोऽर्थो हातुं शक्यते। युक्तिस्तु युक्त्यन्तरेण बलीयसा बाध्यते।

"आचार्यकरणविध्येककार्यत्वे त्वस्य विधिरूपतैव हीयते, स्वार्थस्याविवक्षितत्वात्"। तत्तुल्यं ज्योतिष्टोमाद्यनुप्रवेशेऽपि।

यदा तु स्वतन्त्रोऽयं विधिः स्वार्थानुष्ठापकस्तत्समानस्कन्धस्तदा स्वयमेवेतिकर्तव्यतया युक्तोऽनुष्ठीयते।

तत्र ये विकल्पिताः कल्पा लघीयांसो गरीयांशश्च, तेषां लघीयसा सिद्धे गरीयसामनुष्ठानं विध्यर्थ एव विशेषमावहति । यथाऽऽधाने 'एका देया तिस्रो देया' इत्यादि । अनुष्ठिते चास्मिन्विधौ स्वसामर्थ्याच्छ्रुतो वा भवतु प्रतीयमानो वा कल्प्यो वा, प्रमाणभेदोयं न सम्बन्धभेदः, सर्वथोभयतः स्पर्शतो न मुच्यामहे—यद्यस्य विधिः स्वार्थानुष्ठापको ज्योतिष्टोमाद्युपकारकत्वञ्च ।

"ननु किमिदं पूर्वापरविरुद्धं प्रलप्यते? प्रागुक्तम्—न साक्षात्संस्कारविधयोऽधिकारसम्बन्धिनः इदानीं तु स्वतन्त्र एवायं विधिः स्वार्थानुष्ठापक इति । 'यथायं-विशेषश्रुतेनान्वयिना न सम्बध्यते, गम्यमानस्त्वधिकारः संस्कारविधीनामप्यविरुद्ध' इति । नायं विशेषो यद्यस्य विधिप्रयुक्तमनुष्ठानमर्थावबोधांश इष्यते । पाठमात्रस्याचार्यविधिप्रयुक्तत्वात्संस्कारविधीनामधिकारसम्बन्धोऽभ्युपगतः स्यात् । अथ विध्यन्तरोपकारकत्वात्तत्प्रयुक्तमनुष्ठानं, तथा सत्यधिकृतस्याध्ययनं स्यान्नाधीतवेदस्याधिकारः । तदा च शूद्रस्याधिकारो दुर्निवारः । न चाध्ययनानन्तरं वेदार्थश्रवणं प्राप्नोति । यदैव हि यदृच्छया कुतश्चिदधिगतं भवति 'ज्योतिष्टोमनाम कर्म वैदिकं स्वर्गफलमिति', तदैव तदितिकर्तव्यतां शिक्षेत्, तत्काल एव च तदुपयोगिनो मन्त्रान्याजमानानधीयीत ।"

अत्र केचिदाश्रयिन्यायेन (मी० सू० ४।१।१८) परिहरन्ति । यथैव हि स्विष्टकृदादय उभयरूपाः संस्कारार्थकर्मतया, एवं स्वाध्यायाध्ययनमप्यभिधानविनियोगानुसारितया क्रियाफलावबोधदर्शनेन च संस्कारकर्म फलवत्कर्मार्थकर्म । अतः साधिकारत्वसिद्धिः । "कः पुनरधिकारी" । उपनीतस्त्रैवर्णिको माणवक इति ब्रूमः । ब्रह्मचारिधर्मेषु ह्येतदाम्नायते । लिङादयो ह्यविनाभूतनियोज्यार्थप्रतिपादकाः । तत्र विशेषाकाङ्क्षायां क्वचिच्छब्दसमर्पितो विशेषो भवति—'स्वर्गकामो यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'। क्वचिदश्रुतोऽप्यन्विताभिधानसामर्थ्यबलेन कल्प्यो, विश्वजिदादिषु क्वचित्प्रकरणाद्वस्तुसामर्थ्याद्विध्यन्तरपर्यालोचनयाऽपि च प्रतीयते । तदेतदिह सर्वमस्ति । प्रकृतो ब्रह्मचारी । वस्तुसामर्थ्येन चार्थावबोध उपजायते । स च सर्वविधिषूपयुज्यते, विदुषोऽधिकारात् ।

तदिदमपरे न मृष्यन्ति । संस्कारविधित्वेनैवास्य प्रतीयमानाधिकारता । यतः संस्कारकर्माणि संस्कार्यार्थतयाऽनुष्ठीयन्ते । यदि च संस्कार्ये न दृश्येत विशेषस्ततः सक्तुवत्संस्काररूपता हीयेत । अस्ति चात्र फलवत्कर्मावबोधलक्षणो विशेषः । यत्तु "स्विष्टकृदादिवदिति", तत्प्रकृतिप्रत्ययविज्ञानागम्यत्वरूपहानितया युक्तोभयरूपता ।

तस्मात्स्थितं स्वतन्त्रोऽयं विधिर्माणवकस्येति । अतश्च स्वत एवानुष्ठेयो नावघातादिवद्दर्शपूर्णमासाद्यधिकारनियोगाक्षेपेण ।

एवमनेकवेदाध्ययनमपि द्रष्टव्यम्। तत्रापि ह्येकेन वेदेन निर्वृत्ते विध्यर्थे किमित्यनेकवेदाध्ययनम्। फलभूम्ना तु युज्यते। फलं च पूर्ववत्, न तु वाक्यशेषाधीतं पयोदध्यादि। एवं स्थित एकवेदाध्यायिनः स्वशाखानधीतानां मन्त्राणां कर्मोपयोगिनां कर्मानुष्ठानकाले सामर्थ्यात्तदाक्षिप्तमध्ययनमनुज्ञातं भवति। यद्यप्यधीतवेदस्याधिकारे "अधीत" इति।

अन्ये तु 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येय' इति निष्कारण इत्येतस्याधिकारपदतां मन्यन्ते। 'निष्कारणः', कारणं प्रयोजनमनुद्दिश्य, नित्यकर्मवत्कर्तव्यम्। न ह्यस्याधिकारसमर्पकत्वमन्तरेण विषयद्वारेण क्रियाकारकतद्विशेषणत्वादिनाऽन्वयः सम्भवति। तस्मात्सत्यपि संस्कारविधित्वे गम्यमानाधिकारत्वं श्रूयमाणाधिकारत्वं वाऽविरुद्धम्।

अपरे तु संस्कारविधित्वादनधिकारतामेव ज्यायसीं मन्यन्ते। अनुष्ठानविशेषलाभार्थो ह्यधिकार उपास्यते। स चेह संस्कार्यविशेषदर्शनादेव सिद्धः। संस्कारविधयः प्रयोजनापेक्षाः। क्रियाफलमेवात्र विधिसाध्यम्। तच्च कर्मस्थं ग्रहणलक्षणं दृश्यत एवाविरुद्धम्।

अश्रुते विभागे स्मृत्यन्तराद्विभागावगतिः "प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानीति"।
"के पुनरत्र त्रयो वेदा अभिप्रेताः"।
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति।
"अथ किं नाथर्वणो वेद इति"।

क एवमाह। किंत्वत्र यथाश्रुतसंस्कार्यत्वनिबर्हणायामर्थावबोधनिष्ठतया तस्य विधेरनुष्ठानलाभः। अवबोधो हि सकलकर्मानुष्ठानोपयोगीति। आथर्वणश्चाभिचाराद्युपदेशबहुलः। तस्मान्न ज्योतिष्टोमादिकर्माणि विधीयन्ते। नापि तेषां किञ्चिदङ्गम्। त्रय्यैव हौत्राध्वर्यवौद्गात्रादिसकलतदङ्गपरिसमाप्तिः। प्रधानोत्पत्तिविधयश्च त्रय्यामेव ज्योतिष्टोमादीनां सन्ति। ब्रह्मत्वमपि त्रय्यामेव विद्यते। त्रिशब्दश्च संख्यावचनः। न च संख्याशब्दाः कञ्चिद्धर्ममेकमनपेक्ष्य प्रवर्तन्ते। अतो येषामेवेह कार्योपदेशपरता त एव त्रिशब्देनाभिगदितुं शक्यन्ते। न चाथर्वणस्य तत्कार्यानुप्रवेशः। न तत्र प्रधानविधयो ज्योतिष्टोमादीनां, नाङ्गविधयः। श्येनादिष्वभिचारयज्ञेषु त एवर्त्विजः सैवान्याऽपीतिकर्तव्यता। विशेषोऽपि यः सोऽपि त्रय्यामेवोपदिष्टः। अत ऋग्यजुर्भ्यामृक्सामभ्यां चैकत्र कर्मणि समावेशाभावात्त्रिवेदीव्यपदेशानुपपत्तेर्नाथर्वणस्येह ग्रहणम् स्वाध्यायशब्दवाच्यत्वात्त्वध्ययनविधेस्तद्विषयत्वमविरुद्धम्।

तदर्धिकम्। षटत्रिंशत्संख्या प्रत्यवमृश्यते। ततोऽर्धमष्टादशवर्षाणि। अत्रापि विभागकल्पना षड्वर्षाणि।

अत्रापि **पादिकम्**। पादश्चतुर्भागभागिनी सैव संख्या। नव वर्षाणि। तेषां चतुर्थो भागः। प्रतिवेदं त्रीणि।

"कथं पुनस्त्रिभिर्वर्षैर्वेदः शक्यो ग्रहीतुम्"।

भवति कश्चिन्मेधावितमः।

अपर आह। न ग्रहणस्वरूपप्रयुक्ता धर्माः, किं तर्हि तद्विषयेण विधिना प्रयुज्यन्ते। तत्रानिवृत्ते। ग्रहणे यदि कानिचिदहानि नियमानुपालनमध्ययनकाले क्रियते तावत्सम्पाद्यत एव शास्त्रार्थः। भवेत्स्वाध्यायविध्यर्थं तावतैवाङ्गकलापानुष्ठानम्। असमाप्तग्रहणस्य तद्व्रतनिवृत्तौ व्रतस्नातकव्यपदेशः। अतः कालविशेषविधानं युक्तम्। त्रिभिर्वर्षैः विना न व्रतस्नातको भवति। तद्यद्यपि "स्नानं वेदसमाप्ताविति" केचित्स्मरन्ति, तथापि तदर्थव्रतसमाप्तावपि प्रयोग उपचाराद्युक्त एव।

तदयुक्तम्। सत्यपि विधिप्रयुक्ते यावदध्ययनभावितैव व्रतानां युक्ता। अध्ययनसंयोगेन हि तानि चोद्यन्ते। यावदध्ययनं भवितुमर्हन्ति। वचनादेव हि त्रिसांवत्सरी व्रतचर्या प्रागपि ग्रहणाद्यद्येतत्पृथग्वाक्यम्। अथ तु ग्रहणान्तिकमेवेत्येकं वाक्यं, ततो नास्त्यगृहीते वेदे व्रतनिवृत्तिः। एवकारेणैवमेव पक्षमनुमन्यते।

"यदि नास्त्यगृहीते वेदे तन्निवृत्तिः कथं तर्हि 'व्रतस्नातको' 'वेदस्नातक' इति भेदेन व्यपदेशः"।

चतुर्थे वक्ष्यामः।

षट्त्रिंशदब्दाः समाहृताः 'षट्त्रिंशदब्दं,' तत्रभवं **षट्त्रिंशदाब्दिकम्**। एवं **त्रैवेदिकम्**। तदधिपरिमाणं **तदर्धिकम्**। एवं **पादिकं ग्रहणान्तिकमिति**। सर्वत्र "अत इनि ठनाविति" (पा० सू० ५। २। १४५) मत्वर्थीयः। न तु यस्य यत्परिमाणं तत्तस्यास्तीति शक्यतेऽपदेष्टुम् ॥१॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी गुरु के समीप में ३६ वर्ष (प्रतिवेद के क्रम से १२-१२ वर्ष) तक या उसका आधा १८ वर्ष तक (प्रतिवेद के हिसाब से ६-६ वर्ष तक) अथवा उसका चतुर्थांश ९ वर्ष तक (प्रतिवेद के हिसाब से ३-३ वर्ष तक) अथवा वेदों के ग्रहण (अध्ययन) करने की अवधि तक तीनों वेदों का अध्ययनरूप व्रत (ब्रह्मचर्यपालन व्रत) करे ॥१॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

भाष्य—त्रैवेदिकमध्ययनमुक्तम्। एकद्विवेदाध्ययनमप्राप्तं विकल्प्यते। वेदशब्दः शाखावचनो व्याख्यातः। तिस्रः शाखा अधीयीत द्वे एकां वैकैकस्माद्वेदात्र त्वेकस्मादेव। त्रयी त्रिविद्येति पठ्यते।

अधीत्य, गृहीत्वा, वेदमुक्तया व्रतचर्यया।

गृहस्थाश्रममावसेत्। गृहस्थाश्रमस्य स्वरूपं वक्ष्यति "उद्वहेत द्विजो भार्याम्" इत्यादि। **आव**सेदनुतिष्ठेत्। अनेकार्था धातवः। आङ् मर्यादायां वर्तते। कृतदारपरिग्रहो रूढ्या गृहस्थ उच्यते। 'गृह'शब्दो दारवचनस्तत्र तिष्ठति। तस्य यो विहितः पदार्थ-समूहो विधिनिषेधात्मकः स आश्रमशब्देनोच्यते। अथोपनीतस्य ब्रह्मचर्याश्रम आ समा-वर्तनात्, कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमिति।

अविप्लुतमखण्डितं ब्रह्मचर्यं स्त्रीसम्प्रयोगनिवृत्तिर्यस्य स एवमुच्यते। वाक्य-भेदश्चात्र द्रष्टव्यः। आख्यानव्यवहारेण—**अविप्लुतब्रह्मचर्यो** भवेद्गृहस्थाश्रमं च प्रति-पद्येत। एकवाक्यतायां कदाचन विप्लवे गार्हस्थ्याधिकार एव हीयेत। अद्य पुनः पुरुषार्थतया विधानेन तदतिक्रमे प्रायश्चित्तेन युज्यते न त्वधिकारी न भवति।

अधीत्यावसेदिति च पौर्वापर्यमात्रं विवक्षितम्, नाध्ययनसमनन्तरभाविता विवाहस्य ल्यप्कार्यात्पौर्वापर्यविधानादानन्तर्यं न शब्दार्थः। अतश्च स्वाध्यायाध्ययनविवाहयोर-न्तराले व्याकरणादिशास्त्रश्रवणं वेदार्थज्ञानार्थं लभ्यते। विद्वानेव हि गार्हस्थ्येऽधिक्रियते, न यथाऽध्ययनविधौ मूर्खः। यद्यपि बाल्यावस्थायां तिर्यक्समानधर्मा स्वमधिकारं प्रति-पत्तुमसमर्थस्तथापि पित्राऽऽचार्येण वाऽनुष्ठाप्यते। वस्तुतस्तयोरेवाधिकारः। अपत्या-नुशासने पितुरधिकारोऽपत्योत्पत्तिविधेस्तावताऽभिनिर्वर्त्यत्वात्। अनुशासनं च विधि-निषेधाधिकारद्वयप्रतिपादनम्। तत्र यत्प्रतिपाद्यमानोऽपि नावबुध्यते, तदन्ध इव हस्त-ग्राहिकयाकार्यते। यथाऽग्निसंस्पर्शकूपादिपाताद्गाढहस्तावष्टम्भादिना धार्यते एवम-दृष्टादपि मद्यपानादेः। यथा वाऽनिच्छन्नौषधपानादौ प्रवर्त्यते एवं शास्त्रीयेष्वपि पदार्थेषु। यदा त्वीषद्व्युत्पन्नस्तदैवं नियुज्येत 'इदमिदं कर्तुमर्हसीति'। एवं सत्यधीतवेदो माण-वकः पित्राचार्येणैवैवं प्रतिबोधयितव्यो "गृहीतवानसि वेदं त्वमिदानीं तदर्थजिज्ञासा-यामधिक्रियसे ततस्तदङ्गानि श्रोतुमर्हसीति"। एतावता पितुरपत्योत्पादनाधिकार-निवृत्तिः। तदुक्तं 'क्रियता पुनरुत्पादितो भवति यावता स्वयमधिगतकृत्यो भवतीति'।

अतः स्थितमेतत्—नाधीत्यैव विवाहो यावद्वेदार्थो नाधिगतः। एवं च पदयोजना कर्तव्या। **अधीत्य** अध्ययने निवृत्तेऽपि **अविप्लुतब्रह्मचर्यः** स्यात्।

प्राप्तायां च निवृत्तौ पुनर्वचनं नियमान्तराणां मधुमांसवर्जनादीनां निवृत्तिपरम्। तेन यावदध्ययनं तावत्सर्वे नियमा अनुष्ठातव्याः, समाप्तेत्वध्ययनेऽर्थावबोधकाले स्त्रीनिवृत्तिरेव करणीया, स्त्री-सेवा न विधातव्या। ब्रह्मचर्यशब्दो यद्यपि ब्रह्मग्रहणार्थं यद्व्रतग्रहणं तत्र व्युत्पाद्यते तथापि स्त्रीनिवृत्तिपर एवास्य तत्र प्रयोग इति दर्शयिष्यामः।

यथाक्रमम्। य एवाध्येतॄणां पाठक्रमः प्रसिद्धस्तेनैव, प्रथमं चतुःषष्टिस्ततो

ब्राह्मणं पितृपितामहाद्यभिजनप्रबन्धोपक्रमं भवति । न हीदृशेऽर्थे वक्तारो न कुलेन न शीलेन न क्रमेणेति । एतेन चैतत्प्रतिपादितं भवति—या एव पित्रादिभिः शाखाऽधीता सा न त्याज्येति ॥२॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी को चाहिये कि अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनों वेदों को (अपने-अपने वेद की शाखाओं के सहित तीनों वेदों को) उतना न कर सके तो दो वेदों को (अपने-अपने वेद की शाखाओं के सहित दोनों वेदों को) उतना भी नहीं कर सके तो एक वेद को (अपने वेद की शाखा के साथ एक वेद को) ही मन्त्र-ब्राह्मण क्रम से अध्ययन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥२॥

विमर्श—यद्यपि मनु ने पुरुषशक्त्यनुसार तीनों विकल्पों में श्रेष्ठ उभयस्नातक का ही वर्णन किया है, किन्तु स्मृत्यन्तर में अन्य भी स्नातक-भेद का वर्णन मिलता है; यथा-विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्या-व्रतस्नातक । उनमें—(१) जिसने केवल वेदाध्ययन को समाप्त किया, वह विद्यास्नातक, (२) जिसने केवल व्रत को समाप्त किया, वह व्रतस्नातक और (३) जिसने विद्या तथा व्रत दोनों को समाप्त किया, वह विद्याव्रतस्नातक है । इस प्रकार स्नातक के तीन भेद वर्णित[1] हैं ॥

वेद पढ़े हुए ब्रह्मचारी का पिता द्वारा पूजन—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

भाष्य—तं ब्रह्मदायहरं प्रथमं गवा**ऽर्हयेत्** । ब्रह्म च दायश्च ते उभे हरति स्वीकरोतीति **ब्रह्मदायहरः** । दीयत इति 'दायो' धनं, 'ब्रह्म' वेदो, 'हरण'मधिगमः । गृहीतवेदः पित्रा कृतविभागो गार्हस्थ्यं प्रतिपद्यते, निर्धनस्यानधिकारात् । यदि तु पिता निर्धनस्तदा सान्तानिकतया धनमर्जयित्वा विवाहयेत् ।

अन्ये तु ब्रह्मैव दायो 'ब्रह्मदाय' इति पूर्वोक्तविध्यनुवादं मन्यन्ते पितुरिति ।

"ननु चाचार्यस्य माणवकाध्यापनेऽधिकार उक्तः किमिदमुच्यते पितुर्ब्रह्म-दायहरमिति" ।

उच्यते । यस्य पिता विद्यते तस्य स एवाचार्यः । अभावे पितुरशक्तौ वाऽन्यस्या-धिकारः । आचार्यान्तरोपादानेन पितुरधिकारो निवर्तत एव । स्वयं वाऽध्यापयत्वन्यो-पादानेन वेति न विशेषः ।

---

१. तथा च हारीतः-'त्रयः स्नातका भवन्ति, विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च' इति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेद समावर्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य समावर्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः' इति (म०मु०) ।

यदप्याहुः—''वरो दक्षिणेत्युपनयने नित्यवद्दक्षिणाम्नानात्परकर्तृकत्वमेवेति''–तदसत्। उपनयने ह्ययं विधिः 'वरो दक्षिणेति'। उपनेता च पिता वाऽऽचार्यो वा, तौ द्वावपि स्वाधिकारप्रवृत्तौ नानत्यन्तरमपेक्षेते। आनमनार्थं हि दक्षिणादानम्। न चाधिकारान्तरतः प्रवृत्तस्यानतिरुपयुज्यते। तेनायं दक्षिणाशब्द आनमनार्थाभावादर्था-द्धिरण्यदानवददृष्टार्थदानोपलक्षणार्थो विज्ञेयः। पित्रैव चासौ तावता धनेन स्वामी कर्तव्यो येन वरदानमस्य सम्पद्यते।

अथायमाग्रहः—''नानत्यर्थाद्दानादृते दक्षिणाशब्दस्योपपत्तिः। न वा मुख्ये सति लक्षणा न्याय्येति''। एवं तर्हि यस्य पिता न तत्स्थानीयो नाचार्यः स यदाऽऽ-त्मानमुपनयेत् सत्यकामवत्तद्विषयो दक्षिणाविधिर्भविष्यति। तस्यापि चेषदपेतशैशव-स्यात्मसंस्कारायास्त्येवाधिकार इति प्रतिपादितम्।

तस्मादुभयथा पितुरधिकारः, स्वयमुपनयमानस्यान्यमाचार्यमुपाददानस्य वा।

प्रतीतम् अभिमुखीभूतं गृहाश्रमप्रतिपत्तौ। न तु नैष्ठिकं, समाप्ताध्ययनविध्यर्थमपि ग्रामप्रतिपत्तौ।

स्रग्विणम्। यावन्तः केचन गृह्यकारैर्मधुपर्ककर्मणि धर्मा आम्नातास्तेषां प्रदर्श-नार्थम् तत्।

तल्प आसीनं महार्हपर्यङ्कशयनोपविष्टम्। पूजाधिकारार्हं शयानम्।

गवा मधुपर्केण। मघुपर्केऽसौ विधिः पाक्षिक आम्नातः। अतो गोशब्देन तत्साधन-कर्मविशेषो लक्ष्यते।

अर्हयेत् पूजयेत्। अधिकारात्पिताऽऽचार्यो वा।

प्रथमं पूर्वं विवाहात्।

प्रतीतं स्वधर्मेणेत्यनुवादः। स्वधर्मेण 'ब्रह्मदायहरं', 'स्वधर्मेण चार्हयेदिति', सम्बन्धे न विशेषः ॥३॥

हिन्दी—अपने धर्म से प्रसिद्ध, पिता से (पिता के अभाव में आचार्य से) ब्रह्मदाय (ब्रह्मभाग अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति साधक वेद) को ग्रहण किये हुए, माला पहने हुए तथा श्रेष्ठ आसन पर बैठे ब्रह्मचारी की पूजा पिता या आचार्य गोदुग्ध आदि मधुपर्क से करे ॥३॥

समावर्त्तन के बाद विवाह—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥४॥

भाष्य—सत्यामपि वेदव्रतसमाप्तौ **गुरुणाऽनुमतः** अभ्यनुज्ञातः स्नायात्।

स्नानशब्देन गृह्योक्तसंस्कारविशेषो लक्ष्यते, ब्रह्मचारिधर्मावधिः। यथा चात्र लक्षणा तथा प्राग्व्याख्यातम्।

तदहरेव गृह्यकारोक्तं कश्चिन्मधुपर्कपूजाविहितसंस्कारं प्राप्य **समावृत्तो** 'गुरुकुलात्पितृगृहं प्रत्यागत' इत्यनुवादः। **उद्वहेते**त्येतद्विधिशेषमेतत्सर्वं प्राप्तमेव न तु समावर्तनं विवाहाङ्गम्। तेन यः पितृगृह एवाधीतवेदस्तस्य समावृत्त्यसम्भवेऽपि भवत्येव विवाहः।

केचित्समावर्तनं विवाहाङ्गं स्नानं मन्यन्ते। "क्त्वाश्रुत्या भेदप्रतिपत्तिरिति" चेदेवं तर्हि समावर्तनं विवाहाङ्गं स्नानसंस्कारं वक्ष्यति। सविशेषं हि तत्र स्नानमाम्नातमेव "स्नातकेनेत्यादि"।

अथवा यमनियमत्यागाभिप्रायं समावृत्तिवचनम्। **समावृत्तः** प्राक्तनीमेवावस्थां नियमरहितां प्रतिपन्न इत्यर्थः। विशेषाभिप्रायं च नियमत्यागवचनम्। ब्रह्मचारिणो हि सातिशया यमनियमा न तथोत्तरेषाम्।

यथाविधीति स्वधर्मेणेतिवत्।

उद्वहेत द्विजो भार्याम्। उद्वहेतेति विवाहविधिः। संस्कारकर्म विवाहो, भार्यामिति द्वितीयानिर्देशात्।

"न च प्राग्विवाहाद् भार्या सिद्धाऽस्ति यस्या विवाहसंस्कारः क्रियेत, चक्षुष इवाञ्जनसंस्कारः। किं तर्हि निर्वर्त्यते विवाहेन?"

यथा यूपं छिनत्तीति, छेदनादयः यस्य क्रियन्ते स यूपः, एवं विवाहेनैव भार्या भवतीति।

विवाहशब्देन पाणिग्रहणमुच्यते। तच्चात्र प्रधानम्। एवं हि स्मरन्ति 'विवाहनं दारकर्म पाणिग्रहणमिति"। इहापि वक्ष्यति (श्लो० ४३) "पाणिग्रहणसंस्कार" इति लाजहोमाद्यङ्गम्। तच्च गृह्यादखिलं ज्ञातव्यम्।

"नोद्वहेत्कपिलां कन्यामिति" (श्लो० ८) कन्याग्रहणात्कन्याया अयं संस्कारो, न स्त्रीमात्रस्य। कन्याशब्दश्चात्र प्रकरणेऽप्रवृत्तपुंसंप्रयोगायां योषिति वर्तत इति वक्ष्यामः।

सवर्णा समानजातीयाम्।

लक्षणान्विताम्। 'लक्षणानि' अवैधव्यप्रजाधनसूचकानि वर्णरेखातिलकादिचिह्नानि ज्योतिःशास्त्रावगम्यानि, तैः 'अन्वितां' युक्तां, शुभलक्षणान्वितामित्यर्थः। यद्यप्यनिष्टसूचकमपि लक्षणं' भवति किन्तु सूचकैरेव शस्तैस्तादृशीं विवाहयेत्, अतः प्रशस्तलक्षणा लक्षणवती द्रष्टव्या। अभिप्रेतसूचक एव लक्षणशब्दो लोके प्रयुज्यते।

सलक्षणोऽयं पुरुषः सलक्षणा स्त्रीति या शुभलक्षणा सैवमुच्यते।

तत्राधिकारचिन्ता कर्तव्या। संस्कारविधित्वादेवाधानवदनुष्ठानलाभात् यथैव ह्याधानमाहवनीयादिद्वारेण नित्यकाम्यकर्मोपयोगि तदङ्गाहवनीयादिनिर्वृत्त्यर्थमनुष्ठीयते, एवं विवाहोऽपि, अस्यापि भार्यानिर्वर्तकत्वेन दृष्टादृष्टपुरुषार्थोपयोगित्वात्। तथाहि खेदात्पुंसः स्त्रीमात्रविषयायां प्रवृत्तौ प्रसक्तायां कन्यापरदारनिषेधात्स्वदारेषु कामिनः खेदनिवृत्तिः। "सहधर्मश्चरितव्यः" इति तया सह सर्वधर्मेष्वधिकाराददृष्टपुरुषार्थ सिद्धिस्तदधीना।

अत्र केचिन्मीमांसन्ते। "रागिणः पूर्वोक्तेन प्रकारेण दृष्टसिद्ध्यर्थं विवाहं स्वतः कुर्वन्ति। तेषां च कृतविवाहानां सम्भवेत्सद्विजातिकर्मविधित्वेन कर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थो विवाहः। यस्य कथञ्चित्स्त्रीनिष्ठा निवृत्ता, न तस्य विवाहः। असति विवाहे कर्मानधिकारादनधिकृतस्य चाननुष्ठाने दोषाभावात्पुरुषार्थानुष्ठानान्यननुतिष्ठतोऽनाश्रमिणोऽप्यवस्थानमविरुद्धम्।"

तदेतदसत्। यथैव कामः पुरुषार्थस्तथैव धर्मोऽपि पुरुषार्थत्वे प्रयोजकः। सर्वोऽपि पुरुषार्थसिद्ध्यर्थ प्रवर्तते। यदि चैतदेवं स्यात्संवत्सरमनाश्रमी भूत्वेत्यादि नोपपद्येतेति। निपुणं चैतदाश्रमविकल्पावसरे षष्ठे निर्णेष्यामः ॥४॥

हिन्दी—गुरु से आज्ञा पाया हुआ द्विज अपनी गृह्योक्त विधि से (व्रत-समाप्ति-सूचक) स्नान कर अपने समान वर्णवाली (३।५-११) शुभ लक्षणों से युक्त कन्या के साथ विवाह करे ॥४॥

यादृशी कन्या वोढव्या तामिदानीं दर्शयति।

असपिण्डादि कन्या का विवाह योग्यत्व—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मण्यमैथुनी ॥५॥

मातुर्याऽसपिण्डा पितुश्च याऽसगोत्रा सा दारकर्मणि प्रशस्ता।

भाष्य—'सपिण्ड'ग्रहणं मातृबन्धूपलक्षणार्थम्। मातुर्हि सापिण्ड्यं स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे तृतीयपुरुषावधि। न तु त्रिभ्य ऊर्ध्वं मातृबन्धुभ्यो विवाह इष्यते किं तर्हि पञ्चमादूर्ध्वम्। एवं हि गौतमः पठति (अ० ४ सू० ३।५)। "ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो मातृबन्धुभ्यः पञ्चमादिति"। तेन यथाश्रुतिसमन्वयाभावात् सपिण्डशब्दः स्मृत्यन्तरवशेन मातृसम्बन्धितया व्याकरणीयः। तेनैवमुक्तं स्यात् 'मातुरन्वयजा जाया न भवति'। अवधिश्च गौतमी एव। तेन मातामहप्रमातामहयोर्यान्वये जाता सा पुत्रसन्ततेर्बान्धवसामीप्यात्पञ्चमीं यावन्न विवाहयितव्या। अतो मातृष्वसृतद्दुहितॄणां प्रमातामहसंततिजानां च सर्वासां प्रतिषेधो, बन्धुत्वाविशेषात्।

असगोत्रा च या पितुः। गोत्रं वसिष्ठभृगुगर्गादिवंशः स्मर्यते। समानगोत्रा वसिष्ठा न वसिष्ठैर्विवहन्ते न गर्गा गर्गैः। वासिष्ठे तु मातृसगोत्राया अपि प्रतिषेधः। "परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा। कृत्वा तस्याः समुत्सर्गं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्"। "मातुलस्य सुतां चैव मातृगोत्रां तथैव च"।

"गौतमेन तु पठ्यते (अ० ४ सू० २) "असमानप्रवरैर्विवाह" इति। तत्र गोत्रसमत्वे सत्यपि प्रवरभेदश्चेद्युज्यते विवाहः"।

तदयुक्तम्। यतः स्मृत्यन्तरे ह्युभयं निषिध्यते "असमानार्षगोत्रजामिति (याज्ञ० आ० ५३)"। आर्षं प्रवर इत्येकोऽर्थः।

"कथं पुनर्गोत्रभेदे समानार्षेयत्वम्"।

किमिति न भवति यदि स्मर्यते। श्रुतिस्मृतिप्रमाणकोऽयमर्थो न प्रत्यक्षगोचरो, येन विरोधः स्यात्।

"के पुनरमी प्रवरा नाम"।

अत्यल्पमिदमुच्यते। इदमपि वक्तव्यं—किं पुनरेतद्ब्राह्मणत्वं नाम, तथा कतरदेतद्गोत्रं नाम। यथैव समाने पुरुषत्वे ब्राह्मणत्वादिविशेषः, एवं समाने ब्राह्मणत्वे वसिष्ठादिगोत्रभेदः, प्रतिगोत्रं च समानार्षेयाणि। यस्यैतद्गोत्रं तस्य तैः शब्दैः प्रवराश्रयणं कर्तव्यम्। एवं विवाहनिषेधेऽपि। स्मरन्ति च सूत्रकाराः गोत्रभेदसम्बन्धेन प्रवरान्, 'यस्यैतद्गोत्रं तस्येमे प्रवरा' इति। गोत्रभेदस्तु तद्गोत्रजैरेव। स्मर्यते– 'वयं पराशरा वयमुपमन्यव' इति। यद्यपि गोत्रवत्प्रवरानपि स्मरन्ति, तथापि बहुत्वा-त्कदाचिद्विस्मरेयुरिति गोत्रमुपलक्षणीकृत्य प्रवरस्मृतिरुपनिबद्धा। गोत्रं तु स्मरन्ति। न च तस्य किञ्चिदुपलक्षणमस्ति 'य एवंरूपस्तस्येदं गोत्रमिति'। एतावत्तत्र स्मरणम्। यावद्गोत्रं सन्ततिसमानजातीयत्वम्।

एष च गोत्रप्रवरभेदः ब्राह्मणानां न राजन्यविशाम्। तथाहि कल्पसूत्रकारः "पौरोहित्याद्राजन्यवैश्ययोरिति"। यद्यपि गोत्रविशेषव्यपदेशे सति प्राप्तप्रतिषेधेनापि प्रवराधिकारे वचनामिदमुपपद्यते, किं तु न तेषां गोत्रस्मरणमस्ति।

"कस्तर्हि क्षत्रियवैश्ययोर्विवाहेऽपि बन्धूनामवधेर्नियमः"

उच्यते। सर्ववर्णविषयमेतत् "ऊर्ध्वं सप्तमात् पितृबन्धुभ्यः" इति।

इहाप्यसगोत्रा च-शब्दादसपिण्डा। तथा चानुवर्त्यमानः सपिण्डशब्दः पूर्ववद्बन्धु-सम्बन्धोपलक्षणार्थः। तेन पितृष्वसुरन्वयस्त्रीणामन्यासां च प्रपितामहसन्ततिस्त्रीणामा सप्तमात्पुरुषात्प्रतिषेधः सिद्धो भवति। सप्तमपुरुषावधयः सपिण्डाः स्मर्यन्ते।

अन्ये तु 'गोत्रं' वंशमाहुः। न तत्रावध्यपेक्षा। यावदेतज्ज्ञायते वयमेकवंशा

इति तावदविवाहः । अस्मिन्नपि पक्षे असपिण्डा चेत्यनुवर्तते । तेन पूर्ववत्पितृष्वस्रादिदुहितॄणां प्रतिषेधः ।

"अस्मिंस्तु पक्षे समानार्षगोत्राणां प्रतिषेधो दुर्लभः । न हि तत्रैतदस्ति वयमेकवंश्या इति" ।

उच्यते । ऐतिहासिकेन तद्दर्शनेन । तत्राहि वर्णयन्ति । 'ऋषिर्वसिष्ठादिराद्यो वंशस्य कर्ता तद्गोत्रास्ततः प्रसूताः प्रवरा इति तत्पुत्रपौत्रास्तपोविद्याद्यतिशयगुणयोगेन प्रख्याततमाः ।'' स्मृत्यन्तरादेष एव नियमः ।

इदं त्वत्र निरूप्यं—यदेतत्समानप्रवरैरिति तत्र नामधेयतस्तावत्समानत्वं न संख्यातः । नामधेयसमानत्वे च किं यत्र सर्वाण्येव समानानि तत्रप्रतिषेध उतैकस्मिन्नपि समाने । तत्र यदि समुदितानां प्रवरत्वं, तत्र समाने कस्मिंश्चिद्भिन्नेऽन्यस्मिन्नन्यः समुदायः सञ्जात इत्यसमानप्रवरत्वाच्च प्रतिषेधः । एवं चोपमन्यूनां पराशराणां च स्याद्विवाहः । भिन्नं तयोर्गोत्रम् । एक उपमन्यवः अपरे पराशराः, पूर्वेण च न्यायेन प्रवरभेदः । उपमन्यूनां वासिष्ठभारद्वाजैकपादिति प्रवराः, पराशराणां वासिष्ठगार्ग्यपराशर्येति । अथैकैकस्य प्रवरत्वमेकस्मिन्नपि समाने प्रतिषेधः । तद्यथा माषा न भोक्तव्या, मिश्रा अपि न भुज्यन्ते ।

किं पुनरत्र युक्तम् ।

एकैकस्य प्रवरत्वम् । तथाहि सामानाधिकरण्यं दृश्यते । एकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीत इति प्रतिपन्न एकः । तत्साम्येऽप्याहैषामविवाह इति ।

द्विजातिग्रहणमुपलक्षणार्थम् । शूद्रस्यापि आ सप्तमात्पितृतः पञ्चमान्मातृत इत्यस्ति ।

दारकरणं दारक्रिया **दारकर्म** । तत्र **प्रशस्ता** प्रशंसया विहितेत्यर्थः ।

अमैथुनी । मिथुने भवा मैथुनी, न मैथुनी अमैथुनी । पितुरिति सम्बध्यते, पितृबीजादेवोत्पन्ना जातमात्रा । नियोगो विहितस्तत उत्पन्नाया नास्ति पूर्वोक्तविशेषणैर्निषेधः । अतः पृथङ्निषिध्यते **अमैथुनीति** । ततो नियोगोत्पन्ना कामतो न विवाह्या, मैथुनीत्वात् ।

अन्ये तु **अमैथुने** इति पठन्ति । धर्मार्थे दारकर्मणि प्रशस्ता, न मैथुने । स्तुतिश्चेयं न प्रतिषेधः । ईदृशी योढा सा सत्यपि मैथुने धर्मार्थैव भवति ॥५॥

हिन्दी—जो कन्या माता के या पिता के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो; ऐसी कन्या द्विजातियों के स्त्रीकर्म (अग्न्याधानादि यज्ञकर्म तथा मैथुन कर्म) के लिये श्रेष्ठ होती है ॥५॥

विवाह में निन्दित कुल—

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ।।६।।

भाष्य—वक्ष्यमाणस्य प्रतिषेधस्य निन्दार्थवादोऽयम् ।

'समृद्धिः' सम्पत्तिः । 'धनं' विभवः ।

महान्त्यपि प्रकृष्टान्यपि ।

धनविशेषणार्थमाह **गोजाविधनधान्यतः** । तृतीयार्थे तसिः । गोजाविधनेन च धान्येन च । धनग्रहणं गोजादीनां विशेषणार्थम् । धनरूपा ये गोजादयः । कूटसम्पन्नता हि धान्यम् ।

'स्त्रीसम्बन्धो' विवाहः । स्त्रीप्राप्त्यर्थं सम्बन्धः **स्त्रीसम्बन्धः** ।।६।।

हिन्दी—गौ, बकरी, भेड़, धन तथा अन्न से अधिक समृद्धि वाले को भी आगे कहे हुए (३।७) दश कुलों (वंशों) का विवाह-सम्बन्ध में त्याग करना चाहिये ।।६।।

उक्त दश त्याज्य कुलों के नाम—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ।।७।।

भाष्य—हीनाः त्यक्ताः **क्रिया** यस्मिन् कुले जातकर्मादयः संस्कारा न क्रियन्ते, नित्याश्च पञ्चयज्ञादयः ।

निष्पुरुषं स्त्रीप्रसु । यत्र प्रायेण कन्या जायन्ते, न पुमांसः ।

निश्छन्दः वेदाध्ययनवर्जितम् ।

रोमशार्शसम् । द्वन्द्वैकवद्भावेन कुलद्वयं निर्दिष्टम् । बहुदीर्घैर्बाह्वादिषु लोमभिर्युतम् । **अर्शांसि** गुदेन्द्रियगतान्यधिमांसनिबद्धानि; तानि हि रोगरूपत्वात्पीडाकराणि ।

क्षयो राजयक्ष्माव्याधिः ।

आमयावी मंदाग्निर्यस्य भुक्तमन्नं सम्यङ् न जीर्यति ।

अपस्मारः स्मृतिभ्रंशाद्युपघातकृत् ।

श्वित्रं शरीरगताच्छेदवती श्वेतता ।

कुष्ठं प्रसिद्धम् ।

सर्व एते व्याधिविशेषवचनाः शब्दा रोमशादारभ्य मत्वर्थीयप्रत्ययान्ता निर्दिष्टाः ।

पूर्वैर्व्याख्यातृभिर्दृष्टमूलताऽस्य प्रतिषेधस्त वर्णिता । मातुः कुलं द्विपदोऽनुहरन्ति । ततो हीनक्रियादीनां या प्रजा साऽपि तच्छीला स्यात् व्याधयश्च संक्रामन्ति । एवं हि वैद्यके पठ्यते "सर्वे संक्रामिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम्" ।।७।।

हिन्दी—(वे त्याज्य दश कुल ये हैं—) १. जातकर्म आदि संस्कार से हीन, २. जिस कुल में पुत्र उत्पन्न नहीं होता हो तथा सदा कन्या ही उत्पन्न होती हों, ३. जो वेदों के पठन-पाठन से हीन हो, ४. जिस कुल के पुरुषों के शरीर में अधिक रोम या ५. अर्श रोग हो, ६. जिस कुल में राजयक्ष्या, ७. मन्दाग्नि, ८. मूर्छा (मृगी), ९. श्वेत कुष्ठ और १०. गलित कुष्ठ रोग हों या हुए हों (उस कुल की कन्या के साथ विवाह न करे) ॥७॥

कपिला आदि कन्या विवाह के अयोग्य—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ।।८।।

भाष्य—पूर्वं कुलाश्रयः प्रतिषेधः । अयं तु स्वरूपाश्रयः ।

यस्या कद्रुवर्णाः कनकवर्णा वा केशाः सा **कपिला** ।

अधिकाङ्गी षडङ्गुलिः ।

रोगिणी बहुरोगा दुष्प्रतिकारव्याधिगृहीता च । भूम्नीनिः मत्वर्थीयो नित्ययोगे वा ।

अलोमिका अकेशा। लोमानि अप्युच्यन्ते। बाहुमूले जङ्घामूले वा सर्वलोम्नामभावः।

वाचाला स्वल्प एव वक्तव्ये बहुलं परुषं च भाषते।

पिङ्गला अक्षिरोगेण मण्डलाक्षी कपिलपिङ्गलाक्षी वा ॥८॥

हिन्दी—कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक (या कम) अङ्गवाली (यथा—छः अङ्गुलियों वाली; या चार या तीन आदि अङ्गुलियों वाली आदि), नित्य रोगिणी रहने वाली, बिल्कुल रोम से रहित या बहुत अधिक रोम वाली, अधिक बोलने वाली और भूरी-भूरी आँखों वाली कन्या से विवाह न करे ॥८॥

नक्षत्र आदि के नाम वाली कन्या विवाह के अयोग्य—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ।।९।।

भाष्य—**ऋक्षं** नक्षत्रं, तन्नामिका, 'आर्द्रा' 'ज्येष्ठा' इत्यादि । **वृक्षनाम्नीं** 'शिंशपा' आमलकीति । **नदी**, गङ्गा, यमुना, तन्नाम्नी । ऋक्षाणि च वृक्षाश्च नद्यश्चेति द्वन्द्वः तासां नामानीति षष्ठीसमासः । ततो द्वितीयेन नामशब्देनोत्तरपदलोपी समासः ।

अन्त्यनामिका 'बर्बरी' 'शबरी' इत्यादि । **पर्वता** विन्ध्यमलयादयः । पूर्ववत्स-मासात्कप्रत्ययः ।

पक्षिनाम्नी 'शुकी' 'सारिका' । **अहिः** सर्पस्तन्नाम्नी, 'व्याली' 'भुजङ्गी' । **प्रेष्या** 'दासी' 'चेटी' 'दरनी' ।

विभीषणं नाम, भयजनकं, 'डाकिनी' 'राक्षसी' ॥९॥

हिन्दी—नक्षत्र, पेड़, नदी, म्लेच्छ, पहाड़ पक्षी, सर्प, दूत या दासी–इसके नामों वाली तथा भयङ्कर नाम वाली कन्या से विवाह न करे। (क्रमशः उदाहरण **नक्षत्र**—आद्रा, रेवती; **वृक्ष**—धात्री, कदली, **नदी**—गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि, **म्लेच्छ**—चाण्डाली, श्वपची आदि; **पहाड़**—विन्ध्याचली आदि; **पक्षी**—कोकिला, सारिका मैना, मयूरी आदि, **सर्प**—नागी आदि; दास या दासी—चेटी, दासी आदि; **भयङ्कर**—डाकिनी, पिशाची आदि) ॥९॥

[नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां नातिवामनाम् ।
वयोऽधिकां नाङ्गहीनां न सेवेत्कलहप्रियाम् ।।१।।]

[**हिन्दी**—बहुत मोटी, बहुत दुबली-पतली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी अर्थात् नाटी, अवस्था में अधिक, किसी अङ्ग (कान, आँख, अङ्गुली आदि) से हीन (या अधिक) और झगड़ा करने वाली कन्या से विवाह न करे ॥१॥]

कन्या के शुभ लक्षण—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ।।१०।।

भाष्य—अव्यङ्गाङ्गीम्। अव्यङ्गान्यङ्गानि यस्याः सैवमुच्यते। अव्यङ्गशब्दोऽवैकल्यवचनः, प्रवीणोदारादिशब्दवत् यदपि व्युत्पाद्यतेऽविकलान्यङ्गानि यस्येति, अतश्चाङ्गशब्दस्य द्वितीयस्यावयविनि शक्ततौचित्येन, संस्थानस्य परिपूर्णता साऽव्यङ्गशब्देनोच्यते।

सौम्यं मधुरं **नाम**। 'स्त्रीणां सुखोद्यम्' अत्र दर्शितम्।

हंस इव **वारण** इव गच्छति। यादृशी हंसानां हस्तिनां च विलासवती मन्थरा गतिः सा यस्याः।

तनुशब्दो नाल्पवचनः किंतर्ह्यनुपरिमाणे वर्तते। तन्वङ्गी सोच्यते या नातिस्थूला नातिकृशति।

मृदूनि सुस्पर्शाकठिनापरुषाण्यङ्गानि यस्याः सा।

तामुद्वहेत्स्त्रियं कन्याधिकारात्कन्याम्।

"यद्येवं नालोमिकामित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकोऽस्मादेव विधानात् या नैवंरूपा तस्या अविवाह्यता सिद्धा"।

सत्यमेवम्। एक एवार्थो द्वाभ्यां विधिमुखेन प्रतिषेधमुखेन चोद्यमानस्तु स्पष्टो बुध्यते।

कन्याशब्दश्चात्र प्रकरणादननुभूतसम्भोगासु स्त्रीषु प्रवर्तते। तथा च वसिष्ठः "अस्पृष्टमैथुनां सादृशीं भार्यां विन्देतेति"। न चान्येन संस्कृताऽन्येन पुनः संस्कर्तुं शक्या, कृतस्य करणाभावात्। अतश्चोढाया अप्रवृत्तभर्तृसंयोगायाः कथंचित्स्वैरिणीत्वे भर्तृप्रवासादिना नान्येन विवाहोऽस्ति सत्यपि कन्यात्वे। तथा चेदृशी वसिष्ठोक्तिमध्ये पठिता। अन्यत्राप्युक्तम् (याज्ञ० आ० ५२) "अनन्यपूर्वां यवीयसीं भ्रातृमतीं स्त्रियमुद्वहेत"। इति ॥१०॥

हिन्दी—जो किसी अङ्ग (कान, नाक, आँख आदि) से हीन न हो (बहरी, नकटी, कानी, लूली-लँगड़ी आदि न हो), सुन्दर नामवाली हो (यथा–चन्द्रानना, दमयन्ती, शकुन्तला आदि), हंस तथा हाथी के समान चलने वाली (हंसगामिनी तथा गजगामिनी) हो; सूक्ष्म रोम, बाल तथा पतले-पतले दाँतों वाली हो और सुकुमार शरीर वाली हो, ऐसी कन्या से विवाह करे ॥१०॥

भाई से रहित आदि कन्या विवाह के अयोग्य—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वै (वा) पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ।।११।।

भाष्य—यस्या भ्राता नास्ति तां न विवहेत्। **पुत्रिकाधर्मशङ्कया**, पुत्रिकात्वशङ्कया। पुत्रिकाधर्मः कदाचिदस्याः कृतो भवेत्पित्रेत्यनया शङ्कया अनेन संदेहेन।

"कथं चेयं शङ्का भवति"॥

यदि न विज्ञायेत पिता, देशान्तरे प्रोषितो मृतो वा। सा च मात्रा पितृसपिण्डैर्वा दीयते। प्राप्तकाला पितर्यसन्निहित एतैरपि दातव्येति स्मर्यते। स्मृतिं चोत्तरत्र दर्शयिष्यामः। पितरि तु संविज्ञायमाने नास्ति पुत्रिकात्वशङ्का। स हि स्वयमेवाह 'कृता वा न कृता वेति'।

वाशब्दश्चेच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः। यदि पिता न विज्ञायेत तदा कन्यका न वोढव्या।

अन्ये तु स्वतन्त्रमेतत्प्रतिषेधद्वयमाचक्षते। यदि **पिता न विज्ञायेत**, अनेनेयं जातेति, गूढोत्पन्नायाः प्रतिषेधः। एवं च सम्बन्धः। **यस्या भ्राता** नास्ति तां पुत्रिकात्वशङ्कया **नोपयच्छेत**। **न विज्ञायेत** इत्यत्र पुत्रिकाशङ्कयेत्येतन्न सम्बध्यते।

अस्मिन्प्रकरणे यत्र नास्ति दृष्टगतः प्रतिषेधः यथा 'असपिण्डा च" इत्यत्र श्लोके, ततपतिक्रमे विवाहस्वरूपानिर्वृत्तिरेव। अतः सगोत्रादिविवाहः कृतोऽप्यकृत एव। विध्यवगतरूपत्वादाधानवद्विवाहस्य विध्यतिक्रमरूपादपगमात्। यथाऽऽधानविधौ यत्किञ्चिदङ्गं न ज्ञातं तदभावे नाहवनीयादिनिर्वृत्तिः, एवं सगोत्रादिकाया न भार्यात्वम्। तस्मात्त्याज्यैव कृततादृशसंस्कारप्रतिरूपिकाऽपि। तत्र भवन्तो वसिष्ठादयः

प्रायश्चित्तमपि स्मरन्ति तादृशविवाहे। यद्यपि कर्मण एव तदङ्गप्रतिषेधातिक्रमे वैगुण्यं, न साक्षात्पुरुषस्य दोषः; तथापि वाचनिकं प्रायश्चितम्। अथवा सगोत्रागमनं निषिद्धम्। तदर्थे व्यापारे प्रवर्तमाने यदुक्तं तत्प्रायश्चित्तं भवेत्।

यस्तु हीनक्रियादिप्रतिषेधस्तस्य दृष्टदर्शनमूलत्वान्निर्वर्तते विवाहः, भवत्यसौ भार्या, नास्ति तस्यास्त्यागः। एवमर्थ एव 'महान्त्यपीति' पूर्वस्मात्प्रतिषेधाद्भेदः स्तवनार्थं पठितः। एवमेव च शिष्टसमाचारः। कदाचित्कपिलादिरूपामुपयच्छति न सगोत्राम्॥११॥

हिन्दी—जिस कन्या को भाई न हो और जिस कन्या को माता-पिता का ज्ञान न हो, उस कन्या के साथ (क्रमशः) पुत्रिका धर्म की शङ्का से विद्वान् पुरुष विवाह न करे॥११॥

विमर्श—'अपुत्रोऽनेन विधिना.................(९।१२७)' इस मनूक्त वचन के या 'अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येके' इस गौतमोक्त वचन के अनुसार केवल शर्त करने से भी 'पुत्रिका' होती है। जिसके पिता का ज्ञान नहीं हो, ऐसी कन्या से भी विवाह न करे' इस अर्थ में भी कुछ विद्वान् 'पुत्रिका' धर्म की शङ्का से उक्त कन्या से विवाह करने का निषेध मानते हैं। इस विषय में गोविन्दराज का मत है कि 'भिन्न-भिन्न पिता वाली कन्या का भाई हो सकने के कारण जिसका विशेष रूप से पिता का ज्ञान न हो, उस कन्या के साथ पुत्रिका की शङ्का से ही विवाह न करे'। मेधातिथि का मत है कि 'जिस कन्या का भाई नहीं हो, 'पुत्रिका' धर्म की आशङ्का से उस कन्या के साथ विवाह न करे'। पिता का ज्ञान न हो या मर गया हो (तो भी विवाह न करे)। 'पिता के रहने पर उसी के कथन से 'पुत्रिका' धर्म का ज्ञान होने से भाई से रहित कन्या के साथ भी विवाह करे'। मन्वर्थमुक्तावलीकार का मत है कि 'वा' शब्द के विकल्पार्थक होने से 'जिस कन्या के पिता का विशेषतः ज्ञान न हो जारज होने की आशङ्का से तथा अधर्म की आशङ्का से उस कन्या के साथ भी विवाह न करे'। इस श्लोक का 'नेने' शस्त्रिसम्मत सारांश यह है कि 'जिसका पिता न हो, उसके साथ विवाह न करे। कदाचित् पिता ने इस कन्या का 'पुत्रिका' धर्म न कर दिया हो, इस आशङ्का से अर्थात् 'पुत्रिका' धर्म की शङ्का से ऐसी कन्या के साथ भी विवाह न करे। पिता के विदेशस्थ रहने पर या मर जाने पर माता या सपिण्ड (गोत्र के लोग) 'पुत्रिका' रूप में कन्या को देने की शर्त करते हैं। अतः पिता के ज्ञान हो जोने पर—'यह कन्या पुत्रिका रूप में दी गयी है या नहीं यह आशङ्का ही नहीं होती, तथा यदि पिता न हो तब उस कन्या के साथ विवाह न करे'॥

सवर्णा स्त्री की श्रेष्ठता—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥१२॥

भाष्य—"उद्वहेत द्विजो भार्यामिति" सत्यपि द्वितीयानिर्देशे भार्याया: प्रधानत्वे गुणकर्मत्वे च विवाहस्य विवक्षितमेकत्वम्, अवनुवादगतोद्देश्यत्वात्, यथा यूपं छिनत्तीति। यस्यान्यत: स्वरूपमवगतं तस्यान्यत्र कार्यान्तरविधानार्थमनूद्यमानस्य यथावगतस्वरूपस्यैवानुवादो भवति, यथा ग्रहं संमार्ष्टीति, पूर्वावगतिसापेक्षत्वादनुवादस्य। निर्ज्ञातसंख्याका हि ग्रहा—'दश एतानध्वर्यु: प्रात:सवने ग्रहान्गृह्णाति' इत्यादिवाक्यै:, कार्यं चावगतं ग्रहैर्जुहोतीति। अतोऽवगत्यन्तरापेक्षत्वाद्ग्रहशब्दस्य न विवक्ष्यते संख्या। इह तु भार्यालक्षणोऽर्थो नान्यत: सिद्धोऽस्मादेव वाक्यादवगन्तव्योऽतो यथाश्रुति प्रतीयते, प्रातिपदिकार्थवत्संख्याऽपि विवक्षितेति। पञ्चमे चैतद्विस्तरतस्तर्केण वक्ष्यते।

स्थितायां संख्याविवक्षायां द्वितीयस्या: कृतेऽपि पाणिग्रहणे न भार्यात्वम्। यथा सत्यावहनीये न द्वितीय आहवनीय:। इष्यते च क्वचिन्निमित्ते भार्यान्तरपरिग्रहस्तदर्थमिदमारभ्यते। एतदेवाभिप्रेत्य गौतमीये पठितम्। "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरापाये तु कुर्वीत" इति।

सवर्णा समानजातीया। सा ताव**दग्रे** प्रथमतोऽकृतविजातीयदारपरिग्रहस्य **प्रशस्ता**।

कृते सवर्णाविवाहे यदि तस्यां कथञ्चित्प्रीतिर्न भवति, अथवाऽपत्यार्थो व्यापारो न निष्पद्यते तदा कामहेतुकायां प्रवृत्ताविमा वक्ष्यमाणा: सवर्णावरा: श्रेष्ठा: शास्त्रात्तु ज्ञातव्या:।

अत एकत्वस्य सवर्णानियमस्य चायमपवाद:।

"ननु च सवर्णाविवाहे पारतन्त्र्यं प्रतीयते। न सवर्णायां बहुत्वम्।"

एकत्वसंख्यातिक्रमस्तावत्प्रतीयते। असवर्णाभ्यनुज्ञानेनाप्यतिक्रान्तं चेत्क:, सवर्णाया निषेधक:। तथा गौतमेनाविशेषेणैव पठितम् "अन्यतरापाये तु कुर्वीतेति"। उत्तरश्लोके "सा च स्वा चेति" सवर्णाविवाहोऽस्ति॥१२॥

हिन्दी—द्विजातियों के वास्ते प्रथम विवाह के लिए सवर्णा (अपने वर्ण की—अन्तर्जातीय नहीं) स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती है। काम के वशीभूत होकर (दूसरे विवाह के लिए) प्रवृत्त पुरुषों की ये (३।१३) स्त्रियाँ क्रमश: श्रेष्ठ (अनुलोम क्रम से) मानी जाती हैं॥१२॥

अन्य वर्णज स्त्रियों के साथ विवाह—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विश: स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन:॥१३॥

भाष्य—वर्णभेदे सति सवर्णानियम:। यथैव ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिस्त्रियो भवन्ति एवं **शूद्रस्य** जातिन्यूना रजकतक्षकादिस्त्रिय: प्राप्ता:। अत: सवर्णेयमुच्यते।

उत्कृष्टजातीया तु पूर्वत्र क्रमग्रहणादप्राप्ता।

सा च शूद्रा **स्वा च** वैश्या वैश्यस्य। **ते च** वैश्याशूद्रे **स्वा च** राजन्यस्य। एवम**ग्रजन्मनो** ब्राह्मणस्य।

ब्राह्मणक्रमेण निर्देशे कर्तव्ये शूद्रप्रक्रमेण निर्देशः पूर्वोक्तमेवार्थं उपोद्बलयति। यदुक्तं "विकल्प आनुपूर्व्येण नावश्यं समुच्चयः" ॥१३॥

हिन्दी—शूद्र पुरुष की शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्ना) वैश्य पुरुष को वैश्य तथा शूद्र वर्णों में उत्पन्ना, क्षत्रिय पुरुष की वैश्य, शूद्र तथा क्षत्रिय वर्णों में उत्पन्ना और ब्राह्मण पुरुष की क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्राह्मण वर्णों में उत्पन्ना स्त्री हो सकती है ॥१३॥

हीन वर्णोत्पन्न स्त्री से विवाह निषेध—

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥१४॥

भाष्य—यद्यप्यत्यन्तरूपवती शूद्रा, विप्रराजन्यौ च वीरप्रकृती दशमीमपि दशामश्रुवीयातां तथापि शूद्रां नाधिवोढारौ। अत्रार्थवादः। **कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते** न क्वचिदितिहासोपाख्यानेऽ**ण्युपदिश्यते** वर्ण्यते। **आपदि** गरीयस्यामधिकायामापदि।

पूर्वत्रानुज्ञाताऽनेन प्रतिषिद्धा अतो विकल्पः।

"ननु च शास्त्रलक्षणयोरेकविषयसन्निपाते षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पो युक्तो न तु रागलक्षणायाः प्रवृत्तेर्निषेधेन।" न च शूद्रा शास्त्रलक्षणा। केवलं रागतस्तत्र प्रवृत्तिरप्रतिषिद्धेति पूर्वशास्त्रस्यार्थः। निषेधस्तु शास्त्रलक्षण इत्यविवाह्यैव शूद्रा। एतदेवाभिप्रेत्य **याज्ञवल्क्येन** पठितम् (आचारे ५६) "यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसंग्रहः न तन्मन मतमिति" ॥

अत्रोच्यते। सर्वत्रोपदेशानर्थकतयैव विकल्प आश्रीयते। यदि चात्यन्तमेव शूद्राप्रतिषेधः स्यात्तदा क्षत्रियवैश्ये एव प्रतिप्रसूयेयाताम् आपद्यभ्यनुज्ञाने। प्रतिप्रसवशास्त्रम् (श्लोक १३) अयं च प्रतिषेधः—द्वयमपि व्यर्थं स्यात्सवर्णाया नियमेन सिद्धत्वात्। तदिदमनुज्ञातं प्रतिषेधश्च स्वं स्वंविरुध्यमाने विकल्प्येते।

"ननु च विकल्पे कामचारः। तस्य च प्रतिप्रसवत एव सिद्धेः प्रतिषेधो वक्तव्यो नैव"।

न यथाकामतः क्षत्रियावैश्ययोर्विवाह इव शूद्रायाः, अन्यत्रापदो गरीयस्याः।

इदं तु प्रतिपत्तुं युक्तं यत्सवर्णानियमेनासवर्णानिवृत्तेरर्थतः कृतायाः पुनः शूद्रानिवृत्तिरसवर्णानिवृत्तेरनित्यत्वं ज्ञापयति। अनित्यत्वे चापदि सवर्णाया अलाभे वा

भवति चायमवगमः 'शूद्रा न वोढव्या इतरे तु वोढव्ये' ॥१४॥

हिन्दी—किन्तु—३।१२-१३ के द्वारा विहित होने पर सवर्णा स्त्री के नहीं मिलने से आपत्ति में पड़े हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये किसी इतिहास—आख्यानादि में शूद्रा भार्या का विधान नहीं है ॥१४॥

विमर्श—पहले (३।१२-१३) सवर्णानुक्रम से विवाह का विधान कर यह निषेध प्रतिलोमक्रम से विवाह विषयक समझना चाहिये। इतना ही नहीं—इस श्लोक का निषेधक वचन ब्राह्मण-क्षत्रिय के लिये उनके दोषाधिक्य प्रदर्शनार्थ है, आगे (३।१५) में 'द्विजातीयः' बहुवचन निर्देश से द्विजातिमात्र-ब्राह्मण-क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्य के लिए भी निषेध समझना चाहिये।१४॥

हीन वर्णोत्पन्ना के साथ विवाह से कुल की शूद्रता—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ।।१५।।

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिषेधस्य शेषोयं निन्दार्थवादः ।

हीनजातिः शूद्रैव, तस्या एव प्रकृतत्वात्, **ससन्तानानि शूद्रतामिति** निगमनात् ।

त एते **द्विजातयः मोहाद्ध**नलोभजादविवेकात्कामनिमित्तत्वाद्वा कुलानि शूद्रतां गमयन्ति। तस्यां जाताः पुत्राः शूद्रा भवन्त्येवं तत्पुत्रपौत्रा इति। अत उच्यते **ससन्तानानीति**। सन्तोनोऽपत्योत्पत्तिप्रबन्धः पुत्रपौत्रादिः ॥१५॥

हिन्दी—(सवर्णा के साथ विवाह कर) शूद्रा के साथ विवाह करने वाले द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) सन्तान सहित (उसमें उत्पन्न पुत्र-पौत्रादि सहित) कुलों को शूद्रत्व प्राप्त करा देते हैं (शूद्र बना डालते हैं)। अतः द्विज मात्र को हीनवर्णोत्पन्ना स्त्री के साथ विवाह कदापि भी नहीं करना चाहिये ॥१५॥

शूद्रा के साथ विवाह करने में मतान्तर—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या, तदपत्यतया भृगोः ।।१६।।

भाष्य—शूद्रां विन्दति परिणयति **शूद्रावेदी** स पतति **पतित** इव। **अत्रिरुतथ्यस्य तनयः** पुत्रस्तयोरेतन्मतमित्युपस्करः ।

अयं तावदर्धश्लोकः पूर्वप्रतिषेधशेषः ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या। शास्त्रान्तरमिदम्। अभ्यनुज्ञाय शूद्रायामृतावुपगमनं निषेधति सुतोत्पत्तिर्हि ऋतौ युग्मासु रात्रिषु भवति। ऋतो शूद्रां न गच्छेदित्यर्थः ।

तदपत्यतया भृगोः। इदमपि स्मृत्यन्तरम्। तान्येव शूद्रोत्पन्नान्यपत्यानि यस्य स तदपत्यः, तद्भावस्तदपत्यता। **भृगोरेतन्**मतम्। ऋतावप्युपपन्नतरासु जातापत्य उपेयात्।

पतितत्ववचनं चात्र निन्दैव न त्वस्य पतितधर्मता—'पतितस्योदकमित्यादि'। एतच्च वक्ष्यामः ॥१६॥

हिन्दी—अत्रि तथा उतथ्यपुत्र (गौतम) ऋषि का मत है कि शूद्रा के साथ विवाह करने वाला (ब्राह्मण) पतित हो जाता है, शौनक ऋषि का मत है कि शूद्रा में सन्तान उत्पन्न करने से (क्षत्रिय[1]) पतित हो जाता है और भृगु ऋषि का मत है कि शूद्रा में सन्तान उत्पन्न करने से (वैश्य[2]) पतित हो जाता है ॥१६॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराज के मत में ऋतुकाल में गमन करने से, सन्तानोत्पत्ति होने से तथा सन्तानोत्पादन होने पर ही उक्त मनुवचन द्वारा पतितभाव का विधान होने से शूद्रा के साथ ऋतुकाल में द्विज को सम्भोग नहीं करना चाहिये। विशेष स्पष्टीकरण के लिए म०मु० देखनी चाहिये।

ब्राह्मण के लिये शूद्रा के साथ सम्भोग का निषेध—

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥१७॥

भाष्य—अर्थवादोऽयम्। यदि पुत्रमुत्पादयति **तस्यां** ततो **ब्राह्मण्यादेव हीयते**। अपत्यस्याब्राह्मणत्वमिति निन्दैव।

सुतमिति च पुल्लिङ्गनिर्देशात्सुतोत्पत्तेरित्यत्र समानसंहितत्वेऽपि पुत्रोत्पत्तिरेवाभिप्रेता। तथा च दर्शितं "युग्मा रात्रयो वर्ज्याः" इति ॥१७॥

हिन्दी—ब्राह्मण पुरुष शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) को शय्या पर बिठाकर (उसके साथ सम्भोकर) नरक को जाता है और उसमें सन्तानोत्पादन करके तो ब्राह्मणत्व से ही भ्रष्ट हो जाता है ॥१७॥

शूद्रा पत्नी द्वारा यज्ञादि की निष्फलता—

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

भाष्य—सार्वकालिकोऽयं निषेधः।

---

१. 'शूद्रायां सुतोत्पत्त्या पतति' इति शौनकस्य मतमेतत्क्षत्रियविषयम् इति (म०मु०)।
२. 'शूद्रासुतोत्पत्त्या पतति' इति भृगोर्मतम्' एतद्वैश्यविषयम्, इति (म०मु०)।

यदि कथञ्चिच्छूद्राऽपि व्युह्यते तदैतानि कर्माणि **तत्प्रधानानि** न कर्तव्यानि। न च तया सह त्रैवर्णिकस्त्रीवद्धर्मेऽधिकारोऽस्तीत्यर्थ:।

भार्यात्वादधिकारे प्राप्ते निषेधोऽयम्। अत: स्वधर्मे धनं विनियुञ्जानस्य न तदीयानुज्ञोपयुज्यते, यथा द्विजातिस्त्रीणाम्। अन्यत्र त्वर्थकामयो: साऽप्यनतिचरणीयैव। प्रेष्यावत्तत्कर्मोपयोगो न निषिध्यते, श्राद्धादाववहननादिकार्ये तत्र न दोष: स्यात्। परिवेषणादि न कारयितव्या।

तत्र **दैवं** कर्म दर्शपूर्णमासादि, देवतोद्देशेन च ब्राह्मणभोजनं, व्रतवदित्यत्र यथा व्याख्यातम्। **पित्र्यं** श्राद्धोदकतर्पणादि। **आतिथेयम**तिथेराराधनं भोजनपाद्यादि।

"ननु च सजात्या स्थितयाऽन्ययेत्यस्त्येव प्रतिषेध"।

नैव। स्थितयेति तत्र श्रूयते। ऋतुमत्यां सवर्णायां कथञ्चिद्वाऽसन्निहितायां प्राप्नोति क्षत्रियावैश्यावत्। अपि च नासावधिकारे प्रतिषेध:, किं तर्हि आज्यावेक्षणादौ। पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवतीत्यङ्गत्वेनोपादीयते। पत्नीत्यत्र क्रत्वर्थेषु यया कयाचिदुपात्तया सिद्धिरनियमेन प्राप्ता। यथा बह्वीषु सवर्णासु यया कयाचित्सवर्णया क्रियते एवमसवर्णयाऽपि मा कारीत्येवमर्थोऽसौ प्रतिषेध:। प्राधान्यमधिकारित्वात्।

नाश्नन्ति पितृदेवास्तमिति कर्मनैष्फल्यमाह।

न च स्वर्गं स गच्छति। यद्यप्यतिथिरश्नाति तत्फलं स्वर्गादि न भवतीति। स्वर्गग्रहणमतिथिपूजाफलोपलक्षणार्थम्, अनुवादश्च 'धन्यं यशस्यमित्यादि'॥१८॥

हिन्दी—जिस (द्विज) के यहाँ देवकार्य (अग्निहोत्र, यज्ञादि), पितृकार्य (श्राद्ध) और अतिथि-भोजनादि शूद्रा स्त्री के द्वारा सम्पादित होते हैं; उसके हव्य तथा कव्य को (क्रमश:) देवता तथा पितर नहीं भोजन करते हैं और उस अतिथिभोजन से उत्पन्न स्वर्गादि को भी वह नहीं प्राप्त करता है॥१८।

विमर्श—आगे (९।४७) सवर्णा पत्नी के सन्निहित रहते शूद्रा पत्नी के द्वारा यज्ञादि का निषेध है और इस श्लोक में सवर्णा पत्नी के सन्निहित नहीं रहने पर भी उसके द्वारा यज्ञादि का निषेध है। अत: दोनों वचनों को भिन्न-भिन्न अवस्था में प्रयुक्त होने से पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

शूद्रा पति की शुद्धि का भी अभाव—

वृषलीफेनपीतस्य नि:श्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥१९॥

भाष्य—अर्थवादोऽयम्।

वृषल्या: फेनो **वृषलीफेनो** वक्त्रासव:, स पीतो येन। पलाण्डुभक्षितादिवत्पर-

निपातः । पाठान्तरम्—वृषलीपीतफेनस्य' । पीतः फेनो यस्येति विग्रहः वृषल्या पीतफेनः । 'तृतीयेति' (पा०सू० २।१।३०) योगविभागात्समासः । पीतः फेनो वाऽनेनेति विग्रहे वृषल्या इति षष्ठीसमासः (पा०सू० २।२।८) । अर्थस्तु सर्ववृत्तिष्वेक एव । सम्प्रयुज्यमानयोरधपरिचुम्बनाद्यवश्यंभावि तेन च सहचारिणा धर्मेण मैथुनसम्बन्धो लक्ष्यते।

प्रकरणाच्च विवाहप्रतिषेधशेषोऽयं न पृथग्वाक्यम् । तत्त्वे हि चुम्बनादिवर्जं संयोगधर्मो बहुमतः स्यात् । तस्माद्गच्छञ्छूद्रां चुम्बनादिपरिवर्जनेन न किञ्चिच्छास्त्रार्थमनुलङ्घते ।

तस्यां चैव प्रसूतस्य ऋतौ तु गच्छत इत्यर्थः ।

निष्कृतिः शुद्धिर्नास्ति इति निन्दातिशयोऽयम् ॥१९॥

हिन्दी—शूद्रा का अधरपान करने वाले तथा उसके श्वास से दूषित ब्राह्मण की और उसमें उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती है ॥१९॥

विवाह के आठ भेद—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ।।२०।।

भाष्य—वक्ष्यमाणस्य सङ्क्षेपोपन्यासः ।

हिताश्चाहिताश्च । केचिद्धिताः केचिन्न ।

अष्टाविति संख्यानिर्देशः ।

समासः सङ्क्षेपः ।

स्त्रीसंस्कारार्था विवाहाः **स्त्रीविवाहाः** ।

"कः पुनरयं विवाहो नाम" ।

उपायतः प्राप्तायाः कन्याया दारकरणार्थः संस्कारः सेतिकर्तव्यताङ्गः सप्तर्षिदर्शनपर्यन्तो पाणिग्रहणलक्षणः ॥२०॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) मरने पर तथा इस लोक में चारों वर्णों का हिताहित (भला-बुरा) करने वाले स्त्रियों के आठ प्रकार के विवाहों को सङ्क्षेप से (तुम- लोग) सुनो ॥२०॥

पूर्वोक्त अष्टविध विवाहों के नाम—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।।२१।।

भाष्य—संख्ययाऽष्टावित्युद्दिष्टानां नामधेयानीमानि ।

अधमग्रहणं पैशाचस्य निन्दार्थम् ॥२१॥

हिन्दी—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवाँ बहुत तुच्छ पैशाच; (ये आठ प्रकार के स्त्री-विवाह) हैं ॥२१॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ।।२२।।

भाष्य—धर्मादनपेतो **धर्म्यः** शास्त्रविहित इत्यर्थः ।

यस्य च विवाहस्य **यौ गुणदोषौ** इष्टानिष्टफलहेतुत्वाद् गुण**दोषौ** ।

प्रसवेऽपत्यजन्मनि । **गुणा** गुणाः **अगुणा** दोषाः ।

वोढुरेव स्वर्गनरकादिलक्षणौ गुणदोषौ, तत्प्रयोजनमर्थात्स्वर्गादिकम् या ईदृशा एव भवन्ति । गतार्थमपि भूयः प्रतिपत्तये कथयन्ति ॥२२॥

हिन्दी—(भृगु मुनि पुनः महर्षियों से कहते हैं)—जिस वर्ण का विवाह धर्मयुक्त है, जिस विवाह के जो गुण दोष हैं और उक्त विवाह से सन्तान उत्पन्न होने पर जो गुण-दोष हैं; उन सबको तुम लोगों से कहूँगा ॥२२॥

उक्त विवाहों में से वर्णानुसार विधान—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यान्न राक्षसान् ।।२३।।

भाष्य—षड्विवाहा ब्राह्मणस्या**नुपूर्व्याः** । आनुपूर्वी क्रमः, नामोद्देशः क्रमेण ।

क्षत्रस्य । क्षत्रियवचनः क्षत्रशब्दः । तस्य **चतुरोऽवरानु**परितनानासुरगान्धर्व-राक्षसपैशाचा**न्विद्यात्** । वैश्यशूद्रयोस्तानेवा**राक्षसा**न्राक्षसं वर्जयित्वा ॥२३॥

हिन्दी—ब्राह्मण के लिये प्रथम ६ प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व), क्षत्रिय के लिए अन्त वाले ४ प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस); और वैश्य तथा शूद्र के लिये 'राक्षस' रहित ३ प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान है ॥२३॥

प्रतिवर्ण के लिए धर्मयुत विवाह—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ।।२४।।

भाष्य—आसुरगान्धर्वयोरयं निषेधो **ब्राह्मणस्य** पुनर्ब्राह्मादिविधानेन ।

एवं **क्षत्रियस्य** राक्षस एवैको न गान्धर्वासुरौ । आसुर एव **वैश्यशूद्रयोः** । विहितप्रतिषिद्धानां विकल्पः । ततश्च नित्यवद्विहिताभावे विकल्पितेषु प्रवृत्तिः । यस्य च यो विहितः स तद्विवाहाभावमनपेक्ष्य प्रथमत एव यदि विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवर्तेत,

तत्र पुरुषो दुष्येदपत्यं चानभिप्रेतमुत्पद्येतेति शास्त्रकारेण दर्शितं 'प्रसवे च गुणागुणान्' इत्यादिना। न तु सपिण्डादिपरिणयवत् विवाहस्वरूपानिर्वृत्तिः ॥२४॥

हिन्दी—ब्राह्मण के लिए प्रथम ४ चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) क्षत्रिय के लिए एक 'राक्षस' विवाह और वैश्य तथा शूद्र के लिए एक 'आसुर' विवाह को विद्वानों ने प्रशस्त बतलाया है ॥२४॥

विमर्श—पूर्व श्लोक में विहित भी 'आसुर तथा गान्धर्व' विवाहों को ब्राह्मणों के लिए; 'आसुर, गान्धर्व तथा पैशाच' विवाहों को क्षत्रियों के लिए और 'गान्धर्व तथा पैशाच' विवाहों को वैश्यों तथा शूद्रों के लिए इस वचन में नहीं कहने से ब्राह्मणादि वर्णों के लिए इस श्लोक में नहीं कहे गये तथा पूर्व श्लोक (३।२३) में कहे गये उन विवाहों को निकृष्ट माना गया है; इस कारण प्रशस्त (इस श्लोकोक्त विवाह के अभाव में ब्राह्मणादि को अप्रशस्त (इस ३।२३ श्लोकोक्त) विवाह को भी करना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी निकृष्ट विवाह का त्याग समझना चाहिये।

पैशाच तथा आसुर विवाह की निन्दा—

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥२५॥

भाष्य—क्षत्रियादिविषयेयं स्मृतिर्न ब्राह्मणविषया, राक्षसे विरोधात्। न हि वधभेदने ब्राह्मणः कर्तुमर्हति। अस्याचरणस्य क्षत्रियादिविषयतयोपपत्तेः।

पञ्चानां तु विवाहानां प्राजापत्यात्प्रभृति त्रयोविवाहा धर्म्याः। द्वौ न कर्तव्यौ पैशाचश्चासुरश्च।

प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तौऽपि विधीयते। राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोः। आसुर-पैशाचयोः प्रतिषेधः।

इयमत्र व्यवस्था। ब्राह्मणस्य षड्विवाहाः। तत्र ब्राह्मः सर्वतः श्रेष्ठस्ततो न्यूनौ देवप्राजापत्यौ ताभ्यामप्यार्षस्ततोऽपि गान्धर्वस्ततोऽप्यासुरः।

येषामयं श्लोको ब्राह्मणविषयोऽपि तेषां राक्षसोऽपि ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्तावव-स्थितस्य भवति। विकर्मस्थस्यापि वधभेदनाभ्यां प्रायश्चित्तीयतो न तु राक्षसो न विवाह इति ते मन्यन्ते।

तत्र ब्राह्मणस्य श्रैष्ठ्यं फलेनैव दर्शितम्। निषेधाभावेन चेतरेषां त्रयाणां न्यूनता फलापचयवचनादेव। आसुरस्य पुनर्वैश्यशूद्रयोर्विधानेन परिसंख्या ब्राह्मणक्षत्रिययोः प्रतीयते। षडिति च विधानम्। अतो विकल्पः। स च व्यवस्थया। इतरासम्भवेन तस्याश्रयणं तुल्यम्। विकल्पो हि व्रीहियववदनेकविवाहविधानेन च समुच्चयासम्भवादेव

सिद्धः । सति वा सम्भवे क्रियेत चेत्तथापि धर्मापत्ययोर्न्यूनफलोऽसौ ।

अथ क्षत्रियस्य राक्षसौ मुख्यश्चतुर्भिः श्लोकैरविकल्पेन विधानात् । चतुर इत्यनेनासुरगान्धर्वपैशाचा अपि, राक्षसं क्षत्रियस्यैकमित्यनेन ते प्रतिषिद्धाः । अतो विकल्पिताः, न मुख्याः । प्रकृतापेक्षत्वाच्च राक्षसैकविधिः । प्राजापत्ये परिसंख्यानम् । अतः प्राजापत्योऽपि क्षत्रियस्य राक्षसतुल्यः ।

एवं वैश्यशूद्रयोरपि प्राजापत्यो नित्यवदाम्नातो न प्रतिषिद्धः । आसुरपैशाचौ तु तयोर्विहितप्रतिषिद्धौ । राक्षसोऽप्यराक्षसानित्यनेन प्रतिषिद्धः 'त्रयो धर्म्या' इत्यनेन विहितः । ब्राह्मणस्य पैशाचो नैवास्ति, क्षत्रियादीनां ब्राह्मदैवार्षा इति स्थितम् ॥२५॥

हिन्दी—अन्त वाले ५ प्रकार के विवाहों (प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) में से ३ प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मयुक्त हैं। दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त हैं, अतः आसुर और पैशाच विवाहों को भी नहीं करना चाहिये ॥२५॥

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ मन्वर्थमुक्तावली में इस प्रकार है—'यहाँ पर पैशाच विवाह के प्रतिषेध' होने से उपर्युक्त पाँच प्राजापत्यादि विवाहों का ग्रहण है, उनमें से प्राजापत्य गान्धर्व और राक्षस विवाह धर्मयुक्त हैं। इनमें प्राजापत्य विवाह क्षत्रिय के लिए अप्राप्त था, उसका विधान किया है, ब्राह्मण के लिये (प्राजापत्य विवाह) पहले से विहित था। अतः उसी का अनुवाद किया गया है। गान्धर्व विवाह चारों (वर्णों) के लिये विहित होने से उसका भी अनुवाद है। राक्षस विवाह भी वैश्य तथा शूद्र के लिये विहित है। क्षत्रिय की जीविका करने वाले भी ब्राह्मण को आसुर तथा पैशाच विवाह नहीं करना चाहिए। 'कदाचन' अर्थात् कभी भी इस सामान्य वचन से चारों वर्णों के लिये (आसुर तथा पैशाच विवाह का) निषेध है। यहाँ पर जिस वर्ण के लिये जिस विवाह की विधि तथा निषेध है, उसके लिये उस विवाह का विकल्प, विहित विवाह के असम्भव होने पर जानना चाहिये'।

अनेक अनुवादकों ने इन तीनों श्लोकों (३।२३-२५) के अर्थ मन्वर्थमुक्तावली के विरुद्ध मनमाना किये हैं, जो अप्रामाणिक एवं निराधार होने से उपेक्षणीय है।

क्षत्रिय के लिये पृथक्-पृथक् या मिश्र विवाह—

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।।२६।।

भाष्य—पृथक्पृथगइत्यनुवादः पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । **मिश्रा**विति विधीयते, निरपेक्षाणामितरेषां गान्धर्वराक्षसयोर्विहितत्वात् । व्रीहियववदप्राप्ते मिश्रणवचनमिदम् । व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वेत्येकयागप्रयोगविषयत्वेनेतरेतरानपेक्षद्रव्यविधानाद्विकल्पो, न मिश्री-

भावः । मिश्रोभावे हि न व्रीहिशास्त्रार्थोऽनुष्ठितः स्यान्न च यवशास्त्रार्थः । एवमिहैकस्यां कन्यायां स्वीकर्तव्यायां युगपदुपायद्वयमप्राप्तं विधीयते ।

तस्य विषयः-यदा पितृगेहे कन्या तत्रस्थेन कुमारेण कथञ्चिद्दृष्टिगोचरापन्नेन दूतीसंस्तुतेन तद्रताऽपि तथैव, परवती न च संयोगं लभते, तदा वरेण संविदं कृत्वा 'नय मामितो येन केनचिदुपायेने'त्यात्मानं नाययति, स च शक्त्यतिशयाद्धत्वा छित्त्वा चेत्येवं हरति, तदा 'इच्छयाऽन्योन्यसंयोग' इत्येतदप्यस्ति गान्धर्वरूपं, 'हत्वा छित्त्वेति' च राक्षसरूपम् ।

तावेतौ विवाहौ क्षत्रियस्यैव भवतः । **धर्म्यौ** क्षत्रियस्य तौ पूर्वचोदितावित्यनुवादः ।

अन्ये त्वाहुः— यः क्षत्रियो बहुविवाहान्कुरुते स काञ्चिद्गान्धर्वेण विवाहेन परिणयते काञ्चिद्राक्षसेनेत्येष मिश्रपक्षः । अथवा सर्वा एवान्यतरेणेति पृथक्पृथक् । अनेन चैतज्ज्ञायते । क्षत्रियस्यानयोरेवानियमेन प्रवृत्तिः, प्राजापत्यादीनां तु य एव प्रथमं कृतस्तेनैवान्याऽपि विवाह्या ॥२६॥

इदानीं स्वरूपमेतेषामाह ।

हिन्दी—अथवा पूर्वोक्त दोनों पैशाच तथा राक्षस विवाह अलग-अलग या 'मिश्र' (मिले हुए) क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त कहे गये हैं ॥२६॥

विमर्श—जब स्त्री-पुरुष के परस्पर अनुराग पूर्वक संवाद से विवाह करने वाला पुरुष युद्धादि के द्वारा विरुद्ध पक्ष को जीतकर उस कन्या के साथ विवाह करता है, तब उन गान्धर्व तथा राक्षस विवाहों को 'मिश्र' कहते हैं ।

'ब्राह्म' विवाह का लक्षण—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।।२७।।

भाष्य—आच्छाद्येति । आच्छादनविशेषोऽभिप्रेतः, अन्यस्यौचित्येनैव प्राप्तत्वात् । उत्कृष्टेनाच्छादनेन यथादेशं यथासम्भवं यथायोग्येन वाससा परिधाप्य ।

अर्चयित्वा । अनेनालङ्करणकटककर्णिकादिना प्रीतिविशेषसत्कारविशेषैरर्चनं कृत्वा। एतेनाच्छादनार्हणेन कन्याया वरस्य चान्यतरसम्बन्धे प्रमाणाभावादुभयोपयोगः कार्यः ।

श्रुतशीलवते । अन्येपि स्मृत्यन्तरोक्ता वरगुणा द्रष्टव्याः "युवा धीमाञ्जनप्रियः । यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्व" इति ।

स्वयं प्रागयाचितः । स्वपुरुषप्रेषणै**राहूया**न्तिकदेशमानाय्य वरम् । **यद्दानं स ब्राह्मो धर्मो** विवाहः । अविशेषवचनोऽपि धर्मशब्दः पूर्वापेक्षितत्वात् तत्पर एव

द्रष्टव्य: । 'अयाचितलाभोऽभ्यर्हणापूर्वको ब्राह्मो विवाह' इति लक्षणार्थ: ।

"ननु चेदमयुक्तं स्त्रीस्वींकारार्थो विवाह इति" ।

यावद्विवाहपर्यन्तं चैतद्दानम् । नाकृते विवाहे दानार्थनिर्वृत्ति: । स हि तस्या: प्रतिग्रहकाल: । न चासति प्रतिग्रहे दानं परिसमाप्यते । न स्वत्वनिवृत्तिमात्रं दानम् । पर स्वत्वापत्तिपर्यन्तं हि तत् । तथा च वक्ष्यति "तेषां तु निष्ठा विज्ञेया विद्वद्भि: सप्तमेपदे" इति । एवं विवाहकाल एव कन्या दातव्या । तथा च गृह्यकारस्तस्मिन्नेव काले ब्राह्मविवाहे काण्डिकधर्मं दर्शयति । यत्तु प्राग्विवाहाद्दानं तदुपसंवादनवचनमात्रम् । न हि तस्मिन्नक्रियमाणेऽभिप्रेतकालेऽवश्यं विवाहनिर्वृत्ति: । कश्चित्प्रागनिरूपिते न दद्यादपि, इतरो वा कदाचिन्न प्रतिगृह्णीयात् । तस्मात्प्राग्विवाहादुपसंवाद: कर्तव्य: तदा त्वयेयं देया मया चेयं वोढव्येति । यथैवान्त:क्रतु: सोपक्रियोऽचोदिततत्सिद्धार्थोऽर्थाद्बहिष्क्रियते (?) ।

ये तु मन्यन्ते—"यथैव गवादेर्द्रव्यस्यादृष्टार्थतया दीयमानस्य मन्त्रपूर्वकेण प्रतिग्रहेण दानमपि निर्वर्तते—तेनैवेदमुक्तं ददातिषु धर्मेष्विति—एवं चेह प्रतिग्रहमन्त्रस्थानीयो विवाह इति । तथा च उपयमनं विवाह इत्येकोऽर्थ: । उपयमनं च स्वकरणम् । एवं ह स्म भगवान्पाणिनि: स्मरति (पा०सू० १।३।५६) "उपाद्यम: स्वकरण" इति । अतो विवाह: कन्यास्वीकारार्थ:" ।

तदयुक्तम् । स्वीकृताया विवाहो भार्याकरणार्थ: । नानेन कर्मणा प्रतिगृह्णीयादिति विधिरस्ति । न च वैवाहिका मन्त्रा प्रतिग्रहप्रकाशका:, यथा "देवस्य त्वा प्रगृह्णामीति" । यत्तु स्वकरण इति तन्न विरुद्धम् । विवाहस्याप्यस्ति स्वकरणरूपता । दानेन स्वत्वमात्रे प्रतिपन्ने विवाहेन विशिष्टं स्वत्वं क्रियते । नेयं गवादिद्रव्यवत् 'स्वं' यथेष्टविनियोज्यतया, अपि तु जायात्वेन । विशिष्ट एव हि स्वस्वामिभावो जायापतिलक्षणसम्बन्ध: । तथा च दर्शयिष्यति । "मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं .... विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणमिति" (५।१५२) ॥२७॥

हिन्दी—(अब पूर्वोक्त ३।२१) आठ प्रकार के विवाहों के क्रम से लक्षण कहते हैं) वेद पढ़े हुए सदाचारी वर को स्वयं बुलाकर, उसकी पूजा कर और वस्त्रभूषणादि से दोनों (कन्या-वर) को अलंकृत कर कन्यादान करना धर्मयुक्त 'ब्राह्म' विवाह है ॥२७॥

'दैव' विवाह का लक्षण—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।२८।।

भाष्य—वितते प्रारब्धतन्त्रे ज्योतिष्टोमादौ **यज्ञे** तत्कर्मकारिणे **ऋत्विजे**ऽध्वर्यवे **सुताया** दुहितुर्दानम् ।

अलङ्कृत्येत्यनुवादः । कन्यादानस्य सर्वस्यैवंरूपत्वात् । "आच्छाद्यालङ्कृतां विवाहयेदिति" सामान्योऽयं विधिः ।

"ननु गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्चेत्याद्यृत्विग्भ्यो दक्षिणात्वेन श्रुतम् । न क्वचित्कन्यादानं क्रत्वर्थतया चोदितम्" ।

किमत्र क्रत्वर्थतया । प्रवृत्ते यज्ञे ऋत्विजे यां ददाति स दैवो विवाहः । अस्ति चोपकारगन्धस्तदीयकरणम् । अकर्मोद्देशेनापि दीयमानं तत्कर्मकरणप्रवृत्तस्य जनयत्येवानमनविशेषम् । एतावतोपकारसम्बन्धेन ब्राह्माद्दैवो न्यूनः ॥२८॥

हिन्दी—ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक् के लिये (वस्त्रालङ्कारादि से) अलङ्कृत कन्या का दान करने को (मुनि लोग) धर्मयुक्त 'दैव' विवाह कहते हैं ॥२८॥

'आर्ष' विवाह का लक्षण—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥२९॥

भाष्य—स्त्रीगवी पुङ्गवश्च **मिथुनम्** । **एकं** द्वे वा **वराद्**गृहीत्वा कन्याया दानमार्षो **धर्मः** । **धर्मत** इति । **धर्म** एवायं, नात्र विक्रयबुद्धिः कर्तव्या, उच्चनीचर्णापाकरणाभावादित्यभिप्रायः ॥२९॥

हिन्दी—गौ-मिथुन (गाय और बैल-दोनों) या गाय अथवा बैल (दोनों में से कोई एक-एक या दो-दो) यज्ञादि धर्म-कार्य करने या कन्या को देने के लिए वर से लेकर (मूल्य या धन-लाभ की दृष्टि से लेकर नहीं) विधिपूर्वक कन्यादान करना धर्मयुक्त 'आर्ष' विवाह कहा गया है (इस गोमिथुनादि ग्रहण के विषय में ३।५३ का विमर्श देखें) ॥२९॥

'प्राजापत्य' विवाह का लक्षण—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥३०॥

भाष्य—'सह धर्मो युवाभ्यां कर्तव्य' इति वचनेन परिभाषां कृत्वा नियम्य यद्दानं स प्राजापत्यः ।

धर्मग्रहणमुपलक्षणार्थम् । धर्मे चार्थे च कामे च तुल्ययोगक्षेमतेति मिथोऽस्य

परिभाषावचनस्यार्थ: । धर्मशब्द एवोच्चार्यते—'सह धर्मश्चर्यतामिति', न तु 'धर्मार्थकमा: सहेति' । स तु धर्मशब्द: स्मृत्यन्तरवशादर्थकामयोरुपलक्षणार्थो व्याख्यात: । 'यद्येनां नातिचरसि धर्मार्थकामेषु तदा तुभ्यमियं दीयते' इति कृतसंवित्कायाभ्युपगततदर्थाय विवाहकाले यद्दानं तत्रैवं समुच्चारयितव्यं '**सह धर्मं चरतामिति**' । अर्थकामयोरभिप्रेतेऽपि सहत्वे तदप्रकृतत्वादनुच्चारणम् । तथा च गौतम: (अ० ४ सू० ७) "प्राजापत्ये सह धर्मं चरतामिति" मन्त्र: । मन्त्रग्रहणेन चैतद्दर्शयत्यधिकृतरूपमेव प्रयोक्तव्यं, मन्त्रवत् । न हि महासत्त्वानामर्थकामविषये सहितत्वं परिभाषितुं युक्तम्—गम्यते तु स्मृत्यन्तरेभ्य: ।

अनयैव संविदा दोषेणास्य न्यूनता । अस्ति ह्यत्र दातुर्वरादुपकारलिप्सा ।

स्वशब्देनैतद्वचनं वाच्यते, न पुनरयं दातुरेव वचननियम: । **अनुभाष्ये**त्यनेनैव सिद्धत्वाद्वाचेत्यनर्थकं स्यात् । अनुभाषणे वागिन्द्रियस्य साधनत्वात् । तथा च गृह्यकार: । "एतद्व: सत्यमित्युक्त्वा वरं वाचयेदेतन्न: सत्यमिति" । अनुशब्दश्च प्राप्तार्थस्यैव वाचा निश्चयमाह ॥३०॥

हिन्दी—"तुम दोनों (वधू-वर) साथ में धर्माचारण करो' ऐसा वचन कहकर तथा (वस्त्रालङ्कारादि से उनका) पूजन कर कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह कहा गया है ॥३०॥

'आसुर' विवाह का लक्षण—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तित: ।
कन्याऽऽप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ।।३१।।

भाष्य—ज्ञातिभ्य: कन्याया एव पित्रादिभ्य: **कन्यायै च** स्त्रीधनं **दत्त्वा कन्याया आप्रदानम्** आनयन**मासुरो** विवाह: ।

स्वाच्छन्द्यात् स्वेच्छात:, न शास्त्रत इत्यार्षाद्भेदमाह । तत्र हि शास्त्रं नियामकमस्ति 'एकं गोमिथुनमिति' । इह तु कन्याया रूपसौभाग्यादिगुणापेक्षं छन्द: ॥३१॥

हिन्दी—जाति वालों (कन्या के पिता, चाचा इत्यादि) तथा कन्या के लिए यथा शक्ति धन देकर स्वेच्छा से कन्या को स्वीकार करना 'आसुर विवाह' कहा गया है॥३१॥

विमर्श—एक अनुवादकार ने 'ज्ञातिभ्य:' (जात वालों के लिए) शब्द का 'वर के माता-पिता आदि' और 'कन्याप्रदानं' शब्द का 'कन्यादान' अर्थ किया है, वह मनवर्थमुक्तावली टीका के सर्वथा विरुद्ध है, उसमें 'ज्ञातिभ्य:' शब्द की 'कन्याया ज्ञातिभ्य: पित्रादिभ्य:' (कन्या के जाति वाले अर्थात् पिता आदि के लिये) तथा 'कन्याप्रदानं' शब्द की 'कन्याया आपदानमादानं स्वीकार:' (कन्या का आदान-ग्रहण

अर्थात् स्वीकार) यह स्पष्ट व्याख्या की गयी है ॥३१॥

'गान्धर्व' विवाह का लक्षण—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोग कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ।।३२।।

भाष्य—इच्छया च वरस्य कुमार्याश्च प्रीत्या परस्परसंयोग एकप्रदेशे सङ्गमनम्।

तस्येयं निन्दा **मैथुन्यः कामसम्भवः**। मिथुनप्रयोजनो 'मैथुनः', तस्मै हितो **मैथुन्यः**। एष एवार्थो विस्पष्टीकृतः **कामसम्भव इति**। सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः, कामः सम्भवोऽस्येति ॥३२॥

हिन्दी—कन्या और पुरुष के इच्छानुसार परस्पर स्नेह से संयोग (आलिङ्गनादि) या मैथुन होना 'गान्धर्व विवाह कहा गया है ॥३२॥

'राक्षस' विवाह का लक्षण—

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।।३३।।

भाष्य—प्रसह्याभिभूय कन्यापक्षाद्बलात्कारेण **कन्याया हरणं राक्षसो** विवाह इत्येतावदत्र विवक्षितम्। **हत्वे**त्याद्यनुवादः। **प्रसह्या**पजिहीर्षतो यदि कश्चित्प्रतिबन्धा वर्तते तदा प्राप्तमेव हननादि। हन्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा स्वात्मभयादुपेक्षेरस्तदा भवत्येव राक्षसो न वधाद्यवश्यं कर्तव्यम्।

हत्वा दण्डकाष्ठादिना ताडयित्वा। **छित्त्वा** खड्गादिप्रहारेणाङ्गानि खण्डशः कृत्वा। **भित्वा** प्राकारदुर्गादि।

क्रोशन्तीं रुदतीं कन्यामनिच्छाम्। अयं गान्धर्वाद्विशेषः। 'अनाथाऽपह्रिये परित्रायध्वम्' इत्याद्युच्चैः शब्दकरणं 'क्रोशनम्'। रोदनमश्रुकणमोक्षः। उद्विजितायाः स्त्रिया धर्मोऽयम् ॥३३॥

हिन्दी—कन्या के पक्ष वालों को मारकर या उनका अङ्गच्छेदनादि कर और गृह या द्वारादि को तोड़कर ('हा पिताजी! मैं बलात्कार से अपहृत हो रही हूँ' इत्यादि) चिल्लाती तथा रोती हुई कन्या का हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा गया है ॥३३॥

'पैशाच' विवाह का लक्षण—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितोऽधमः ।।३४।।

भाष्य—राज्ञसपैशाचयोरनिच्छा तुल्या। राक्षसे हननं, पैशाचे वञ्चनम्।

सुप्तां निद्रयाऽभिभूताम्। **मत्तां** क्षीबां मद्यपरवशाम्। **प्रमत्तां** वातसङ्क्षोभेण नष्टचेतनाम्। **रहो**ऽप्रकाशमु**पगच्छति** मैथुनधर्मे प्रवर्तते **स पैशाचो विवाहः सर्वविवाहानां पापिष्ठः** पापहेतु:। धर्मापत्यं न ततः सम्पद्यते।

इह गान्धर्वराक्षसपैशाचानां प्रकृतविवाहसामानाधिकरण्यात्संयोगहरणोपगमा एव पाणिग्रहणसंस्कारनिरपेक्षा 'विवाहा' इति मन्यन्ते।

तेषां ब्राह्मादिष्वपि दानविवाहयोः सामानाधिकरण्यात्संस्कारो विनिवर्तते। यथा च न निवर्तते तथा दर्शितम्। लक्षणया विवाहप्रयोजनदाने विवाहशब्दः।

गान्धर्वे तु भगवता कृष्णद्वैपायनेन दुष्यन्तशकुन्तलासङ्गमने वर्णितम् "अनग्निकममन्त्रकम्" तद्दर्शनेन पाणिग्रहणसंस्कारोऽस्ति, मन्त्रादि वर्जितस्तु।

पैशाचे पुनर्विवदन्ते—"मुख्यं चोपगमनम्। न च कन्यात्वमपैति, संस्कारैस्तद्विनिवर्तनात्। अतश्च 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः' (अ० ८ श्लो० २२६) इतिप्रतिषेधस्याप्रवृत्तेरस्त्येव मन्त्रवत्संस्कारसम्बन्धः। स च प्रतिषेधः कृतः संस्कारप्रतिषेधार्थः। सा हि मन्त्रैः संस्कृतत्वाद्व्यपगतकन्याभावा। अत एव भवतु प्रथममुपगमस्ततोऽकन्यादोषो नास्ति। तथा च कानीनः कर्ण इति दर्शनम्। यदि तु पुरुषप्रयोगेण कन्यात्वमपेयात्कथमियं वाचोयुक्तिः 'कन्यायाः पुत्रः कानीन' इति। अथत्वसंस्कृता कन्योच्यते ततो युक्तम् 'कर्णादयो ह्यनूढायाः पुत्रा' इति। मुख्येऽभ्युपगमने कन्याया अपत्योत्पत्तेः सम्भवः। वर्ण्यते चेतिहासादिषु तथाभूताया विवाहः। 'अथ मद्यमदादिना निर्वृत्ते रतिसम्बन्धे किमर्थः संस्कार इति'। अत्रोच्यते। यद्यपि स्त्रीपुंसधर्मो निर्वृत्तोऽतिक्रान्तश्च कन्यागमनप्रतिषेधस्तथापि तया सहाधिकारार्थं पुनश्च गमने कन्यागमनं मा भूदिति तदर्थं संस्कारकरणम्। कन्यागमनप्रतिषेधातिक्रमसम्बन्धेन पुरुषार्थतयाऽपि निन्द्यते विवाहोऽयम्।"

तदयुक्तम्। अतोऽयं लोके कन्याशब्दः पुंसाऽसंप्रयुक्तां स्त्रियमाचष्टे न संस्कारभावसापेक्षाम्। अकृतसंस्कारा अपि पुरुषैः क्षतयोनयो न 'कन्या' इति व्यवह्रियन्ते। तासां च वेशश्रितानां गमने न कन्यागमनदोषः। यद्यपि कुमारीकन्याशब्दौ प्रथमवयोवचनाविष्येते तथापि विवाहविधावनुपभुक्तपूर्वामेव स्त्रियमाचक्षते। तथा च कुमारवेशधारिणीं नातिप्रकाशप्रवृत्तपुंसम्प्रयोगां भार्यात्वेनार्थयमानोऽन्यैरवबोध्यते—'नैषा कुमारी नष्टोऽस्याः कौमारो भावः'।

संस्कारपरिलोपश्च स्यात्। गर्भाधानं हि मन्त्रवत्कर्तव्यं "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इति (ऋग्वेद १०।१८४।१) क्लृप्तायाश्च कल्पनमशक्यम्। तत्रायथार्थो मन्त्र प्रयोगः स्यात्। न चानूढायाः पैशाचधर्मे मन्त्रप्रयोगः, ऊढायास्तच्छ्रवणात्। न च

पैशाचवर्जमन्येषु विवाहेषु तत्कल्पयितुं युक्तमविशेषश्रवणात् ।

तस्मान्मुख्योपगमपक्ष एवमादयो बहवो दोषाः प्राप्नुवन्ति । अत आलिङ्गनोपगूहनपरिचुम्बनादिषूपगमनार्थेषु व्यापारेषु साहचर्यात्तादर्थ्याच्चोपपूर्वो गमिर्द्रष्टव्यः । यत्तु "कानीनः पुत्र" इति तत्र मुख्यार्थासम्भवाल्लक्षणया संस्काराभावप्रतिपत्तिः । यत्तु संस्कारदर्शनं तत्तु क्वचिदेव । यद्यपि 'या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सतीति' (मनु० ९।१७३) तत्र य एवोपगन्ता स एव न संस्कर्ता । न त्वसौ पैशाचो विवाहः । पैशाचे हि येनैव समुपभुक्ता तस्मा एव दीयते, स एवैनां संस्करोतीति । गर्भिण्यास्तु संस्कारो वाचनिकः । एतच्च सर्वं निपुणतरं पुनर्नवमे वक्ष्यते ।

अपरे मन्यन्ते । "सत्यं मुख्यमुपगमनमुख्यत्वे तु गमनप्रतिषेधानुपपत्तिरिति ।"

यदि हि मुख्यमुपगमस्तदा स एव विवाहोऽन्यस्यानन्तरोक्तेन न्यायेनाभावात् । ततश्च नास्ति तस्य प्रतिषेधस्य विषयो, यतः इच्छया गान्धर्वो हठाद्राक्षसोऽन्यथा पैशाचः । न चान्यः प्रकारोऽस्ति, येन स विषयः प्रतिषेधस्य स्यात् । अस्ति त्वस्य विषयः—यत्र हठाद्रहसि गमनं, या वा पितृभ्यां दीयते न चोपसंस्क्रियते । न चासौ गान्धर्वः, कन्येच्छाया अभावात् । अत एव भर्तुरपि न कन्यागामित्वं, विषयान्तरस्य सम्भवात् ।

तस्मात्क्षतयोन्याः संस्कारनिषेधाद्ब्राह्मादिवदुपायत्वात्तद्वच्च विवाहशब्दोपपत्तः प्रकरणसामर्थ्याद्गौण एवोपगमार्थः ।

एषां च भेदः । अप्रार्थितोपनतो भूमिहिरण्यादिवद्ब्राह्मः । ऋत्विक्त्वेन विशेषेण दैवः । गोमिथुनेनार्षः । याञ्चयाऽयाञ्चया वा 'सहोभौ चरतां धर्ममिति' वचनव्यवस्थया प्राजापत्यः । शेषाः सुबोधभेदः ।

ब्राह्मादीनामिदमर्थे तद्धितः । ब्रह्मादिसम्बद्धिता च स्तुत्याऽऽरोप्यते । एवं सर्वेषु । पैशाचः, 'पिशाचानामयं युक्त' इति निन्दा ।।३४।।

हिन्दी—सोई हुई, मद आदि से व्याकुल और अपने शील की रक्षा करने में प्रमादयुक्त कन्या के साथ विवाह (मैथुन) करना अत्यन्त निन्दित आठवाँ 'पैशाच' विवाह कहा गया है ।।३४।।

जलदानपूर्वक ब्राह्मण का विवाह—

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ।।३५।।

भाष्य—द्विजाग्र्याणां ब्राह्मणानां **कन्यादानं** कन्यां ददता**मद्भिरेव दानं** शस्यते । ब्राह्मणाय यदा कन्यां ददाति तदाऽद्भिरेव दद्यात् ।

"कथं पुनरापो दानकरणम्"।

न हि ताभिर्विना दानमस्ति "अद्भिर्वाच्यं नमःपूर्वं भिक्षा दानं ददाति वै। एवं धर्मेष्विति" नियमात्।

अथवा अद्भिरेवेत्यवधारणेनार्षासुरप्राजापत्यानपवदति। तत्र हि न केवला आपः करणं, गोमिथुनादिद्रव्यग्रहणमपि संविद्व्यवस्था च। तेनैतदुक्तं भवति। यथा गोहिरण्यादि द्रव्यं दीयते, न किञ्चित्परिभाष्यते—'इयं गौस्त्वयैवं संवाहनीयेदृशानि तृणान्यपि देयानि' एवं कन्यापि देया, न दुहितृस्नेहेन जामाता परिभाषणं कारयितव्यः। न च त माद्धनं ग्रहीतव्यमिति। क्षत्रियादीनां तु इतरेतरकाम्यया परस्परेच्छया यदि कन्यावरयोः परस्परमभिलाषो भवति तदा दानं कर्तव्यं, नेतरथा ब्राह्मविवाहवत्।

अन्ये तु व्याचक्षते। धनं वा गृहीत्वाऽद्भिरेव वेत्येष इतरेतरकाम्यार्थः।

अस्मिन्पक्षे ब्राह्मस्य सर्वविषयता ज्ञापिता भवति ॥३५॥

हिन्दी—ब्राह्मण का विवाह जलदानपूर्वक (कन्या का हाथ ग्रहण कर पिता आदि के द्वारा जल लेकर सङ्कल्प के साथ) ही होता है और अन्य क्षत्रिय आदि वर्णों का विवाह पारस्परिक इच्छा के द्वारा वचनमात्र से भी हो सकता है ॥३५॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सम्यक् कीर्तयतो मम ।।३६।।

भाष्य—यदुक्तं "गुणदोषौ च यस्य याविति" तत्स्मारयति। बहवो वक्तव्यतया प्रतिज्ञातास्तत्र वक्ष्यमाणैः श्लोकैरयमर्थ उच्यत इति विशेषज्ञानार्थं युक्तः पुनरुपन्यासः।

एषां विवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी। एवं विवाहानां यस्य विवाहस्य **यो गुणः कीर्तित** आचार्येण **मनुना सर्वंशृणुत तं** गुणं **विप्राः**। भृगुर्महर्षीनामन्त्रयते। **सम्यग**वैपरीत्येनानाकुलं **कीर्तयतः** कथयतः ॥३६॥

हिन्दी—(भृगु जी महर्षियों से कहते हैं कि)—हे ब्राह्मणों! इन (आठ प्रकार के) विवाहों में जिस विवाह का जो गुण मनु ने कहा है, उसे मुझसे तुमलोग सुनो ॥३६॥

ब्राह्म विवाह का गुण—

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयत्येनसः पितॄन् ।।३७।।

भाष्य—पूर्वेवंश्या पितृपितामहादयः। **अपरे** पुत्रपौत्रादयः। तान् **मोचयत्येनसो** नरकादियातनाभ्य उद्धरति। ब्राह्मेन विवाहेन ऊढा तस्यां यो जातः पुत्रः **स सुकृत-कृत्**पुण्यकृद्यदि भवति।

पितॄन्परलोकगतान् । पितृशब्दोऽयं प्रेतपर्यायः न हि पुत्रादिसन्ततेरन्यथा पितृ-व्यपदेशसम्भवः ।

दशशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते **पूर्वा**परशब्दाभ्याम् । **एकविंशकमि**ति निर्देशात् ।

अर्थवादश्चायम् । तेनानागताननुत्पन्नान्कथं मोचयतीति न वाच्ययम् । पूर्वेषां-त्वपत्यकृतेन शुभेन श्राद्धादिना भवत्येव पापान्मोक्ष इति श्राद्धाधिकारे कथयिष्यते । अतो 'दशापरानेनसो मोचयती'त्येतदुक्तं भवति—दशपुरुषा यस्मिन्कुलेऽपापा जायन्त इत्यालम्बनम् ॥३७॥

हिन्दी—ब्रह्म विवाह विधि (३।२७) द्वारा विवाहित कन्या से उत्पन्न पुण्यात्मा पुत्र अपने वंश की दश पीढ़ी पहले वाले तथा दश पीढ़ी आगे (भविष्य) वाले वंशजों को और अपने अर्थात् १०+१०+१=२१ पीढ़ीयों के वंशजों को पाप से छुड़ा देता है ॥३७॥

दैव, आर्ष, प्राजापत्य विवाहों के गुण—

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन् षट् षट् कायोढजः सुतः ।।३८।।

भाष्य—दैवेन विधिनोढा 'दैवोढा', तस्यां जातो **दैवोढाजः** । **सुतः** पुत्रः ।

'कः' प्रजापतिः स देवता यस्य विवाहस्य स 'कायः' । संस्कारकर्मणि ग्रहण-लक्षणेऽसत्येव देवतासम्बन्धे प्रजापतेर्देवतात्वमध्यारोप्यते भक्त्या । यदपि तत्र प्राजापत्यो यागोऽस्ति स तु पूर्वविवाहसाधारणः न कायव्यपदेशे कारणम् । आसुरादिषु च न काचिद्गतिः स्यात् । न ह्यासुरेभ्यो विवाहेभ्यो यागोऽस्ति । **कायोढज** इति ह्रस्वत्वं ''ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति'' (पा०सू० ६।३।६३) ।

''ननु च यद्यन्न्यूनफलं तत्तत्पश्चान्निर्दिष्टम्। तत्रार्षस्य प्राजापत्यात्पश्चादभिधानं युक्तम्''।

अस्त्यत्र कारणं येनाधिकफलस्य प्राजापत्यस्य पश्चान्निर्देशः । ''पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या'' इत्यत्र प्राजापत्यस्य ग्रहणमिष्यते, इतरथाऽऽर्षस्य स्यात् ॥३८॥

हिन्दी—'दैव विवाह' विधि (३।२८) से विवाहित कन्या का पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगे वाले सात-सात पीढ़ी के वंशजों को तथा अपने को (कुल पन्द्रह पीढ़ी के वंशजों को); 'आर्ष विवाह' विधि (३।२९) से विवाहित कन्या का पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगे वाले तीन-तीन पीढ़ी के वंशजों को तथा अपने को (कुल सात पीढ़ी के वंशजों को) और प्राजापत्य विवाह' विधि (३।३०) से विवाहित कन्या का पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगे वाले छः-छः पीढ़ी के वंशजों को तथा अपने को (कुल तेरह पीढ़ी के वंशजों को) पाप से छुड़ा देता है ॥३८॥

ब्रह्मादि चार विवाहों की श्रेष्ठ सन्तान—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चसिनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ।।३९।।

भाष्य—'प्रसवे च गुणागुणानि'त्युक्तं, तदिदम्।

अनुपूर्वशः—आनुपूर्व्येणेत्यस्मिन्नर्थे स्मृतिकारैः प्रयुज्यते।

श्रुताध्ययनविज्ञानसम्पत्तिनिमित्ते च पूजाख्याती 'ब्रह्मवर्चसम्', तद्वन्तो **ब्रह्मवर्चसिनः**। इन्नन्तोऽयम्।

'शिष्टानां सम्मताः', अनुमता अगर्ह्या अद्विष्टाः, प्रिया इति यावत् अतश्चामत्यर्थत्वान्मतिबुद्धीत्यस्याविषयत्वेन 'क्तेन च पूजाया'मित्येतेन नास्ति समासप्रतिषेधः। सम्बन्धसामान्यविवक्षायां च षष्ठी ॥३९॥

हिन्दी—पूर्वोक्त ब्राह्म आदि चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) विवाहों में ही क्रमशः ब्रह्म तेज वाले और सज्जनों से माननीय पुत्र होते हैं ॥३९॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ।।४०।।

भाष्य—**रूपं** मनोहराकृतिः। **सत्वं** नाम **गुणो** द्वादशे वक्ष्यते। ताभ्या**मुपेता** युक्ताः। आढ्या **धनवन्तः**। श्रुतशौर्यादिगुणयुक्ततया ख्याताः **यशस्विनः**। **पर्याप्तभोगाः**। स्रगनुलेपनगीतवाद्यादिभिः सुखसाधनैरविकलैर्नित्ययुक्ताः। सुखसाधनैः पूर्वोक्तैरवियोगो 'भोगः', स 'पर्याप्तो'ऽक्षतः समग्रो येषां ते 'पर्याप्तभोगाः'।

धर्मानुष्ठानतत्परा **धर्मिष्ठाः**। धर्मशब्दः केषांचिद्गुणवचनः। अतो गुणवचनादित्यातिशायिकः। **शतं** वर्षाणि **जीवन्ति** ॥४०॥

हिन्दी—(३।३७ में उक्त वे पुत्र) सौन्दर्य और सात्त्विक गुणों से युक्त, धनवान्, यशस्वी पर्याप्त (इच्छानुसार आर्थात् काफी वस्त्र, गन्धानुलेपन तथा अन्नादि) भोग वाले और धर्मात्मा होकर सौ वर्ष (पूर्णायु होकर) जीते हैं ॥४०॥

आसुर आदि चार विवाहों की निकृष्ट सन्तान—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ।।४१।।

भाष्य—ब्राह्मादिव्यतिरिक्तेषु गान्धर्वादिविवाहेषु नृशंसमनृतं च वदन्ति **नृशंसानृतवादिनः**। **नृशंसं** मातृभगिन्यादावश्लीलाक्रोशवचनम्। **अनृतं** प्रसिद्धम्। नृशंसं चानृतं च नृशंसानृते। ते वदितुं शीलमेषामिति शब्दव्युत्पत्तिः। **ब्रह्मधर्मो** वेदधर्मो

वेदार्थस्तं द्विषन्ति निन्दति वा न श्रद्दधते वा । अत एव **दुर्विवाहेष्विति** निन्दा ॥४१॥

हिन्दी--शेष बचे हुए चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) विवाह विधि से विवाहित कन्या के पुत्र क्रूर, असत्य बोलने वाले और वेद या ब्राह्मणों के तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मों के विरोधी होते हैं ॥४१॥

विवाहों का सङ्क्षिप्त में फल—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ।।४२।।

भाष्य—समासतो विवाहानां फलप्रदर्शनमेतत् ।

ये यस्य विवाहा विहितास्तेऽ**निन्दितास्**तैरूढानां या प्रजा पुत्रादिलक्षणा **साऽ-निन्द्या** भवति प्रशस्येत्यर्थः । **निन्दितैः** प्रतिषिद्धैः **निन्दिता** गर्हिता ।

तस्माद्दुःखभागिनी प्रजा मा भूदिति **निन्द्यान्विवर्जयेत्** ॥४२॥

हिन्दी—अनिन्दित स्त्री-विवाहों से अनिन्दित तथा निन्दित स्त्री-विवाहों से निन्दित सन्तान उत्पन्न होती हैं। अतएव निन्दित स्त्री-विवाहों का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥४२॥

सवर्णा कन्या के साथ विवाह विधि—

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ।।४३।।

भाष्य—पाणिग्रहणं नाम गृह्यकारोक्तः **संस्कारः सवर्णासु** समानजातीयासूह्य-मानासू**पदिश्यते** शास्त्रेण विधीयते, कर्तव्यतया प्रतिपाद्यते ।

असवर्णासु यदुद्वाहकर्म तत्रायं वक्ष्यमाणो **विधिर्ज्ञेयः** ॥४३॥

हिन्दी—सवर्णा (समान जातिवाली) कन्या का शास्त्रानुसार पाणिग्रहण (विवाह) संस्कार करने का विधान है। असवर्णा (भिन्न जाति वाली) कन्याओं के विवाह कर्म में यह (३।४४) विधि है ॥४३॥

असवर्णा कन्या के साथ विवाह विधि—

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ।।४४।।

भाष्य—ब्राह्मणेनोह्यमानया **क्षत्रियया शरो** ब्राह्मणपाणिपरिगृहीतो **ग्राह्यः** । पाणिग्रहणस्थाने शरस्य विधानात् । **प्रतोदो** बलीवर्दानामायसः क्रियते, येन वाह्य-मानाः पीड्यन्ते हस्तिनामिवाङ्कुशः । **वसनस्य** वस्त्रस्य **दशा ग्राह्या शूद्रया । उत्कृष्ट-**

जातीयैर्ब्राह्मणादिवर्णै**र्वेदने** विवाहे ॥४४॥

हिन्दी—ब्राह्मण वर के साथ में विवाह करने वाली क्षत्रिय वर्ण की कन्या ब्राह्मण के हाथ में ग्रहण किये हुए बाण का एक भाग ग्रहण करे, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर के साथ में विवाह करने वाली वैश्य वर्ण की कन्या ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के हाथ में ग्रहण किये हुए कोड़ा (चाबुक) का एक भाग ग्रहण करे और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर के साथ में विवाह करने वाली शूद्र वर्ण की कन्या ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर के कपड़े का एक भाग ग्रहण करे ॥४४॥

ऋतुकाल में पर्वभिन्न दिनों में स्त्री-सम्भोग—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ।।४५।।

भाष्य—उक्तो विवाहः । तस्मिन्निर्वृत्ते समुपयाते दारत्वे तदहरेवेच्छयोपगमे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते ।

न विवाहसमनन्तरं तदहरेव गच्छेत्, किं तर्हि ऋतुकालं प्रतीक्षेत । गृह्यकारैस्तु "अत ऊर्ध्वमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणावधःशायिनौ स्याताम्—त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वा" इति (आश्व० गृ० १।८।१०।११) पठितम् । तत्र सत्यपि संवत्सर-स्यान्तराऽऽपतिते ऋतौ गमनं नास्ति । एवमस्मात्कालादूर्ध्वमसत्यृतौ गमनं नास्ति । एवमेते स्मृती अविरोधिन्यौ भवतः । त्रिरात्रादीनां तु विकल्पः अत्यन्तरागपीडितयोर्ग-मनं, धैर्यवतोस्तु ब्रह्मचर्यम् ।

ऋतुर्नाम स्त्रीणां शोणितदर्शनोपलक्षितः शरीरावस्थाविशेषो गर्भग्रहणसमर्थः काल उच्यते । उपलक्षणत्वाच्च दर्शनस्य निर्वृत्तेऽस्मिन्वक्ष्यमाणकालानुवर्ती भवत्येव । तस्य काल 'ऋतुकालः' । साहचर्याद्वा काल एव ऋतुः । तथा च समानाधिकरण-समासः । ऋतुकालेऽभिगन्तुं व्रतमस्येत्यृ**तुकालाभिगामी** । "व्रते" इति णिनिः (पा० सू० ३।२।२०) यथा स्थण्डिलशायी अश्राद्धभोजीति **स्यात्** भवेदित्यर्थः । अद्यप्यस्तिपरा विधिविभक्तितथाप्युपगमव्यापारं विदधाति, **अभिगामी स्याद**भि-गच्छेदित्यर्थः । न ह्यनुपगच्छन्नभिगामी भवति ।

कीदृशं पुनरेतद्व्रतम् । किमृतावभिगन्तव्यमेव, अथर्ताविवगन्तव्यमिति । एततदुक्तं भवति किमयं नियम उत परिसंख्येति ।

"ननु च व्रतमिति शास्त्रतो नियत उच्यते । तत्रैव चायं णिनिः । अतः परि-संख्या कथमाशंक्यते"?

उच्यते । परिसंख्यायामपि शास्त्रीयत्वं नियमरूपता च विद्यत इति दर्शयिष्यामः ।

"कस्तर्ह्यनयोर्विशेषः"?

विधिविशेषो नियमः। "अथ विधिः कः"। यः शब्दः कर्तव्यताबोधकः "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इति। न ह्यग्निहोत्रस्यैतद्वचनमन्तरेणान्यतः कुतश्चित्कर्तव्यतावगमः। 'नियमः' पुनर्यत्रादृष्टसिद्ध्यर्थस्य वचनमन्तरेण पाक्षिकी प्राप्तिः। यथा "समेयजेतेति" दर्शपौर्णमासादियागविधानोद्देशमात्रमाक्षिप्तम्, न हि कश्चिद्देशमनाश्रित्य यागप्रयोगः सम्भवति। द्विविधश्च देशः, समो विषमश्च। तत्र यदा तावत्समे यजेत तदैतद्वचनमनुवाद एव। यदा त्विच्छाया निरङ्कुशत्वाद्विषमे यियक्षति तदैतद्वचनं समदेशं विदधदर्थवत्। विहिते समे विषमस्यानाश्रयणमविधानात्। एतत्सामर्थ्यात्तन्निवृत्तिः। विधिनिबन्धने ह्यनुष्ठानं किमित्यविहितं क्रियेत। तत्करणे हि न यथाचोदितानुष्ठानसिद्धिः।

इदं चात्र स्मार्तमुदाहरणम्। प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत। भुञ्जानस्य यदृच्छया यां काञ्चिद्दिशमाश्रित्य भोजनं प्राप्तम्। तत्र कदाचित्प्राची कदाचिदितरा या काचित्प्राप्ता। तत्र यदा प्राची न तदेतरा, यदेतरा न तदा प्राचीति। तत्राप्राप्तिपक्षे विध्यर्थं वचनं प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीतेति। तत्रातिक्रमाच्छास्त्रार्थं जहाति।

एवमिह यदृच्छयोपगमनमृतावनुपगमनं, पक्षे विधीयमानमुपगनमननुष्ठीयमानं, शास्त्रातिक्रमकारितां जनयेत्। यथाऽन्ये शास्त्रविहितार्था अतिक्रम्यमाणाः प्रायश्चित्तहेतवो भवन्ति तथाऽनुगमनम्।

अथर्तावनृतौ च गमने रागतः प्राप्ते वचनमृतावुपेयोदिति, तदैवं वचनं मृग्यते ऋतावेवोपेयादनृतौ न गच्छेत्'। यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति क्षुत्प्रतिघातेनार्थेन शशकादिष्वपि पञ्चनखेषु भक्ष्यता प्रसक्ता तद्व्यतिरिक्तेष्वपि वानरारिषु। न च तत्र पर्यायेणैव प्रवृत्तिः। युगपत्तत्र चान्यत्र च प्रसक्तौ 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति वचनमितरपरिसंख्यानार्थं सम्पद्यते। एवमिह परिसंख्येति।

"ननु च परिसंख्यां दोषत्रयवतीमाचक्षते। त्रयो हि तत्र दोषाः प्रादुःष्युः, स्वार्थत्यागः परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति यदाऽन्वयतः पञ्चनखविषयं भक्षणं प्रतीयते तदा तत्त्यक्तं भवति, तद्व्यतिरिक्तनिषेधपरत्वाद्वाक्यस्य। अश्रुतश्च निषेधः, अतः परार्थकल्पना अर्थित्वाच्च सर्वविषयं भक्षणं यत्प्राप्तं तस्य बाधः। एवमेव न परिसंख्यायां त्रयो दोषाः"।

नैतत्सारम्। सत्यर्थित्वे श्रुतार्थसम्भवे वाक्यस्यानर्थक्यं मा भूदित्येतत्परता न विरुद्धा।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या नखिष्विव।

किं पुनरत्र युक्तम्।

'तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्यालक्षणस्य विद्यमानत्वात्परिसंख्येति। ऋतावपि गमनं प्राप्तमनृतावपि न तु यदर्तौ तदानृताविति। यथा सत्यर्थित्वे यत् भोजनं तत्र नियमोऽ'श्राद्धम्' न पुनराहारत्यागेन अश्राद्धमेव भुञ्जान आस्ते। एवमिह सति खेदे यद्गमनं तत्र नियमोऽनृतौ न गच्छेदित्यवगच्छति। अर्थित्वाच्च गमने प्रसक्ते कालविधान-परतैव युक्ता वाक्यस्य। अन्यथाऽनारब्धोऽर्थ उपदिष्टः स्यात्। किञ्चापत्योत्पत्तिविधेः कृतविवाहस्यानुष्ठेयत्वादृतौ च तत्सम्भवात्प्राप्तमेव गमनम्। उत्पन्नपुत्रस्य च न द्वितीय-पुत्रोत्पादनं वैधम्। अपत्यमुत्पादयेदित्येकत्वविवक्षायां विध्यर्थनिवृत्तेः। न च गमन-मेवादृष्टार्थतया शक्यं विधातुम्। संस्कारविधित्वाधिकारश्रवणात्कल्पनायाश्चाशक्यत्वात्, अपत्योत्पत्तिविध्याक्षेपादृतौ गमनस्य। यच्चात्रर्तावुपेयादिति तदनृतुप्रतिषेधार्थम्। तत्रानु-वादः, परं परिसंख्या। तत्र ह्यर्थान्तरलक्षणयाऽप्यर्थवत्ता भवति।

एवं च कृत्वा गौतमीयेनाविप्रतिपत्तिः। एवं तत्रोक्तम्। 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जनम्'' (अ० ५ सू० १-२) इति। 'सर्वत्र वे'त्येष विकल्पः कामचारा-नुज्ञानार्थः। न पुनः सर्वदर्तावनृतौ च नियमोपपत्तिः। यदि च पूर्वत्रर्तावुपेयादिति नियमः, 'सर्वत्र वे'त्यत्रापि स एवोपेयादित्यनुप्रयुज्यमानशब्दो नियमार्थः प्राप्नोति एकप्रक्रम-त्वात्, नहि स एव शब्दः पुनरनुच्चार्यमाणो भिन्नार्थो भवितुं युक्तः। न चर्तोरन्यत्र नियमार्थतोपपद्यते इत्युक्तम्। तस्मादृतौ गमनवचनमनृतौ प्रतिषेधार्थम्। तत्रानुत्पन्नपुत्रस्य विध्यन्तरान्नियम एव। उत्पन्नपुत्रस्तु यथाकामी।

अनृतौ प्रतिषिद्धे गमने भार्येच्छया पुनः प्रतिप्रसूयते **पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रत् इति**। तदिति भार्यायाः प्रत्यवमर्शः। तच्चित्तग्रहणं व्रतमस्येति **तद्व्रतः**।

रतिकाम्यया। विनाऽप्यपत्यार्थेनोत्पन्नपुत्र ऋतावनुत्पन्नपुत्रो वाऽनृतौसुरतसम्भोगे-च्छया **तद्व्रत एनां व्रजेन्ना**त्मेच्छयेत्यर्थः।

अथवा तच्छब्दो रतिकाम्ययेत्यत्राप्यपेक्ष्यते, स्मृतिशास्त्रत्वादस्य। तद्रतिकाम्यया पर्ववर्जमन्यत्रापि व्रजेत्। तत्रैवाकारश्लेषो द्रष्टव्यः, 'अरतिकाम्यया', आत्मन इति शेषः। यथा तु व्याख्यातं तथा न किञ्चिदत्राप्रश्लेषेणापि वा तच्छब्दस्य समासोप-सर्जनस्यासम्बन्धेन।

पर्वाणि वक्ष्यति। 'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीमिति'।

स्वदारनिरतः। स्वदारेषु निरतः स्यात्तत्प्रीतिभावनापरः। अथवा स्वदारेष्वेव रमते न परदारान्रमयेदिति परदारप्रतिषेधः।

सदा। यावज्जीवमेतद्व्रतं परिपालनीयम्।

अतः स्थितमेतत्। त्रीणि वाक्यान्यत्र—ऋतुकालाभिगामी स्यादित्येतदेकम्, अनुत्पन्नपुत्रस्य नियमानुवादरूपम्। द्वितीयम् भार्याप्रयुक्तस्य पर्ववर्जमृतावनृतौ च, न सुरतेच्छया। स्वदारनिरत इति तृतीयम्। एषां च पदयोजना—ऋतुकालाभिगामी स्यादपत्यार्थम्, रतिकाम्यया तु तद्व्रत एनां व्रजेत्, स्वदारनिरतश्च स्यात्॥४५॥

हिन्दी—स्व-स्त्री के साथ प्रेम करने वाला पुरुष स्त्री के ऋतुमती होने के बाद शुद्ध होने पर सम्भोग करे तथा रति की इच्छा से पर्व दिनों (अमावस्या, पूर्णिमा आदि) को छोड़कर अन्य दिनों में ही स्त्री-सम्भोग करे॥४५॥

ऋतुकाल की अवधि—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥४६॥

भाष्य—ऋतुलक्षणार्थं श्लोकोऽयम्। वैद्यकादिशास्त्रावगम्योऽयमर्थो न विधिमूल एव। एवं "युग्मासु पुत्राः" इत्येतावपि श्लोकौ।

षोडशरात्रयस्ताः स्त्रीणां मासि मासि स्वाभाविक ऋतुः। प्रमाणान्तरमूलत्वाच्चाश्रुतमपि मासि मासीति गम्यते। स्वभावे भवः **स्वाभाविकः** स्वस्थप्रकृतीनां यो भवति। व्याध्यादिना कस्याश्चित्प्राप्तकालोऽपि निवर्तते, घृततिलाद्यौषधीप्रयोगेण रतिवशेन चाकालेऽपि संवर्तते। अतः स्वाभाविक ऋतुस्ता रात्रय उच्यन्ते।

चतुर्भिरितरैः। चत्वार्यहानि यानि सद्भिर्विगर्हितानि, प्रतिषिद्धस्त्रीस्पर्शसम्भाषणादीनि, तानि च प्रथमशोणितप्रदर्शनात्प्रभृति। अहर्ग्रहणं च सर्वाहोरात्रोपलक्षणार्थम्। तैः सह॥४६॥

हिन्दी—रजो (शोणित) दर्शन के दिन से सोलह रात्रियाँ (दिन-रात) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल है, उसमें सज्जनों के द्वारा निन्दित (समागम के अयोग्य) प्रथम चार दिन (दिन-रात) सम्मिलित हैं॥४६॥

स्त्री सम्भोग में निन्दित समय—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥४७॥

भाष्य—**तासां** रात्रीणां या **आद्याः** प्रथमशोणितदर्शना**च्चतस्र**स्ता **निन्दिताः**, न तत्र गमनमस्ति। तिसृषु तावत्स्पर्शोऽपि नास्त्यशुचित्वात्। चतुर्थ्यां तु स्नाताया वशिष्ठवचनात्सत्यपि शुचित्वे रतिसम्भोगो नास्ति, चतसृणां गर्हितत्ववचनात्।

या चैकादशी या च **त्रयोदशी** साऽपि निन्दिता, एवं प्रतिषिद्धगमना। ऋतु-

दर्शनात्प्रभृत्येकादशीत्रयोदश्यौ गृह्येते, न चन्द्रतिथी।

तासामिति निर्धारणविषयत्वेन रात्रीणां सम्बन्धात्समानजातीयश्च निर्धार्यतया प्रतीयते, 'कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरेति'।

षड्रात्रगमनप्रतिषेधोऽयमदृष्टार्थः। **शेषाः प्रशस्ता दशरात्रयः**। षण्णां प्रतिषेधाद्दशसु प्राशस्त्यं सिद्धमेवानूद्यते ॥४७॥

हिन्दी—उन (३।४६) सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ (अर्थात् छः रात्रियाँ स्त्रीसम्भोग के लिए) निन्दित हैं, शेष दश रात्रियाँ (स्त्री-सम्भोग के लिये) श्रेष्ठ मानी गयी हैं ॥४७॥

सम दिनों में पुत्रोत्पत्ति—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥४८॥

भाष्य—तासु दशसु या युग्मा रात्रयः षष्ठ्यष्टमी दशमी द्वादशी चतुर्दशी षोडशी तासूपगच्छतः पुत्रा जायन्ते।

अयुग्मासु स्त्रियो दुहितरः।

तस्मात्पुत्रोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं युग्मासु **संविशेद्**व्रजेत मैथुनधर्मेण **स्त्रियमार्तवे**।

अनुवादोऽयम्। अयमपि नियम एव—अनुत्पन्नपुत्रस्यायुग्मास्वगमनम् ॥४८॥

हिन्दी—पूर्वोक्त (३।४६) दश रात्रियों में से युग्म (सम अर्थात् छठी, आठवीं इत्यादि) रात्रियों में (स्त्री-समागम करने से) पुत्रोत्पत्ति होती है तथा विषम (पाँचवीं, सातवीं, नवीं इत्यादि (रात्रियों में) स्त्री-समागम करने से) कन्या की उत्पत्ति होती है, अतएव पुत्रेच्छुक पुरुष सम रात्रियों में ऋतुकाल में (३।४६-४७) स्त्री-गमन करे ॥४८॥

पुत्रादि की उत्पत्ति में अन्य कारण—

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥४९॥

भाष्य—**शुक्रं** वीर्यं पुरुषस्य रेतः, **स्त्रियाः** शोणितम्। उक्तं भगवता वसिष्ठेन (अ० १५, सू० १) "शुक्रशोणितसम्भवः पुरुषः" इति।

स्त्रीबीजादधिके पुम्बीजेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते, युग्मास्वपि स्त्रीबीजस्याधिक्ये कन्यैव। अयुग्मास्वपि रात्रिषु पुत्रार्थिनो गमनानुष्ठानार्थमेतत्। यदा परिपुष्टमात्मानं वृष्याहारयोगेन समधिकवीर्यं मन्येत स्त्रियाश्च कथञ्चिदपचयं तदा पुत्रार्थी गच्छेदित्युपदिष्टं भवति।

आधिक्यं चात्र न परिमाणतः, किं तर्हि सारतः ।

समेऽपुमान् मिश्रीकृते **पुंस्त्रियौ** । **अपुमान्** नपुंसकमिति केचित् । अन्ये साम्य इति पठन्ति । उभयोः साम्येऽपुमानेव ।

पुंस्त्रियौ वा । गर्भाधान्यां यदा वायुर्द्रवरूपत्वात्संसृष्टे शुक्रशोणिते समं विभजेत एकत्र भागमन्यत्र तावदेव तदा यमौ जायेते । तत्र समे विभागेऽपि स्त्रीबीजाधिक्ये स्त्री, पुम्बीजाधिक्ये पुमान् ।

क्षीणे बीजे सारतः **विपर्य्ययो**ऽग्रहणं गर्भस्य, नपुंसकोत्पत्तिर्वा ॥४९॥

हिन्दी—पुरुष के वीर्य अधिक होने पर (विषम रात्रियों में भी) पुत्र, स्त्री बीज अर्थात् रज के अधिक होने पर (समरात्रियों में भी) कन्या और पुरुषबीज तथा स्त्रीबीज के समान होने पर नपुंसक या पुत्र-पुत्री दोनों की उत्पत्ति होती है और दोनों के बीज के क्षीण या कम होने पर गर्भ ही नहीं रहता ॥४९॥

विमर्श—अत एव वीर्यवर्द्धक आहारादि के द्वारा वीर्य की वृद्धि तथा आहार के लाघव के द्वारा स्त्रीबीज की अल्पता मालूम कर पुत्रार्थी पुरुष की युग्म रात्रियों में ही सम्भोग करना चाहिये ।

वानप्रस्थ में भी ऋतुगमन—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ।।५०।।

भाष्य—निन्द्यासु षट्**स्वन्यासु** चानिन्द्यास्वप्यष्टासु **रात्रिषु स्त्रियो वर्जयन्**परिहरन्द्वे रात्री अवशिष्टे यदि गच्छति, पर्ववर्जं, तदा **ब्रह्मचार्येव भवति** ब्रह्मचर्यफलं प्राप्नोति । **यत्र तत्राश्रमे वसन्** ।

अर्थवादोऽयम् । न तु वानप्रस्थाद्याश्रमेषु रात्र्यभ्यनुज्ञा जितेन्द्रियत्वविधानात्सर्वाश्रमेषु गार्हस्थ्यादन्येषु वीप्सायाश्चार्थवादतयाऽप्युपपत्तेः ।

एताश्च रात्रयो वर्ज्या न क्रमेणैव, किं तर्हि यथेच्छया पर्ववर्जं गमनं यथा न भवति तथा रात्रिद्वयमभ्यनुज्ञायते ।

'किं पुनर्ब्रह्मचर्यस्य फलम्' ।

विशेषाश्रवणात्स्वर्गः । क्वचित्तु श्रूयते—"न ब्रह्मचारी प्रत्यवैतीति", स्वल्पैरतिक्रमैर्न दुष्यतीति ॥५०॥

हिन्दी—पूर्व निन्दित (३।४७) छः रात्रियों (प्रथम चार, ग्यारहवीं तथा तेरहवीं) को तथा अन्य किन्हीं आठ रात्रियों को छोड़कर (पर्ववर्जित अर्थात् अमावस्या, पूर्णिमादि को छोड़कर) शेष दो (६+८=१४; १६-१४=२) रात्रियों में स्त्री सम्भोग

करता हुआ मनुष्य जिस किसी (वानप्रस्थ) आश्रय में निवास करता हुआ भी अखण्डित ब्राह्मचारी ही होता है ॥५०॥

विमर्श—वानप्रस्थ में स्त्री-सम्भोग करने का अर्थ मन्वर्थमुक्तावलीकार के अनुसार किया गया है। मेधातिथि का मत है कि 'यत्रतत्राश्रमे वसन्' अर्थात् 'जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ' वचन अनुवाद मात्र है; क्योंकि गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त शेष तीनों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) आश्रमों में जितेन्द्रिय रहने का विधान होने से उक्तवचन वानप्रस्थाश्रम में स्त्रीसम्भोगपरक नहीं है'। गोविन्दराज का मत है कि 'यत्रतत्राश्रमे वसन्' (जिस किसी आश्रम में रहता हुआ) इस वचन से तथा पुत्रार्थी के स्त्री-सम्भोग करने का विषय प्रस्तुत होने से और पुत्र के महोपकारक होने से उत्पन्न हुए पुत्र की मृत्यु हो जाने पर गृहस्थाश्रम से भिन्न आश्रम में रहने वाले भी पुत्रार्थी पुरुष को उक्त दो रात्रियों में स्त्री सम्भोग करने का विधायक उक्त वचन है' वास्तविक विचारणा करने पर तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त वचन ब्रह्मचर्य का महत्त्वसूचक अर्थवाद (प्रशंसापरक) वाक्य है। अत एव गृहस्थाश्रम से भिन्न आश्रम में हरने वाले को नियमित रूप से अखण्ड ब्रह्मचारी ही रहना चाहिये ॥

वर से कन्याशुल्क (मूल्य) ग्रहण का निषेध—

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ।।५१।।

भाष्य—आसुरे शुल्कप्रतिषेधोऽयं उत्तरत्र च कन्यार्थसंग्रहोपादानात्।

विद्वान् ग्रहणदोषज्ञः। कन्यापिता स्वल्पमप्यर्थं धनं न गृह्णीयात्। गृह्णानोऽपत्यविक्रयदोषेण युज्यते।

कः पुनरेषः शुल्को नाम।

आभाषणपूर्वं वराद्गृहीतम्। यत्र तूच्चनीचपणापणो भवति, कन्यागुणापेक्षमूल्यव्यवस्था, स क्रय एव। इह तु महागुणाया अपि कन्यायाः स्वल्पं धनम्। अनाभाषणपूर्वं वा ग्रहणम्। न विक्रयस्यैष धर्म इत्यतो विक्रयाध्यारोपेण निन्द्यते ॥५१॥

हिन्दी—वर से धन लेने में दोष को जानने वाला कन्या का पिता (वर से या वरपक्ष वालों से) थोड़ा भी धनादि (कन्यादान निमित्त) न लेवे; क्योंकि लोभ से धन को ग्रहण करता हुआ मनुष्य सन्तान को बेचने वाला होता है ॥५१॥

स्त्रीधन लेने का निषेध—

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ।।५२।।

भाष्य—पूर्वस्यैव शेषः । स्त्रीनिमित्तानि धनानि, कन्यादाने वराद्यानि गृह्यन्ते । **ये बान्धवाः** पित्रादयः **मोहादुपजीवन्ति** । यथोक्तं 'ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वेति' । सुवर्णरजतादि 'धनम्' ।

नारीयानानि । यानमश्वादि । **वस्त्रं वा** । एतावन्मात्रमपि न जातूपजीवनीयं वासो यानादि, किं पुनर्बहु ।

उपजीवतां फलमाचष्टे। ते **पापाः** शास्त्रप्रतिषिद्धसमाचरणा**दधोगतिं** नरकं **यान्ति**।

अथवा **स्त्रीधनानीति** नवमे दर्शयिष्यति । तानि ये मोहादुपजीवन्ति **बान्धवाः**, पिता तत्पक्षाश्च, भर्ता भर्तृपक्षाश्च । एवं यानादि । एवं वस्त्रम् । स्त्रीणां बुद्धौ सन्निधाना-च्छाब्दः सन्निधिः कल्प्यते यथा "राजपुरुषः कस्य । राज्ञः" इति ॥५२॥

हिन्दी—जो (पति या पति के पिता आदि) बान्धव स्त्री के धन (स्त्री या पुत्री को दिये गये) दास, सवारी, वस्त्र, आभूषणादि को मोह के कारण ले लेते हैं; वे पापी अधोगति को जाते हैं ॥५२॥

आर्ष विवाह में उक्त गोमिथुन लेने का निषेध—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि तावानेव स विक्रयः ।।५३।।

भाष्य—स्त्रीगवी च पुंगवश्च **गोमिथुनम्** । **केचिदाहु**रेतदादेयमिति । मनोस्तु मतम्—**मृषैव तत्** मिथ्या । नादेयमित्यर्थः । **अल्पोऽप्येवम्** । अल्पसाधनोऽल्पः । **एवं महान्** भवति । **तावानेव विक्रयः** ॥५३॥

हिन्दी—कोई आचार्य आर्ष विवाह में गोमिथुन (एक गाय और एक बैल कन्यादान तथा यज्ञादि के वास्ते) लेने को कहते हैं (३।२९), वह असत्य है; क्योंकि इस प्रकार थोड़ा सा अधिक धन लेना विक्रय (कन्यादान का बेचना) ही है ॥५३॥

विमर्श—गोविन्दराज का यह मत है कि "एकं गोमिथुनं (३।२९) श्लोक मनु का मत नहीं है' किन्तु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि वर से गोद्वय लेकर कन्यादान करना ही मनुसम्मत 'आर्ष विवाह' का लक्षण है (३।२९), ऐसा नहीं मानने पर मनुसम्मत कोई लक्षण ही 'आर्ष विवाह' का नहीं होगा । यदि यह कहें कि उक्त लक्षण (३।२९) दूसरे किसी आचार्य का है (इसी से प्रकृत श्लोक (३।५३) की सङ्गति होती है (तो ऐसा) 'एकं गोमिथुन' '(३।२९) श्लोक (दूसरे किसी आचार्य का) मानने से मनु के मत से 'आर्ष विवाह का' का कोई लक्षण ही नहीं होगा। इस कारण से तथा आर्षादि अष्टविध विवाहों और आर्षविवाह-विधि से विवाहित स्त्री की सन्तान के गुणों को कहते हुए मनु का अपने मत से आर्षविवाह के लक्षण नहीं कहने से

उसकी असामर्थ्य सूचक न्यूनता प्रकट होती है, जो 'सर्वथा असम्भव एवं अनुचित है।

मेधातिथि ने तो पूर्वापर-विरोध (३।२९ तथा ३।५३ का परस्पर विरोध) का उद्घाटन तथा निराकरण ही नहीं किया। अत: कुल्लूकभट्ट ने इस प्रकार से इस श्लोक की व्याख्या की है—'आर्ष विवाह में गोमिथुन ग्रहण करने को शुल्क उत्कोच (घूस या फीस या मूल्य) रूप कोई-कोई आचार्य कहते हैं। (परन्तु) मनु का यह मत नहीं है, शास्त्रनियमित जातिसंख्यक ग्रहण शुल्क (उत्कोच) नहीं है, शुल्क में मूल्य की अधिकता या न्यूनता (कमी) अनुपयुक्त है वह तो बेचना ही होगा; परन्तु 'आर्ष' विवाह के सम्पन्न होने के लिये अवश्य कर्तव्य (तत्सम्बद्ध) यागसिद्ध्यर्थ या कन्या के लिये दानार्थ शास्त्रीय धर्मार्थ ही (उक्त गोमिथुन) ग्रहण किया जाता है। हाँ लोभ से धन ग्रहण करना शास्त्रमर्यादा के विरुद्ध शुल्क (घूस या मूल्य) ही होगा। इसी प्रकार 'लोभ से शुल्क लेता हुआ ......' (गृह्णन् शुल्कं ही लोभेन—३।५१) वचन द्वारा लोभ से शुल्क लेने की मनु ने निन्दा की है। अतएव 'पूर्वापरक के विचार से आर्ष विवाह में धर्मार्थ (विवाहादि याग के लिए या कन्या को देने के लिये) गोमिथुन ग्रहण करना चाहिये, अपने भोगार्थ नहीं' यह अपना मत मनु ने कहा है''।

कन्यार्थ द्रव्य लेना भी शुल्क नहीं—

यासां नाददते शुक्लं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ।।५४।।

भाष्य—''किं वराद्धनाधिगमो विक्रयो भवति''।

नेति ब्रूम:। **ज्ञातयः** कन्यायामधिकृता: स्वार्थ**माददते** गृह्णन्ति तदा **सविक्रयः**। **अर्हणं** कन्यार्थे धनग्रहणं कन्यानां **तदर्हणं** पूजनं भवति। बहुमान: कन्यानामात्मनि भवति, 'ईदृश्यो वयं यद्धनं दत्वा विवाह्यामहे'। अन्यत्रापि पूज्या भवन्ति 'सुभगा एता' इति। आभरणादि वा तेन धनेन कर्तव्यमतोऽभ्यर्हिता: शोभावत्यो भवन्ति। **आनृशंस्यम**पापत्वं केवलं न स्वप्लोऽप्यधर्मगन्धोऽस्ति।

अतोऽनेनार्थवादेन कन्यार्थं धनग्रहणं विधीयते ॥४५॥

हिन्दी—कन्या की प्रीतिवास्ते वर (या वरपक्ष वालों) से दिये गये धन को यदि कन्या के पिता या जातिवाले स्वयं नहीं लेते हैं (अपितु वह धन कन्या को ही दे देते हैं) तो वह (धनग्रहण) भी कन्या-विक्रय नहीं है, वह तो केवल उस पर दयामात्र है ॥५४॥

कन्या को वस्त्राभूषण से अलङ्कृत करना—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।५५।।

भाष्य—न केवलं वरादादाय दातव्यं कन्याबन्धुभिरपि तु तैरपि दातव्यम्।

पितृभिः साहचर्यात्पितृशब्दः पितामहपितृव्यादिषु वर्तते, ततो बहुवचनम्। व्यक्त्यपेक्षं वा बहुवचनम्। एवं **पतिभिः** श्वशुरादिभिर्व्यक्त्यपेक्षं वा। **देवराः** पत्युर्भ्रातरः। **पूज्याः**। पुत्रजन्माद्युत्सवेषु निमन्त्रणपूर्वकमानाश्रयबहुमानमादरेण भोजनादिना पूज्याः। **भूषयितव्याः**। वस्त्राद्यलङ्कारेणाङ्गलेपनादिभिर्मण्डयितव्याः।

अत्र फलं **बहुकल्याणमीप्सुभिः**। कल्याणं कमनीयं पुत्रधनादिसम्पदरोगताऽपरिभव इत्यादि बहुशब्दात्सर्व**मीप्सुभि**राप्तुमिच्छुभिः प्राप्तुकामैः।

फलार्थो विधिरयम् ॥५५॥

हिन्दी—अपना अधिक कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को चाहिये कि वे सदा (विवाह के बाद भी) कन्या का पूजन (आदर-सत्कार) करें तथा वस्त्राभूषणों से उसे अलङ्कृत करें ॥५५॥

कन्या के आदर तथा अनादर के फल—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥५६॥

भाष्य—देवता रमन्ते तुष्यन्ति प्रसीदन्ति। प्रसन्नाश्च स्वामिन एवाभिप्रेतेन फलेन योजयन्ति।

यत्र तु पूज्यन्ते तत्र सर्वाः क्रियाः यागहोमदानाद्या देवताराधनबुद्ध्या चोपहारादयो याः क्रियन्तेऽ**फलास्ता** इत्यर्थवादः ॥५६॥

हिन्दी—जिस कुल में स्त्रियों की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा आदर-सत्कार) होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं, (अतएव स्त्रियों का अनादर कभी नहीं करना चाहिए) ॥५६॥

[शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥१॥]

[**हिन्दी**—जिस कुल में जामि[1] (स्त्री, पुत्रवधू, वहन, भानजी, कन्या आदि) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में ये शोक नहीं करतीं (प्रसन्न रहती हैं) वह कुल सर्वदा उन्नति करता है ॥१॥]

---

१. ''मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु 'नवोढादुहितृस्नुषाद्या जामयः' इत्याहतुः'' इति (म०मु०)। अमर-हेमचन्द्र हलायुध-मेदिनीकार विश्वादयःकोषकारास्तु यामिः (जामिः) 'स्वसृकुलस्त्रियोः' इत्याहुः। शाश्वतस्तु 'अत्र कुलबालिकायाञ्चेत्याह।

[जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ।।२।।]

[**हिन्दी**—जिस गृह को ये जामियाँ (स्त्री, पुत्रवधू, वहन, भानजी, कन्या आदि) अनादर पाकर शाप देती हैं, वह गृह कृत्या (अभिचारकर्म—मारण, मोहन उच्चाट-नादि) से हत के समान सब ओर से (धन, धान्य, परिवार आदि के सहित) नष्ट हो जाता है ॥२॥]

उत्सवादि में स्त्रियों की विशेष पूजनीयता—

[तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ।।३।।]

[**हिन्दी**—इस कारण उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को (कौमुदी आदि) सत्कार तथा (यज्ञोपवीत आदि) उत्सवों के अवसरों पर इन स्त्रियों का वस्त्र, भूषण और भोजनादि से विशेष आदर-सत्कार करना चाहिए ॥३॥]

दम्पति की सन्तुष्टि का फल—

[सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।।४।।]

[**हिन्दी**—जिस कुल में स्त्री से पति तथा पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती है; उस कुल में अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है ॥४॥]

स्त्री को अलङ्कारादि से सन्तुष्ट नहीं करने का फल—

[यदि हि स्त्री न रोचेतं पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः पुजनं न प्रवर्तते ।।५।।]

[**हिन्दी**—यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से रुचिकर नहीं होती है, तो वह पति को आनन्दित नहीं करती और हर्षित नहीं होने से वह पति गर्भाधान करने में प्रवृत्त (समर्थ) नहीं होता है ॥५॥]

[यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गतम् ।।६।।]

[**हिन्दी**—जब पति और स्त्री परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरे का अनुगामी होते हैं, तब (उस घर में) धर्म, अर्थ और काम (ये तीनों ही पुरुषार्थ) एकत्रित हो जाते हैं ॥६॥]

[स्त्रियां त्वरोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्या त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।७।।]

[**हिन्दी**—वस्त्र-भूषणादि के द्वारा स्त्री के प्रसन्न रहने पर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नी की सन्तुष्टता के कारण परपुरुष के सम्बन्ध नहीं होने से) सुशोभित होता है तथा उस (स्त्री) के (वस्त्र-भूषणादि से) प्रसन्न नहीं रहने पर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नी के प्रसन्न नहीं रहने के कारण परपुरुष संसर्ग आदि से) मलिन हो जाता है ॥७॥]

कुल के नीच बनाने वाले कर्म—

[कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ।।८।।]

[**हिन्दी**—('आसुर' आदि) शास्त्रनिन्दित विवाहों से, जातकर्मादि संस्कारों के लोप होने (नहीं करने) से, वेदाध्ययन छोड़ देने से और ब्राह्मणों के अतिक्रमण (आदर, सत्कार नहीं) करने से श्रेष्ठ कुल भी नीच हो जाता है ॥८॥]

[शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च याजनैश्च कृष्या राजोपसेवया ।।९।।]

[**हिन्दी**—चित्रकारी आदि शिल्पकला से, धन का (ब्याज आदि पर) व्यवहार करने से, केवल शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) की सन्तान से; गौ के (घोड़ा; रथ, हाथी आदि के भी) खरीदने-बेचने का व्यापार करने से, खेतों से, राजा की नौकरी से॥९॥]

[अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ।।१०।।]

[**हिन्दी**—यज्ञ करने के अनधिकारियों (पतित, शूद्रादि) से यज्ञ कराने से, श्रौतस्मार्त कर्मों में नास्तिक्य (वेद-स्मृति प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों में विश्वास नहीं करने) से और वेद-मन्त्र-हीन होने से अच्छे कुल भी नष्ट हो जाते हैं ॥१०॥]

कुल को उच्च बनाने वाले कर्म—

[मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ।।११।।]

[**हिन्दी**—वेद-मन्त्रों से (अर्थ-सहित वेद मन्त्रों के पठन-पाठन से) उन्नत, थोड़े धनवाले भी कुछ श्रेष्ठ कुलों की गणना में माने जाते हैं और बहुत प्रसिद्धि को प्राप्त करते हैं ॥११॥]

पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ।।५७।।

भाष्य—अतिक्रान्तं विवाहप्रकरणम् ।

कृतो विवाहो यस्मिन्नग्नौ तत्र **कुर्वीत गृह्यं कर्म,** अग्निसाध्यमष्टकापार्वणश्राद्धहोमादि गृह्यस्मृतिकारैरुक्तम् ।

पञ्चयज्ञा वक्ष्यमाणास्तेषां विधानमनुष्ठानम्, तस्मिन्नेवाग्नौ ।

''यद्यप्यविशेषेण पञ्चयज्ञविधानमित्युक्तं तथापि वैश्वदेवहोमोऽग्निसाध्यः, उदकतर्पणादौ तु न किञ्चिदग्निना कार्यम् । कथं तर्हि निर्देशोऽग्नौ पञ्चयज्ञविधानं कार्यमिति ।''

केचिदाहुरेकाऽपि सप्तमी विषयभेदाद्भिद्यते । तस्मात्पञ्चयज्ञैकदेशे पञ्चयज्ञशब्दः प्रयुक्तः ।

अथवा **पञ्चयज्ञविधानमि**त्यत्राग्नाविति न सम्बध्यते । वैश्वदेवहोमस्य पूर्वेणैवाग्न्यधिकरणस्य सिद्धत्वात् । एवं सम्बन्धः क्रियते—'गृही तु पञ्चयज्ञविधानं कुर्यात्'। **अग्नौ** तु **वैवाहिके**गृह्यकर्मपक्तिं **चान्वाहिकी**मग्नावित्यपेक्ष्यते ।

गृहशब्दो दारवचनः । **गृही** तु स कृतदारपरिग्रहो भार्याद्वितीय इदमिदं कुर्यादिति।

विवाहे चाग्निः कैश्चिद्गृह्यकारैररणिनिर्मन्थनादाधातव्य इत्युक्तम् । अपरैर्यतः कुतश्चिद्दिप्यमानमानीय होतव्यमिति ।

अनेन तस्मिन्गृह्यमिति वचनेन धारणमग्नेरर्थादुक्तं भवति ।

अत्र केचिदाहुः । ''शूद्रस्यापि वैवाहिकाग्निधारणमस्ति, तस्यापि पाकयज्ञाधिकारात् । न चात्र जातिविशेष उपात्तः, केवलं 'गृहीति' श्रुतम् । शूद्रोऽपि गृही, तस्यापि दारपरिग्रहस्योक्तत्वात् । एतदेवान्यत्र पठितं 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही' इति'' (याज्ञ० १.९७) ।

यत्रोच्यते । 'गृह्यं कर्म वैवाहिकेऽग्नाविति' श्रुतम् । न च 'गृह्यं' नाम किञ्चित्कर्मास्ति । तत्र गृह्यस्मृतिकारोक्तं 'गृह्यमिति' लक्षणया मन्तव्यम् । गृह्यकारैश्च त्रैवर्णिकानामेव कर्माम्नातं, न शूद्रस्य । ''उक्तानि वैतानिकानि गृह्यणि वक्ष्याम'' इति । उक्तानुकीर्तनस्य एतदेव प्रयोजनं 'येषामेव वैतानिकेष्वधिकारस्तेषामेव गृह्येष्विति', न पुनर्यथाऽन्यैर्व्याख्यातं तद्धर्मप्राप्त्यर्थम् । तादर्थ्ये हि विवक्षिते 'तस्याग्निहोत्रेण प्रादुष्करणहोमकालौ व्याख्याताविति' नावक्ष्यत् । न च गृहे भवं गृह्यमिति युक्तम् । शालावचनो गृहशब्दो दारवचनो वा । न तावत्कस्यचित्कर्मणः शालाऽधिकरणत्वेन विशेषतः समाम्नाता यद्गृह्यमित्यनूद्य गृहिणो विधीयेत । यदपि गृहसंस्कारकं वास्तुपरीक्षादि तदपि त्रैवर्णिकानामेव न शूद्रस्य । अथ दारवचनस्तत्रापि गृहीत्यनेनैव गतत्वान्न किञ्चित् ।

यदपि स्मृत्यन्तरं (याज्ञ० १.९७) ''कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु'' इति, अत्रापि किञ्चित्स्मार्तमिति

विशेषानुपादानादन्यसापेक्षतैव। न हि सर्वमग्नौ स्मार्तं कर्म सम्भवति। न च होम-विषयत्वे प्रमाणमस्ति। न ह्यवश्यमग्न्यधिकरण एव होमः।

तस्माद् गृह्यकारोक्तं **गृह्यमिति** वक्तव्यम्। एते हि स्मृति गृह्यकारविहितं कर्मानुवदतः। तथा च कुतः शूद्रस्याग्निपरिग्रहः।

किं च "श्रौतं वैतानिकाग्निषु" इति अपरं तत्राम्नायते, तत्र अवश्यमयं त्रैवर्णिकविषय एषितव्यः। स एव पूर्वत्र चातुर्वर्ण्यपर उत्तरत्र त्रैवर्णिकपर इत्येकस्य शब्दस्य तात्पर्यभेदोऽभ्युपगतः स्यात्। न चाभेदे सम्भवति भेदो न्याय्यः।

अन्वहं भवाऽऽ**न्वाहिकी**। प्रतिदिवसं यः पाको भुक्त्यर्थः स तस्मिन्नेवाग्नौ कर्तव्यः ॥५७॥

हिन्दी—(अब वैवाहिक कर्म का वर्णन समाप्त कर गृहस्थ के लिये कर्तव्य पञ्चमहायज्ञादियों में से पञ्चमहायज्ञ की कर्तव्यता को प्रथम कहते हैं—गृहस्थाश्रमी को चाहिये कि वह) विवाह-समय की अग्नि में विधिपूर्वक गृह्यकर्म (प्रातःसायं हवन आदि कर्म)–पञ्चमहायज्ञ (३।७०) और (प्रतिदिन कार्य में आने वाला) पाक भी उसी अग्नि से करे ॥५७॥

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्॥५८॥

भाष्य—पञ्चयज्ञविधेरधिकारनिर्देशोऽयम्।

सूना इव **सूनाः**। मांसविक्रयार्थपशुवधस्थानमापणादयो वा मांसस्योत्पादक-तयाऽनुष्ठीयमानाः, पापहेतवः। एवं चुल्यादयोऽपि पापहेतुत्वादध्यारोपेण सूनासमाः।

न हि तेषां शास्त्रप्रतिषेधः साक्षात्। नापि सामान्यः कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। न हि तापघाताय कस्यचिन्न स्पृहा स्यात्। न काचित्तत्साध्यक्रिया दृश्यते या वचनान्तरेण निषिद्धा। न चास्मादेव वचनात्प्रतिषेधानुमानम्, उत्तरेणैकवाक्यतावगमात्। प्रतिषेधपरत्वे वाक्यभेदः स्यात्। किं चैतत्पदार्थसाध्यामर्थक्रियां पदार्थान्तरेण साधयेत्तस्याः प्राप्तिः पञ्चयज्ञानाम्। न च लक्षणान्युक्तानि। येन तत्समानकार्यस्यान्यस्यापि प्रतिषेध उच्येत। यो वा परकीयमन्नमद्यात् नद्यादावुदकार्थं कुर्यात् तस्यैते यज्ञाः स्युः। यदि च चुल्ल्यादीनां निषेधोऽभिप्रेतः स्यात्तदा प्रतिषेधार्थीयमेव पदमधियीत, किमनुमानेन। स्वशब्दाद्धि बलीयसी प्रतिपत्तिः। प्रायश्चित्तार्थत्वे त्वेकादशेऽभिधानं युक्तम्। निषेधैरे-वाननुष्ठानमेव स्यात्। अपरिहार्यत्वाच्च चुल्ल्यादीनामशक्यो निषेधः। असति च निषेधे कुतः प्रायश्चित्तम्।

तस्मान्न दोषविघातार्थं पञ्चमहायज्ञाः। किं तर्हि नित्यसम्बन्धेषु चुल्ल्यादिष्वारोपि-

तासद्दोषनिष्कृत्यर्थतया नित्यार्थतया नित्यत्वं यज्ञानामाह।

बध्यते। आदिवर्णं वेत्येतद्दन्तोष्ठ्यं पठ्यते। हन्यते दुष्कृतेन, शरीरधनादिना नाश्यते। सम्बध्यते वा पापेन—परतन्त्रीकरणं वा बध्नातेरर्थः।

वाहयन्। स्वकार्ये व्यापारणं 'वाहनम्' यस्य चुल्ल्यादेर्यदौचित्यप्राप्तं स्वसाध्यं कार्यं तत्ताभिः कुर्वन्वाहयन्नित्युच्यते।

चुल्ली पाकस्थानं भ्राष्ट्रादि। **पेषणी** दृषदुपलो वा। **उपस्करो** गृहोपयोगि भाण्डं कुण्डकटाहादि। **कण्डनी** यया व्रीह्यादि कण्ड्यते। **कुम्भो** जलाधारः ॥५८॥

हिन्दी—गृहस्थ के लिये चुल्ही, चक्की (जाँता), झाडू, ओखली-मुसल और जल का घट—ये पाँच पाप के स्थान हैं, इन्हें व्यवहृत करता हुआ गृहस्थ पाप से बँधता (पापभागी होता) है ॥६८॥

पञ्चसूना के निवृत्यर्थ पञ्चमहायज्ञानुष्ठान—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥५९॥

भाष्य—**तासां** चुल्ल्यादीनां सूनानां निष्कृत्यर्थं तदुत्पन्नदोषनिर्यातनार्थं **क्रमेणा**-धिलेपनं चुल्ल्यास्तक्षणं पेषण्या इत्येवमादि'क्रमः'।

महर्षिभिः क्लृप्ताः कर्तव्यतया स्मृताः **पञ्च महायज्ञाः**। प्रत्यहं **गृहमेधिनां** गृहस्थानाम्। गृहमेधिशब्दो गृहस्थाश्रमे वर्तते।

प्रत्यहमिति। अनुपादानात्कालविशेषस्य, यावज्जीवमिति प्रतीयते। अतश्च नित्यत्वसिद्धिः।

महायज्ञा इति कर्मनामधेयमेतत् ॥५९॥

हिन्दी—उन सबों (३।६८) में उक्त पञ्चपापों) की निवृत्ति के लिये महर्षियों ने पञ्चमहायज्ञ करने का विधान गृहस्थाश्रमियों के लिये बतलाया है ॥५९॥

पञ्चमहायज्ञों का नामतः निर्देश—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो, बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥६०॥

भाष्य—एषामयं स्वरूपविधिः।

अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते येन 'जपो हुत' इत्यत्र वक्ष्यति (श्लो० ७४)। न च जपोऽपि शिष्यानपेक्षते। सामान्येन च श्रुतं 'स्वाध्यायेनर्षिभ्य' इत्यृणावेदनश्रुतौ। अत उभे अध्यापनाध्ययने यथासम्भवं **ब्रह्मयज्ञः**।

तर्पणमन्त्राद्येनोदकेन वेति वक्ष्यति (श्लो० ८२)।

होमो वक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्योऽग्नौ।

बलिः शिष्ट उलूखलादौ च। स **भौतः**। भूतादिदेवताऽस्येति **भौतः**। नामधेयमेतत्कर्मविशेषस्य। दिवाचारिभ्यो भूतेभ्य इति हि तत्र बलिहरणं भूतशब्देन विहितम्। साहचर्यात्सर्व एष कर्मगणो भूतयज्ञशब्देनोच्यते। यथा चातुर्मास्येष्वेकं हविर्वैश्वदेवमामिक्षा—कृत्स्नमेव च पर्व वैश्वदेवेन यजेतेति। बलिशब्दोऽनग्निहोमे वर्तते। देवेज्याबलिरिति स्मरन्ति।

अतिथीनां पूजनमाराधनं **नृयज्ञः**।

''ननु च स्वाध्यायः कथं 'यज्ञः'। न हि तत्र देवता इज्यन्ते नापि श्रूयन्ते। केवलं वेदाक्षराण्यविवक्षितार्थान्युच्चार्यन्ते। उक्तं चाम्नायशब्दाभ्यासे केचिदाहुरनर्थकानीति''।

सत्यम्। स्तुत्यां यज्ञशब्दो भाक्तः महच्छब्दश्च। अतिथिपूजायामपि भाक्तो यज्ञशब्दः यद्यप्यतिथेर्देवतात्वं सम्भवति तथाप्युत्पत्तौ भोजयेत्पूजयेदिति च श्रुतं नातिथिभ्यो यजेतेति। यथा 'पुरुषराजाय कर्म वा' इति।

एते पञ्चयज्ञा न युगपत्प्रयोज्याः, एकाधिकारासम्बन्धात्पृथगधिकारश्रवणात्। एकाधिकारसम्बन्धत्वे त्रिषु चतुर्षु वा कृतेषु न किञ्चित्कृतं स्याद्यावत्कृतं च न कृतम्। यथाऽऽग्नेयाग्नीषोमीयोपांशुयाजानां दर्शपूर्णमासयागानामेकद्व्यनुष्ठाने नाधिकारसिद्धिः। यथाऽत्रैव वैश्वदेवहोमे स्विष्टकृदन्तानां देवतानां कस्याश्चिदन्तराये न होमाधिकारनिर्वृत्तिः। एकैकस्य चात्राधिकारः श्रुतः। 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्' (श्लो० ७५)— 'दैवे च नित्ययुक्तः स्यादिति'। अधिकारपदानुषङ्गेण पृथक्प्रयोगः। आतिथ्ये चाधिकारान्तरं श्रुतं 'धन्यं यशस्यमिति'।

तत्र चत्वारः स्वाधीनाः, आतिथ्यं तु सन्निहितेऽतिथौ। न चातिथिर्निमन्त्रयितव्यः, आतिथ्याभावात्। स्वयमुपस्थितो ह्यतिथिर्भवतीति वक्ष्यामः। तस्मात्पञ्चानामन्यतमानुष्ठाने इतरेषामननुष्ठानाद्यदि नाम प्रत्यवेयान्न तु कृतमकृतं भवति। अतोऽनग्निकत्वाद्वैश्वदेवेऽनधिकृतस्य स्वाध्यायोदकतर्पणादौ भवत्येवाधिकारः। अग्निपरिग्रहस्य च स्मृत्यन्तरे कालान्तरस्यापि श्रुतत्वान्नावश्यं विवाहे एव परिग्रहः। एवं हि। स्मृतिः ''भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा'' इति।

''ननु चाकृतविवाहस्य दायकालमाधानं भविष्यति''।

भवति ह्येतदेवं यद्याधानविधिः स्वार्थः स्यात्। अग्न्यर्थं त्वाधानम्। अग्निश्च कर्मार्थः। कर्माणि च भार्याद्वितीयस्य, न केवलस्य, श्रुतानि। यदपि कैश्चिद्गृह्यकारैः

परमेष्ठिप्राणाग्निमाधाय श्राद्धं कुर्यादित्युक्तं भवति तदपि सभार्यस्यैव। स एवास्य दायकालः। न चानग्निकस्य श्राद्धं नास्ति। अनुपनीतस्यापि ह्येतद्विहितमन्यत्र स्वधानिनयानादिति। न च तस्याधानमस्ति, विदुषोऽधिकारादिदानीं चाविद्यत्वात्। श्राद्धं तु वचनान्निषादस्थपतिवद्यथाशक्ति कार्यमिति। पितृव्यादिनाग्निपरिग्रहे तु विदुषां सम्भवान्नावैद्यस्याधिकारः। अथ श्राद्धप्रकरण एवाग्न्याधानं विहितं तदा तदङ्गत्वेनाधाय निष्पन्ने श्राद्धे परित्यागो भविष्यति। केचित्तु स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति "लौकिकेऽप्यग्नौ वैश्वदेवहोमः कर्तव्यः"। शुष्कान्नैरपरे ॥६०॥

हिन्दी—वेद का अध्ययन और अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, हवन करना 'देवयज्ञ' है, बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है तथा अतिथियों का भोजन आदि से सत्कार करना 'नृयज्ञ' है ॥६०॥

पञ्चमहायज्ञ से पञ्चपापमुक्ति—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥६१॥

भाष्य—नित्यत्वमत्र विधीयते। अन्यदनूद्यते।

विगुणा अप्येते यथाशक्ति कर्तव्याः। एतदपि नित्यत्वात्प्राप्तमेव। तस्माद्यथासम्भवं **शक्तित** इति। आद्यादित्वात्तसिः।

हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव, णिजर्थस्याविवक्षितत्वात्। अथवा हननं हा, सम्पदादित्वात्क्विप्; तामापयतीति ण्यत्, आप्नोतेः कर्तरि क्विप्, तदन्तात्प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच्। **न हापयति** न त्यजेदित्यर्थः।

स्वगृहे वसन्नवश्यभाविनीषु सूनासु न तत्पापेन सम्बध्यत इति प्रशंसा ॥६१॥

हिन्दी—यथाशक्ति इन पञ्चमहायज्ञों (३।७०) को नहीं छोड़ने वाला गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी द्विज 'पञ्चसूना' 'पाँचपाप' ३।६८) के दोषों से युक्त नहीं होता है ॥६१॥

देवता अतिथ्यादि को सन्तुष्ट नहीं करने से निन्दा—

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥६२॥

भाष्य—अननुष्ठाननिन्दया प्रकृतविधिस्तुतिः।

केचिच्चतुर्थ्या पठन्ति "देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मने तथा न निर्वपति पञ्चभ्यः" इति।

निर्वापो ह्यत्र दानं, न तादर्थ्योपकल्पनामात्रम् । तत्सम्बन्धेन प्रधानत्वाच्चतुर्थी युक्ता । एतेभ्यो यः प्रत्यहं न **ददात्युच्छ्वसन्नपि** प्राणन्नपि श्वासप्रश्वासवानपि न **जीवति** मृत एव, जीवितफलाभावात् ।

भृत्याश्चात्र "वृद्धौ तु मातापितराविति" (मनु० ११।१०) श्लोकनिर्दिष्टा वेदितव्याः, न दासाः, कर्मनिमित्तत्वात्तेभ्यो दानस्य । अथवा गर्भदासादयो वार्द्धके कर्मस्वशक्ता अपि नियमतो लक्ष्यन्ते । भरणं जीर्णगवादीनामवश्यमिति विभागे वक्ष्यामः । उक्तं च गौतमेन "भर्तव्यस्तेन क्षीणवृत्तिः" ।

देवताभ्यश्च निर्वापोऽग्नौ होमः, स्थण्डिले च बलिहरणं तु वैश्वदेवेभ्यो दर्शपूर्णमासदेवताभ्य इव वा "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" इति सम्बन्धादन्यः को वाऽस्ति निर्वापः । अतो देवताग्रहणेन गृहीतत्वाद्भूतानाम् पृथगुपादानम् ।

आत्मग्रहणं दृष्टान्तः । यथाऽऽत्मनो भोजनेन विना नास्ति जीवितं तदर्थमन्नोपयोगोऽवश्यम्भावी जीवितस्येष्टविषयत्वात्सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति विधेश्च, एवं देवतादिभ्योऽपीति ॥६२॥

हिन्दी—जो गृहस्थाश्रमी देवताओं (तथा भूतों), अतिथियों, माता-पिता आदि वृद्धजनों (तथा सेवकों), पितरों और अपने को अन्नादि से सन्तुष्ट नहीं करता है, वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है (मरे हुए के समान है) ॥६२॥

मतान्तर से पञ्चमहायज्ञ—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ।।६३।।

भाष्य—एतैः शब्दैः कस्याञ्चिद्वेदशाखायामेतेषां विधानम् । अतः श्रुतिमूलतां पञ्चयज्ञविधानस्य दर्शयितुं तत्प्रसिद्ध्या पुनर्निर्दिशति ।

यश्चाहुतादिशब्दैरुद्दिश्य तत्प्रकरणे वा कश्चिद्धर्मो विहित इह नोक्तः सोऽपि ग्रहीतव्य इति संज्ञान्तरनिर्देशे द्वितीयं प्रयोजनम् । यथा ब्रह्मयज्ञश्राद्धोद्वाहपरिक्रियेत्यादि ॥६३॥

हिन्दी—अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित—इन्हें अन्य मुनि लोग 'पञ्चमहायज्ञ कहते हैं ॥६३॥

अहुत आदि की व्याख्या—

जपो'ऽहुतो', 'हुतो' होमः, 'प्रहुतो' भौतिको बलिः ।
'ब्राह्म्यं हुतं' द्विजाग्र्यार्चा, 'प्राशितं' पितृतर्पणम् ।।६४।।

भाष्य—योऽ**यमहुतो** नाम यज्ञ उक्त: स **जपो** वेदितव्य:। "स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् इति" श्रवणाद्वेदाध्ययनं जपार्थ:। यद्वा मानसे व्यापारे स्मरणम्। उभयत्रापि जपति: पठ्यते—व्यक्तायां वाचि मानसे चेति।

अग्नौ होमो **हुतम्**।

भूतबलि: **प्रहुतम्**। यद्यप्ययं होमस्तथाप्यग्नौ बाहुल्येन होमानां प्रसिद्धेर्भूतयज्ञो न होम इत्याशङ्कायां प्रहुत इत्युक्तम्। प्रकर्षेणासौ होम इति स्तुत्या।

द्विजाग्र्याणां ब्राह्मणानामर्चा **ब्राह्म्यं हुतम्** आतिथ्यकर्म **द्विजाग्र्यार्चा** ॥६४॥

हिन्दी—जप करना 'अहुत', हवन करना 'हुत', भूतबलि देना 'प्रहुत', ब्राह्मणपूजा करना 'ब्राह्महुत' और पितृतर्पण करना 'प्राशित' कहा गया है ॥६४॥

असमर्थावस्था में भी ब्रह्मयज्ञ तथा हवन आवश्यक—

स्वाध्याये नित्ययुक्त: स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्तीदं चराचरम्॥६५॥

भाष्य—यदुक्तं पञ्चसु महायज्ञेष्वेकैकस्मिन्पृथगधिकारो न समुदाय एकोऽधिकार, इति तदनेन प्रकटीकरोति।

यदा दारिद्र्यादिदोषादन्यतो वा कारणात्कथञ्चिदसम्पत्तौ नातिथ्यादिपूजा घटेत तत: **स्वाध्याये** नित्ययुक्तेन भवितव्यम्। **दैवे कर्मणि**। वैश्वदेवदेवताभ्योऽग्नौ होमो 'दैवं कर्म'। भूतयज्ञपितृयज्ञयो: सत्यपि 'दैवत्वे', प्रकरणादग्नावेव होमो 'दैव'मुच्यते।

अत्र अर्थवादमाह। **दैवे कर्मणि युक्त:** तत्परो। **बिभर्ति** धारयति। **चराचरं** स्थावरं जङ्गमं च। सर्वस्य जगत: स्थितेर्हेतुर्भवतीत्यर्थ: ॥६५॥

कथं पुनरग्न्याहुत्या सर्वस्य जगत: स्थितिर्भवतीत्यत आह।

हिन्दी—(निर्धनता आदि के कारण) अतिथि-भोजन आदि कराने में असमर्थ द्विज को इस संसार में स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञरूप वेदपाठ) और दैवकर्म (हवन) अवश्य करना चाहिए; क्योंकि दैवकर्म (हवन) करता हुआ द्विज इस चराचर जगत को धारण (पोषण) करता है ॥६५॥

हवन से वृष्टि आदि—

अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा:॥६६॥

भाष्य—**अग्नौ** यजमानेन **प्रास्ता** क्षिप्ताऽऽ**हुतिर्हू**यमानं चरुपुरोडाशाद्युच्यते।

आदित्यमदृश्येन रूपेण प्राप्नोति । सर्वरसानामाहर्ताऽऽदित्योऽत आहुतिरसस्यादित्यप्राप्तिरुच्यते । अतः स रस आदित्यरश्मिषु कालेन परिपक्वो वृष्टिरूपेण जायते । **ततोऽन्नं** व्रीह्यादि । ततः **प्रजाः** सर्वप्राणिनः ।

एवमग्नौ जुह्वत्सर्वजगदनुग्रहे वर्तते यजमानः ।

पूर्वस्य विधेः शेषोऽयं, न पुनर्यथाश्रुतार्थनिष्ठः । तत्त्वे हि वृष्टिकामस्याधिकारः स्यात् । न च तच्छ्रुतम् । प्रकृतशेषतयाऽन्वयसम्भवे न कल्पनाया अवसरः ॥६६॥

हिन्दी—विधिपूर्वक अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त करती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजायें होती हैं (इस प्रकार प्रजाओं की उत्पत्ति का मूल कारण हवन ही है । अतः प्रतिदिन विधिपूर्वक हवन करना चाहिए) ॥६६॥

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा—

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते इतराश्रमाः ।।६७।।

भाष्य—अपरेण प्रकारेण महायज्ञानामवश्यकर्तव्यतां दर्शयति ।

वायुः प्राणस्तमा**श्रित्य सर्वे जीवन्ति** । न ह्यप्राणस्य जीवितमस्ति, प्राणधारणमेव 'जीवनम्' ।

जन्तुशब्दः प्राणिमात्रवचनः ।

सर्वग्रहणं देवर्षीणामप्यतिशययुक्तानां वाय्वायत्तमेव जीवनम् ।

एवं गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणाम् । अतः सर्वोपजीवनीयेन भवितव्यमिति विध्यर्थः ।

इतरग्रहणाद्यद्यपि गृहस्थादन्य आश्रमिणः प्रतीयन्ते, तथापि न गृहस्थप्रतिषेधार्थमेतत् । स्नातकस्य हि विशेषेणातिथ्यादिदानं विहितम् । तस्मादितरग्रहणं गृहस्थाश्रमतुल्यतार्थम् । न च श्रूयते नात्मनात्मनि वर्तन्ते शरीरकुटुम्बस्थितिं प्राप्नुवन्ति । इतरे च त आश्रमा **इतराश्रमा** इति समासः ॥६७॥

हिन्दी—जिस प्रकार प्राण-वायु का आश्रय कर सब जीव जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रयकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम) चलते हैं ॥६७॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृहम् ।।६८।।

भाष्य—यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेन वेदार्थव्याख्यानजन्येना**न्नेन** च **धार्यन्त**

उपक्रियन्ते **गृहस्थेन तस्माज्ज्येष्ठः** श्रेष्ठ **आश्रमो गृहम्**।

गृहीति पाठे बहुव्रीहिः, गृहमिति पाठे विशेषणसमासो, 'ज्येष्ठाश्रम' इति।

अत्रापि गृहस्थैरेवेत्यौचित्यानुवादो, न वानप्रस्थादीनामध्यापनादिप्रतिषेधः। वानप्रस्थस्य तावद्विहितमेतत 'एतानेव महायज्ञान्निर्वपेदिति'। प्रव्रजितस्य यद्यपि 'समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः—अनारम्भी (गौतम ३।२४-२५)' इत्यनुग्रहः प्रतिषिद्धस्तथापि वेदार्थव्याख्यानं भिक्षुशास्त्रे विहितम्। ज्ञानवैराग्यभावनाभ्यासातिशयविधानाच्च तयोर्नातिप्रयत्नो वेदार्थव्याख्याने। ब्रह्मचारिणस्स्वार्थलोपान्नाध्यापकत्वं, भैक्षवृत्त्युपदेशाच्च कृतोऽन्नदानम्। अतो गृहस्थानामेव प्रायेण तत्सम्भवादेवमुक्तं गृहस्थैरेव ॥६८॥

हिन्दी—जिस कारण से तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम) वाले गृहस्थाश्रमी से ही ज्ञान (वेदाध्ययन) तथा अन्न को प्राप्त करते हैं, इस कारण गृहस्थाश्रमी ही सबसे श्रेष्ठ हैं ॥६८॥

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छताऽत्यन्तं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥६९॥

भाष्य—स गृहाश्रमः। **प्रयत्नेन संधार्यो**ऽनुष्ठेयोऽक्षयस्वर्गकामेनेह **च सुखमिच्छता। अत्यन्तं** यस्य सुखस्यान्तो नास्ति। **अत्यन्त**शब्दो नित्यतां गमयति। **य** आश्रमो**ऽधार्यो**ऽशक्यो धारयितुं **दुर्बलेन्द्रियैः**।

एतदुक्तं भवति। यतः स्त्रीसम्भोगसुसंस्कृतभोजनादि गृहस्थस्यावश्यम्भावि ततश्चेन्द्रियाणां विषयसक्तौ दोषः—अत उच्यते—प्रयत्नेन आश्रमान्तरेभ्योधारयितव्यः। अत्रापि महानिन्द्रियसंयमः। अनृतौ न गन्तव्यं परदारा न गन्तव्याः शेषान्नं भोक्तव्यम्। विषयसन्निधाने यो नियमः स दुष्करः।

स्वर्गमक्षयमिति। नानेन सर्वेषां गृहस्थकर्मणां स्वर्गफलतोच्यते, केषाञ्चिन्नित्यत्वात्केषाञ्चित्फलान्तरश्रवणात्। येऽप्यश्रुतफलाः स्वर्गफलतया कल्प्यन्ते तेषामपि केवलानामनुवादे न कश्चिद्विशेषणे हेतुः। तस्माद्विहिताभिप्रेतफलानुवादोऽयम्। न नाधिकारान्तरमिदम्। तेषामेव यावज्जीविकं स्वर्गकामस्येति च शक्यं वक्तुम्। सुखं चेहेच्छतेत्यविधेयेन तुल्यत्वावगमात्। न हीह सुखकामेनेत्येतच्छक्यं कर्मफलतया ज्ञातुं, विशेषस्यानिर्देशात्। सर्वा हि प्रीतिर्ग्रामपुत्रादिलाभैर्विशेषैरवच्छिन्ना प्रतीयते। अनवच्छेदेन प्रीतिमात्रं चेत्स्वर्ग एव। न च तस्यैहिकत्वम्। तस्माद्दृष्टसुखाप्तिकामानुवादोऽयम्। अनिकेता ह्यन्य आश्रमिणो वृक्षमूलनिकेतनाः परगृहवासिनो दुःखमासते। तस्मादयं तावदनुवादः तत्तुल्यतयाऽयमप्यनुवाद एव ॥६९॥

हिन्दी—अक्षय स्वर्ग तथा ऐहिक सुख (इस लोक में होने वाला स्त्री-सम्भोग

एवं धनादि ऐश्वर्य भोगरूप सुख) चाहने वाले मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करना चाहिए, दुर्बल (अस्थिर मन आदि) इन्द्रिय वाले व्यक्ति के द्वारा यह गृहस्थाश्रम धारण करने योग्य नहीं है ॥६९॥

ऋषि आदि की पूजा की कर्तव्यता—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ।।७०।।

भाष्य—एते **कुटुम्बिभ्यो** गृहिभ्यः सकाशादर्थयन्ते आदित्सन्ति । आत्मोपकारलिप्साऽऽशासनमाकाङ्क्षा । अतस्तेभ्यो देवादिभ्यः **कार्यं** कर्तव्यं विहितहोमादि **विजानता** शास्त्रस्थितिम् ।

'कुटुम्बं' दाराः ।

प्राकृतपुरुषेणापि या महायासोपनिबद्धा सा न युक्ता विफलीकर्तुं किं पुनर्देवतान्तुतिः ॥७०॥

हिन्दी—ऋषि, पितर (पूर्वज), देवता, भूत और अतिथि—ये लोग गृहस्थ से (अपनी सन्तुष्टि की) आशा दखते हैं। अतः शास्त्रज्ञानी को उसके लिये यह (३।७१) करना चाहिए ॥७०॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄञ्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ।।७१।।

भाष्य—"स्वाध्यायमधीयीत" इति य एवार्थः स एव स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् इति । यद्भवति श्रद्धादरेण पाद्यार्घमाल्यानुलेपनेन तदर्चोच्यते । स्तुतिवचनं चेदम् । न चोभयोरपि स्वाध्यायऋषिपूजयोः करणम् । अग्न्यादिदेवतास्तावका मन्त्रा ऋषीनभिष्टुवन्ति । तस्मात्प्रशंसामात्रम् **ऋषीन्स्वाध्यायेनार्चयेदिति** ।

अथवा नेह मरीच्यादय ऋषयोऽभिप्रेताः, किं तर्हि वेदा एव । स्वाध्यायशब्दश्च क्रियाशब्दो नात्र वेदवचनो यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति । तेनैतदुक्तं भवति 'अध्ययनेन वेदान् पूजयेत्' यथाविध्यभ्यस्येत् । अन्यथा पूजाया असम्भवात् । अत्राप्यर्चा भाक्त एव । न हि होमे देवता प्रधाना, कारकं हि देवतेति ।

पितॄन् श्राद्धेन । अत्र यथाश्रुत एव नियोगः । स च श्राद्धविधौ निर्णेष्यते ।

नॄन् अतिथिभिक्षुप्रभृतीन् अर्चयेत्, अर्चापूर्वकमन्नं तेभ्यो दद्यादित्यर्थः ॥७१॥

हिन्दी—वेदपाठ से ऋषियों की, विधिपूर्वक हवन से देवताओं की, श्राद्धों से पितरों की, अन्न से मनुष्यों (अतिथियों) की और बलिकर्म से भूतों की पूजा (तृप्ति-सन्तुष्टि) करनी चाहिए ॥७१॥

नित्यश्राद्ध—

दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।।७२।।

भाष्य—दद्यात् कुर्यात्।

अहरहः प्रतिदिवसम्।

श्राद्धम्। नाम्ना धर्मातिदेशः। श्राद्धं नाम पित्र्यं कर्मामावास्यायां विहितम्। तदीयेतिकर्तव्यता श्राद्धमित्यनेन नाम्नाऽतिदिश्यते।

अन्नाद्येनेति। 'तिलैर्व्रीहियवैः' (मनु० ३।२६७) इत्यादेरनुवादोऽयम्। उत्तरत्र विवक्षितार्थः।

उदकेनेति। **पयः** क्षीरम्।।७२।।

हिन्दी—(गृहस्थाश्रमी) अन्नादि (तिल, ब्रीही, धान्य) से या जल से दूध, मूल और फलों से पितरों को सन्तुष्ट करता हुआ (यथासम्भव) प्रतिदिन श्राद्ध करे।।७२।।

पितृश्राद्ध में ब्राह्मण भोजन—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्।।७३।।

भाष्य—श्राद्धशब्देन विधानात्सर्वस्मिंस्तद्विधाने प्राप्ते कश्चिदितिकर्तव्यताभागो निवर्त्यते **न चैवात्राशयेत्कञ्चित्**। नात्रान्वाहिके श्राद्धे वैश्वदेवं प्रति विश्वान्देवानुद्दिश्य द्विजभोजनम्।

अत्र केचिदाहुः। प्राप्ते भोजन **आशयेदिति** पुनर्वचनमपूर्वत्वमस्य दर्शयति। तेनैतावदेवैतच्छ्राद्धं यत्पितृनुद्दिश्य ब्राह्मण एको भोज्यते, न त्वन्या काचिदर्घपात्रादि-होमाद्येतिकर्तव्यताऽस्ति। 'ब्रह्मचर्यं' 'स्वाध्यायनिषेध' इत्येवमादि न भवति।

एकमप्याशयेद्विप्रम्। त्रयाणां नियमादेकैकमुभयत्रेत्यस्याविधित्वादप्राप्त एको विधीयते। एकमपि भोजयेत्, सति सम्भवे बहूनपि।

पित्रर्थं पितृतृप्त्यर्थम्।

पाञ्चयज्ञिकम्। पञ्चयज्ञभवं पाञ्चयज्ञिकं, तदन्तर्गतम्। **पाञ्चयज्ञिक**शब्दः श्राद्धे प्रयुक्तः। न ह्येतत् पाञ्चयज्ञिकं तर्पणम्। तेन तर्पणभोजनयोः समुच्चयः। अस्य तु विकल्पो भविष्यति—'यदेव तर्पयत्यद्भिरिति'।।७३।।

हिन्दी—पञ्चयज्ञ में पितरों के उद्देश्य से (अधिक सम्भव नहीं होने पर) कम से कम एक भी ब्राह्मण को भोजन करावे, वैश्वदेव के उद्देश्य से ब्राह्मण को भोजन नहीं भी करावे (तो कोई हानि नहीं)।।७३।।

बलिवैश्वदेव कर्म—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ।।७४।।

भाष्य—विश्वेदेवार्थो **वैश्वदेवः** पाक उच्यते । सर्वार्थो विश्वदेवशब्दोऽपि सम्प्रदान-मात्रोपलक्षणार्थः । तेनातिथ्याद्यर्थताऽप्युक्ता भवति ।

सिद्धस्य होम**माभ्यो** वक्ष्यमाणाभ्यो **देवताभ्यः कुर्यात्** । सिद्धशब्देन—'देवतोद्देशेन देवस्यत्वेति मन्त्रवान्निर्वापो न कर्तव्य' इति दर्शयति, केवलं सर्वार्थे निष्पन्नपाके होमादि कर्तव्यमिति विध्यर्थः ।

गृह्ये । यथाविधिहोमादिकरणनिर्देशः । **विधिपूर्वकम्**—समाचारप्राप्तां परि-समूहनपर्युक्षणादिरूपामितिकर्तव्यतामाह ।

ब्राह्मणशब्दस्त्रैवर्णिकाधिकारप्रदर्शनार्थः ।

अन्वहं नित्यमित्यर्थः ।

देवताग्रहणं स्वाहाकारप्राप्त्यर्थम् । षष्ठीनिर्देशादग्नेरिदमिति प्रयोगः स्यात् । देवताशब्दे तु—स्वाहाकारेण वा देवेभ्यो हविः सम्प्रदीयत इति । याज्यान्ते पुन-र्वषट्कारस्य विधानात्, स्मार्तहोमेत्वभावः । स्वाहाकारस्तु सर्वत्र । तस्मिश्च सत्यग्नये स्वाहेति प्रयोगः ।।७४।।

हिन्दी—ब्राह्मण (यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द से द्विजमात्र विवक्षित है) गार्हस्थ्य अग्नि में सिद्ध (पकाये हुए) वैश्वदेव सर्वदेव के निमित्त अन्न का विधिपूर्वक प्रतिदिन (३।७५-७६ में वक्ष्यमाण) देवताओं के उद्देश्य से हवन करे—।।७४।।

बलिवैश्वदेव कर्म के देवता—

अग्ने सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ।।७५।।

भाष्य—आदावित्यनुवादः । पाठक्रमेणैवाग्नेरादौ सिद्धत्वात्ते पृथगाहुती । तयोश्च समस्तयोरग्नीषोमाभ्यामिति, विश्वेभ्यो देवेभ्य इति प्रयोगः । एकैवाहुतिर्धन्वन्तरये स्वाहा ।।७५।।

हिन्दी—पहले अग्नि के उद्देश्य से, फिर सोम के उद्देश्य से, फिर सम्मिलित उन दोनों (अग्नि और सोम) के उद्देश्य से, फिर धन्वन्तरि के उद्देश्य से–।।७५।।

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ।।७६।।

भाष्य—सह द्यावापृथिव्योः द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेति।

तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः। **स्विष्टकृदिति** गुणपदम्। अग्निश्च गुणीभूतः स्वतः। स्मृत्यन्तरेऽग्नये स्विष्टकृत इति वचनात्, श्रुतौ सर्वहोमेष्वेव चाम्नानात्। **अन्तत** इति पाठात्सिद्धे वचनं—स्मृत्यन्तरेऽधिकानामाहुतीनामाम्नानात्सति समुच्चये प्राक् स्विष्टकृत आवापः कर्तव्य इति—दर्शयितुम्।

"ननु चैकत्वाद्धोमस्य देवताविकल्पो युक्तः"।

कुतः पुनरेकत्वं होमस्य। इयमेव होमानामुत्पत्तिः "अग्नेः सोमस्य च" इत्यादि। तत्र चोत्पत्तावेव देवताविशेषेणावरुद्धत्वाद्भिन्ना एव होमाः प्रतीयन्ते ॥७६॥

हिन्दी—फिर क्रमशः कुहू, अनुमति, प्रजापति द्यावापृथ्वी के उद्देश्य से और अन्त में स्विष्टकृत् के उद्देश्य से हवन करे ॥७६॥

विमर्श—'स्वाहाकारप्रदानहोमः' इस कात्यायनवचन के अनुसार क्रमशः अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, धन्वतरये स्वाहा, कुह्वै स्वाहा'....... मन्त्रों को उच्चारण करते हुए हवन करना चाहिए।

बलि को देने की विधि—

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ।।७७।।

भाष्य—सम्यगनन्यचित्ततया देवताध्यानपरः।

एवमेताभ्यो देवताभ्योऽग्नौ हुत्वा ततः सर्वासु दिक्षु यथासंख्यं **प्रदक्षिणम्**। प्रथमं प्राच्यां ततो दक्षिणस्यां इत्येष प्रदक्षिणावर्तः।

इन्द्रः अन्तकः अपतिः इन्दुः—प्रतिदिशम्।

अपरश्चाह—"अहविर्भागिन्दुरिति। यदि नैतेन शब्देन बलिहरणं स्यात्कथमिन्दोर्हविर्भाक्त्वम्। बलिहरणं च होम एवेति व्याख्यातम्"।

वृत्तभङ्गभयाच्चात्र न शब्दस्य रूपविवक्षेति स्मृत्यन्तरोपात्तैरेव शब्दैरुद्देशः कर्तव्यः। **सानुगेभ्यः**। 'अनुगा' अनुचरास्तत्पुरुषाः। तथा चेन्द्रपुरुषेभ्य इत्यादि प्रयोगः ॥७७॥

हिन्दी—इस तरह सम्यक् प्रकार (देवताओं का ध्यान करते हुए अनन्यचित्त होकर) हवनकर पुरुषों के सहित इन्द्र, अन्तक (यम), अप्पति (वरुण) और इन्दु (सोम) के लिये पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से (पूर्व, दक्षिण पश्चिम और उत्तर–इस क्रम से) बलि दे—॥७७॥

विमर्श—पूर्वदिशा में–इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः, दक्षिणदिशा में–यमाय नमः, यमुपुरुषेभ्यो नमः, पश्चिमदिशा में–वरुणाय नमः वरुणपुरुषेभ्यो नमः और उत्तरदिशा में–सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः—इन मन्त्रों का उच्चारणकर प्रत्येक के लिये पूर्वादि दिशाओं में बलि देनी चाहिए। यद्यपि 'इन्द्रान्तकाप्पलीन्दुभ्यः' इस अनुवचन के अनुसार 'इन्द्र, अन्तक, अप्पति और इन्दु' शब्दों के अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर 'इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः, अन्तकाय नमः, अन्तकपुरुषेभ्यो नमः, मन्त्रों को उच्चारणकर पूर्वादि दिशाओं में बलि देना युक्तियुक्त है और 'अन्तक, अप्पति तथा इन्दु' का पर्याय क्रमशः 'यम, वरुण तथा सोम' शब्द का हवनमन्त्र में उच्चारण करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता तथापि 'यमाय यमपुरुषेभ्यो, वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः, सोमाय सोमपुरुषेभ्यः' इति प्रतिदिशम् (अ०खं०२) इस वह्वृच गृह्योक्त वचन के अनुसार 'अन्तक, अप्पति तथा इन्दु' पर्यायभूत 'यम, वरुण तथा सोम' शब्दों को ग्रहण करना शास्त्रविरुद्ध नहीं है।

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥७८॥

भाष्य—अत्रेतिकरणः रूपविवक्षार्थः।

अप्स्वत्यधिकरणम्। **अद्भ्य** इति देवतानिर्देशः।

वनस्पतिभ्य इति मुसलोलूखले। द्वन्द्वैकवद्भावेन विकल्पितमाधारद्वयम्। निर्देशे गुणवृत्त्या प्रधानभूताया आहुतेरावृत्तिर्युक्ता'। न च मुसलोलूखलस्यैकीकृतस्याहुतिसम्बन्धः शक्यः कर्तुं, पृथक्त्वस्य तत्राप्युपलम्भात्। न हि क्षीरोदकवत् अनयोर्व्यामिश्रणसम्भवः। तत्र यद्युलूखले क्रियते नेतरत्र होमः कृतः, अथोलूखले न मुसले। न च भागश आहुतिः सम्भवति नियतपरिमाणत्वात्। द्वन्द्वनिर्देशेऽत्र संयुक्तयोरन्यतरत्र होमो युक्तः॥७८॥

हिन्दी—द्वारपर मरुत् (वायु) के लिये, जल में अप् (जल) के लिये, ओखलिमूसलपर वनस्पतियों के लिये (बलि) दे—॥७८॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥७९॥

भाष्य—**उच्छीर्षकं** प्रसिद्धदेवताशरणं शीर्षस्थानं, तत्र **श्रियै** बलिं **कुर्यात्**। **पादतः** अधोभागे गृहस्थ **भद्रकाल्यै**। तस्या अपि स्थानं द्वारस्य पूर्वभागे।

अन्ये **उच्छीर्षकं** गृहस्थशयनस्य शिरोभागमाहुः, पादौ चास्याधोभागम्। तेन खट्वादावयं होमो, भूप्रदेशे वा गृहस्थशयनस्थाने।

ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्याम् । सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे पृथगेते आहुती, 'ब्रह्मणे' 'वास्तोष्पतय' इति च । यत्र तूभयदेवतात्वमग्नीषोमवत्तत्र सहग्रहणं समस्तग्रहणं वा करोति, 'तयोश्चैव समस्तयोः' (८५) 'सह द्यावापृथिव्योश्चेति' (८६) प्रसिद्धसाहचर्यात् ।

'वास्तु'गृहं, **तन्मध्ये** ॥७९॥

हिन्दी—वास्तुपुरुष के मस्तकप्रदेश पर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में श्री के लिये, उसी (वास्तुपुरुष) के पैर की ओर दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण) में भद्रकाली के लिये, वास्तु के मध्य में ब्रह्मा तथा वास्तोष्पति के लिये बलि दे ॥७९॥

विमर्श—किसी-किसी आचार्य का मत है कि 'उच्छीर्षक' शब्द से गृहशय्या विवक्षित है । अतः गृहशय्या के मस्तकप्रदेश तथा पादप्रदेश की ओर क्रमशः श्री और भद्रकाली के लिये बलि देनी चाहिये ।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ।।८०।।

भाष्य—**च**शब्दादेकैवेयमाहुतिः । **विश्वेभ्यो देवेभ्य** इति गृहाकाशे, गृहान्निष्क्रम्य वा । दिवा दिवाचारिभ्यः, नक्तं नक्तंचारिभ्यः । भूतेभ्य इत्यनुषज्यते ।

केचिदेते आहुती सायंप्रातर्विभागेनाहुर्दिवाचरेभ्य इति ।

तदयुक्तम् । सायममन्त्रहोमं वक्ष्यति ।

''एतेन मन्त्रप्रतिषेधेन शब्दोद्देश्यता मा भून्मानसस्तूद्देशः केन निवार्यते । न च तेन विना होमसिद्धिः'' ।

एतदेव तु वक्तव्यं कुतोऽयं विभागावगमः ।

गृह्यकारैरेवमुक्तमिति चेदस्तु ॥८०॥

हिन्दी—गृह के ऊपर (आकाश) की ओर विश्वेदेवों के लिये दिवाचर (दिन में विचरण करने वाले) जीवों के लिये तथा नक्तञ्चारी (रात्रि में विचरण करने वाले) जीवों के लिये बलि दे—॥८०॥

विमर्श—'दिवाचारिभ्यो दिवा' (अ०खं० २) इस बह्वृच-वचन के अनुसार दिन में दिवाचारी जीवों के लिए तथा रात्रि में नक्तञ्चर जीवों के लिए बलि देवे ।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वान्नभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ।।८१।।

भाष्य—पूर्वयोराहुत्योः शेषोऽयम् । आधारविधानार्थमाद्योऽर्धः श्लोकः ।

आवासकस्योपरि य आवासस्त**त्पृष्ठवास्तु** । एकशालाया अप्युपरिभागः । तत्र

बलिं कुर्वीत दिवाचारिभ्यो नक्तंचारिभ्यश्च।

सर्वान्नभूतये। तादर्थ्ये चतुर्थी, न सम्प्रदाने। होमाद्यश्रुतत्वाद्बलिशब्दस्य पूर्वशेषत्वादाधारापेक्षत्वाच्च पूर्वयोराहुत्योः। न क्वचिदपि वैश्वदेवे 'सर्वान्नभूति'र्देवतात्वेन स्मृत्यन्तरे श्रुता। **तस्मा**दयमस्यार्थः। 'सर्वेषामन्नानां क्लृप्त्यर्थमेतच्च कर्तव्यं, एतस्मिन्बलिहरणे कृते सर्वाण्यन्नानि भवन्ति'। अवयवप्रसिद्ध्या त्वर्थावगमे उपपद्यमाने समुदायार्थकल्पनमयुक्तम्। देवतापेक्षया वाऽदृष्टः कश्चिदर्थः कल्पयितव्यः।

बलिशेषम्। शेषग्रहणात्पात्रे समुद्धृत्य ततो होमः कर्तव्यः, न तु स्थालीस्थादेव बलिदानानि ग्रहीतव्यानि।

दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि, तदभिमुख इति यावत्।

सर्वं यावन्मात्रं गृहीतम्॥८१॥

हिन्दी—मकान के ऊपरी छत या बलि देने वाले के पीछे की तरफ भूमि पर सर्वात्मक जीव के लिये बलि देवे तथा (इन बलियों को देने के बाद) बचे हुए सब अन्न को दक्षिण दिशा में पितरों के लिये स्वधा बलि देवे॥८१॥

विमर्श—पितरों के अपसव्य (२।६३) होकर 'स्वधान्ते[१]' वाक्य का (ॐपितृभ्यः स्वधा' इस प्रकार) उच्चारण कर बलि देना चाहिये।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वयसाञ्च कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥८२॥

भाष्य—अन्नं पात्रे समुद्धृत्य श्वादीनामुपकाराय भुवि निःक्षिपेत्।

पापरोगिणः कुष्ठिक्षय्यादयः।

वयांसि पक्षिणः।

शनकैर्भूम्युत्थितरजसा यथा न संसृज्येत।

भूग्रहणं न पात्रप्रतिषेधाय, किं तर्हि श्वपचपतितकुष्ठिभ्यो न हस्ते दातव्यम्। उपकारविधानं चेदम्। अत एव षष्ठ्याऽयं श्लोकः पठ्यते, न चतुर्थ्यन्तेन। पक्षिणां तादृग्देशे विधातव्यं यत्राबिभ्यतः श्वादिभ्यः खादन्ति।

कृमीणामिति तादृशे देशे यत्र तेषां सम्भवः॥८२॥

हिन्दी—शेष अन्न को पात्र से निकालकर कुत्ता, पतित, चण्डाल, पापजन्य (कुष्ठ या यक्ष्मा आदि) रागवाला, कौवा, क्रीड़ा—इनके लिये धीरे से (जिससे अन्न धूल आदि से नष्ट नहीं हो) रख देवे॥८२॥

---

१. तदुक्तं बह्वृचगृह्ये—'स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणानिनयेत्' इति (अ० १ ख० २), इति (म०मु०)।

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ।।८३।।

भाष्य—पूर्वस्योपसंहारः ।

सर्वग्रहणादन्येषामपि मृगकुक्कुटमार्जारादीनां ग्रामे सम्भवतामन्नेनोपकर्तव्यम् । अर्चतिरनुग्रहे न पूजायां, श्वादीनां तदसम्भवात् । अवज्ञानप्रतिषेधार्थं चैवमुपात्तं, नानुगृह्णातीति पठितम् ।

परं स्थानं धाम ब्रह्म प्राप्नोति । **पथर्जुना** । न संसारयोनीर्बह्वीर्भ्राम्यति ।

"किंपुनरेतत्फलविधानम्" ।

नेति ब्रूमः । नित्योऽयं विधिरित्युक्तम् । नित्ये च फलश्रवणमर्थवादः । न ह्यत्र विधिः श्रूयते । गच्छतीतिवर्तमानापदेशोऽयम् ।

तेजोमूर्तिः केवलतेजःशरीरः, न पाञ्चभौतिकं शरीरमभिसम्बध्यते, बोधस्वभाव एव भवति । निष्कल्मषता वाऽनेन लक्ष्यते । शुद्धप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः । भूतानुकम्पनं चेदम् । असति शास्त्रातिक्रमे पापसम्बन्धस्याभावाच्छुद्धता युक्ता । इतरथा पापस्य मलरूपत्वान्न तेजोमूर्तिः । असति च पापे परं धाम श्रेष्ठमदुःखरूपं प्राप्नोतीत्येतदपि युक्तमेव ॥८३॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण इस प्रकार (३।७४-८१ में उक्त) सब जीवों की नित्य (प्रतिदिन) पूजा करता है, वह प्रकाशमय सर्वोत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को सीधे मार्ग से जाता है[१] ॥८३॥

भिक्षादान—

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ।।८४।।

---

१. पूर्व—इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः । दक्षिण—अन्तकाय नमः, अन्तक पुरुषेभ्यो नमः । पश्चिम—वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः । उत्तर—सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः । द्वार पर—मरुते नमः, जल में अद्भ्यो नमः । मूसल ओखल पर वनस्पतिभ्यो नमः, गृहशय्या के शिरःप्रदेश में भूमिपर, वास्तुपुरुष के शिरःप्रदेश ईशान कोण में—श्रियै नमः, गृहशयन के पादप्रदेश में भूमि पर, वास्तुपुरुष के पादप्रदेश नैर्ऋत्यकोण में—भद्रकाल्यै नमः, गृहमध्य में—ब्रह्मणे नमः वास्तोष्पतये नमः, गृहाकाश प्रदेश में—विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । गृहाकाशप्रदेश में (दिन में)—दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः, गृहाकाशप्रदेश में (रात्रि में)—नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः । गृह के छत पर या बलिदाता के पीछे पृष्ठदेश की ओर भूमि पर—सर्वात्मभूतये नमः । दक्षिण दिशा में (अपसव्य होकर शेष बलि) पितृभ्यः स्वधाः ।

भाष्य—अतिथिलक्षणं वक्ष्यति। तमभ्यागतं सन्तं **पूर्वमाशयेत्** भोजयेत्, सर्व-भोक्तृभ्यो गृहसन्निहितेभ्यः।

भिक्षां भिक्षवे च याचमानाय दद्यात्। भिक्षाशब्देन स्वल्पपरिमाणमन्नदानमुच्यते। उक्तं हि "प्रसृतिर्भिक्षा"। अन्तःपुरप्रसिद्धं चैतत्। **ब्रह्मचारिणे विधिवत्**। अन्यस्मा अपि पाखण्डादिरूपाय भिक्षवे न विधिवद्दातव्या। ब्रह्मचारिणे तु विधिवत्स्वस्तिवाचन-पूर्वं भिक्षादानमित्येष विधिः।

अथवा **भिक्षुः** परिव्राड्, **ब्रह्मचारी** प्रथमाश्रमी। चशब्दश्चास्थाने वृत्तानुरोधात्। ब्रह्मचारिणे चेति पठितव्यम्।

एवं तु वानप्रस्थाय न दानं स्यात्। तस्माद्भिक्षते इति 'भिक्षुः', तस्यैव विशेषणं ब्रह्मचारिग्रहणम्। तेन त्रिभ्योऽप्याश्रमिभ्यो भिक्षादानं नियमतोऽनुज्ञातं भवति। पाखण्डादीनां तु पतितादिवत्। सर्वग्रहणेन भिक्षोपकारो यथाशक्ति विहित एव ॥८४॥

हिन्दी—इस प्रकार (३।७५-८१) बलिकर्म को समाप्तकर पहले अतिथि (यदि कोई आया हो तब उस) को भोजन करावे और विधि-पूर्वक ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा भिक्षुक को भिक्षा देवे ॥८४॥

विमर्श—भिक्षा का परिमाण कम से कम एक ग्रास[१] होना चाहिए, सम्भव हो तो अधिक भी दे सकते हैं।

भिक्षादान का फल—

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥८५॥

भाष्य—नित्यं भक्तदानमर्थिने शक्तितो दातव्यम्। इदं त्वधिकारान्तरम्।

यद्गुरवे गां दत्त्वा फलमाप्नोति तद्भिक्षां दत्त्वा गोव्रतस्याविशिष्टमिति। स्मृत्यन्तरे सर्वफलता पापप्रमोचनार्थताऽपि गोदानस्य श्रुता। यावतामल्पोपकाराणां महोपकारैः फलसाम्यमुच्यते, तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषोऽवगन्तव्यः। प्राप्यते तदेव फलम्, न तु चिरकालम्। आवाच्यो ह्ययं न्यायः—"पणलभ्यं हि कः प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैः" इति। समानफलत्वे महाप्रयासानर्थक्यं प्राप्नोति।

"अगुर्यथाविधीति" केचित्पठति। तत्र नञल्पवचनो द्रष्टव्योऽल्पगुरिति।

पुण्यं धर्मस्तस्य **फलम्** ॥८५॥

---

१. 'ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा' इति शतपतवचनात्, अग्रे ग्राममात्राभिक्षाया मनुनाप्युक्तत्वाच्च। (३।७३)

हिन्दी—गृहस्थ द्विज गुरु के लिये गौ को देखकर जो प्राप्त करता है, वह फल विधिपूर्वक (ब्रह्मचारी आदि के लिए) भिक्षा देकर प्राप्त करता है ॥८५॥

सङ्कल्पपूर्वक भिक्षादान—

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।।८६।।

भाष्य—अथ विधिवदित्युक्तं सोऽयं विधिरुच्यते।

अप्रकृतस्योदपात्रस्य श्रवणं सर्वदा नृणां, न भिक्षादानस्यैवेति दर्शयितुम्।

सत्कृत्य पूजयित्वा।

विधि: पूर्वो यस्य दानस्य **तद्विधिपूर्वकम्**। पूर्वशब्द: कारणवचन:। शास्त्र-निमित्तकमेतदित्यर्थ:। इतिकर्तव्यता वा **विधि:**, सा पूर्वं कर्तव्या। उक्तं च पूर्वं भिक्षादानं, ददाति सत्कृत्य पूजयित्वा।

वेदस्य **तत्त्वार्थ:** पारमार्थिको नि:संशयोऽर्थस्तं 'वेत्ति', तस्मै ब्राह्मणायोपपाद-येद्दद्यात्। **ब्राह्मणायेति** जातिनियम: **विदुष** इति गुणनियम:। तेन यत्किञ्चिद्दातव्यं तद् ब्राह्मणाय, तस्मै च वेदार्थविदे पूजापूर्वकमित्यर्थत्रयविधानं सर्वं ददात्यर्थोद्देशेन, पौरुषेयत्वान्नानाकारार्थविधानम् ॥८६॥

प्राप्ते दाने दोष:।

हिन्दी—पर्याप्त (भरपूर) अन्न के अभाव में ग्रासमात्र भिक्षा को भी (व्यञ्जन आदि से संस्कृत कर अर्थात् सुस्वादु बनाकर) तथा उतने अन्न के भी अभाव होने पर जल से भरे हुए पात्र को ही (फल फूल आदि से सत्कृतकर) वेद के तत्त्वार्थ के ज्ञाता ब्राह्मण के लिए (स्वस्ति कहलवाकर) देवे ॥८६॥

अपात्र को दान देने का फल—

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभि: ।।८७।।

भाष्य—पूर्वेण यादृशे देयं तत्पात्रमुक्तम्। अनेनापात्रे ददत: प्रतिषेध:।

नश्यन्ति निष्फलानि भवन्ति। **हव्यानि** देवतोद्देशेन यानि ब्राह्मणभोजनादीनि क्रियन्ते। पित्र्यकर्माङ्गभूतान्यन्यानि **कव्यानि** श्राद्धानि।

भस्मभूतेषु। भस्मतां प्राप्ता भस्मभूता:। उपमाने वा 'भूत'शब्द:, 'भस्मानीव', यथा 'काष्ठभूत' इति। "किं पुनर्भस्मना साम्यम्"। यथा तत्र क्वचिदुपयुज्यतेऽवकर-रूपमपोह्यमेवमीदृशो ब्राह्मण: क्रियाभ्योऽपोहितव्य इति तात्पर्यार्थ:।

नराणामविजानतां नश्यन्तीति सम्बन्धः ।

मोहाद्दत्तानि दातृभिः । अविजानतां मोहादिति चानुवादः । यच्छास्त्रेणापोहितं तान्मोहादेव क्रियते ॥८७॥

कीदृशाः पुनरभस्मभूतास्तानाह—

हिन्दी—अज्ञानी मनुष्य के द्वारा वेद तथा वेदार्थ-ज्ञान से हीन ब्राह्मण के लिए देवों तथा पितरों के उद्देश्य से दिये गये हव्य तथा कव्य नष्ट हो जाते हैं (वे देवों तथा पितरों को नहीं मिलते हैं) ॥८७॥

सत्पात्र को दान देने का फल—

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ।।८८।।

भाष्य—विद्यातपोभ्यां समृद्धास्तद्व्यतिरिक्ता भस्मभूताः । समृद्धिरतिशयिनी सम्पत्तिः । बहुविद्यया महता च तपसा युक्ता एवमुच्यन्ते । समुदायसम्बन्धिनी अपि विद्यातपसी सम्बन्धिसम्बन्धादवयवभूतमुखैः सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्येते । विप्राणां मुखान्यग्नय इत्यत्र व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात्समासः ।

यथाऽग्नौ हुतं फलवद्भस्मनि हुतं निष्फलमेवमीदृशं भोजनं ब्राह्मणमुखनिक्षिप्तं हुतमिति भोजनमेव स्तुत्योच्यते । यागहोमादि महाफलतया प्रसिद्धम् । अतः प्रख्याततम-गुणेनाप्रख्यातमुपमीयते ।

निस्तारयति दुर्गात् । 'दुर्गं' व्याधिशत्रुराजपीडादिजीवितमुपस्थितम् । ततो 'निस्तारयति' रक्षति । न तेन संमृश्यते । महतश्च पापात्परलोकेऽपि नरकादिगतेस्त्रायते । न केवलमाभ्युदयिककर्मेदृक्पात्रविषयम् । प्रायश्चित्तार्थमपि तद् गुणायैव दातव्यम्॥८८॥

हिन्दी—विद्या तथा तप से समृद्ध (बढ़े हुए) ब्राह्मण के मुखरूपी अग्नि में हवन किया हुआ (उक्त रूप श्रेष्ठ ब्राह्मण को खिलाया गया) अन्न आदि दुस्तर (कठिनता से पार करने योग्य) रोग, राजभय, शत्रुभय आदि से तथा बड़े पाप से भी छुड़ा देता है ॥८८॥

[अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्धनी धर्मान्न हीयते ।।१२।।]

[**हिन्दी**—जो धनी (दानकर्त्ता) योग्य तथा अयोग्य का ज्ञान नहीं होने के कारण जो कुछ अन्नादि अयोग्य के लिए देता है तथा योग्य के लिए नहीं देता, वह धनी धर्म से भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् उसका देना निष्फल नहीं होता ॥१२॥]

[काले न्यायागतं पात्रे विधिवत्प्रतिपादितम् ।
ददाति परमं सौख्यमिह लोके परत्र च ।।१३।।]

[**हिन्दी**—समय पर न्यायानुसार आया हुआ अग्रिम श्लोक में वक्ष्यमाण अन्नादि पात्र में विधिपूर्वक दिया गया इस लोक में तथा परलोक में भी उत्तम सुख को देता है ॥१३॥]

[प्रतिग्रहेण शुद्धेन शस्त्रेण क्रयविक्रयात् ।
यथाक्रमं द्विजातीनां धनं न्यायादुपागतम् ।।१४।।]

[**हिन्दी**—क्रमशः द्विज का (ब्राह्मण का) शुद्ध प्रतिग्रह अर्थात् दान से, (क्षत्रिय का) शस्त्र से अर्थात् युद्धादि में शत्रुपक्ष को पराजित करने से तथा (वैश्य का) क्रय-विक्रय अर्थात् व्यापार से खरीदने-बेचने से आया हुआ धन न्याय से आया हुआ उपार्जित होता है ॥१४॥]

अतिथि सत्कार—

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति संस्कृत्य विधिपूर्वकम् ।।८९।।

भाष्य—सम्प्राप्ताय स्वयमुपस्थिताय, न तु निमन्त्रिताय । न हि निमन्त्रितोऽतिथिर्भवति । प्राप्तिदेशं च वक्ष्यति (अग्रे १०३ श्लो०) "भार्या यत्राग्नयोऽपि वा" इति ।

आसनोदके दद्यात् । पादधावनोपयोगि प्रथममुदकं तत आसनम् भोजनं च ।

यथाशक्ति संस्कृत्येत्यन्नविशेषणम् । सविशेषमन्नं संस्कृत्य **दद्या**द्भोजयेत् ।

विधिपूर्वकम् विधिः पूर्वो यस्मिन्दाने तदेवमुच्यते । विधिः शास्त्रं तत्पूर्वं निमित्तं प्रमाणमित्यर्थः ॥८९॥

हिन्दी—घर पर आये हुए अतिथि के लिए आसन, पैर धोने के लिए जल, शक्ति के अनुसार व्यञ्जनादि से संस्कृत (स्वादिष्ट) अन्न विधिपूर्वक (३।१०६) सत्कार कर देना चाहिए ॥८९॥

अतिथि की पूजा नहीं करने का फल—

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ।।९०।।

भाष्य—अत्यन्तदरिद्रस्याप्यतिथिपूजाव्यतिक्रमो न युक्तः । **शिलान्** केदारलवनशेषान् । **उञ्छत** उच्चिन्वतः । एतच्च वृत्तिसङ्कोचोपलक्षणार्थम् ।

पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः । अनेन शास्त्रानुष्ठानसम्पन्नोऽत्यन्तदरिद्रश्च यद्यतिथिमागतं न पूजयत्यन्नदानादिना, तदा तदनुष्ठानं स वृत्तिसंयमो निष्फलतामेति । ततश्च **सर्वं सुकृतं पुण्यमादत्ते** अतिथिर्गृह्णाति निष्फलीकुरुते । **अनर्चितो वसन्** । तस्मादर्चयेदिति विध्यर्थः । वसन्निति लिङ्गात्सायमागते विधिरयम् । पञ्चाग्नयस्त्रेता गृह्यः सभ्यश्च ।

"अथ कोऽयं सभ्यो नामाग्निः" ।

एवं ह स्माहुः । ग्रामान्तरे प्रोषितस्य यत्र लौकिकपाकः क्रियते महासाधनस्य बहुवेश्मसु यो गृह्यागारादेव शीतापनोदार्थं विह्रियते स सभ्यः ।

"होमस्तर्हि तत्र कः? यावता 'तस्मिन्गृह्याणि' इति नियमः ।"

अस्मादेव वचनात् वैश्वदेवहोमः प्रोषितस्य लौकिकेऽप्यस्तीति मन्यन्ते । ब्रीहियवैः शुष्कधान्यैर्यत्र लेलिहानं सुसमिद्धं पश्येत्तत्राभिजुहुयादिति स्मृतिवचनमुदाहरन्ति ।

इह भवन्तस्त्वाहुः । उपनिषत्सु पञ्चाग्निविद्योक्ता । तत्र तेषां कल्पिताग्निरूपाणि । तद्रूपेण यदुपासनं यच्च वेदनं स 'होम' इति कल्प्यते । सा हि सर्वश्रोतेभ्यः कर्मभ्योऽतिशयफलेष्यते । एवं हि तत्राम्नायते "स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्मा च ते पतन्ति चत्वारः संसर्गी च" ।

पञ्चानामपि यत्फलं तदतिथावाराधितेऽविमुखीकृते नश्यतीति प्रशंसातिशयेनावश्यकर्तव्यतां दर्शयति ।

यद्यपि प्रातराशेऽप्यतिथिभोजननियमः, सायं तु तद्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्ताधिक्यम् । **'यथाशक्तीति'** पूर्वश्लोकेऽन्नविषयं ये न मन्यन्ते, त एवमाहुर्यथाशक्त्यतिथयः पूजयितव्याः, एको द्वौ बहव इति ॥९०॥

हिन्दी—शिलोञ्छवृत्ति से रहते हुए तथा पञ्चाग्नि में नित्य हवन करते हुए भी द्विज के घर पर अपूजित (आने पर भी अतिथिसत्कार को अप्राप्त) ब्राह्मण उन सब (शिलोञ्छ तथा पञ्चाग्नि के फलों) को ले लेता है ॥९०॥

विमर्श—किसान के खेत काटकर अन्न ले जाने के बाद उस खेत में एक-एक दाना (बालें या फलियाँ नहीं) चूँगकर उस अन्न से जीविका-निर्वाह करना 'शिलोञ्छ' कहलाता है । गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय, आवसथ्य और सभ्य ये 'पञ्चाग्नि' हैं ।

अन्नादि के अभाव में अतिथि सत्कार—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।९१।।

भाष्य—यदि दारिद्र्यात्सायमन्नदानं न घटते तदा नैवं मन्तव्यम्—'प्रधानमतिथेर्भोजनं, तच्च मे नास्तीति, किमनेन मद्गृहे प्रविष्टेनेति' । यतोऽशक्तस्य तृणादिदाने-

नाप्यतिथिपूजाविधिः स्यात्। अथवा नायं विधिर्भोजन एव पर्यवस्यति, किं तर्हि निवत्स्यतः शयनादि दातव्यम्।

तृणग्रहणं स्रस्तरोपलक्षणार्थम्।

भूमिरासनशयनविहारस्थानम्।

सूनृता वाक् प्रियहितवचनं, कथाप्रस्तावादि वा।

एतान्यप्यन्नाभावे सतामागतस्यातिथे**र्नोच्छिद्यन्ते**, किंतु दीयन्ते सर्वकालम्॥९१॥

हिन्दी—तृण (घास—आसन एवं शयन के लिए), भूमि (बैठने के लिए), जल (पीने तथा पैर धोने के लिए), और मधुर वचन—ये चारों तो सज्जनों के घर से कभी दूर नहीं होते (सदैव विद्यमान रहते हैं, अतएव अन्नादि के अभाव में इन्हीं के द्वारा अतिथियों का सत्कार करना चाहिए) ॥९१॥

अतिथि का लक्षण—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ।।९२।।

भाष्य—नातिप्रसिद्धो लोकेऽतिथिशब्दार्थ इति तदर्थलक्षणमाह।

एकरात्रं वसतः परगृहेऽतिथित्वम्। तच्च ब्राह्मणस्य न जात्यन्तरे।

द्वितीयेऽह्नि पूजाविधौ कामचारः। अभ्युदयविशेषार्थिनस्तदधिकारः, न नैयमिकः। तथा चापस्तम्बः (२।७।१६) "एकरात्रिं वासयेत्। पार्थिवाँल्लोकानभिजयति द्वितीया-मान्तरिक्षाँस्तृतीयां दिव्यान्" इति फलकामस्य द्वितीयादिरात्रिष्वधिकारं दर्शयति।

अत्रैव निर्वचनं दार्ढ्यार्थमाह **अनित्यं हि स्थितिः**। तिष्ठतेरतिपूर्वस्यायं शब्दः। औणादिकैः कथञ्चिद्व्युत्पत्तिः ॥९२॥

हिन्दी—(गृहस्थ के घर) एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण 'अतिथि' कहा गया है; क्योंकि आने तथा ठहरने की तिथि (समय) का निश्चय नहीं करने से वह 'अतिथि' ('न विद्यते तिथिर्यस्य सः' इस विग्रह से) कहा जाता है ॥९२॥

विमर्श—इस श्लोक में आये हुए 'एकरात्रं' पद से केवल एक रात्रि का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये, अपितु उस 'एकरात्र' पद को उपलक्षण मानकर 'एक शाम या एक दिन ठहरने वाला' ऐसा अर्थ करना चाहिये। इसी कारण 'ब्राह्मण' पद से भी ब्राह्मणमात्र का ग्रहण न कर उपलक्षणतया 'द्विज' या मनुष्यमात्र का ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा जो रात्रि में नहीं टिकने वाला होगा या ब्राह्मण नहीं होगा, उसे 'अतिथि' नहीं माना जायेगा। उक्तार्थ स्वीकार करने पर ही जो श्लोक १०५ की टिप्पणी में लिखित विष्णुपुराण के वचन से भी दिन में आने वाले को भी 'अतिथि'

माना गया है तथा श्लोक ११० की मन्वर्थमुक्तावली के अनुसार क्षत्रिय गृही का ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, वैश्य गृही का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अतिथि माना गया है, ये दोनों वचन सङ्गत होते हैं।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ।।९३।।

भाष्य—एकस्मिन्ग्रामे यो वसति वैश्वदेवकालोपस्थितोऽपि नातिथिः ।

साङ्गतिकः सहाध्यायो सख्युरन्यः । तस्य ह्युत्तरत्र विधिर्भविष्यति (अग्रे ११० श्लोके) "वैश्यशूद्रौ सखा चेति" । योऽपि सर्वेण सङ्गच्छते विचित्रपरिहासकथादिभिः, स सङ्गतिकशब्देन युक्तः प्रतिषेद्धुं प्रागदृष्टपूर्वोऽपि ।

न च गृहस्थस्य प्रोषितस्यास्य सर्वलक्षणलक्षितोऽप्यतिथिः । किं तर्हि **उपस्थितं गृहे विद्यात्**। यत्रास्य नित्यं स्थानम्, वसतिस्थानं यदुच्यते । प्रोषितस्यापि **भार्या यत्राग्नयश्च** तत्रासन्निहितस्यापि गृहस्थस्य भवत्येवातिथिः । अतो यथा सम्विधायाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु प्रवसति, तद्वदतिथयेऽपि सम्विधातव्यम् ।

वाशब्दात्त्वेवं प्रतीयते—भार्याग्निभिः सह यदा प्रवासस्तदा भवत्येव ग्रामान्तरस्थस्याप्यतिथिः । असन्निहितस्यापि गृहे भार्याग्निषु सत्सु । ततश्च यदि भार्यया सह प्रवसेदग्नयश्च गृह एव भवेयुस्तदा नातिथिपूजानियम इति । वाशब्द **उपस्थितं गृहे विद्या**दित्येतदपेक्षया, न परस्परापेक्षया भार्याग्नीनाम् ।।९३।।

हिन्दी—एक ग्रामवासी, विचित्र—कथाओं तथा परिहासों के द्वारा जीविकाभिलाषी अर्थात् जीविका करने वाले ऐसे भार्या तथा अग्नि से युक्त विप्र को भी 'अतिथि' नहीं समझना चाहिए ।।९३।।

लोभवश दूसरे के यहाँ भोजनेच्छा का निषेध—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनः ।।९४।।

भाष्य—'उपासनं' तदभ्यासः ।

यो ब्राह्मणोऽनयैव बुद्ध्या तत्र तत्रोपतिष्ठेत यथाऽतिथिरवश्यं भोजनं लभेत तस्येयं निन्दा ।

यस्तच्छीलः 'परस्य' सम्बन्धिनं 'पाक'मन्नमुपास्ते, न तु कदाचित् । **तेन** कर्मणा **प्रेत्य पशुतां** बलीवर्दादिजातिं **व्रजति** प्राप्नोति । **अन्नादिदायिनस्तद्**गृहे दन्तिनां गर्दभतामश्वतां प्राप्नोति ।

गृहस्थयैष दोषः, उत्पन्नस्थालीपाकस्य ॥९४॥

हिन्दी—जो निर्बुद्धि गृहस्थ आतिथ्य (अतिथि-सत्कार) के लोभ से दूसरे ग्राम में जाकर परान्न-भोजन करता है, उस परान्न-भोजन के कारण मरकर अन्न देने वाले के यहाँ पशु होता है ॥९४॥

[परपाकान्नपुष्टस्य सततं गृहमेधिनः ।
दत्तमिष्टं तपोऽधीत यस्यान्नं तस्य तद्भवेत् ।।१५।।]

[**हिन्दी**—सर्वदा दूसरे के अन्न से पुष्ट (भोजनार्थ दूसरे-दूसरे गाँवों में जा-जाकर आतिथ्य ग्रहण करने वाले) गृहस्थ का दान, यज्ञ, तप और वेदादि का स्वाध्याय, जिसका अन्न है; उसे प्राप्त होता है ॥१५॥]

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ।।९५।।

भाष्य—**सायं**कालोऽस्तमयादिः प्रदोषांतः । तस्यां वेलाया**मतिथि**रागतोऽ**प्रणोद्यः** अप्रत्याख्येयः, भोजनशयनासनादिभिः प्रतिपूज्यः । केन । **गृहमेधिना** । 'मेधो' यज्ञः । 'गृहमेधो' महायज्ञानामियमाख्या । तत्राधिकारी **गृहमेधी** गृहस्थ इति यावत् ।

सूर्योढ इत्यर्थवादः, सूर्येणोढः प्रापितः । दैवोपनीतत्वादवश्यं पूजार्हः ।

काले द्वितीये वैश्वदेवकाले प्राप्तः, '**अकाले**' **वा** सायं, भोजने निवृत्तेऽपि ।

नास्य गृहस्थस्या**नश्नन्**गृहे **वसेत्** । यदि शेषमस्ति तन्निवेदनीयम् । न चेद्, द्विःपाकः कर्तव्यः ॥९५॥

हिन्दी—गृहस्थ सायं काल घर पर आये हुए अतिथि को मना न करे तथा वह समय पर (घर वालों के भोजन करने के पहले) या असमय पर (घर वालों के भोजन करने के बाद) आवे, परन्तु बिना भोजन किये वहाँ नहीं (जिसके यहाँ ठहरे, उसको वह गृहस्थ भोजन अवश्य कराये) रहे ॥९५॥

विमर्श—इसी वास्ते विष्णुपुराण में कहा है कि 'दिन में अतिथि के विमुख (बिना भोजन किये या बिना कुछ पाये निराश होकर) लौट जाने पर जो पाप होता है, उससे अठगुना पाप रात को अतिथि के विमुख होकर लौट जाने से होता है[१] ।

---

१. अतएव विष्णुपुराणे—
'दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।
तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखं गते ॥' इति (म०मु०)

अतिथि को बिना दिये श्रेष्ठ पदार्थों को खाने का निषेध—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ।।९६।।

भाष्य—सूपघृतदधिशर्करादि यदुत्कृष्टमन्नं तत्**स्वयं नाश्नीया**दतिथौ सन्निहिते यावत्तस्मै न दत्तम्। यत्तु आतुरस्य यवागूरसकटुकादि तदनिच्छते न देयम्। तादृशमदत्तमश्नतो न दोषः।

सर्वथा न संस्कृतमन्नं स्वयं भोक्तव्यम्। कदन्नमतिथिर्न भोजनीय इत्येवंपरमेतत्।

धनाय हितं, धनस्य निमित्तं वेति **धन्यम्**।

एवं यशस्यादयः शब्दाः।

अर्थवादोऽयं नित्यत्वादतिथिभोजनस्य, सति सन्निधानेऽतिथेः, पूर्वशेषत्वाच्च। स्तुतित्वेनान्वये सम्भवति नाधिकारान्तरकल्पना युक्ता ॥९६॥

हिन्दी—जो अतिथि को नहीं खिलाया जावे ऐसा घी, दूध, मिठाई आदि पदार्थ स्वयं भी नहीं खावे। अतिथि का पूजन (भोजनादि से आदर-सत्कार) करना धन, आयु, यश तथा स्वर्ग का निमित्त (कारण) होता है ॥९६॥

बहुत अतिथियों के आने पर यथायोग्य सत्कार—

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ।।९७।।

भाष्य—बहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेष्वितरेतरं समहीनज्यायस्स्वासनादिप्रकल्पनं गुणापेक्षं, नाविशेषेण।

आसनं वृस्यादि। **आवसथं** विश्रामभूमिः। **शय्या** खट्वादि। **अनुव्रज्या** गच्छतोऽनुगमनम्। **उपासनं** तत्समीपे कथाप्रस्तावेन सन्निधानम्। एत**दुत्तमेषूत्तमम्**। दूरमनुव्रज्येत 'उत्तमः', नातिदूरं 'मध्यमः', कतिचित्पदानि 'हीनः' ॥९७॥

हिन्दी—बहुत अतिथियों के एक साथ आने पर आसन, विश्रामस्थान, शय्या (चारपाई, चौकी, पलङ्ग आदि), अनुगमन (पीछे-पीछे चलना) और सेवा—ये सब सत्कार बड़ों का अधिक, मध्यमश्रेणिवालों का मध्यम तथा निम्न श्रेणिवालों का कम करना चाहिये ॥९७॥

अतिथ्यर्थ पुनः बनाये गये भोज्यपदार्थ से बलि का निषेध—

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ।।९८।।

भाष्य—सर्वार्थमन्नं **वैश्वदेव**शब्देनोच्यते। तस्मि**न्निर्वृत्ते** निष्पन्ने, भुक्तवत्सु सर्वेषु, निःशेषितेऽन्ने, **यद्यन्योऽतिथि**रागच्छेत्तस्मै दद्यात्पुनः पक्वान्नम्। न तु तस्मात्पाकबलिं हरेत्।

अग्नावपि होमो नेष्यते, न केवले बलिहरणम्। यतः सायंप्रातः पाके होमो बलिहरणम्, न चान्तरालिके। तथा च वक्ष्यति (१२१ श्लोके) "सायं त्वन्नस्य" इति। एवं च यद्यप्यकृदह्नः पचेत्तथापि न प्रतिपाकं वैश्वदेवमावर्तेत।

यथाशक्ति संस्कारविशेषेणेतरथा वा ॥९८॥

हिन्दी—वैश्वदेव कर्म के निवृत्त होने पर यदि दूसरा अतिथि आ जाय तो उसके लिए भी यथाशक्ति अन्न (यदि बचा नहीं हो तो पुनः तैयार कर) देना चाहिए, किन्तु दुबारा बलि करने की आवश्यकता नहीं है ॥९८॥

भोजन प्राप्ति के लिए अपने कुल गोत्र का कथन-निषेध—

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥९९॥

भाष्य—प्रासङ्गिकोऽतिथेरयमुपदेशः।

भोजनार्थ्येतत्कुलीनोऽमुष्य पुत्रोऽस्मीति न निवेदयेन्न कथयेत्। **स्वे कुलगोत्रं** आत्मीयं 'कुलं' पितृपितामहाद्यभिजनो, 'गोत्रं' गर्गभार्गवादि, नामधेयं वा। 'गोत्रस्खलितं' नामान्तरविवक्षायां यन्नामान्तरमुदाह्रियते तदुच्यते। अध्ययनमपि स्मृत्यन्तर-प्रतिषिद्धं, तदपि न निवेद्यम्।

अस्यार्थवादः। भोजनार्थं—'भोजनं लिप्से प्रख्यातकुलजातित्वा'दित्यनेनार्थेन हेतुना कुलगोत्रे **शंसन्कथयन्वान्ताशी**, वान्तमुद्गीर्णमश्नाति निगिरतीत्येव**मुच्यते बुधैः**॥९९॥

हिन्दी—ब्राह्मण भोजन प्राप्ति के लिए अपने कुल तथा गोत्र को न कहे (मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे भोजन करा दीजिए, इत्यादि वचन स्वयं न कहे) क्योंकि भोजन प्राप्त करने के लिए अपने कुल तथा गोत्र को कहने वाला विप्र वमन किये पदार्थ को खाने वाला कहा जाता है ॥९९॥

ब्राह्मण के क्षत्रिय आदि अतिथि नहीं—

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥१००॥

भाष्य—क्षत्रियो **ब्राह्मणस्या**ध्वनीनोऽपि प्रथमभोजनकाल उपस्थितोऽपि **ना-तिथिः** अतो न तस्मै नियमतो देयम्।

एवं वैश्यशूद्राभ्यामपि।

सखिज्ञाती आत्मसमे, नातिथी।

गुरुः प्रभुवदुपचर्यः। ''निवेद्य पचनक्रिया'' यत्युक्तम् (गौतम ५।२६) ॥१००॥

हिन्दी—ब्राह्मण के (घर आये हुए) क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बान्धव और गुरु अतिथि' नहीं कहे जाते हैं ॥१००॥

विमर्श—क्षत्रियादि की अपेक्षा ब्राह्मण के श्रेष्ठ होने से, मित्र तथा बान्धवों (समान जातीय वालों) के अपना सम्बन्धी होने से, गुरु के प्रभु होने से वे 'अतिथि' नहीं होते। इसी प्रकार क्षत्रिय के यहाँ आया हुआ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय 'अतिथि' समझा जाता है; किन्तु वैश्य, शूद्र और सखादि 'अतिथि' नहीं समझे जाते, एवं वैश्य के यहाँ आये हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य 'अतिथि' समझे जाते हैं, किन्तु शूद्र तथा सखा आदि 'अतिथि' नहीं समझे जाते।

क्षत्रियादि को बाद में भोजन कराना—

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्॥१०१॥

भाष्य—तत्र**अतिथेर्धर्मः**—क्षीणपथ्योदनत्वं परग्रामवासो भोजनकालोपस्थानम्—तादृशेन रूपेण यदि क्षत्रियो गृहमागतो भवति, तदा **तमपि भोजयेत्**।

भोजनवचनादन्या परिचर्या निवर्तते। प्रियहितवचनं त्वविशेषेण गृहाभ्यागतस्य विहितम्। अयं च तस्य भोजनस्य कालः। भुक्तवत्सु विप्रेषु ब्राह्मणेष्वनतिथिषु वा गृहसन्निहितेषु प्रथमंभोजिषु, ततः स भोजयितव्यः।

काममिति नियमाभावमाह। काम्योऽयं विधिर्न नित्य इत्यर्थः। कामश्चानिर्दिष्ट-विशेषफलेषु स्वर्गः। यदि वा ''धन्यं यशस्यम्'' इत्याद्यत्र सम्बन्धनीयम् ॥१०१॥

हिन्दी—यदि क्षत्रिय अतिथि-धर्म से (अतिथि के समय में तथा अतिथि के समान दूसरे ग्राम से आने के कारण) ब्राह्मण के घर आ जावे तो उसे भी ब्राह्मण, अतिथि को भोजन कराने के बाद भोजन करे ॥१०१॥

वैश्य तथा शूद्र को भृत्यों के साथ भोजन कराना—

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्॥१०२॥

भाष्य—अतिथेर्धर्मोऽतिथिधर्मः। स ययोरस्ति ताव**तिथिधर्मिणौ**। अतिथि-धर्मश्च प्राग्व्याख्यातः।

कुटुम्बं गृहं, तत्र प्राप्तावागतौ। वैश्यशूद्रावपि भोजयेत्। क्षत्रियवत्।

तयोस्तु भोजनकाल: क्षत्रियकालात्परेण। यत आह **भोजयेत्सह भृत्यैस्तौ**। 'भृत्या' अत्र दासा उच्यन्ते। तेषां च भोजनकालो भुक्तवत्स्वतिथिज्ञातिबान्धवेषु सर्वेष्ववर्वाग्दम्पतिभ्याम्। **सह**शब्द एककालतामात्रलक्षणार्थ:।

आनृशंस्यं कारुण्यमनुकम्पां **प्रयोजयन्** प्रमाणीकुर्वन्नाश्रयन्निति यावत्।

अनेन पूज्यतां वारयति। अनुग्राह्यो ह्यनुकम्प्यो, न पूज्य:। अनुकम्प्येषु यदि च शक्यतेऽनुग्रह: कर्तुं तत: क्रियतेऽभ्युदयार्थिना, न त्वकरणादतिथेरतिक्रम:। एतदुक्तं भवति। यादृशोऽतिथिभोजनादुत्कृष्टो धर्म: अनुकम्प्यानुग्रहान्न तादृशस्ततो निकृष्ट: ॥१०२॥

हिन्दी—इसी प्रकार ब्राह्मण के घर यदि वैश्य तथा शूद्र भी अतिथि-धर्म से (अतिथि के समय तथा ग्रामान्तर से आने के कारण) आ जावें तो उन्हें भी दया-प्रदर्शन करता हुआ भृत्यों के साथ (ब्राह्मण, अतिथि तथा अतिथि-धर्म से आये हुए क्षत्रिय को भोजन कराने के बाद तथा गृह-दम्पति के भोजन करने से पहले) भोजन करावे ॥१०२॥

गृहागत मित्रादि को भोजन कराना—

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥१०३॥

भाष्य—'सखा' मित्रं स आदिर्येषाम्। आदिशब्द: प्रकारे ज्ञातिबन्धुसङ्गतसहाध्यायिप्रभृतीन्गृह्णाति, गुरुवर्जम्।

संप्रीत्याऽऽगतान्। अतिथेर्धर्मस्य प्रकृतत्वान्निषेधार्थं सम्प्रीतिग्रहणम्।

तान्**भोजयेत्**।

प्रकृत्य प्रकर्षेणान्नं कृत्वा संस्कृत्य।

यथाशक्तीति उपलक्षणार्थ: शक्तिशब्द:। यावती शक्तिर्यादृशं च योऽर्हति तमुद्दिश्य तादृश एव संस्कार: कर्तव्य:।

भार्यया सह। यो भर्तुर्भोजनकाल: स एव भार्याया अपि, पृथक्तस्या भोजनकालस्याभावात्। एवं ह्युक्तम् "अवशिष्टं तु दम्पती" (११६ श्लोके) इति। महाभारते पत्युरूर्ध्वं भार्यायां भोजनं दर्शितम्। द्रौपदीसत्यभामासंवादे द्रौपद्या स्त्रीधर्मान्कथयन्त्योक्तं "सर्वेषु पतिषु भुक्तवत्सु शेषान्नमश्नामि"। पतिशेषान्नभोजनं स्त्रीणां धर्म:। तस्मान्न भार्याभोजनकाले सख्यादीनां भोजनं विधीयते। नाप्येकपात्राशनं सहार्थ:। किं तर्हि नैकाकिनस्ते भोजयितव्या:। अपि तु भार्याऽपि तत्र भुञ्जीत। ततश्चा'वशिष्टं

तु दम्पतीति' तदत्र बाध्यते। यदि पत्युः कश्चिदभ्यर्हितः प्रतीक्ष्यः स्यादरुच्या वा न भुञ्जीत, तदा भार्या तद्देशे भुञ्जीत। एवं सौहर्दं प्रकाशितं भविष्यति ॥१०३॥

हिन्दी—भोजन के सयम आये हुए मित्रादि को यथाशक्ति श्रेष्ठ अन्न (अपने तथा) स्त्री के साथ में भोजन करावे, गुरु के प्रभु (समर्थ) होने के कारण उनको भोजन कराने का समय-निर्देश नहीं किया गया है। अत: उन्हें (गुरु को) जब इच्छा हो तभी भोजन करावे ॥१०३॥

नवोढा, कुमारी आदि को पहले भोजन कराना—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽन्वगेवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥१०४॥

भाष्य—सुवासिन्यो वध्वो नवोढाः स्त्रियः स्नुषा दुहितरश्च। अन्ये तु—'जीवच्छ्वशुरा जीवत्पितृकाश्च प्रसूता अपि सुवासिन्य उच्यन्ते' इत्याहुः।

अतिथिभ्योऽन्वगेवैताननुगतानेव भोजयेत्। प्रारब्धभोजनेष्वेवातिथिषु तत्सम-कालं भोजयेत्।

अन्ये त्वग्र इति पठन्ति।

अविचारयन्। कथमतिथिष्वभोजितेषु बाला भुञ्जत इत्येवं विचिकित्सा न कर्तव्या ॥१०४॥

हिन्दी—नव विवाहित वधू (पुत्रादि की पत्नी तथा अपनी पुत्री) कुमारी (अविवाहित कन्या), रोगी और गर्भिणी स्त्री—इन्हें अतिथियों के भी पहले बिना विचारे ('अतिथियों के पहले इन्हें कैसे भोजन कराऊँ' ऐसा विचार छोड़कर) भोजन करावे ॥१०४॥

पहले स्वयं भोजन का निषेध—

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥१०५॥

भाष्य—एतेभ्योऽतिथ्यादिभ्यो भृत्यपर्यन्तेभ्यो **यो**भोजन**मदत्त्वा पूर्वं** प्रथमम-**विचक्षणः** शास्त्रार्थमजानानो भुङ्क्ते **स श्वगृध्रैरद्यते** प्रेतः।

तां जग्धिमात्मनस्तैः खादनं न जानाति। एवं हि स मन्यते मूढमतिरत्राहमेव भुञ्जे, एवं तु न बुध्यते यदीदृशमशनं तत्स्वशरीरस्य श्वगृध्रैरदनम्। तत्फलत्वादेव-मुच्यते ॥१०५॥

हिन्दी—जो गृहस्थ (इन अतिथि ब्राह्मण से लेकर भृत्य तक कथित लोगों) को भोजन नहीं देकर भोजन के क्रमविरोध दोष को नहीं जानता हुआ पहले (स्वयं)

भोजन करता है, वह (अपनी मृत्यु के बाद) कुत्ते, गीधों के द्वारा अपने को खाया जाता हुआ नहीं जानता है अर्थात् मरने के बाद उसे (अतिथि आदि के पहले भोजन करने वाले गृहस्थ को) मरने के बाद कुत्ते, गीध आदि खाते हैं ॥१०५॥

गृहस्थ-दम्पति को सब के बाद भोजन करना—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ।।१०६।।

भाष्य—विप्रा अतिथयः, **स्वा** ज्ञात्यादयः । तेषु कृतभोजनेषु तदव**शिष्टं दम्पती** जायापती अश्नीयाताम् ।

पश्चात्कदाचित्तेभ्यः कल्पयित्वा शिष्टव्यपदेशे सत्यादौ भोजनं स्यात्तदर्थमुक्तं पश्चादिति । दम्पत्योर्भोजनकालविधानार्थमिदम् । आद्योऽर्धश्लोकोऽनुवादः ॥१०६॥

हिन्दी—अतिथि ब्राह्मण, स्वजातीय, भृत्य (दास, दासी आदि) के भोजन कर लेने पर शेष अन्न को गृहस्थ दम्पती (स्त्री-पुरुष) भोजन करें ॥१०६॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ।।१०७।।

भाष्य—अनुवादमात्रमिदं पूर्वस्य पञ्चयज्ञानुष्ठानविधेर्गृहस्थभोजनकालस्य च ।

अन्ये त्वर्थान्तरविधानमपि वर्णयन्ति । पूर्वत्र जायापत्योरेककालमवशिष्टभोजनं विहितम्, अनेन स्त्रिया अपोह्य पुंस एव विधीयते । ततश्च पूर्वं भृत्येभ्यः प्राक् पत्युर्भार्या भुञ्जीत । एवं वा कृत्वा भोजयेत् । एतदप्युपपन्नं भविष्यति । इतरथा तैः सह भार्या न भुञ्जीतेत्यर्थकल्पनायां यथाश्रुतपदान्वयभङ्गः स्यात् । यत्तु **महाभारते** दर्शनं तद्दर्शनमेव न विधानं; विधौ विकल्पयिष्यते ।

तदयुक्तमनुवादत्वादस्य । न च गृहस्थ इत्येकवचनविरोधः, सहाधिकाराज्जाया-पत्योः । तत्र च सहार्थस्य प्राधान्यान्न द्विवचनापत्तिः । यथा "ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इति सत्यपि भार्यया सहाधिकारे नैकवचनं विरुध्यते । तत्कस्य हेतोः । एको हि तत्र प्रधानमपरो हि गुणभूतः । न च गुणः स्वसंख्यामुपजनयितुं शक्नोति । अतः प्रधान-स्यैकसंख्यत्वात्सत्यपि पत्यर्थानुप्रवेशे एकवचनमेव युक्तम् । एक एव गृहस्थशब्दः पत्न्यां वर्तते, स च सहविवक्षायाम् । सा चैकबुद्धिविषयत्वेन प्रधानयोर्गुणयोर्वा । तस्मान्न पत्न्याः प्राक् पुंसो भोजनम् । अतः स्थितमनुवादोऽयं, प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ।

येऽपि **गृह्याश्च देवताः पूजयेदि**त्यर्थवादवचनं देवतापदं मत्वा पूजयेदिति-सम्बन्धाद्गौणमेवार्चा विधित्वं समर्थयन्ते । न हि मुख्यस्य देवतार्थस्य पूज्यत्वसम्भवो, यजिस्तुतिसम्बन्धेनैव देवतात्वस्य मुख्यत्वात् । तथा च 'गृह्या' इत्याह । गृहे भवा

'गृह्याः' । ताश्च प्रतिकृतय एव । न हि यागसम्प्रदानभूतानां गृहसम्बन्धितासिद्धिः । तेषामपि देवतार्थो गौणो न पूजार्थः । कुत एतत् । गृहस्थस्य या यष्टव्यास्ता गृह्या इत्युपपद्यते ।।१०७।।

हिन्दी—देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालग्रामादि प्रतिमाओं की पूजा (देवर्षिपितृतर्पण, अतिथ्यादि-भोजन, प्रतिमादि-पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्न को भोजन करे ।।१०७।।

केवल अपने लिए भोजन-बनाने का निषेध—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ।।१०८।।

भाष्य—पापं केवलं स भुङ्क्ते, हृदये निधत्ते, गृह्णाति, नान्नस्य मात्रामपि, यः **पचेत्पा**कं कारयेदा**त्मकारणादा**त्मानमुद्दिश्य—'क्षुधितोऽहमिदं वा मह्यं रोचत इति तदेव पच्यताम्' । तस्मादनातुरेण नात्मार्थमन्नं पाचनीयम् । आतुरस्य तु शरीरधारणं येनोपायेन भवति विध्यन्तरातिक्रमेणापि तस्याश्रयणं युक्तम्—''सर्वत एवात्मानं गोपायेत्'' इति वचनात् ।

एवं केचिदस्यार्थमाहुः । एतदयुक्तं, स्मृत्यन्तरविरोधात्, एवं ह्याहुः—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ।

'दयितमिष्टं' स्पृहणीयम् । यदि च न पच्येत कुतस्तादृशस्य दानसम्भवः ।

तस्मादयमस्यार्थः । तदुद्देशस्तावन्नित्यस्य पाकस्य नैव विद्यते । सुहृत्स्वजनादिष्वागतेषु तदुद्देशः । अन्यथा त्वनुद्दिष्टविशेषपाके अतिथ्यादिभ्यो दानं विधीयते । तेनैतदुक्तं भवति—य एतेभ्योऽदत्त्वा भुङ्क्ते तस्यायं दोषः । अथवा सर्वस्मिन्नतिथ्यादिभिर्भुक्ते नात्मार्थं पुनः पाकः कर्तव्यः । तथा च वसिष्ठः (११ । ११—१२) 'शेषं दम्पती भुञ्जीयाताम् । सर्वोपयोगे न पुनः पाकः' ।

यज्ञशिष्टाशनम् । पूर्वस्य शेषभोजनस्य प्रशंसैव । 'यज्ञो' ज्योतिष्टोमादिः, 'शिष्ट''-मुपयुक्तशेषं, तस्य चैतदशनम् । तत्तुल्यफलं, यत्**सतां** शास्त्रानुष्ठानपराणां गृहस्थानामतिथ्यादिभुक्तशिष्टं **विधीयते** ।।१०८।।

हिन्दी—जो (देवता आदि को न देकर) केवल अपने लिए भोजन पाक करता (करके खाता) है, वह केवल पाप को भोगता है; क्योंकि यज्ञ (पञ्चयज्ञ) से बचा हुआ अन्न सज्जनों का अन्न कहा गया है ।।१०८।।

[यद्यष्टितमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ।।१७।।]

[**हिन्दी**—गृहस्थ को संसार में जो-जो अत्यन्त अभिलषित हो, घर में जो प्रिय हो, उनको अक्षय होने की इच्छा करने वाला मनुष्य उन-उन वस्तुओं को गुणवान् के लिए समर्पित कर देवे ॥१७॥]

गृहागत राजादि का पूजन—

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरान् पुनः ।।१०९।।

भाष्य—अतिथिपूजाप्रसङ्गेनान्येषामपि केषाञ्चित्पूज्यानां गृहागतानां पूजाविशेषो विधीयते।

राजाऽभिषिक्तो, न क्षत्रियमात्रम्। अतिमहती ह्येषा पूजा, न तां सर्वः क्षत्रियोऽर्हति। न हि स्नातकगुरुभ्यां तस्य सहोपदेशो युक्तः.। पूजासाम्यं गुरुणा न तस्य युक्तम्। लिङ्गदर्शनाच्च। तद्यथैवान्यो मनुष्यराज आगत इत्यातिथ्येष्टिब्राह्मणं, गोवधो मधुपर्क-विधावुक्तो गोघ्नोऽतिथिरिति पुरुषराजविषयं दर्शयति। तेन क्षत्रियेऽक्षत्रिये वा जनपदेश्वरे पूजेयं प्रयोक्तव्या। शूद्रे तु नास्ति मन्त्रवत्त्वम्।

"ननु च शूद्रस्य मन्त्रोच्चारणं निषिद्धम्। न पुनः शूद्रसम्प्रदानके कर्मणि ब्राह्मणादीनाम्"।

नैष दोषः। अर्घ्याणामपि "भूतेभ्यस्त्वा" इत्यादिमन्त्रोच्चारणमस्ति।

"ननु च महाभारते शूद्रकर्तृकमपि मधुपर्ककर्म श्रूयते"—

'तदर्हमासनं चैव यथावत्प्रत्यवेदयत्।
मधुपर्कं च गां चैव तस्मै भगवते स्वयम्' ॥

'भगवते' वासुदेवाय विदुर इति'। तत्साधने दधनि भक्त्या मधुपर्कशब्दः प्रयुक्तः। तादर्थ्यात्तच्छब्दो भवति—आयुर्वै घृतमितिवत्।

राजशब्दस्तावज्जनपदेश्वरवचनो न क्षत्रियमात्रे वर्तते।

प्रियो जामातेत्याहुः।

स्नातको विद्याव्रताभ्यामुभाभ्याम्। अन्यथार्त्विग्गुरवः सर्वे स्नातका एव। आश्रमान्तरस्थानां भैक्षचर्या विहिता, न त्वतिथिधर्मेण भोजनम्। अथवाऽचिर-निर्वृत्तवेदाध्ययनः 'स्नातको' गृह्यते।

एतान**र्हयेत्**पूजयेत्।

मधुपर्कशब्दः कर्मनामधेयम्। गृह्यात्तस्य स्वरूपावगमः।

परिसंवत्सरानिति राजादिपूज्यविशेषणम्। परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो येषां तान्। यदि संवत्सरोऽतीते आगच्छन्ति तदा मधुपर्कार्हा अर्वाङ् न।

केचिदेवं व्याचक्षते। यदि संवत्सरादर्वागागच्छन्ति तदाऽनतीतेऽपि संवत्सरे प्रथमपूजायाः पुनर्लभन्ते पूजाम्।

अन्ये त्वाहुः। सांवत्सरिकी तेषां पूजा, न यावदागमनम्। अस्मिन्पक्षेऽर्वागागमनं न पूजाप्रतिबन्धकम्।

पाठान्तरं **परिसंवत्सरादिति**। यावदेव संवत्सरं तावत्परिसंवत्सरात्तत ऊर्ध्वं पुनः पूज्या इत्यर्थः॥१०९॥

हिन्दी—राजा, ऋत्विज् (यज्ञ कराने वाले वेदपाठी), स्नातक, गुरु, जामाता (दामाद-पुत्रीपति), श्वसुर और मामा—इनको एक वर्ष के बाद अपने (गृहस्थ के) घर जाने पर मधुपर्क विधि से पूजन करना चाहिये॥१०९॥

राजा तथा स्नातक की पूजा में सङ्कोच—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थिते।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः॥११०॥

भाष्य—यज्ञे निमित्तेऽर्वागपि संवत्सरात्प्राप्त्यर्थोऽयमिति केचित्। अन्ये तु पूर्वस्यैव राजश्रोत्रिययोरुपसंहारमाहुः। अनुपसंहारे हि **नत्वयज्ञ** इति नोपपद्यते।

अत्र **श्रोत्रियो** यः स्नातकः प्रागुक्तो, यदि वा ऋत्विगेव। तस्य हि यज्ञकर्मणि प्रारिप्स्यमाने मधुपर्कदानं विहितम्। यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत, कृतार्ध्या एवैनं याजयेयुः। एवं क्लृप्तमूलैषा स्मृतिर्भविष्यति। इतरथा कल्प्येत मूलम्।

अन्ये तु सर्वानृत्विगादीञ्छ्रोत्रियशब्देन निर्दिष्टान्मन्यन्ते। यथा चाविशेषेण गौतमेन पठितम् (५।२५, २७)। "ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्क" इत्युक्त्वा "यज्ञविवाहयोरर्वाग्" इति पठितवान्। अतश्च सर्वेषामेवार्घ्याणां यज्ञे निमित्तेऽर्वागपि संवत्सरादर्घार्हता स्यात्।

न त्वयज्ञ इति च प्रतिषेधोऽर्वाक्संवत्सरान्नोर्ध्वमित्येवं ज्ञेयः।

इह द्वितीये पादेऽनेकधा पाठप्रतिपत्तिः।

केचित्पठन्ति "तते यज्ञ उपस्थिता'विति। तेषामयमर्थः। 'तते' प्रारब्धे यज्ञे यदि प्राप्तौ भवतो निमन्त्र्यानीतौ, तदेयं मधुपर्कक्रिया तयोः। न पुनः प्रारभ्यमाणे।

एष पक्षः कैश्चिद्दूष्यते। दीक्षितो न ददातीति दीक्षितस्य सर्वदानप्रतिषेधान्मधुपर्क-

दानमनुज्ञायमानं तद्विरुद्धं स्यात्। न च शक्यं वक्तुं—"दानमेतन्न भवति, अर्हयेदिति नोदनात् पूजैषा विधीयते"। यतोऽस्ति मधुपर्के दधिदानं मांसभोजनादिदानं च। अथोच्यते "स्वयमेव तत्परकीयं भुज्यत इति"। एवं सति स्तेयदोषः स्यात्। "वचनान्नेति" चेदस्त्येव तर्हि ददात्यर्थः। चोदितं च ददातिः, 'मधुपर्कं च दद्यादिति'। तस्माद्विरुद्धम्। "दीक्षितो न ददातीत्यनेन स्याद्विरोधः यदि यज्ञशब्दः सोमयागेष्वेव वर्तेत। दर्शपूर्णमासादयोऽपि यागाः, तद्विषयोऽयं विधिर्भविष्यति"। नैतद्युक्तम्। एवं सति समाचारविरोधः। न हि शिष्टाः सोमयागेभ्योऽन्यत्र क्वचिदर्घ्याय मधुपर्कमाहरन्ति। आचारो वेदादरः। अतोऽयमेव पाठो युक्तः 'यज्ञकर्मण्युपस्थित' इति। प्रारभ्यमाणयज्ञ आगतं शिष्टा मधुपर्केण पूजयन्ति, न प्रवृत्तयज्ञाः। अतश्चैतदपि न विचारयामः। सामान्यतः प्राप्तस्य दानस्य भवतु निवृत्तिर्न पुनस्तद्विषयतयैव श्रुतस्य।

यज्ञश्चासौ कर्म च तद्यज्ञकर्म तस्मिन्नुपस्थिते प्राप्ते ॥११०॥

हिन्दी—यदि राजा तथा स्नातक (एक वर्ष के बाद भी) यज्ञ में आवें तो मधुपर्क से उनकी पूजा करे और यदि यज्ञ में नहीं आये हों तो मधुपर्क से उनकी पूजा नहीं करे ॥११०॥

विमर्श—जामाता तथा श्वसुर आदि ([१]ऋत्विक्, चाचा, मामा आदि) यज्ञ समय से भिन्न अवसर पर भी यदि एक वर्ष के बाद आवें तो उनकी पूजा मधुपर्क से करें तथा एक वर्ष के भीतर यज्ञ और विवाह के अवसर पर ही सब लोगों की मधुपर्क से पूजा करें।

स्त्रियों के द्वारा अमन्त्रक बलि देना—

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥१११॥

भाष्य—उक्तः प्रथमः। इदानीं द्वितीयः पाक उच्यते।

सायं दिनान्तः प्रदोषस्तत्र सिद्धस्यान्नस्य सर्वः पाञ्चयज्ञिक विधिरावर्तनीयो ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञवर्जम्।

"ननु च बलिं हरेदित्येतावच्छ्रुतम्। बलिहरणं च प्रसिद्ध्या भूतयज्ञ एव। तत्र कुतोऽग्नौ होमोऽतिथ्यादिदानं च। अथ—'**वैश्वदेवं हि नामैतदिति** वैश्वदेवशब्दः

---

१. तदाह गौतमः—

'ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः।
संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरवाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च॥' इति (म०मु०)।

मधुपर्कशब्द: कर्मनामधेयम्। गृह्यात्तस्य स्वरूपावगम:।

परिसंवत्सरानिति राजादिपूज्यविशेषणम्। परिगतोऽतिक्रान्त: संवत्सरो येषां तान्। यदि संवत्सरोऽतीते आगच्छन्ति तदा मधुपर्कार्हा अर्वाङ् न।

केचिदेवं व्याचक्षते। यदि संवत्सरादर्वागागच्छन्ति तदाऽनतीतेऽपि संवत्सरे प्रथमपूजाया: पुनर्लभन्ते पूजाम्।

अन्ये त्वाहु:। सांवत्सरिकी तेषां पूजा, न यावदागमनम्। अस्मिन्पक्षेऽर्वागागमनं न पूजाप्रतिबन्धकम्।

पाठान्तरं **परिसंवत्सरादिति**। यावदेव संवत्सरं तावत्परिसंवत्सरात्तत ऊर्ध्वं पुन: पूज्या इत्यर्थ:॥१०९॥

हिन्दी—राजा, ऋत्विज् (यज्ञ कराने वाले वेदपाठी), स्नातक, गुरु, जामाता (दामाद-पुत्रीपति), श्वसुर और मामा—इनको एक वर्ष के बाद अपने (गृहस्थ के) घर जाने पर मधुपर्क विधि से पूजन करना चाहिये॥१०९॥

राजा तथा स्नातक की पूजा में सङ्कोच—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थिते।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थिति:॥११०॥

भाष्य—यज्ञे निमित्तेऽर्वागपि संवत्सरात्प्राप्त्यर्थोऽयमिति केचित्। अन्ये तु पूर्वस्यैव राजश्रोत्रिययोरुपसंहारमाहु:। अनुपसंहारे हि **नत्वयज्ञ** इति नोपपद्यते।

अत्र **श्रोत्रियो** य: स्नातक: प्रागुक्तो, यदि वा ऋत्विगेव। तस्य हि यज्ञकर्मणि प्रारिप्स्यमाने मधुपर्कदानं विहितम्। यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत, कृतार्घ्या एवैनं याजयेयु:। एवं क्लृप्तमूलैषा स्मृतिर्भविष्यति। इतरथा कल्प्येत मूलम्।

अन्ये तु सर्वानृत्विगादीञ्छ्रोत्रियशब्देन निर्दिष्टान्मन्यन्ते। यथा चाविशेषेण गौतमेन पठितम् (५। २५, २७)। "ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्क" इत्युक्त्वा "यज्ञविवाहयोरर्वाग्" इति पठितवान्। अतश्च सर्वेषामेवार्घ्याणां यज्ञे निमित्तेऽर्वागपि संवत्सरादर्घार्हता स्यात्।

न त्वयज्ञ इति च प्रतिषेधोऽर्वाक्संवत्सरान्नोर्ध्वमित्येवं ज्ञेय:।

इह द्वितीये पादेऽनेकधा पाठप्रतिपत्ति:।

केचित्पठन्ति "तते यज्ञ उपस्थिता'विति। तेषामयमर्थ:। 'तते' प्रारब्धे यज्ञे यदि प्राप्तौ भवतो निमन्त्र्यानीतौ, तदेयं मधुपर्कक्रिया तयो:। न पुन: प्रारभ्यमाणे।

एष पक्ष: कैश्चिद्दूष्यते। दीक्षितो न ददातीति दीक्षितस्य सर्वदानप्रतिषेधान्मधुपर्क-

दानमनुज्ञायमानं तद्विरुद्धं स्यात्। न च शक्यं वक्तुं—"दानमेतन्न भवति, अर्हयेदिति नोदनात् पूजैषा विधीयते"। यतोऽस्ति मधुपर्के दधिदानं मांसभोजनादिदानं च। अथोच्यते "स्वयमेव तत्परकीयं भुज्यत इति"। एवं सति स्तेयदोषः स्यात्। "वचनान्नेति" चेदस्त्येव तर्हि ददात्यर्थः। चोदितं च ददातिः, 'मधुपर्कं च दद्यादिति'। तस्माद्विरुद्धम्। "दीक्षितो न ददातीत्यनेन स्याद्विरोधः यदि यज्ञशब्दः सोमयागेष्वेव वर्तेत। दर्शपूर्णमासादयोऽपि यागाः, तद्विषयोऽयं विधिर्भविष्यति"। नैतद्युक्तम्। एवं सति समाचारविरोधः। न हि शिष्टाः सोमयागेभ्योऽन्यत्र क्वचिदर्घ्याय मधुपर्कमाहरन्ति। आचारो वेदादरः। अतोऽयमेव पाठो युक्तः 'यज्ञकर्मण्युपस्थित' इति। प्रारभ्यमाणयज्ञ आगतं शिष्टा मधुपर्केण पूजयन्ति, न प्रवृत्तयज्ञाः। अतश्चैतदपि न विचारयामः। सामान्यतः प्राप्तस्य दानस्य भवतु निवृत्तिर्न पुनस्तद्विषयतयैव श्रुतस्य।

यज्ञश्चासौ कर्म च तद्यज्ञकर्म तस्मिन्नुपस्थिते प्राप्ते ॥११०॥

हिन्दी—यदि राजा तथा स्नातक (एक वर्ष के बाद भी) यज्ञ में आवें तो मधुपर्क से उनकी पूजा करे और यदि यज्ञ में नहीं आये हों तो मधुपर्क से उनकी पूजा नहीं करे ॥११०॥

विमर्श—जामाता तथा श्वसुर आदि ([१]ऋत्विक्, चाचा, मामा आदि) यज्ञ समय से भिन्न अवसर पर भी यदि एक वर्ष के बाद आवें तो उनकी पूजा मधुपर्क से करें तथा एक वर्ष के भीतर यज्ञ और विवाह के अवसर पर ही सब लोगों की मधुपर्क से पूजा करें।

स्त्रियों के द्वारा अमन्त्रक बलि देना—

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥१११॥

भाष्य—उक्तः प्रथमः। इदानीं द्वितीयः पाक उच्यते।

सायं दिनान्तः प्रदोषस्तत्र सिद्धस्यान्नस्य सर्वः पाञ्चयज्ञिक विधिरावर्तनीयो ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञवर्जम्।

"ननु च बलिं हरेदित्येतावच्छ्रुतम्। बलिहरणं च प्रसिद्ध्या भूतयज्ञ एव। तत्र कुतोऽग्नौ होमोऽतिथ्यादिदानं च। अथ—'**वैश्वदेवं हि नामैतदिति** वैश्वदेवशब्दः

---

१. तदाह गौतमः—

'ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः।
संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरवाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च॥' इति (म०मु०)।

सर्वार्थतां प्रतिपादयति । विश्वेषां देवानामिदं विधीयते । **सायंप्रात**र्यादृशं प्रातस्तादृशमेव सायमेतदर्थमेव प्रातःशब्दः । अन्यथा प्रातर्विहितमेव, किमनेन सायंप्रातर्विधीयते'। एवं तर्हि ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञावपि कर्तव्यौ''।

उच्यते । **अन्नस्य सिद्धस्ये**तिवचनाद्यदन्नसाध्यं तदेव कर्तव्यम् । न त्वध्ययनसाध्यो ब्रह्मयज्ञो नाप्युदकसाध्यं तर्पणम् । एवं च सम्बन्धः क्रियते—'सिद्धस्यान्नस्य बलिं हरेत्, तदद्वैश्वदेवाख्यं कर्मान्नस्य सिद्धस्योभयोः कालयोर्विधीयते' । अन्नशब्दाद्वैश्वदेवशब्दश्चैवं व्याख्यायते ।

अमन्त्रम् । मन्त्रशब्देन देवतोद्देशशब्दवान् स्वाहाकारान्तोऽग्नये स्वाहेत्येवमादिर्निषिध्यते । न ह्यन्ये मन्त्रा वैश्वदेवेषु विनियुक्ताः । तेषु च मन्त्रत्वं प्रशंसयोच्यते । न तु स्वाध्यायेऽपठितानां मन्त्रत्वमस्ति । स्वाध्यायैकदेशः कश्चिदृग्यजुःसामाद्यात्मको वेदाध्यायिभिर्मन्त्र इति व्यवह्रियते । व्यवहारतश्च पदार्थावगमनम् । न च यैः शब्दैर्बलिहरणादि क्रियते ते कुत्रचित्पठ्यन्ते । केवलम् 'अग्न्यादिभ्यो देवेभ्यो होमं कुर्यादिति' श्रुतेः । 'स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः सम्प्रदीयत' इति वाक्यान्तरेण सर्वहोमेषु स्वाहाकारो विहितो, याज्यान्ते वषट्कारो नियमितो—'याज्यायां वषट्करोतीति' । स्वाहाकारशब्दयोगे चतुर्थी स्मर्यते । अतो यागे देवताया उद्देश्यत्वात्, उद्देश्यत्वं च देवतायाः शब्दावगम्यरूपत्वात् शब्देनैवोचितत्वादियं घटना क्रियते "अग्नये स्वाहेत्यादि" ।

"यद्येवं तेषां निषेधः, कथं तर्हि यागनिर्वृत्तिः । न हि 'तुभ्यमिदं न मदीयमिति' यावदुद्देशो न कृतस्तावद्यागस्वरूपनिर्वृत्तिः । न हि त्यागः केवलो याग उद्देशशून्यः" ।

सत्यम् । शब्दे निषिद्धे मनसोद्देशं देवतायाः पत्नी करिष्यति । यथा शूद्रो नमस्कारमुच्चारयति । 'अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारोऽमन्त्र' (गौतम १०।६४) इति नमस्कारेण प्रत्याम्नातः शूद्रस्य मन्त्र इति नमस्कारोऽनुज्ञातोऽस्य, न देवतापदम् । तत्र च देवताया विनियोगात् सिद्धिरित्युक्तम् । इह भवन्तस्त्वाहुः स्वाहाकारो नमस्कारेण प्रत्याम्नातः शूद्रस्य, देवतापदं त्वनिषिद्धम् ।

"अथ सायंवैश्वदेवहोमे कः कर्ता"?

उक्तं पत्न्येव सन्निधानाद्बलिहरणवदमन्त्रकं करिष्यतीति ॥१११॥

हिन्दी—स्त्री सायंकाल में पक्व (पके हुए) अन्न को बिना मन्त्रोच्चारण किये (इन्द्राय नमः इत्यादि मन्त्रों को बिना कहे) ही बलि देवे । सायंकाल और प्रातःकाल बलिवैश्वदेव कर्म करने का यह शास्त्रोक्त विधान है ॥१११॥

अमावस्या को पार्वणश्राद्ध—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ।।११२।।

भाष्य—वैश्वदेविकाद्वैकल्पिकाच्छ्राद्धान्नित्यमिदं श्राद्धान्तरमुच्यते।

चन्द्रक्षयेऽमावास्यायाम्। तत्रापि न यस्यां कास्याञ्चन वेलायां किं तर्हि **पितृयज्ञं निर्वर्त्य**। श्रौतो यः पिण्डपितृयज्ञस्तं कृत्वा। एवं च यस्तस्य कालः स एवास्यापि लभ्यते। तदुक्तममावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञ इति।

अनाहिताग्नेरप्यौपासनयोगोऽस्त्येव। तथा चाह। 'एवमनाहिताग्निर्नित्ये श्रपयित्वे'-त्यादि। **अग्निमान्** वैवाहिकेनाग्निना तद्वान्, दायकालाहृतेन वा।

विप्रग्रहणमविवक्षितम्। क्षत्रियवैश्ययोरपीष्यते। एवं स्मृत्यन्तरेषु ह्यविशेषणोक्तम्।

पिण्डान्वाहार्यकमिति। नामधेयमिदमस्य श्राद्धस्य। पिण्डानामनुपश्चादाह्रियते-ऽनुष्ठीयते। तत् 'पिण्डान्वाहार्यकं' भवति।

मासश्चानुमासश्च, तयोर्भवं **मासानुमासिकम्**। मासानुमासशब्दसमुदायो मासगतां वीप्सामाचष्टे। मासि मासि कर्तव्यमित्युक्तं भवति। अतश्च नित्यतासिद्धिः। यद्यप्यनु-मासशब्दाद्वीप्सावगतिर्भवति, मासशब्दोऽतिरिच्यते, तथापि पद्यग्रन्थे गौरवं नाद्रियते।

श्राद्धमित्येतदपि नामैव। कुर्यादिति विधिः ॥११२॥

हिन्दी—(अब पूर्व (३।११२) प्रतिज्ञात श्राद्धप्रकरण का आरम्भ करते हैं—) अग्निहोत्री विप्र (द्विज) अमावस्या को पितृयज्ञ पूराकर प्रतिमास आमावस्या को 'पिण्डान्वाहर्यक' नाम के श्राद्ध को करे॥११२॥

मास से श्राद्ध—

पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ।।११३।।

भाष्य—अन्वाहार्यं दर्शपौर्णमासयोः श्रौतयोर्दक्षिणर्त्विजाम्। यदेतन्मासिकं श्राद्धममावास्यायामेतत्पितृणाम् 'अन्वाहार्यम्'। यथाऽन्वाहार्येणर्त्विजः प्रीयन्ते तद्वत्पितरः श्राद्धेन। एतेन पित्रर्थतां श्राद्धस्याह। यथाऽग्न्यादिदेवतार्थो दर्शादियाग एवं न श्राद्धे पितरः, किं तर्हि तदुपकारार्थमेव श्राद्धम्। तथा च **पितृणामिति** षष्ठी। केवले हि देवतात्वे चतुर्थ्याविरहायोगः।

पक्षे पाठान्तरमर्थान्तरं च 'पिण्डानां मासिकमिति'।

अन्वाहार्यं विदुर्बुधाः। अनेनापि पितृयज्ञवदवश्यकर्तव्यतोच्यते। न त्विद-

मङ्गम्। तदेत**दामिषेण** मांसेन **कर्तव्यम्। प्रशस्तेना**प्रतिषिद्धेन विशेषविहितेन वा। "द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन" इति यद्वक्ष्यति।

अयं च मुख्यः कल्पः। तदभावे दधिघृतपयोऽपूपादि विधायिष्यते।

मांसं च व्यञ्जनम्, भक्तादिभोज्यस्य। न पुनरेतदेव केवलं भोज्यं, येन वक्ष्यति "गुणांश्च सूपशाकाद्यान्" तथा "यावन्तश्चैव यैश्चान्नैरिति" ॥११३॥

"किं पुनः श्राद्धे होमब्राह्मणभोजनपिण्डनिर्वपणादीनि कर्माणि सर्वाण्येव समप्रधानानि श्राद्धशब्दवाच्यानि, उत किञ्चिदङ्गमत्र किञ्चित्प्रधानम्"।

उच्यते। 'श्राद्धं भोजयेत्'—'श्राद्धं भुक्तमनेनेति' सामानाधिकरण्याद् ब्राह्मणभोजनं मुख्यं प्रतीयते। तथा चाह—

हिन्दी—विद्वान् लोग पितरों के मासिक श्राद्ध को 'अन्वाहार्य' कहते हैं, उसे श्रेष्ठ (शास्त्रोक्त विहित) माँस से करना चाहिये ॥११३॥

[न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः।
इन्दुक्षये प्रतिमासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥१८॥]

[**हिन्दी**—जिसका पिता मर गया हो, ऐसा वो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) अमावस्या को प्रतिमास श्राद्ध (पिण्डान्वाहार्य) नहीं करता है, वह द्विज प्रायश्चित्ती होती है ॥१८॥]

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥११४॥

भाष्य—तच्च तस्मिञ्छ्राद्धे **ये द्विजोत्तमा** ब्राह्मणा **भोजनीया** ये च परिहर्तव्याः, **यावन्तो** यत्संख्याका 'द्वौ दैव' इत्यादि, **यैश्चान्नैः** "तिलैर्व्रीहियवै"रित्यादि, तदेतत्सर्वमिदानीं **वक्ष्यामि**। तच्छृणुत।

एतदत्र प्राधान्येन सम्पाद्यम्। एतेन विना श्राद्धं न कृतं भवति। अन्यच्च यच्चाङ्गजातमारादुपकारकं सन्निपत्योपकारकं वा तस्मिन्नसम्पन्ने श्राद्धं कृतं भवति, सगुणं तत्र स्यात्। अत एतेषां प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपन्यासः ॥११४॥

हिन्दी—(भृगु जी महर्षियों से कहते हैं कि)—उस श्राद्ध में जो श्रेष्ठ ब्राह्मण भोजन करने के योग्य हैं, तथा जो वर्जनीय (त्याग करने के योग्य) हैं, तथा जितनी संख्या में एवं जिन अन्नों से भोजन के योग्य हैं, उन सबको मैं कहूँगा ॥११४॥

भोजनीय ब्राह्मणों की संख्या—

द्वौ दैवे पितृकृत्ये श्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रवर्तेत विस्तरे ॥११५॥

यद्यपि प्रतिज्ञातस्य वस्तुनस्तेनैव क्रमेण विशेषकथनं युक्तं, तथापीहा स्वल्पवक्त-व्यत्वाद्भोजनीया इति प्राप्तं परित्यज्य संख्यानिर्देशोऽनेन क्रियते।

देवानुद्दिश्य द्वौ ब्राह्मणौ भोजयेत्। पितॄणां कृत्ये त्रीन्। **उभयत्र वा**, दैव एकं पित्र्ये चैकम्।

यद्यपि 'पित्रये' इत्यत्र पितुरिदमिति पितृशब्देन देवताचोदना, तथापि पितृपितामह-प्रपितामहा उद्देश्याः। तत्रैकेकस्यैकैकं भोजयेत्, न त्वेवैकं सर्वेभ्यः, पृथक्पृथग्देवतात्वात्। उक्तं च गृह्यकारेण ''न त्वेवैकं सर्वेषाम्'', ''पिण्डैर्व्याख्यातम्'' इति। यथैकः पिण्डः सर्वेभ्यो न निरूप्यते तथैव ब्राह्मणोऽपि न भोज्यत इत्यर्थः। इहापि वक्ष्यति, ''निमन्त्रयेत त्र्यवरान्'' इति। भोजनार्थमेव तन्निमन्त्रणं, नादृष्टार्थम्। अतश्च पितृकृत्ये त्रींस्त्रीनिति द्रष्टव्यम्। तथा चाह ''न चावरान्भोजयेत्'' इति। एवं च कृत्वा'एकैकमपि विद्वांसम्'-इत्येतदप्येवमेव द्रष्टव्यम्। एकैकस्यैकैकमिति।

अपि च नैवात्रैकैकमुभयत्रेत्येतद्विधीयते, विस्तरप्रतिषेधार्थोऽयमनुवादः। यथा ''विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्वेति''।

''यद्येवं 'द्वौ दैव' इत्येषोऽपि विधिर्न स्यादस्याप्यन्यार्थतयोपपत्तेः। अथायं विधिरप्राप्तत्वादेकैकमित्येषोऽपि कस्मान्न भवति''।

अत्राह। मा भूद्द्वयोरेकोऽपि विधिः।

''कुतस्तर्हि संख्यावगमः''।

'नियन्त्रयेत त्र्यवरानिति'।

''नन तत्र दैवग्रहणं नास्ति''।

स्मृत्यन्तरात्तर्हि संख्यावगमः। 'अयुजो वा यथोत्साहमिति' 'युगमान्दैव' इति (याज्ञ-१।२२७)। यदि वाऽयं संख्याविधिः स्याद्विस्तरप्राप्त्यभावात्प्रतिषेधोऽनर्थकः। तस्माद्यावद्भिर्ब्राह्मणैर्भोजितैर्विस्तरे ये दोषास्ते न भवन्ति तावन्तो भोजनीयाः। पित्र्येऽयुग्माः दैवे तु द्वावेव।

सुसमृद्धोऽप्यत्यर्थमाढ्योऽपि **न प्रवर्तेत विस्तरे** ॥११५॥

न चायमदृष्टार्थो विस्तरप्रतिषेधः किं तर्हि—

हिन्दी—गृहस्थ देवकार्य में दो ब्राह्मणों को तथा पितृश्राद्ध में तीन ब्राह्मणों को अथवा उन दोनों कार्यों में १-१ ब्राह्मण को ही भोजन करावे, धनवान् भी अधिक विस्तार (ब्राह्मण—संख्या में वृद्धि) न करे ॥११५॥

ब्राह्मण भोजन में विस्तार का निषेध—

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥११६॥

भाष्य—एतान्दोषानापादयति । विस्तरोऽतो नेष्यते । यदि तु शक्यन्ते सत्क्रियादय उपपादयितुं तदा यथोत्साहम् ।

सत्क्रियाऽन्नसंस्कारविशेषः । **देशो** दक्षिणप्रवणादिः "अवकाशेषु चोक्षेष्विति" वक्ष्यमाणः । **कालः** अपराह्णः "मध्याह्नाच्चलिते सूर्ये" इति ।

शौचमात्मब्राह्मणप्रेष्यगतम् ।

ब्राह्मणानां सम्पत् गुणवद्ब्राह्मणलाभः ।

एते गुणा अवश्यं सम्पाद्याः । ते च विस्तरेण नश्यन्ति । विस्तारो वैगुण्यम् । ब्राह्मणबहुत्वे चासौ प्रसज्जति । **तस्मान्नेहेत** न कुर्यात् ॥११६॥

हिन्दी—सत्कार्य, देश, काल, शुद्धता और ब्राह्मण-सम्पत्ति (उत्तम ब्राह्मणों की प्राप्ति) इन पाँचों को विस्तार (अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना) नष्ट करता है। अतएव अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन नहीं करावे ॥११६॥

पार्वण श्राद्ध की अवश्य कर्त्तव्यता—

प्रथिता प्रेतकृत्यैष पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥११७॥

भाष्य—न यथा दैवानि कर्माण्यदेवतार्थान्येवं पित्र्यं नाम तत्कर्म तत्—

किं तर्हि—**प्रथिता** ख्याता वेदविदाम् **प्रेतकृत्या** प्रेतोपक्रिया । **विधुक्षये**। विधुश्चन्द्रस्तस्य क्षय अमावास्या ।

'तिथिक्षय' इति पाठान्तरम् । 'विधिक्षय' इति तु पाठो निर्दुष्टः । एंव हि तत्र योजनम्—पित्र्यं नाम 'विधि' चोदितं कर्म—'क्षये' गृहे ।

तस्मिन् कर्मणि पित्र्ये । **युक्तस्य** तत्परस्य । **नित्यं** कर्तुरुपतिष्ठते । **प्रेतकृत्यैव**। तस्यापि 'प्रेतस्य' 'कृत्या'उपकारः श्राद्धादिः पुत्रैः क्रियते ।

पुत्रपौत्रादिसन्तत्यविच्छेदः श्राद्धफलमनेन प्रकारेण प्रतिपाद्यते । न च तत्फलकामस्यायमधिकारो, नित्यत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।

अन्ये त्वधिकारान्तरमिदं सन्तत्यविच्छेदकामस्येच्छन्ति ।

लोकिकीयं कर्तव्यता, स्मार्तेत्यर्थः ॥११७॥

हिन्दी—यह पितृश्राद्ध 'प्रेतकृत्य' कहलाता है; अमावस्या को उसके करने में लगे हुए द्विज को लौकिक प्रेतकृत्या अर्थात् स्मार्त (स्मृतिशास्त्रोक्त) पिता का उपकारक क्रिया पुत्र-पौत्रादि के रूप में प्राप्त होती है ॥११७॥

हव्य तथा कव्य को श्रोत्रियों के लिये देना—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ।।११८।।

भाष्य—श्रोत्रियः छान्दसः कृत्स्नमन्त्रब्राह्मणिकां शाखां अधीते यस्तस्मै **हव्यानि** श्राद्धाङ्गभोजनानि विश्वान्देवानुद्दिश्य यानि विहितानि तानि देयानि । **कव्यानि** पितृभ्य उद्दिश्य यानि भोजनानि ।

अर्हत्तमाय । 'अर्हता' पूज्यता योग्यता च । महाकुलीनः पूज्यते, महाकुले जातो विद्यावृत्तसम्पन्नश्च ।

तस्मै दत्तं श्राद्धादन्यदपि **महाफलम्** ।

एवं वा—अश्रोत्रियाय दानं निष्फलम्—श्रोत्रियायअभिजनविद्यादिगुणरहिताय स्वल्पफलम्—**अर्हत्तमाय महाफलम्** ।।११८।।

हिन्दी—दाता गृहस्थ हव्य (देवतोद्देश्यक अन्न) तथा कव्य (पितृ-उद्देश्यक अन्न) श्रोत्रिय (वेद का ज्ञाता) ब्राह्मण को ही देवे। अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मण के लिये दिया गया—(दान-हव्य-कव्यादि) उत्तम फलवाला होता है ।।११८।।

श्रोत्रिय की प्रशंसा—

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयन् ।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ।।११९।।

भाष्य—यदुक्तमर्हत्तमायेति तद्दर्शयति ।

विद्वांसमेकमपि भोजयन् पुष्कलं फलमाप्नोति ।

विद्वत्ता च व्याख्याता वेदार्थवेदनं, यत आह **नामन्त्रज्ञान् बहूनपि** । मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम् ।

असम्भवे पञ्चानां वेदविदुषामेकैकमपि विद्वांसं भोजयेदिति विध्यर्थः ।

पुष्कलं पुष्टं विपुलम् ।।११९।।

हिन्दी—देवों और पितरों के कार्य (क्रमशः यज्ञादि तथा श्राद्ध) में एक भी विद्वान् (वेद मन्त्रों का ज्ञाता) ब्राह्मण को गृहस्थ भोजन कराता है, तब भी वह (उससे) बहुत अधिक फल को (वह) प्राप्त करता है तथा वेद मन्त्रों को नहीं जानने वाले अनेक ब्राह्मणों को भी देने (देवयज्ञ तथा पितृश्राद्ध में भोजन कराने) से (वह दाता) फल को नहीं प्राप्त करता है ।।११९।।

श्रोत्रियों की परीक्षा—

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ।।१२०।।

भाष्य—न वेदपारग इत्येव भोजयितव्यः । किं तर्हि **दूरात् परीक्षेत** निपुणतो मातापितृवंशद्वयपरिशुद्धिज्ञानम् । यथोक्तं "ये मातृतः पितृतश्च दशपूरुषं समनुष्ठितविद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिः येषामुभयतो ब्राह्मण्यं निर्णयेषु"रित्येषा 'दूरात्परीक्षा'। तथा तत्त्वतोऽध्ययनविज्ञानकर्मानुष्ठानवेदनं च ।

वेदस्य 'पारः' समाप्तिः तं गतो **वेदपारगः** । न वेदसंहितां ब्राह्मणमात्रं वा पठन्नर्हो भवति । अस्मादेव दर्शनात् श्रोत्रियशब्देन वेदैकदेशमप्यधीयान उच्यत इति गम्यते ।

तीर्थं तद्धव्यकव्यानाम् । तीर्थमिव तीर्थं येनोदकं ग्रहीतुमवतरन्ति तत्तीर्थम् । तेन यथा मार्गेणोदकार्थिनो गच्छन्त उदकं लभन्ते एवं तादृशेन ब्राह्मणेन हव्यकव्यानि पितॄन् गच्छन्तीति प्रशंसा ।

अन्यस्मिन्नपि इष्टापूर्तदाने ब्राह्मणो**ऽतिथिः**—यथाऽतिथये स्वयमुपस्थिताय निर्विचिकित्सं दीयते, दत्तं महाफलम्, एवमीदृशाय ब्राह्मणाय हव्यकव्ये निर्विचिकित्संदातव्ये, महाफले भवतः ॥१२०॥

हिन्दी—गृहस्थ दूर से ही वेदतत्त्व के ज्ञाता ब्राह्मण की (पिता-पितामह अर्थात् बाप-दादा आदि की जानकारी द्वारा) परीक्षा करे । वह (वेदतत्त्व ज्ञाता ब्राह्मण) हव्य-कव्य-दान का तीर्थ (पात्र) स्वरूप अतिथि कहा गया है ॥१२०॥

दश लाख ब्राह्मणों से एक विद्वान् ब्राह्मण की श्रेष्ठता—

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ।।१२१।।

भाष्य—अनृचां अनृगर्थविदाम् । उपलक्षणम्—यतोऽनृचानां प्राप्तिरेव नास्ति, श्रोत्रियायैवेति नियमात् ।

समासान्तः छान्दसत्वान्न कृतः, वृत्तानुरोधाच्च । एवं हि पठन्ति । "अपि माषं मषं कुर्यान्न तु छन्दो विचालयेत्" इति ।

अथवा अनृचा इति प्रथमाबहुवचनम् । 'अनृचाः सहस्रं यत्र भुञ्जते' इति सम्बन्धः । यथा सहस्रं गाव इति ।

एक प्रीतस्तर्पितो भोजितो **मन्त्रविद्**वेदार्थवित्—**सर्वास्तान् अनृचानर्हति** स्वी-

करोति आत्मसात्करोति, तैरभेदमापद्यते। अभेदे च यत्तेषु सहस्रेषु भोजितेषु फलं तदेकस्मिन्नवाप्यते इत्यवगतिरुत्पद्यते।

निन्देयमविदुषो विद्वद्विध्यर्था। न पुन: सहस्रसंख्यातानामेकस्य च समफलत्व-मुच्यते। विदुषां विधानादविदुषां प्राप्तिरेव नास्ति। अथाप्यसति विदुषि 'श्रोत्रियायैवे'-त्येनेन पाक्षिकी अविदुषोऽपि प्राप्तिराशंक्येत, तथापि विस्तरस्य प्रतिषेधो मा भूदित्यतो यथाश्रुतार्थसम्भव: ॥१२१॥

हिन्दी—जिस श्राद्ध में हजार गुना हजार (दस लाख) बिना पढ़े हुए ब्राह्मण भोजन करते हैं, वहाँ यदि वेद पढ़ने वाला एक ही ब्राह्मण भोजन कर सन्तुष्ट हो तो उन दस लाख भोजन करने वाले ब्राह्मणों के योग्य होता (उनके बराबर फल को देता) है ॥१२१॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यत: ॥१२२॥

भाष्य—'ज्ञानेन' विद्यया 'उत्कृष्ट:' अधिक: तस्मै **देयानि** कव्यानि।

अयमसौ हस्तरुधिरदिग्धोपमार्थ:। रुधिरदिग्धौ हस्तौ रुधिरेणोपमृज्यमानावधि-कतरं रज्येते, न निर्मलौ भवत:, एवमविद्वान् ब्राह्मण: भोज्यमान: पितृनधो नय-तितराम् ॥१२२॥

हिन्दी—ज्ञान से श्रेष्ठ ब्राह्मण को ही कव्य तथा हव्य देना (श्राद्ध तथा यज्ञ में भोजन कराना; दान देना) चाहिए; क्योंकि रक्त से लिप्त हाथ रक्त के द्वारा (धोने से) शुद्ध (साफ) नहीं होता है, (किन्तु निर्मल पानी से धोने पर ही रक्तादि-दूषित हाथ शुद्ध होता है, अतएव विद्वान् ब्राह्मण को ही भोजन कराने से श्राद्धादि का फल मिल सकता है, अन्यथा नहीं) ॥१२२॥

मूर्ख ब्राह्मण को भोजन कराने का फल—

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेतो दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥१२३॥

भाष्य—सत्यपि श्राद्धप्रकरणे वाक्याद्भोक्तुरयं दोषानुवाद:। तथा चोक्तं "तस्माद-विद्वान् बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्" इति।

शूलर्ष्ट्यय: आयुधविशेषा:, **अयोगुड:** आयस: पिण्ड:। यदर्थं श्राद्धमारब्धं स दीप्तान् तप्ताय: पिण्डान् यमपुरुषैराश्यते।

व्यासदर्शनात्तु भोजयितुरयं दोषो न भोक्तु:। न पितृणां न तावन्मृतानामन्यकृतेन

प्रतिषेधातिक्रमेण दोषसम्बन्धो युक्तः, अकृताभ्यागमादिदोषापत्तेः । यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः कोऽपराधो मृतानाम् । "ननु चोपकारोऽपि पुत्रकृतः पितॄणामनने न्यायेन न प्राप्नोति" । न प्राप्नुयाद्यदि तादर्थ्येन श्राद्धादि नोदितं स्यात् । इह तु नास्ति चोदना, पितुरुपकारकामेनैवं कर्तव्यं, श्येनवत् । यत्तु "तावतो ग्रसते प्रेत" इति तद्भोजयितृसम्बन्धेऽप्युपपद्यते । 'यस्य **ब्राह्मण** ईदृशः श्राद्धं भुङ्क्ते स इदं फलमाप्नोति' इति युक्तः सम्बन्धः । प्राकरणिकश्चायमविद्वद्भोजनप्रतिषेधः । तदतिक्रमणे कर्मवैगुण्यं, तद्वैगुण्ये च श्राद्धाधिकारान्निवृत्तिरेव दोषः । पितॄणां श्राद्धोपकारालाभः । ततोऽपि विध्यतिक्रमे पुत्रस्य युक्तः प्रत्यवायः । किं तर्हि तद्भगवतो व्यासस्य वचनम्—

"ग्रसते यावतः पिण्डान् यस्य वै हविषोऽविदः ।
ग्रसते तावतः शूलान् गत्वा वैवस्वतक्षयम्" ॥

पाठान्तरं प्रेत्येति । भोक्तुरेव प्रेत्यता । नाविदुषा दैवपित्र्ययोर्भोक्तव्यम् ॥१२३॥

हिन्दी—वेद मन्त्र को नहीं जानने वाला ब्राह्मण हव्य (यज्ञ) तथा कव्य (श्राद्ध) में जितने ग्रासों को खाता है, श्राद्धकर्त्ता (उक्त कर्मों में उस मूर्ख ब्राह्मण को भोजन कराने वाला) मरने पर उतने ही गरम-गरम शूलर्ष्टि (दोतरफा धार वाला अस्त्र विशेष) और लोहे के पिण्डों को खाता है (अतः मूर्ख ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन नहीं करना चाहिए) ॥१२३॥

विमर्श—मनु भगवान् ने उक्त वचनों (३।११८-१२३) द्वारा यज्ञ तथा श्राद्ध कर्म में मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराना सर्वथा निष्फल बतलाया है। अतएव कोई यज्ञकर्त्ता या श्राद्धकर्त्ता व्यक्ति अपने नाम कमाने (प्रसिद्धि प्राप्त करने) के लिये सैकड़ों—सहस्रों ब्राह्मणों को भले ही भोजन कराकर आत्मसन्तोष का अनुभव कर ले; किन्तु मनु भगवान् के उक्त वचनों के अनुसार यज्ञकर्त्ता या श्राद्धकर्त्ता को यज्ञ या श्राद्ध का फल कदापि नहीं मिलेगा। इस कारण से ब्राह्मणों को भी समय रहते ही सावधान होकर विद्वान् बनना चाहिये, अन्यथा अब अधिक दिनों तक उनकी पोल-पट्टी नहीं चल सकेगी।

ब्राह्मणों का ज्ञाननिष्ठ आदि होना—

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे ।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥१२४॥

भाष्य—सर्वगुणेभ्यो विद्यां प्रशंसितुं गुणविभागकथनम्, प्रशंसा च विदुषे दानार्था।

ज्ञाने विद्यायां 'निष्ठा' प्रकर्षो येषां ते **ज्ञाननिष्ठाः** ज्ञानाधिकारिणः । गमकत्वाद्व्यधिकरणानामपि बहुव्रीहिः । भृशमभ्यस्तवेदार्थास्तत्परा एवमुच्यन्ते ।

एवं सर्वत्र निष्ठान्तेषु द्रष्टव्यम्।

तपश्च स्वाध्यायश्चेति द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। 'तपांसि' चान्द्रायणादीनि, 'स्वाध्यायो' वेदाध्ययनम्।

कर्माण्यग्निहोत्रादीनि।

सर्व एते गुणाः सर्वेषु समुच्चिता इति द्रष्टव्याः। न हि एकगुणसद्भाव इतरगुणहीनस्य पात्रतामापादयति, किंतु कस्यचित्कोऽपि प्रकर्ष उच्यते। यथा च निष्ठाशब्दः समाप्तिवचनः प्रकर्षं लक्षयति। तन्निष्ठस्तत्पर उच्यते। सर्वगुणसद्भावेऽपि यदि एकत्र प्रकर्षोऽन्ये च गुणाः मध्यमाः, तथा च भवत्येव पात्रम्। अप्रकृष्टे त्वेकस्मिन् सर्वगुणसद्भावेऽपि न पात्रतां लभन्ते।

समुच्चयश्च व्याख्यायते, येन न ज्ञानरहितस्य कर्मानुष्ठानसद्भाव इत्युक्तं द्वितीये।

अन्यैस्तु **ज्ञाननिष्ठः** परिव्राजको व्याख्यायते। तस्य हि आत्मज्ञानाभ्यासः कर्मन्यासेन विशेषतो विहितः। **तपोनिष्ठो** वानप्रस्थः। स हि तापस इत्याख्यायते। "ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्यादिति" (अ० ६ श्लो० २३)। **तपःस्वाध्यायनिष्ठाः** ब्रह्मचारिणः। **कर्मनिष्ठा** गृहस्थाः। अतश्चानाश्रमिणो निषिध्यन्ते। तथा च पौराणिकाः "चातुराश्रम्यबाह्येभ्यः श्राद्धं नैव प्रयोजयेत्" ॥१२४॥

हिन्दी—कोई ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी होते हैं) कोई तपोनिष्ठ (प्रजापत्यादि तपस्या में आसक्त) होते हैं, कोई तप तथा स्वाध्याय (वेदपाठ) में निष्ठ आसक्त होते हैं और कोई कर्मनिष्ठ होते हैं ॥१२४॥

ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण को हव्य-दान—

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥१२५॥

भाष्य—गुणविभागे प्रयोजनमाह।

कव्यानि पितॄनुद्दिश्य यद्दीयते तत्'कव्यम्'। तानि **ज्ञाननिष्ठेषु प्रतिष्ठाप्यानि** प्रदेयानीत्यर्थः।

यत्नवचनात्तदभावे चतुर्ष्वपि हव्यवत्।

पित्र्ये ज्ञाननिष्ठाः पात्रतमाः। उक्तं हि "पात्राणामपि तत्पात्रं" इति, अन्नदानमविशेषेण चतुर्भ्योऽपि इति श्लोकार्थः।

न्यायः शास्त्रीयो विधिः ॥१२५॥

हिन्दी—उन ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी) ब्राह्मणों के लिए कव्यदान (पितरों के

उद्देश्य से अन्नदान—भोजनादि) करना चाहिये और हव्यदान (देवताओं के उद्देश्य से अन्नदान-भोजनादि) उन चारों (३।१२४॥ के लिये करना चाहिये ॥१२५॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ।।१२६।।

भाष्य—संशयोपन्यासार्थः श्लोकः ॥१२६॥

हिन्दी—जिसका पिता वेदज्ञाता नहीं है और पुत्र वेदज्ञाता है, अथवा जिसका पिता वेदज्ञाता है और पुत्र वेदज्ञाता नहीं है—॥१२६॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्यस्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ।।१२७।।

भाष्य—यस्य पिता अपाठः स्वयं तु वेदपारगः साङ्गवेदाध्यायी, इतरस्य तु पिता वेदपारगः स्वयं तु मूर्खः, तयोः कः श्रेयानिति संशयं कृत्वा सिद्धान्तमाह—

अनयोः स्वयंश्रोत्रियपितृमूर्खस्वयंमूर्खपितृश्रोत्रिययोः स्वयंमूर्खपितृश्रोत्रियं **ज्यायांसं** प्रशस्यं श्राद्धे योग्यं जानीयात्, यद्यस्य श्रोत्रियः पिता। इतरो मन्त्रपूजनार्थं, न ब्राह्मणबुद्ध्या, किं तु मन्त्रास्तेन येऽधीतास्ते तत्र पूज्यन्ते। न मन्त्राणां श्राद्धे पूजा विहिता, तस्मान्नासौ भोजयितव्यः ।

श्लोकद्वयेन संशयसिद्धान्तरूपोपन्यासेनार्थवादभङ्ग्या पितृश्रौत्रियत्वमात्मश्रोत्रियत्वं च श्राद्धभोजने कारणमित्येतदुच्यते, न केवलमात्मश्रोत्रियत्वम्। न तु स्वयमनधीयानस्य पितृश्रोत्रियत्वेन भोज्यता विधीयते। तदुक्तं "दूरादेव परीक्षेत" इति। अत्राध्ययनपरीक्षा पुरुषद्वयविषयाऽनेन नियम्यते। जातिगुणपरीक्षा तु ततोऽधिकपुरुषविषयाऽपि यथा। अतस्तस्यैव विशेषाभिधानार्थत्वादपौनरुक्त्यम् ॥१२७॥

हिन्दी—उन दोनों (३।१२६) में से जिसका पिता वेदज्ञाता है, वही (स्वयं वेदज्ञाता होने पर भी) श्रेष्ठ है तथा दूसरा (जिसका पिता वेदज्ञाता नहीं है; किन्तु वह स्वयं वेदज्ञाता है; वह) पठित वेद मन्त्रों की पूजा के लिये सत्कार करने योग्य है ॥१२७॥

विमर्श—प्रथम तथा द्वितीय पक्ष में (३।१२६ में कथित) क्रमशः पुत्र-विद्यापरक तथा पितृविद्यापरक है। अतः वचनभङ्गी से 'जो श्रोत्रिय-पुत्र है तथा स्वयं भी श्रोत्रिय है उसे ही हव्य-दान करना चाहिये' यह सिद्धान्त है। जो श्रोत्रिय का पुत्र तो है; परन्तु स्वयं श्रोत्रिय नहीं है उसे हव्य-कव्य दान करने का शास्त्रादेश नहीं है; क्योंकि पहले 'श्रोत्रियायैव देयानि' (२।१०८) वचन से श्रोत्रिय को ही हव्य, कव्यदान करने का वचन विद्या के अतिरिक्त आचार आदि की परीक्षा के लिये कहा गया है, ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकार का आशय जानना चाहिये।

श्राद्ध में मित्रादि के भोजन का निषेध—

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ।।१२८।।

भाष्य—सत्यामेव श्रोत्रियत्वादिपूर्वगुणसम्पदि मैत्र्यादिनिमित्तेन प्रतिषेधोऽयम् ।

मित्रं समानसुखदुःखम् आत्मनिर्विशेषं **न श्राद्धे भोजयेत्** ।

धनैः अन्यैः **अस्य** मित्रस्य स्वीकारो मैत्रीकरणम् । अविच्छेदो वा मैत्र्यम्, उपकार इति यावत् ।

न केवलं न मित्रं भोजयेत्, यावदरिं शत्रुमपि ।

नारिं न मित्रं यं विद्याद्यत्र न रागो न द्वेषो, न चान्यः कश्चित्सम्बन्धो यत्र प्रीतिनिमित्ता कार्यार्थता शंक्येत; अरिमित्रयोः प्रदर्शनार्थत्वात् । तथा सम्बन्धाशङ्कयैव मातामहादयोऽनुकल्पपक्षोक्ताः ।

"शत्रावपि मैत्रीकरणार्थदानसम्भावना यदि, मैत्रीकरणमिति संग्रहः, अरिसंग्रहणं न कर्तव्यम्" ।

विस्पष्टार्थं भविष्यति ।।१२८।।

हिन्दी—श्राद्ध (तथा यज्ञ) में मित्र को भोजन नहीं करावे, धन के द्वारा मित्रता को बढ़ावे जिस (वेदज्ञाता) को न शत्रु और न मित्र समझे, उस (ब्राह्मण) को ही श्राद्ध (तथा यज्ञ) में भोजन करावे ।।१२८।।

श्राद्ध तथा यज्ञ में मित्रों को भोजन कराना निष्फल—

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ।।१२९।।

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिषेधस्यार्थवादोऽयम् ।

मित्रशब्दोऽयं भावप्रधानः, 'मित्रप्रधानानि' मैत्रीप्रधानानि । तेनोभयोः अरिमित्रयोः शेषः । देवतोद्देशेन दानमदृष्टार्थं वा केवलं ब्राह्मणभोजनं 'हवींषि' इति लक्ष्यते ।

प्रेत्य फलं नास्ति ।

"ननु चासमानकर्तृत्वात्कार्यानुत्पत्तिः । प्रेणः कर्ता श्राद्धकृत् अस्तिताया नञर्थोपहितायाः फलम्" ।

केचिदाहुः—प्रेत्येतिशब्दान्तरं परलोकवचनं निपातसंज्ञम् ।

अथ प्रेणोऽपि फलं कर्तृ, 'तस्य फलं प्रेत्य' प्रकर्षेण निकटमागत्यापि 'न भवति' न भोग्यतां याति ।।१२९।।

हिन्दी—जिसका कव्य (पितरों के उद्देश्य से किया हुआ श्राद्ध) तथा हव्य (देवों के उद्देश्य से किया गया यज्ञादि) मैत्री-प्रधान है अर्थात् जिस श्राद्ध तथा यज्ञ में मुख्यतः मित्रों को भोजन कराया जाता है, उस कव्य तथा हव्य (श्राद्ध तथा यज्ञ) का परलोक में कोई फल नहीं है (परलोक-प्राप्त्यर्थ श्राद्ध तथा यज्ञ में मित्रों को प्रधानतः भोजन कराना या दान देना निष्फल है) ॥१२९॥

यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ।।१३०।।

भाष्य—**सङ्गतानि** मित्रभावान् यः कुरुते **श्राद्धेन मोहात्** शास्त्रार्थमजानानः **स स्वर्गात् च्यवते**। न प्राप्नोति स्वर्गमित्यर्थः। असम्बन्धसामान्यात् च्यवत इत्युच्यते। यथा प्राप्तः स्वर्गं ततश्च्युतः स्वर्गेण न सम्बध्यते एवमयमपि।

अनेन च श्राद्धफलाप्राप्तिरेव कथ्यते। सर्वशेषता हि तथा भवति।

श्राद्धमित्रः श्राद्धं मित्रमस्येति। मित्रलाभहेतुत्वात् श्राद्धमेव 'मित्रम्'—अतो बहुव्रीहिः।

द्विजानामधमः। द्विजग्रहणं प्रदर्शनार्थम्। शूद्रेणापि न मित्राणि भोजनीयानि।

"ननु चाब्राह्मण्यादेव शूद्रस्य मित्रत्वप्राप्तिर्नास्ति।"

केनैषा परिभाषा कृता, 'शूद्रस्य ब्राह्मणैर्मित्रैर्न भवितव्यम्'।

"समानजातीयानामेव मित्रव्यवहारो नोत्तमजातीयानां हीनजातीयैः सहेति" चेत्। एतदपि न। एवं ह्याह श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः "अस्ति मे पञ्चालेषु क्षत्रियो मित्रम्" इति।

किञ्च सम्बन्धोपलक्षणार्थं च मित्रप्रतिषेधो व्याख्यातः। भवन्ति च शूद्रस्य ब्राह्मणा अर्थसम्बन्धिनः, पारशवस्य ज्ञातयोऽपि ॥१३०॥

हिन्दी—जो मनुष्य मोहवश (शास्त्र ज्ञान के नहीं होने से) श्राद्ध के द्वारा मित्रता करता है, श्राद्धमित्र (श्राद्ध के लिये ही मित्रता का निर्वाह करने वाला) वह नीच ब्राह्मण स्वर्ग से भ्रष्ट होता है (उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती) ॥१३०॥

सम्भोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ।।१३१।।

भाष्य—संशब्दः सहार्थे वर्तते। सह भुज्यते यया सा **सम्भोजनी**। मैत्र्या हि सहभोजनं प्रवर्तते। गोष्ठीभोजनं वा सम्भोजनमिष्यते।

पिशाचानामयं धर्मो यत् श्राद्धे मित्रसंग्रहः। रथ्याः पुरुषाः पिशाचाः।

सा दक्षिणा **इहैव** लोके **आस्ते**, नामुत्र फलं दातुं समर्था। गौर्यथाऽन्धैकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति, एवमियं दक्षिणा इहैवास्ते, मित्रजनार्थैव भवति। न पितृभ्य उपकारार्थाय प्रभवति।

दानं **दक्षिणा** ॥१३१॥

हिन्दी—हव्य-कव्य में की गयी सम्भोजनी (अनेक मित्रादि का एक साथ भोजन करना अर्थात् जिसे गोठ, दावत, ज्यौनार आदि कहते हैं, वह), पैशाची (पिशाच के धर्म वाली) दक्षिणा (दानक्रिया भोजनादि) कही गयी है और जैसे अन्धी गौ एक घर में दूसरे घर में नहीं जा सकती, वैसे ही वह दक्षिणा भी इसी लोक में फल देवे वाली है (परलोक में नहीं) ॥१३१॥

अविद्वान् को श्राद्ध में दानादि निष्फल—

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्वा न दाता लभते फलम्॥१३२॥

भाष्य—इरिणं ऊषरम्। यस्मिन् क्षेत्रे भूमिदोषात् बीजमुप्तं न चोद्गच्छति तदिरिणम्। यत्र **वप्ता** कर्षको न **लभते फलम्**। एव**मनृचे** वेदाध्ययनरहिते **हवि**-र्दैवं पित्र्यं च दत्त्वा **न लभते फलम्**। 'अनृच' इति सप्तम्यन्तम्। ऋचो वेदोप-लक्षणार्थम् ॥१३२॥

हिन्दी—जैसे ऊसर भूमि में बीज को बोने वाला (गृहस्थ-किसान) फल नहीं पाता है, वैसे ही वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण को हविर्दान करके दानकर्त्ता श्राद्ध के फल को नहीं पाता है ॥१३२॥

विद्वान को दिये गये की सफलता—

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च॥१३३॥

भाष्य—"विदुषे या दक्षिणा दीयते सा दातॄन् फलभागिनः कुरुते इति युक्तम्। प्रतिग्रहीतारस्तु कतरत् फलं भुञ्जते? यदि तावददृष्टं, तदयुक्तम् अनोदितत्वात् प्रतिग्रहस्य दृष्टफललाभेन प्रवृत्तेः। अथ दृष्टं, तदविदुषोऽपि दृश्यते"।

सत्यम्। प्रशंसैषा। 'ईदृशमेतद्विदुषे दानं यत्प्रतिग्रहीताऽप्यदृष्टफलभाग्भवेत् सत्यपि दृष्टे किंपुनर्दातेति'।

प्रेत्य स्वर्गे। इह कीर्ति—'यथाशास्त्रमनुतिष्ठतीति' जनैः साधुवादो दीयते। **विधिवदि**त्यनुवादो 'ददाति चैवन्धर्मेष्विति' ॥१३३॥

हिन्दी—विधिपूर्वक हव्य-कव्य को विद्वान् के लिये दान देने वाला व्यक्ति इस लोक में भी दाता (दान देने वाला) और प्रतिग्रहीता (दान लेने वाला)—दोनों को फलभागी बनाता है ॥१३३॥

वेदज्ञाता के अभाव में मित्र को भोजन—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ।।१३४।।

वेदपारङ्गत विद्वान को प्रयत्नपूर्वक भोजन—

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ।।१३५।।

भाष्य—'वेदपारग-शाखान्तग-समाप्तिकाः' शब्दा एकार्थाः समन्त्रब्राह्मणिकायाः कृत्स्नायाः शाखाया यध्येतृनाचक्षते—न मन्त्रसंहितायाः, नापि ब्राह्मणस्य, तदेकदेशस्य वा । वेदैकशाखाध्यायिनोऽपि श्रोत्रिया उच्यन्ते । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमुक्तम्—'श्रोत्रियाय देयमिति' । श्रोत्रियश्च वेदाध्यायी । वेदशब्दश्च समन्त्रब्राह्मणिकां शाखामाचष्टे, तदेकदेशमपि कृत्स्नशाखाध्यायी कथं गृह्येतत्येवमर्थमिदम् ।

"ननु चाश्रमिणो भोजनीया इत्युक्तम् । तत्रानधीतसकलस्वाध्यायानां नैव गार्हस्थ्याद्याश्रमसम्भवः । एवं ह्युक्तं 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्य' इति" ।

ब्रह्मचारिणस्तर्हि प्रक्रान्तवेदाध्ययनस्य असमाप्तिगस्यापि स्यात् । वेदपारगशाखान्तगसमाप्तिकशब्दैरेकार्थैः कार्त्स्न्यं सर्वैरेव प्रतिपाद्यते ।

एकेनैव सिद्धे वृत्तानुरोधान्नानारूपैकार्थानेकशब्दोच्चारणम् । वेदानां पारं गच्छति । शाखाया अन्तःसमाप्तिरस्यास्तीति **समाप्तिकः** ।

अध्वर्युर्यजुर्वेदशाखाध्यायी, नायमृत्विग्विशेषवचनोऽध्वर्युशब्दः । 'आध्वर्यवः' प्रवचनमुच्यते, तदध्ययनसम्बन्धात् पुरुषोऽध्वर्युः ।

छन्दोगः सामवेदाध्यायी ।

स्मृत्यन्तरे त्रिसाहस्रविद्यः **समाप्तिक** उक्तः । तत्र 'सहस्र'शब्दः सहस्रगीतिसम्बन्धात् सामवेदे वर्तते, तस्य इमाःसाहरुयस्तिस्रः साहस्र्यः विद्या यस्य स 'त्रिसाहस्रविद्यः' । ताण्डवमौक्थिक्यं सामगानमिति सहस्रवर्त्मनः सामवेदस्य तिस्रो विद्याः ।

दशतयी चतुःषष्टि ब्राह्मणं च बह्वृचम् ।

अन्ये त्वाथर्वणिकनिषेधार्थमिमं श्लोकं मन्यन्ते । कार्त्स्न्यविवक्षायामेतदेवावक्ष्यत्— 'अधीते वेदशाखां यः कृत्स्नां तं भोजयेद्द्विजम्' इति ।

"ननु चाथर्वणिकनिषेधेऽप्येतत्समानम्। तत्रापि शक्यमेवं वक्तुं तन्निषेधे प्रायेण— 'न भोज्य आथर्वणिक' इत्येवमेवावक्ष्यत्। स्वशब्देन निषेधप्रतिपत्तिर्लाघवं च"।

नैतद्देवम्। किमन्यविधानेनान्यनिषेधोऽवगम्यते स्वशब्देन वा निषेधः। विचित्रा धर्मोपदेशस्य कृतिर्मनोः ॥१३४-१३५॥

हिन्दी—(हाँ, विद्वान् वेदज्ञाता के नहीं मिलने पर) श्राद्ध में मित्र को भोजन करावे; किन्तु विद्वान् भी शत्रु को नहीं (भोजन करावे); क्योंकि शत्रु को भोजन कराया गया हविष्य परलोक में निष्फल होता है। मन्त्र-ब्राह्मण-शाखा को पढ़े हुए ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, वेदों का पारगामी (सम्पूर्ण वेद को पढ़े हुए) सब शाखाओं को पढ़े हुए ऋत्विज्, वेदों को पढ़कर समाप्त किये विद्वान् ब्राह्मण को प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध में भोजन करावे ॥१३४-१३५॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥१३६॥

भाष्य—कश्चिन्मन्येत पितृकृत्ये त्रीनित्युक्तम्। पूर्वश्लोके च नानाशाखाध्यायिन उपात्ताः। तत्र सब्रह्मचारिणां नास्ति प्राप्तिरिति तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदम्।

एषां त्रयाणां त्रैविद्याना**मन्यतमो** भोजनीयः। एतदुक्तं भवति—समानशाखाध्यायिनो नानाशाखाध्यायिनो वा भोजनीयाः।

अर्चितः पूजितः प्रार्थित अर्घादिना।

सप्तिपौरुषी तृप्तिः। सप्तपुरुषान्व्याप्नोति। अनुशतिकादेराकृतिगणत्वादुभयपदवृद्धिः। कालमहत्वोपलक्षणार्थं चैतत्। दीर्घकाला पितॄणां तृप्तिर्भवति। यावत्सप्तपुरुषा आगामिनः पुत्रपौत्रादयो जाता जनिष्यन्ते वा तावत्तथाविधब्राह्मणदानात् पितरस्तृप्यन्ति। **शाश्वती** नान्तरा विच्छिद्य पुनरुद्भवति, किंपुनः सर्वदा स्थितैव ॥१३६॥

हिन्दी—पूर्वोक्त (३।१३५) ब्राह्मणों में से एक भी ब्राह्मण पूजित होकर श्राद्ध में भोजन करे तो श्राद्धकर्त्ता के पुत्रादि सात पीढ़ी तक पितर अक्षय तृप्ति को पाते हैं ॥१३६॥

विमर्श—पिता-पितामह, प्रपितामह—ये तीन पिण्डभागी पितर, लेपभागी चतुर्थ आदि तीन पितर तथा स्वयम् (३ + ३ + १ = ७)। यहाँ पुत्र पद से श्राद्धकर्त्ता विवक्षित है।

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥१३७॥

भाष्य—पितृयज्ञमित्यारभ्य पञ्चविंशतिमात्राः श्लोका अतिक्रान्तास्तत्रैतावानर्थोऽ-

भिहितः । अमावास्यायां श्राद्धं कर्तव्यम् । श्रोत्रियो विद्वान् साधुचरणः प्रख्याताभिजनः श्रोत्रियापत्यं असम्बन्धी भोजनीयः । परिशिष्टं सर्वमर्थवादार्थम् ।

एषोऽनन्तरोक्तः **प्रथमो** मुख्यः **कल्पो** विधिः, श्राद्धे यदसम्बन्धिने दीयते। **अयं तु** वक्ष्यमाणो**ऽनुकल्पो** ज्ञेयः। मुख्याभावे योऽनुष्ठीयते प्रतिनिधिन्यायेन सोऽनुकल्प उच्यते। **सदे**त्यादि स्तुत्यर्थः ॥१३७॥

हिन्दी—(भृगुमुनि महर्षियों से कहते हैं कि) हव्य तथा कव्य के दान का यह पहला कल्प (मुख्य शास्त्र-विधान) कहा गया है। (इस मुख्य विधान के अभाव में) सज्जनों से अनुष्ठित (किया गया) अनुकल्प (गौण अर्थात् अप्रधान शास्त्र-विधान) यह है (जो आगे कहा गया है) ॥१३७॥

नाना आदि को श्राद्ध में भोजन—

मातामहं मातुलं च स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ।।१३८।।

भाष्य—स्वस्त्रीयो भगिन्याः पुत्रः । **विट्पति**र्जामाता, प्रजावचनत्वात् विट्-शब्दस्य । अतिथिरित्यन्ये । स हि सर्वविशांपतिः गृहाभ्यागतो लोकेऽपि विट्शब्देनो-च्यते । **बन्धुः** शालः सगोत्रादिः ॥१३८॥

हिन्दी—नाना, मामा, भानजा (बहन का पुत्र), गुरु, श्वशुर, दौहित्र (पुत्री का पुत्र), जामाता, बान्धव, (मौसी तथा फूआ आदि का पुत्र) ऋत्विक् तथा यज्ञकर्त्ता—इन दशों को श्राद्ध में (मुख्य वेदज्ञाता नहीं मिलने पर) भोजन करावे ॥१३८॥

देवकार्य में ब्राह्मण परीक्षा का निषेध—

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ।।१३९।।

भाष्य—नायं दैवे कर्मणि ब्राह्मणपरीक्षाप्रतिषेधः, किं तर्हि काणश्लीपद्यादीनां कदाचिद्दैवेऽभ्यनुज्ञानार्थः ।

पित्र्ये कर्मणि श्राद्धकाले प्राप्ते परीक्षां यत्नेन कुर्यात्, न दैवे । कदाचिद्वक्ष्यमा-णानपि भोजयेत् । ये चाभ्यनुज्ञायन्ते तान्दर्शयिष्यामः ।

अन्ये तु वक्ष्यमाणस्य प्रतिषेधप्रकरणस्य यत्नतो वर्जनार्थमुपक्रममात्रं श्लोको, न तु काणादीनां दैवेऽभ्यनुज्ञानार्थः ॥१३९॥

हिन्दी—धर्मात्मा पुरुष देवकार्य में ब्राह्मण की परीक्षा (३।१२०) के अनुसार विशेष छान-बीन न करे, किन्तु पितृकर्म (पितरनिमित्तक श्राद्ध) में तो प्रयत्नपूर्वक

ब्राह्मण की परीक्षा (अवश्य) करे ॥१३९॥

[तेषामन्ये पङ्क्तिदूष्यास्तथाऽन्ये पङ्क्तिपावनाः ।
अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि कव्यानर्हान् द्विजाधमान् ।।१९।।]

[**हिन्दी**—भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि उन ब्राह्मणों में कुछ पङ्क्तिदृष्य (पंक्ति में भोजन करने से दूषित करने वाले) और कुछ पंक्तिपावन (पंक्ति में भोजन करने से पवित्र करने वाले) ब्राह्मण होते हैं; कव्य पितृश्राद्धनिमित्तक अन्न) के अयोग्य उन निम्न श्रेणी वाले अपाङ्क्तेय (पंक्ति को दूषित करने वाले) ब्राह्मणों को मैं कहूँगा ॥१९॥]

अपाङ्क्तेय ब्राह्मण—

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ।।१४०।।

भाष्य—स्तेनः चौरः ।

पतितः पञ्चानां महापातकानां अन्यतमस्य कर्ता ।

क्लीबो नपुंसकः उभयव्यञ्जनो वातरेताः षण्ढश्च ।

नास्तिका लोकायतिकादयः, 'नास्ति दत्तं नास्ति हुतं नास्ति परलोक' इति ये स्थितप्रज्ञास्तेषां 'वृत्तिः' आचारः अश्रद्दधानता । नास्तिकवृत्तिर्येषां ते **नास्तिकवृत्तयः** । उत्तरपरलोपीसमासः । नास्तिका इत्येव सिद्धे वृत्तिपदसमाश्रयणं श्लोकपूरणार्थम् ।

अथवा नास्तिकेभ्यो वृत्तिर्जीवनं येषां त एवमुच्यन्ते ।

तान् हव्यकव्ययोर्दैवे पित्रये च **अनर्हान्मनुरब्रवीत् ।**

प्रतिषेधादरार्थं मनुग्रहणम् । सर्वधर्माणां मनुनोक्तत्वात् ॥१४०॥

हिन्दी—जो (ब्राह्मण) चोर, पतित (११ अध्यायोक्त) नपुंसक तथा नास्तिक का व्यवहार करने वाले हैं, उन ब्राह्मणों को मनु ने हव्य (देवकार्य) तथा कव्य (पितृकार्य—श्राद्ध) में अयोग्य बतलाता है—॥१४०॥

जटिलं चानधीयानं दुर्वालं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ।।१४१।।

भाष्य—जटिलो ब्रह्मचारी । तस्य ह्ययं केशविशेषः पाक्षिको विहितो— "मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्" इति । उपलक्षणं च जटा ब्रह्मचारिणस्ततो मुण्डोऽपि प्रतिषिध्यते । तस्य चानधीयानस्य प्रतिषेधः ।

"ननु 'श्रोत्रियायैव देयानि' इति चानधीयानस्य प्राप्तिरेव नास्ति" ।

प्रक्रान्ताध्ययनः अनधीतवेदः अगृहीतवेदश्चेत्प्राप्नुयात् ।

"ननु च 'वेदपारग' इति वचनात् कुतः प्रक्रान्ताध्ययनस्य प्राप्तिः"।

एवं तर्हि अधीतवेदोऽप्यस्वीकृतवेदोऽनधीयानोऽभिप्रेतः। "व्रतस्थमपि दौहित्रम्" (मनु० ३।२३४) इत्यनेन वा दौहित्रतैवात्र नाध्ययनमिति कश्चिन्मन्येत तदर्थमिदम्। अनधीयानस्य प्रतिषेधाद्विदुषस्तस्याधिकारोऽस्तीत्यवगम्यते।

दुर्वाल: स्खलितलोहितकेशो विकलेन्द्रियो वा। तस्य हि निर्वचनं कुर्वन्ति—दूर्वया शाद्वलेनाप्यलं तस्य वासो भवतीति। स हि दूर्वयैव प्राव्रियते लज्जया च वाससामभावे तावन्मात्रेणाप्यपिदधाति शेफम्।

कितवो द्यूतकारः।

याजयन्ति च ये पूगान् सङ्घान्। व्रात्यस्तोमादिभिर्व्रात्यानां हि संहितानां यागो विहितः। प्रतिषिद्धं च तद्याजनं 'व्रात्यानां याजनं कृत्वेति'। वयं ब्रूमः—यः क्रमशः प्रत्येकमपि बहून्याजयति बहुकृत्व आर्त्विज्यं करोति, सोऽपि न भोज्यः। तथा च वसिष्ठः "यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहून्" इति।

केचिदाहुः—श्राद्धग्रहणात्पित्र्य एवैषां प्रतिषेधो न तु दैवे।

तदयुक्तम्। तदपि श्राद्धाङ्गमेव श्राद्धशब्देन युक्तं वक्तुम्॥१४१॥

हिन्दी—वेद को नहीं पढ़ता हुआ ब्रह्मचारी, दुर्बल-दूषित चमड़े वाला (मेधातिथि के मत से खल्वाट—(जिसके शिर में बाल न हों वह) तथा लाल (भूरे) बालों वाला या दूषित चमड़े वाला, जुआरी (स्वयं जुआ खेलने वाला), बहुतों को यज्ञ कराने वाला, इन सब को श्राद्ध में भोजन न करावे॥१४१॥

चिकित्सकादेवलकामांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः॥१४२॥

भाष्य—भिषजः **चिकित्सकाः**। **देवलकाः** प्रतिमापरिचारकाः। आजीवन-सम्बन्धेनैतौ प्रतिषिध्येते। धर्मार्थत्वे तु चिकित्सकदेवलत्वयोरदोषः।

मांसविक्रयिणः सौनिकाः।

द्वितीयान्तपाठे पूर्वश्लोकादाख्यातानुषङ्गः।

विपणेन जीवन्तः प्रतिषिद्धेन पणेन। प्रतिषिद्धाः पणा दशमाध्याये वक्ष्यन्ते तेन ये जीवन्ति ते। **वर्ज्याः**। उभयत्र।

मांसविक्रयिणस्तु धर्मार्थमपि निषिध्यन्ते। यस्य केनचिन्मांसमुपहृतम्; अन्यस्य च तेनार्थः, उपहृतमांसस्यच घृतेन होमोपयोगिना,—स मांसं घृतेन विनिर्मितीते,—भवत्यसौधर्मार्थो विनिमयः। विक्रयशब्दवाच्यता विनिमयस्यापि भवतीत्यत ईदृशाधर्मार्थ-

मांसविक्रयिणोऽपि प्रतिषिध्यन्ते ॥१४२॥

हिन्दी—वैद्य, मन्दिर का पुजारी (वेतन लेकर मन्दिरों में पूजा की जीविका करने वाला), एकबार भी मांस बेचने वाला और व्यापार कर्म से जीने वाला—इन ब्राह्मणों को हव्य तथा कव्य (देवकार्य तथा पितृश्राद्ध) में भोजन न करावे ॥१४२॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ।।१४३।।

भाष्य—प्रेष्य आज्ञाकरः । ग्रामेण यो यत्रकुत्रचित् कार्येण प्रेष्यते । एवं राजप्रेष्यः । **कुनखी श्यावदन्तकः** । **प्रतिरोद्धा** गुरोर्वाग्व्यवहारेऽन्यत्र च यो गुरोः प्रतिबन्धे प्रातिकूल्ये च वर्तते । **त्यक्ताग्नि**स्त्रेतावसथ्ययोरन्यतरस्यापि । **वार्धुषिः** सत्यन्यस्मिन् जीविकोपाये वृद्धिजीविकः । "वृद्धिस्तु योक्ता धान्यानां वार्धुषित्वं तदुच्यते" इति यत्स्मरणं तत्स्वप्रक्रियायामेव । वैयाकरणा हि वृद्धिजीविनो धान्यादन्यत्रापि वार्धुषिकशब्दं स्मरन्ति । ते च शब्दार्थस्मरणे प्रमाणतरा, अभियोगविशेषात् ॥१४३॥

हिन्दी—राजा तथा ग्राम का प्रेष्य (चपरासी आदि—जो राजा या ग्रामाध्यक्षादि से वेतन लेकर उनकी आज्ञानुसार इधर-उधर जाता है), निन्दित नखवाला, काले दाँत वाला, गुरु के विरुद्ध आचरण करने वाला, अग्निहोत्र नहीं करने वाला; ब्याज (सूद) लेकर जीविका चलाने वाला—॥१४३॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ।।१४४।।

भाष्य—यक्ष्मी व्याधितः । राजयक्ष्मगृहीत इत्यन्ये ।

पशुपालः यष्टिहस्तस्तद्वृत्तिजीवनः ।

निराकृतिः सत्यधिकारे महायज्ञानुष्ठानरहितः । अद्यत्वेऽप्यनुपजीव्यः अनद्धा निराकृतिरुच्यते । एवं च शतपथे "यो न देवानर्चति न पितॄन्न मनुष्यान्" इति ।

यैस्तु पठ्यते "अस्वाध्यायश्रुतधनैर्निराकृतिरुदाहृतः" इति, न ते शब्दार्थसम्बन्धविदः । तस्येहाप्राप्तिरेव, श्रोत्रियनियमात् । निराकर्ता देवादीनां 'निराकृतिरिति' धात्वर्थानुगमोऽस्ति । धर्मधर्मिणोश्चाभेदविवक्षायां क्तिनापि प्रयोग उपपन्न इति । निपूर्वोऽयं धातुरपवर्जने वर्तते । निराकृता अपवर्जिता उच्यन्ते, 'भोजनान्निराकृता' 'अधिकारान्निराकृता' इति । अवर्जनं चाकृतिः सा निर्गताऽस्मादिति 'निराकृतिः' । संस्थानं चाकृतिस्तथा च कुत्सायां निर्द्रष्टव्यो दुराकृतिर्निषिध्यते । आह च "वाग्रूपवयःशीलसम्पन्नः" (गौ०सू० १५।९) । वाक्सम्पन्नो वाग्मी पटुवागिन्द्रियश्च । बहुजिह्वो न भोज्यः। रूपसम्पन्नो मनोहरावयवसन्निवेशः । वयःसम्पन्नः । 'युवभ्यो दानं प्रथमं प्रतिवयस इत्येक'

(गौ०सू० १५।१०) इति। संज्ञाशब्दो वाऽयं क्विजन्तः।

ब्रह्मद्विट् ब्राह्मणानां वेदस्य वा द्वेष्टा। ब्रह्मशब्दस्योभयार्थवाचित्वात्। "ब्रह्मापि ब्राह्मणः स्मृतः" इति।

गणः सङ्घः। सहैकया क्रियया जीवन्ति ये ते गणशब्दवाच्यास्तदन्तर्गताश्चातुर्विद्यब्राह्मणाः।

परिवेतृपरिवित्ती वक्ष्यमाणस्वरूपौ ॥१४४॥

हिन्दी—राजयक्ष्मा (क्षय) का रोगी, पुशपालन (बकरी-भेंड़ आदि के पालन) की जीविका वाला, परिवेत्ता (३।१६१), पञ्चमहायज्ञ (३।१६०) से हीन तथा देवताओं के निन्दक, ब्राह्मण से विरोध रखने वाला, परिवृत्ति (३।१६१), चन्दा लेकर जीविका चलाने वाला—॥१४४॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ।।१४५।।

भाष्य—चारणनटनर्तकगायनादयः **कुशीलवाः**।

अवकीर्णी विप्लुतब्रह्मचर्यः।

वृषली शूद्रा तस्याः पतिः। असत्यामन्यस्यां चात्र मन्यन्ते। वृषल्या एव च यः पतिः, यस्य द्विजातिभार्या नास्ति।

"कुत एतत्"।

प्रकरणान्तरे विगर्हिताचारसंग्रहं श्रूयते "एतान्विगर्हिताचारान्" इति। शूद्राविवाहश्च सर्वेषामनुज्ञातत्वात्, न गर्हितः। स च कृतसजातीयापरिणयनस्यानुज्ञातः। अतोऽसत्यां सजातीयायां वृषल्या भर्ता प्रतिषिध्यतेऽत्र।

पौनर्भवः। 'पुनर्भूः' पुनरूढा। वक्ष्यति नवमेऽध्याये "पत्या वा परित्यक्तेति"।

काण एकेनाक्ष्णा विकलः।

यस्य च उपपतिर्जायाजारोऽवस्थितायां भार्यायामस्ति। उपेक्षया निन्द्यते। तदुक्तं "अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणीति" ॥१४५॥

हिन्दी—नर्तक (नृत्य करने वाला), स्त्रीसम्भोग से व्रतभ्रष्ट ब्रह्मचारी (तथा संन्यासी) शूद्रा (शूद्रजात्युत्पन्न स्त्री) का पति, विधवा-विवाह से उत्पन्न, काणा, जिसके घर में स्त्री का उपपत्ति (जार, रखेल) रहता हो वह ॥१४५॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कण्डगोलकौ ।।१४६।।

भाष्य—भृतकाध्यापकः भृतकः सन् यो स्थितोऽध्यापकः । भृतक इति 'यदीयद्ददासि वेदमध्यापयामीति' यः प्रवर्तते षणेन स भृतकाध्यापकः । एषा हि भृतिः प्रसिद्धा कायवाहादिषु । यस्त्वियता धनेनेयदध्यापयामीति न निश्चित्य वचन-व्यवस्थया, पूर्वमध्यापयति लभते चाध्यापनार्थं, नासौ 'भृतकाध्यापकः' । अनिरूपित-परिमाणपूर्वे चार्थदाने विहितमध्यापनम् ।

एवं **भृतकाध्यापितः** । यो व्युत्पन्नबुद्धिः सत्यकामवत् स्वयं भृतिं दत्वाऽधीते स एवमुच्यते । यस्तु पित्रादिना भृतिं दत्वा उपाध्यायान्तराभावेऽध्याप्यते न तस्य विगर्हिताचारत्वम् । बालो हि पित्रा प्रतिषिद्धेभ्यो निवर्तनीयः । एतदुक्तं "गुरौ शिष्यश्च याज्यश्चेति" ।

शूद्रस्य **शिष्यो** व्याकरणादिविद्यासु ।

गुरुश्च शूद्रस्यैव । उपसर्जनीभूतस्यापि सम्बन्धः, स्मृतिशास्त्रत्वात् । विगर्हिताचा-रत्वस्य सर्वशेषत्वात् । शूद्रागुरुत्वं च गर्हितं नान्यत् ।

वाचा दुष्टः परुषानृतभाषी । अभिशस्त इत्यन्ये ।

कुण्डगोलकौ वक्ष्यमाणौ ॥१४६॥

हिन्दी—वेतन लेकर पढ़ाने वाला, वेतन देकर पढ़ने वाला, शूद्र का शिष्य (व्याकरण आदि शास्त्र को पढ़ा हुआ), शूद्र का गुरु (व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ाने वाला), रूखा बोलने वाला, कुण्ड, गोलक (जार से उत्पन्न सधवा स्त्री का पुत्र 'कुण्ड' तथा जार से उत्पन्न विधवा का पुत्र 'गोलक' ३।१६४)—१४६॥

अकारणे परित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ।।१४७।।

भाष्य—असति कारणे यः परित्यजति मातरं पितरं आचार्यं च । गुरुशब्दः सामान्यशब्दत्वादुपाध्यायेऽपि प्रवर्तते ।

यत्तु "तथा सति मातापितृग्रहणं न कर्तव्यं स्यात्, गुरुत्वादेव सिद्धेरत आचार्य एवेह गुरुरिति व्याचक्षते"—तदयुक्तम् । असति मातापितृग्रहणे गुरुशब्दः पितर्येव कृत्रिमाकृत्रिमन्यायेन प्रवर्तेत । पृथगुपादाने तु शास्त्रान्तरवदाचार्यः श्रेष्ठो गुरूणामिति सामान्यशब्दता सिद्धा भवति ।

परित्यागकारणं च "त्यजेत् पितरं राजघातकम्" इत्यादि ।

मातापित्रोः परित्यागस्तत्पादसेवादेः शुश्रूषायाः अकरणं, तदाराधने अतत्परत्वम् । गुरोरेवमेव । अध्यापनसमर्थेऽध्यापयितरि च तत्त्यागेनान्यत्राध्ययनम् ।

पतितैः संयोगं गतः सम्बन्धं कृतवान् । **ब्राह्मै**र्याजनाध्यापनादिभि**र्यौनैः** कन्या-दानादिभिः ।

"ननु च पतित्वादेवासौ वर्ज्यः"।

केचिदाहुः—"संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्"(२९०)—अर्वागयं प्रतिषेधः।

"अथ केयं वाचो युक्तिः सम्बन्धसंयोगं गत इति"।

नात्र सम्बन्धशब्दो वैशेषिकादिप्रसिद्ध्या संयोगादिवचनः, किं तर्हि क्रियैवात्र सम्बन्धहेतुत्वात्सम्बन्धशब्देनोच्यते। याजनादिलक्षणे संयोगशब्दश्च सम्बन्धमात्रमुपलक्षयति ॥१४७॥

हिन्दी—निष्कारण माता-पिता और गुरु का (शुश्रूषादि का) त्याग करने वाला, पतितों के साथ ब्रह्म (वेदशास्त्राध्ययन आदि ब्राह्मविषयक) तथा यौन (कन्या विवाहादि योनि विषयक) सम्बन्ध रखने वाला—॥१४७॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥१४८॥

भाष्य—अगारस्य गृहस्यदग्धा॥

गरं ददातीति। प्रदर्शनार्थं च गरग्रहणं विषादीनामपि।

कुण्डस्य अन्नमश्नाति। एवं गोलकस्य। प्रदर्शनार्थत्वात् कुण्डस्य।

सोमं विक्रीणीते। ओषधिः सोमस्तं यो विक्रीणीते, यागार्थमौषधार्थं वा। अन्ये तु सोमसाधनात् ज्योतिष्टोमादियागानाहुः। तेषां च विक्रयो यद्यपि न सम्भवति, अमूर्तत्वात् क्रियायास्तथाप्यविदुषामेवंविधस्याचारस्य दर्शनादयं प्रतिषेधः। दृश्यन्ते ह्यविद्वांस एवं वदन्तो 'यन्मयासुकृतं कृतं तत्तेऽस्त्विति'। 'सुकृतं' सुकृतैः साधितं धर्मम्। तथा च 'यां च रात्रीमजायेथा यां च प्रेतासि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीय यदि मे द्रुह्युरिति'। यथैव शपथा एवं दानविक्रयावपि वाचा यः करोति स वर्ज्यते। अकार्यता चात एव ईदृशानां शपथदानविक्रयादीनां वाचा क्रियमाणानामनुमीयते।

समुद्र उदधिस्तं यो याति।

बन्दी स्तुतिपाठकः।

तैलिकः तिलादीनां बीजानां पेष्टा।

कूटकारकः साक्ष्येष्वनृतवादी ॥१४८॥

हिन्दी—घर में आग लगाने वाला, विष (जहर) देने वाला, कुण्ड (३।१६८॥ के अन्न को खाने वाला, सोमलता को बेचने वाला, (जहाज आदि से) समुद्रयात्रा

करने वाला, वन्दी (भाट—प्रशंसा सम्बन्धी कविता पढ़ने वाला), तेल पेरने वाला, झूठी गवाही देने वाला—॥१४८॥

विमर्श—देवल के कथनानुसार 'कुण्डाशी' शब्द से केवल 'कुण्ड' (जार से उत्पन्न सधवा-पुत्र) का अन्न खाने वाला ही अर्थ नहीं अपेक्षित है, किन्तु 'कुण्डाशी' शब्द से 'गोलक' (जार से उत्पन्न विधवा-पुत्र) का अन्न खाने वाला अर्थ भी अपेक्षित है। यही अर्थ मन्वर्थमुक्तावलीकार को भी इष्ट है[1]।

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ।।१४९।।

भाष्य—पित्रा यो 'विवदते' परुषं भाषते, राजकुले व्यवहरतीति पूर्वपक्षोत्तरपक्ष-भङ्ग्या भागादिनिमित्तम्। तथा च गौतमः (१५।१९) "पित्राऽकामेन विभक्तानिति"।

"प्रतिरोद्धा गुरोरित्यनेनैतत्कथं पुनरुक्तमुच्यते"।

अन्यः 'प्रतिरोधः' अन्यश्च 'विवादः'। यत्किञ्चित् गुरोरभिप्रेतं वस्तु 'कथमिदं सिध्येदिति' तत्र सम्बाधकत्वम् प्रतिरोधः। न्याय्येऽपि वस्तुनि तदिच्छाप्रतिघातः प्रतिरोद्धृत्वम्। प्रतिराद्धेति तत्र पाठान्तरम्। आभिमुख्येन हिंसिता, हस्तादिना गुरोः प्रतिरोद्धा चपेटादिदानेन। अस्मिन्पक्षे स्थितमन्यत्वं विवादस्य।

कितवो द्यूतस्य कारयिता सभिकः। यस्तु स्वयंदेविता स प्रागेव निषिद्धः।

केकरमन्ये पठन्ति, 'केकरो मद्यप' इति। स च वलितप्रेक्षो अध्यर्धदृष्टिः।

कातरमन्ये। स च शुकपक्षतारकः।

मद्यपः। सुराया अन्यस्यारिष्टादेर्मद्यस्य पाता सुरापः, पतितत्वेनैव निरस्तः।

पापरोगी कुष्ठी। स हि लोकेऽत्यन्तनिन्द्यः, पापरोगीत्यभिधातुं युक्तः। अस्मादेव च प्रतिषेधात् यक्ष्मीत्यत्र न सर्वो व्याधिगृहीतो गृह्यते, कस्तर्हि, क्षयी। यदि हि सर्वो गृह्येत तेनैव, सिद्धत्वात्पापरोगीति नाकरिष्यत्।

अभिशस्तः पातकोपपातकयोः कर्तेति लोके प्रसिद्धः, असत्यपि तत्कर्तृक-त्वनिश्चये।

दाम्भिकः छद्मना धर्मं चरति लोकपक्त्यर्थं, न कर्तव्यमिति कृत्वा करोति।

---

१. प्रदर्शनार्थत्वात् कुण्डस्येति गोलकस्यापि ग्रहणम्। तथा च देवलः—
"अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः।
यस्तयोरन्नमश्नाति स 'कुण्डाशी' ति कथ्यते॥" इति (म०मु०)।

रसविक्रयी विषयस्य विक्रेता। तस्य ह्येतदभिधानम्। 'उपांशुभेदी रसदः' 'रसदः सत्री'त्यादि विषदो रसद उच्यते ॥१४९॥

हिन्दी—पिता के साथ (शास्त्रीय या लौकिक विषय में) निरर्थक झगड़ने वाला, जुआ खेलने वाला (स्वयं जुआ खेलना नहीं जानने के कारण दूसरों को खेलाने वाला), मदिरा पीने वाला, कोढ़ी (अनिर्णीत होने पर भी) महापातक (११।५४) में अभि-शप्त (निन्दित), कपटपूर्वक धर्मकर्त्ता, गन्ने आदि का रस बेचने वाला—(१४९॥)

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ।।१५०।।

भाष्य—धनुः शरांश्च यः शिल्पीव करोति।

यश्चाग्रेदिधिषूपतिः। दिधिषूशब्दः काकाक्षिवदुभयेन सम्बध्यते। स्मृतिशास्त्रत्वा-च्चेदृशः सम्बन्धो लभ्यते। लेखालोष्ठादयोऽपि स्मृत्यर्थं सङ्केत्यन्ते भवन्ति चार्थकराः। अत एतत्र वाच्यं "कथमेकशब्दः समासान्तर्गतो द्वाभ्यां भिन्नप्रस्थानाभ्यां अभिसम्बध्येत" इति। गौतमेन हि द्वयं निषिद्धम्। इहापि सम्बन्धभेदे लिङ्गम्। द्विपदः समासः। न ह्यग्रेदिधिषूपतिर्नाम कश्चिदस्ति। एतौ च वक्ष्यमाणलक्षणौ।

मित्रध्रुक्। मित्रं या द्रुह्यति। मित्रस्य यः कार्योपघाते प्रवर्तते।

द्यूतवृत्तिः द्यूतं वृत्तिर्जीविका यस्य।

"ननु च 'कितवो मद्यप' इत्यत्रोक्तमेव"।

नावश्यं द्यूतवृत्तिरेव द्यूतस्य प्रयोजकः, किंतर्हि यः स्वयं देवितुं न जानाति गुरुभयाद्वा न दीव्यति। व्यसनी स तु देवैः शप्ततयाऽन्यं देवयति। तदर्थो द्वितीयः कितवशब्दः। अथवा अकृतश्रीका द्यूतसभास्थाणवो द्यूतवृत्तयः।

पुत्र आचार्योऽध्यापको यस्य। मुख्यमाचार्यत्वं न पुत्रे सम्भवति ॥१५०॥

हिन्दी—धनुष और बाण को बनाने वाला, अग्रेदिधिषू (बड़ी वहन के अविवाहित रहने पर विवाहित छोटी वहन[1]) का पति, मित्रद्रोही, द्यूतशालाका अध्यक्ष (जिसे 'नालदार' कहते हैं तथा जिसे दाँव पर जीते हुए द्रव्य में से प्रतिरुपया शायद दो पैसा मिलता है), पुत्र के द्वारा पढ़ाया गया पिता—॥१५०॥

विमर्श—"गोविन्दराज ने 'भ्रातुर्मृतस्य भार्यायाम् (३।१६३)' श्लोक से अग्रेदि-

---

१. तथा च लौगाक्षिः—
'ज्येष्ठयां अद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनृजा।
सा चाग्रेदिधिर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता॥' इति (म०मु०)।

धिषू' ही वृत्तिवश 'अग्रे' पद का लोपकर 'दिधिषूपति' कहा जायेगा, उसी का यहाँ (३।१६३ में उक्त) ग्रहण होता है'' ऐसा कहा है।

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च।।१५१।।

भाष्य—व्याधिविशेषवचना एते।

भ्रामरी अपस्मारी। **गण्डमाली**। कपोले कण्ठे पिटका मालाकारा जायन्ते। **श्वित्री** श्वेतकुष्ठः। **पिशुनः** परमर्मप्रकाशकः कर्णेजपः। **उन्मत्तः** अनवस्थितचित्तो, धातुसंक्षोभेण पिशाचगृहीतः यत्किञ्चनवादी यत्किञ्चनकारी वा। **अन्धः** चक्षुर्विकलः। **वेदनिन्दकः**।

''ननु च ब्रह्मद्विट्शब्देनैव ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थकत्वात् वेदनिन्दको गृहीत एव''।

नैवम्। अन्या निन्दा अन्यो द्वेषः। चित्तधर्मो द्वेषः, तदुपर्यप्रीतिशब्देन कुत्सनं 'निन्दा' ॥१५१॥

हिन्दी—अपस्मार (मूर्च्छा) का रोगी, गण्डमाला का रोगी, श्वेतकुष्ठ (चरक) का रोगी, चुगलखोर, उन्मादी (पागल), अन्धा, वेद का निन्दक—॥१५१॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च।।१५२।।

भाष्य—हस्त्यादीनां विनेता **दमकः** गतिशिक्षयिता।

नक्षत्रैर्यश्च जीवति। नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशास्त्रं लक्ष्यते, तेन जीवति ज्योतिषिकः।

पक्षिणां श्येनादीनां आखेटार्थं पोषयिता।

युद्धाचार्यो धनुर्वेदोपदेशकः ॥१५२॥

हिन्दी—हाथी, घोड़ा तथा ऊँट को शिक्षित करने (सिखाने) वाला, ज्योतिषी, चिड़ियों को (स्वयं क्रीडा के लिये या बेचने के लिये) पालन-पोषण करने वाला, युद्ध की शिक्षा देने वाला—॥१५२॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च।।१५३।।

भाष्य—'स्रोतांसि' उदकागमाः तेषां **भेदकः** सेतुं भित्वा देशान्तरे ब्रीह्यादि-सेकार्थं नयति। **तेषां च** स्रोतसामेव **चावरणे रतः**। 'आवरणं' आच्छादनम्। यतः प्रदेशादुदकमुद्भवति तत् स्थगयति।

गृहाणां सन्निवेशोपदेशकः, वास्तुविद्याजीवी, रथपतिः सूत्रधारादिः। न त्वात्मनो

गृहाणां सन्निवेशयिता।

दूतो राज्ञः प्रेष्यो दासवद्विनियोज्यः। दूतस्तु सन्धिविग्रहादावेव प्रेष्यते।

वृक्षान् रोपयति, मूल्येन। धर्मार्थं तु न दोषः, अविगर्हिताचारत्वात्। विहितं वृक्षारोपणं "दशाम्रवापी नरकं न याति" ॥१५३॥

हिन्दी—बहने वाले झरना, तालाब, नहर या नदी आदि के बाँध या पुल को तोड़कर दूसरी तरफ ले जाने वाला, तथा उन (नदी, नहर आदि) के प्रवाह को रोकने वाला, घर बनाने की जीविका वाला,) (घरों का ठेकेदार या राजमिस्त्री आदि), दूत (वेतन लेकर), पेड़ों को लगाने वाला ॥१५३॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥१५४॥

भाष्य—श्वभिः क्रीडति **श्वक्रीडी**। क्रीडार्थं शुनो बिभर्त्ति।

श्येनैर्जीवति क्रयविक्रयादिना। प्रागुक्तः पक्षिणां पोषकः पञ्जरादिसंस्थितानां धारयिता। कन्यामकान्यां यः करोति **स कन्यादूषकः**।

हिंस्रः स्वभावक्रूरः वधरतः।

वृषलवृत्तिः शूद्रेभ्यः सेवादिना यो जीवति।

वृषलपुत्र इति पाठान्तरम्। केवला एव वृषलाः पुत्रा यस्य। "शूद्रापत्यैश्च केवलैः" इति गर्हिताचारः।

गणानां देवतायाजकः। गणयागाः प्रसिद्धाः ॥१५४॥

हिन्दी—कुत्तों से क्रीडा करने वाला, बाजपक्षी से जीविका चलाने वाला, कन्या को (सम्भोगादि से) दूषित करने वाला, हिंसक, सूद से जीविका चलाने वाला, गण-यज्ञ (विनायकशान्ति आदि) करने वाला—॥१५४॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥१५५॥

भाष्य—**आचारो** गृहाभ्यागतानाम् पूजादिप्रयुक्तिर्लौकिकसमाचारः, तेन वर्जितः। **क्लीबो**ऽल्पसत्वः, भग्नोत्साहः कर्तव्येषु।

याचनकः सदैव यो याचते, यश्च याञ्च्या परानुद्वेजयति। वस्तुस्वभावोऽयं याञ्च्या याच्यमानोद्वेजनम्। 'नन्द्यादिभ्यो युः' (पाणिनि ३।१।१३४), स्वार्थे कः।

कृषिजीवी स्वयंकृतया कृष्या जीवति, सति चोपायान्तरे अस्वयंकृतयाऽपि।

श्लीपदी एकः पादो महान् यस्य।

सद्भिर्निन्दितः दुर्भगः, विनाऽपि दोषेण सतां द्वेष्यः ॥१५५॥

हिन्दी—आचरणहीन गुरु-पिता आदि के आने पर अभ्युत्थान प्रणामादि सदाचार का पालन नहीं करने वाला), नपुंसक (धर्मकार्य आदि में उत्साहहीन), सदा याचना करने वाला, (अन्य वृत्ति के सम्भव होने पर भी स्वयं) किसानी (खेती) करने वाला, हाथी पाँव का रोगी (जिसके पैर बहुत मोटे हाथी के पैर के समान हो जाते हैं), किसी कारण से सज्जनों से निन्दित—॥१५५॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यापकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ।।१५६।।

भाष्य—'उरभ्रा' मेषास्तैश्चरति क्रयविक्रयादिना व्यवहरति, तद्धनप्रधानो वा । एवं **माहिषिकः** ।

परः पूर्वो यस्याः, तस्याः 'पतिः' भर्ता । या अन्यस्मै दत्ता अन्येन वा ऊढा तां पुनः यः संस्करोति, पुनर्भवति भर्त्ता पौनर्भवो नरो भर्त्ताऽसावितिशास्त्रेण ।

प्रेतान् यो निर्यापयति वहति ।

एते यत्नतो **वर्जनीयाः** ॥१५६॥

हिन्दी—भेड़े तथा भैंसे की जीविका करने वाला, विधवा का पति, धन लेकर मुर्दे को बाहर निकालने या फेंकने वाला, इनको प्रयत्न-पूर्वक (देवयज्ञ तथा पितृश्राद्ध में) छोड़ देना चाहिये ॥१५६॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ।।१५७।।

भाष्य—विगर्हितो निन्दितः आचारः कर्मानुष्ठानमेषामिति । काणादयः पूर्वदोष-लिङ्गेन । स्तेनादयोऽनुभूयमानदोषाः प्रत्यक्षादिना ।

उभयत्र दैवे पित्र्ये च । **वर्जयेत्** परिहरेत् ।

अपाङ्क्तेयाः, पङ्क्तिं नार्हन्ति । भावार्थे ढक्कर्तव्यः । अनर्हत्वमेव पङ्क्तावभवनेन प्रतीयते । अन्यैर्ब्राह्मणैः सह भोजनं नार्हन्ति । अत एव 'पङ्क्तिदूषका' उच्यन्ते । तैः सहोपविष्टा अन्येऽपि दूषिता भवन्ति ॥१५७॥

हिन्दी—इन (३।१४०-१५६) निन्दित, अपाङ्क्तेय (पङ्क्ति को दूषित करने वाले) और द्विजों में अधम (नीच) ब्राह्मणों को विद्वान् मनुष्य दोनों (हव्य-देवयज्ञ तथा कव्य-पितृश्राद्ध) में वर्जित करे (नहीं भोजन करावे) ॥१५७॥

मूर्ख ब्राह्मण को हविर्दान की निष्फलता—

ब्राह्मणो ह्यनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ।।१५८।।

भाष्य—यथैते स्तेनादयः पङ्क्तिदूषकाः—एवमनधीयानस्तत्तुल्यदोष इत्येवमर्थं पुनर्वचनम् ।

अन्ये तु व्याचक्षते । अधीयानानां काणादीनामसति वर्तमाने विगर्हिताचारत्वे दैवे कदाचित्प्राप्त्यर्थम् । 'अनधीयानो ब्राह्मणो वर्ज्यः, यस्तु अधीते तस्मै हव्यं किमिति न दीयते'—एवमर्थमेवात्र हव्यग्रहणम् । हव्ये **अनधीयानः** केवलो वर्ज्यः । ये च दृश्यमानगर्हिताचाराः । अतो ये च वचनेन उभयत्र प्रतिषिद्धास्ते दैवे पित्र्ये च वर्ज्याः, न तु पित्र्य एव । तथा च वसिष्ठः—

"अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषणैः ।
अदूष्यं तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः" ।। इति ।।

तृणाग्निरिव शाम्यतीति । तृणाग्निर्यथा न शक्नोति हवींषि पक्तुं, हुतमात्रेण हविषा शाम्यति उद्वाति च । यस्मिन्नग्नौ हुतं न भस्मीभवति । न ततो होमात्फलम् । एवं हि श्रूयते "असमिद्धे न होतव्यम् । अग्निर्वै सर्वा देवता" इति । एवमनधीयानो ब्राह्मणस्तृणाग्नितुल्यः । एतदेवाह **न हि भस्मनि हूयत** इति । यथा तृणाग्निः प्राग् भस्मीभवति, न तत्र हूयते, एवं तादृशो ब्राह्मणो न भोज्यते ।।१५८।।

हिन्दी—जैसे तृण की अग्नि (हविष्य डालने अर्थात् हवन करने पर) बुझ जाती है (और उनमें हवन करना व्यर्थ होता है), वैसे ही वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण है, अतएव उसे देवतोद्देश्य से हविर्दान नहीं करना चाहिये; क्योंकि भस्म में हवन नहीं किया जाता है ।।१५८।।

विमर्श—'श्रोत्रियायैव देयानि' (३।१२८) वचन से ही यद्यपि वेदाध्ययनहीन ब्राह्मण के लिए हविर्दान का निषेध कहा जा चुका है, तथापि स्तेनादि के समान इसे (वेदज्ञान हीन को) भी पङ्क्तिदूषकता बतलाने के लिए यह वचन फिर से कहा गया है । अन्याचार्यों का यह मत है कि 'यदि वेदमन्त्र ज्ञाता ब्राह्मण शारीरिक (काणत्व आदि) पङ्क्तिदूषक दोषों से युक्त हो तो उसे 'यम' दोषहीन बतलाते हैं और वह पङ्क्तिपावन ही होता है' इस वसिष्ठ वचनानुसार[1] देवकार्य में मूर्ख का ही त्याग करना चाहिए और

---

१. अत एव वशिष्ठः—
अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषणैः ।
अदूष्यं तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः ।। इति (म०मु०) ।

वेदाध्ययनशील काण (काना एक आँख से हीन) आदि दोषयुक्त ब्राह्मण का त्याग नहीं करना चाहिए, इसीलिए यह वचन (३।१५८) कहा गया है।

अपङ्क्त्यदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।।१५९।।

भाष्य—अस्य प्रतिषेधविधेः फलमाह। पङ्क्तिमर्हन्तीति 'पङ्क्त्याः', न पङ्क्त्याः 'अपङ्क्त्याः'। दण्ड्यादिदर्शनाद्रूपसिद्धिः। तेभ्यो दाने यः फलोदयः फलोत्पत्तिर्भवति दातुः, तं सर्वमिदानीं ब्रवीम्यवहिता भवतेति ॥१५९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) पङ्क्तिदूषक (पाँत को दूषित करने वाले (३।१४०-१५७) ब्राह्मणों को (हव्य-कव्य का) दान देने के बाद जो फलोदय होता है, उसे कहूँगा ॥१५९॥

पङ्क्तिदूषक के लिए दानादि का निषेध—

अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ।।१६०।।

भाष्य—**अव्रताः** असंयताः शास्त्राचारवर्जिताः।

परिवेत्तृप्रभृतयो यद्यपि शास्त्रबाह्यास्तथापि भेदेन स्मरणार्थं दोषगुरुत्वार्थं वा कथ्यन्ते।

अन्ये **चापाङ्क्तेयाः** काणश्लीपद्यादयः।

तैर्यदन्नं भुक्तं श्राद्धे भवति, तद्रक्षांसि देवद्विषो भुञ्जते, न च पितरः। अतो निष्फलं तच्छ्राद्धं भवतीत्युक्तं भवति।

रक्षोग्रहणमर्थवादः ॥१६०॥

हिन्दी—वेदाध्ययन व्रत से हीन परिवेत्ता (३।१६१) आदि तथा अन्य अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिदूषक स्तेन आदि ३।१४०-१५७) ब्राह्मण जो (हव्य-कव्य) भोजन करते हैं; उस (हव्य-कव्य) को राक्षस भोजन करते हैं (वह श्राद्धादि कार्य निष्फल होता है। अतः इनको श्राद्धादि में भोजन नहीं करना चाहिये) ॥१६०॥

परिवेत्ता तथा परिवित्ति का लक्षण—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ।।१६१।।

भाष्य—अग्रे आदौ जातः **अग्रजः** सोदर्यो भ्रातोच्यते। एवं हि पठ्यते—

"पितृव्यपुत्रान् सापत्नान्परनारीसुतांस्तथा।

दाराग्निहोत्रसंयोगे न दोषः परिवेदने'' इति ।

अत्र सोदर्योऽग्रजः । तस्मिंस्थितेऽकृतदाराग्निसंयोगे 'तिष्ठतिः' प्रकृतव्यापारनिवृत्तौ प्रयुक्तः । अग्निहोत्रशब्दः कर्मवचनोऽपि तदर्थेऽग्न्याधाने वर्तते ।

स्मृत्यन्तरे विशेषः पठ्यते—

"उन्मत्तः किल्बिषी कुष्ठी पतितः क्लीब एव च ।
राजयक्ष्माऽऽमयावी च न योग्यः स्यात्प्रतीक्षितुम्'' ॥

एतदप्यनधिकारोपलक्षणार्थम् । अतश्चापाङ्क्येयोपि गृह्यते ।

कालविशेषोऽधिको व्यपेक्ष्यते। तथा च स्मृतिः—"अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत, षडित्येक'' इति (गौ०सू० १८।१९) । एषा च वर्षसंख्या यदा कनीयान् प्राप्तविवाहकालः ततःप्रभृति द्रष्टव्यः । विवाहकालश्च स्वाध्यायविधिनिवृत्तिः ।

"ननु च प्रोषिताधिकारे तत्पठितम् । भर्तरि प्रोषिते यः स्त्रीणां प्रवासकालस्तमुपक्रम्य भ्रातरीत्यादि पठितम्'' ।

सत्यम् । वाक्यान्तरे प्रोषितशब्दस्य प्रत्यक्षः सम्बन्धोऽवगतः । वाक्यान्तरे तु सम्बन्धे प्रमाणं वक्तव्यम् । न च तदस्ति । "यथा स्वरितेनाधिकार इति'' । न चात्र तच्छब्दोऽस्ति । न च तदपेक्षया विनैव तस्य वाक्यस्यापरिपूर्णत्वम् ।

वसिष्ठेन चाविशेषेणाग्निशब्देन स्मार्तस्याप्यग्नेर्ग्रहणं कृतम् ।

केचित्पितर्यप्यकृताधाने विधिमिच्छन्ति । अग्रजशब्दस्य यौगिकत्वात् पिताऽप्यग्रजो भवतीति ।

यद्येवमन्योऽपि योऽग्रजस्तत्राप्येवं प्राप्नोति । न चायमग्रजानुजव्यवहारः पितापुत्रयोर्विद्यते । स्मृत्यन्तरेऽपि तु पठ्यते (गौ०सू० १८।१८) "भ्रातरि च ज्यायसीति''।

परिवित्तिः पूर्वजो ज्येष्ठः ॥१६१॥

हिन्दी—जो छोटा भाई बड़े भाई के अविवाहित रहते अग्निहोत्र नहीं लेने पर ही अपना विवाह तथा अग्निहोत्र ग्रहण कर लेता है, वह (छोटा भाई) 'परिवेत्ता' तथा बड़ा भाई 'परिवित्ति कहलाता है ॥१६१॥

परिवेत्ता आदि को असत्फल प्राप्ति—

परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ।।१६२।।

भाष्य—प्रसङ्गात्परिवेदनसम्बन्धिनामन्येषामपि दोषदर्शनद्वारेण निषेधं करोति । निषेधपरिवर्जितः परिभूतो वा वेदनेन **परिवित्तिः** । परिवर्ज्यं ज्येष्ठं करोति परिवेदनं

परीवेत्ता। यया कन्यया च **परिविद्यते। सर्वे ते नरकं यान्ति।**

दाता याजकश्च येषां नरकगामिनां पञ्चमः। 'दाता' कन्यायाः एवं प्रकृतत्वा-त्पित्रादिः। 'याजको' विवाहे यः करोति होमं यो वा तत्रोपदेष्टा। अथवा तेषामेव परिवेत्तृपरिवित्तितत्कन्यादातॄणां ज्योतिष्टोमादीनामपि यज्ञानामृत्विक्।

तस्माज्ज्येष्ठेन तथा कर्तव्यं यथाऽस्य कनीयसो भ्रातुर्विवाहे विघ्नकर्तृत्वं न भवति। कनीयसाऽपि कालप्रतीक्षा द्वादशाष्टषड्वर्षादिविषया कर्तव्या। कन्ययाऽपि तादृशाय दातुं न देयम्।

दातृयाजकौ पञ्चमौ येषामिति द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥१६२॥

हिन्दी—१. परिवेत्ता तथा २. परिविति, ३. जिस (कन्या) से विवाह होता है वह, ४. कन्यादान करने वाला और ५. याजक (उस विवाह में हवनादि कराने वाला ब्राह्मण) ये पाँचों नरक को जाते हैं ॥१६२॥

दिधिषूपति का लक्षण—

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥१६३॥

भाष्य—नियोगधर्मेण प्रवृत्तो भ्रातुर्मृतस्य तद्भार्यागमने योऽनुरज्येत प्रीतिं भावयेत्। **कामतः**। नियोगधर्मातिक्रमेण "सकृत्सकृदृतौ" इत्येवं विधिं हित्वा इच्छानुरागं गाढालिङ्गनपरिचुम्बनादि कुर्यादसकृद्वा प्रवर्तेत, चेतसा वा विक्रियेत, कामिनीप्रेमदृष्टिबन्धवचनादिलिङ्गेनानुरागित्वेन विभावितो **दिधिषूपति**र्वेद्यः।

अग्रेदिधिषूपतिलक्षणं तु स्मृत्यन्तरात् ज्ञेयम्। "जीवत्यग्रेदिधिषूपतिः" इति।

केचित्तु नैव यं समाम्नाये श्लोकोऽतीत्याहुः। अपरिपूर्णं च लिङ्गं ब्रुवते। द्वयस्य लक्षणे कर्तव्ये, न कर्तव्यकारिणामेकस्योपपद्यते। स्मृत्यन्तरे चैतदुभयं लक्ष्यते—

"परपूर्वापतिं धीरा वदन्ति दिधिषूपतिम्।
यस्त्वग्रेदिधिषूर्विप्रः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥"

न त्विह सम्भवति, परपूर्वापतेः पृथगेव निषिद्धत्वात्। तस्मादन्यो दिधि-षूपतिः ॥१६३॥

हिन्दी—मृत-पति के सन्तानाभाव के कारण वक्ष्यमाण (९।५९-६१) वचनानुसार धर्म से नियुक्त भार्या में जो कामवश अनुरक्त (आलिङ्गन-चुम्बनादि में प्रवृत्त) होता है, उसे दिधिषूपति जानना चाहिये ॥१६३॥

कुण्ड तथा गोलक पुत्र का लक्षण—

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ।।१६४।।

भाष्य—पत्यौ जीवति तद्गृहे स्थितायां तद्भार्यायां यो गूढोत्पन्नः भङ्ग्या उपपतित्वेन वा पत्युः क्षमया जायते सोऽन्यजात **कुण्ड** उच्यते ।

मृते तु गोलकः ।

एतावनियुक्तासुताविति केचित् ।

तदयुक्तम् । तयोरब्राह्मण्यादेवाप्राप्तिः । तस्मान्नियोगोत्पन्नौ कुण्डगोलकौ ।

"कथं पुनरनियुक्तासुतयोरब्राह्मण्यमितरयोस्तु ब्राह्मण्यम्" ।

जातिलक्षणे पत्नीग्रहणात्—सर्ववर्णेतु तुल्यासु पत्नीष्विति' । सम्बन्धिशब्दश्च पत्नीशब्दो भर्तृशब्दवत् । यज्ञसंयोगे च पत्नीशब्दो व्युत्पाद्यते न चान्यदीयया भार्यया सहान्यस्य यज्ञाधिकारः ।

"यद्येवं नियोगोत्पन्नयोरपि समानन्यायत्वान्नैव ब्राह्मण्यम्" ।

दशम एतन्निर्णेष्यामः । माभूद्वा नियुक्तानियुक्तासुतयोः कस्यचिदपि ब्राह्मण्यम् । ननूक्तमसति ब्राह्मण्ये प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधानुपपत्तिः ।

पतितप्रतिषेधादेव एतद्भविष्यति । द्विजातिकर्मभ्यो हानिः 'पतनम्' । द्विजातिकर्मत्वे सति श्राद्धभोजनस्य कुतः पतिते प्राप्तिः । आम्नायते च प्रतिषेधो "ये स्तेन-पतिता" (१५० श्लो०) इति ।।१६४।।

हिन्दी—परायी स्त्री में 'कुण्ड' तथा गोलक—ये दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, पति के जीते रहने पर (सधवा से) जार उपपत्ति के द्वारा उत्पन्न पुत्र 'कुण्ड' और पति के मरने पर (विधवा से) जार के द्वारा उत्पन्न पुत्र 'गोलक' कहलाता है ।।१६४।।

कुण्डाशी का लक्षण—

[उत्पन्नयोरधर्मेण हव्यकव्ये च नैत्यके ।
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी द्विजः स्मृतः ।।२०।।]

[**हिन्दी**—अधर्म से उत्पन्न उन दोनों (कुण्ड तथा गोलक ३।१६४) के अन्न को हव्य (देवतानिमित्तक) तथा कव्य (पितृ-निमित्तक) और नित्य-कर्म में जो भोजन कराता है, वह द्विज 'कुण्डाशी' कहा गया है ।।२०।।]

कुण्ड तथा गोलक को हव्य-कव्य-दान की निष्फलता—

ते तु जाताः परक्षेत्रे प्राणिनः प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयन्ति प्रदायिनाम् ।।१६५।।

भाष्य—"जात्याख्यायामिति" (व्या०सू० १।२।५८) बहुवचनं **प्राणिन** इति। ब्राह्मण्यादिव्यपदेशमवजानते 'प्राणिन' इत्येवं व्यपदेशार्हा, न व्यपदेशान्तरमर्हन्ति। अतस्ते **नाशयन्ति हव्यकव्यानि** निष्फलीकुर्वन्ति **प्रदायिनां** दातॄणाम्। परिवेत्तादीनां लोके नातिप्रसिद्धत्वात् शब्दैश्चास्मृतत्वाद्व्यवस्थार्थं लक्षणप्रणयनम्॥१६५॥

हिन्दी—दूसरे की स्त्री में उत्पन्न वे दोनों (३।१६४ में कथित कुण्ड तथा गोलक) मरकर तथा इस लोक में भी दाताओं के लिए दिये गये हव्य-कव्य को नष्ट (निष्फल) कर देते हैं ॥१६५॥

अपाङ्क्तेय-भोजन का दूषण—

अपङ्क्त्यो यावतः पङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ।।१६६।।

भाष्य—पङ्क्तिमर्हन्तीति पङ्क्त्याः। सद्भिरेकत्रासनभोजनाद्यर्हता 'पङ्क्त्यता', तदभावादपङ्क्त्यः।

स यावतः पङ्क्त्यान्विद्वत्तपस्विश्रोत्रियान् **भुञ्जानाननुपश्यति, तावतां न तत्र** पितृतृप्त्याख्यं **फलं** भवति।

अतः स्तेनादयः श्राद्धं कुर्वता ततः प्रदेशादपसारणीयाः।

बालिशो मूर्खः ॥१६६॥

हिन्दी—अपाङ्क्तेय (३।१४०-१५७) में कथित पङ्क्ति को दूषित करने वाला) ब्राह्मण पङ्क्त भोजन की पाँत) में बैठे तथा भोजन करते हुए जितने ब्राह्मणों को देखता है, भोजन कराने वाला वह मूर्ख उतने (पङ्क्तिपावन—पङ्क्ति को पवित्र करने वाले भी) ब्राह्मणों को भोजन कराने के फल को नहीं पाता है, (अतएव पङ्क्तिदूषक स्तेनादि, भोजन करते हुए ब्राह्मणों को नहीं देख सकें, ऐसा प्रबन्ध भोजन दाता को करना चाहिए) ॥१६६॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य च।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ।।१६७।।

भाष्य—"ननु चान्धस्य कुतो दर्शनम्। येनेदमुच्यते **वीक्ष्यान्धो नवतेरिति**" ॥

सत्यम्। तत्प्रदेशसन्निधानमनेन लक्ष्यते। यावान् देशश्चक्षुष्मते। दृष्टिगोचरस्तावतो देशादनावृतादन्धो विवासनीयः।

काणः षष्टेः। नात्रायमर्थोऽत ऊर्ध्वं भोज्या इति। केवलं संख्यापचयेन दोषलाघवं प्रायश्चित्तविशेषार्थं ज्ञाप्यते।

श्वित्री कुष्ठी भण्यते।

पापरोगी प्रसिद्धः ॥१६७॥

हिन्दी—अन्धा पङ्क्ति में बैठकर भोजन करने वाले ब्राह्मणों को देखकर नब्बे ब्राह्मणों के काना, साठ ब्राह्मणों के श्वेत कुष्ठी, सौ ब्राह्मणों के और पापरोगी (यक्ष्मा या कुष्ठ का रोगी) हजार ब्राह्मणों के (भोजन कराने से मिलनेवाले) दाता (भोजन कराने वाले) के फल को नष्ट करता है ॥१६७॥

विमर्श—यद्यपि अन्धा का देखना असम्भव है तो भी उसके बैठे हुए स्थान से देखने योग्य देशतक के नब्बे ब्राह्मण भोजन के फल को नष्ट करने का वचन कहा गया है। उक्त न्यूनाधिक संख्या दोष का न्यूनाधिक्य-प्रदर्शनार्थ है।

शूद्र याजक का निषेध—

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥१६८॥

भाष्य—यावतो ब्राह्मणान् स्पृशत्यङ्गैः, पङ्क्तिं गतः। अत्राप्यङ्गस्य स्पर्शनं न विवक्षितम्, कि तर्हि पूर्ववत्तद्देशसन्निधिः।

पौर्तिकं फलम्। पूर्ते भवं पौर्तिकम्। बहिर्वेदिदानाद्यत्फलं तत्पौर्तिकम् ॥१६८॥

हिन्दी—शूद्र को यज्ञ कराने वाला (ब्राह्मण) अङ्गों से जितने ब्राह्मणों का स्पर्श करता है, उतने ब्राह्मणों के हव्य-कव्य दान करने का फल दानकर्ता को नहीं मिलता है॥१६८॥

विमर्श—आगे के 'आसनेषूपक्लृप्तेषु (३।१९८) वचनानुसार प्रत्येक ब्राह्मण को पृथक्-पृथक् आसन पर बैठाकर भोजन कराने का विधान होने से दूसरे के शरीर के स्पर्श की सम्भावना नहीं है, अतएव जितने ब्राह्मणों की पङ्क्ति में वह शूद्र याचक बैठकर भोजन कराता है, उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने का पौर्तिक (वेदी के बाहर दान देने का) फल दाता को नहीं मिलता है, अर्थात् यहाँ शरीर-स्पर्श विवक्षित नहीं है। किन्तु पूर्व वचनों (३।१५६-१६७) के अनुसार स्थान की समीपता विवक्षित है। मेधातिथि तथा गोविन्दराज के वचनानुसार पङ्क्तिदूषकों में शूद्रयाचक की गणना पहले नहीं हुई है। अतः इस वचन से उसका निषेध किया गया है।

शूद्र याचक से प्रतिग्रह लेने का निषेध—

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥१६९॥

भाष्य—प्रसङ्गाच्छूद्रयाजकस्याप्रतिग्राह्यताऽनेन कथ्यते।

वेदविदपि यदि तस्य शूद्रयाजकस्य सम्बन्धिनो द्रव्यस्य प्रतिग्रहं करोति।

लोभादित्यनुवादः । सोऽपि **विनाशं व्रजति** । अभिलषितेनार्थेन वियुज्यते धनपुत्र-पशुशरीरादिना । किंपुनरवेदवित् । वेदविदः किल प्रतिग्रहे नातीव दोष इति वक्ष्यति ।

आमपात्रमपक्वं शरावादिभाजनम् । **अम्भसि** जले क्षिप्तम् ॥१६९॥

हिन्दी—वेदज्ञाता ब्राह्मण भी लोभ से शूद्र-याचक का प्रतिग्रह (दान) लेकर (पानी में कच्चे घड़े के समान शरीरादि) शीघ्र नष्ट हो जाता है। तब मूर्ख ब्राह्मण के विषय में कहना ही क्या है? (अर्थात् वह तो प्रतिग्रह लेकर अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो ही जायेगा)॥१६९॥

सोम-विक्रयी आदि के लिए दान निषेध—

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ।।१७०।।

भाष्य—तस्यां जातौ जायते यत्र **विष्ठाऽस्य** भोजनं भवति ।

एवं **भिषजे** ।

नष्टं निष्फलं उद्वेगकरं वा । नष्टं हि द्रव्यं उद्वेगं जनयति ।

अविद्यमाना प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य **तदप्रतिष्ठम्** ।

नानारूपैः शब्दैरेवंविधस्य दानस्य नैष्फल्यं कर्तुश्च दोषसम्बन्धः प्रतिपाद्यते । **नष्टमप्रतिष्ठमिति** नानयोरपि भेदाशङ्का कार्या, कार्यभेदात् ॥१७०॥

हिन्दी—सोमलता बेचने वाले ब्राह्मण को दी गयी दान, वस्तु देने वाले के भोजनार्थ विष्ठा, वैद्य-वृत्ति वाले ब्राह्मण को दी गई दान, वस्तु देने वाले के भाजनार्थ पूय (पीव) और शोणित (रक्त); देव-मन्दिर के पूजन (वेतन लेकर पूजा करने वाले पुजारी) के लिए दी गयी दान, वस्तु नष्ट और सूदखोर ब्राह्मण के लिए दी गयी दान वस्तु भी अप्रतिष्ठ (निष्फल) होती है ॥१७०॥

विमर्श—इस श्लोक का आशय यह है कि श्राद्ध (हव्य-कव्य) में सोमलता बेचने वाले ब्राह्मण को भोजन कराने से दाता को विष्ठा खाने वाले कीड़ों की योनि में, वैद्य वृत्तिवाले ब्राह्मण को भोजन कराने से पीव तथा रक्त खाने वाले कीड़ों की योनि में उत्पन्न होना पड़ता है और शेष दो (पुजारी तथा सूदखोर) ब्राह्मणों को भोजन कराना निष्फल होता है। अतः इन्हें श्राद्ध आदि में (हव्य-कव्य दोनों कार्यों में) भोजन नहीं करावे ।

व्यापारी आदि ब्राह्मण के लिए दान निषेध—

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् ।
भस्मनीव हुतं द्रव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ।।१७१।।

भाष्य—अयमपि पूर्ववत् व्याख्येयः।

वाणिजकस्य भोजनं निषिद्धम्। न तद्देशसन्निधिः। न हि यथा पूर्वत्र वीक्ष्येति दृष्टिगोचरे देशे लक्षणया सन्निधिस्तद्वदिह तादृशं किञ्चिन्निबन्धनमस्ति।

पौनर्भवो नवमे वक्ष्यते (९।१७५) ॥१७१॥

हिन्दी—व्यापारी (व्यापार से जीविका करने वाले) ब्राह्मण को जो (हव्य-कव्य) दिया जाता है, वह इस लोक तथा परलोक में, कहीं भी फल देने वाला नहीं होता है और विधवा पुत्र के लिए दिया गया दान भस्म (राख) में हवन करने के समान (निष्फल) होता है ॥१७१॥

अन्य अपाङ्क्तेय ब्राह्मण के लिए दान-निषेध—

इतरेषु त्वपङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥१७२॥

भाष्य—येऽस्मिन्नपङ्क्त्यदानफलदर्शनप्रकरणे पठिताः अन्धादयस्तेभ्योऽन्ये स्तेनादयः प्रतिकाण्डोद्दिष्टास्तेषु यथोद्दिष्टेषु भोजितेषु दातुरिमान्युपतिष्ठन्ते, मेदोऽसृङ्मांसादीनि। तादृशजातौ जायते यत्रैतदाहारो भवति, कृमिक्रव्याद्गृध्रादिजाताविति।

मनीषिणो वेदविदो **वदन्ति**।

सर्वस्यायमर्थः। अपङ्क्त्येषु भोजितेषु श्राद्धाधिकारो न कृतो भवत्यकरणे च विध्यतिक्रमदोषोऽवश्यंभावी, नित्यत्वादस्य विधेः ॥१७२॥

हिन्दी—पूर्वोक्त अपाङ्क्तेय अन्य (चोर आदि (३।१४०-१५८) ब्राह्मणों को दिये गये (हव्य-कव्य) को मेदस, रक्त, मांस, मज्जा और हड्डी (के समान) विद्वान् लोग कहते हैं ॥१७२॥

विमर्श—पूर्वोक्त (३।१७०-१७१) श्लोक से भिन्न पङ्क्तिदूषक (३।१४०-१५८) ब्राह्मणों को हव्य-कव्य के दिये हुए अन्न को दाता जन्मान्तर में मेदस, रक्त आदि खाने वाले कीड़ों की योनि में उत्पन्न होकर खाता है, अतः उन्हें भी हव्य-कव्य का दान (सर्वत्र 'दान' शब्द से भोजन भी विवक्षित है) नहीं करना चाहिए ॥१७२॥

पङ्क्तिपावन ब्राह्मणों के कथन का उपक्रम—

अपङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान् ॥१७३॥

भाष्य—**अपङ्क्त्यैः** पूर्वोक्तैः **उपहता** दूषिता **पङ्क्तिः** परिषद्यैर्ब्राह्मणैः **पाव्यते** निर्दोषा क्रियते। **तान्वक्ष्यमाणैः** श्लोकैः शृणुत। **कार्त्स्न्येन** निःशेषेण ब्रवीमि।

अर्थवादरूपाण्यन्यानि पदानि।

यथैवैकत्र भुञ्जानो दुष्टो दूषयति अदुष्टान् एवं पङ्क्तिपावनः स्वगुणातिशयादन्येषामपि दोषानपनुदतीत्यस्यार्थः।

न चानेनापङ्क्त्यानां भोजनमनुज्ञाप्यते, किंतर्हि पङ्क्तिपावनोऽवश्यमन्वेषितव्यः। तस्मिंश्च लब्धे यद्यन्ये नातिनिपुणतः परीक्षिताः निपुरुषं यावत्, तथापि न चेदुपलभ्यमानदोषा, वृथाऽपि भोजयितव्या इत्येवमर्थः पङ्क्तिपावनोपदेशः ॥१७३॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि पङ्क्तिदूषक—१।१४०-१५८) से दूषित पङ्क्ति (भोजनकर्ताओं की पाँत) जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र हो जाती है, उन पङ्क्तिपावन (पङ्क्ति को पवित्र करने वाले) ब्राह्मणों (तुमलोग आगे ३।१७३-१७६ कहे गये) को जानो ॥१७३॥

पङ्क्तिपावन ब्राह्मण—

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजांश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥१७४॥

भाष्य—अग्र्याः उत्तमाः सर्वसंशयव्युदासेन निपुणतः स्वीकृतवेदाः।

सर्वेषु च प्रवचनेषु अग्र्याः इत्येवम्। प्रोच्यते व्याख्यायते यैर्वेदार्थः तानि **प्रवचना**न्यङ्गानि। षडङ्गो वेदो यैरभ्यस्तोऽभ्यस्यते च।

श्रोत्रियान्वये जाताः। पितृपितामहादयो येषां तादृश एव।

"ननु चेदृशा एव भोज्यतया विहितास्तत्र कोऽतिशयो येनेदानीं पङ्क्तिपावनत्वमुच्यते"।

किञ्चिद्विद्वद्भ्यो दानं, सति श्रोत्रियत्वे विहितम्। न चेह विद्वत्तोपात्ता। न च तया पङ्क्तिपावनत्वोपपत्तिः। गुणविशेषापेक्षं हि पङ्क्तिपावनत्वं न गुणापचये युक्तम्। तस्माद्विद्वदभावे केवलश्रोत्रियाय दानार्थमेतत्। असति विदुषि श्रोत्रियाय दानं मुख्यमेव न गौणमित्युक्तं भवति।

बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षम्।

चकार समुच्चये ॥१७४॥

हिन्दी—चारों वेदों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, प्रवचन अर्थात् ६ वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द[1]) सहित वेदों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ और

---

१. तदुक्तम्—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
छन्दोविचितिरित्येष षडङ्गो वेद उच्यते॥' इति।

जिस वंश में १० पीढ़ियों तक श्रोत्रिय हुए हों, उनमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पङ्क्तिपावन जानना चाहिए ॥१७४॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयानुसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥१७५॥

भाष्य—त्रिणाचिकेताख्यो वेदविभागोऽध्वर्यूणाम्—'पीतोदकाजग्धतृणा' इत्यादिः। तदध्ययनसन्बन्धात् पुरुषोऽत्र **त्रिणाचिकेत** उच्यते। अन्ये च त्रिणाचिकेतमधीयानानां व्रतमाम्नातं—तत् येन चरितं स **त्रिणाचिकेतः** । अत्रापि लक्षणयैव पुरुष उच्यते।

न चैवं मन्तव्यं तावन्मात्रेण पङ्क्तिपावनत्वम्, किं तर्हि, सति श्रोत्रियत्वादिगुणयोगेऽधिकोऽयं गुणी द्रष्टव्यः पङ्क्तिपावनहेतुतया ।

पञ्चाग्निविद्या नाम छान्दोग्योपनिषदि विद्याऽऽम्नायते, (५।१०।९) "स्तेनो हिरण्यस्येत्यादि" यस्याः फलम्। तदध्ययनसम्बन्धात् पुरुषोऽपि 'पञ्चाग्निः' पूर्ववत्।

अन्ये तु पञ्चाग्नयो यस्य, त्रयस्त्रेताऽग्नयः सभ्यावसथ्यौ च द्वौ, पञ्चाग्निः। तत्र 'सभ्यो' नाम यो महासाधनस्य शीतापनोदार्थमेव बहुषु देशेषु व्यवह्रियते।

त्रिसुपर्णो नाम मन्त्रस्तैत्तिरीयके बाह्वृच्ये च, "ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ती"त्यादिः।

षडङ्गो वेदस्तं वेत्तीति **षडङ्गवित्**।

ब्राह्मधर्मेण आहूय दानेन या दत्ता तस्या अनुसन्तानस्ततो जातः।

ज्येष्ठसामगश्च। ज्येष्ठदोहानि आरण्यके सामानि, तानि गायति स एवमुच्यते। अत्रापि सामगानेन तद्व्रताचरणेन वा पुरुष इत्युच्यते ॥१७५॥

हिन्दी—त्रिणाचिकेत (अध्वर्युवेदभाग को पढ़ने तथा उसका व्रत करने वाले, पञ्चाग्नि (अग्निहोत्री), त्रिसुपर्ण (बह्वृचका वेद भाग पढ़ने तथा उसका व्रत करने वाले) वेद के ६ अङ्गों (शिक्षा आदि) का व्याख्याता, ब्राह्मविवाह (२।२७) की विधि से विवाहिता स्त्री से उत्पन्न, वेद के आरण्यक में गाये जाने वाले ज्येष्ठसाम का गान करने वाला ॥१७५॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥१७६॥

भाष्य—वेदस्यार्थं जानाति।

"ननु च षडङ्गविदुक्त एव"।

सत्यम्। अङ्गैर्विना स्वयमप्यूहति प्रज्ञया यः स इह **वेदार्थविद**भिप्रेतः। अथवा तस्यैवायमनुवादः पुनः पुनः क्रियते। न वेदार्थज्ञानेन विना सत्यप्यन्यगुणयोगे

श्राद्धार्हाः । **प्रवक्ता** व्याख्याता वेदार्थस्यैव ।

ब्रह्मचारी । **सहस्रदः** । अविशेषोपादानेन गवां सहस्रं यो दत्तवान् । इदं तु युक्तम् । सहस्रशब्दस्य बहुनामत्वात्, बहु यो ददाति, उदारो वेत्यर्थः । न हि गवां संख्येयत्वे प्रमाणमस्ति । वेदेऽप्युक्तं "गावो वै यज्ञस्य मातर" इति । अविशेषचोदनायां गावः प्रतीयन्ते ।

शतायुर्वृद्धवयाः । स हि परिपक्वकषायतया पावनत्वमश्नुते । शतमायुरस्येति **शतायुः** । वर्षाणि संख्येयानि, प्रसिद्धेः । अथवा शतशब्दो बह्वर्थः, बह्वायुः । वृद्धवयस्त्वं चात्राभिप्रेतम् ।

उक्तं तु गौतमीये "युवभ्यो दानं प्रथमम् एके पितृवत्" इति (अ० १५ सू० १०-११) । एवमर्थमेव च ब्रह्मचारिग्रहणमिह व्याचक्षते । स हि पूर्ववया भवति ॥१७६॥

हिन्दी—वेद के अर्थ का ज्ञाता (वेदाङ्ग को नहीं पढ़कर भी गुरु से वेदार्थ को जानने वाला), वेद का व्याख्यान करने वाला, ब्रह्मचारी (प्रथम आश्रम में नियमित रूप से रहने वाला) हजार गायों का या बहुत अधिक दान करने वाला और सौ वर्ष की आयु वाला—इन ब्राह्मणों को 'पङ्क्तिपावन' जानना चाहिए ॥१७६॥

ब्राह्मण को निमन्त्रित करने का समय—

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयीत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ।।१७७।।

भाष्य—उक्ता यादृशा ब्राह्मणा भोजनीयाः । इदानीमन्येतिकर्तव्यतोच्यते ।

पूर्वेद्युर्यदहः श्राद्धं कर्तव्यम् अमावास्यायां त्रयोदश्यां वा, ततः पूर्वस्मिन्नहनि चतुर्दश्यां द्वादश्यां वा, श्वः श्राद्धे कर्तव्ये ब्राह्मणान्निमन्त्रयेत् ।

निमन्त्रणे कर्तव्ये अध्येषणपूर्वकम् व्यापारणमभ्युपगमनं च ।

त्रयोऽवरा येषां ते **त्र्यवराः** । यद्यत्यन्तं न्यूनास्तदा त्रयः । शक्तौ त्वयुजो यथोत्साहमित्युक्तम् । अवशिष्टः पदसङ्घातः श्लोकपूरणार्थः । **उपस्थिते** प्राप्ते । **यथोदितान्** यथोक्तान्॥१७७॥

हिन्दी—श्राद्ध के एक दिन पहले या श्राद्ध के ही दिन पूर्व (३।१७५-१७६) में यथा-योग्य कहे गये ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे ॥१७७॥

श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण तथा श्राद्धकर्त्ता के कर्तव्य—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ।।१७८।।

भाष्य—**पित्र्ये** श्राद्धे **निमन्त्रितो नियतात्मा भवेत्**। संयतात्मा ब्रह्मचर्यं परिरक्षेत् अन्यांश्च यमनियमाननुतिष्ठेत स्नातकव्रतादीन्। पुरुषव्रतानां नृत्यगीतादि-प्रतिषेधानां कर्माङ्गता विधीयते। तथा कर्तव्यं श्राद्धकृता यथाऽसौ ब्राह्मणो निमन्त्रणात् प्रभृति संयतेन्द्रियो भवति, अन्यथा श्राद्धं दुष्येत्।

न च छन्दांसि वेदान् **अधीयीत**। यच्च वेदाक्षरोच्चारणमध्ययनं तन्निषिध्यते। जपस्तु सन्ध्योपासनादावप्रतिषिद्धः।

यस्य तत्कर्तव्यं **श्राद्धं भवेत्**। पित्र्ये श्राद्धे निमन्त्रितवन्नियतात्मा भवेत्। संयतात्मा च सोऽपि नियतात्मा भवेदिति पदयोजना। अतो भोक्तुः कर्तुश्च निमन्त्रणात्प्रभृति तुल्यो नियोऽनध्ययनं च ॥१७८॥

हिन्दी—पितृ-श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण आत्मा को संयमपूर्वक रखे (मैथुनादि कर्म न करे) तथा (आवश्यक नित्यकर्म अर्थात् सन्ध्योपासन एवं जप आदि के अतिरिक्त) वेद का अध्ययन (वेद-पाठ) भी नहीं करे। श्राद्धकर्त्ता भी इन नियमों का विधिवत् पालन करे ॥१७८॥

पूर्वोक्त नियम के पालन में युक्ति—

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥१७९॥

भाष्य—निमन्त्रितेन नियतात्मना भवितव्यमित्यस्य विधेरर्थवादोऽयम्।

यस्मा**न्निमन्त्रितान्** ब्राह्मणान् अदृश्येन रूपेण **पितर उपतिष्ठन्ति** तच्छरीरमनुप्र-विशन्ति, यथा भूतग्रहाविष्टम्।

वायुवदनुगच्छन्ति। यथा वायुः प्राणः पुरुषं गच्छन्तमनुगच्छति, न गच्छन्तं प्राणो जहाति, एवं पितरो वायुभूता भवन्ति।

तथाऽऽसीनान् ब्राह्मणा**नुपासते**। गच्छत्स्वनुगच्छन्ति, उपविष्टेषूपविशन्ति। निम-न्त्रिता द्विजा पितृरूपापन्ना भवन्तीत्यर्थः। तस्मान्न स्वतन्त्रैर्निमन्त्रितैर्भवितव्यम्॥१७९॥

हिन्दी—पितर लोग निमन्त्रित ब्राह्मण के पास आते हैं, उन ब्राह्मणों के चलने पर प्राण वायु के समान अनुगमन करते हैं और उन ब्राह्मणों के बैठने पर उनके समीप में बैठते हैं (अतएव निमन्त्रित ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि वे संयम से रहें।) ॥१८९॥

निमन्त्रण स्वीकार कर भोजन न करने पर दोष—

केतितस्तु यथान्यायं हव्ये कव्ये द्विजोत्तमः।
कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥१८०॥

भाष्य—**केतित** उपनिमन्त्रितः। **हव्ये कव्ये** दैवे पित्र्ये च। अङ्गीकृत्य निमन्त्रणमभ्युपगम्य श्राद्धभोजनम्। यदि कथञ्चिदतिक्रामति, भोजनकाले न सन्निधीयते, ब्रह्मचर्यं च न रक्षति, तदा सूकरतां गच्छति स ब्राह्मणः।

कथञ्चित्कामाद्विस्मृत्य वा।

यथान्यायमिति वृत्तपूरणम्।

अन्ये त्वाहुः। प्रार्थ्यमानस्यानभ्युपगम एव 'अतिक्रमः'। तथा च श्राद्धकल्पे उक्तम् "अनिन्दितेनामन्त्रितो नातिक्रामेत्" इति।

एतच्चायुक्तम्। लिप्सया प्रवृत्तिः श्राद्धे, न पुनः शास्त्रतः। तत्रासत्यां लिप्सायां यदि नाङ्गीकरोति तदा को दोषः ॥१८०॥

हिन्दी—हव्य-कव्य (देवकार्य या पितृश्राद्ध) में विधिवत् निमन्त्रित (तथा उस निमन्त्रण को स्वीकार किया हुआ) ब्राह्मण किसी कारण से भी भोजन नहीं करने पर उस पाप से (दूसरे जन्म में) सूअर होता है ॥१८०॥

निमन्त्रित ब्राह्मण को शूद्रा-गमन का (विशेष) निषेध—

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।
दातुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥१८१॥

भाष्य—वृषलीशब्दः स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थः, सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानात्। अतो ब्राह्मण्यपि वृषल्येव। वृषस्यति चालयति भर्तारमिति यौगिकत्वं दर्शयति। अतोऽयमर्थः। भोजनमङ्गीकृत्य तदहः यः स्त्रिया **सह मोदते** रमते, तथा सह सुरतसम्भोगेच्छया संलापालिङ्गनाद्यपि यो जनयति, तस्यायं दोषः।

दातुः श्राद्धस्य कर्तुः। **यद्दुष्कृतं** पापं **किञ्चित्तत्सर्वं** तस्मिन् सङ्क्रामति। अनिष्टफलयोगमात्रमनेन निर्दिश्यते। अन्यथा यत्र दाता पुण्यकृत् तत्र न कश्चिद्दोषः स्यात्। 'मोदनं' हर्षोत्पत्तिः। तेन संलापालिङ्गनाद्यपि न कर्तव्यम् ॥१८१॥

हिन्दी—श्राद्ध में निमन्त्रित जो ब्राह्मण शूद्रा के साथ सम्भोग करता है, वह श्राद्धकर्त्ता के पापों को प्राप्त करता है ॥१८१॥

विशेष—यदि श्राद्धकर्त्ता पापी नहीं होता तब भी वह ब्राह्मण पापभागी होता ही है। 'नियतात्मा—' (३।१०७) से मैथुन निषेध करने पर भी विशेषदोष-प्रदर्शनार्थ यह वचन है तथा मेधातिथि और गोविन्दराज के मत से "निमन्त्रित—(३।१७८) श्लोक से सामान्यतः मैथुन का निषेध करने पर निमन्त्रित ब्राह्मण की विवाहिता समान वर्ण की पत्नी के साग्रह सम्भोग की इच्छा करने वाली होने पर 'शूद्रा' अर्थात्

शूद्रा के तुल्य है। अतः ऐसी ब्राह्मणी के साथ में भी सम्भोग करने पर उक्त दोष होता है" यह अर्थ है।

श्राद्धभोक्ता को क्रोधादि करने का निषेध—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ।।१८२।।

भाष्य—अक्रोधनाः क्रोधवर्जिताः।

शौचपराः। 'शौचं' शुद्धता मृद्वारिभ्यां प्रायश्चित्तेनान्तःशुद्ध्या वा।

सततं शुद्धेर्विशेषणम्। तेन निष्ठीवनादावाचमनादि तत्क्षणमेव कर्तव्यम्।

ब्रह्मचारिणः स्त्रीसम्भोगं परिहरन्ति।

न्यस्तशस्त्राः। न्यस्तं त्यक्तं शस्त्रं यैः। शस्त्रग्रहणं दण्डपारुष्योपलक्षणार्थम्।

महाभागाः। औदार्यधनित्वादिगुणयोगो 'महाभागता'।

अत एवंविधं पितॄणां रूपं, ते च ब्राह्मणानाविशन्ति, अतस्तैस्तद्रूपधारिभिर्भवितव्यमित्यर्थवादेनायमर्थो विधीयते। **पूर्वदेवताः** पितरो नाम, कल्पान्तरेऽप्येते देवता एवेति स्तुतिः। **पूर्वकालं** पितॄणामर्चनीयत्वात्पूर्वग्रहणम् ॥१८२॥

हिन्दी—पितर लोग क्रोधरहित, (मिट्टी तथा पानी से) बाहरी एवं (राग-द्वेषादि शून्य अन्तःकरण से) भीतरी शुद्धि रखने वाले, नित्य ब्रह्मचारी, युद्ध से पराङ्मुख और दया आदि गुणों से युक्त सृष्टि के आदि काल से ही देवतारूप हैं। (अत एव श्राद्ध में भोजन करने वाले) ब्राह्मण तथा श्राद्ध करने वाले यजमान को भी वैसा ही (पितरों के समान ही क्रोधरहित आदि गुणों से युक्त) होना चाहिए ॥१८२॥

पितरों की उत्पत्ति—

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ।।१८३।।

भाष्य—यत **एतेषां** पितॄणा**मुत्पत्तिर्ये च** पितरो **यैरुपचर्याः**॥ ब्राह्मणेन सोमपाः, क्षत्रियेण हविष्मन्तः इत्यादि। तत्सर्वम**प्यशेषत** इदानीमुच्यमानं **निबोधत** बुध्यध्यम्।

नियमैरित्यनुवादः। पूर्वमेव विहितत्वात् "नियमात्मा भवेत्" इति। बहुवचनं बहुत्वान्नियमानाम् ॥१८३॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) इन सब पितरों की जिनसे उत्पत्ति है और ये पितर ब्राह्मणादि के द्वारा जिन नियमों से पूजनीय हैं, उनको सुनिये ॥१८३॥

मनोहिरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ।।१८४।।

भाष्य—हिरण्यगर्भः प्रजापतिः । तस्य पुत्रो **हैरण्यगर्भो** मनुः । तथा चोक्तं प्रथमाध्याये—"एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चेति" । तस्य मनोर्ये **मरीच्यादयः** पुत्राः अत्र्यङ्गिरसावित्यादय**स्तेषामृषीणां** यं **पुत्रास्त** एते **पितृगणाः** ।

"ननु च पित्रादयः सर्वस्यात्मीयाः पितरः । एवं हि चोदितं 'पित्रे पितामहाय प्रपितामहाय पिण्डान्निर्वपेत्' । तथा 'अत ऊर्ध्वं पुत्रास्त्रिभ्यो दद्युरिति' । तत्र किमिदमुच्यते—'ऋषीणां पुत्राः पितरः, सोमपा नाम विप्राणामिमि' । न च विकल्पः शक्यः प्रतिपत्तुं—'सोमपेभ्यो दद्यात्पितृपितामहेभ्यो वेति' । यत उत्पत्तौ 'पुत्रेण कर्तव्यमिति' श्रूयते । सम्बन्धिशब्दश्च पुत्रशब्दः । तथा 'पिता यस्य तु वृत्तः स्यादिति' । तस्माद्वक्तव्योऽस्य प्रकरणस्यार्थः" ।

उच्यते । स्तुतिरियं पूर्वविधिशेषभूता । नात्र तेषां सम्प्रदानता श्रुता ।

"ननु चोपचर्या इति विधिरस्ति" ।

नायं चरतिः सामान्यक्रियारूपो विधिविषयो भवितुमर्हति । उपचारो नाम कश्चिद्दानयागादिवद्वेदे न प्रतीयते । प्रायेण ह्ययं करोतिवत् सन्निहितक्रियापरतया प्रयुज्यते । सन्निहितं च श्राद्धम् । तच्च विशिष्टसम्प्रदानकं विहितं न शक्यं पुनर्विधातुं, विधेयत्वेन च न सन्निधिरस्ति असन्निहितस्य चरतिर्बाधकः । योऽपि लोके 'गुरव उपचर्या' इतिप्रतियोगस्तत्रापि शुश्रूषालक्षणार्थः पादधावनादिः प्रतीयते । सोऽपि यथोदितानां पितॄणां न सम्भवति । प्रकृत्यैकवाक्यतया चार्थवत्तोपपत्तेर्नार्थान्तरकल्पनाऽपि सम्भवति । यदि च सोमपादयो यथावर्णं श्राद्धे वेदतात्वेनाभिप्रेताः स्युस्ततोऽभिजनवर्णनमुपयोगि । स्तावकत्वे तु सर्वमुपपद्यते ।

यः कश्चित्पितृद्वेषात्पित्र्ये कर्मण्युपहतबुद्धिरनादरवान्त्यात्तस्य प्रवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते । मैवं मंस्थाः 'मृतमनुष्यरूपाः पितरः, ये न तर्पिताः, श्राद्धे कं दोषं करिष्यन्ति, तर्पिता वा कं गुणमिति' । यत एते महाप्रभावाः । सर्वस्य जगतः प्रभुर्हिरण्यगर्भस्तस्य पुत्रो मनुः तस्यैते पौत्राः । अत एव ऋषीणां चेत्युच्यते । न मनोर्ये केचिदन्ये पुत्राः, किंतर्हि **ऋषयस्ते** च प्रथितप्रभावाः **मरीच्यादयः** । तेषां पुत्राः 'पितरः' । बहुविधाश्च प्रतिपत्तारो य एतादृशेभ्योऽर्थवादवाक्येभ्यः प्रवर्तन्तेतराम् ।

ये च व्याचक्षते—"सोमपादिदृष्टिः पितृषु कर्तव्येति"—ते प्रमाणाभावादुपेक्षणीयाः । न हि यथाऽऽदित्ये ब्रह्मदृष्टिरुपदिश्यते एवमिह तादृशं किञ्चन वचनमस्ति ।

येऽप्याहुः 'गृहीत्वा गोत्रनामनी पितृभ्यो दद्यादिति, तच्चैतद्गोत्रं सोमपाः इत्यादि-

वर्णभेदेन"। तदप्ययुक्तम्। नामनिर्देशोऽयं न गोत्रनिर्देशः, सोमपानामितिश्रवणात्। "गोत्रनामधेयत्वेऽपि नामशब्द उपपद्यत एवेति" चेत्। एवं तर्हि गोत्रनिर्देशे वैयधिकरण्यं स्यात्, 'पितृणां सोमपा गोत्रमिति', न तु पितरः सोमपा इति।

"अथाभेदोपचारेण गोत्रेण सन्तानव्यपदेशो दृष्ट इत्युच्यते। यथा बभ्रुर्मन्दुरिति"। अत्रोच्यते। इदमिह निरूप्यं किमेतद्गोत्रं नाम।

आदिपुरुषः संज्ञाकारी विद्यावित्तशौर्यौदार्यादिगुणयोगेन ख्याततमः, येन कुलं व्यपदिश्यते। एवं तर्हि सर्वेषामेव ब्राह्मणादीनामवान्तरगोत्रभेदाः सन्तीति। स्मरन्ति च यादृशं पुरुषं तत्सन्तानजाः पुरुषा 'वयममुष्य कुले जाता' इत्यतस्तेनैव व्यपदेशो युक्तः। न हि 'सोमपा वयमिति' कश्चिद्गोत्रत्वेन सोमपान्स्मरति, यथा भृगुगर्गगालवान्।

ब्राह्मणानां च तैरेव गोत्रव्यपदेशो युक्तः। तानि हि मुख्यानि गोत्राणि। रूढिरूपेण तत्र गोत्रशब्दः प्रवर्तते। न हि तेषां गोत्रत्वे एतल्लक्षणमस्ति 'आदिपुरुषः संज्ञाकारी गोत्रमिति'। अनादित्वादेतद्गोत्राणां, ब्राह्मणादिजातिवत्। न हि पराशरजन्मत ऊर्ध्वं पाराशरव्यपदेशः केषाञ्चिद्ब्राह्मणानाम्। एवं सति आदिमत्ता वेदस्य प्रसज्येत। अतो नित्यत्वादेतस्य गोत्रव्यपदेशस्योदकतर्पणादौ तदेव गोत्रं श्रयितव्यम्। ये तु संज्ञाकारिणस्ते न नित्याः, इदानींतनाः। न च नित्ये सम्भवत्यनित्यसोमपादानं वैदिके कर्मणि युक्तम्। अतो ब्राह्मणैर्यथागोत्रं गार्ग्याय गर्गगोत्राय वा स्वधा इदं उदकमस्त्विति एवमादिशब्देनोद्देशं कृत्वा ततो नामोच्चार्य उदकदानादि कर्तव्यम्।

क्षत्रियादीनां नैतादृशो गोत्रव्यवहारो विद्यते। न हि यथा ब्राह्मणो गोत्रं नियतं स्मरति, एवं क्षत्रियादयः। तस्मात्तेषां लौकिकमेव गोत्रम्—आदिपुरुषः संज्ञाकारी ख्याततम इति। अतस्तेन गोत्रेण श्राद्धादौ व्यपदिश्यन्ते आदिमताऽपि नामधेयेनैव। न तु तेषां क्षत्रियाणां हविर्भुगित्यादिगोत्रतया श्राद्धादौ व्यपदेशमर्हन्ति।

येऽप्याहुः—"अज्ञातपित्रादिनामका ये तेषामेतैः शब्दैः श्राद्धादि चोद्यते 'सोमपानाह्वयामि सोमपेभ्यः स्वधेति"—एतदपि न सम्यक्। उक्तं हि "नामान्यविद्वांस्ततः पितामहप्रपितामहेति"।

यदि चार्थवादतया न प्रकृतशेषत्वेनार्थवत्ता लभ्येत, तत एव कल्पा आश्रियेरन्। न त्वेकवाक्यतयाऽन्वये सम्भवति वाक्यभेदकल्पनेनार्थो न्याय्यः ॥१८४॥

हिन्दी—हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के पुत्र मनु के जो मरीचि तथा अत्रि आदि (ऋषि) पुत्र पहले (१।३४) कहे गये हैं, उन ऋषियों (सोमपा आदि) के पुत्र पितर कहे गये हैं॥१८४॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१८५॥

भाष्य—श्राद्धार्थवादा अमी श्लोकाः, अशेषेणैकवाक्यत्वात् । न हि **साध्यानां पितरः** श्राद्धसम्प्रदानं शिष्यन्ते । देवतात्वात् साध्यानाम् । देवतानां च न कर्मस्वधिकारो, नियोज्यत्वाभावात् । न हि देवता नियोक्तुं शक्यते देवतात्वहानिप्रसङ्गात् । अधिकारे सति प्रतिपत्तव्यं कर्तृत्वम् । कर्तृत्वे च कुतः सम्प्रदानभावः । न चान्यद्देवतारूपम् ।

विराजः सुताः **विराट्सुताः सोमसदो** नाम, ते **साध्यानां पितरः** ।

ईदृशमेव नित्यं कर्मावश्यं कर्तव्यम्—यत्साध्याः पूर्वदेवाः कृतकरणीया अपि पितॄनर्चयन्ति ।

अग्नौ पक्वं चरुपुरोडाशादिकं स्वदन्ते **अग्निष्वात्ताः देवानामिन्द्राग्न्यादीनां** पितरः । मरीचेर्जाता **मारीचाः** ।

लोकविश्रुताः प्रसिद्धाः ॥१८५॥

हिन्दी—विराट् के पुत्र 'सोमसद्', साध्यों के पितर हैं और मरीचि के पुत्र लोक-प्रसिद्ध अग्निष्वात्त, देवों के (पितर हैं) ॥१८५॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ।।१८६।।

भाष्य—सर्व एते दैत्यादयः शास्त्रानधिकृताः अर्थवादार्थं सङ्कीर्त्यन्ते । तेषां च स्वरूपमितिहासप्रसिद्धम् ।

सुपर्णा पक्षिविशेषाः । **किन्नरा** अश्वमुखास्तिर्यञ्चः ।

एवंविधमेतत्पित्र्यं कर्म यद्दैत्यदानवरक्षांसि यज्ञविध्वंसकराण्यपि नातिवर्तन्ते तथा तिर्यञ्चोऽप्यसंज्ञास्मृतिकाः ।

अत्रेर्जाता **बर्हिषदो नाम** ॥१८६॥

हिन्दी—अत्रि के पुत्र बर्हिषद्—दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग (सर्प, नाग), राक्षस, सुवर्ण और किन्नरों के (पितर) हैं ॥१८६॥

सोमपा नाम विप्राणां, क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम, शूद्राणां तु सुकालिनः ।।१८७।।

भाष्य—उक्तार्थः प्रागेवायं श्लोकः ।

सोमं पिबन्ति ज्योतिष्टोमादिदेवता इन्द्रादयः ।

हविर्भुजश्चरुपुरोडाशादिदेवताः ।

आज्यपा आघारावाज्यभागप्रयाजादिदेवताः । **सुकालिनः** । कालयन्ति अपवर्जयन्ति कर्मेति 'सुकालिनः' । कर्मापवर्गहोमदेवता "अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तीत्यादि" विहिताः ॥१८७॥

हिन्दी—सोमपा ब्राह्मणों के, हविर्भुज् (अग्नि) क्षत्रियों के, आज्यप वैश्यों के और सुकाली शूद्रों के (पितर) हैं ॥१८७॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ।।१८८।।

भाष्य—हविर्भुज एव **हविष्मन्तः** ।

कविर्भृगुः । 'काव्यं वदन्त्युशनसमिति' स्मरन्ति भार्गवम् ।

यथैता देवता ऋषीणां पुत्रा एवं त्वदीयाश्चापि पितरो देवतारूपा एवेति माऽवमंस्थाः ॥१८८॥

हिन्दी—सोमपा कवि (भृगु) के पुत्र हैं, हविर्भुज् (अग्नि) अङ्गिरस् के पुत्र हैं, आज्यप पुलस्त्य के पुत्र हैं और सुकाली वसिष्ठ के (पुत्र हैं) ॥१८८॥

अनग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ।।१८९।।

भाष्य—**अनग्निदग्धः** सोमः । न ह्यग्निना तस्य पाकोऽस्ति । तेन या देवता इज्यन्ते ता अप्यनग्निदग्धाः समृद्धास्तद्गुणत उच्यन्ते ।

एवमग्निदग्धानि चरुपुरोडाशादीनि हवींषि अग्निना पच्यन्ते । तैर्या देवता इज्यन्ते ता **अग्निदग्धाः** । पूर्ववदेवमभिसम्बन्धः क्रियते ।

ये अग्निदग्धा उच्यन्ते तानग्निदग्धान्निर्दिशेत् । ये अनग्निदग्धास्तान्त्सोमपानेव निर्दिशेत् ।

एवं **काव्यान्बर्हिषद इति** । कवेः पुत्राः काव्यास्ते च "सोमपास्तु कवेः पुत्राः" इत्युक्ताः ।

बर्हिषदोऽत्रिजा उक्ताः ।

नायमेवकारो यथादेशं द्रष्टव्यः । तथा ह्ययमर्थः स्यात् विप्राणामेवेति पितरो, न क्षत्रियादीनाम् । तच्च प्रागुक्तेन विरुध्येत । न चैते वर्णभेदेन पितृत्वेनोक्ताः, येन तस्मादाच्छिद्य ब्राह्मणादिसम्बन्धिता एषामुच्येत । तस्मादपकृष्य एवकारोऽग्निष्वात्तानेव सौम्यानेव निर्दिशेदित्येवं सम्बन्धनीयः ।

विप्रग्रहणमनुवादत्वात्क्षत्रियादिप्रदर्शनार्थम् ।

एवंनामानश्चैते पितरो वेदे श्रूयन्ते "अग्निष्वात्ताः पितरोयेऽग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा" इति तान्मन्त्रानुदाहृत्य विवृणोति ।

अथवैवं सम्बन्धः क्रियते । 'य एतैः शब्दैः पितर उच्यन्ते तान् विप्राणामेव

निर्दिशेत् स्वपितॄन्। न च शब्दभेदेनार्थभेदशङ्का कर्तव्या'। विप्रग्रहणमधिकार्युपलक्षणार्थं प्राधान्यात्। प्रधानेन ह्युपलक्षणं भवति 'राजा गच्छतीति' ॥१८९॥

हिन्दी—अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य—ये सब ब्राह्मणों के पितर हैं ॥१८९॥

[अग्निष्वात्ता हुतैस्तृप्ताः सोमपाः स्तुतिभिस्तथा।
पिण्डैर्बर्हिषदः प्रीताः प्रेतास्तु द्विजभोजने ॥२१॥]

[**हिन्दी**—अग्निष्वात्त हवन से, सोमपा स्तुति से, बर्हिषद् पिण्ड-दान से और प्रेत ब्राह्मण-भोजन से तृप्त होते हैं ॥२१॥]

मुख्यपितृगणों के अनन्त पुत्र-पौत्रादि भी पितर—

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥१९०॥

भाष्य—एते तु मुख्या गणाः सोमपादयः **पितॄणाम्। तेषामपि** पुत्रपौत्राः अनन्ता विंद्यन्ते। तेऽपि पितर एव। अस्माद्वाऽनियमवचनादेतद्गम्यते न सोमपादय उद्देश्याः। यंदि हि तेषामपि पुत्रपौत्राः 'पितरः'तेह्युद्देश्याः स्युः, न च तेषां किञ्चिन्नामधेयमाम्नातम्। तस्मादर्थवादतैवावसीयते।

गवाश्वप्रभृतित्वात्**पुत्रपौत्र**मित्येकवद्भावः।

अनन्तकमपरिमितम्। स्वार्थे कः ॥१९०॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं—) जो ये (३।१८४-१८९) पितरों के मुख्य गण (समूह, मैंने) कहे हैं, उनके अनन्त पुत्र-पौत्रों को इस संसार में पितर समझना चाहिए ॥१९०॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥१९१॥

भाष्य—न पित्र्यं कर्म दैवात्कर्मणो न्यूनं द्रष्टव्यम्। अति तु तदेव प्रधानतमम्। यतो जन्मज्येष्ठाः पितरो देवानाम्।

तथाहि **ऋषिभ्यः** पितर उत्पन्नाः पितृभ्यो देवा इत्येष सृष्टिक्रमः। **देवेभ्योऽन्यत्सर्वं जगत् चरं** जङ्गमं **स्थाणु** स्थावरं **अनुपूर्वशः**, प्रथमेऽध्याये उक्तः क्रमः।

अतिक्रान्तोऽर्थवादसम्पातः ॥१९१॥

हिन्दी—ऋषियों (मरीचि आदि) में पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देवता तथा मनुष्य उत्पन्न हुए, देवताओं से चराचर (चर-जङ्गम—चलने वाला, अचर—स्थिर)

यह संसार क्रम से उत्पन्न हुआ ॥१९१॥

विमर्श—उक्त श्लोक में पितरों की उत्पत्ति सोमपा आदि से कही गयी है, पितृश्राद्ध में सोमपा आदि की भी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विधिवत् पूजित ये भी श्राद्ध फल को देने वाले हैं, इन सोमपा आदि का उल्लेख पितृ-श्राद्ध का प्रशंसापरक है अथवा श्राद्ध में पिता आदि का आवाहन करते समय सोमपा आदि के रूप में उन (पिता आदि) का ध्यान करना चाहिये।

पितरों के लिये चाँदी का पात्र—

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा रजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ।।१९२।।

भाष्य— राजनानि च भाजनानि रूप्यमयानि पात्राणि। तदभावे **रजतान्वितैः** दारुमयानि ताम्रमयानि सौवर्णानि वा रौप्येणैकदेशयुक्तानि कर्तव्यानि।

एतच्च पात्रं देयं घृतमध्वादिव्यञ्जनसौहित्याक्षिप्तं पात्रं, तत्रेयं रूप्यमयता विधीयते पात्रे। यच्च पिण्डनिर्वपणादि तद्धस्ताभ्यामेव कर्तव्यम्। यदप्युदकनिनयनं पिण्डेष्ववनेजनादि च तदपि हस्ताभ्यामेव। 'अपसव्येन हस्तेनेति' वचनात्। यत्तूद-कतर्पणमान्वाहिकं तदपि हस्तेनापसव्येन सव्येन वा कर्तव्यम्।

"इदं हि श्राद्धप्रकरणे पठितम्"।

तन्न। अप्राकरणिकस्य कर्मणोऽङ्गमप्यनारभ्याधीतम्।

"तत्रैव वचनमस्ति"।

भवतु, अनुवादः स्यात्।

वार्यपि। अपिशब्दः पात्रप्रशंसां सूचयति। तिष्ठतु तावत्संस्कृतभोजनदानं वारिमात्रमपि यदि रूप्यपात्रेण दीयते तद्रूप्यगुणसम्बन्धादक्षयं भवति। **अक्षयायोप-कल्पते**। अक्षयायास्तृप्तेर्हेतुर्भवतीथ्यर्थः।

श्रद्धयेति सर्वदानेषु विहितत्वादनुवादः ॥१९२॥

हिन्दी—पितरों के लिये चाँदी के या चाँदी से मिश्रित (ताँबा आदि के बने हुये बर्तनों से श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी अक्षय सुख के लिये होता है। (फिर श्रेष्ठ पायस—दूध की खीर आदि) भोज्य पदार्थ के दान करने पर कहना ही क्या है? अर्थात् वह तो अत्यन्त अक्षय सुख के लिये होगा) ॥१९२॥

श्राद्ध की प्रधानता—

दैवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ।।१९३।।

देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तद्दैवं कार्यम्। ततः **पितृकार्यं विशिष्यते**, विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते।

अनेन पित्र्यस्य प्राधान्यमाह। दैवं तत्राङ्गं कर्मेत्युक्तं भवति।

अङ्गकर्मतामेव स्पष्टयति। दैवं हि यद्ब्राह्मणभोजनं **तत्पितृकार्यस्याप्यायनं** वृद्धिकरम्। न स्वतःप्रधानं, पित्र्यस्यैव पोषकम् ॥१९३॥

हिन्दी—देवताओं के उद्देश्य से किये जानेवाले कार्य (यज्ञ आदि) से पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला कार्य (श्राद्ध आदि) द्विजों के लिये विशेष (प्रधान) कर्त्तव्य कहा जाता है; क्योंकि देवकार्य पितृकार्य से पहले होने से पितृकार्य का पूरक (पूर्ति करने वाला) माना गया है (उससे यह सिद्ध होता है कि देवकार्य अङ्ग अर्थात् अप्रधान तथा पितृकार्य अङ्गी अर्थात् प्रधान है) ॥१९३॥

पितृकार्य के आद्यन्त में देवकार्य—

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्।
रक्षांसि विप्रलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥१९४॥

भाष्य—रक्षैव आरक्षः, तम्प्राप्तं, **आरक्षभूतं** आरक्षार्थमित्युक्तं भवति। उपमायां वा भूतशब्दः—रक्षार्थमिव। यदा तु रक्षार्थं अतः **पूर्वं दैवं** ब्राह्मणं **नियोजयेत्** निमन्त्रयेत् आसने चोपवेशयेत्।

अपारोऽर्थवादः।

रक्षांसि अदृश्यानि कानिचित्सत्वानि इतिहासे। क्रिया **विप्रलुम्पन्ति** आच्छिन्दन्ति पितृभ्यः श्राद्धम्।

के "पुनर्देवा उद्देश्याः"?

गृह्ये तावत् "विश्वान्देवान् हवामहे" इतिमन्त्रस्य विनियोगाद्विश्वेदेवाः प्रतीयन्ते। पुराणेऽप्युक्तं "विश्वेदेवा इति श्रुतिरिति" ॥१९४॥

हिन्दी—पितरों (के कार्य) के रक्षक विश्वेदेव ब्राह्मणों को पहले निमन्त्रित करना चाहिये (पितृ-श्राद्ध के पहले देवश्राद्ध करना चाहिए), क्योंकि रक्षा (देवश्राद्ध) से वर्जित (पितृ) श्राद्ध को राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥१९४॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्।
पित्र्याद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥१९५॥

भाष्य—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ। दैवं आद्यन्तावस्येति **दैवाद्यन्तम्**। दैवेन कर्मणा आदिरुपक्रमः श्राद्धस्य कर्तव्यः। अतश्च निमन्त्रणं दैवानां पूर्वं कर्तव्यम्।

अन्तः समाप्तिः । विसर्जितेषु पित्र्येषु ब्राह्मणेषु पश्चाद्दैवानां विसर्जनं कर्तव्यम् ।

गन्धादिदानेऽपि दैवोपक्रमतां मन्यन्ते ।

न तु तेषां पदार्थानां दैवेनोपक्रमसमाप्ती सम्भवतः, आवृत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगधर्मश्चायं दैवाद्यन्तता, न प्रतिपदार्थधर्मः । पदार्थानां तु गन्धमाल्यादीनां दैवोपक्रमता विशेषेण कर्तव्यमुद्दिश्यते । तावत्प्रवृत्तिकेनैव क्रमेण सिद्ध्यति । निमन्त्रणं तावद्दैवपूर्वं कर्तव्यम् । अत एव प्रथमः पदार्थ आरब्धस्तत एवान्येषामारम्भो युक्तः । पदार्थः पदार्थान्तरारम्भं नियच्छति यतः । तदुक्तं 'प्रकृत्याकृतकालानां गुणानां तदुपक्रमादिति' ।

तच्छ्राद्धकर्म **ईहेत** कुर्यात् ।

परिशिष्टोऽर्थवादः ।

पित्र्याद्यन्तं न तद्भवेत् । दैवाद्यन्तत्वस्य विहितत्वात् पित्र्याद्यन्तप्रतिषेधोऽर्थवादतया लौकिकवाक्यवन्नेयः । लोके हि किञ्चिद्विधाय तद्विपरीतमप्राप्तमपि निषेधति । क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यमिति ।

क्षिप्रं नश्यति सान्वयः । सन्तानाफलप्रदर्शनरूपोऽयं निन्दार्थवादः ।

अतश्च सर्वं परिवेषणादि दैवपूर्वकं कर्तव्यम् । यत्त्वन्तरा भक्ताद्युपनयनं पिपासतां च पानादिदानं तद्यस्यैवेच्छा प्रथममुपजाता तस्मा एवोपनेतव्यम् । अनर्थिनस्तदनुरोधेनोपनीयमाने प्रधानविधिबाधः स्यात् "हर्षयेत् ब्राह्मणाानिति" । तथा कश्चिन्मधुररसप्रियोऽपरोऽम्लरससात्म्यस्तत्र—'भक्ष्यं भोज्यं च विविधं पानानि सुरभीणि चेति'—बहुषु पानकेषु सत्सु यद्यन्यानुरोधेन न अन्यत्र रससात्म्यमापादयेत्ततो व्याधिरस्य जनितः स्यात् ।

तस्मादुपक्रमसमापने एव भोजने दैवादिना ॥१९५॥

हिन्दी—पितृकार्य के आदि तथा अन्त में देवकार्य (आदि में देवावाहन, हवन आदि तथा अन्त में देवविसर्जन) करना चाहिए, पितृकार्य को आदि और अन्त में करने वाला सन्तान के सहित नष्ट हो जाता है ॥१९५॥

श्राद्ध के योग्य स्थान—

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ।।१९६।।

भाष्य—शुचिर्भस्मास्थिकपालकाद्यनुपहतः । **विविक्तो** विस्तीर्णो बहुभिर्जनैरनाकीर्णः । **दक्षिणाप्रवणो** दक्षिणस्यां दिश्यवनतः । तादृशं देशं यत्नेन सम्पादयेत् । स्वभावतश्चेत्तादृशो न लभ्यते तथा कर्तव्यं यथा स्वव्यापारेण सम्पाद्यते ।

तं च गोशकृतोपलेपयेत् । मृदादयो निवर्तन्ते, गोमयेनोपलेपनियमात् ॥१९६॥

हिन्दी—पवित्र (हड्डी, मल, मूत्र तथा राख आदि से वर्जित) एकान्त (बहुतों के सञ्चार से रहित) स्थान को गोबर लिपवावे तथा उस स्थान को दक्षिण दिशा की ओर ढालू रखे ॥१९६॥

एकान्त वन या नदीतट आदि की श्रेष्ठता—

अवकाशेषु चोक्षेषु जलतीरेषु चैव हि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ।।१९७।।

भाष्य—अवकाशो देशः । **चोक्षाः** स्वभावशुचयो मनःप्रसादजनका अरण्यादयः । **जलतीराणि** सरित्समीपपुलिनादीनि । **विविक्तेषु** विजनेषु तीर्थेषु च ।

विध्यन्तरमिदम् । अतश्च गोमयोपलेपननियमो नास्ति । उपपादयेदिति वचनात् । यत्र सम्पाद्यं शुचित्वं तत्रासौ नियमः । स्वभावतः शुचिषु 'दृष्टमद्भिर्निर्णिक्त'मित्येतावतैव योग्यता ।

एतेषु देशषु **दत्तेन** कृतेन श्राद्धेनात्यन्ततुष्टाः **पितरो** भवन्तीति ॥१९७॥

हिन्दी—स्वभाव से ही पवित्र वन आदि की भूमि, नदी का किनारा और एकान्त स्थान में किये गये श्राद्ध आदि से पितर सर्वदा सन्तुष्ट होते हैं ॥१९७॥

निमन्त्रित ब्राह्मणों को आसन देना—

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक् ।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ।।१९८।।

भाष्य—उपक्लृप्तेषु कल्पितेषु विन्यस्तेषु **पृथक् पृथक्** विभागेन । नैकमासनं दीर्घधौतफलकादि सर्वेभ्यो दद्यात् । परस्परं यथा न स्पृशन्ति तथोपवेशनीया इति पृथग्ग्रहणम् ।

बर्हिष्मत्सु दर्भविष्टरास्तीर्णेषु ।

उपस्पृष्टोदकान् स्नातान् कृताचमरविधींश्च ।

तान् पूर्वनिमन्त्रितान**ुपवेशयेत्** ॥१९८॥

हिन्दी—उस पवित्र श्राद्धस्थान पर पूर्वदिशा में पृथक्-पृथक् रखे हुए कुश के आसनों पर स्नान तथा आचमन किये हुए निमन्त्रित ब्राह्मणों को बैठावें ॥१९८॥

विमर्श—देवकार्य-सम्बद्ध निमन्त्रित ब्राह्मणों[1] को पूर्वाग्र (जिनका अग्रभाग पूर्व

---

१. ये चात्र विश्वेदेवानां विप्राः पूर्वनिमन्त्रिताः । प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहितानि च ॥
दक्षिणामुखयुक्तानि पितॄणामासनानि च । दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः ॥
इति (म०मु०) ।

की ओर हो ऐसे) दो-दो कुशाओं का आसन दे तथा पितृ-कार्य से सम्बद्ध ब्राह्मणों को दक्षिणाग्र (जिनका अग्रभाग दक्षिण दिशा की ओर हो ऐसे) एक-एक कुशाओं का आसन दे और इन आसनों की कुशाओं को तिलोदक से छिड़ककर शुद्ध कर ले।

आसन स्थित उन ब्राह्मणों की गन्धादि से पूजा—

उपवेश्य तु तान्विप्रानासष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्दैवपूर्वकम् ।।१९९।।

भाष्य—उपवेशनानन्तरं **गन्धमाल्यैरर्चयेत्**। **गन्धान्** कुङ्कुमकर्पूरादीन् दद्यात्। **माल्यानि** कुसुमस्रजः।

सुरभिग्रहणं माल्यविशेषणम्। निर्गन्धानि पुष्पाणि न दद्यात्। गन्धेष्वपि युक्तं विशेषणम्, सन्ति गन्धा असुरभयस्तन्निवृत्त्यर्थम्। अथवा सुरभिभिर्धूपैः। स्वतन्त्रं सुरभिग्रहणम्।

दैवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः पूर्वं दत्वा ततः पित्र्येभ्यो दातव्यम्।

इदं तु दैवपूर्वग्रहणं प्राग्भोजनप्रवृत्तेः पदार्थानां तदादिनियमार्थम्। प्रवृत्तभोजनानां तु पानव्यञ्जनादिषु न नियम इत्येवमर्थमाहुः। अन्यथा कोऽर्थः पुनरभिधाने स्यात्।

अजुगुप्सितान् अनिन्दितान् विप्रान्। अनुवादोऽयम्। तादृशानामेव विधानम्। अथवा सत्यपि भूतप्रत्ययनिर्देशे प्रकृत्यर्थकर्तव्यतानिषेध एवायम्। उपरिष्टात्र जुगुप्सेत न निन्देतेत्युक्तं भवति। प्रत्ययार्थमात्रत्यागो वरं न सर्वपदार्थत्याग इति मन्यन्ते। अनुवादे हि कृत्स्नमेव पदमनर्थकम् ॥१९९॥

हिन्दी—आसन पर बैठे हुए उन अनिन्दित ब्राह्मणों की सुगन्धित कुङ्कुमादि तथा पुष्पमालाओं से देवपूर्वक (पहले देवकार्य से सम्बद्ध ब्राह्मणों की पूजा बाद में पितृकार्य से सम्बद्ध ब्राह्मणों की) पूजा करे ॥१९९॥

उनकी आज्ञा से हवनकर्म—

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ।।२००।।

भाष्य—अनुलिप्तेषु स्रग्विषु सुरभिधूपाञ्जिघ्रत्सु अर्घोदकमुपनेतव्यम्। तेनैवं **सपवित्रांस्तिलानपि**। पवित्रशब्दो दर्भेषु वर्तते। **तेषां** ब्राह्मणाना**मुदकमानीय** दत्वा तैर**नुज्ञातो**ऽग्नौ होमं कुर्यात्। ब्राह्मणैरनुज्ञातः कुर्यादितिसम्बन्धः। सह सर्वे युगपद-नुज्ञां दद्युः।

अनुज्ञापनवाक्यमपि सामर्थ्यप्राप्तम्। न हि तेऽप्रार्थिता अनुजानीरन्। ततश्च

'अग्नौ करवाणि' 'करिष्ये' इत्येवमादीनि प्रश्नवाक्यानि लभ्यन्ते। अनुज्ञावाक्यमपि सामर्थ्यात्प्राप्तम्। सर्वं चैतत्साधुभिः शब्दैः कर्तव्यम्। प्रदर्शितं चैतत् गृह्यकारैः "अग्नौ करवाणि करिष्य इति चानुज्ञापयेदोङ्कुर्वित्येवं ब्रूयुः" ॥२००॥

हिन्दी—उन ब्राह्मणों के अर्घ्य में तिल तथा जल मिलावे तथा उनसे आज्ञा लेकर उनके साथ आगे कही हुई विधि से हवन करे।

विमर्श—आज्ञा की असमर्थता होने पर 'अपने गृह्योक्त विधि से हवन करूँ या करूँगा' ऐसी प्रार्थना करे तथा वे ब्राह्मण अच्छा, करो (ॐ या कुरुष्व) ऐसी आज्ञा को दे ॥२००॥

अग्नि, सोम आदि के हवन के बाद पितरों का हवन—

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाऽऽप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्सन्तर्पयेत्पितॄन् ॥२०१॥

भाष्य—यदग्नौकर्तव्यं तदुच्यते।

अग्नेः चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। अग्निरेका देवता। **सोमयमाभ्यामिति** द्वन्द्वस्य देवतात्वं अग्नीषोमवत्।

अनयोर्देवतयो**रादित आप्यायनं हविर्दानेन कृत्वा पश्चात्सन्तर्पयेत्पितॄन्**। पिण्डनिर्वपणं ब्राह्मणभोजनं च कुर्यादित्यर्थः। गृह्येत्वन्या देवताः समाम्नाताः। येषां गृह्यं नास्ति तेषामिदं देवतावचनम्।

आप्यायनं पोषणम्। 'हविषा देवताः पुष्यन्ती'त्यर्थवादः ॥२०१॥

हिन्दी—पहले अग्नि, सोम और यम को विधिपूर्वक (पर्युक्षणादि के साथ) हविष्य के हवन से तृप्तकर बाद में पितरों को अन्नादि (पायसादि) द्रव्यों से तृप्त करे॥२०१॥

अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथ पर आहुतिदान—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥२०२॥

भाष्य—स्मार्तस्य वैवाहिकस्य दायादेर्वा अग्नेरभावे विधिरयमुच्यते। लौकिकस्य तु पितृयज्ञनिषेधात् भावाभावावचिन्त्यौ। 'न पैतृयज्ञिको होमो लौकिकेऽग्नाविति' वक्ष्यति।

"कथं पुनस्तस्याग्नेरभावः"।

प्रोषितस्याग्निना विना द्रव्यब्राह्मणदेशसम्पत्तौ च श्राद्धकाल उक्तः, नामावास्यैव।

तत्र प्रोषितेन यदि पङ्क्तिपावनः प्राप्तो द्रव्यं वा कालशाकादि तत्रायं विधिरुच्यते।

"ननु च प्रोषितस्य कथं श्राद्धाधिकारः। यदि तावद्भार्या प्रवसति अग्निनाऽपि तत्रैव सन्निधातव्यम्। यतोनोभाभ्यामग्नेर्विरह इष्यते, भार्यया यजमानेन च। एवं हि श्रूयते 'नाग्निरन्तरितव्यः प्रवसताम्' इति। अथ केवल एव गृहस्थः प्रवसेत्तदा भवेदग्न्यभावः। किन्तु मध्यकत्वादेतस्य सहाधिकाराच्च, भार्यायामसन्निहितायां, तदिच्छाया अभावात् कथं साधारणस्य श्राद्धे विनियोगः। साधारणे हि द्रव्ये अन्यतरानिच्छायां त्याग एव न संवर्तते। अथोच्यते—'तीर्थेष्वपि श्राद्धकरणमनेन न्यायेन न प्राप्नोति। तत्रेमानि वचनानि विरुध्यन्ते "पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं तपश्चैव महाफलम्। महादधौ प्रभासे च तद्वदेव विनिर्दिशेत्'। इति। नैष दोषः। भार्यया सह तीर्थयात्रां गच्छतः साग्निकस्योपपत्स्यते। इह तु यदि भार्यया सह प्रवासः, तदा नास्त्यग्नेरभावः। अथ केवलस्य, तदा भार्येच्छाया अपरिज्ञानादनधिकारः"।

उच्यते। प्रवसन् भार्यामनुज्ञापयति "धर्माय विनियोगं द्रव्यस्य करिष्यामि" इति। तत्प्राप्तानुज्ञोऽधिकरिष्यते।

प्राक् चोपनयनादसत्यग्निपरिग्रहे विधिरयं भविष्यति। अस्ति चानुपनीतस्य श्राद्धाधिकारः। "स्वधानिनयनादिति" दर्शितम्। स्नातस्य च प्राग्विवाहात् पितृमरणा-दावग्न्यभावः।

"ननु च परमेष्ठिमरणेऽग्निपरिग्रहः काठके पठ्यते"।

कृतदारस्यासौ द्रष्टव्यो न स्नातकमात्रस्य। द्वौ हि कालौ स्मार्तकस्याग्नेर्विहितौ—भार्यादिर्दायादिर्वा (गौतम ५।७)। तत्र येन विवाहकाले न परिगृहीतोऽग्निः, पित्राऽ-विभक्तत्वात्, ज्येष्ठेन वा सह वसता "भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तत" इति अनेन, तस्यासौ द्वितीयः कालः "दायकालादृते वा" इति। एष एव दायकालो यदा पिता म्रियते। तदपेक्षमेवैतत्। "शुचिर्भूतः पितृभ्यो दद्यात्"। "भ्राष्ट्र्यो हाग्निमानीय प्रतिजागृयात्", इति। न चेदमाग्न्याधानं श्राद्धाङ्गम्। तथा सति न तदर्वागस्योत्पत्तिः श्राद्धं वा वर्तते। न चाप्यत्यागोऽस्ति। "एष औपसदोऽग्निस्तस्मिन् पाकयज्ञः" इति पठ्यते। न च पाकयज्ञेऽप्यभार्यस्त्याधिकारः। "पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति"। "व्रतं च पत्न्युपेयादिति" दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते। न च 'यदा पत्नी, तदैतत् व्रतोपायनाज्यावेक्षणे पत्नीकर्तृके भविष्यत' इति शक्यमवकल्पयितुं, नित्यव-दाम्नानात्। तत्रौपसदोऽग्निरित्येष विधिर्हातव्यः प्राप्नोति।

"ननु च न पितृमरणमेव दायकालः। एवं हि पठ्यते—'सपिण्डीकरणं कृत्वा विभजेरन् ततः सुताः' इति"।

विभागस्यायं कालो, न दायस्य। विभागेऽपि नायं नियम:, यतो 'धर्म्या पृथक् क्रियेति' पठ्यते। तस्याश्च धर्मत्वं विभक्तानां पृथक् पृथक् श्राद्धकरणेनातिथ्यादिपूजया च।

न च "नव श्राद्धं सह दद्यु:" इत्यादीनि वाक्यानि समाप्तविद्याविषयाणि। ईषद्विद्यो रागोद्रेकात्स्वदारनियमं मातिक्रमिषमिति कृतविवाह: प्रक्रान्तवेदार्थप्रवणस्तस्य संवत्सरमात्रेण विद्यासमाप्ताविदमुच्यते "सपिण्डीकरणं कृत्वा विभजेरन्निति"। तथा मृतभार्यस्य पुनर्दारांश्चिकीर्षत आदारप्राप्तेर्भवत्यग्नेरभाव:। सर्वथा पत्न्या सह यष्टव्यमित्यस्तित्ववचने सति नाकृतविवाहस्याग्निपरिग्रह:।

एवं स्थितेऽग्नेरभावे आहुती ब्राह्मणस्य हस्ते प्रक्षिपेत्।

"कस्य ब्राह्मणस्य"।

य एव निमन्त्रितास्तेषामन्यतमस्य दैव उपवेशितस्यान्यस्य वा निमन्त्रितस्य।

अर्थवादो **यो ह्यग्निरिति**।

मन्त्रदर्शिभि: सम्मतश्चेदमर्थविद्भि: ॥२०२॥

हिन्दी—अग्नि के अभाव में उन ब्राह्मणों के हाथ पर ही (श्राद्धकर्त्ता) तीन आहुति दे; क्योंकि 'जो अग्नि है वही ब्राह्मण है' ऐसा मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने कहा है॥२०२॥

विमर्श—यज्ञोपवीत संस्कार के नहीं होने तक, यज्ञोपवीत संस्कार होने पर समावर्तन संस्कार के बाद विवाह संस्कार नहीं होने तक और विवाह संस्कार होने पर स्त्री के मर जाने पर—इन तीनों अवस्थाओं में 'अग्नि का अभाव' हुआ है॥

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातना:।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धे देवान् द्विजोत्तमान्॥२०३॥

भाष्य—अयमर्थवाद एव। ब्राह्मणानां देवतारूपत्वं सम्पादयति।

अग्निर्देवता। तत्र हुतं तन्मुखेन देवता अश्नन्ति। ब्राह्मणोऽप्येवंरूप:। तद्धस्तेऽपि क्षिप्तं देवता अश्नन्त्येव।

"किंपुनर्देवतानां रूपं येन ब्राह्मणोऽपि देवतारूप उच्यते"।

अत आह **अक्रोधनानिति**। कथमेवं ब्रुवते? तदर्थं दर्शयति। य एवं स्वभावा ब्राह्मणास्तेषां हस्ते आज्याहुती प्रक्षेप्तव्ये।

अन्ये त्वाहु:। पूर्वत्राक्रोधना इत्यादिना पितृनुद्दिश्य निमन्त्रितानां स्तुत्यानामक्रोधनादिधर्मो विहित:। अनेन देवनिमन्त्रितानामिति विशेष:।

तथा चाह। **श्राद्धे देवानिति**।

पुरातना मुनय एवं वदन्ति । द्वितीयान्तो वा पठितव्यः । **पुरातनानेतान्देवान्**साध्यदेवानस्मिन्कल्पे समुत्पन्नान् ।

लोकस्याप्यायने युक्तान् । एवं श्राद्धं भुञ्जते । तत्र नैवं मन्तव्यम्—'दृष्टसुखार्थिनो लोभात्स्वार्थे प्रवर्तन्तेऽतश्च किमित्येषां पूजा क्रियते'। यत आप्याययन्ति लोकं पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं चातो नैषामवज्ञा कर्तव्या ॥२०३॥

हिन्दी—(मनु आदि महर्षि गण) सर्वदा क्रोधहीन, प्रसन्नमुख, (अनादि काल से चले आने के कारण) पुरातन और (३।७६ के अनुसार) संसार की उन्नति के लिए संलग्न ब्राह्मणों को श्राद्ध का देव (श्राद्ध के योग्य उत्तम सत्पात्ररूप) कहते हैं ॥२०३॥

अपसव्य होकर हवनादि—

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्परिक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ।।२०४।।

भाष्य—अग्नौ यत्कर्तव्यं 'अग्नये स्वधा नम' इति आहुतिप्रक्षेपलक्षणं कार्यं **तदपसव्यम्** । दक्षिणेन हस्तेन कर्तव्यं, न सव्येन, नोभाभ्यां, "उभयोर्हस्तयोर्मुक्तम्" इतिनिषेधात् ।

हस्तद्वयसंयोगेन कर्तव्यताशङ्कायामपसव्येनेत्युक्तमिति केचित् ।

इदं त्वयुक्तम् । या अग्नावाहुतयो हूयन्ते तासां च या **आवृत्परि**क्रमस्तस्यापसव्यता विधीयते । दक्षिणासंस्था आहुतीः कुर्यात् नोदक्संस्थाः, यथा दैवे । दर्व्या वा हविर्भिस्तु कारयितव्यं नोदीच्यां किंतर्हि दक्षिणाभिमुखं यथोदकं पित्र्येण तीर्थेन कार्यते ।

सर्वग्रहणादन्यदपि परिवेषणाद्यपसव्यमेव कर्तव्यम् ।

अपसव्येन हस्ते**नोदकं निर्वपेत्** । 'शनैरिति' वा पाठः ।

अत्रार्थः—अन्यथा "राजतैर्भाजनैः" इत्यनेन राजतभाजनप्राप्तये सव्यहस्तविधिः । आवृत्ति**रावृत्** ॥२०४॥

हिन्दी—अग्नि में पर्युक्षणादि (हवन करने का क्रम) अपसव्य (प्राचीनावीती ३।६३) होकर करने के बाद दाहिने हाथ से (पिण्ड के आधारभूत) पृथ्वी पर जल छिड़के ॥२०४॥

पिण्डदान की विधि—

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ।।२०५।।

भाष्य—यत्तद्धोमार्थं पात्रे गृहीतमन्नं तस्माद्धुतशिष्टात् **त्रीन् पिण्डान् कृत्वा**

दक्षिणस्यां दिशि मुखं कृत्वा **निर्वपेत्**। दभेषु पितॄनुद्दिश्य प्रक्षिपेत्।

संहतं द्रव्यं पिण्डशब्देनोच्यते। तेन विशदमन्नं न दातव्यम्।

औदकेन। औदको विधिर्यः समनन्तरमेवोक्तः 'अपसव्येनेत्यादि' (२०४ श्लोके)।

अत्रेदं संदिह्यते। किं यत्तदन्नं ब्राह्मणभोजनार्थं साधितं ततोऽप्युद्धृत्य हविःसंस्कारः कर्तव्य उत पृथक् चरुः साधनीय इति। किंपरिमाणं च तद्धविरिति। न ह्यत्र 'चतुरो मुष्टीनि'त्यादिपरिमाणसम्भवः।

विचारितमेतत्। विशेषाश्रवणात् कामचारः। परिमाणं यावता अर्थसिद्धिर्भवति। औदकविध्यतिदेशाच्च स्वहस्तेनापसव्येन पिण्डनिर्वपणं, न राजतैः पात्रैः। **समाहित**ग्रहणं वृत्तपूरणार्थम् ॥२०५॥

हिन्दी—हवन से बचे हुए अन्न से तीन पिण्ड बनाकर एकाग्रचित्त हो दक्षिण दिशा की ओर मुख करके कुशाओं पर उन पिण्डों को रखे ॥२०५॥

कुशा की जड़ में हाथ पोछना—

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निर्मृज्याल्लेपभागिनाम्॥२०६॥

भाष्य—न्युप्य दत्वा दर्भेषु **तान् पिण्डान् तं हस्तं निर्मृज्याद्दर्भेषु** तेषु येष्वेव पिण्डनिर्वपणं कृतम्।

स्मृत्यन्तरदर्शनात् दर्भमूलेषु मार्जनम्।

अपरे च—न हस्तसंलग्नस्यान्नस्योदकस्यैव दर्भेषु संश्लेषणम्। यदि न किञ्चिदपि हस्ते संश्लिष्येत्तथापि हस्तं दर्भेषु निर्मृज्यादेव। न ह्येतत्प्रतिपत्तिकर्मैव। येनासति वचनप्रयोजने न क्रियेत। नेह श्रूयेत हस्तलग्नं निर्मृज्यात्', किंतर्हि 'हस्तमेव'।

"ननु च **लेपभागिनामिति** श्रूयते। तत्रासति लेपे न प्राप्नोति। अतः किमुच्यते 'यदि न किञ्चिदपि हस्ते संश्लिष्येत्तथापि कर्तव्यमिति'।"

उच्यते। साक्षात् मूर्तमन्नं कदाचिन्न श्लिष्यति। पिण्डेष्वनुवर्त्यमानेषु अन्नरस उष्मावसम्पर्कात् संक्रामति हस्ते। स एव 'लेप' उच्यते।

लेपभागिनामिति षष्ठी निर्मार्जनस्य तत्सम्बन्धितामाह। न च लेपभागिनः प्रत्यक्षदृश्याः सन्ति येषां स्वस्वाम्यादिसम्बन्धो लेपस्य क्रियेत। तस्माल्लेपभागिनामयं भागोऽस्त्विति मनसा ध्यायेत। शब्देन वोद्दिशेत्।

अन्ये तु प्रपितामहात्पूर्वे ये पितरस्तान् 'लेपभागिन' आहुः। अस्मिन्दर्शने 'प्रपिता-महपित्रे' 'प्रपितामहपितामहाये'त्यादिभिः शब्दैरुद्देशः कर्तव्योऽसति तन्नामनिवेदने।

हस्तमित्येकवचननिर्देशादेकेनापसव्येन हस्तेन पिण्डनिर्वपणं दर्शयति।

प्रयत इत्यनुवादो, विहितत्वात्।

विधिपूर्वकमितिशास्त्रान्तरदृष्टं विधिं परिगृह्णाति। 'गन्धमाल्यधूपाच्छादन-सिद्धोपहारैः पिण्डं निर्वपेदिति' शङ्खः। यस्त्विह विधिः श्रुतः स स्वमतेनैवोक्त इति विधिपूर्वकमित्येतदनर्थकम्। तस्माच्छास्त्रान्तरविध्युपसंहारार्थं **विधिपूर्वकमिति** वचनम् ॥२०६॥

हिन्दी—विधिपूर्वक (अपने गृह्योक्त विधि से) उन पिण्डों को कुशाओं पर रखकर (जिन पर पिण्ड रखे हुए हैं) उन कुशाओं की जड़ में लेपभागी (वृद्धप्रपितामहादि ३) पितरों की तृप्ति के लिए हाथ को रगड़ना[1] (काछना पोछना) चाहिये ॥२०६॥

ऋतु का नमस्कार आदि—

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितृनेव च मन्त्रवत्॥२०७॥

दर्भेषु पिण्डान् दत्वोदीचीं दिशं परावर्तेत। सव्येन मार्गेण। स्मृत्यन्तरे हि 'सव्यावृदुदक्परावृत्येति' पठ्यते।

उत्तराभिमुखः स्थित्वा आचामेत्। **आचम्य** त्रीन् प्राणायामान् कुर्यात्। **असून्**प्राणानायम्य सन्निरुध्य इत्येव, अत्र च "गायत्रीं शिरसा" इत्यादिविधिर्नास्ति।

शनैर्यथा नातिपीडा भवति। तथा चाह। यथाशक्यं प्राणानासित्वा।

तदभिमुख एव सकृन्नमस्कुर्यात्। वसन्ताय नम इत्यादि।

पितृंश्च नमस्कुर्यात्। **मन्त्रवत्**। 'नमो वः पितर' इत्यादिना मन्त्रेण। पितॄणां नमस्कारः पिण्डाभिमुखेन कर्तव्यः। 'अभिपर्यायवृत्येति' हि स्मृत्यन्तरम् ॥२०७॥

हिन्दी—फिर उत्तर की ओर मुखकर शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे प्राणायाम करके मन्त्र-पूर्वक ('वसन्ताय नमस्तुभ्यं')—मन्त्र से आदि ऋतुओं को और ('नमो वः पितरः'—मन्त्र से) पितरों को नमस्कार करे ॥२०७॥

प्रत्यवनेजन आदि—

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः॥२०८॥

भाष्य—यत एव पात्रादुदकेन प्राक्पिण्डदानाद्दर्भेषूदकनिनयनं कृतं तत एव

---

१. 'दर्भमूलेषु करावघर्षणम्' इति विष्णुवचनात्' इति। (म०मु०)

पुनर्निनयनं **पिण्डान्तिके** पिण्डसमीपे कर्तव्यमिति। **शेष**ग्रहणं प्रतिपत्त्यर्थं तस्योदकस्य। तथाहि शेषशब्द उपपन्नो भवति। अतश्च कथञ्चित्तस्याभावे नास्ति पुनर्निनयनम्। गृह्ये तु 'नित्यं निनयनमि'त्युक्तम्।

अवजिघ्रेच्च तान् पिण्डान्। अवघ्राणं गन्धोपलब्धि:। गृह्ये तु "चरो: प्राणभक्षं भक्षयेत्" इत्युक्तम्।

यथान्युप्तान् येन क्रमेण निरुप्तान् पित्रे पितामहाय प्रपितामहायेति।

समाहित इति श्लोकपूरणम् ॥२०८॥

हिन्दी—फिर जलपात्र में बचे हुए जल को सावधानचित्त होकर तीनों पिण्डों के पास में क्रम से (जिस क्रम में पिण्ड रखे गये हैं उसी क्रम से) धीरे-धीरे गिरा दे और उसी क्रम से उन पिण्डों को सूँघे ॥२०८॥

पिण्ड के कुछ भाग का पितृ-ब्राह्मण को भोजन कराना—

पिण्डेभ्य: स्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वश:।
तानेव विप्रानासीनान्विधिवत् पूर्वमाशयेत्।।२०९।।

भाष्य—अत्यन्ताल्पिका **मात्रा** अवयवो भागस्तमेव। यो ब्राह्मणो यं पितरमुद्दिश्य उपवेशित:, तदीयात्पिण्डात् किञ्चिन्मात्रं स एवाशयितव्य:।

अनुपूर्वश इत्युक्तार्थम्।

इह तच्छब्दात्प्रकृतपरामर्शकादगन्यभाव इत्यत्र न प्रकृतवचनम्।

पूर्वमन्यस्माददनीयात् ॥२०९॥

हिन्दी—क्रम से उन पिण्डों में से थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर (पिण्ड में से लिए हुए भाग को पिता आदि के उद्देश्य से) बैठे हुए निमन्त्रित ब्राह्मणों को पहले खिलावे ॥२०९॥

पिता के जीते रहने पर पितामह आदि का पार्वणश्राद्ध—

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वाऽपि तं श्राद्धं स्वकं पितरमाशयेत्।।२१०।।

भाष्य—उक्तं "पितृभ्य: पिण्डान्निर्वपेत्" इति। क एते पितरो नाम। अनेकार्थो हि पितृशब्दो जनयितरि वर्तते। जनक: पितेति सम्बन्धिशब्दो दृश्यते। पूर्वप्रमीता: पित्रादयोऽन्ये च सम्बन्धिन: प्रेता: पितर उच्यन्ते। तथा च "नमो व: पितर:" इत्यादिमन्त्रा बहुवचनान्ता: समर्था निगदा भवन्ति। अत एव स्त्रीश्राद्धे नोह्यन्ते। नमस्ते मातर्नमस्ते पितामही इत्यादि न क्रियते। अत एकोद्दिष्टे संख्योह: क्रियते,

न प्रातिपदिकोहः । तथा च सूत्रकारः "एकवन्मन्त्रानूहेत" इत्यादि । 'नमस्ते पितरि'-त्येवमूहः क्रियते । यो भ्रातुः पितामहादेर्वा एकोद्दिष्टं करोति स चैवमूहति—'नमस्ते भ्रातः' नमस्ते पितामह 'नमस्ते पितृव्य'इत्यादि । पितृव्यादीनामनपत्यानां श्राद्धं विहितम् । 'यो यत आददीत स तस्मै दद्यादिति' । देवताविशेषवचनोऽप्यस्ति पितृ-शब्दः कूटस्थनित्येऽर्थे वर्तते । निरुक्तकारा हि दैवते मध्यस्थान् पितृन् समामनन्ति "मरुतः रुद्राक्षभृतः पितर" इति ।

एवमनेकार्थे पितृशब्दे विशेषावधारणार्थमाह । **ध्रियमाणे** जीवति **पितरि** सति **पूर्वेषां** पितामहप्रपितामहतत्पितृणां **निवपेत्**, त्रयाणां, बहुवचननिर्देशात् । तथा च गृह्ये "येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्रो दद्यात्पितापुत्रौ चेदाहिताग्नो स्यातामिति" ।

"ननु च न चतुर्थं पिण्डो गच्छतीत्याहुः" ।

सत्यम् । नैवात्र चतुर्थः पिण्डो दीयते ।

पक्षान्तरमाह **विप्रवद्वा** । यथा ब्राह्मणा निमन्त्रणापूर्वकं ब्रह्मचारिणो नियमवन्तश्च पूज्यन्ते, तथैव जीवत्पितृकेण पिता भोजनीयः । **श्राद्धं** श्राद्धार्थमन्नं श्राद्धम् ।

अत्र च पितृत्वमेव भोज्यत्वे कारणं न जातिगुणावपेक्ष्यौ । एवं ह्याहुः—'पितृप्रीत्यर्थं श्राद्धम्, तत्र मृतस्य प्रीतौ कर्तव्यायां को जीवति पितरि परिभवो येनासौ न भोजयेत् ।'

स्वकमित्यनुवादः, सम्बन्धिशब्दत्वादेव सिद्धेः ।

भोजनमत्र पितुश्चोदितं हितं, पिण्डनिर्वपणं तु दर्भेषु पितृणां कर्तव्यमेतत्त इति विरोधात् । यदि हि पात्रस्थानीया दर्भास्तदा जीवतः पितुः स्वाम्ये दानोत्पत्तौ अल्पिकां मात्रामाशयेदिति न युज्यते । जीवतो हि स्वमिच्छाविनियोज्यम् । न च तस्मिन्पिण्डे उज्जनादिदानमुपपद्यते अर्धजरतीयप्रसङ्गात् । न ह्यत्राञ्जनादिसंस्कृतेन पितुः किञ्चित्प्रयो-जनमस्ति । तस्माददृष्टार्थमञ्जनादिदानम् । अञ्जनादिरहितं तु कदाचिदात्मनः पितुः परस्य वा भोजनयोग्यं भवतीत्येवमर्धजरतीयम् ।

तस्मादस्मिन्पक्षे पिण्डनिर्वपणं द्वयोः पितामहप्रपितामहयोः ।

गृह्यकारास्तु स्मरन्ति "जीवत्पितृकस्य न पिण्डपितृयज्ञो न श्राद्धम्", किंतर्हि "अनारम्भ एव तस्य कर्मणो, होमान्तता वा" ॥२१०॥

हिन्दी—पिता के जीवित रहने पर पितामह आदि तीन पुरुषों (पितामह, प्रपितामह बृद्धप्रपितामह) का ही श्राद्ध करे अथवा पितामहादि के उद्देश्य से निमन्त्रित किये जाने वाले ब्राह्मण के समान पितृ-विप्रस्थान में पिता को ही भोजन करावे । (इस

पक्ष में पितामह तथा प्रपितामह के उद्देश्य से ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे और दो ही पिण्डों को दे) ॥२१०॥

पिता के मरने तथा पितामह के जीवित रहने पर पार्वण श्राद्ध—

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ।।२११।।

भाष्य—पितुर्नामसङ्कीर्तनेन तदीयावाहनपिण्डदानब्राह्मणभोजनानि लक्ष्यन्ते।

कीर्तयेत्प्रपिताहम्। जीवते पितामहाय न दद्यात्। किंतर्हि ततः पूर्वाभ्यां, पितुःपितृभ्यो निपृणीयादिति' स्मरन्ति ॥२११॥

हिन्दी—जिसका पिता मर गया हो और पितामह जीवित हो, वह पिता और प्रपितामह का ही श्राद्ध करे, श्राद्ध में पिता का नाम लेकर प्रपितामह के नाम का उच्चारण करे। (गोविन्दराज का मत है कि 'जिसके पिता और प्रपितामह मर गये हों तथा पितामह जीवित हों वह पिता के लिए पिण्ड रखकर प्रपितामह और वृद्धप्रपितामह के लिए पिण्ड दे' ॥२११॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ।।२१२।।

भाष्य—यथा जीवत्पिता भोज्यते तद्वत्पितामहोऽपि।

अनुज्ञां पितामहात् प्राप्य **समाचरेत्स्वयम्**।

परतो द्वयोर्दद्यात्, प्रपितामहाय एकस्मा एव वा। एष 'कामं' 'स्वयम्' इत्य-नयोरर्थः ॥२१२॥

हिन्दी—'अथवा पितामह उस (स्वसम्बद्ध) श्राद्धान्न को भोजन करे' (तथा पिता और प्रपितामह के उद्देश्य से दो पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण भोजन करावे) ऐसा मनु ने कहा है। अथवा (पितामह से) आज्ञा ('तुम अपनी इच्छा के अनुसार श्राद्ध करो' ऐसी आज्ञा) प्राप्त कर (जिसका पिता मर गया हो तथा पितामह जीवित हो ऐसा श्राद्धकर्त्ता) अपनी रुचि के अनुसार उन श्राद्ध में पितामह को भोजन करावे और पूर्व ३।२११) श्लोक में कथित विष्णु-वचन के अनुसार पिता, प्रपितामह तथा वृद्ध-प्रपितामह के उद्देश्य से पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण भोजन करावे ॥२१२॥

ब्राह्मण भोजन विधि—

तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत्तु स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ।।२१३।।

भाष्य—यदुक्तं 'पिण्डेभ्यः स्वल्पिकां मात्रामाशयेदिति', तस्यायं कालविधिर्देश-विधिश्च अग्रदेशात्पिण्डस्य मात्रा आदातव्या। दर्भांस्तिलोदकं च दत्वा तदनन्तरं पिण्डभागं **प्रयच्छेत्**।

स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्। **एषामिति** सर्वनाम्ना विशेषनामानि गृह्यन्ते।

एवं सम्बन्धः क्रियते—'येषां यानि नामानि तान्युच्चार्य स्वधाऽस्त्विति ब्रूयात्'। अतः स्वधाशब्दयोगे चतुर्थ्या निर्देशः कर्तव्यः, 'स्वधा देवदत्तायास्तु' 'स्वधा यज्ञ-दत्तायास्त्विति'। एवं व्याख्याने शास्त्रान्तरविरोधो न भवति ॥२१३॥

हिन्दी—पिता आदि पितरों के रूप में निमन्त्रित होकर बैठाये गये (३।१९८) ब्राह्मणों के हाथ में पवित्री के सहित तिल और जल देकर पिण्डाग्र 'यह पिता के लिये स्वधा हो' ('इदं पित्रे स्वधाऽस्तु' ऐसा कहता हुआ पिण्ड का अग्र भाग (३।२०९) को देवे। (इसी प्रकार पितामह आदि के लिए भी तत्सम्बद्ध ब्राह्मण के हाथ में पवित्री, तिल और कुश देकर 'इदं पितामहाय स्वधाऽस्तु' वचन कहता हुआ श्राद्धकर्त्ता उक्त पिण्डाग्र को देवे ॥२१३॥

अन्न परोसने की विधि—

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ।।२१४।।

भाष्य—उभाभ्यां हस्ताभ्यां स्वयं गृहीत्वा **अन्नस्य वर्धितं** अन्नेन पूर्णं भाजनं **विप्रान्तिके** रसवत्यगारादीनां, यत्र ब्राह्मणा भोज्यन्ते, तस्मिन्देशे **उपनिक्षिपेत्** ब्राह्मणानां समीपे स्थापयेत्।

अन्ये तु व्याचक्षते—**वर्धितं** परिवर्तुलमन्नमुच्यते। **तद्विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायन्** 'तुभ्यमिदमिति' ध्यात्वा **निक्षिपेत्**, यथा विकिरम्।

तदयुक्तम्। "उपनीय सर्वं परिवेषयेत्" इति वक्ष्यति। अतः परिवेषणार्थं प्रदेशान्तरादानीय तस्योपनिक्षेपोऽयम् ॥२१४॥

हिन्दी—फिर श्राद्धकर्त्ता अन्नों (भोज्य पदार्थों) से परिपूर्ण पात्र (थाली आदि) को दोनों हाथों से पकड़कर पिता आदि पितरों का ध्यान करता हुआ धीरे से ब्राह्मणों के पास में रख दे ॥२१४॥

एक हाथ से भोजन-पात्र लाने का निषेध—

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ।।२१५।।

भाष्य—द्वाभ्यां हस्ताभ्यामन्नमुपनेतव्यं परिवेष्टव्यं, न चैकेनेति। परिवेषणमुपनयनमेव। ततस्तत्राप्ययमेव धर्मः पूर्वोक्तः। तस्यार्थवादः।

उभाभ्यां हस्ताभ्यां **मुक्तं** वर्जितमपरिगृहीतं यदन्न**मुपनीयते** परिवेषणार्थं **तद्विप्रलुम्पन्ति** विनाशयंत्य**सुराः**। **सहसा** बलेन। **दुष्टचेतसः** पापात्मानः। **असुरा** देवद्विषः।

उभयोरित्यधिकरणे सप्तमी। **मुक्त**मकृष्टमस्थितम्। भवन्ति च प्रतिषेधोपसन्निधानेऽपि कारकविभक्तयः—'ग्रामान्नागच्छत्यासनेनोपविशति त्रिरात्रं नोपवसति'॥२१५॥

हिन्दी—एक हाथ से लाया गया जो अन्न (अन्नपात्र) ब्राह्मणों के आगे परोसा जाता है, उस अन्न को दुष्ट चित्त वाले राक्षस एकाएक छीन लेते हैं (इस कारण एक हाथ से कभी भी नहीं परोसना चाहिए) ॥२१५॥

व्यञ्जन आदि को भूमि पर रखना—

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः॥२१६॥

भाष्य—**गुणा** व्यञ्जनानि। एषामेव प्रदर्शनार्थमुत्तरः प्रपञ्चः। **सूपशाकाद्यान् विन्यसेद्भूमावेवोपयच्छेत**। न दारुमये फलकादौ॥२१६॥

हिन्दी—व्यञ्जन, दाल, शाक आदि, दूध, घी तथा शहद (के पात्रों) को सावधान होकर (घबराकर नहीं, पहले भूमि पर ही पीढ़ी आदि पर नहीं) रखे॥२१६॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च॥२१७॥

भाष्य—धानाशष्कुल्यादयो 'भक्ष्याः'। खरविशदमभ्यवहरणीयं हि **भक्ष्य**मित्युच्यते। **भोज्यं** घृतपूरादिः॥२१७॥

हिन्दी—सुन्दर अनेक प्रकार के मोदक (मिठाई-लड्डू आदि) भोज्य पदार्थ, जड़ (कन्द, मूली आदि), फल (ऋतु के अनुसार प्राप्त होने वाले आम, सेव, सन्तरा आदि), मनोहर माँस, सुगन्धित पान (पीने योग्य शर्वत-पन्ना आदि)—॥२१७॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयान्॥२१८॥

भाष्य—**उपनीय** विप्रान्तिके सर्वमेतड्ढौकयित्वा। ततः **परिवेषयेत्**। भुज्यधिकरणोपादानमावर्जनम्। भुञ्जानस्य परिवेषणं यद्यप्यन्तिकदेशे अपेक्षितं तथापि तेषामन्तिके निधातव्यं यथा भुञ्जानानामुच्छेषणेन न संसृज्यते।

गुणान् भक्ष्यभोज्यादेर्द्रव्यस्य ये गुणा अम्लत्वादयस्तान्प्रणोदयमानः इदमम्लमिदं

मधुरमिदं खाण्डवमित्येवमावेदिते तेषां यद्रोचते तत्तद्द्यादिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।

शनकैरित्याद्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥२१८॥

हिन्दी—उन सब पदार्थों को ब्राह्मण के पास लाकर धीरे से संयम एवं सावधान होकर उन पदार्थों के गुणों का (यह मीठी है, यह खट्टा है, इत्यादि रूप में) वर्णन करता हुआ श्राद्धकर्त्ता यथाक्रम परोसे ॥२१८॥

रोदन आदि का निषेध—

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ।।२१९।।

भाष्य—अस्रं अश्रु रोदनं तन्न **पातयेन्न** कुर्यात् । प्रायेण प्रेतश्राद्धादाविष्टवियोगजेन दुःखानुस्मरणेनाश्रुपातो जायते, तस्य निषेधः । आनन्दाश्रुणस्त्वकस्मात्पततो न दोषः।

न **जातु** कदाचिदप्यश्रुविमोचनं कुर्यात् ।

न **कुप्ये**त्क्रोधं न गृह्णीयात् ।

अनृतवचनस्य पुरुषार्थतया निषिद्धस्य कर्मार्थोऽयं प्रतिषेधः ।

न **पादेन स्पृशेदन्न**मुच्छिष्टमनुच्छिष्टं च ।

न **चैतदन्नमवधूनयेद**वकम्पयेत् । हस्तादिनोत्क्षिप्य पुनर्न विक्षिपेत् ।

अन्ये तु व्याचक्षते—वाससा धूल्याद्यपनयनार्थं यदवधूननं न तदन्नस्योपरि कर्तव्यम् ॥२१९॥

हिन्दी—(उस समय) कदापि आँसू नहीं गिरावे (रोये नहीं), क्रोध नहीं करे, झूठ नहीं बोले, अन्न को पैर से नहीं छुए और इसे (अन्न को) उछालकर पात्र (भोजन-पात्र) पर न फेंके ॥२१९॥

अस्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ।।२२०।।

भाष्य—अस्यार्थवादः । अश्रुविमोचनं क्रियमाणं **प्रेतान् गमयति** प्रापयति श्राद्धम् । न पितृणामुपकारकं भवति । प्रेताश्चात्र पिशाचवद्भूतविशेषा विवक्षिताः न त्वसपिण्डीकृताः सम्प्रतिमृताः ।

रक्षांसि भूतप्रेतवत् अवगन्तव्यानि ।

अरयः प्रसिद्धाः ।

तथा **दुष्कृतीन्** दुष्कृताचरणान् पातकिनः ॥२२०॥

हिन्दी—(उस समय) आँसू गिराना (रोदन करना), भूत वेषवाले प्रेतों के पास, क्रोध करना, शत्रुओं के पास, झूठ बोलना, कुत्ते के पास, पैर से अन्नस्पर्श करना राक्षसों के पास और उछाल (फेंक) कर परोसना पापियों के पास अन्न को पहुँचा देते हैं (इस कारण से रोदन आदि नहीं करे) ॥२२०॥

ब्राह्मण की रुचि के अनुसार परोसना आदि—

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ।।२२१।।

भाष्य—यद्यदन्नं व्यञ्जनं पानं चाभिलषेयुस्तत्तद**मत्सरः** अलुब्धो **दद्यात्**। 'मत्सर' इति लोभनाम् ।

रोचेत् प्रीतिं जनयेत् ।

ब्रह्मोद्याः । ब्रह्मणि वेदे या उद्यन्ते कथ्यन्ते ता 'ब्राह्मोद्याः' देवासुरयुद्धं, वृत्रवधः, सरमाकृत्यमित्याद्याः। अथवा 'कः स्विदेकाकी चरतीत्यादिः (वाजसनेयसंहिता २३।९)।

'ब्रह्माद्याश्च कथा' इति वा पाठः । तत्प्रधानमन्त्रार्थनिरूपणाद्याः 'कथाः' संलापा लौकिकैः शब्दैः । **पितॄणामेतदीप्सितम**भिलषितमित्यर्थवादः ॥२२१॥

हिन्दी—ब्राह्मणों को जो-जो (वस्तु) रुचे (अच्छी लगे) उन-उन (वस्तुओं) को मत्सर से रहित होकर परोसे, परमात्म-निरूपणसम्बन्धिनी कथाओं (बातचीत, चर्चाओं) को कहे; क्योंकि यह पितरों का अभीप्सित है (इसे पितर चाहते हैं) ॥२२१॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ।।२२२।।

भाष्य—स्वाध्यायो वेदः । मन्वादिग्रन्था**धर्मशास्त्राणि** । **आख्यानानि** सौपर्ण-मैत्रावरुणादीनि बाह्वृच्ये पठ्यन्ते । **इतिहासा**महाभारतादयः । **पुराणानि**व्यासादिप्रणी-तानि सृष्ट्यादिवर्णनरूपाणि । **खिलानि** श्रीसूक्तमहानाम्निकादीनि ॥२२२॥

हिन्दी—वेद, (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र (सुपर्ण तथा मैत्रावरुण आदि की) कथायें (महाभारत आदि) इतिहास, (ब्रह्म, पद्म आदि) पुराण और (शिव-सङ्कल्प तथा श्रीसूक्त आदि) खिल,—इन सबको पितृ-श्राद्ध में (भोजनार्थ निमन्त्रित) ब्राह्मणों को सुनावे ॥२२२॥

ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना—

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ।।२२३।।

भाष्य—सत्यपि निमित्ते न स्वं दुःखं केनचित्प्रकारेण दीर्घेणोच्छ्वासादिना प्रकटयेदपितु हृष्टवत् स्यात्।

ब्राह्मणान् हर्षयेत्। गीतादिना परप्रयुक्तेन, अविरुद्धेन वा प्रसङ्गागतेन परिहासेन। स्वाध्याये पठ्यमाने चिरं कश्चिदुद्विजेत्। तदा ततो विरम्याख्यानकैर्गीतादिना च रमयेत्।

शनैर्भोजयेत्। कतिचिद्ग्रासान् गृह्णीत साध्वेतत्सम्यक् भोजनमित्येवमादिभिः प्रियवचनैर्भोयजेत्। **शनैर्न** संस्म्भेण ब्रूयात्।

अन्नाद्येन पायसादिना।

गुणैश्च व्यञ्जनैर्दानार्थमुद्धृतै रसवत्तया योजयन् भोजनार्थमुत्साहयेत्। 'स्वाद्याः इमाः शष्कुल्यः, सुरसेयं क्षीरिणीति' पात्रस्थमेवमादिहस्तगृहीतं कृत्वा पुरस्थितः पुनः पुनर्ब्रूयादित्येषा 'परिचोदना' ॥२२३॥

हिन्दी—स्वयं प्रसन्न होकर मधुर वचनों से ब्राह्मणों को प्रसन्न करे, धीरे-धीरे भोजन करावे और (यह लड्डू बहुत मधुर एवं मुलायम है, इसे लीजिये, यह कचौरी खस्ता एवं गरम है इसे लीजिये इत्यादि प्रकार से) वस्तुओं के गुणों से बार-बार भोज्य अन्नों को लेने के लिये इन्हें (ब्राह्मणों को) प्रेरित करे ॥२२३॥

दौहित्र (पुत्री के पुत्र) को श्राद्ध में अवश्य भोजन कराना—

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।
कुतपं चासनं दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम्॥२२४॥

भाष्य—अनुकल्पपक्षे दौहित्रस्य यत्नेन भोज्यतोच्यते।

कुतपोऽजलोमसूत्रैः कम्बालाकारः पटः। उदीच्येषु कम्बल इति प्रसिद्धः। तं आसनं दद्यात्। न दौहित्रपक्षे, किंतर्हि अन्यदापि। यतो वक्ष्यति "त्रीणि श्राद्धे पवित्राणीति", श्राद्धमात्रविषयत्वात्। **तिलैश्च विकिरेन्महीम्**। तिलांश्च मह्यां भुवि निक्षिपेत् ॥२२४॥

हिन्दी—ब्रह्मचर्यावस्था में (तथा अब्रह्मचर्यावस्था में) भी रहने वाले दौहित्र (धेवता-पुत्री का पुत्र) को यत्नपूर्वक भोजन करावे। उसके लिये कुपत (नेपाली कम्बल) का आसन दे तथा श्राद्ध भूमि पर तिलों को बिखेर दे ॥२२४॥

श्राद्ध में दौहित्र, कुतप तथा तिल की श्रेष्ठता—

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥२२५॥

पवित्राणि पावनानि साधुत्वसम्पादकानि।

आद्यः श्लोकार्धोऽनुवादः। उत्तरस्तु विधेयार्थः।

शौचमशुचिसंसर्गपरिहारः। प्रमादाद्वा जातस्याशुचित्वस्य मृद्वार्यादिना यथाशास्त्रं शुद्धिः। **अत्वरां** विश्रब्धं भोजनाद्यनुष्ठानम् ॥२२५॥

हिन्दी—श्राद्ध में दौहित्र (पुत्री का पुत्र), कुतप (नेपाली कम्बल) और तिल—ये तीनों पवित्र हैं और इस (श्राद्ध) में शौच (पवित्रता), अक्रोध और अत्वरा (जल्दबाजी नहीं करना)—इन तीनों की (मन्वादि ऋषि) प्रशंसा करते हैं ॥२२५॥

अन्न की उष्णता तथा मौन होकर भोजन करना—

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः।
न च द्विजातयो ब्रूयूर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥२२६॥

भाष्य—उष्णमेवा'त्युष्णं' अतिगतमुष्णमिति। प्रपतितपर्णः प्रपर्ण इति यथा। '**सर्व**'मन्नं गुणाश्च। यस्योष्णस्य भोजनमुचितं तत्रैवेदमुष्णताविधानं, न तु दध्योदनादेः, यत्तदुष्णं अप्रीतिकरं व्याधिजनकं च तत्र 'हर्षयेद्ब्राह्मणानिति' विरुध्येत।

उष्णभोजनविधानाच्च न सकृत्सर्वमन्नं परिवेष्टव्यम्। तथाहि बहुभोजिनां शीतं भवेदन्नम्। तस्माद्भुक्ते पुनर्दद्यात्। न च भुञ्जानेभ्य उच्छिष्टत्वात् दानमयुक्तमिति-वाच्यम्। भोजनविधिरेवंरूप एव। आतृप्तेर्भोजयितुर्व्यापारः। न ह्यत्रौदनादि प्रतिग्राह्य-तया सम्बध्यते। अत एव न तत्र प्रतिग्रहमन्त्रं ओदनादिषुः प्रयुज्यते।

वाग्यताः वाक् यता नियमिता यैः। छान्दसः परनिपातः। वाचा वा यताः। 'साधनं कृतेति' समासः। कर्तृवचनश्च तदा 'यत' शब्दः व्यापारनिषेधो 'नियमनं', वाचश्च व्यापारः शब्दोच्चारणं, तत्प्रतिषेधः क्रियते। व्यक्ताव्यक्तशब्दोच्चारणं न कर्तव्यम्। हविषो गुणा न च वक्तव्याः। 'इष्टैः' सद्भिर्भुञ्जानैर्दत्रे न विवक्षितमिति स्मरन्ति।

"ननु वाङ्नियमादेवैतत्सिद्धम्"।

सत्यम्—अभिनयादिनाऽपि न कर्तव्यम्। ब्रुविः प्रतिपादने वर्तते। **ब्रूयुरिति** न शब्दोच्चारणमेव ॥२२६॥

हिन्दी—सब भोज्य अन्न (फल और पान अर्थात् पीने योग्य द्रव्य पन्ना, शर्बत आदि को छोड़कर[1]) अत्युष्ण (जितना गर्म भोजन किया जा सके, उतना उष्ण) रहे,

---

१. अत एव शङ्खः— उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत्।
अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः ॥ (इति म०मु०)।

वे ब्राह्मण मौन होकर भोजन करें और श्राद्धकर्त्ता (या अन्य किसी) के पूछने पर भी भोज्य पदार्थों के गुणों को उच्चारण कर) न कहें (और न हाथ या मुख आदि के इशारे से ही कहें) ॥२२६॥

विमर्श—प्राय: आजकल देखा जाता है कि भोजन करते समय ब्राह्मण लोग भोजन कराने वाले को खुश करने के लिये खाद्य पदार्थों की लम्बी-चौड़ी प्रशंसा करते नहीं अघाते और इसे सुनकर श्राद्धादि कार्यकर्त्ता भी अतिप्रसन्न होता है, इन दोनों ही कार्यों को मनु भगवान् सर्वथा निषिद्ध बतलाते हैं और इसी लक्ष्य को रखकर मौन होकर ब्राह्मणों को भोजन करने का विधान किया है।

उष्ण अन्न तथा मौन आदि की प्रशंसा—

यावदुष्मा भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यता: ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणा: ।।२२७।।

भाष्य—पूर्वस्य विधेरर्थवादोऽयम्।

उष्मा औष्ण्यम् ॥२२७॥

हिन्दी—जब तक अन्न (भोज्य पदार्थ) गर्म रहता है, तबतक ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं और जब तक हविष्य (भोज्य पदार्थ) के गुणों का वर्णन वे ब्राह्मण नहीं करते; तब तक पितर लोग भोजन करते हैं ॥२२७॥

पगड़ी आदि बाँधे भोजन का निषेध—

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुख: ।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ।।२२८।।

भाष्य—वेष्टितमुष्णीषादिना। उदीच्या हि शाटकै: शिरो वेष्टयन्ति।

ये तु व्याचक्षते 'चूडाकारैरपि केशैर्वेष्टितशिरा भवतीति' न ते युक्तिवादिन:। केशास्ते वेष्ट्यन्ते, न शिर:। न च केशा एव शिर:। शिरस्था हि ते। सूत्रादेस्तु न निषेध:। न हि तत्र वेष्टनव्यवहारो लोके।

दक्षिणाभिमुखस्य दोषवचनात् स्वल्पे प्रदेशे दक्षिणेतरदिगभिमुखस्यापि भोजनमनुजानाति। अन्यथा उदङ्मुखानां विधानात् कुतो दक्षिणस्या: प्राप्ति:।

उपानहौ चर्ममयं पादत्राणम्। अन्ये तु चर्मपादुके उपानहाविति व्याचक्षते।

रक्षांसि भुञ्जते न पितर इति निन्दा ॥२२८॥

हिन्दी—शिर पर पगड़ी या साफा आदि बाँधकर (या टोपी लगाकर), दक्षिणमुख होकर और जूता (खड़ाऊँ, चप्पल, चट्टी आदि) पहनकर जिस अन्न को ब्राह्मण

भोजन करते हैं; उस अन्न को राक्षस भोजन करता है (वह अन्न पितरों को नहीं मिलता, अत: शिर पर पगड़ी आदि बाँधकर भोजन नहीं करना चाहिये) ॥२२८॥

चाण्डाल आदि के ब्राह्मण-भोजन देखने का निषेध—

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ।।२२९।।

भाष्य—वराहः शूकरः । स च ग्राम्यः ।

स्वसन्निधानतो नेक्षेरन्निति यद्यपि श्रुतम् तथापि तत्प्रदेशसन्निधिमेव शिष्टा नानुमन्यन्ते । तथा च 'घ्राणेन शूकर' इत्यादि क्रियान्तरमर्थवादेन श्रूयते । न चानीक्षमाणस्य घ्राणं सम्भवति ।

सन्निहितानां तु स्वरूपानुवादोऽयम् । सूकरो विजिघ्रति । कुक्कुटः पक्षानुद्धुनोति । तस्मात्परिश्रिते दद्यादिति विधिः । प्रयोजनमेतद्दोषाभावेऽपरिश्रितेऽपि दद्यात् ।

षण्ढो नपुंसकः ॥२२९॥

हिन्दी—चाण्डाल, सूअर, मूर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक भोजन करते हुए ब्राह्मणों को नहीं देखे ॥२२९॥

हवन गोदानादि को भी चाण्डाल आदि के देखने का निषेध—

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तद् गच्छत्ययथातथम् ।।२३०।।

भाष्य—होमे अग्निहोत्रादौ शान्त्यादिहोमे वा ।

प्रदाने गोहिरण्यादिद्रव्यविषये । अभ्युदयार्थे ।

भोज्ये ब्राह्मणा यत्र धर्माय भोज्यन्ते ।

दैवे हविषि दर्शपौर्णमासादौ ।

पित्र्ये श्राद्धे ।

यदभिवीक्ष्यते क्रियमाणं कर्म ।

तद्गच्छत्ययथातथम् । यदर्थं क्रियते तद्विपरीतं भावयति ।

यद्यपि श्राद्धप्रकरणं तथापि वाक्यादन्यत्रापि होमादावयं प्रतिषेधः ॥२३०॥

हिन्दी—होम (अग्निहोत्र आदि हवन), दान (गौ और सुवर्ण आदि का दान), भोज्य (स्वामी की उन्नति के लिए ब्राह्मण-भोजन), दैव (दर्श-पौर्णमासादि देव सम्बन्धी कार्य) और पित्र्य (पावर्ण आदि पितृश्राद्ध) को जो ये चाण्डाल आदि (३।२२९) देखते हैं; वह सब निष्फल हो जाता है ॥२३०॥

सूअर के सूँधने आदि से ब्राह्मण-भोजन की निष्फलता—

घ्राणेन शूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ।। २३१।।

भाष्य—पक्षकृतेन वायुना **कुक्कुटो हन्ति**। व्याख्यातमेतत्। तावति देशे निवारणीयमेषां सन्निधानं यावति स्थिताः पश्यन्ति।

अवरवर्णजश्चाण्डालः प्रकृतत्वात्।

स्पर्शादयश्च प्रकृतक्रियापराः, न विवक्षितस्वरूपा इति व्याख्यातम्।

अतोऽवाद्यमेतत्—"चाण्डालस्य सामान्यतः स्पर्शप्रतिषेधादसत्यां प्राप्तौ प्रतिषेधानर्थक्यम्। अतः शूद्रोऽवरवर्णजः तस्य च द्विजातिश्राद्धस्पर्शनिषेधो नात्मीये इति।"

विवक्षितेऽपि—नान्नपानादिस्पर्शदोषोऽयमुच्यते, किंतर्हि यो देशः परिगृहीतो नदीपुलिनादिरपरिश्रितस्तस्य स्पर्शः। तस्य हि वाय्वादित्यादिना शुद्धिरुक्ता। अतः सत्यां प्राप्तौ युक्तः प्रतिषेधः ॥२३१॥

हिन्दी—सूअर के भोजन पदार्थ को सूँघने से, मुर्गा की पङ्ख की हवा से, कुत्ते के देखने से अथवा भोजन कर्त्ता ब्राह्मणों द्वारा कुत्ते को देखने से और शूद्र के स्पर्श करने से भोजन पदार्थ अखाद्य हो जाता है ॥२३१॥

विमर्श—भोज्य पदार्थ को जितनी दूर से सूअर सूँघ न सके, मुर्गा अपने पङ्खों की हवा न पहुँचा सके, कुत्ता देख न सके या भोजन कर्त्ताओं से कुत्ता देखा नहीं जा सके और शूद्र स्पर्श नहीं कर सके; उतनी दूर तक उन (सूअर, मुर्गा, कुत्ता और शूद्र) को नहीं आने देना चाहिए।

लंगड़े आदि को भी ब्राह्मण-भोजन देखने का निषेध—

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।
हीनातिरिक्तगोत्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ।। २३२।।

प्रेष्यो भृतकः। अपिशब्दादन्योपि यदृच्छया सन्निहितो बान्धवादिरपनेयः। तस्मात्प्रदेशादपसारयेत्।

खञ्जो गतिविकलः अजङ्गमादि।

हीनातिरिक्तगात्रः षण्ढः कुणिखण्डीकः श्लीपद्यादिः ॥२३२॥

हिन्दी—श्राद्धकर्त्ता का नौकर (या अन्य कोई) भी लंगड़ा, काणा वा शूद्र हो तथा हीन तथा अधिक अङ्गों वाला (अङ्गुलियों या किसी शरीर से हीन या अधिक यथा छाङ्गुर अर्थात् छः अङ्गुलियों वाला आदि) या पाँच से कम अङ्गुलियों वाला

आदि जो श्राद्ध में आवे तो उन्हें भी हटा देना चाहिए ॥२३२॥

भिक्षुक आदि को भोजन कराना—

ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ।।२३३।।

भाष्य—अतिथित्वेनागतं **ब्राह्मणं भिक्षुकं** भिक्षार्थिनं ब्राह्मणमपि भोजनप्रवृत्तै**र्ब्राह्मणैरनुज्ञातः** शक्त्या **पूजयेत्**। भोजनेन भिक्षादानेन वा युक्तार्थतयाऽर्चयेत्। यतः स पाकस्तदहस्तदर्थ एव ॥२३३॥

हिन्दी—(श्राद्धकाल में) भिक्षार्थी ब्राह्मण या और कोई भोजनार्थी आ जावे तो उसका भी ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर यथाशक्ति भोजनादि देकर सत्कार करें ॥२३३॥

अनग्निदग्धादि के लिये अन्न बिखेरना—

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ।।२३४।।

भाष्य—वर्णशब्दः प्रकारे द्रष्टव्यः । सर्वप्रकारैर्व्यञ्जनैरुपेतमन्नाद्यं **सन्नीय** एकीकृत्य **वारिणा आप्लाव्य भुक्तवतां** तृप्तानां 'तृप्ताः स्म' इतिवचनान्तरं **अग्रतः समुत्सृजेत्** विकिरेत्; नैकस्मिन्नेव देशे, किं तर्हि विशीर्णम्।

भुवि। न पात्रेषु। भूमावपि न शुद्धायां, किंतर्हि, वक्ष्यति "दर्भेषु विकिर" इति। "सकृत्त्रिर्वा विकिरं कुर्यात्" इति शङ्खः ॥२३४॥

हिन्दी—सब प्रकार के अन्न को लेकर तथा पानी से आप्लावित (सान) कर भोजन किये हुए ब्राह्मणों के आगे (कुशाओं पर) विखेरता हुआ छोड़ दे ॥२३४॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ।।२३५।।

भाष्य—'नास्य कार्योऽग्निसंस्कार' इत्यत्रिवर्षा **असंस्कृतास्**तेषां **प्रमीतानाम्**। पात्रस्थं **उच्छिष्टं** दर्भेषु **विकिरश्च** तेषां **भागधेयम्**। भाग एव भागधेयशब्देनोच्येते। न हि तेषां श्राद्धोपकारो नास्ति।

त्यागिनां गुर्वादीनाम्। अथवा **कुलयोषितां** कुलस्त्रीणामदृष्टदोषाणां भार्याणां त्यक्तारः। स्वतन्त्रे तु **कुलयोषिता**मित्यस्मिन्ननूढाः कन्याः कुलयोषित इति व्याचक्षते।

अत उच्छिष्टं तेभ्य उद्येष्टव्यम्।

न च वाच्यम् "अपवित्रमुच्छिष्टं कथं भागधेयेन कल्पतामिति"। वचनान्नास्त्यपवित्रता, सोमोच्छिष्टवत् ॥२३५॥

हिन्दी—जो अन्न कुशाओं पर बिखेरा जाता है, वह जिन मृतकों का "नास्य कार्योऽग्निसंस्कारः—(५।६९)" वचन के अनुसार अग्निसंस्कार नहीं किया गया है उन बालकों का तथा बिना दोष देखे ही कुलस्त्रियों का त्याग करने वालों का हिस्सा होता है ॥२३५॥

विमर्श—अग्निसंस्कार के अयोग्य दो वर्ष से कम अवस्था वाले बालक। अन्याचार्यों का मत है कि 'त्यागिनाम्, कुलयोषिताम्' ये दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद हैं। अतः 'त्यागिनां' पद से गुरु आदि त्यागियों का और 'कुलयोषितां' पद से अविवाहित कन्याओं का भाग उक्त अन्न होता है।

गोविन्दराज का मत है कि 'त्यागिनां कुलयोषितां' पद का अपने कुल को छोड़कर गयीं हुई कुलस्त्रियों का भाग कुशाओं पर बिखेरा हुआ वह अन्न है ॥

भूमि पर गिरा उच्छिष्टभागी दास-समूह—

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ।। २३६ ।।

भाष्य—'पात्रस्थस्य पूर्वेण प्रतिपत्तिरुक्ता । भूमौ निपतितस्योच्छिष्टस्य दासवर्गार्थताऽनेन कथ्यते ।

अजिह्मोऽकुटिलः । **अशठः** अनलसः । तादृशस्य **दासवर्गस्य** स भागः । तस्मात्त्रभूतं दातव्यं, येन भूमौ भुञ्जानस्य पततीति ॥२३६॥

हिन्दी—पितृश्राद्ध में भूमि पर गिरा हुआ उच्छिष्ट (जूठा अन्न) अकुटिल और शाठ्यरहित दास-समूह का भाग होता है ॥२३६॥

सपिण्डीकरण तक विश्वेदेववर्जित ब्राह्मणभोजनादि—

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ।। २३७ ।।

भाष्य—'**संस्थितस्य द्विजातेरासपिण्डक्रियाकर्म** प्रथममृतस्य आसहपिण्डकरणाख्यं कर्म कर्तव्यम् । सहपिण्डदानं पूर्वाभ्यां न कर्तव्यम् । कथं तर्हि कर्तव्यम् । **पिण्डमेकं च निर्वपेदिति**। चशब्द एवशब्दस्यार्थे, तस्मा एव प्रेतायैकं पिण्डं निर्वपेत् । ब्राह्मणी हि तस्मा एव भोजयितव्यः ।

स्मृत्यन्तरे अन्याऽपीतिकर्तव्यता वैशेषी स्मर्यते 'आवाहनाग्नौ करणरहितमिति' । अग्नौ करणशब्देन चात्र 'अग्नौकरिष्य' इत्यनुज्ञापनं प्रतिषिध्यते, न पुनर्होमः । तथाहि गृह्ये प्रेतश्राद्धमेवाधिकृत्य होम आम्नायते ।

यस्मिंश्च काले कर्म कर्तव्यं यावन्तं च कालं तत् स्मृत्यन्तरादन्वेष्टव्यम् ।

'आद्यमेकादशेऽहनि'। "मृतोहेऽपि च कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्। प्रतिसंवत्सरं चैव श्राद्धं वै मासिकार्थवत्" ॥ इति। तथा च काठके 'एवं सांवत्सरिकमिति'।

एकादशग्रहणं चाशौचनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्। यतः 'शुचिर्भूतः पितृभ्यो दद्यादिति' श्रूयते। संवत्सरान्ते हि सपिण्डीकरणं गृह्यकाराः स्मरन्ति।

एतच्च श्राद्धमेकोद्दिष्टं तदङ्गभूतं च निर्वपणम्।

यत्तु श्रौते—पितृभ्यो दद्यादितिवचनात् पितृपितामहाय प्रपितामहाय चेति—अकृते सपिण्डीकरणे नेह दानं युक्तम्। न हि स्मृत्या श्रुतिर्बाधितुं शक्यत इति ॥२३७॥

हिन्दी—सपिण्डीकरण (सपिण्डन) श्राद्धतक (कुछ समय पूर्व) मरे हुए द्विजाति का विश्वेदेव (ब्राह्मण भोजन) से रहित श्राद्ध करे (तथा एक ब्राह्मण को श्राद्धान्न का भोजन करावे) और एक पिण्ड दे ॥२३७॥

सपिण्डीकरण के बाद पार्वणश्राद्ध—

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ।।२३८।।

भाष्य—'यदा तु सपिण्डीकरणं कृतं भवति तदा **अनयैवावृता** पार्वणश्राद्ध-विधिना त्रिभ्यो दद्यात्। **आवृदिति**कर्तव्यता।

सपिण्डीकरणश्राद्धं दैवपूर्वं नियोजयेत्।

पितॄनेवाशयेत् तत्र पुनः प्रेतन्न निर्दिशेत्।

पितरश्चात्र प्राक्सपिण्डीकृताः पितृवर्गमनुप्रवेशिताः पितामहादय उच्यन्ते। तानाशयेत्। 'तत्र पुनः' शब्दस्तेष्वेव ब्राह्मणेषु प्रेत आवाहयितव्यः, तत्र हि सर्वैस्तैः सह संसर्गस्तस्य संसृजनाय तत्कर्म।

यदपि विष्णुना पठितं "प्रेताय ब्राह्मणान् भोजयेत् प्रेतपित्रे प्रेतपितामहाय च प्रेतप्रपितामहायेति", अत्रापि नैवं श्रूयते पृथक् भोजयेदिति।

तत्र यथा बहुदैवत्यं हविर्बह्वीर्देवता उद्दिश्य सकृदेकं हूयते, एवं ब्राह्मणोऽपि बहूनुद्दिश्य भोज्येतेति न किञ्चिदनुपपन्नम्। तथाहि सहवचनमनुगृहीतं भवति, पित्र्ये च न युग्मा भोजिता भवन्ति। यथा 'एकैकमुभयत्र' वेति येषां विधिस्तन्मते एकः सर्वोद्देशेन भोज्यते। एवमेतद्द्रष्टव्यम्।

"नन्वेवं सति पितृकृत्ये त्रीनिति सर्वदैव सहोद्देशः प्राप्नोति। एकैकस्मिन् ब्राह्मणे सर्व उद्देश्येरन् तत्रापि न पृथक्ग्रहणमस्ति"।

कथं नास्ति। गृह्ये हि पठ्यते "न त्वेवैकम्। सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातम्" किञ्च

'प्रेतपात्रं पितृपात्रेषु सेचयेदर्घार्थ'मित्याह। तत्र कृतासन्नपात्राभावे प्रेतपात्रोदकस्य कुतः पात्रादर्घदानं? यदि तावत्सम्मीलितात्, तदुक्तं पितामहादेस्तत्कल्पितं, न पितुः। न चान्यार्थं कल्पितादित्यन्यार्थता युक्ता। यथ कृत्वाऽर्घदानं पश्चात्सन्नयनं कुर्यात्, तदा कृत्वाऽर्घदानं तदर्थं सन्नयनस्य स्वतन्त्रार्घार्थं प्रसेचयेदिति विरुध्येद् वचनम्। उक्तेनात्र प्रकारेण न कश्चन विरोधः।

"अथ कोऽयं प्रेतो नाम। प्रपितामहाय पिण्डः सपिण्डीकरणादूर्ध्वं न दीयते यतस्तेष्वेवानुप्रविष्टः। तथा च स्मृतिः—

"यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक् पिण्डेन योजयेत्।
विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते" ॥ इति ॥

पृथगेव हि तस्मै निरूप्यते। न त्वेकः सर्वेभ्य इति। मन्त्राश्च एतमेवार्थमभिवदन्ति 'ये समाना' इत्यादयः।

अत्रोच्यते। नायं प्रेतशब्दोऽयतेः क्रियायोगेन वर्तते। रूढिरियं मृतः प्रेत 'इदानीं प्रेत' उच्यते। न हि दूरमध्वानं गतः प्रेत उच्यते। अस्ति च क्रियायोगः अविशेषेण पूर्वप्रेत इदानीं प्रेते च। तथा च श्रुतिः "प्रयन्नेवास्माँल्लोकाद्ये समाना" इति अचिरमरणे प्रेतप्रयोगं दर्शयति 'प्रेतायात्रं दिनत्रयमिति' सद्यःसंस्थितमधिकृत्य।

यत्तु 'पृथक्पिण्डेनेति' अस्यायमर्थः। सपिण्डीकरणादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न कर्त्तव्यम्। यदा यदा श्राद्धं तदा तदा त्रिभ्यः, मृताहनि पितृभ्यस्त्रिभ्य एव कर्तव्यम्। नैकस्मा एव पित्रे। तथा 'अनयैवावृता कार्यमितिथे' पार्वणश्राद्धेतिकर्तव्यता वाऽतिदिश्यते।

"ननु चानयैवेति प्रकृतपरामर्शाः प्रतीयन्ते, सन्निहितवचनत्वात्सर्वनाम्नां, सन्निहितश्चैकोद्दिष्टविधिः"।

नैवम्। यदि हि कृतेऽपि सपिण्डीकरणे एकस्यैव क्रियेत, तदा भेदनिर्देश एव नोपपद्यते। तुशब्दश्च प्रकृतायामितिकर्तव्यतायां भेदं सूचयति, 'असपिण्डक्रियायामेष विधिः, सहपिण्डक्रियायां पुनः कृतायां नायं मन्तव्य' इति। अतो व्यवहिताऽपि वृद्धिस्थत्वात्पार्वणताऽतिदिश्यते। किञ्च कृते सपिण्डीकरणे यदैकोद्दिष्टं स्यात्कर्तव्यं, तदा त्रिभ्यो दानमिति अमावास्यायामिति चेत् को विशेषः। तत्रापि सहपिण्डक्रियामित्येवमर्थः किं नास्ति। न च मानवशास्त्रे कालान्तरं 'मृताहे प्रतिसंवत्सरं' चेत्यादि प्रतीतं येन तद्विषयमेतद् व्याख्यायते। अतोऽविशेषात्सर्वत्रैकोद्दिष्टानि प्राप्नुवन्ति। तत्र महाभारतवचनं विरुध्येत, तीर्थानि प्रकृत्योक्तं "श्राद्धेन तर्पयामास स वै पूर्वं पितामहान्" इति।

यदपि स्मृत्यन्तरं 'प्रतिसंवत्सरं चैव श्राद्धं वै मासिकार्थवत्'—तत्रापि मासिकशब्देनामावास्यायामेव श्राद्धमुच्यते। सर्वश्राद्धानां तस्य प्रकृतित्वात्। तत्र हि धर्माः

समाम्नाताः । न तु "प्रतिमासं तु वत्सरमिति" एतन्मासिकशब्देनाभिधातुं युक्तम्। न हि तस्य विशिष्टाः केचिद्धर्माः समाम्नाता यैर्भिद्येत। एकोद्दिष्टं त्वाद्यमेकादशे, क्षत्रियस्य त्रयोदशे इत्याद्यत्रापि विद्यते। अतो नैकोद्दिष्टं मासिकशब्देनाभिधातुं युक्तम्। मासकालसम्बन्धाद्धि तन्मासिकमुच्यते। न च तस्य मासेनैव सम्बन्धः। कालान्तरेणापि सम्बन्धस्य दर्शितत्वात्। 'शुचिर्भूतः पितृभ्यो दद्यादिति' मासादूर्ध्वमपि करणान्मासे चाकरणान्नात्र मासिकशब्देन तस्याभिधानम्। अमावास्याया उत्पत्तौ पौर्णमासिक-शब्दश्रवणात् 'पिण्डानां मासिकश्राद्धमिति' नियतत्वात्कालान्तरसंयोगस्याभावा-द्धर्मवत्वाच्च युक्तस्तदीयधर्मातिदेशः ।

आमश्राद्धमपि पार्वणप्रकृतिकमेव। तत्प्रकृतित्वे च त्रिभ्यो दाने प्राप्ते एकोद्दिष्टता विधीयते। यदपि याज्ञवल्क्यवचनं (आचारे २५६ श्लो०)।

"मृताहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्। प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि"। तत्राप्येवमेतादृशीतिकर्तव्यता उच्यते। तत्रापि ह्यमावास्यमेव प्रकृतत्वेनावगतम्। अतो न मासकालयोगेऽपि एकोद्दिष्टे तदीयधर्मातिदेशोऽन्यत्र युक्तः। न हि भिक्षुको भिक्षुकाद्याचते। सोऽपि यतोऽन्यस्य विकारः।

किञ्च एकमेव श्राद्धम्। तस्मान्न मासिकशब्दस्य सामान्यस्यैकोद्दिष्टविशेषविषय-तायां प्रमाणमस्ति।

याज्ञवल्क्येऽप्येवमिति। यद्यनन्तरावमर्शः तदा सपिण्डीकरणेतिकर्तव्यतातिदेशः प्राप्नोति। तदनन्तरं ह्येतच्छ्रुतम्। एतत्सपिण्डीकरणमिति (याज्ञव० आचार २५४) पठित्वाऽ'र्वाक्सपिण्डीकरणादिति (याज्ञ०आ० २५५)', च ततोऽनन्तरमुक्तम् "मृता-हनीत्यादि (याज्ञ०आ २५६)"।

तस्मात्सन्निधानमकारणीकृत्य धर्मवत्वेनामावास्यस्यैवमिति निर्देशः।

मन्त्राश्चास्मत्पक्षमेव सुतरामवद्योतयन्ति। "संसृज्यध्वं पूर्वैः पितृभिः सहेति"— 'पूर्वैः पितृभिः सह' वर्त्तमाना उच्यन्ते। 'संसृज्यध्वमिति' बहुवचनं पूजायाम्। तथा च निरुक्तकारः "एता (उ त्या) उषस इति। एतास्ता उषस इत्येकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनमिति"।

अथ "संसृज्यध्वमिति येषु पिण्डेषु निक्षिप्यन्ते त उच्यन्ते। यश्च निक्षिप्यते स बहुवचनेन पूर्ववत्पूर्वेभिः पितृभिरिति। एवं च पूर्वेभिरित्येवमेव बहुवचनं प्रायोगिकं भविष्यति। इतरथा संसृज्यध्वमितिनिक्षिप्यमाणपिण्डाभिधाने उभयत्र बहुवचनमयथार्थं कल्प्यमिति"।

तदेतदपि न किञ्चित्। यत एकैकेन पिण्डेन पिण्डांशः संसृज्यते। 'चतुर्थं'

पिण्डमुत्सृज्य त्रैधं कृत्वा पिण्डेषु निदध्यादिति' । अतो नैवात्र युगपदधिकरणवचनताऽस्ति येन बहुवचनमवकल्पेत ।

"एकैकाभिधानेन कुत आन्वयिकं संसृज्यध्वमिति बहुवचनं परोक्षवत्वाभिधानं न कल्प्यते । पूर्वेभिरिति निक्षिप्यमाणपिण्डवचनाच्च न एभिरिति निर्देशो युक्तः स्यात्" ।

न चायं मन्त्रो विधायको येन तदर्थनिर्णये प्रयतामहे । अभिधायकोऽयम् । अभिधानगुणं च विनियोगतः विनियोगश्च संसर्गः तच्च प्रकाशयति । संख्याऽत्र न विनियुक्ता न प्रकाशाप्ता, सम्भवमात्रेणान्वीयते । तस्य च मन्त्रात्पूर्वं प्रतिपत्तिः ।

येऽप्याहुः—'चतुर्थशब्दः पूर्वतर उपपद्यते । पिता हि प्रथमः तदपेक्षया प्रपितामहः पूर्वश्चतुर्थः" इति ।

एतदपि न सम्यक् । पूर्वेषां पिण्डान्निधाय चतुर्णां पूर्णश्चतुर्थः प्रेतपिण्ड एव भवति । पित्रुपक्रमं चेदं श्राद्धं न प्रेतोपक्रमम् । एवं ह्युच्यते 'पितॄनेवाशयेत्पुनः प्रेतं न निर्दिशेदिति" । यस्यायं प्रेताय प्रथमः पिण्डस्ततस्तत्पित्रे इत्यादिक्रमः, तस्यापि कृतोऽयन्नियमः, य एवासौ चतुर्थस्तस्यैवेदं त्रैधं करणं पिण्डेषु निधानं विधीयते । एतावद्धि तद्वाक्यम् चतुर्थं पिण्डमुत्सृजेत्त्रैधं कृत्वेति । तत्रानन्तर्यादुत्सृजतिना सम्बन्ध'श्चतुर्थं' 'पिण्ड'मित्यनयोः प्रतीयते । त्रैधं कृत्वेत्यत्र तु कस्येदं त्रैधं करणमित्यपेक्षायां सन्निहितः पिण्डः सम्बध्यते । तावतैव निराकाङ्क्षीकृते वाक्ये चतुर्थमित्यस्य सम्बन्धे न किञ्चित्प्रमाणमस्ति ।

तत्र यस्य कस्य विभागे प्राप्ते स्मृत्यन्तरान्निर्णयः ।

"निरुप्य चतुरः पिण्डान्पिण्डदः प्रतिनामतः ।
ये समाना इति द्वाभ्यामाद्यं तु विभजेत्त्रिधा" इति ॥

आद्यत्वं दानाभिप्रायेण, न पुनरादिपुरुषसम्बन्धात् । तथाहि प्रपितामहादिः स्यात्पितामहात्पूर्वः, पितामहोऽपि पितुः पूर्व इत्यनवस्थानादप्रतिपत्तिः । दाने तु नियतक्रमतो व्यवस्थितमादित्वम् ।

एवं च चतुर्थमितिपदेन विशिष्टे पिण्डे क्रियात्रयेऽपि स्मृत्यन्तरवशाद्दानक्रमेणैवाद्यस्य विभागो युक्तः । अतो यदुक्तं काठके "पूर्वप्रेतस्येष्टो विभागः प्रतीयते" इति कासावस्येष्टता ।

यच्चोक्तम्—'अत एव तस्मै अदानं यत एव वाऽसावन्तर्भावितः" तत्र किञ्चित् । वचनान्न दीयते—'न चतुर्थं पिण्डो गच्छतीति' । तथा 'त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते' इति । यत्स्वयं स्वकृतः पाठः 'पुनः प्रेतं न निर्दिशेदिति' व्याख्यातं च "अन्तर्भाविते पर्वप्रेते पुनर्दानं निषेधति"—नैवायं पाठोऽस्ति प्रतिषेधार्थीयो 'न'

पठ्यते, समुच्चयार्थीयश्चकार: पठ्यते। सत्यपि वा तत्र पाठे 'य: सपिण्डीकृत'मित्यत्र पृथक्पिण्डप्रतिषेधस्य या गतिरुक्ता सैवात्र वेदितव्या।

यानि तु वाक्यानि—

"सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुत:। एकोद्दिष्टं तु कुर्वीत पित्रोरन्यत्र पार्वणम्"। इत्यादीनि—यद्येतानि वाक्यानि सन्ति तदा किममावास्याया नामघोषणिकया। न चैतानि वाक्यानि शिष्टपरिगृहीतासु प्रसिद्धासु स्मृतिषु कासुचिदुपलभ्यन्ते।

तस्मान्न किञ्चिद्विशेषे लिङ्गमस्ति येन पूर्वप्रेतपिण्डान्निधीयत इति प्रतिपद्येमहि। तस्मात्समाचारो न त्याज्य:। अयमेव पक्षो युक्तियुक्त इति दर्शित:। तस्मान्मतभेदेनापच्छेदत: पूर्वप्रेतनिधानपक्षोपन्यास: केषाञ्चित्—

"असपिण्डक्रियाकर्म द्विजाते: संस्थितस्य च।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत्"॥

अत्र सपिण्डीकरणं मृते पितरि जीवति पितामहे पाक्षिकं ज्ञेयम्। यदा 'न जीवन्तमतिक्रम्य ददाती'त्येवं नाश्रीयते। यदा तु स एषाग्रता स्यादिति पक्षस्तदा पितामहमतिक्रम्य पूर्वै: संसर्जनीय:। एवं तु पुत्रस्यापि मृतस्य पित्रा विकल्पेनैव कर्तव्यमेवमनपत्यभार्यामरणे जीवन्मातृकस्यैष एव विधि:। "प्रमत्तानामितरे कुर्वीरंस्ताश्च तेषामिति"।

सुतैरपत्यैरित्यर्थ:। यद्यपि सुतग्रहणं तत्स्थानापन्नानामन्येषामपि ग्रहणं, यदि स्वशब्देन नास्ति निषेध: ॥२३८॥

हिन्दी—धर्मानुसार सपिण्डीकरण के बाद इसी पार्वण श्राद्ध की विधि से पुत्रों को पिण्डदान करना चाहिए ॥२३८॥

शूद्र को उच्छिष्टान्न देने का निषेध—

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिरा: ॥२३९॥

भाष्य—'यद्यपि श्राद्धभुजो दोषग्रहणं तथापि कर्तुरयमुपदेश:। तेन तथा कर्तव्यं यथा न प्रयच्छति। ऋत्विङ्नियमवत्।

वृषल: शूद्र:।

अवाक्शिरा ऊर्ध्वपाद:। प्रकृत एव सपिण्डीकरणम्मा विज्ञायीति श्राद्धग्रहणम् ॥२३९॥

हिन्दी—श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन करने के बाद उच्छिष्ट (जूठे अन्नों) को जो

मूर्ख शूद्र के लिए देता है; वह अधोमुख होकर कालसूत्र नरक को जाता है ॥२३९॥

श्राद्धभोजनोपरान्त स्त्री-सम्भोग का निषेध—

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तं मासं पितरस्तस्य शेरते ।।२४०।।

भाष्य—'**वृषली** स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थमेतदित्याहुः । निरुक्तं कुर्वन्ति वृषस्यास्ति चलयति भर्तारमिति वृषली । सा च ब्राह्मणी अन्या वा सर्वा निषिध्यते । तथा च स्मृत्यन्तरं "तदहर्ब्रह्मचारी स्यान्नियत" इति ।

तल्पशब्देन मैथुनसंयोगो भण्यते । न शयनारोहणप्रतिषेध एव ।

अहर्ग्रहणमहोरात्रलक्षणपरम् । रात्रावपि निषेधः स्यात् ।

पुरीष इति निन्दार्थवादो निवृत्त्यर्थः ।

पितरस्तस्य श्राद्धभुजः ।

अयमपि पूर्ववद्वचनीयः । इदं तु युक्तं यदुभयोर्नियम इति । नैमित्तिकोऽयं भोक्तुर्धर्मः श्राद्धभोजने निमित्ते विधीयते । प्रकरणाच्च कर्मार्थोऽपि ॥२४०॥

हिन्दी—श्राद्ध में भोजनकर जो ब्राह्मण उस दिन वृषली (मैथुनेच्छु स्त्री) के साथ सम्भोग करता है, उसके पितर उसके पुरीष (वृषली-मैला) में एक मास तक सोते (रहते) हैं ॥२४०॥

तृप्त ब्राह्मणों को विसर्जित करना—

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ।।२४१।।

भाष्य—'आचमनिकमन्नपानं दत्वा प्रष्टव्याः, '**स्वदित**'मित्यनेन शब्देन ।

स्मृत्यन्तराच्चान्नं परिगृह्य प्रश्नोऽयं कर्तव्यः । भवति हि कस्यचिदयं स्वभावो यदसन्निहितमन्नं सत्यपि तदभिलाषे यन्त्रणया न मृगयते सन्निहितं तु गृह्णाति ।

तृप्तानाचामयेत् ।

अन्ये तु 'तृप्ताः स्थ' इत्यनेन शब्देन प्रष्टव्याः । ज्ञात्वा च तृप्तान् 'स्वदितमिति' अनेन शब्देन बृंहणीयाः । वक्ष्यति—"पित्रे स्वदितमित्येव वाच्यमिति" ।

आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति । 'अभितः' उभयतः, इहैव स्वगृहे वा यथेष्टमास्यतामित्यर्थः ॥२४१॥

हिन्दी—उन ब्राह्मणों को तृप्त जानकर 'भोजन कर लिये?' ऐसा 'पूछकर फिर

उन्हें आचमन करावे और आचमन किए हुए उन ब्राह्मणों से 'हे ब्राह्मणों, अब आप लोग जाइये' ('भो अभिरम्यताम्') ऐसा कहे ॥२४१॥

ब्राह्मणों का 'स्वधा' कहकर आशीर्वचन—

स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ।।२४२।।

भाष्य—'भुक्तवद्भिर्गृहगमनाभ्यनुज्ञातैरनन्तरं स्वधेति वाच्यम् ।

स्वधाकारः स्वधाशब्दोच्चारणम् । प्रकृष्टा **आशीः** । पितृकार्येषु **सर्वेषु** पक्वान्नापक्वान्नश्राद्धेषु ॥२४२॥

हिन्दी—उसके बाद वे ब्राह्मण 'स्वधास्तु' (स्वधा हो) ऐसा (श्राद्धकर्त्ता से) कहे, (क्योंकि) सब पितृकार्यों (श्राद्धों) में 'स्वधाकार' सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद है ॥२४२॥

बचे अन्न को ब्राह्मणाज्ञानुसार काम में लाना—

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ।।२४३।।

भाष्य—'भुक्तमन्नं तेभ्यो निवेदयितव्यम् । प्रष्टव्यास्ते 'इदमस्तीति' । **यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातः** । अतोऽननुज्ञातेन नान्यत्र विनियोक्तव्यम् ॥२४३॥

हिन्दी—बचे हुए अन्न को भोजन किये हुए उन ब्राह्मणों से निवेदन करे (यह अन्न बचा है, ऐसा कहे), फिर वे ब्राह्मण उस अन्न से जो कार्य करने के लिये कहें, वैसा, करे ॥२४३॥

एकोद्दिष्टादि श्राद्ध में तृप्ति-प्रश्न की विधि—

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं, गोष्ठे तु सुश्रृतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये, दैवे रुचितमित्यपि ।।२४४।।

भाष्य—'अन्येनापि तत्कालोचितोपस्थितेनैवमेभिः शब्दैः मोदयितव्याः ।

अन्यस्त्वाह । अनुज्ञापनमेतैः शब्दैर्भोजनादिप्रवृत्तौ कर्तव्यम् । अतश्च श्राद्धकृता परितुष्ट्यैवं वक्तव्यम्—स्वदध्वमिति न हि स्वदितम् । स्वदतु इति वा पाठः ।

एतस्यार्थस्य प्रतिपादकं एतद्व्याख्यानं स्मृत्यन्तरसमाचारसापेक्षम् तस्मात्प्रवृत्तभोजनाः श्राद्धकृताऽन्येन वैवं प्रीणयितव्याः ।

गोष्ठे गोषु तिष्ठन्तीष्वेकदेशेषु **सुश्रृत**मिति वाच्यम् ।

अस्त्विति सर्वत्र प्रतीयते ।

दैवे रुचितं रोचितमिति वा ॥२४४॥

हिन्दी—भोजन किये हुए उन ब्राह्मणों की तृप्ति पूछने के लिये श्राद्धकर्त्ता पितृश्राद्ध (निरपेक्ष पितृ-मातृ-देवता वाले एकोदिष्ट श्राद्ध) में 'स्वदितम्'[१], गोष्ठी श्राद्ध में 'सुश्रुतम्', वृद्धि श्राद्ध (आभ्युदयिक श्राद्ध) में 'सम्पन्नम्' और देव श्राद्ध में 'रुचितम्' ऐसा प्रश्न करे ॥२४४॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने 'श्राद्ध में आये हुए दूसरे व्यक्ति[२] भी 'स्वदितम्' ऐसा कहकर ही ब्राह्मणों से तृप्ति विषयक प्रश्न करे' ऐसा कहा है। बारह प्रकार के श्राद्धों में विश्वामित्र 'गोष्ठीश्राद्ध' को[३] गिनाया है। भविष्यपुराणोक्त वचन के अनुसार देवताओं के उद्देश्य से विशिष्ट हविष्य के द्वारा सप्तमी आदि में जो यत्नपूर्वक श्राद्ध किया जाता है, वह 'देव श्राद्ध'[४] है।

श्राद्ध कर्मों में श्रेष्ठ सम्पत्तियाँ—

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ।।२४५।।

भाष्य—'अपराह्णे श्राद्धं कर्तव्यम्।

श्राद्धकर्मसु सम्पदः। सम्पादयितव्यान्येतानि वस्तूनि।

अविशेषाभिधानेऽप्यपराह्णे न सर्वश्राद्धेषु। एवं हि स्मृत्यन्तरम्।

"पूर्वाह्णे दैविकं कार्यमपराह्णे तु पैतृकम्।
एकोद्दिष्टं तु मयाह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्" इति॥

वास्तु वेश्म, तस्य **सम्पादनं** सम्मार्जनं सुधादिना भित्तीनां गोमयेन भूमेरुपलेपनं दक्षिणप्रवणता च। **सृष्टिर्विसर्गः** अकार्पण्येनान्नव्यञ्जनदानम्। **मृष्टिर्मार्जनम्**। अन्न-संस्कारविशेषः।

अन्ये तु व्याचक्षते। **सम्पदेषा** विभवशक्तिः, न त्वेतैर्विना अकरणम् ॥२४५॥

हिन्दी—अपराह्ण काल, (विष्टर पवित्री आदि के लिये) कुशा, गोबर आदि से

---

१. 'स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः' इति गोभिलसांख्यायनौ।

२. तथा ह्युक्तम्—
'श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित्।
नानुरुद्धमिदं विद्वद्वृद्धैनं श्रद्धधीमहि॥' इति।

३. 'गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्' इति विश्वामित्रवचनात्।

४. तथा च भविष्यपुराणे—
'देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते।
हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः॥' इति।

लीपकर शुद्ध किया हुआ स्थान, (विकिरण आदि के लिए) तिल, (कृपणता को छोड़कर अन्न तथा दक्षिणा आदि का) दान, अन्नादि का यथावत् संस्कार विशेष (तैयार कराना) और श्रेष्ठ (पङ्क्तिपावन ३।१७४-१७६) ब्राह्मण; ये सब श्राद्धकर्म में सम्पत्तिरूप (श्रेष्ठ) हैं ।।२४५।।

विशेष—यहाँ अमावस्याश्राद्ध का प्रकरण होने से अपराह्ण काल का श्राद्ध-सम्पत्ति बताया है, वृद्धिश्राद्ध आदि में प्रातःकाल को श्राद्ध का समय बताया है[1] । इन सबको श्राद्धसम्पत्ति कहने से द्रव्यादि दूसरे अङ्गद्रव्यों की अपेक्षा इनकी प्रधानता बतलायी गयी है ।

देव कार्य में सम्पत्तियाँ—

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ।।२४६।।

भाष्य—'**दर्भाः** प्रसिद्धाः ।

पवित्रं मन्त्राः ।

हविषे हितानि योग्यानि **हविष्याण्यु**त्तरश्लोके तानि वक्ष्यन्ते ।

पवित्रं पावनं शुच्याचारता ।

यच्च पूर्वोक्तम् । वास्तुसम्पादनं सृष्टिर्मृष्टिर्ब्राह्मणाश्च श्रेष्ठाः श्रुतशीलसम्पन्नाः ।
हव्यसम्पदः । हव्यं देवतोद्देशेन यागादि ब्राह्मणभोजनं च । हव्यशब्दः कर्म दैविकमुपलक्षयति ।।२४६।।

हिन्दी—कुश, मन्त्र, पूर्वाह्ण (दोपहर के पहले का समय); मुन्यन्न (तीनी) आदि सुसम्पादित सब हविष्य, गोबर आदि से लीपकर पवित्र किया हुआ स्थान आदि जो पहले (३।२४५ में) कहे हैं वे सब, हविष्य (यज्ञ, हवन, देवश्राद्ध आदि देवकार्य) की सम्पत्तियाँ हैं ।।२४६।।

हविष्य पदार्थ—

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ।।२४७।।

भाष्य—'**मुनि**र्वानप्रस्थः, तस्या**न्नानि** आरण्यानि नीवारादीनि । ततच्च प्रदर्शनं ग्राम्याणामपि व्रीह्यादीनाम् । तथाऽर्वाचीने श्लोके सर्वग्रहणम् । उत्तरत्र च "हविर्यच्चिररात्रायेति" प्रक्रम्य "तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरिति" ग्राम्याणामप्यनुक्रमणम् ।

---

१. 'प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्' इति स्मृत्यन्तरोक्तेः ।

पयः क्षीरम्। तद्विकारा अपि दध्यादयो गृह्यन्ते, स्मृतिसमाचाराभ्याम्।

सोम ओषधिविशेषः।

अनुपस्कृतमधिकृतप्रतिषिद्धम्। सूनामांसाद्यनुपस्कृतम्।

अक्षारलवणम्। अत्र संदिह्यते—"किं द्वन्द्वगर्भो नञ्समासः, उत नञ्समास एव। अक्षारलवणम्, उत लवणविशेषः 'क्षारलवणं' ततोऽन्यदभ्यनुज्ञायते"। लवणमेव भवितुमर्हम्। द्वन्द्वगर्भे हि वृत्तिद्वयमाश्रयणीयम्। प्रतिपदं च नञः सम्बन्धभेदः। तद्गुरु भवति।

प्रकृत्या हविरनाश्रिते विशेषे एतद्धविर्ज्ञेयम्। 'हविष्येण वर्तते', 'हविष्यात्प्रातराशाद्भुङ्क्ते' इत्यादि सामान्यचोदनासु तद्धविष्यं ज्ञेयम्॥२४७॥

हिन्दी—मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनी आदि), दूध, सोम (लता का रस), दुर्गन्धि तथा विकार से रहित मांस और अकृत्रिम (सैन्धवादि) लवण ये सब (मनु के द्वारा) स्वभावतः 'हविष्य' कहे जाते हैं॥२४७॥

ब्राह्मणों को भेजकर पितरों से वर याचना—

विसर्ज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्॥२४८॥

भाष्य—'प्रासङ्गिकः पूर्वश्लोकः। इदानीं प्रकृतशेषमेवाह।

विसर्ज्यानुज्ञाय यथासुखविहारे। **ब्राह्मणां**स्तान्प्रभुक्तवतः। अनन्तरं **दक्षिणां दिशमी**क्षमाण इमान् वरानभिलषितार्थान्पितॄ**न्याचेत** स्वपितॄन्प्रार्थयेत्। स्वपितॄन् ध्यायन् 'युष्मासु प्रसन्नेष्विदं नः सम्पद्यता'मित्येवं याचितव्यम्॥२४८॥

हिन्दी—श्राद्धकर्त्ता उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणों को भेजकर (३।२४१ की विधि से भोजनोपरान्त विदाकर) एकाग्रचित्त, मौनी तथा पवित्र होकर दक्षिण दिशा की ओर मुख करके पितरों से इन (आगे के श्लोक में कहे जाने वाले) वरों को माँगे॥२४८॥

के पुनस्ते वरा याचितव्या इत्यत आह—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो माव्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति॥२४९॥

भाष्य—'मन्त्रवदयं श्लोकः पठितव्यः॥२४९॥

हिन्दी—हमारे कुल में दानी पुरुष, वेद (वेदों को पढ़ना, पढ़ाना, उनमें कथित ज्ञान तथा तदनुसार यज्ञानुष्ठानादि) और सन्तान (पुत्र, पौत्र आदि) की वृद्धि हो, हमारे कुल में (वेदविषयिणी) श्रद्धा नष्ट न होवे, दान करने योग्य (धन-धान्यादि) हमारे कुल में बहुत होवे॥२४९॥

[अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च न सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ।।२२।।]

[**हिन्दी**—हमारे कुल में अन्न बहुत हो, हम अतिथियों को प्राप्त करें, हमसे याचना करने वाले बहुत हों और हम किसी से याचना नहीं करें ॥२२॥]

[श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्यो द्विजाधमः ।
प्रयाति शूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ।।२३।।]

[**हिन्दी**—श्राद्धान्न को भोजन किया हुआ जो नीच ब्राह्मण उस दिन फिर दुबारा भोजन करता है, वह सूकर या कृमि (विष्ठादि में रहने वाले छोटे कीड़े) की योनि में उत्पन्न होता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥२३॥]

शेष पिण्ड गौ आदि को खिलाना—

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ।।२५०।।

भाष्य—'**तदनन्तरं** वरयाचनानन्तरं **पिण्डा**न्पितृभ्यो निरुप्तान् **गवादीन्प्राशयेत्**। **अग्नौ** प्रक्षेप एव प्राशनम्।

प्राययेदिति पाठान्तरम् ॥२५०॥

हिन्दी—इस प्रकार पिण्ड-दानकर उक्त (३।२४८-२४९) विधि से वरयाचना करने के बाद उन (श्राद्ध के) पिण्डों को गौ, ब्राह्मण या बकरी को खिला दे, अथवा आग या पानी में छोड़ दे ॥२५०॥

उक्त विषय में अन्याचार्यों का मत—

पिण्डनिर्वपणं केचित्परस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ।।२५१।।

भाष्य—'ब्राह्मणभोजनात् **परस्तात्**कृते ब्राह्मणभोजने केचित् हविः कुर्वन्ति ।

वयोभिः पक्षिभिः **खादयन्त्यन्ये**। अधिकेयं पूर्वस्मात्प्रतिपत्तिः ।

अनलोऽग्निः । एतत्पूर्वोक्तमेवानूदितम्।

उच्छिष्टसन्निधौ चैतत्परस्तात्पिण्डदानमिष्यते ॥२५१॥

हिन्दी—कोई आचार्य ब्राह्मण-भोजन के बाद ही पिण्ड का निर्वपण (प्रक्षेप करना अर्थात् फेंकना) करते (करने को कहते) हैं, कोई आचार्य पक्षियों को खिलवाते (खिलवाने के लिये कहते) हैं तथा कोई आचार्य आग या पानी में छोड़ते (छोड़ने के लिये कहते) हैं ॥२५१॥

पुत्रार्थिनी स्त्री को मध्यम पिण्ड का भोजन करना—

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ।। २५२।।

भाष्य—'आद्यन्तयोः पिण्डयोरेषा प्रतिपत्तिः । मध्यमं तु **तत**स्तेषां पिण्डानां यो मध्यमः तं **धर्मपत्नी** पुत्रार्थिनी **अद्यात्** । या न कामार्थमूढा ।

पतिरेव मया परिचरणीयो मनसाऽपि व्यभिचारो न कर्तव्य इति यस्या नियमः सा **पतिव्रता** पतिभक्ता ।

पितृपूजने श्राद्धादिकर्मणि **तत्परा** श्रद्धावती । प्रयत्नेन तदाराधनादौ प्रवर्तते । **सम्यगद्यादा**चमानादिविधिना नियमेन च ॥२५२॥

हिन्दी—पतिव्रता, सवर्ण (समान जातिवाली) प्रथम विवाहिता श्राद्धकार्य में श्रद्धायुक्त, पुत्र को चाहने वाली श्राद्धकर्त्ता की स्त्री उन पिण्डों में से मध्यम (बीच का अर्थात् पितामह-सम्बन्धी) पिण्ड को अच्छी तरह ('आधत्त पितरो गर्भम्' इत्यादि गृह्योक्त मन्त्र से) खा जावे ॥२५२॥

उक्त कर्म से आयुष्य आदि गुणों से युक्त पुत्र की उत्पत्ति—

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ।। २५३।।

भाष्य—'भक्षयित्वा तु तं पिण्डं **सुतं** पुत्रं **सूते** जनयति ।

मेधा ग्रहणशक्तिः तया समन्वितं युक्तम् ।

'सत्त्वं' नाम गुणः साङ्ख्येषु प्रसिद्धः धैर्योत्साहादिद्योत्यस्तद्युक्तम् ॥२५३॥

हिन्दी—(उस पितामह सम्बन्धी पिण्ड को खाने से उक्त श्राद्धकर्त्ता की स्त्री) आयुष्मान्, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान् सन्तानवान् (पुत्र-पौत्रादि सन्तानों से युक्त होने वाला), सात्त्विक तथा धर्मात्मा पुत्र को उत्पन्न करती है ॥२५३॥

बाद में जाति वालों को भोजन कराना—

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ।। २५४।।

भाष्य—'पिण्डेषु प्रतिपादितेषु तौ हस्तौ प्रक्षालयेत् । ततः आचमनविधिं कुर्यात् ।

ज्ञातीन् प्रैति गच्छति प्राप्नोतीति **ज्ञातिप्रायं** कुर्यात् । ज्ञातिभ्यो दद्यात् । तेभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवेभ्योऽपि दद्यात् । 'ज्ञातयः' सगोत्राः, मातृश्वशुरपक्षा 'बान्धवाः' ।

अत्र चोद्यते—"यदुक्तं 'यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादिति' । यदि तैरुक्तं 'गृहानस्मदीया-

नेतदन्नं प्राप्यतामिति', तदा वैश्वदेवहोमादीनां का गतिः'' ।

पाकान्तरं कर्तव्यम् । अथवाऽदृष्टार्थमेवान्नशेषनिवेदनं नित्यवदाम्नायते । शेषमन्नमित्युक्ते इष्टेभ्य इति ब्रूयुरिति, पाक्षिकं चैतत्स्याद्यदि ते गृह्णीयुः ॥२५४॥

हिन्दी—(फिर दोनों) हाथ धोकर तथा आचमन कर जातिवालों को भोजन करावे उन्हें सत्कारपूर्वक अन्न देकर बान्धव (माता-पिता के पक्ष वालों) को (सत्कार-सहित) भोजन करावे ॥२५४॥

बचे हुए अन्न से गृह बलि देना—

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ।।२५५।।

भाष्य—'भुञ्जानानां यत्किञ्चिद्भुज्यधिकरणपात्रसंलग्नं भूमिपतितं च तन्न तस्माद्देशादवमार्ष्टव्यं, यावद्ब्राह्मणा न निष्क्रान्ताः ।

ततो **गृहबलिं** निष्पन्ने श्राद्धकर्मण्यनन्तरं वैश्वदेवहोमान्वाहिकातिथ्यादिभोजनं कर्तव्यम् । बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् ।

अन्ये तु ''भूतयज्ञ एव बलिशब्देन प्रसिद्धतरः । ततश्चाग्नौ होमो न प्राग्विरुध्यत'' इत्याहुः । ''न चैतद्वाच्यं—'पित्र्ये कर्मणि प्रारब्धे कथं कर्मान्तरस्य तदन्तःकरणम् । यथैव पूर्वेद्युर्निमन्त्रितेषु ब्राह्मणेषु सायंप्रातर्होमकरणं द्व्यहकल्पे श्राद्धस्याविरुद्धमेवं वैश्वदेवहोमोऽप्यौपसदाग्निकः । तेन भूतयज्ञात्पराञ्चः पदार्था उत्कृष्यन्ते, नार्वाञ्चः'' ।

अत्रोच्यते । यदि प्रागग्नौ वैश्वदेवहोमः क्रियते ततः श्राद्धानन्तरं बलिहरणं, तथा सति देवयज्ञभूतयज्ञौ व्यवधीयेताम् । ततश्च क्रमोपरोधः । न च वैश्वदेवस्य कालबाधः क्रियते । पितृश्राद्धकालहानेः । तस्मात्सर्वं महायज्ञानुष्ठानं श्राद्धादौत्तरकालिकम् ॥२५५॥

हिन्दी—जब तक भोजन करने वाले निमन्त्रित ब्राह्मण नहीं चले जायँ, तब तक उनका उच्छिष्ट (जूठा) अन्न पड़ा रहने दे (उसे उठवाकर स्थान को झाड़ू आदि से साफ न करावे)। इसके बाद धर्म में तत्पर श्राद्धकर्त्ता गृहबलि (वैश्वेदेवबलि, हवनकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि-भोजन आदि) करे ॥२५५॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।।२५६।।

भाष्य—'**चिररात्र**शब्दो दीर्घकालवचनः ।

यच्चानन्त्याय कल्पते दीर्घकालतृप्तये जायते तदुभयं ब्रवीमीति प्रणिधानार्थमुच्यते । **कल्पते** । प्रेत इत्यध्याहार्यम् ॥२५६॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि)—जो हविष्य अर्थात् कव्य पितरों के लिए विधिपूर्वक दिया गया चिरकाल तक तथा अनन्त काल तक (पितरों को) तृप्ति के लिए होता है, उसे मैं सम्पूर्ण रूप से कहता हूँ ॥२५६॥

पितरों के तृप्तिकर पदार्थ—

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ।।२५७।।

भाष्य—'तिलादिग्रहणं नेतरधान्यपरिसंख्यानार्थमपि तूक्तानां फलविशेषप्रदर्शनार्थम् । एतैर्विधवद् दत्तैरपि मासं प्रीयन्ते ।

विधिवत्पितरो नृणामित्याद्यनुवादपदानि वृत्तपूरणार्थानि ॥२५७॥

हिन्दी—(काला) तिल, धान्य, यव, (काला) उड़द[१], पानी, मूल (कन्द) और फल, इनको विधिपूर्वक देने से एक महीने तक मनुष्यों के पितर लोग तृप्त होते हैं ॥२५७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ।।२५८।।

भाष्य—'**उरभ्रा** मेषाः ।

शकुनय आरण्याः कुक्कुटाद्याः ।

मत्स्याः पाठीनाद्याः ॥२५८॥

हिन्दी—(पोठिया आदि) मछली के माँस से दो महीनों तक, मृग के माँस से तीन महीनों तक, भेंड़े के माँस से चार महीनों तक, (द्विजातियों के भक्ष्य में गृहीत पाँच) पक्षियों के माँस से पाँच महीनों तक (मनुष्यों के पितर तृप्त रहते हैं) ॥२५८॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवैव तु ।।२५९।।

भाष्य—'रुरुपृषतैणा मृगजातिविशेषवचनाः ।

'रौरवेण' 'पार्षतेन' 'ऐणेयेति' विकारे तद्धितः ॥२५९॥

हिन्दी—बकरे के माँस से छः महीनों तक; पृषत् नामक मृग के माँस से सात महीनों तक एण नामक मृग के माँस से आठ महीनों तक, रुरु नामक मृग के माँस से नौ महीनों तक (मनुष्यों के पितरा लोग तृप्त रहते हैं) ॥२५९॥

[अष्टावेणस्य मांसेनपर्षतेनाथ सप्त वै ।
अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवैव तु ।।२४।।]

---

१. तदुक्तं वायुपुराणे—'कृष्ण-माषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः' । इति

[**हिन्दी**—एण नामक मृग के मांस से आठ महीनों तक, पृषत् नामक मृग के मांस से सात महीनों तक, ऐणय नामक मृग के मांस से आठ महीनों तक और रुरु नामक मृग के मांस से नौ महीनों तक (मनुष्यों के पितर तृप्त रहते हैं) ॥२४॥]

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ।।२६०।।

भाष्य—'वराहश्चारण्यसूकरः ॥२६०॥

हिन्दी—जङ्गली सूअर तथा भैंसे के मांस से दश महीनों तक (मनुष्यों के पितर) तृप्त रहते हैं, खरगोश और कछुवे के मांस से ग्यारह महीनों तक (मनुष्यों के पितर तृप्त रहते हैं) ॥२६०॥

संवत्सरे तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ।।२६१।।

भाष्य—'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धस्य बलीयस्त्वाद्'गव्येन पयसेति' सम्बन्धः, न मांसेन प्राकरणिकेन । अन्ये तु चशब्दं समुच्यार्थीयं पठित्वा व्याख्यानयन्ति— 'मासेन गव्येन पयसा पायसेन वा' ।

पयोविकारः **पायसं** दध्यादि । पयःसंस्कृत ओदनः प्रसिद्धः ।

वार्ध्रीणसो जरच्छागः । एवं हि निगमेषु पठ्यते—

"त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम् ।
वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि" ॥

पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च, स त्रिभिः पिबतीति 'त्रिपिबः'।

यत्तु शङ्खेन गोमांसभक्षणे प्रायश्चित्तमाम्नातं तन्मधुपर्काष्टकाश्राद्धेभ्योऽन्यत्र ज्ञेयम् ॥२६१॥

हिन्दी—गौ के दूध तथा गौ के दूध से बने पदार्थ (खीर आदि) से एक वर्ष तक और वार्ध्रीणस बकरे (इसका लक्षण क्षेपक १५ में देखें) के मांस से बारह वर्षों तक (पितरों की) तृप्ति होती है ॥२६१॥

[त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणमजापूर्वानुगामिनम् ।
तं वै वार्ध्रीणसं विद्यात् वृद्धं शुक्लमजापतिम् ।।२५।।]

[**हिन्दी**—पानी पीते समय जिसके दोनों कान (लम्बे होने के कारण) और जीभ जल का स्पर्श करे, जो इन्द्रिय से क्षीण (नष्टशक्ति) हो, जो श्वेत रंग का हो उन बूढ़े बकरे को 'वार्ध्रीणस' कहते हैं ॥२५॥]

कालशाकं महाशल्काः खङ्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ।।२६२।।

भाष्य—'**कालशाकं** विशिष्टशाकं प्रसिद्धम् । कृष्णे वास्तुकभेदे वा ।

महाशल्काः शल्यका उच्यन्ते । अन्ये तु मत्स्यान् सशल्कानाहुः ।

खड्गो गण्डकः ।

लोहः कृष्णश्छागः, सर्वरक्तश्च । तथा पुराणम् "कृष्णश्छागस्तथा रक्त आनन्त्यायैव कल्पते" । लोहशब्दो वर्णलक्षणया तद्वर्णयुक्ते छागे वर्तते । अयःकृष्णं, ताम्रं लोहितं, उभयत्रापि लोहशब्दः प्रयुज्यते । यद्यपि चैष वर्णो मेषादिष्वपि सम्भवति तथापि स्मृत्यन्तरप्रसिद्धया छाग एव गृह्यत इति व्याचक्षते ।

अन्ये तु शकुनिर्लोहपृष्ठः नामैकदेशेन, देवदत्तो दत्त इतिवत्, प्रतिपाद्यत इत्याहुः । समाचारश्चोभयत्राप्यन्वेष्यः ।

मधु माक्षिकम् ।

सर्वत्रात्र प्रीत्यतिशयोत्पत्तिर्विवक्षिता, न तु यथाश्रुत एव कालः । तथाहि द्वादशवर्षाण्यकरणं स्यात् । तत्र विरुध्यते "पित्र्यमा निधनात्कार्यमिति" ॥२६२॥

हिन्दी—कालशाक (एक प्रकार का शाक-विशेष), महाशल्क (कृष्णवर्ण बथुये का शाक या एक प्रकार की मछली[1]) गेड़ा, और लाल बकरे का[2] मांस, मधु तथा सब प्रकार के मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनों आदि) पितरों को अनन्त काल तक तृप्ति करने वाले होते हैं ॥२६२॥

मघादि नक्षत्र में मधुयुक्त वस्तु से श्राद्ध—

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ।।२६३।।

भाष्य—'**यत्किञ्चिदन्नं मधुना** संयुक्तम् । त्रयोदश्यां **वर्षासु च मघासु** चाधिकमिति । तदा च **तदक्षयमेव** । ऋतुनक्षत्रतिथीनां च समुच्चयः । आपस्तम्बवचनात्तु वर्षासु त्रयोदश्यष्टमीदशमीष्वपि । मघासु चान्तरेणाविवक्षा । एवं ह स्माह "मघासु चाधिकमिति" (आपस्तम्ब २।८।१९।२०) ॥२६३॥

हिन्दी—वर्षा ऋतु में मघानक्षत्र और (भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की) त्रयोदशी तिथि होने पर मधु से मिली हुई कई (अप्रसिद्ध) भी वस्तु दे, तो वह (पितरों की तृप्ति के लिए) अक्षय होता है ॥२६३॥

---

१. 'महाशल्काः सशल्का' इति मेधातिथिः । मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते, 'महाशल्कलिनो मत्स्याः' इति वचनात् इति (म०मु०)

२. 'छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्' इति पैठीनसिवचनात् इति । (म०मु०)

अपि नः स कुले भूयाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च।।२६४।।

भाष्य—'प्रकृतां त्रयोदशीं वर्षादिगुणयुक्तामधिकृत्येदमुच्यते।
एवं पितर आशासते।

अस्माकं कुले भूयात्स तादृशो जायतां उत्कृष्टगुणः यः प्रागुक्तायां त्रयोदश्याम-स्मभ्यं **दद्यात्पायसं मधुसर्पिः** संयुक्तम्। तथा **कुञ्जरस्य** हस्तिनः **प्राक्छाये** प्राच्यां दिशि गतायां छायायां—अपराह्णेतरे काल इत्यर्थः। शेषेऽहनि हस्तिनो दीर्घा प्राचीक्षाया भवति।

'प्राक्च्छायां' इति वा पाठः। छायायां हि ब्राह्मणा भोज्यन्ते। अग्रिमं कर्म तु यद्यल्पत्वाच्छयायां न सम्भवति, तद्देशान्तरे तत्समीपे कर्तव्यम्। अङ्गत्वात्सति सम्भवे तत्सर्वाङ्गोपेतं प्रधानं हस्तिछायायामेव।

यत्तु व्याचक्षते—"ग्रहोपरागो हस्तिछायोच्यते। हस्ती वै भूत्वा स्वर्भानुरासुरिरादित्यं तमसाविध्यदिति"—तदयुक्तम्। तत्र हि गौणो हस्तिशब्दप्रयोगः। स्मृत्यन्तरे च पृथगेव हस्तिच्छाया ग्रहोपरागादाम्नाता "हस्तिछाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोरिति" ।।२६४।।

हिन्दी—(पितर लोग यह अभिलाषा करते हैं कि)—हमारे कुल में ऐसा कोई उत्पन्न हो, जो त्रयोदशी तिथि को प्राप्त कर मधु तथा घीसे मिली हुई खीर (दूध में पकाया चावल) को हाथी की छाया जब पूर्व दिशा की ओर जाने लगे तब अर्थात् अपराह्ण काल में (हमारे लिये) दे, अर्थात् मधु तथा घी से मिली हुई खीर से हमारा श्राद्ध करे।।२६४।।

विमर्श—यहाँ पर 'त्रयोदशी' शब्द से वर्षाऋतु तथा मघानक्षत्र से युक्त ही त्रयोदशी को समझना चाहिये और 'प्रौष्ठपद्यामतीतायां' इस शङ्खोक्त वचन के अनुसार इन दोनों वचनों (३।२६३-२६४) में भाद्रपद मास की कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को श्राद्ध करना चाहिये।[1] विष्णु के वचनानुसार तो वर्षा से कार्त्तिक मास तक श्राद्ध किया जा सकता है।[2]

---

१. 'मघायुक्ता त्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता। तथापि—
　　प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्।
　　प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन च'॥
इति शङ्खवचनाद्भाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते। इति (म०मु०)

२. यथाह विष्णुः—'अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः।
　　प्रावृट्कालेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः॥
　　मधुप्लुतेन यः श्राद्धं पायसेन समाचरेत्।
　　कार्त्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥' इति (म०नु०)

श्रद्धायुक्त विधिवत् श्राद्ध का अक्षयत्व—

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ।। २६५ ।।

भाष्य—**यद्यदि**ति वीप्सायां अप्रतिषिद्धं सर्वमन्नमनुजानाति ।

विधिवत् सम्यक्शब्दानुवादः ।

श्रद्धासमन्वित इत्येतदत्र विधीयते । श्रद्धया दातव्यम् ।

तथा दत्त**मनन्तमक्षयं भवति पितॄणां** परलोके । **अनन्तमिति** वा कालावधिनिषेधः ।

अक्षयमिति मात्रया व्ययाभावमाह । सर्वकालं भवति प्रभूतं च ॥२६५॥

हिन्दी—श्रद्धायुक्त मनुष्य विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से (शास्त्रोक्त) जो-जो अन्न देता है अर्थात् करता है, वह-वह परलोक में पितरों के लिए अक्षय (तृप्ति कारक) होता है ॥२६५॥

श्राद्ध में दशमी आदि तिथियों की श्रेष्ठता—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ।। २६६ ।।

भाष्य—दशम्यादीनां वचनात्फलातिशयोत्पत्तिः । अन्यास्वपि तु सत्यां श्रद्धायां कर्तव्यम् । चतुर्दश्यां तु निषेध एव ॥२६६॥

हिन्दी—कृष्णपक्ष में चतुर्दशी को छोड़कर शेष तिथियाँ (दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी और अमावस्या) श्राद्ध में जितनी श्रेष्ठ मानी गयी हैं, उतनी अन्य (प्रतिपद् से नवमी तक तथा चतुर्दशी) तिथियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं ॥२६६॥

युग्म और अयुग्म तिथ्यादि में श्राद्ध करने का फल—

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ।। २६७ ।।

भाष्य—युञ्जि दिनानि द्वितीयाचतुर्थ्यादीनि । ऋक्षं नक्षत्रम् भरण्यादीनि युञ्जि भवन्ति । प्रतिपत्तृतीयापञ्चमीनवम्यास्थियोऽयुज उच्यन्ते । द्वितीयाचतुर्थीषष्ठ्यष्टमीदशम्यो युजः । एवमेकादश्ययुक्प्रभृतौ नक्षत्रेष्वपि ।

सर्वान् कामान् । ते च कामा इतिहासपुराणयोर्भेदेनोपात्ताः । **पुष्कलां प्रजाम्** । धनविद्याबलपुरुषैः पुष्टा पुष्कलो ॥२६७॥

हिन्दी—सम (द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी, इत्यादि युग्म) तिथियों और सम (भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य इत्यादि युग्म) नक्षत्रों में श्राद्ध को करता हुआ द्विज सब मनोरथों को प्राप्त करता है; तथा विषम (प्रतिपद्, तृतीया, पञ्चमी आदि अयुग्म) तिथियाँ और विषम

(अश्वनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुनर्वसु आदि अयुग्म) नक्षत्रों में पितरों को पूजता (श्राद्ध द्वारा सन्तुष्ट करता) हुआ द्विज धनविद्यादि से परिपूर्ण पुत्र-पौत्रादि सन्तान को प्राप्त करता है ॥२६७॥

श्राद्ध में कृष्णपक्ष तथा अपराह्ण काल की श्रेष्ठता—

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ।।२६८।।

भाष्य—पूर्वपक्षः शुक्लपक्षः **अपरः** कृष्णपक्षः । चैत्रसिताद्या मासा इति । यथा **श्राद्धस्य** शुक्लपक्षात् कृष्णपक्षो **विशिष्यते** प्रकृष्टफलदो भवति यथा **पूर्वाह्णादपराह्णो** विशेषवचनात् । पूर्वाह्णेपि कदाचित्कर्तव्यमेवेति प्रतीयते । ननु च प्रसिद्धेन दृष्टान्तेन भवितव्यम् । न चापरपक्षस्य पूर्वपक्षाच्छ्राद्धं प्रति विशेष उक्तः ।

केचिदाहुः कृष्णपक्षे दशम्यादावित्येतस्मात्प्रतीयते । एवं तु ब्रूमः—'वचनानि त्वपूर्वत्वात्' (मी०सू० ३।१५।२१) इत्यनेन न्यायेनाप्रसिद्धस्य दृष्टान्ततास्तीति । विधिरपि दृष्टान्तवचनादेव शक्योऽवगन्तुम् ॥२६८॥

हिन्दी—जिस प्रकार (श्राद्ध में) कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष की अपेक्षा विशिष्ट होता है, उसी प्रकार पूर्वाह्ण की अपेक्षा अपराह्ण काल श्राद्ध के लिए विशिष्ट होता है॥२६८॥

विमर्श—ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त से चैत्रशुक्ल से वर्षारम्भ होने के कारण 'विशिष्यते' (विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ होता है) शब्द के कथन से 'पूर्वाह्ण' काल में भी श्राद्ध किया जा सकता है । अपराह्णकाल से यहाँ 'कुतप' संज्ञक समय का बोध होता है । दिन के सप्तम मुहूर्त (१४ घटी) के बाद नवम मुहूर्त (१८ घटी) के पहले (दोनों के मध्य की ४ घटीपरिमाण) मध्याह्न के समय-विशेष को या दिन के आठवें भाग में सूर्य के मन्द होते रहने पर समय विशेष को 'कुतप' जानना चाहिये; उसमें दिया हुआ (श्राद्धान्न आदि) पितरों को अक्षय[१] (तृप्तिकर) होता है ।

श्राद्ध में अपसव्य होना तथा कुशादि लेना—

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमा निधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ।।२६९।।

भाष्य—यत्किञ्चित्**पित्र्यं** तत्र कर्मण्ययं विधिः । पदार्थाः प्राग्व्याख्याताः । **अतन्द्रिणा** अनलसेन श्रद्धधानेनेति यावत् । **आ निधना**दामरणाद्, यावज्जीविकोयं विधिरित्यर्थः । **दर्भपाणिना** । तदुक्तं दर्भाः पवित्रमिति तद्ग्रथितशीर्षकं दर्भमयं

१. 'कुतप' शब्दव्याख्यामुपक्रमम्योक्तं क्षीरस्वामिना । तद्यथा—
'मुहूर्तात्सप्तमादूर्ध्वं मुहूर्तान्नवमादधः । स काल कुतपो ज्ञेय.......॥' इति । दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे । स कालः कुतपो ज्ञेयः पितृभ्यो दत्तमक्षयम् ॥ इति

पवित्रमुच्यते ॥२६९॥

हिन्दी—प्राचीनावीती (२।६३) निरालस अपसव्य होकर और हाथ में कुशा लेकर पितृतीर्थ (२।५९) से, समाप्ति होने तक (मेधातिथि के मत में मरने तक) पितृश्राद्ध करना चाहिये ॥२६९॥

रात्रि आदि में श्राद्ध का निषेध—

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ।।२७०।।

भाष्य—ननु चापराह्णविधानात्कुतो रात्र्यादिषु प्राप्तिः । अथ मतविशेषवचनेनान्यत्राप्यस्तीति ज्ञापितम् । सत्यम् । पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यत इति यदपेक्षं विशेषवचनं तत्रैवास्तीति सामान्यज्ञानं प्रवर्तते । तेन पूर्वाह्ण एव कदाचित्तस्यान्य उत्तरकाल इति केचिदाहुः । ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोरिति चन्द्रग्रहादिषु रात्र्यादावपि प्राप्तः, तन्निषेधार्थम् । अतश्च सन्ध्यायां चन्द्रसूर्ययोरुपरागेण रात्रौ चन्द्रग्रहणे प्रतिषेधाद् विधानाद्विकल्पः । अन्ये त्वाहुः मध्याह्नकालः पूर्वाह्णापराह्णाभ्यामन्यस्तत्राप्येतेन प्रतिषेधेन कर्तव्यमिति ज्ञाप्यते । **सूर्ये** चैव पूर्वाह्णकालत्वात्प्रथमोदिते सूर्ये प्रतिषेधः । **राक्षसीत्य**र्थवादः ॥२७०॥

हिन्दी—रात्रि में श्राद्ध नहीं करे; क्योंकि (मनु आदि) ने उसको (श्राद्ध के फल को नष्ट करने वाली होने से) 'राक्षसी' कहा है और दोनों सन्ध्याओं (प्रातः तथा सायं के सन्ध्याकाल में) तथा सूर्य के थोड़ी देर (तीन मुहूर्त या दिन का पाँचवाँ भाग[1]) पहले निकलने पर अर्थात् ६ घटी (२ घण्टा २४ मिनट) दिन चढ़ने तक श्राद्ध न करे॥२७०॥

[कुर्वन्प्रतिपदि श्राद्धं स्वरूपां लभते प्रजाम् ।
कन्यकाश्च द्वितीयायां, तृतीयायां तु वाजिनः ।।२६।।]

[**हिन्दी**—प्रतिपदा में श्राद्ध करने वाला सुन्दर या अपने समान सन्तान को प्राप्त करता है । द्वितीया में श्राद्ध करने वाला कन्या और तृतीया में श्राद्ध करने वाला घोड़ा (घोड़ा के समान) पुत्र प्राप्त करता है ॥२६॥]

[पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु, पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् ।
षष्ठ्यां दूतमवाप्नोति, सप्तम्यां लभते कृषिम् ।।२७।।]

[**हिन्दी**—चतुर्थी में श्राद्ध करने वाला छोटे पशुओं को, पञ्चमी में श्राद्ध करने वाला सुन्दर पुत्रों को, षष्ठी में श्राद्ध करने वाला दूत को और सप्तमी में श्राद्ध करने वाला कृषि (खेती) को प्राप्त करता है ॥२७॥]

१. यथोक्तं विष्णुपुराणे—
'रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तं गते रवौ ।
प्रातस्ततः स्मृतः कालो भागः सोऽह्नस्तु पञ्चमः' ॥ इति (म०मु०)

**[अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदो नरः ।
नवम्यां वै चैकशफान्, दशाम्यां द्विखुरान् बहून् ।।२८।।]**

[**हिन्दी**—अष्टमी में श्राद्ध करने वाला वाणिज्य (व्यापार) को प्राप्त करता है, नवमी में श्राद्ध करने वाला एक खुर वाले को, दशमी में श्राद्ध करने वाला दो खुरवाले बहुत पशुओं को प्राप्त करता है ॥२८॥]

**[एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ।
द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ।।२९।।]**

[**हिन्दी**—एकादशी में श्राद्ध करने वाला चाँदी तथा ब्रह्मतेज से युक्त पुत्रों को, द्वादशी में श्राद्ध करने वाला सोना, चाँदी तथा कुप्य (सोना-चाँदी से भिन्न द्रव्यकोष को) प्राप्त करता है ॥२९॥]

**[जातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां, चतुर्दश्यां तु कुप्रजाः ।
प्रीयन्ते पितरऽश्चास्य ये च शस्त्रहता रणे ।।३०।।]**

[**हिन्दी**—त्रयोदशी में श्राद्ध करने वाला जातियों में श्रेष्ठता को, चतुर्दशी में श्राद्ध करने वाला निन्दित सन्तानों को (इसी कारण से 'कृष्णपक्षे दशम्यादौ—' (३।२६६) वचन से चतुर्दशी में श्राद्ध करने का निषेध किया है) प्राप्त करता है। जिसके जो पितर युद्ध में शस्त्र से मारे गये हों, वे प्रसन्न होते हैं ॥३०॥]

**[पक्षाद्यादिषु निर्दिष्टान् विपुलान् मनसः प्रियान् ।
श्राद्धदः पञ्चदश्यां च सर्वान्कामान्समश्नुते ।।३१।।]**

[**हिन्दी**—पक्ष के आदि (पहला दिन अर्थात् प्रतिपद् आदि) तिथि में श्राद्ध करने वाला बतलाई गई, मन को प्रिय बहुत-सी वस्तुओं को प्राप्त करता है तथा पञ्चदशी (अमावस्या या पूर्णिमा) को श्राद्ध करने वाला सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है॥३१॥]

प्रतिमास श्राद्ध नहीं कर सकने पर—

**अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ।।२७१।।**

भाष्य—पूर्वोक्तेन **विधिना** इतिकर्तव्यताकलापेन पूर्वेद्युर्निमन्त्रणादिभिः संवत्सरस्य **त्रिःश्राद्धं** कुर्वीत । केषु मासेष्वित्यत आह **हेमन्तग्रीष्मवर्षासु** । मासानुमासिकमित्यस्य त्रिः संवत्सरविधिर्वैकल्पिकः ।

पाञ्चयाज्ञिकः पञ्चमहायज्ञमध्ये यः पठितः सोन्वहं कर्तव्यः । अस्य च प्राचीनावीत्यपसव्योदङ्मुखब्राह्मणभोजनमित्येतावत्येवेतिकर्तव्यता । एवमर्थमेव पुनरुपन्यासः । एवं त्रिःसंवत्सरविधिरनाहिताग्नेरित्येवं पूर्वे व्याचक्षते, प्रमाणं तु त एवं विदन्ति ॥२७१॥

हिन्दी—(कुर्यान्मासानुमासिकं—(३।१०२) वचन के अनुसार प्रतिमास श्राद्ध नहीं कर सकने पर) इस विधि से हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षाऋतुओं में वर्ष में तीन बार पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध करे तथा पञ्चमहायज्ञ (३।७०) प्रतिदिन करे ॥२७१॥

लौकिकाग्नि में श्राद्ध-सम्बन्धी हवन का निषेध—

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ।।२७२।।

भाष्य—पितृयज्ञाङ्गभूतो **होमः पैतृयज्ञिकः** स **लौकिके** स्मार्तेऽ**ग्नौ न विधीयते**। शास्त्रेण कर्तव्यतया न चोद्यते। तस्मात्त्रिः संवत्सरस्यानाहिताग्निना कर्तव्यम्। यद्यपि त्रिःकृतमपि भवत्येव कृतं लौकिकेग्नौ, तथापि संवत्सरापेक्षया अकृतमेव तद्भवति। प्रस्थभोजनो हि न्यूने भुक्तेऽभुक्त इति। अर्थवादतया पूर्वशेषमिदं पूर्वे व्याचक्षते। इदं त्वयुक्तम्। यदि लौकिकोग्निर्विवाहादावपरिगृहीतस्तस्मिञ्छ्राद्धाङ्गभूतो होमो न कर्तव्य इत्युच्यते। होमप्रतिषेधेन च तद्व्यतिरिक्तमन्यत्कर्म कर्तव्यमित्युक्तं भवति। इतरथा परिगृहीताग्नेरपि पार्वणश्राद्धाङ्गत्वेन विधानादनग्निकस्य श्राद्धानधिकार एव स्यात्। यथान्धस्याज्यावेक्षणाशक्त्या न दर्शपौर्णमासयोरधिकारः। अस्मिंस्तु सति साग्निकस्य होमवत् श्राद्धमनग्निकस्य तद्वर्जितमपि ज्ञापितं भवति। तथा चाग्न्यभाव इत्यस्यायमेव विषयः।

येपि व्याचक्षते पिण्डपितृयज्ञः पितृयज्ञोभिप्रेतः तत्र यो होमः स लौकिके स्मार्तेऽग्नौ नास्ति—तेपि न युक्तमाहुः। अस्त्वेवमनाहिताग्निर्नित्यत्वे श्रपयित्वा जुहुयादित्यादि। **न दर्शेन विना श्राद्धं** ग्रहोपरागादावाहिताग्निः प्रतिषेध इत्याहुः। एतत्तु समाचारविरुद्धम्।

अन्ये तु पठन्ति—न विना दर्श इत्यस्यानाहिताग्निना मासानुमासिकं कर्तव्यम्, नास्य त्रिःसंवत्सरविधिः। नैवायं पाठोस्तीत्यन्ये। कस्तर्ह्यस्यार्थः। दार्शात् श्राद्धादन्यदाहिताग्नेर्मघाश्राद्धादि न नियमेन भवतीति दार्शमेव तस्य नियतम्। अनाहिताग्नेस्तु हेमन्तादिविहितान्यपि नियतानीति ॥२७२॥

हिन्दी—लौकिक अग्नि में (अग्नेः सोमयमाभ्यां च—' (३।२०१) वचन से विहित) पितृश्राद्ध सम्बन्धी हवन करने का शास्त्रोक्त विधान नहीं है। (अग्नि के त्यागी द्विज 'अग्न्यभावे तु—' (३।१०२) वचन के अनुसार ब्राह्मणों के हाथ पर पितृश्राद्ध में हवन करे) और अग्निहोत्री अमावस्या के बिना (कृष्णपक्ष की दशमी आदि तिथियों में) पितृश्राद्ध न करे (किन्तु मृतकसम्बन्धी श्राद्ध का दिन निश्चित होने से कृष्णपक्ष में दूसरी तिथि में भी करे) ॥२७२॥

तर्पण का फल—

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ।। २७३।।

भाष्य—पाञ्चयाज्ञिकं यच्छ्राद्धं अहरहरित्युक्तं तस्य वैकल्पिकत्वमनेनोच्यते । उदकतर्पणं यत्क्रियते **स्नात्वा** तेनैव पितृयज्ञक्रियाफलं प्राप्नोति । यदुक्तमेकमप्याशयेदिति तस्य नास्ति नियमेन कर्तव्यता । उदकतर्पणमवश्यं कर्तव्यम् ॥२७३॥

हिन्दी—जो द्विजोत्तम स्नानकर जल से पितरों को तृप्त (पितृ-तर्पण) करता है, उसी से वह सम्पूर्ण पितृश्राद्ध कर्म के फल को प्राप्त करता है। (इस विधि को पञ्चमहायज्ञ के अभाव में जानना चाहिए) ॥२७३॥

पिता आदि वसु आदि देवताओं के स्वरूप—

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ।। २७४।।

भाष्य—पितृद्वेषादप्रवर्तमानस्य प्रवृत्त्यर्थमिदम् ।

त्रिस्थाना वस्वाद्या देवताः पितरोपि य एव पिण्डभाजः । अतो देवतात्वेनैते द्रष्टव्याः । **श्रुतिरेषा** श्रूयते एतद्वेदे । अतः **पुरातनी** नित्यत्वाद्वेदस्य ॥२७४॥

हिन्दी—(मनु आदि महर्षि) पिताओं को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य (सूर्य) कहते हैं; क्योंकि ऐसा सनातन वेदवचन है ॥२७४॥

विमर्श—पिता आदि को वसु आदि का स्वरूप होने से श्राद्ध में उनका ध्यान क्रमशः 'वसु, रुद्र तथा आदित्य' के रूप में करना चाहिये। इसी कारण 'जो इस प्रकार पिता आदि का यज्ञ करते हैं; उनपर वसु, रुद्र तथा आदित्य प्रसन्न होते हैं' ऐसा पैठीनसि[१] कहते हैं । मेधातिथि तथा गोविन्दराज के मत से पितरों में अश्रद्धा या नास्तिकता के कारण पितृश्राद्ध नहीं करने वालों को उसमें प्रवृत्त करने के लिए पितरों की प्रशंसा के लिए यह वचन है ।

विघस तथा अमृत को भोजन करना—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ।। २७५।।

भाष्य—आद्येन श्लोकपादेनातिथ्यादिभुक्तशिष्टस्यान्नस्य यद्भोजनं विहितं तदनूद्यते । माङ्गलिकतया मङ्गलावसथानि शास्त्राणि प्रथन्ते ।

पित्र्याद्दैवं कर्म शस्ततरम् । **यज्ञशेषम्** । अनेन ज्योतिष्टोमादि हविःशेषस्य भोजनं विघसस्य तुल्यतयोच्यते । उत्तरेणार्धश्लोकेन सौहार्दमेव तस्य वेदार्थव्याख्यानम् ।

कस्याञ्चिच्छाखायामाभ्यां शब्दाभ्यां विधानं दृष्टमतो व्यामोहं निवर्तयति । विघसमश्नतीति **विघसाशी** । अमृतं भोजनमस्येत्य**मृतभोजनः** । **भुक्तशेषं** भृत्यभुक्तशिष्टमिति द्रष्टव्यम् । **भुक्तशेष**मिति पाठसामर्थ्यादतिथ्यादिभुक्तमिति द्रष्टव्यम् । अन्ये तु प्रकृतत्वाच्छ्राद्धभुक्तशेषमिति द्रष्टव्यम् । तथा च स्मृत्यन्तरं भुञ्जीत पितृसेवितमिति । श्राद्धाङ्गं चैतद्भोजनं केचिदाहुः ।

अन्ये तु पुरुषार्थो भोजननियमोऽयमित्याहुः । वसून्वदन्तीत्यनेनैव श्राद्धप्रकरणस्यापवृक्तत्वात् । **यज्ञशेषं** यज्ञोपयुक्तद्रव्यशेषमिति द्रष्टव्यम् ॥२७५॥

हिन्दी—द्विज सर्वदा 'विघस' को भोजन करने वाला होवे या सर्वदा 'अमृत' को भोजन करने वाला होवे । ब्राह्मणों के भोजन से बचे हुए अन्न को 'विघस' तथा दर्शपौर्णमासादि में बचे हुए हविष्य को 'अमृत' कहते हैं ॥२७५॥

अध्याय का उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ।।२७६।।

भाष्य—पूर्वं हि व्यवहितस्य **पाञ्चयज्ञिक**मिति महायज्ञविधेरुपसंहारो माङ्गलिकतयैव । उत्तरेण श्लोकार्धेन वक्ष्यमाणाध्यायार्थैकदेशोपन्यासः । तौ चोक्तप्रयोजनौ । **द्विजातिमुख्या** ब्राह्मणास्तेषां **वृत्तयो** जीविकाः कर्माणि द्विजातीनां वा मुख्यवृत्तय इति । उत्तरत्रैव दर्शयिष्याम इति प्रसिद्धम् ॥२७६॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये तृतीयोध्यायः ।।३।।

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि)—इस पञ्चमहायज्ञ सम्बन्धी सब विधि को (मैंने) तुम लोगों से कहा, (अब अगले अर्थात् चौथे अध्याय में) ब्राह्मणों की वृत्ति के विधान को (तुम लोग) सुनो ॥२७६॥

विमर्श—यद्यपि इस विधान में पार्वण श्राद्ध का प्रकरण आया है, किन्तु पञ्चमहायज्ञ की मुख्यता बतलाने के उद्देश्य से इस श्लोक में उसी का उल्लेख किया है । मेधातिथि तथा गोविन्दराज का कहना है कि 'पञ्चमहायज्ञ का उल्लेख मङ्गल के लिए भृगु ने किया है'—

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् पञ्चयज्ञादिवर्णनम् ।
विश्वनाथकृपादृष्ट्या तृतीये पूर्णतामगात् ।।३।।

---

१. अतएव पैठीनसिः—'य एवं विद्वान् पितॄन् यजते, वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रसन्ना भवन्ति' इति (म०मु०)।

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः।।

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में निवास—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।।१।।

भाष्य—संक्षेपेणातिक्रान्तस्याध्यायद्वयस्यार्थं कथयत्यनुस्मरणाय । गार्हस्थ्यधर्मस्यायं वृत्तिविधिरिति द्वितीयं श्लोकप्रयोजनम् ।

अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागव्यवस्थाविधानमाश्रमिणामनुपपन्नमतः श्लोकोऽयं विहिताश्रमकालानुवादार्थः । यद्यपि च "शतायुर्वै पुरुष" इत्येतदपेक्षया कथंचिदुपपद्येतापि, तथापि स्वप्रकरणे 'ग्रहणान्तिकमिति' अवध्यन्तरस्य ब्रह्मचर्यविहितत्वात्, "गृहस्थस्तु यदा पश्येत्" इति गार्हस्थ्येऽपि कालान्तरप्रतिपत्तेरनुवादतैवानुमीयते ।

चतुर्थमाद्यमायुषो भागम् । जन्मापेक्षमाद्यत्वम् ।

गुरौ उषित्वा ब्रह्मचर्यं कृत्वा ततो **द्वितीयं** चतुर्थमायुषो भागं कृतविवाहो **गृहे वसेत्** । गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥१॥ तत्र वसन्—

हिन्दी—द्विज अपनी आयु के प्रथम चतुर्थांश भाग में गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में रहकर द्वितीय चतुर्थांश भाग में गृहस्थाश्रम में रहे ॥१॥

विमर्श— यद्यपि प्राणिमात्र को आयु का वास्तविक ज्ञान नहीं होने से उसके चतुर्थांश का भी निर्णय करना असम्भव है, तथापि आश्रम के समुच्चय-काल का आश्रयकर्ता द्विज जन्मादि की अपेक्षा यथाशक्ति ब्रह्मचर्यपालन करके गृहस्थाश्रम में भी यथाशक्ति अवस्था का द्वितीय भाग बितावे । "शतायुर्वै पुरुषः" (पुरुष सौ वर्ष की आयु वाला है) इस श्रुति-वचन के अनुसार यद्यपि उसका चतुर्थांश पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन का विधान प्राप्त होता है, किन्तु "षड्त्रिंशताब्दिकं चर्यं"— (२।१) मनुवचन का विरोध होने से वैसा मानना असंगत है ।

'शिलोञ्छ' आदि वृत्तियों से जीवन—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ।।२।।

'देहि देहीति' याच्यमानस्य यः परस्य चित्तविकारः खेदात्मको जायते स 'द्रोहो'-ऽभिप्रेतः, न पुनर्हिंसैव। तस्याः सर्वसामान्येनैव प्रतिषेधात्।

अल्पद्रोहेणेति। याञ्चया विना यदि न वर्त्त्यते तदा स्वल्पं याचितव्यम्, एषोऽ'ल्पद्रोहः'।

या वृत्तिर्जीवनोपायः, कृषिसेवादि। यस्यां वृत्तौ परस्य पीडा न भवति सा आश्रयितव्या।

सामान्योपदेशोऽयम्।

समास्थाय आश्रित्य जीवेत्।

आपदि दशमे विधिर्भविष्यति।

अस्माच्चोपदेशाद्वक्ष्यमाणाभ्य अन्यापि वृत्तिर्भवतीति गम्यते। अन्यथा वक्ष्यमाण-विशेषनिष्ठत्वे सामान्यस्योपदेशस्यानर्थक्यमेव स्यात्। तेन च याजनाध्यापने कुसीदम् अमृतादिमध्ये अपठितमपि लभ्यते।

अल्पीयसी या उञ्छवृत्तिर्गृहीता असौ हि 'अल्पद्रोहः' तथा च गौतमः (अ० १० सू०, ५,६) ''कृषिवाणिज्ये चास्वयं कृते। कुसीदं च''।

जीवनमात्रोऽयं विधिर्धनसञ्चयस्तु वक्ष्यमाणैरेव नियतैः कर्मभिः ॥२॥

हिन्दी—ब्राह्मण विपत्ति में नहीं रहने पर जीवों को बिना पीड़ित किये (शिलोञ्छ ४।५ आदि वृत्तियों से) अथवा थोड़ा पीड़ित कर (भिक्षा आदि) जो वृत्ति है, उसका आश्रयकर जीवे (जीवन-यात्रा करे) ॥२॥

विमर्श— स्त्री, भृत्य आदि से युक्त पञ्चमहायज्ञानुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को 'शिलोञ्छ' वृत्ति के द्वारा जीवन-निर्वाह कठिन होने पर भिक्षादिवृत्ति के द्वारा जीवन-निर्वाह करना चाहिए, आपत्ति काल के लिए तो दसवें अध्याय में विधि कहेंगे। यह सामान्य वचन यज्ञ कराने, पढ़ाने और शुद्ध दान लेने के संग्रहार्थ है। आगे कहे जाने वाले केवल 'ऋतु-अमृत' (४-४) आदि के सेवन में तो संकुचित स्वारस्य की क्षति, अनधिकारिता और यज्ञ कराने आदि का वृत्तिप्रकरण में निवेश नहीं होगा।

उचित धनसंग्रह करना—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥३॥

भाष्य—पूर्वेणान्वाहिकजीवनविधावुपाय उक्तोऽनेन धनसञ्चये नियम उपदि-श्यते। **स्वैः कर्मभिः धनसञ्चयं कुर्यात्**।

तानि च कर्माण्युत्तरत्र वक्ष्यन्ते।

सञ्चयप्रयोजनमाह । **यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्** । न भोगाय धनसञ्चयक्लेशः कर्तव्यः, किं तर्हि **यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्** । आत्मकुटुम्बस्थितिः 'यात्रा', तत्परिमाणं 'यात्रामात्रं', तस्य 'प्रसिद्धिः' निष्पत्तिः, तदर्थस्तत्प्रयोजनम् ।

नित्यकर्मनिवृत्तिरात्मस्थितावेवान्तर्भूतानि तानि ह्यकुर्वत न आत्मस्थितिः । आह च (अ. ३ श्लो. ६२) "न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति" । अथवा सत्यपि शास्त्रीयत्वे यत्र लोको गर्हते तद्वर्ज्यमेव । यथा नरस्य महाकुलीनस्य भुक्तविभवस्य निकृष्टकुलात्प्राप्तश्रीकात् समानजातीयादपि प्रतिग्रहादिना केनचिदुपायेन जीवनम् ।

अक्लेशेन शरीरस्य । सेवावाणिज्ये महाक्लेशे, दूराध्वगमनादिना । तादृशे न कर्तव्ये ।

सञ्चयो राशीकृतपरिरक्षणम् ॥३॥

हिन्दी—(अपने तथा कुटुम्ब के) पालन-पोषण मात्र के लिए अपने अनिन्दित कर्मों से शारीरिक कष्ट न उठाते हुए धनसञ्चय करे ॥३॥

ऋत, अमृत आदि से जीवन—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥

भाष्य—तानीदानीं कर्माणि नामतस्तावदाह । नाम्नैव केषाञ्चित् स्तुतिः प्रतीयते । प्रयोजनं च प्रशस्ताभावे निन्दितेषु प्रवृत्तिः ।

तत्र 'मृतप्रमृते' अत्यन्तनिन्दिते । ततोऽपि सत्यानृतम् । यत आह 'तेनैव वा जीवितव्यम्' इति । अपिशब्द अरुचिसूचनार्थः ॥४॥

नामतो निर्दिश्य स्वरूपतो व्याचष्टे ।

हिन्दी—(अगले श्लोक में कहे जाने वाले) 'ऋत, अमृत' मृत या प्रमृत अथवा सत्य तथा अमृत' नाम की वृत्तियों से जीवन-यात्रा करे; किन्तु सेवावृत्ति से (आपत्ति-रहित होते हुए कभी भी) जीवन यात्रा न करे ॥४॥

'ऋत' आदि के लक्षण—

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥

भाष्य—उञ्छश्च शिलश्च **उञ्छशिलम्** । **तदृतं ज्ञेयम्** । सत्यव्रततुल्यम् । क्षेत्राल्लूनस्य व्रीह्यादेर्गृहं खलं वा नीयमानस्य यः पुलाकः पतितः स्वामिनोऽनपेक्षित-स्तस्योच्चयनमुञ्छः, 'तत्ऋतम्' । न तत्रेयं बुद्धिराधेया 'परकीयमेतन्न गृह्णामीति' ।

एवं च खलात्परिभ्रष्टस्य लूनस्यालूनस्य वाऽनेकप्ररोहवतो ग्रहणं 'शिलः'।

अमृतं स्यादयाचितम्। अत्यन्तप्रीतिकरत्वात्।

मृतमिव **याचितं मैक्ष**मिति। 'याचित'मित्येव सिद्धे 'भैक्ष'शब्देन सामूहिकतद्धितान्तेन बहवो याचितव्या इत्युच्यते, नैकः कदर्थनीयः। तदुक्तम् "अल्पद्रोहेणेति"। प्रायेण च मैक्षशब्दस्य 'भैक्ष्यस्यात्मविशुद्ध्यर्थं' मित्येवमादौ सिद्धान्नविषये प्रयोगसिद्धेः, सामान्यविषयार्थं 'याचित'शब्दोपादानम्। तेन नेदं सिद्धान्नभक्षणमेव, अग्निमतः पराग्निपक्वेन वैश्वदेवादिविरोधात्।

न चेदं भोजनार्थमेव भिक्षणम्, किंतर्हि स्थित्यर्थम्। स्थितिश्च न भोजनमात्रसाध्यं गृहस्थस्य, किंतर्हि यावत्किञ्चिद् गृहोपयोगि। अत एवोदकपरिधानाद्यपिभिक्षितव्यम्, गृहोपकरणं च स्थाल्यपिधानादि। ब्रह्मचारिणस्तु भोजनकाले विधिना पाकासम्भवान्नियमतः सिद्धान्नविषयं भैक्ष्यं प्रतीयते।

भिक्षाशब्दश्चायं भिक्ष्यमाणद्रव्यगतं परिमाणमप्याचष्टे। भिक्षामात्रं न ददाति याचितः। प्रसृतिमात्रं भिक्षेति। तेन गोहिरण्यादिभिक्षणं न प्रसृतशब्देनाभ्यनुज्ञायते। प्रतिग्रहाद्यर्था याञ्चेति।

"ननु भैक्षग्रहणमपि प्रतिग्रह एव"।

नैव ग्रहणमात्रं प्रतिग्रहः। विशिष्ट एव स्वीकारे प्रतिपूर्वो गृह्णातिर्वर्तते। तेन न स्वीकारमात्रे। "प्रतिग्रहसमर्थोऽपि" (अ० ४ श्लो० १८६) "प्रतिग्रह; प्रत्यवरः" इति (अ० १० श्लो० १०९) अदृष्टबुद्ध्या दीयमानं मन्त्रपूर्वं गृह्णतः 'प्रतिग्रहो' भवति। न च भैक्षे 'देवस्य त्वादि' मन्त्रोच्चारणमस्ति। न च प्रीत्यादिना दानग्रहणे। न च तत्र प्रतिग्रहव्यवहारः।

अतः प्रतिग्रहादर्थान्तरमेवेदमृतामृतशब्दाभिधेयम्।

अतश्च नात्र याच्यमानस्य अयाच्यमानस्य वा महासत्त्वतया उपकारान्तरापेक्षा जायते। येन वा ददतो जात्याद्यपेक्षा युक्तिमती। प्रतिग्राह्यस्यैव करुणया च प्रदीयमानं गृह्णतो न प्रतिग्रहः।

"ननु च करुणया दानमदृष्टायैव"।

नेति ब्रूमः। न च तत्र दानधर्मः। **किंतर्हि करुणाभ्यासात्परोपकाराद्वा**। तत्र यथा हितोपदेशादावनुग्राह्यस्य विधिर्जात्यादि नापेक्षते तद्वत्करुणया दाने। तथा च शिष्टा नैवंविधे दाने 'वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणाये'त्येतदनुरुध्यन्ते। अत एवाब्राह्मणा अपि दैन्यमापन्नाः परेण दत्तं गृह्णाना न ब्राह्मणवृत्तिं प्रतिग्रहमाश्रिता भवन्ति।

स्थितमेतत्। प्रतिग्रहे यद्यपि याचितायाचितपूर्वकत्वं विद्यते तथापि न तेनैव

मृतामृतशब्दार्थः । विषयान्तरस्य दर्शितत्वात् । याजनाध्यापनयोरप्येतद्रूपमस्ति । कश्चिद्याचित्वा याजकत्वं लभते, कश्चित्प्रार्थ्यते । एवमध्यापने योज्यम् ।

अतो यावता काचिद्वृत्तिर्याञ्चया सा दैन्यावहत्वात् मरणमिवेति मृतशब्देनाभिधीयते ।

कर्षणं तु मरणादपि पापीयः । लाङ्गलाकर्षणं हि भारवाहत्वं तच्च खलजनपदकर्म॥५॥

हिन्दी—'उञ्छ' और शिल' को ''ऋत'' बिना माँगे जो मिल जाय उसे ''अमृत'', माँगने पर जो मिले उसे ''मृत'' और कृषि (खेती) से प्राप्त होने वाले धन को ''प्रमृत'' जानना चाहिए ॥५॥

विमर्श— किसान के द्वारा खेत में बोये हुए अन्न को काटकर ले जाने के बाद उनसे गिरे हुए एक-एक दाने को दोनों अंगुलियों से चुनने (उठाने) को उञ्छ तथा उक्त खेत[१] में एक-एक बाल (धान्य के गुच्छों) को चुँगने को 'शिल'[२] कहते हैं, इन दोनों वृत्तियों को सत्य के समान फलप्रद होने से 'ऋत्' कहते हैं। बिना माँगी हुई वस्तु सुखपूर्वक प्राप्त होने से अमृततुल्य होने के कारण 'अमृत' कही गयी है। किसी वस्तु के माँगने में मृत्यु के समान पीड़ा होने से वह 'मृत' कही गयी है। भिक्षा में प्राप्त पके हुए अन्न से हवन नहीं किया जा सकता। अत एव अग्निहोत्री गृहस्थ को भिक्षारूप में प्राप्त बिना पकाया (सिद्ध किया— रांधा) हुआ चावल आदि समझना चाहिए। तथा खेती में अनेक जीवों की हिंसा होने के कारण उसे 'प्रमृत' (अधिक दुःखप्रद मृत्युतुल्य) कहा गया है।

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।।६।।

भाष्य—नैवं मन्तव्यं सत्यानृतोभयरूपता शास्त्रेण वाणिज्येऽभ्यनुज्ञायत इति । किंतर्हि वस्तुस्वभाववादोऽयम् । लोभग्रहणमेवानृतम् ।

जीव्यत इतिवचनाद्वाणिज्या जीवनायैव, न धनसञ्चयाय ।

सेवा श्ववृत्तिः यथा हि श्वा प्रेर्यते, कृच्छ्रेण च लभते, तथा च सेवकः । 'सेवा' प्रेष्यत्वम् । यत्रकुत्रचित्कर्मणि प्रेष्यते, उचितेऽनुचिते वा, स सेवकः । अत उत्कृष्टेनायुधकर्मादिना ये राजानमुपसर्पन्ति ते न श्ववृत्तयः ॥६॥

---

१. 'यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकं कणं समुच्चयित्वा'' इति बोधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः, मंजर्यात्मकानेकधान्योञ्चयनं 'शिलम्' इति (म०मु०)।

२. तदुक्तं हेमचन्द्रेण— उञ्छो धान्यकणादानं कणिशाद्यर्ज्जनं 'शिलम्' इति (अभि०मि०३।५१९)।

हिन्दी—व्यापार को 'सत्यानृत' कहा गया है, उससे (व्याज से भी जीवन-निर्वाह) किया जाता है। सेवा 'श्ववृत्ति' (कुत्ते की वृत्ति) कही गयी है, इस कारण उस वृत्ति का त्याग कर दे ॥६॥

विमर्श—व्यापार में प्राय: सच्चे-झूठे का व्यवहार होने से उसे ''सत्यानृत'' कहते हैं, 'तेन चैवापि जीव्यते' वाक्य में 'च, अपि' शब्दों के सामर्थ्य से कुसीद (व्याज) का ग्रहण होता है। 'अनापदि' (आपत्ति काल के बिना— ४।२) शब्द से खेती तथा व्यापार स्वयं किया हुआ नहीं होना[१] चाहिए। दीनतापूर्वक कुत्ते के समान स्वामी की ओर देखने से सेवा को 'श्ववृत्ति' कहकर ब्राह्मण को उसका त्याग करने के लिए विधान किया है।

अन्नादि सञ्चय की मात्रा—

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥७॥

भाष्य—उक्तमात्मकुटुम्बस्थित्यै धनसञ्चयः कार्यो, न भोगाय क्लेश आश्रयणीयः। तत्तु किमन्वहमर्जनीयं, उतैकदैव चिरकालपर्याप्तमिति, नोक्तम्। तत्र कालविलम्बार्थ-मिदमारभ्यते।

कुसूले धान्यमस्येति गमकत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। पाठान्तरं 'कुशूलधान्यिक' इति। कुसूलपरिमितं धान्यं कुसूलधान्यं, तदस्यास्तीति मत्वर्थीय इक् शब्दः। धान्या-धिकरणमिष्टकादिकृतम् 'कुसूलः' 'कोष्ठ' इति चोच्यते। तेन चात्र परिमाणं लक्ष्यते। तत्र यावन्माति तावत्संचेतव्यम्। न पुनराधारनियमोस्ति। कुसूलेन च महापरिग्रहण-स्यापि बहुभृत्यबन्धुदारदासपुत्रगवाश्वादिमतोऽपि यावता सांवत्सरी स्थितिर्भवति तावद-नुज्ञायते। यतो वक्ष्यति (अ० ११ श्लो० ७) ''यस्य त्रैवार्षिकं भक्तमिति''।

धान्यग्रहणमप्यविवक्षितम्। सुवर्णरूप्याद्यपि तावत्याः स्थितेः पर्याप्तमर्जयतो न दोषः। सर्वथाऽधिकं ततो नार्जनीयमिति वाक्यार्थः।

कुम्भी उष्ट्रिका। षण्मासिको निचय एतेन प्रतिपाद्यत इति स्मरन्ति।

त्र्यहमैहिकमस्येति **त्र्यहैहिकः**। कुटुम्बस्य नित्यकर्मार्थं च भक्तचयं करोति यः स 'त्र्यहैहिकः'।

श्वो भवं 'श्वस्तनं' भक्तं, तदस्यास्तीति पूर्ववत् मत्वर्थीयं कृत्वा नञ् समासः कर्तव्यः। सद्यस्तात्कालिको भवेत्तदहरर्जितं व्ययीकर्तव्यम् ॥७॥

अस्य विकल्पस्य व्यवस्थामाह—

---

१. यथाह गौतमः— कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च'' इति।

हिन्दी—ब्राह्मण कुसूलधान्यक अथवा कुम्भीधान्यक अथवा त्र्याहिक अथवा ऐकाहिक अथवा अश्वस्तनिक होवें ॥७॥

विमर्श—'कुसूलधान्यक'—तीन वर्ष या अधिक समय तक परिवार तथा भृत्यादि के भरण-पोषण के योग्य अन्नादि का संग्रहकर्ता। इसी कारण 'यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं—(११।७) वचन आगे भगवान् मनु ने कहा है। 'कुम्भीधान्यक'?— एक वर्ष तक परिवार तथा भृत्यादि के पालन-पोषण करने योग्य अन्न का संग्रहकर्ता; मेधातिथि के मतानुसार भृत्यादि के सहित परिवार का एक वर्ष-तक पालन करने योग्य अन्न के मूल्य सुवर्णादि धन का संग्रहकर्त्ता भी 'कुसूलधान्यक' और छः महीने तक पालन करने योग्य धान्यादि का संग्रह करता 'कुम्भीधान्यक' कहा जाता है तथा गोविन्दराज के मत से केवल बारह दिन तक परिवार तथा भृत्यादि के पालन-पोषण के योग्य अन्न का संग्रहकर्ता 'कुसूलधान्यक' तथा ६ दिन तक उनका पालन करने के योग्य अन्नादि का संग्रहकर्ता 'कुम्भीधान्यक' है, सो ठीक नहीं[1] है।

[सद्यःप्रक्षालिको वा स्यान्माससचायिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वाऽपि समानिचय एव वा॥१॥]

हिन्दी—अथवा (ब्राह्मण) सद्यःप्रक्षालित (प्रतिदिन खोजने के बाद बर्तनों को धो देने वाला अर्थात् आगे के लिए अन्न का एक दाना भी नहीं रखने वाला) होवें, अथवा एक मास तक (कुटुम्बादि के भरण-पोषण के योग्य) अन्न का संचय करने वाला होवे, अथवा छः मास तक के लिए अथवा एक वर्ष तक के लिए अन्नसंचय करने वाला होवे ॥१॥

कुसूलधान्यकादि में उत्तरोत्तर की श्रेष्ठता—

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥८॥

भाष्य—यो यः स्वल्पकालसञ्चयः स स धर्मै**र्ज्यायान**धिकः।

धर्माधिक्याच्च फलाधिक्यं भवति **लोकजित्तमः**। लोकाञ्जयत्याधिपत्येनावतिष्ठते, भोग्यतया स्वीकरोति। प्रकर्षविवक्षायां तमः। अविशेषोपादाना'ल्लोकः' स्वर्गः प्रतीयते।

तेनेयमत्र व्यवस्था। महापरिग्रहो यो बह्वपत्योऽसंविभक्तपुत्रः अकृतकन्याविवाहश्च

---

१. 'द्वादशाह कुसूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट्।
इमाममूला गोविन्दराजोक्ति नानुरुन्ध्महे॥' इत्युक्तैः।

स 'कुसूलधान्यकः' यस्तु परिणतवयाः अप्राप्तपुत्रः कृतकरणः स यावद्यावच्छममेति तावत्तावदितरान्कल्पानाश्रयेत् ॥८॥

हिन्दी—इन चारों (कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक) में से पूर्व की अपेक्षा आगे वाला धर्मानुसार (परिग्रह के कम संचय करने के कारण) स्वर्गादि लोकों को जीतने वाला होता है ॥८॥

उक्त चतुर्विध ब्राह्मणों की जीविका—

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ।।९।।

भाष्य—एषां कुसूलधान्यकादीनां गृहस्थानाम**एकः षट्कर्मा भवति**। यो महापरिग्रहः प्रागुक्तस्तस्य षड्वृत्तिकर्माणि भवन्ति। कानि पुनस्तानि। प्रकृतानि—उञ्छशिलायाचितयाचितलाभकृषिवाणिज्यानि। अध्यापनयाजनप्रतिग्रहाः 'याचितायाचित'ग्रहणादन्तर्भवन्ति। बहुकुटुम्बको नित्यकर्मसम्पत्त्यर्थं च सर्वा वृत्तीः समुच्चिताः कुर्यात्—कृषिवाणिज्ये अपि।

येऽप्यध्यापनमध्ययनमित्यादीनि प्रथमाध्यायपठितानि षट्कर्माणि व्याचक्षते तेषां प्रकरणविरोधो निष्प्रयोजनं वाऽध्ययनादीनामुपादानम्— अन्यत्रैव तेषां विहितत्वात्।

अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्य**स्त्रिभिः प्रवर्तते**। **प्रो**ऽनर्थको यावद्वर्तते तावत्प्रवर्तत इति। वर्तनं च स्थितिसम्पत्तिः। प्रकृतानां च यानि कानिचित् क्वचित्, कृषिवाणिज्ये विहाय।

प्रशस्ततरो हि पूर्वस्मात्कुम्भीधान्यकः। यतो वक्ष्यति 'सा वृत्तिः सद्गिगर्हिता'। "गोरक्षकान्वाणिजिकानिति"। यदप्युक्तं गौतमेन (अ० १० सू० ५-६) "कृषिवाणिज्ये चास्वयं कृते कुसीदं चे"त्यनापद्येव। तत्राप्यस्वयंकरणपक्षे दोषोऽस्त्येव, लघीयांस्तु भविष्यति।

द्वाभ्यामेकः। अत्रापि याचितलाभं वर्जयित्वा त्रयाणां यथासम्भवं द्वे गृह्येते। अयाचितमपि तावद्गृह्यते यावत्त्र्यहपर्याप्तम्।

चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति। ब्रह्मसत्रं' शिलोञ्छयोरन्यतरा वृत्तिः। सततभवत्वात्सत्रमिव न तदहः परिसमापनीया वृत्तिरतः सत्रमित्युच्यते, अहरहर्नित्यमनुष्ठानात्। ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणपर्यायस्तेषामिदं सत्रम्।

अस्माद्ब्रह्मशब्दात्पूर्वोऽयं वृत्तिप्रपञ्चो ब्राह्मणविषय एव विज्ञेयः। क्षत्रियादीनां तु तत्र तत्र वक्ष्यति।

"कथं पुनः शिलोञ्छवृत्त्या जीवनं संभवति? यावता शरद्ग्रीष्मयोरेव क्षेत्रे खले वा शिलपुलाकपातसम्भवः। अथोच्यते। 'ग्रैष्मेभ्यो ग्रैष्माणि शारदानि शारदेभ्योऽर्ज-

यिष्यतीति' षाण्मासिकवृत्तिरेव स्यान्नाश्वस्तनिकः । अथ'अन्यथाऽपि संभवति यावतस्तावतो व्रीह्यादेः कथञ्चित्पतितस्योपादानम् ।' सत्यम् । न तद्भोजनाय पर्याप्तम् । 'सञ्चिन्वानो यदा पर्याप्तं प्राप्स्यति तदाऽशिष्यति पञ्चाहाद्यसम्भवात् । तथा च महाभारते, शिलोञ्छ-वृत्तिः पक्षान्ताशनो वर्ण्यते । सोऽयमस्यामवस्थायां गृहस्थस्तापसः संवृत्त' इति चेत् । किंत्वेवमप्यश्वस्तनिकत्वं विरुध्यते । यथोपपादस्थितिकस्तदा स्यान्नाश्वस्तनिकः । अश्व-स्तनिको ह्यु च्यते य अहन्यहन्यर्जयति यात्रिकं तदहरेव च व्ययीकरोति, न द्वितीयेऽह्नि स्थापयति । यदि च न प्रत्यहं शिलोञ्छवृत्तेर्भोजनं निवर्तते, कुतोऽश्वस्तनिको भवेत्, कथं च तथाविधस्य जीवनं पुत्रदारभरणं च ।''

अत एव केचि**त्त्रिभिरन्यः प्रवर्तत** इत्यत आरभ्यान्यथा व्याचक्षते ।

'त्रिभि'र्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्द्वाभ्यां ''प्रतिग्रहः प्रत्यवर'' इति प्रतिग्रहव्युदासेन याजनाध्यापने प्रतिगृह्येते । **ब्रह्मसत्र**मध्यापनम् । तद्धि वृत्तये पर्याप्तम् । यत्तु ''वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामिति'' स चतुष्टयव्यतिरिक्तोऽन्य एव ।

अत्रोच्यते । यः शिलपरिमाणान्दशद्वादशान्यवान्व्रीहीन्वा बहुभ्य आदत्ते यावदे-काहयात्रिकं स 'शिलवृत्तिः' । यस्त्वेकैकं यात्रार्थमाहरति स 'उञ्छवृत्तिः' स्मृत्यन्तरे चायं 'यायावर'वृत्तिरुक्तः । अतश्च सार्वकालिकमप्युपपद्यते । न च वैश्वदेवादिक्रियाविरोधः, न च पुत्रदाराणामभरणदोषश्च, याचितभैक्षादत्यन्ताल्पग्रहणात् ॥९॥

हिन्दी—इन गृहस्थों में कोई गृहस्थ षट्कर्मा (ऋत ४।५), अयाचित, भैक्ष्य (भिक्षा में प्राप्त), खेती, व्यापार और सूद— इन छः कर्मों वाला होता है (परिवारादि का पालन-पोषण करता है); दूसरा कम परिग्रह वाला गृहस्थ तीन कर्मों (जीवों के अद्रोह से 'यज्ञ करना, पढ़ाना और दान लेना') से वृत्ति (परिवारादि का पालन) करता है, अन्य उससे भी कम संचय करने वाला दो कर्मों (यज्ञ कराना और पढ़ाना) से और चौथा गृहस्थ ब्रह्मसत्र (केवल वेदाध्यापन) से जीवों (परिवार का पालन करता) है ॥९॥

विमर्श— मेधातिथि का मत है कि— 'इन चार (कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक) गृहस्थों में से पहला (कुसूलधान्यक) गृहस्थ उञ्छ, शिल (४।५), अयाचित, याचित, कृषि (खेती) और व्यापार इन कर्मों से षट्कर्मा (छः कर्मों वाला— इन कर्मों के द्वारा परिवारादि का पालन पोषण करने वाला) होता है । दूसरा (कुम्भीधान्यक) गृहस्थ तीन कर्मों (उञ्छ, शिल, अयाचित और याचित में से अपनी इच्छा से किन्हीं तीन कर्मों) से जीविका चलाता है । तीसरा (त्र्यहैहिक) गृहस्थ दो कर्मों (उञ्छ, शिल और अयाचित में से अपनी इच्छा के अनुसार किन्हीं दो कर्मों) से और चौथा (अश्वस्तनिक) गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ (शिल और उञ्छ में से किसी एक) कर्म से जीता है, ब्राह्मण-सम्बन्धी सार्वदिक कर्म होने से उञ्छ तथा शिल कर्म भी 'ब्रह्मयज्ञ' है ।''

स्त्री पुत्रादि परिवार वालों का पालन मनुष्य मात्र के लिये आवश्यक कर्तव्य है, उसको नहीं करने वाला दोषभागी समझा जाता है। अत: उक्त वचनों (४।८-९) के अनुसार उत्तम जीविका चलाने वाला ब्राह्मण यदि उञ्छ तथा शिल (जिन में धान्य काटकर गृहस्थ के द्वारा खाली किये हुए खेतों में से क्रमश: एक-एक बाल चुनने का विधान है) वृत्तियों के भरोसे रहता है तो उसके परिवार का पालन असम्भव हो जायेगा; क्योंकि शरद् तथा ग्रीष्म ॠतुओं में ही लगभग २-२ महीने तक इन वृत्तियों से अन्नसंग्रह किया जा सकता है, उञ्छ (जिसमें केवल दो अंगुलियों से १-१ दाना अन्न चुनने का विधान है) वृत्ति से तो केवल अपनी ही उदरपूर्ति असम्भवप्राय हो जायेगी, परिवार वालों की तो बात ही क्या? अत: उञ्छवृत्ति वाले को महाभारत में 'पक्षान्त भोजन' (एक पक्ष के अन्त में भोजन करने वाला) कहा गया है।

खेत के अतिरिक्त खलिहान, हाट (बाजार) या गृहस्थद्वार आदि से उञ्छ तथा शील वृत्ति करने का अथवा बहुत लोगों से १ बाल में होने योग्य १०-१० वा १२-१२ अन्न के दानों को लेकर संग्रह करना 'शिल' तथा १-१ दाना संग्रह करना 'उञ्छ' वृत्ति कई व्याख्याकारों ने की है। अत: इन वृत्तियों द्वारा सर्वदा अन्न संग्रह किया जा सकता है। याचित भिक्षान्न की अपेक्षा अत्यन्त ही कम लेने के कारण वैश्वदेवादि क्रिया का भी इस कर्म से विरोध नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये। अथवा कई आचार्य प्रकृत श्लोक के तृतीयादि पादों का अर्थ इस प्रकार करते हैं— "कोई गृहस्थ यज्ञ कराने, पढ़ाने और दान लेने से; कोई गृहस्थ यज्ञ कराने तथा पढ़ाने से तथा चौथे गृहस्थ केवल पढ़ाने से जीवन निर्वाह करते (परिवारादि का पालन-पोषण करते हुए जीवन यात्रा करते) हैं"। इस अर्थ के आश्रय से परिवारादि का पालन यथावत् हो सकता है किन्तु इन कर्मों को नि:स्पृह होकर ही करना चाहिये॥

शिलोञ्छजीवी का अग्निहोत्रादिमात्र कर्तव्य—

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा॥१०॥

भाष्य—पर्व चायनान्तश्च तयोर्भवाः **पार्वायणान्तीयाः**। **स्वार्थिकमणं कृत्वा** वृद्धाच्छः (पा०सू० ४।२।११४) कर्तव्यः। पर्वेष्टिर्दर्शपूर्णमासौ, अयनांते च यज्ञ आग्रयणाख्यः।

'केवल'ग्रहणात्काम्यां इष्टया निषिध्यन्ते। वैश्वदेवहोमबलिहरणेऽपि **तस्य नान्वहं भवतः**। न हि तस्य सर्वदा तावद्धनं भवति। अत: केवलग्रहणान्महायज्ञनिवृत्तिः।

"ननु चाग्निहोत्रमपि तत्तस्य नैव भवति। तदपि द्रव्यासाध्यमेव"।

पक्षहोमान्होष्यति।

"भार्याभरणं कथमिति" चेत्साऽपि तां वृत्तिमाश्रयिष्यति। यदा च भार्या व्रतमेत-द्धारयितुमशक्ता तदा भर्तुरपि नास्त्यधिकारः।

अथ "चन्द्रायणादिषु प्रवृत्तस्य कथं भार्याया जीवनमिति" चेत्। अचोद्यमेत-द्विद्यमानत्वात्— 'अतिथ्यादिशिष्टमशिष्यत्' इति।

ननु "वैश्वदेवहोमाभावात् **विद्यमानेऽपि स्त्रीधने न भोजनं** युक्तम्, उभयोर्विघ-साशित्वविधानात्। अतः स्त्रीधनेन वैश्वदेवं करिष्यति, धर्मकार्येऽनुज्ञानात्स्त्रीधनग्रहणस्य"।

नैवम्। तस्यामवस्थायामग्निहोत्रमात्रं धर्मः, न वैश्वदेवहोमः। भवतु वा। यस्यास्तर्हि धनं नास्ति कथं जीवतु।

तस्माद्यस्यासमर्था भार्या नासौ शिलोञ्छवृत्तावधिक्रियते।

वर्तयन्नात्मानं जीवयन् ॥१०॥

हिन्दी—शिल तथा उञ्छ (४।५) वृत्ति से जीने वाला ब्राह्मण अग्निहोत्र में तत्पर रहता हुआ पर्व तथा अयन के अन्त में होने वाले यज्ञों (दर्शपौर्णमास्य तथा आग्रहायण रूप यज्ञ) को करे ॥१०॥

जीविका के लिये निन्दित वृत्ति का निषेध—

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्॥११॥

भाष्य—लोकवृत्तं नामोच्यते येन प्राकृतजनोऽल्पसत्त्वो वर्तते, दम्भेनासत्प्रिया-ख्यानेन च त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्मा जय जीवेति'। तथा विचित्रपरिहासकथाभिः।

वृत्तिहेतोर्जीविकार्थतया न कर्तव्यमेतत्। यस्तु नर्मशीलस्तस्य न दोषः।

अजिह्माम्। यस्यान्यच्च हृदयेऽन्यच्च बहिः स 'जिह्म' उच्यते। द्वेषमत्सरात्मा दर्शयत्यप्रियं वदताम्।

अशठाम्। अग्निहोत्रकर्मानुष्ठानं, लोकार्जनेन प्रतिग्रहादिलाभार्थं, न शास्त्रार्थश्रद-धानतया कुर्यात्स 'शठः'।

आत्मधर्मत्वेऽपि जैह्न्यशाठ्ययोः, जीविकाऽप्यभेदोपचाराद्व्यपदिश्यते।

अजिह्मामशठां शुद्धामिति। शुद्धिर्वृत्त्यन्तरेणामिश्रीकरणं पूर्वदोषद्वयेन च।

एकपदलभ्योऽप्ययमर्थो वृत्तानुरोधाद्गोबलीवर्दवद्बहुपदैः प्रतिपाद्यते।

"अथ कथं **ब्राह्मणजीविकां जीवेदिति** द्वितीया? यावता जीवतिरकर्मकः। कथं चैकस्यैव धातोरेकत्र द्विप्रयोगः? न हि भवति गमनं गच्छेदिति साध्यसाधनभावः"।

उच्यते। सामान्यविशेषभावात्साध्यसाधनभावो न विरुद्धः। यथाऽश्वपोषं पुष्ट

इति । अनुष्ठानाङ्गे च वर्तनार्थे जीवतिर्वर्तते । तेन सकर्मकत्वमिति न दोषः । **जीवेत्** जीवनार्थमनुतिष्ठेत् ॥११॥

हिन्दी—ब्राह्मण जीविका के लिये निन्दित लोकवृत्त (विचित्र परिहास कथा आदि) का आश्रय किसी प्रकार भी न करे । (किन्तु) कुटिलता और शठता से रहित शुद्ध ब्राह्मण की जीविका का आश्रयणकर जीवे ॥११॥

सन्तोष की प्रशंसा—

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥१२॥

भाष्य—त्र्यहैहिकाश्वस्तनवृत्तिदार्ढ्यार्थं प्रसंख्यानमिदमाह ।

सन्तोष आश्रयितव्यः, न बहूनामुजीव्यः स्यामिति याञ्चाक्लेश आस्थेयः ।

सुखार्थी संयतो भवेत् । 'संयमः' यात्रिकाद्धनादधिके नाभिलाषः ।

सन्तोषो मनस्विनां सुखमूलम् । दुःखस्य मूलं **विपर्ययः** असन्तोषः । महद्विदुषां दैन्यं, अभिलषिते वस्तुन्यसम्पत्तिः । तस्मात्सन्तोषमाश्रयेत् ॥१२॥

हिन्दी—सुख को चाहने वाला अत्यन्त सन्तोष धारण कर (यथासम्भव परिवार की तथा अपनी रक्षा के साथ पञ्चमहायज्ञादि शास्त्रविहित कर्म करने के योग्य धन से अधिक का संग्रह करने की इच्छा न करे) । (अधिक धन के संग्रह करने में) संयमी बने; क्योंकि सन्तोष स्वर्गादि प्राप्ति रूप सुख का कारण है और असन्तोष दुःख का कारण है ॥१२॥

अन्यतम व्रत का धारण—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥१३॥

भाष्य—वृत्तिविषयो विधिर्वृत्तिशब्देनोक्तः । **तेनान्यतमयेति** न तदपेक्षमेकजीवितम् अन्यतमेन वृत्तिविधानात् । अतो वृत्तिसमुच्चयजीविनः पितृधनं प्राप्तवतश्च व्रताधिकारो न लुप्यते । अन्यथा एकवृत्तिजीवन एव स्यात् ।

व्रतानीमानि । मानसः सङ्कल्पो 'व्रत' मुच्यते— 'शास्त्रविहितमिदं मया कर्तव्य-मिदं वा न कर्तव्य' मित्येवम् ।

स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतधारणफलानि केचिदाहुः । अतश्चैतत्फलार्थिनो व्रतेष्वधिकारः ।

तदयुक्तम् । अनित्यत्वमेव सति प्रसज्येत । तत्रोत्तरश्लोके नित्यग्रहणं बाध्येत ।

श्रुतौ चैषां नित्यता ज्ञापिता 'यावत् हि एनसा युक्तो भवतीति'। स्वर्गादीनां काम्यत्वे-नान्वये नाधिकृतविशेषणत्वं प्रतिपद्येरन् ॥१३॥

हिन्दी—उक्त (४।९) वृत्तियों (जीविका-साधनों) में से किसी एक वृत्ति से जीता हुआ स्नातक ब्राह्मण स्वर्ग, आयु तथा यश के हितकर इन (आगे कहे जाने वाले) व्रतों को धारण करे— ॥१३॥

वेदविहित कर्मानुष्ठान—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१४॥

भाष्य—वेदमूलत्वात् **स्मृतीनां वेदोदितमिति** श्रूयते।

स्वकं कर्म वक्ष्यमाणो व्रतसमूहः। विहितत्वात् **स्वक**मित्युच्यते।

नित्यं कुर्यात् यावज्जीवम्।

अतन्द्रितोऽनलसः।

एतद्व्रतधारणं कुर्व**न्यथाशक्ति**। अनेन सत्यां शक्तौ यथासम्भवमनुष्ठानमाह। तदुक्तं "मनसा वा तत्समग्रमाचारमनुपालयन्"।

परमां गतिं ब्रह्मत्वप्राप्तिरूपाम् ॥१४॥

हिन्दी—ब्राह्मण वेद में कथित अपने कर्म को निरालस होकर करे; क्योंकि शक्ति से उसे (अपने वेदोक्त कर्म को) करता हुआ (ब्राह्मण) परमगति (मोक्ष) को पाता है॥१४॥

विमर्श— पाप कर्म के क्षय होने से पुरुष को ज्ञान होता है, दर्पण तल के समान उस ज्ञान के होने पर आत्मा (अन्तःकरण) में आत्मा को देखता है[1]।

गीतादि से धनोपार्जन का निषेध—

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न कल्पमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥१५॥

भाष्य—प्रसज्येत यत्र पुरुषः स हि **प्रसङ्गो**ऽभिप्रेतो गीतवादित्रादिः। तत्र हि रागिणः सज्जन्तीव। **अतो** गीतवादित्रादिभि**रर्थान्धि**नानि **नेहेत** नार्जयेत्।

'विरुद्धं **कर्म**' प्रतिषिद्धं शास्त्रेण अकुलोचितं च। **न च** पित्राद्यागतेषु धनेषु **कल्पमानेषु** स्थितिसमर्थेषु। अन्यानि नेच्छेत्।

---

१. तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्येदात्मानमात्मनि ॥" इति ॥ (म०मु०)

नार्त्यां आपद्यपि **यतस्ततः** । प्रसह्य सत्प्रतिग्रहेण प्रवर्तितव्यमेकस्यापद्येन-मप्यनुज्ञास्यति ॥१५॥

हिन्दी—गाने-बजाने में आसक्त होकर तथा शास्त्र-विरुद्ध कर्म (अयाज्य-याजन अर्थात् चाण्डालादि को यज्ञ कराना आदि) के द्वारा, धन के रहने पर और (नहीं रहने पर) आपत्ति में भी जहाँ कहीं (पतित आदि) से धन (संग्रह करने) की इच्छा न करे ॥१५॥

इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति का निषेध—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ।।१६।।

भाष्य—'इन्द्रियाणामर्था' विषया रूपरसादयः, तेषु **न प्रसज्येत** न सक्तिमत्यंतां सेवां कुर्यात् । मनोहरा युवतयः वंशगीतं स्वादवद्रसः कर्पूरादिगन्धः रागवत्स्पर्शः—**एते** विषयाः । तान्नात्यन्तं सेवेत ।

कामतः कामप्रधानतया । सर्वेषु अयाचितोपमं तेष्वपि नित्यसेवी स्यात् ।

अतिप्रसक्तिश्चैवैषाम् । निवृत्त्युपायोऽनेन कथ्यते । न हि वस्तुप्रसक्तिर्निवर्तितुं शक्या— मनसा तु प्रतिपक्षभावनया निवर्त्य । आदौ तावद्दुरुपपादकत्वम् । उपस्थिते-ष्वपि भुक्तपूर्वेषु क्षणविरसतास्वभावश्च विनाशित्वं शास्त्रनिषेधाच्च सङ्गस्य नरकापात इत्येवमादि चिन्तयेत् । **यथोक्तं** (अ० २ श्लो० ९६) "न तथैतानि शक्यंत" इति॥१६॥

हिन्दी—इन्द्रियों के विषयों में कामवश अधिक आसक्त न होवे और इनमें अधिक आसक्ति को मन से रोके ॥१६॥

विमर्श— नेत्र जिह्वा, नासिका, त्वचा— इन इन्द्रियों के क्रम से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श— ये विषय हैं । मन की सहायता प्राप्त कर नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में आसक्त होती हैं । अत एव मनके द्वारा उन इन्द्रियों को रोकने के लिए ही इस श्लोक में कहा गया है ।

वेदार्थ-विरुद्ध कर्म—

सर्वान्परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथा यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ।।१७।।

भाष्य—'ये वेदाभ्यासविरोधिनोऽर्थास्ते सर्वे त्यक्तव्याः, राजामात्यगृहोपस्था-नादयः । येऽप्यनया लोकयात्रया सक्तस्य कृषिकुसीदाद्यधिकलाभो भवति तेन च पोष-यिष्यते, तदा कुटुम्बविभववतश्च दासीदासं बहु भविष्यतीति ।

सा ह्यस्य स्नातकस्य **कृत कृत्यता** कृतार्थता यं नित्यस्वाध्यायी यथाकथञ्चित्कु-टुम्बकं जीवयतीति ॥१७॥

हिन्दी—(जिस किसी प्रकार से अपने को तथा भृत्यों को जिलाते अर्थात् पालन-पोषण करते हुए) स्वाध्याय (वेद, स्मृति) के विरुद्ध कार्यों को छोड़ दे। जिस किसी प्राकार से स्वाध्याय में तत्पर रहना ही इस (स्नातक ब्राह्मण) की कृतकृत्यता (कृतार्थता) है ॥१७॥

वय आदि के अनुसार वेषादिधारण—

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥१८॥

भाष्य—'**वयस** इति सारूप्यापेक्षा षष्ठी।

वेषवाक्बुद्धीति समाहारे द्वन्द्वः।

सारूप्यमिति स्वार्थे ष्यञ्।

तेनायमर्थो भवति— वयाद्युचिता वेषादयः कर्तव्याः। **सारूप्य**मौचित्यम्, अन्यस्याकृत्यादेः सादृश्यासम्भवात्।

वेषः केशाभरणादिविन्यासः। तत्र प्रथमे वयसि शिखण्डकः, यौवने कौन्तलादिधारणं, वार्धके जटामुण्डनादि।

वयोनुरूपा **वाक्**। एवं **बुद्धिः** त्रिवर्गानुष्ठानधारणं प्रथमं, जीर्यतः केवलं धर्मप्रधानम्।

कर्मानुरूपो वेषः अर्थानुरूपश्च। तेन हि भावितव्यं— कुलानुरूपेण दशनरागधम्मिल्लादि उद्धतमपि नौद्धत्यमावहति।

तदुक्तं "अस्य लोकव्यवहारो विषय" इति। एतदुक्तं भवति। नायं विध्यर्थः, अपरैर्निश्चितार्थत्वात्। लोकव्यवहारमूलस्त्वयमनुवादः— 'एवं वर्तमानो लोकवृत्तानुवर्ती भवति, न लोकद्वेष्यतामेति' ॥१८॥

हिन्दी—अवस्था (उम्र), कर्म, सम्पत्ति, शास्त्र (पठनपाठनादिज्ञान) और कुल के अनुसार वेष, वचन (बोलना) और बुद्धि का व्यवहार करता हुआ इस संसार में विचरण करे ॥१८॥

विमर्श— वय-युवावस्था में पुष्प माला, सुगन्धि तैल, इत्र, लेप चन्दनादि तथा वृद्धावस्था में परमात्मा का चिन्तन, सामान्य वेश-भूषा रखना, धन, धान्य, पुत्र, कामवासनादि से विरक्ति आदि। इसी प्रकार से कर्म आदि के अनुसार अपने आचरण को रखना चाहिये।

सर्वदा शास्त्रावलोकन—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि चहितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१९॥

भाष्य—'**बुद्धिवृद्धिकराणी**तिहासपुराणानि तर्कशास्त्राणि बार्हस्पत्यौशनसादीनि। **हितानि** उपकारकाणि दृष्टार्थानि वैद्यकज्यौतिषादीनि, अर्थशास्त्रस्य पृथगुपदेशात्। **वैदिका निगमा** वेदार्थज्ञानहेतवो निगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसाः। ऋचो रूढिग्रहणे त्वदृष्टार्थता स्यात् ॥१९॥

हिन्दी—शीघ्र बुद्धि को बढ़ाने वाले (वेद से अविरुद्ध व्याकरण, न्याय, मीमांसा, स्मृति और पुराणादि), धन को बढ़ाने वाले (अर्थशास्त्र) दृष्ट (प्रत्यक्ष रूप से) हित करने वाले (आयुर्वेद, ज्योतिष आदि) शास्त्रों को तथा वेदार्थ को बतलाने वाले निगम (निरुक्त) को सर्वदा देखता (मनन करता) रहे ॥१९॥

शास्त्रावलोकन से ज्ञाननैर्मल्य—

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२०॥

भाष्य—"समधिगमो'ऽभिनिवेशः अभ्यास इति यावत्। **विजानाति** विशेषेण जानाति— प्रत्यक्षं चैतद्भ्यस्यमाने ग्रन्थेऽपि यद्विद्यत इति।

तदा **विज्ञानं चास्य रोचते**। उज्ज्वलं भवतीत्यर्थः। पूर्वस्याः स्मृतेर्मूलकथनमेतत्। रुचेरभिलाषार्थत्वाद्रुच्यर्थानामिति सम्प्रदानत्वाभावः ॥२०॥

हिन्दी—मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्रों का अच्छी प्रकार अभ्यास करता है वैसे-वैसे विशेष जानने लगता है और उसका विशेष ज्ञान निर्मल होता है ॥२०॥

[शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयो भूयस्तदभ्यसेत्।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥२॥]

[**हिन्दी**—शास्त्र का पारंगामी होकर बार-बार उसका अभ्यास करे। उस शास्त्र को (निरन्तर अभ्यास के द्वारा) उज्ज्वल (सन्देह रहित) करे और उसे पुनः (पढ़ने के बाद) फिर छोड़ मत दे ॥२॥]

पञ्चयज्ञों का यथाशक्ति पालन—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥

भाष्य—तृतीयाध्याये विहितानां महायज्ञानामनुवादो विशेषाभिधानार्थः। स च विशेष उत्तरत्र वक्ष्यते (२२ श्लो०) "अनीहमानाः"।

अन्ये तु मन्यन्ते। व्रताधिकारे पुनर्वचनं नियमसिद्ध्यर्थम्। तेनेदृशः सङ्कल्पः कर्तव्यो 'यावद्गार्हस्थ्यं मया महायज्ञा न हापयितव्याः'। न त्वियमाशङ्का कर्तव्या— "द्विर्वचनं द्विर्विधानार्थम्"। न ह्यत्र विधिः श्रूयते। केवलं **न हापये**दित्युच्यते। नित्य-

त्वाच्चाहानि: प्राप्तैव न विहितप्रत्यभिज्ञानत: कश्चित् कर्मभेदे हेतुरस्ति ।

यथाशक्ति पक्वान्नेन आमेन वा मूलफलैर्वा ॥२१॥

हिन्दी—सर्वदा ऋषियज्ञ (वेदस्वाध्याय), देवयज्ञ (पार्वणश्राद्धादि), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव), नृयज्ञ (अतिथि-भोजनादि), और पितृयज्ञ (तपर्ण-श्राद्धादि) का यथा-शक्ति त्याग न करे ॥२१॥

इन्द्रिय यज्ञ—

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ।। २२।।

भाष्य—एतान् महायज्ञान् एके यज्ञशास्त्रविदो गृहस्था **इन्द्रियेष्वेव** जुह्वति सम्पादयन्ति ।

कतमे पुनस्ते ।

अनीहमाना: । ये नेच्छन्ति धनं त्यक्तगृहव्यापारा देहसांन्यासिकादय: ।

शिलोञ्छवृत्तेरप्येवं विधिमिच्छन्ति, पङ्ग्वादीनां च । तेषां हि दारकरणं वक्ष्यति (अ० ९ श्लो० २०) ''यद्यर्थिता तु दारै: स्यादिति'' । न चैतेषां पञ्चयज्ञाधिकार: । अद्रव्यत्वाद्भरणमात्रं ते लभन्ते, नाधिकं कर्मानुष्ठानार्थमपि ।

जुहोति: करोत्यर्थनिर्वर्त्यतां लक्ष्यति । न हि क्रियाविशेषो याग: क्रियाविशेषस्य होमस्य कर्मतां प्रतिपद्येत । न हि भवति 'पचति पाकमिति' । भवति तु 'पाकं करोति' 'यागं करोतीति' । सामान्यविषयाकांक्षास्तु क्रिया द्रव्यकर्माणि साधनीकुर्वन्ति । 'इच्छति भोक्तुं', 'शक्नोति भोक्तुं', 'जानाति भोक्तुम्' । दृष्टश्च विशेष: सामान्यलक्षणार्थ:— 'अयं गौ: पदा द्रष्टव्य' इति ।

एवं च होमं केचिदिन्द्रियेषु तत्संयममेव व्याचक्षते । अपरेषां प्राणसंवादोपनिषदि यद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं सायंप्रथमाहुतिं जुहुयात्प्राणाय स्वाहेत्यादिना ।

अन्ये तु— य एवोत्तरश्लोके उपासनाविधिरुक्त: स एवायं 'होम:' । तथा च तयोरेकवाक्यता प्रतीयते ।

''ननु चोत्तरत्र वाचि प्राणं नेन्द्रियम् ।''

नैष दोष: । आध्यात्मिकत्वोपलक्षणार्थमिन्द्रियग्रहणम् । बाह्यसाधनसाध्यता नास्ती-त्येतदत्र विवक्षितम् ॥२२॥

हिन्दी—शास्त्रज्ञाता कुछ गृहाश्रमी इन यज्ञों (४।२१) को नहीं करते हुए सर्वदा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों (२।९०-९९) में हवन करते हैं ॥२२॥

विमर्श— नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा और कान; ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, इनके विषय क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ग्रहण है । नेत्र इन्द्रिय से रूप का ग्रहण नहीं करना अर्थात् नेत्र से सुन्दर से सुन्दर या विकृत से विकृत भी रूप को देखते हुए भी उसमें आसक्ति या घृणा नहीं करना ही 'नेत्रेन्द्रिय' का संयम है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी आसक्ति आदि का त्याग कर उनका संयम करना ही 'इन्द्रियों में हवन' करना है ।

वाक-यज्ञ—

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ।। २३ ।।

भाष्य—यदाऽयं पुरुष उच्छ्वसिति तदैवमनेन ध्यातव्यम् 'वाचं प्राणे जुहोमीति' । भाषमाणेन च 'वाचि प्राणं जुहोमीति' । एतावतैव पञ्चयज्ञा निर्वृत्ता भवन्ति।

"यदि नित्याः फलाय न वक्तव्याः" ।

आत्मज्ञाश्चात्राधिक्रियन्ते ।

विहितो ह्ययमर्थः पञ्चाग्न्युपासनायां उपनिषत्सु कौषीतकीब्राह्मणे विस्तरेण ।

अक्षयं फलतः, अपुनरावृत्तिफलत्वात् ॥२३॥

हिन्दी—वचन तथा प्राणों में यज्ञ के अक्षय फल को जानते हुए कुछ गृहाश्रमी सर्वदा वचन में प्राणों को तथा प्राणों में वचन को हवन करते हैं ॥२३॥

विमर्श—जैसे कि कौषीतकीरहस्य ब्राह्मण में कहा है— "जब तक पुरुष बोलता है, तब तक प्राण (श्वास लेने) के लिए समर्थ होता है, तब वचन में प्राण का हवन करता है; और जब तक श्वास लेता है, तब तक बोल नहीं सकता, तब प्राण में वचन का हवन करता है; इस प्रकार अनन्त अमृत में हवन करने वाला (वह) जागता सोता हुआ सर्वदा हवन करता है । अथवा अनन्तर व्यस्त अन्य आहुतियाँ कर्ममयी होती हैं, इस प्रकार के कर्म को पूर्व के विद्वानों ने उसकी अग्निहोत्र क्रिया कहा है ।[१]

ज्ञानयज्ञ—

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्ते तैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ।। २४ ।।

---

१. 'यथा कोषीतकीरहस्ये ब्राह्मणम्— 'यावद्वै पुरुषो भाषते, न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति; यावद्धि पुरुषः प्राणिति, न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति; एतेऽनन्तेऽमृते आहुती जाग्रत्स्वपंश्च सतत् जुहोति ।' अथवा "अन्या आहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवाञ्चक्रुः" इति । (म०मु०)।

भाष्य—**तैर्मखैः** प्रकृतैर्महायज्ञै**र्यजन्ते,** तद्विषयमधिकारं निष्पादयन्ति। अतोऽर्थ-भेदाद्यजन्ते। यज्ञैरिति साध्यसाधकभावोपपत्तिः। यथा'ऽग्निष्टोमयाजीति'।

"कथं पुनर्ज्ञानेन यागनिर्वृत्तिः। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यागः। न च ज्ञान-मेवंरूपम्"।

उच्यते। **यजन्त** इति यागकार्यनिर्वृत्तिरत्राभिप्रेता।

"यदि ज्ञानात्कार्यनिर्वृत्तिः किमर्थं तर्हि कर्मणामनुष्ठानम्। न ह्यविषयः कर्मा-नुष्ठानसम्भवः। अथेयं बुद्धिः, 'य उ चैनमेवं वेदेति' ज्ञानस्यापि फलसाधनत्वेन श्रवणात् कृतं कर्मानुष्ठानेनेति,— तदसत्। अन्यशेषतया तस्यार्थवादत्वात्।"

अत्रोच्यते। उक्तमस्माभिरनीहमाना आत्मज्ञा अधिक्रियन्ते। त एव ज्ञानिनो-ऽभिप्रेताः, न कर्मानुष्ठानवेदिनः। तेषां वेदसंन्यासिकतया गृहे अवतिष्ठमानानां महा-यज्ञानां भावनेयमुच्यते। द्रव्यसाध्यानां च महायज्ञानां आत्मज्ञानसंपादनमेवमुच्यते। स्वाध्यायोदकतर्पणयोस्तु कर्मसाध्यतामेव षष्ठे वक्ष्यति।

अत्र कारणरूपमर्थवादमाह। **ज्ञानमूलाम्**— ज्ञानं मूलमस्याः क्रियायाः। सर्वस्य कर्मानुष्ठानस्य ज्ञानं मूलम्। न ह्यविद्वान् किञ्चिदनुष्ठातुं शक्नोति। तदुक्तं "विद्वान्यजेत इति"। **पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा**। ज्ञानं चक्षुरिव। यथा चक्षुषा रूपं गृह्यते एवं ज्ञानात् ज्ञायते। न तत् 'ज्ञानं' वेद एवाभिप्रेतः ॥२४॥

हिन्दी—कोई-कोई (ब्रह्मनिष्ठ गृहाश्रमी, ज्ञानरूपी नेत्र से ही ज्ञान-मूलक इन क्रियाओं) (४।२१ में कथित यज्ञानुष्ठानों) की उत्पत्ति को देखते हुए ज्ञान से ही इन (पञ्च) महायज्ञों को करते हैं ॥२४॥

विमर्श— सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है, ऐसे ज्ञान से इन पञ्चमहायज्ञों को भी ब्रह्म-रूप से ध्यान करते हुए इन यज्ञों का फल प्राप्त करते हैं। पूर्वोक्त इन तीन श्लोकों (४।२२-२४) में ब्रह्मनिष्ठ वेदसंन्यासी गृहस्थों की यह विधि वर्णित है।

सन्ध्योपासन, दर्शपौर्णमास श्राद्ध—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ।।२५।।

भाष्य—अग्निहोत्रादयः शब्दाः श्रुतौ गृह्यस्मृतिषु च कर्मविशेषवचनतया प्रसिद्धाः। सेतिकर्तव्यताकाः तत्र विहिताः। तेषामयमनुवादो न त्वत्रापूर्वविधिः, रूपावचनात्। केवलं होमविषया कर्तव्यता श्रुता, न द्रव्यं न देवता। अग्निहोत्रादि नामधेयं च विशेषा-कांक्षम्। अतः शास्त्रान्तरावगतविशेषवचनतैव प्रतीयते।

"यद्येवं तत एव कर्तव्यतावगमादनर्थकमिदम्।"

वेदसंन्यासिकानां प्रकृतोपासनासंवादनार्थम् । तथैव "वाच्येके जुह्वति प्राणं" ज्ञाने-नैवेति (श्लो० २४) च पञ्चमहायज्ञाः संपाद्यन्ते— तद्वदेतदपीति । कश्चायमुपालम्भः 'किमर्थं पुनर्वचनमिति ।' सर्वश्रुतीनां स्मृतीनां च यदेकदेशेऽभिहितं तस्यैवान्यत्र पुनर्वचनस्य चोद्यापत्तेः । उक्तश्च सामान्यतः परिहारः— प्रतिपत्तृभेदात्र पौनरुक्त्यमिति । यथा प्रति-पत्तृभेदादिन्द्रियभेदो नैकेन चक्षुषा सर्वे द्रष्टुं शक्नुवन्ति बहूनीन्द्रियाणि प्रयोजनवन्ति, एवं शाखाभेदः स्मृतिभेदश्च ।

अथोच्यते "कस्माद्रूपावचनमिति ।"

एषोऽपि न दोषः । प्रतिशाखमितिकर्तव्यताया भेदः— कस्याभिधानं क्रियताम् । सर्वाभिधाने गौरवम् । एकतराभिधाने अन्यत्तरपरित्यागः ।

"तदपि चोद्यमेव ।"

उक्तं चानुवादोऽयं न विधिः । विधौ हि चोद्यमेतत् स्यात् 'अन्यत्र विहितं किमर्थं पुनर्विधानमिति ।'

आद्यन्ते द्युनिशोः । नात्र यथासंख्यम्, किंतर्हि दिव आदौ निशायाश्चादौ, एवं दिवोऽन्ते निशायाश्चान्त इति । सायंप्रातःकालावेतेन परिगृह्येते । तत्रोदितहोमिनां अहरादौ अनुदितहोमिनां निशान्ते । **द्यु**शब्दो दिवसपर्यायः ।

सदा । यावज्जीवं सायंप्रातर्होमः कर्तव्यः ।

दर्शेन यजेतेत्यत्राध्याहर्तव्यम् । न हि तत्रोत्पत्तौ जुहुयादित्यस्ति, किंतर्हि 'दर्शेन यजेतेति' । तदनुवादश्चायम् । अतएवाध्याहारः क्रियते । अत एव अविशेषश्रवणेऽपि **अर्धमासान्त** इति कृष्णपक्षान्ते दर्शः शुक्लान्ते पौर्णमासः । तथा च श्रुतिः "दर्शे च दर्शेन यजेत् पूर्णमास्यां पूर्णमासेन यजेतेति" ॥२५॥

हिन्दी—(द्विज अनुदित होमपक्ष में) सर्वदा दिन और रात के अन्त में अग्निहोत्र हवन करे और मासार्द्ध (कृष्णपक्ष के अन्त में) दर्शश्राद्ध तथा शुक्लपक्ष के अन्त में पौर्णमास श्राद्ध करे ॥२५॥

विमर्श— अग्निहोत्र के लिए दो पक्ष मन्वर्थमुक्तावलीकार ने बतलाए हैं— पहला उदितहोमपक्ष और दूसरा अनुदितहोमपक्ष । इनमें भी दो विकल्प हैं । प्रथम विकल्प के अनुसार दिन और रात्रि के आदि में अग्निहोत्र करना 'उदितहोम' तथा दिन और रात्रि के अन्त में अग्निहोत्र करना 'अनुदितहोम' है एवं द्वितीय विकल्प के अनुसार दिन के आदि और अन्त में अग्निहोत्र करना 'उदितहोम' तथा रात्रि के आदि और अन्त में अग्निहोत्र करना 'अनुदितहोम' है ।

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।
पशुना त्वयनान्ते तु समांते सौमिकैर्मखैः ।।२६।।

भाष्य—सस्यशब्दो ब्रीह्यादिधान्यवचनः । तस्या**न्तः** क्षयः । पूर्वसस्येषु क्षीणेषु नवसस्येष्ट्या यजेत, आग्रयणेनेत्यर्थः ।

न चात्र पूर्वसस्यक्षय आग्रयणनिमित्तं, नापि नवसस्यागमः, किं**तर्हि** अकृताग्रयणस्य नवान्नाशनं प्रतिषिद्धम् । येनाह "नानिष्ट्वा नवान्नमद्यादिति" । अतो नवसस्यभक्षणमाग्रयणेनेत्यर्थः । तेन यजेतेति व्याचक्षते ।

अस्मिंस्तु पक्षे पूर्वसस्याभावात् नवसस्यस्य भावादन्यतो वा, असत्यां चाशिशिक्षायां न नियमतया आग्रयणं प्राप्नोति । अथेदं 'सस्यांत' इति नवोत्पत्त्युपलक्षणं, तदाऽनिष्ट्वा भक्षणं प्राप्नोति ।

तस्माद् द्वे एते वाक्ये । 'नानिष्ट्वाऽश्नीयात्'इत्येकं, 'सस्यान्त' इति द्वितीयम् । 'सस्यान्त'ग्रहणेन च सस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेता, नियतत्वात्तस्या निमित्तस्योपपत्तिः । क्षयस्त्वनियतः, धनिनां हि त्रैवार्षिकान्यपि धान्यान्यत्र प्रवर्तन्ते । अत एव सूत्रकारः "सस्यं नाश्नीयादग्निहोत्रमहुत्वेति" । तथा 'यदा वर्षस्य तृप्तः स्यादथाग्रयणेन यजेतेति" । तथेदमपरं "शरदि नवान्नमिति" कालविशेषविधायकम् । तत्र यस्य पूर्वसस्यक्षयो नास्ति, स शरदमाद्रियते, इतरस्तु न । एवमुभयोरर्थवत्ता च भवति । इतरथा एवमेवावक्ष्यत 'नवसस्योत्पत्तौ नवसस्येष्ट्या यजेतेति' । यतस्त्वाह "नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या नवान्नमश्नीयादिति"— तेन उत्पन्नेष्वपि नवसस्येषु विद्यमानस्य अस्ति शरत्प्रतिपालनम् । नवसस्योत्पत्तिनिमित्तत्वाच्च असत्यामपि नवान्नाशनेच्छायां नियमत आग्रयणम् ।

ऋत्वन्ते । 'ऋतुः संवत्सर' इतिदर्शनेन चातुर्मास्यानामेतत्करणमुच्यते । **अध्वर**-शब्देन तान्येवाभिप्रेतानि ।

अयनयोरादी **अयनान्ते** । ते च द्वे अयने दक्षिणमुत्तरं च । तत्र पशुयागः कर्त्तव्यो द्विः संवत्सरस्य । सूत्रकारस्त्वाह "षाण्मास्यः सांवत्सरो वेति" ।

समान्ते । समाशब्दः संवत्सरपर्यायस्तस्य चान्तः समाप्तिः, शिशिरे । न च तत्रेदं सौमिकयागविधानं, किंतर्हि गते तस्मिन्वसन्त आगते । तथा च श्रुतिः "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेतेति" ।

एतावन्ति नित्यानि कर्माणि । तानि यथाकथंचिद्वेदसंन्यासिकेनापि संपाद्यानीति सर्वस्य तात्पर्यम् ।।२६।।

हिन्दी—पुराने अन्न के अन्त समय (समाप्ति) में या असमाप्ति[१] में भी 'नवसस्येष्टि'

---

१. 'शरदि नवानाम्' इति सूत्रकारवचनसमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये इत्युक्तेः ।

(आग्रहायण यज्ञ) से, ऋतु के अन्त में 'चातुर्मास्य' यज्ञ से, अयनों के अन्त में 'पशुबंध' यज्ञ से और वर्ष के अन्त में 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञ से यज्ञ करे ॥२६॥

विमर्श— इस श्लोक में 'ऋतु' शब्द के 'हेमन्त' आदि छः ऋतु इष्ट नहीं हैं किन्तु शीत, ग्रीष्म और वर्षा— ये ही तीन ऋतु इष्ट हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन के भेद से अयन दो होते हैं, सूर्य की मकर संक्रान्ति से लेकर मिथुन संक्रान्ति तक 'उत्तरायण' तथा कर्क संक्रान्ति से लेकर धनु संक्रान्ति तक 'दक्षिणायन' होता है। ज्योतिःशास्त्र के अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपद से वर्ष का आरम्भ होने से शिशिर ऋतु के समाप्त होने पर बसन्त ऋतु में वर्षान्त सम्बन्धी 'अग्निष्टोमयज्ञ' करना चाहिये।

नवसस्येष्टि के बिना नवान्न भोजन निषेध—

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः ।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।।२७।।

भाष्य—**अग्निमाना**हिताग्निरत्राभिप्रेतः, व्रताधिकारात्। तस्य होमस्य याजुर्वेदिकं व्रतम्। **नानिष्ट्वा पशुना** मांसं समश्नीयान्नाग्रयणेन नवान्नमिति।

नियमानुपालने फलमाह। **दीर्घमायुर्जिजीविषुः**। आयुःशब्देन प्रबन्धवत्यः प्राणापानवृत्तय उच्यन्ते। द्वितीया च सत्यपि जीवतेरकर्मकत्वेऽपि इषिक्रियापेक्षया। सन्नन्तोऽपि धातुरिच्छायां वर्तते। अत्रापि दर्शने इषेः कर्म प्रकृत्यर्थो न बाह्यम्, इच्छा वेष्यमाणं प्रति गुणभूता, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्यार्थं सह ब्रुवत इति सन्नंतादन्यत्रापि। अस्मिन्नपि दर्शने आयुःशब्देन कालो लक्षयिष्यते, दीर्घकालं जीवनमिच्छन्। तत्र 'कालताऽवाऽवगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति' कर्मत्वम्।

एष चाहिताग्नेः पशुबन्धे नियमः, आग्रयणेऽपि। गृह्याग्निमतोऽपि गृह्यस्मृतिषु नियमतया आग्रयणं विहितम्।

यच्चेदं 'शरदि नवान्नमिति', तत् व्रीहिश्यामाकयोः न यवानाम्। न च सस्यमात्रेण सस्येष्टियागः, न च माषमुद्गादिना। यत इदं शास्त्रान्तरसापेक्षं, न स्वतो विधायकमित्युक्तम्। शास्त्रान्तरेषु च व्रीहिश्यामाकयवैराग्रयणेष्टिर्विहिता।

किं त्वन्यदपि सस्यं नाशितव्यमकृतायामाग्रयणेष्टौ। यत् उक्तमविशेषेण 'सस्यं नाश्नीयादिति'। तन्निषेधे ह्यभिप्रेते इयदेवावक्ष्यत्'आग्रयणं व्रीहिश्यामाकयवानां नाश्नीयादग्निहोत्रमहुत्वेति'। एवं सूत्रकारेण पठितम् "आग्रयणं व्रीहिश्यामाकयवानां, सस्यं नाश्नीयादग्निहोत्रमहुत्वेति"। अतोऽयं सस्यशब्दो न प्रतिनियतविषय एव ॥२७॥

हिन्दी—बहुत आयु तक जीने का इच्छुक अग्निहोत्री ब्राह्मण बिना 'नवसस्येष्टि' (आग्रहायण) यज्ञ किये नये अन्न को तथा बिना 'पशुवंध' यज्ञ किये नये पशु के मांस को नहीं खावे ॥२७॥

नवसस्येष्टि आदि यज्ञ के नहीं करने पर—

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्रय: ।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिन: ।।२८।।

भाष्य—नित्यतामेव समर्थयते अकरणदोषदर्शनेन ।

नवेन सस्येन अनर्चिता अकृतहोमा अग्नयोऽस्याहिताग्ने: **प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति** भक्षयितुम् । **गर्धिन:** गर्धं अभिलाषातिशय:— तदस्यास्तीति मत्वर्थीय इनि: ॥२८॥

हिन्दी—क्योंकि नये अन्न तथा नये पशु से बिना पूजित नये अन्न तथा नये पशु मांस की अतिशय अभिलाषा करने वाले अग्निदेव (इस अग्निहोत्री के) प्राणों को ही खाने की इच्छा करते हैं ॥२८॥

यथाशक्ति अतिथिपूजन—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथि: ।।२९।।

भाष्य—उक्तमिदमुत्तरार्थमनूद्यते ।

न **कश्चिदतिथिरनर्चितो** गृहे वसेत् । सर्वोऽतिथिरर्चितो गृहे वासनीय: ।

शक्तित: । एको द्वौ बहवो यावन्त: शक्यन्तेऽर्चयितुं सर्वे आसनादिभिरर्चनीया: । अर्चापूर्वकमेतदेभ्यो वसतां प्रकल्पयितुम्, न तु सर्वेण सर्वमासनाशनशय्यानां स्त्व-निवृत्तिरुच्यते ।

भक्तयूषमांसान्नाज्याशनासंभवे पृथगुपादानात् मूलफलं दातव्यम् ॥२९॥

हिन्दी—जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल और मूल-फल से अतिथि की पूजा नहीं होती है, उसमें कोई अतिथि निवास न करे । (गृहस्थ का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति के अनुसार अतिथियों का आसन भोजनादि से सत्कार करे) ॥२९॥

पाखण्डी आदि के सत्कार का निषेध—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।।३०।।

भाष्य—अत्र वसेदिति लिङ्गात्सायमातिथ्यप्रतिषेधोऽयं पाषण्ड्यादीनामित्याहु: ।

तदयुक्तम् । अर्चनीयताऽत्र निवार्यते । न तु सर्वेण सर्वभक्ताद्यदानमेवोच्यते । दिवाऽपि भुञ्जानानां कतिचित् क्षणावास उपपद्यत एव । अतो न लिङ्गं सायंकालस्य 'वसेदिति' ।

तत्र **पाषण्डिनो** बाह्यलिङ्गिनो रक्तपट— नग्न— चरकादयः ।

विकर्मस्थाः— अत्रानापदि ये वर्णान्तरवृत्त्या जीवन्ति । यथा ब्राह्मणः क्षत्रवृत्त्या, क्षत्रियो वैश्यवृत्त्या इत्यादि ।

बैडालव्रतिका दाम्भिकाः । ये च लोकावर्जनार्थं अग्निहोत्राद्यनुतिष्ठन्ति, 'इति गृहादि लिप्सामह' इति, न शास्त्रचोदितत्वेन स्वधर्मतया ।

शठाः । येषामन्यत् हृदयेऽन्यद्वाचि । उपकारं कस्यचित्प्रतिज्ञाय कर्तव्यतया अवधीरयन्ति, न कुर्वन्ति ।

हैतुका नास्तिकाः । 'नास्ति परलोकः', नास्ति दत्तं, नास्ति हुतं, इत्येवं स्थित-प्रज्ञाः । **बकवृत्तयः** दाम्भिका एव, ईषद्भेदभिन्नाः । भेदः परस्परं दर्शयिष्यते ।

वाङ्मात्रेणापि । तिष्ठतु तावदासनादिदानं, पूजापूर्वकं स्वागतम्— 'आस्यता-मत्र' इत्येवमाद्यपि न वक्तव्याः । अन्नदानं तु श्वपचादिवदिष्यते । तथा च भगवान् कृष्णद्वैपायनोऽन्नदानमेवाधिकृत्य स्मरतिस्म ''न पृच्छेज्जन्म न श्रुतमिति'' । नात्र पात्र-गवेषणा कर्तव्येत्यर्थः ।।३०।।

हिन्दी—पाखण्डी (वेद वचन के विरुद्ध व्रत एवं तपस्वी की वेश-भूषा-जटा-काषाय वस्त्रादि को धारण करने वाले), विरुद्ध कर्म करने वाले (बौद्धभिक्षु क्षपणक आदि) वैडालव्रती (४।१९६), शठ (वेद— स्मृति के वचनों में विश्वास नहीं रखने वाले), हेतुवादी (धर्म को वेद वचन के अनुसार नहीं मानकर तर्क करने वाले), बक-वृत्ति (४।१९७) अतिथियों का वचन मात्र से भी पूजन न करे (अतिथि मानकर पूजत्व बुद्धि न रखे, किन्तु ४।३२ में कथित वचन के अनुसार यथाशक्ति उनको भी अन्न आदि देवे ही) ।।३०।।

वेद-स्नातकादि का पूजन—

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ।।३१।।

भाष्य—'वेदश्च' 'विद्या' च 'व्रतानि' च तैः 'स्नाताः' तत्र परिसमाप्तिं गताः । विविधा स्नातका गृह्यन्ते । तत्र 'वेदस्नातका' अधीतवेदाः । 'विद्यास्नातका' विद्यार्थ-जिज्ञासानिवृत्ताः । 'विद्या' सन्निधानाद्वेदविषयैव गृह्यते । तस्या एव वस्तुतो विद्यात्वम् । व्रतानि ''षट्त्रिंशदाब्दिकम्'' इत्यादीनि (अ० ३ श्लो० १) । सत्यामपि वेदतदर्थ-जिज्ञासासमाप्तौ न तावत्येव 'स्नानं', किंतर्हि षट्त्रिंशदब्दादिकालः पूरयितव्यः इति पक्षोऽप्यस्ति । अन्ये तु येऽनधीत्यैव वेदं वर्षत्रयात् स्नान्ति ते 'ब्रतस्नातका' इत्याचक्षते ।

अनधीतवेदस्य कुतः स्नानमित्यपक्षोऽयम् ।

''ननु च श्रोत्रियग्रहणं किमर्थं स्नातकत्वेनैव सिद्धत्वात्''।

अतिशयार्थम्। तेन वेदाभ्यासरता गृह्यन्ते **श्रोत्रिया:**।

गृहमेधिनो गृहस्था:। नानेन भिक्षुतापसब्रह्मचारिणामपूजनीयत्वमुच्यते—किंतर्हिभैक्ष्यभोजित्वात्तेषां नातिथित्वसंभव:। ब्रह्मचारिणो गुरुगृहात्तापसस्य च वनान्नान्यत्र वास:। प्रव्रजितस्यापि 'भैक्षार्थी ग्राममियादिति' न ग्रामे वास:। अतोऽन्येषामाश्रमिणां गृहादन्यत्र वासात्कथंचित्सम्भवेऽपि प्रायिकमेत**द्गृहमेधिन** इति।

हव्येन कव्येन। दैवकर्मणि शान्त्यादौ पित्र्ये वा श्राद्धे त एव पूज्या:।

विपरीता: अस्नातका: वर्ज्या: पूर्वोक्तदोषाभावेऽपि ॥३१॥

हिन्दी—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, उभय (वेद-विद्या) स्नातक और श्रोत्रिय गृहाश्रमियों की हव्य तथा कव्य देवकर्म तथा पितृकर्म में पूजा करे और दूसरों को (इनसे प्रतिकूल आचरण वालों) का त्याग करे (पूजन न करे) ॥३१॥

विमर्श—स्नातक तीन प्रकार के होते हैं— विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। उनमें वेदों को समाप्त कर व्रतों को समाप्त नहीं करने वाला 'विद्यास्नातक' व्रतों को समाप्तकर वेदों को समाप्त नहीं करने वाला 'व्रतस्नातक' और वेद तथा विद्या दोनों को समाप्त करने वाला 'विद्याव्रतस्नातक' (उभयस्नातक) कहलाता है।[१]

ब्रह्मचारी आदि के लिये अन्नदान—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्य: कर्तव्योऽनुपरोधत: ॥३२॥

भाष्य—अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजका इत्याहु:। तदुक्तम्। तेभ्यो नित्यवद्दानं विहितमेव 'भिक्षां च भिक्षवे दद्यादिति' (३। ९४) तस्माद्ये दरिद्रा भैक्षजीवनाश्च पाखण्ड्यादय: तेभ्य: **शक्तितो दातव्यम्**। यावद्द्रय: शक्यते यावच्च पच्यते। पचिक्रियाविरहनिमित्तत्वाच्च सिद्धान्नदानमेवेदम्।

संविभागश्च। अन्येनापि धनेन इन्धनपरिधानौषधाद्युपयोगिना **संविभाग: कर्तव्य:** कश्चिदंशो दातव्य:।

सर्व**भूतेभ्य:**। भूतशब्दोयं चेतनात्मकं जगदाचष्टे। यथा ''गायत्री वा इदं सर्वं भूतमिति''। अचेतनानां चेतनवदुपकारार्थतया संविभागानुपपत्ते: चेतनावत्स्वेवावतिष्ठते।

---

१. यथाह हारीत:— ''य: समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते, स 'विद्यास्नातक:। य: समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदान् समावर्तते, स 'व्रतस्नातक:'। उभयं समाप्यं य: समावर्तते, स विद्याव्रतस्नातक:'' इति। (म०मु०)।

अतश्च "प्ररोहधर्मकाश्चेतनावन्तः"। इति दर्शने वृक्षादीनामपि जलसेकाद्यर्थो धन-संविभागः कर्तव्यः।

बह्वर्थोऽयं भूतशब्दः। कश्चित्प्राधान्ये वर्तते 'भूतमियं ब्राह्मण्यस्मिन् गृहे'। क्वचित्पैशाचवचनो 'भूतोपसृष्ट' इति। क्वचिद्विपरीतेऽर्थे वर्तते 'भूतमाहेति'। क्वचिदतिक्रान्तकालवचनो 'भूतो धात्वर्थ' इति। क्वचिद्देवताविशेषे 'भूतेभ्यो बलिरिति'। क्वचिच्चेतनावन्मात्रवचनो 'न हिंस्याद् भूतानीति'। क्वचित्प्राप्तिवचनो 'महद्भूतश्चन्द्रमा' इति। क्वचिदुपमायां वर्तते 'यथा काव्यभूत' इति। क्वचिदुत्पत्तिवचनो यथा 'देवदत्तस्य पुत्रो भूत' इति। इह तु यः पदार्थस्तद्व्याख्यातम्।

भूतेभ्य इति तादर्थ्ये चतुर्थी।

अनुपरोधतः। आत्मकुटुम्बपीडा यथा न भवति तत्पर्याप्तं स्थापयित्वा, अधिकेन संविभागः कर्तव्यः। तदुक्तं "भृत्यानामुपरोधेनेति" (मनुस्मृ० अ० ११ श्लो० १०)॥३२॥

हिन्दी—अपने हाथ से भोजन-पाक नहीं करने वाले ब्रह्मचारी, परिव्राजक (संन्यासी) और पाखण्डी आदि के लिये गृहाश्रमी अन्न देवे और परिवार, भृत्यादि के उदरपूर्ति आदि में कमी नहीं करते हुए ही जीवों वृक्षादि पर्यन्त जीवों तक) के लिये (जलादि का यथायोग्य) विभाग करे ॥३२॥

विमर्श— यद्यपि कृत्वैतत्— (३।९४) वचन से ब्रह्मचारी तथा संन्यासी को अन्न देने के लिए कह चुके हैं, तथापि पचमान (स्वयं भोजनपाक करने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठता तथा स्नातक व्रतत्व की सूचना के लिए प्रकृत वचन पुनः कहा, गया है। मेधातिथि तथा गोविन्दराज का मत है कि— 'कृत्वैतत्') (३।९४) वचन से ब्रह्मचारी तथा संन्यासी के लिए अन्नदान का विधान पहले कर चुकने से यह वचन पाखण्डी आदि के लिए ही मुख्यतः) है।

क्षत्रियादि से धन लेना—

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥३३॥

भाष्य—राजग्रहणमाढ्यवर्णोपलक्षणार्थम्। तथा च वक्ष्यति (अ० १० श्लो० ११३) "सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः। याच्यः। स्यादिति"। तेन राजशब्दः क्षत्रियजातौ मुख्यः। तथापि शास्त्रान्तपर्यालोचनया जनपदेश्वरवचन इति गम्यते। जनपदेश्वरा हि बहुधना भवन्ति। तेनैतदुक्तं भवति— 'येऽत्यन्तसम्पन्ना गोऽजाविधनधान्यैस्तेभ्यः प्रतिग्रहीतव्यम्'। तथा सत्यद्रोहेणेत्येतदादृतं भवति। आढ्या हि ददतो नातीव पीड्यन्ते। स्वल्पधनेभ्यस्तु परिगृह्णतो दोषः स्यात्। मुख्यार्थवृत्तौ च

राजशब्दे ब्राह्मणादिभ्यः प्रतिग्रहः प्रतिषिध्येत। तत्र सर्वस्मृतिविरोधः स्यात्। स्मृत्यन्तरे हि पठ्यते "आददीत प्रशस्तद्विजादिभ्यः शुश्रूषोश्च शूद्रादपक्कान्नमिति"। प्रतिषेधेऽपि "न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादिति" राजशब्दो जनपदेश्वरवचन एव। किंच न क्षत्रियस्य तत्र प्रतिषेधः "अराजन्यप्रसूतित" इति वचनात्। अत एव न क्षत्रियजातीयात्तत्र तन्निषेधस्तथा सत्यराजन्यप्रसूतित इति न वक्तव्यं स्यात्। न ह्यराजन्यप्रसूतितः क्षत्रिया भवन्ति। तेनेयमत्र व्यवस्था— क्षत्रियाद्राज्ञो यथाशास्त्रवर्तिनः प्रतिग्रहः कर्तव्यः। अन्यस्मात्पुनर्न।

याज्यान्तेवासिनोः। धनापेक्षा षष्ठी। तसंतो वा पठितव्यः। क्रियानिमित्तत्वादेतयोः शब्दयोर्याजनाध्यापनाभ्यां जीवेदित्युक्तं भवति।

अन्ये त्वाहुः— अन्येषामुपपातकप्राप्तिश्चौर्यादीनां चोपायानां निषिद्धत्वात् ईश्वरमाराध्य जीवेत्प्रीतिदायेन स्वस्तिवाचनकेन वा। न चायं सेवकः। सा वृत्तिर्निषिद्धा। एवं कृतोपकारादयाजयन्नपि याज्यादाददीत। निवृत्तेऽपि सम्बन्धे कृत्यो वर्तत इति।

संसीदन्निति। पित्रादिधने सति न कर्तव्यम्। तदुक्तम् "न कल्पमानेष्वर्थेषु"।

तस्यैवायमनुवादः।

न चायमापद्धर्मः। नहि 'अवसाद' आपत्, किंतर्हि अर्जितधनाभावः। 'आपत्' तु विहितोपायाभावो धनक्षयश्च। सत्यपि धान्यधनबहुत्वे अन्नपरिक्षये दुर्भिक्षादावातिथ्यसन्निहितान्नता क्षुत्पीडितस्य 'आपत्', अक्षुधितस्यापि धनाभावात् 'अवसाद' इत्येष एतयोर्विशेषः। **न त्वन्यतः**— स्वल्पधनान्नानुपकार्यात् गृह्णीयात्॥३३॥

हिन्दी—'भूख से पीड़ित स्नातक क्षत्रिय, यजमान और शिष्य से धन लेने की इच्छा करे, दूसरे किसी से नहीं' ऐसी स्थिति (शास्त्रोक्त वचन) है॥३३॥

विमर्श—"न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्— " (४।८४) वचन द्वारा आगे राजा से धन लेने के लिए किया गया निषेध "क्षत्रिय राजा" के लिये है। अतः धर्म तत्पर 'क्षत्रिय' से धन लेने में कोई दोष नहीं है; क्योंकि क्षत्रिय के अधिक धनसम्पन्न होने से उसे दान देने में कष्ट नहीं होगा तथा यजमान एवं शिष्य के उपकृत होने से उसके भी अभाव में— आपत्काल में "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्—" (१०।१०२) वचन के अनुसार दूसरे (राजा आदि) से भी धन लेने में दोष नहीं। यहाँ पर 'न त्वन्यतः' पद से दूसरे से धन लेने का निषेध होने से आगे (१०।१०२) सर्व से प्रतिग्रह लेने का विधान करने से यह प्रकृत वचन आपत्ति काल परक नहीं हो सकता, आपत्ति काल के लिए क्षत्रिय जातीय राजा से प्रतिग्रह की प्राप्ति होना असम्भव होने पर 'सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः' (१०।११३) वचन के अनुसार शूद्र को राजा से प्रतिग्रह लेने का विधान किया गया है।

भूख आदि से दुःखी होने का निषेध—

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथञ्चन ।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ।।३४।।

भाष्य—यदि च कुतश्चिद्धनार्थाद्व्यापाराद्व्याहन्येत न तदैवापद्धर्मानाश्रयेत्। किंतर्हि पुनरुत्पाद्येत। तदुक्तम् "आमृत्योः श्रियमन्विच्छेदिति" (अ० ४ श्लो० १३७)। अतश्च यदि कथञ्चित् कृषतो वर्षाद्यभावेन सस्यनाशो भवेन्नेयता त्यागेन सहसैव परपिण्डोपजीवनायाञ्चापरेण भवितव्यम्। सत्यां युक्तौ जीर्णमलिने च वाससी धनविभवे सति नेष्येते ॥३४॥

हिन्दी—(विद्या आदि के द्वारा प्रतिग्रह आदि लेने में) समर्थ होता हुआ स्नातक किसी प्रकार दुःखित न होवे तथा धन (वैभव) रहने पर फटे और मैले कपड़ों को न पहने ॥३४॥

स्वाध्यायादि में तत्परता—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ।।३५।।

भाष्य—कल्पनम्। 'छेदनं दन्तवासस' इत्येतदपेक्षं चैतत्कल्पनं नियमतः। अत एव **शुचि**रित्याह। दीर्घकेशस्य हि स्नानादिषु क्लेशसाध्यत्वात् अलसः स्यात्तथाऽशुचित्वप्रसङ्गः। यदि तु केशादिप्रसृतोऽपि स्नानपरः स्यान्नैव धारणं दुष्येत्।

दान्तः दर्पवर्जितः।

शुचिः अर्थेषु, शुद्धिनिमित्तैर्मृद्वार्याचमनादिभिश्च। वेदाध्ययने च नित्याभियुक्तः। उक्तोऽप्ययमर्थ आदरार्थः पुनः पुनरुच्यते। **आत्महितानि** व्याधेः प्रतीकारादिना अजीर्णातिवेलगुरुविदाहिभोजनवर्जनादीनि॥३५॥

हिन्दी—बाल, दाँत तथा दाढ़ी को कटवाता हुआ (मुण्डन कराता हुआ नहीं) तप के कष्ट को सहन करता हुआ, श्वेत कपड़ों को पहनने वाला, स्वाध्याय (वेदादि के पाठ) में तत्पर (ब्राह्मण गृहस्थ) सर्वदा अपने हित (औषधादि के द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा) में तत्पर रहे ॥३५॥

दण्ड तथा कमण्डलु आदि का ग्रहण—

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ।।३६।।

भाष्य—यज्ञोपवीतकुण्डलयोर्धारणं शरीरसंयोगः। यस्य च यस्मिन्नङ्गे समुचितः

सन्निवेश: स तत्रैव विनियोजनीय: । यथा कुण्डलं कर्णयोरुपवीतं काय इति । कर्णाभरणस्य कुण्डलाख्यत्वात् । कण्ठसक्तस्य च सूत्रस्य दक्षिणबाहूद्धारणेनोपवीतत्वात् ।

दृष्टप्रयोजनत्वाच्च यष्ट्यादीनां सर्वदाऽङ्गसङ्ग: ।

तथाहि यष्टिधारणं श्रान्तस्यावलम्बनार्थे सम्मुखागतघातकगवादिनिवारणार्थं च । उद्धृतोदकेन शौचस्य विहितत्वात् आधारापेक्षया कमण्डलुर्नियम्यते । स च तुल्यकार्यत्वात् कलशादीन् निवर्तयति, न कुण्डलकटकादीन् । अतश्च पुरीषनिमित्तस्योदकशोध्याशुचित्वापनोदार्थं सोदकत्वं कमण्डलो:। उक्तं च "मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाशुचि तिष्ठेदिति"। 'शक्तिविषय' इति— यदि पूर्वगृहीतमुदकमुपयुक्तमन्यथाप्राप्तमशुचित्वनिमित्तं च श्लेष्मनिष्ठोवनाद्युत्पन्नं तत्रोदकालाभादशुचित्वं न दोष: । तथापि मूत्रपुरीषविस्रंसने स्नानं वक्ष्यति (अ० ११ श्लो० २०२) "विनाऽद्भिरप्सु वार्प्यात: शारीरं संनिवेश्य तु । सचैलो बहिराप्लुत्येति" ॥ शुचिश्च स्मृत्यन्तरे प्रतिपदमाम्नात: । एवं ह स्माह भगवान्वसिष्ठ: [अ० १२ श्लो० १५-१७]

"अप्सु पाणौ च काष्ठे च कथित: पावक: शुचि: ।
तस्मादुदकपाणिभ्यां परिमृज्य कमण्डलुम् ॥
"पर्यग्निकरणं होमं मनुराह प्रजापति: ।
कृत्वा चावश्यकार्याणि आचामेच्छौचवित्तम:"॥

बौधायनेनाप्युक्तम् "अथ कमण्डलुं धार्यम्" इत्युपक्रम्य ।

"तस्माच्छौचं तत: कृत्वा परिमृज्य कमण्डलुम् ।
पर्यग्निकरणं ह्येतद्यद्वस्तुपरिमार्जनम्" ॥

तथा ।

"कमण्डलुं परिहरेत्पूर्वावस्थोऽप्यशौचत: ।
न चैनं कुत्सयेद्विद्वान्न शङ्केन्न च दूषयेत् ॥"

आकारविशेषनिमित्तश्चायं शब्दो न जातिमाद्रियते । अतो मृण्मयस्य सौवर्णस्य राजतस्य वा एषैव शुद्धिर्न प्रकृतिजातिसम्बन्धिनी । मूत्रादिस्पर्शे तु प्रकृतिजातिशुद्धिरवधेया । हस्तमार्जनं तूच्छिष्टपुरुषसंस्पर्शाद्यशुचित्वात् ।

तथा च गौतम:, "क्वचिच्छौचार्थं सन्निधाय" इत्याह । अत इहापि सन्निधानमेवाभिप्रेतं, न स्वात्मना ग्रहणम् ।

वेदो दर्भमुष्टिस्तस्य च "प्राणोपस्पर्शनं दर्भै:" इत्यादि प्रयोजनम् ।

अतश्चादृष्टार्थानां सार्वकालिकशरीरसम्बन्धो, दृष्टार्थानां तु संनिधिर्नित्यं, प्रयोजनतस्तु ग्रहणमिति ।

शुभे दर्शनीये, आकारतः तापच्छेदकषैश्च सुवर्णशुद्ध्या ॥३६॥

हिन्दी—बाँस की छड़ी, जप सहित कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेद और सोने के दो सुन्दर कुण्डलों को (ब्राह्मण गृहाश्रमी) धारण करे ॥३६॥

काल विशेष में सूर्यदर्शन का निषेध—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ।।३७।।

भाष्य—उपसृष्टो ग्रहोपरक्तः ।

उदके प्रतिबिम्बितो **वारिस्थः** ।

नभः अन्तरिक्षं तस्य मध्यगतं पश्येन्न मध्याह्नकाले ॥३७॥

हिन्दी—उदय तथा अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए, पानी में प्रतिबिम्ब और (मध्याह्न में) आकाश के मध्य में स्थित सूर्य को कभी न देखे— ॥३७॥

वत्स आदि की रस्सी के लङ्घनादि का निषेध—

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वरूपमिति धरणा ।।३८।।

भाष्य—वत्सबन्धनार्था रज्जु**र्वत्सतन्त्री** वत्सपङ्क्तिर्वा, तां **न लङ्घयेन्ना**पक्रामेत्। तथा च गौतमः (अ० ९ सू० ५२) "नोपरि वत्सतन्त्रीं गच्छेत्" ।

स्वरूपं शरीरसंस्थानम् । स्वग्रहणात्परस्य रूपप्रेक्षणं न पर्युदस्यते ।

इति धारणा एष निश्चयः शास्त्रेषु ॥३८॥

हिन्दी—बछवाँ बाँधने की रस्सी (पगहा) को न लांघे, पानी बरसते रहने पर न दौड़े और पानी में पड़ी हुई अपनी परछाई को न देखे, यह शास्त्र की मर्यादा है ॥३८॥

मिट्टी, गौ आदि को दाहिने करके जाना—

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।।३९।।

भाष्य—प्रस्थितस्याभिमुखागतान् मृदादीन् प्रत्ययं विधिः । मृदादयो येन दक्षिणो हस्तः तेन कर्तव्यः । उद्धृता च मृदेवं कर्तव्या । एवं हि शास्त्रान्तरं प्रस्थानाधिकारे पठति 'प्रदक्षिणमावर्त्येति' ।

दैवतंपटादिलिखितम् अर्चार्थम् । गौतमस्तु "देवतायतनानि सप्रदक्षिणमनुवर्तेतेति" पठति । लोकप्रसिद्ध्या चतुर्भुजमार्तण्डागारादि देवतायतनं विज्ञेयम् । 'यज्ञगृहाणि चेति' वक्ष्यति ।

मधु घृतसाहचर्यात् सारघं, मङ्गल्यमध्यपाठाच्च।

प्रज्ञाता वनस्पतयो महाप्रमाणाः प्रसिद्धा **वनस्पतयो** महावृक्षाः प्रमाणतः पुष्पफलातिशयतो वा प्रसिद्धा उदुम्बरादयः। "ऊर्ग्वा उदुम्बरः" इत्यर्थवादः। ये तु गुणाधिकान् **'प्रज्ञातान्'** आचक्षते ते निर्मूलप्रसिद्धिमात्रप्रमाणका उपेक्षणीयाः ॥३९॥

हिन्दी—(कहीं जाते-आते समय रास्तें में मिले हुए) मिट्टी के ढेर, गौ, देव-प्रतिमा ब्राह्मण, घी, मधु, (शहद), चौरास्ता और परिचित बड़े-बड़े वनस्पति (पीपल बड़ आदि के पेड़) के प्रदक्षिण क्रम से (उन्हें अपने दाहिने भाग में करके) जावे ॥३९॥

रजस्वला-संभोग का निषेध—

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥४०॥

भाष्य—प्रमत्तः कामशरैः पीडितोऽपि **आर्तवं** स्त्रीलिङ्गशोणितं मासि मासि प्रसिद्धम्। **तद्दर्शने** न गच्छेत्। एकस्यां च शय्यायां **तया सह न शयीत।**

"स्पर्शप्रतिषेधादेव तत्सिद्धमिति" चेत्, नायं प्रतिषेधः। व्रतमिदं, प्रायश्चित्त-भेदश्च ॥४०॥

हिन्दी—कामवश उन्मत्त (पागल) होकर भी रजोदर्शन होने पर (रजस्वला होने पर उसके साथ) संभोग न करे और उस (रजस्वला) के साथ एक आसन या शय्या पर न (बैठे और न) सोवे ॥४०॥

रजस्वला सम्भोग से बुद्ध्यादि हानि—

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥४१॥

भाष्य—रजः पूर्वोक्तमार्तवम्। **अभिप्लुतां** तेन सम्बद्धाम्। पूर्वस्यार्थवादः॥४१॥

हिन्दी—रजस्वला के साथ सम्भोग करते हुए पुरुष की बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु क्षीण हो जाती है ॥४१॥

रजस्वला के संसर्गत्याग से बुद्ध्यादि-वृद्धि—

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥४२॥

भाष्य—वृद्धिवचनं स्तुतिरेव ॥४२॥

हिन्दी—उस (रजस्वला स्त्री) को छोड़ के (सम्भोग तथा स्पर्श का त्याग करते) हुए (गृहस्थ की) बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु बढ़ती है ॥४२॥

स्त्री के साथ भोजनादि निषेध—

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ।।४३।।

भाष्य—"नित्यमास्यं शुचिस्त्रीणामिति" (मनु० अ० ५ श्लो० १३०) शुचित्ववचनं— "स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमिति" च प्रतिषेधः । द्वयमपि विषयविभागेन व्यवस्थितम्। तत्र शुचित्ववचनं "स्त्रियश्च रतिसंसर्गे" इति स्मृत्यन्तरदर्शनेन रतिस्त्रीविषयं विज्ञायते। अतः प्रतिषेधोऽपि पारिशेष्यादरतिस्त्रीषु मातृभगिन्यादिषु द्रष्टव्यः । यतो रतिर्नेह प्रीतिमात्रं, किंतर्हि मन्मथनिमित्तो भावविशेष इति शृङ्गारपूर्वकोऽभिलाषादिरूपः । अतस्तद्युक्तासु शुचित्वं, विपरीतासु प्रतिषेधः ।

रतिनिमित्तार्थतया भार्यया सह भोजने प्राप्ते वचनमिदमारभ्यते **नाश्नीयाद्भार्यया सार्धमिति** ।

अथ "संसर्गग्रहणेन वृषस्यतो संप्रयोगविशेषः कथ्यते। तदानीं परिचुम्बनादेव शुचित्वमिति नास्ति भार्यया सह भोजनप्राप्तिः" ।

तत्रेदं पुनर्वचनं व्रतज्ञापनार्थम् । ततश्च यावज्जीविकः सङ्कल्पः कर्तव्यो यथा भार्यया सह भोजनं न भवति ।

एतच्च सहभोजनमेकाधिकरणमेककालदेशं नञर्थविषयतया चोद्यत इति गतोच्छिष्टप्रतिषेधगतार्थशङ्केति । स पुनरयमीदृशः । सहार्थविशेषः प्रमाणान्तरतः स्मृत्यन्तरसमाचारादेः । शेषशब्दार्थो ह्यन्योप्तेक्षितमात्रम् । तथा "इतरानपि सख्यादीन्...भोजयेत् सह भार्ययेति" (अ० ३ श्लो० १०३) नात्रैकाधिकरणता भुजेरवगम्यते— किंतर्हि भार्यया समानदेशता भोक्तुः, समानकालता वा ।

अन्ये त्वन्यदुच्छिष्टमिति व्याचक्षते— भुक्तोज्झितमुच्छिष्टम् । एकस्यां तु पत्न्यां एकस्मिन् पात्रे सहभोजनम् ।

एवं तु व्याख्यायमाने शूद्रेण सह भोजनं प्रतिषिद्धं स्यात्, प्रसिद्धिश्च त्यक्ता भवेत् । अस्य संस्पर्शादुच्छिष्टव्यवहारः, सहभोजनेनापि तदस्ति ।

केचित्तु समानदेशकालमेव भोजनं प्रतिषिद्धं, दृष्टार्थत्वादुपदेशस्येति । पुंसा स्वभावभेदात् कश्चिद्बहुभोजिन्या न तुष्येत्, अन्यः स्वल्पभोजिन्यामपि विश्रंभयतीति छद्मना वर्तते— मम पुरतः स्वल्पमश्नाति इति ।

तथासदृशा एवमन्येऽपि नियमाः । **नैनामीक्षेत चाश्नतीम्** । पश्यतो हि भुञ्जाना विवृतास्यतया रूपविकारेण भर्त्रे न रोचेत । क्षवथुः शिरस्थेन वायुना पूर्यमाणाया नासिकायाः शब्दस्तत्रापि वक्तृवैकृत्यात् प्रीतिर्न स्यात् । **जृम्भमाणा**ऽऽस्येन विलम्बितं

व्यायोरुच्छ्वसनमङ्गप्रत्यङ्गप्रसारणं वा । तदप्येवमेव । **यथासुखं चासीना** अनवग्रथित-केशो भूमौ निपतितगात्रो वा ॥४३॥

हिन्दी—स्त्री के साथ (एक पात्र में) भोजन न करे और भोजन करती हुई, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई तथा सुखपूर्वक (पुरुषादि के न रहने से स्वेच्छापूर्वक जैसे-तैसे) बैठी हुई स्त्री को न देखे ॥४३॥

आंजन लगाती हुई आदि स्त्री को देखने का निषेध—

नाञ्जयतीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजःकामो द्विजोत्तमः ॥४४॥

भाष्य—परस्याञ्जयन्ती शोभत एव ।

अनावृतां अपावृतवसनाम् । अवगुण्ठितामेव हि विशेषेण स्पृहयन्ति । निर्वसनाङ्गीं निपुणतरं वीक्ष्यमाणां न सर्वतः सर्वा सुसंस्थाना भवतीति निरम्बरा नेक्षणीया ।

तेजःकामः । तेजः वर्णोज्ज्वलता, उत्साहप्रयोगश्च ॥४४॥

हिन्दी—आंजती (अपनी आँखों में अञ्जन अर्थात् काजल-सुर्मा आदि लगाती) हुई तेल आदि से अभ्यक्त, आवरण रहित (स्तनादि पर वस्त्र नहीं हो, ऐसी अवस्था में) और प्रसव करती हुई स्त्री को तेज चाहने वाला द्विजोत्तम न देखे ॥४४॥

[उपेत्यं स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् ।
सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥३॥]

[**हिन्दी**—विद्वान् स्नातक (गृहाश्रमी) समीप जाकर नंगी परस्त्री को न देखे अर्थात् उसके पास ही न जावे और एकान्त में परस्त्री के साथ बातचीत भी न करे ॥३॥

एक वस्त्र पहने भोजननिषेध आदि—

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥४५॥

भाष्य—सत्यपि यज्ञोपवीते नित्यानुगतत्वात्तस्य अनाच्छादकत्वादुपनयनविभेदेनो-पदेशात् एकवासाः । अङ्गच्छादकादि द्वितीयं वासो भोजनकाले स्यात् ।

न मूत्रम् । मूत्रग्रहणमूत्रोत्सर्गस्योपलक्षणार्थम् ।

पथि रथ्यायाम् ।

गोव्रजे । येन यत्र वा गावश्चरितुं व्रजन्ति ॥४५॥

हिन्दी—एक वस्त्र (केवल धोती, गमछी या लंगोट आदि) पहनकर भोजन न करे । नंगा होकर स्नान न करे; रास्ते (बीच रास्ते) में, भस्म (राख) पर और गोशाला (गौओं के ठहरने का स्थान) में मल और मूत्र-त्याग (पाखाना-पेशाब न करे) ॥४५॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ।।४६।।

भाष्य—चित्यां अग्न्यर्थ इष्टकाकूटे ।

पर्वतग्रहणं अरण्योद्यानोपलक्षणार्थम् । तथाहि विशेष-प्रतिषेधो भविष्यति "पर्वत-मस्तक इति" । सामान्येन च प्रतिषेधे पर्वतवासिनाममेहनप्रसङ्गः । **वल्मीकः** कृमि-कृतो मृत्तिकासञ्चयः ॥४६॥

हिन्दी—जोते हुए खेत में, पानी में, चिति (ईंट का भट्ठा और बर्तनों का आँवा) पर, पहाड़ पर पुराने देव मन्दिर में, वामि (दिअंकाड़) पर कभी (मल-मूत्र का त्याग न करे) ॥४६॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ।।४७।।

भाष्य—न गच्छन्नापि च स्थितः । गच्छतस्तिष्ठतश्च प्रतिषेधाादासीनस्याभ्यनु-ज्ञानम् । न चासन्ने नद्यास्तीरे, नदीजले न । संसर्गशङ्का यत्र भवति तदासन्नम् ।

पर्वतस्य **मस्तकं** शृङ्गम् ।।४७॥

हिन्दी—जीवयुक्त (चींटी, चूहा आदि के) बिलो में, चलते हुए, खड़े होकर, नदी के किनारे पहुँचकर और पहाड़ी की चोटी पर (मल-मूत्र का त्याग न करे) ॥४७॥

विमर्श— पूर्वश्लोक (४।४६) में पर्वत पर मल-मूत्र-त्याग का निषेध करके पुनः इस श्लोक में 'पर्वतमस्तके' अर्थात् पहाड़ की चोटी पर निषेध करना पुनरुक्ति है; क्योंकि सामान्यतः पर्वत मात्र का निषेध करने से ही पर्वत की चोटी का भी निषेध स्वतः ही हो जाता है; तथापि विकल्प-प्रदर्शन के लिये (पर्वत की चोटी को छोड़कर उसके निचले भाग पर मल-मूत्र-त्याग का निषेध न करने के लिये) यह (पर्वतमस्तके) शब्द पुनः कहने पर पुनरुक्ति दोष नहीं है । यद्यपि इच्छाविकल्प का आश्रय कर अन्यथा भी अर्थ होने से सामान्य निषेध की व्यर्थता सम्भव है तथापि यहाँ इच्छाविकल्प का आश्रय न कर व्यवस्था-विकल्प का आश्रय करने से अत्यन्त आर्त को पर्वत पर मल-मूत्र-त्याग करने पर भी दोष नहीं है ।

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ।।४८।।

भाष्य—सम्मुखीनत्वाद्वाय्वादीनामङ्गविप्रेक्षितेनापि न मूत्रयन्पश्येत् । वायोश्चा-रूपत्वाद्दर्शनं तत्प्रेरितपर्णलोष्ठादिभ्रमणादवसेयम् । वायुचक्रे त्वयं प्रतिषेधो विप्रयुक्तः । सर्वतो हि वायुर्वाति ॥४८॥

हिन्दी—वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, पानी और गौओं को देखते हुए कभी मल और मूत्र का त्याग (पाखाना और पेशाब) न करे ॥४८॥

विमर्श—यद्यपि वायु को रूपहीन होने से देखना असम्भव है, तथापि 'वायु' शब्द से अधिक वायु आँधी से उड़ते हुए तृण, पत्ते आदि का ग्रहण करना चाहिये।

मल-मूत्र-त्याग की विधि—

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादि च।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥

भाष्य—**तिरस्कृत्या**ंतर्धाय काष्ठादि तदुपरि मूत्रयेत्। आवरणं वा 'तिरस्कारः' काष्ठादिभिर्भूमिं छादयित्**वोच्चरेत्**। तृतीयान्तपाठस्तदा स्पष्टतरः। काष्ठेन लोष्ठैः पत्रेण तृणेन वा। **अभ्युच्चरेत्** मूत्रं पुरीषं चोत्सृजेत्।

नियम्य वाचं प्रयतः अनुच्छिष्टः।

संवीताङ्गः आच्छादितशरीरः।

अवगुण्ठितः। शिरः प्रावृत्य। **अन्यात्रोक्तं** "कर्णस्थब्रह्मसूत्रेति" ॥४९॥

हिन्दी—लकड़ी (सुखी[१]), मिट्टी का ढेला, पत्ता, घास आदि (दोनों सूखे हुए[२]) से भूमि को ढककर तथा स्वयं चुप होकर और शरीर एवं मस्तक को ढककर मल-मूत्र का त्याग (पेशाब और पाखाना) करे ॥४९॥

मल-मूत्र-त्याग में समयानुसार दिग्विचार—

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥५०॥

भाष्य—**मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं** त्यागम् ॥५०॥

हिन्दी—दिन में तथा दोनों। प्रातःकाल और सायं काल की सन्ध्याओं में, उत्तर की ओर मुखकर एवं रात्रि में दक्षिण की ओर मुखकर मल-मूत्र का त्याग करे ॥५०॥

विमर्श—धरणीधर ने इस श्लोक का चौथा पाद "स्वस्थोऽनाशाय चेतसः" पढ़कर 'चित्त अर्थात् बुद्धि के अनाश के लिये' ऐसी व्याख्या की है किन्तु परम्परागत तथा विद्वज्जन सम्मत पाठ के स्थान पर (सन्ध्योश्च तथा दिवा) धरणीधर का स्वकल्पित

१-२. "शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा।
मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुन्धराम् ॥"
इति वायुपुराणवचनात् 'शुष्कानि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि" इति। (म०मु०)

पाठान्तर (स्वस्थोऽनाशाय चेतसः) मानना व्यर्थ है ।[१]

अन्धकारादि में दिग्विचार का त्याग—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधभयेषु च ।।५१।।

भाष्य—छाया कुड्यकपाटादिभिः सूर्यरश्मीनामावरणम् । **अन्धकारः** मेघ-धूमिकास्वर्भानुरात्रिकृतो ज्योतिरन्तरायः ।

यथासुखं मुखमस्येति । यया दिशा सुखं भवति तस्यामेवोच्चरेत् । यत्र दिग्भागो न ज्ञायते अन्धकारे तत्रायं विधिः । **प्राणबाधः** प्राणपीडा । **भयं** चौरादिकृतम् ।।५१।।

केचिदिमं श्लोकमस्मिन्नध्याये नाधीयते ।

हिन्दी—रात्रि में, छाया में या अन्धकार में तथा दिन में निहार (कुहरा बादल आदि) के अन्धकार में (दिग्ज्ञान नहीं होने पर) और (चोर या सिंह आदि हिंसक पशु आदि से) प्राणों की बाधा (या शारीरादि कष्ट का सन्देह) होने पर द्विज इच्छानुसार किसी दिशा की ओर मुखकर मल-मूत्र का त्याग करे ।।५१।।

विमर्श—उक्त वचन में संडास (पाखाना अर्थात् शौचालय) में भी सुविधा के अनुसार मुखकर मल-मूत्र त्याग करने में दोष नहीं है ।

अग्नि आदि की ओर मुखकर मल-मूत्र त्याग का निषेध—

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजम् ।
प्रतिगु प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ।।५२।।

भाष्य—अस्यार्थवादः ।

"ननु चोदङ्मुखस्य मेहनविधानात्पूर्वस्यामुदयाच्च सूर्यस्य कुतस्तदाभिमुख्यं भवेद्येन प्रतिसूर्यं निषिध्यते" ।

अर्थवादोऽयम् । "नान्तरिक्षे न दिवीतिवत्"। अथवोदगयने उदीचीं दिशमाक्रमेत् स्यात्सम्भवः । प्रकृतविषयो वा प्रतिषेधः ।

प्रतिसन्ध्यमिति पठन्ति । तदयुक्तम् । "सन्ध्ययोश्च यथा दिवा", इत्यनुज्ञानाद्वेग-धारणस्य च निषिद्धत्वात् । तस्मात्**प्रतिवात**मिति पठितव्यम् ।

पूर्वशेषोऽयम् ।

मेहतः । शत्रंतस्तसन्तो वा । मेहतः पुरुषस्य, मेहनाद्वा ।।४९।।

---

१. धरणीधरस्तु व्याख्यातवान् ।
"परम्परीयमाम्नायं हित्वा विद्वद्भिराहतम् ।।
पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः ।"

हिन्दी—अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पानी, ब्राह्मण, गौ, हवा (आँधी आदि। पाठ-भेद से दोनों सन्ध्या— प्रातःकाल पूर्व मुख तथा सायंकाल पश्चिममुख) की ओर (उन्हें नहीं देखते हुए भी सामने) मुखकर मल-मूत्र-त्याग करने वाले (द्विज) की बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥४९॥

अग्नि को मुख से फूँकने आदि का निषेध—

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥५३॥

भाष्य—धवित्रादिनाऽग्निर्ध्मातव्यः।

नग्नां नेक्षेत स्त्रियम्। 'अन्यत्र मैथुनादिति' स्मृत्यन्तरम्।

नामेध्यम्। मेध्यो यज्ञस्तदर्थं मेध्यम्। अमेध्यं यदयज्ञियं पलाण्डुमूत्रपुरीषादि। **तन्नाग्नौ क्षिपेत्**। उत्क्षित्य **पादौ** साक्षादग्नौ **न तापयेत्**। अवच्छाद्य तापयित्वा स्वेदाद्यर्थमग्नितापनमदोषः ॥५३॥

हिन्दी—अग्नि को मुख से न फूँके (किन्तु प्रज्वलित करने के लिये पंखा आदि से हवा करे); नंगी स्त्री को (मैथुन के अतिरिक्त समय में[1]) न देखे, अपवित्र (मल, मूत्र, कूड़ा, करकट आदि) वस्तु अग्नि में न डाले और पैर को अग्नि के ऊपर उठाकर न फेंके। (अग्नि में गर्म करके कपड़ा आदि से पैर को सेंकने में दोष नहीं है) ॥५३॥

अग्नि को खाट आदि के नीचे रखने आदि का निषेध—

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलंघयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥५४॥

भाष्य—खट्वास्थः अधस्ताद्वह्निवानीं न कुर्यात्। उपधानं स्थानम्। 'अवलङ्घनम्' उत्प्लुत्य गमनम्। **पादतः** अत्प्लुतस्य पादौ येन तदुपरि स्यात्तथा न **कुर्यात्। प्राणाबाधं** प्राणपीडाकरमतिश्रमवेगागमनादि नाचरेत् ॥५४॥

हिन्दी—आग को (आग से युक्त अंगीठी, बरोसी आदि को) (खाट चारपाई आदि के) नीचे न रखें, इस (अग्नि) को न लाँघे, इस (अग्नि) को पैर की ओर (सोने आदि के समय में) न करे और प्राणों की बाधा (पीड़ा वाले कर्म) न करे ॥५४॥

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोऽपहरेत्स्रजम् ॥५५॥

---

१. "न नग्नां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्र" इति साङ्ख्यायदर्शनाद् मैथुनव्यतिरेकेण नग्नां स्त्रियं न पश्येत्" इति। (म०मु०)

सन्ध्याकालः **सन्धिवेला**।

संवेशनं स्वापः।

स्वाध्यायं निषेत्स्यति।

स्मृत्यन्तरे स्त्रीसम्बन्धोऽपि प्रतिषिद्धः।

"चत्वार्येव तु कर्माणि सन्ध्याकाले तु वर्जयेत्।

आहारं मैथुनं निद्रां तथा संपाठमेव च॥"

न चैव प्रलिखेत्। प्रकर्षेण लेखनं विदारणं भूमेर्निषिध्यते। न तु वर्तिकादिनाऽक्षरविन्यासः।

नात्मनोपहरेत्स्रजम्। ग्रथितानि पुष्पाणि 'स्रक्'। तां स्वयं कण्ठे शिरसि वा प्रधृतां म्लानतया गुरुत्वेन वाऽऽत्मनो न व्यपनयेत्। अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तं भवति।

सर्व एवायं सन्ध्यायां विधिरिति केचित्॥५५॥

हिन्दी—सन्धि (प्रातःकाल तथा सायंकाल के सन्ध्या) के समय में न भोजन करे, न दूसरे गाँव में जाय और न सोवे। भूमि पर (लकड़ी आदि से) न लिखे (न रेखा बनावे, न अक्षर आदि लिखे और न खरोंचे) और (पहनी हुई) माला को (स्वयं) न निकाले॥५५॥

पानी में पेशाब आदि करने का निषेध—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥५६॥

भाष्य—लोहितं रुधिरम्। **विषाणीति** बहुवचनं कृत्रिमाकृत्रिमभेदेन स्थावरजङ्गमभेदेन गरादिप्रकारभेदेन वा॥ ५६॥

हिन्दी—मूत्र, मैला, थूक, अपवित्र (जूठा आदि से उपलिप्त अर्थात् युक्त) अन्य कोई वस्तु, रक्त और विष (या विषयुक्त पदार्थ) को पानी में न छोड़े॥५६॥

सूने घर में अकेले सोने आदि का निषेध—

नैकः शून्यगृहे स्वप्यान्न श्रेयांसं प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः॥५७॥

भाष्य—शून्यं गृहं यत्र न कश्चित्प्रतिवसति।

न श्रेयांसम्। कनीयान्वृत्तादिभिर्ज्येष्ठम् 'इदं ते युक्तमिदमयुक्तमिति' हेतूपदेशादिना **न प्रबोधयेत्**।

उदक्या रजस्वला तया सह संभाषणं न कुर्यात्।

यज्ञं गच्छेन्न चावृतः। यज्ञभूमिमनिमन्त्रितो न गच्छेत्। "दर्शनाय तु कामम्"

इति गौतमः (अ० ९ सू० ५५)। अतो यज्ञे भोजनादिप्रतिषेधोऽयमवृतस्य ॥५७॥

हिन्दी—सूने घर में अकेला न सोवे, (विद्या, धन और वय आदि से) बड़े को न जगावे, रजस्वला स्त्री से बातचीत न करे और बिना वरण किये (ब्राह्मण) यज्ञ में न जावे (दर्शन की इच्छा से जा सकता है) ॥५७॥

[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥४॥]

[हिन्दी—स्वादिष्ट पदार्थ अकेले न खावे, स्वार्थ चिन्तन अकेले न करे, अकेले मार्ग में (लम्बे रास्ते में या रात्रि आदि में) न जावे और (दूसरों के) सोते रहने पर अकेला न जागे ॥४॥

अग्निहोत्रादि में दाहिने हाथ को बाहर रखना—

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत्॥५८॥

भाष्य—गोष्ठशब्दोऽयं निवासवचनः समासप्रतिरूपकात् शब्दान्तरम्।

ब्राह्मणानामिति बहुवचनं विवक्षितम्।

पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थम्।

भोजने आत्मकर्तृके ॥५८॥

हिन्दी—अग्नि होत्र में, गौओं के निवास स्थान में, ब्राह्मणों के पास, स्वाध्याय (वेद, वेदाङ्ग स्मृत्यादि पढ़ते समय) में और भोजन में दाहिनी भुजा को कपड़े से बाहर रखे ॥५८॥

जलादि पीती हुई गाय आदि के मना करने का निषेध—

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः॥५९॥

भाष्य—गामात्मीयां परकीयां वा पिबन्तीं अपः पयो वा न वारयेत्। न चान्यस्मै कथयेत्। प्राग्दोहकालादयं विधिः। दोहकाले तु प्रस्रवणं विहितम्।

स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंवत्सनिवारणे न निषेधः।

इन्द्रायुधं शक्रधनुर्विज्ञानच्छायेति या काश्मीरेषु कथ्यते। **दिवीत्य**नुवादः। केचित्तु पर्वतादिस्थस्य दर्शने न दोष इत्याहुस्तदर्थं **दिवीति** ॥५९॥

हिन्दी—(दूध या पानी) पीती हुई गौ को मना न करे या किसी से नहीं कहे (दुहने के लिए मना करने का निषेध नहीं है) और आकाश में इन्द्रधनुष को देखकर (इन्द्रधनुष

देखने के दोष को जानने वाला) विद्वान् वह (इन्द्रधनुष) दूसरे को न दिखलावे ॥५९॥

अधार्मिक ग्राम में निवासादि का निषेध—

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ।।६०।।

भाष्य—अधार्मिकाः पातकोपपातकिनो यत्र बाहुल्येन वसन्ति स ग्रामस्तत्सम्बन्धात् **अधार्मिक** इत्युच्यते। तत्र **न वसेत्**। ग्रामग्रहणं निवासदेशोपलक्षणार्थम्। तेन नगरेऽपि प्रतिषेधः।

व्याधिबहुलोऽनूपो देशः। **व्याधिबहुले** जाङ्गलदेशे न वसेत्। यत्र दैवदोषा-दव्याधयः प्रवृत्तास्तं देशं त्यजेत्।

एकः असहायो **नाध्वानं प्रपद्येत** ॥६०॥

हिन्दी—अधार्मिक ग्राम में निवास न करे, रोग (चेचक, हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सांसर्गिक रोग) से जहाँ बहुत लोग पीड़ित हों, उस ग्राम में बिल्कुल ही निवास न करे, रास्ते में अकेले नहीं चले और बहुत देर तक पहाड़ पर निवास न करे ॥६०॥

शूद्र के राज्यादि में निवास का निषेध—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ।।६१।।

भाष्य—जनपदैश्वर्यं 'राज्यम्'। योजनपदः शूद्रवशवर्ती तत्र न वसेत्। मन्त्रि-सेनापतिदण्डकारिकाद्याः सप्त प्रकृतयो 'राज्यम्'। यत्र सर्वाः शूद्रजातीयाः तत्र निवास-निषेधोऽयम्।

"ननु च 'नाधार्मिके वसेत्' इत्यनेनैव तत्सिद्धमधार्मिकजनावृत इति"।

नैष दोषः। पूर्वप्रतिषेधो यत्र ते निवसन्ति। अयं पुनरन्यत्रापि निवसन्तोऽन्यत्र सन्निहिता यदि भवन्ति तथापि तत्र प्रदेशे न वसितव्यम्। तथा च 'आवृत'ग्रहणमत्र। यः प्रदेश एतैरावृतो न तत्र स्थातव्यम्।

एवं **पाषण्डि**जनैर्य आक्रान्तो देशः। यद्यप्यधार्मिकास्ते वेदबाह्यत्वात्तथापि तेषां धर्मबुद्धिरिति भेदेन निर्देशः।

अन्त्यैरुपसृष्टे सम्बद्धे। अथवा उपतप्ते **उपसृष्टे**। यथा वाह्लीका म्लेच्छैः ॥६१॥

हिन्दी—शूद्र के राज्य में निवास न करे, अधार्मिक लोगों के निवासभूत, पाखण्डिसमूहों से व्याप्त और चाण्डाल आदि से सर्वत्र भरे-पूरे ग्राम में निवास न करे ॥६१॥

रस आदि निचोड़कर खाने आदि का निषेध—

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ।।६२।।

भाष्य—उपनीतः स्नेहो यस्य स नाशितव्यः । पिण्याकयूषमांसानि । तस्य क्रतुपर्युषितानां च पयोविकाराणां प्रतिप्रसवं करिष्यति (५ । २४-२५) । तक्रकिलाटाद्यपेक्षयैव बहुवचनम् । साक्षाद्विकारो हि दध्येव । तन्मात्रप्रतिप्रसवेऽभिप्रेते दधिग्रहणमेवाकरिष्यत् । तेनाविधानार्थः । न हि दध्नः पर्युषितत्वमस्ति । तस्मादुदश्वित्तक्रकिलाटादिकानां पयोविकाराणां नायं प्रतिषेधः ।

नातिसौहित्यं तृप्तिं न कुर्यात् । तत्र कुक्षेर्भाग एको ह्यन्नस्य अपरे हि द्रवस्योदकादेः अपरो दोषसंचरणार्थ इत्येवं भोक्तव्यमिति— तत्कार्यम् ।

अतिप्रगे प्राह्णे प्रथमोदित एव सूर्ये न भुञ्जीत । प्रहरे अतीते— कृशानां पूर्वाह्णे, इतरेषां मध्याह्ने ।

नातिसायं अस्तमयसमये न भुञ्जीत ।

न सायं भुञ्जीत **प्रातराशित**स्तृप्तः। तस्मात्साकांक्षमशितव्यं कालद्वयेऽपि । तदुक्तम्। "सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्" इति। यदि तु प्रातस्तृप्तः स्यात्सायं न भुञ्जीत।

अथवैवं व्याख्यायते। **न सायं प्रातराशितः** स्यात्, उभयोरन्नकालयोर्न तृप्येत् । तथा च याज्ञवल्क्यः (१।११४) सायमीषद्भोजनमाह ।।६२।।

हिन्दी—(रसगुल्ला या दहीबाड़ा आदि के) रस को निचोड़कर भोजन नहीं करे, अत्यन्त तृप्ति का आचरण न करे (अनेक बार, पेट भरकर भोजन न करे), बहुत सबेरे या बहुत शाम होने पर भोजन न करे, प्रातःकाल (पूर्वाह्न में) अत्यन्त तृप्त होकर (अच्छी तरह भरपेट भोजन कर) पुनः सायंकाल भोजन न करे ।।६२।।

विमर्श— पेट का आधा भाग अन्न से, चतुर्थांश भाग जल से पूर्ण कर शेष चतुर्थांश भाग वायु संचार के लिये छोड़े[१] (अन्नादि से उसे भी न भरे)।

व्यर्थ चेष्टा तथा अंजलि से पानी पीने आदि का निषेध—

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिवेत् ।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ।।६३।।

भाष्य—वृथाचेष्टा दृष्टादृष्टयोर्व्यापारयोरनुपकारः । यथा इतरदेशादिवार्तापर-

---

१. 'जठरं पूरयेदर्द्धमन्नैर्भागं जलेन च ।
वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ।।' इति (म०मु०) ।

त्वम् । संहतौ पाणी **अञ्जलिः** । तेनोदकं न पिबेत् । वारिग्रहणात् क्षीरादीनामप्रतिषेधः । **न उत्संगे । भक्ष्या** धानाशष्कुल्यादयः— तानुत्सङ्ग ऊर्वोरुपरि न **भक्षयेत्** । भक्ष्यग्रहणात्फलानामपि प्रतिषेधः । सक्त्वोदनादेस्तु निरुपसेचनीयस्यानदनीयत्वादुत्सङ्गे प्राप्तिरेव नास्ति ।

कुतूहलं असति प्रयोजने किमेतत्स्यादिति निश्चये अत्यर्थमुत्कलिका ।

न जातु कदाचित् ॥६३॥

हिन्दी—व्यर्थ (प्रत्यक्ष एवं परोक्ष फल से हीन) चेष्टा न करे, अंजलि से पानी न पीये, गोद (दोनों जंघों के बीच) में भोजन की वस्तु को रखकर न खावे और (बिना प्रयोजन का) कुतूहल ('यह क्या बात है' इस प्रकार जानने की इच्छा) न करे ॥६३॥

नाचने-गाने आदि का निषेध—

न नृत्येन्नैव गायेच्च न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरोधयेत् ।।६४।।

भाष्य—नर्तनं गात्रविक्षेपविशेषः लोकप्रसिद्ध एव ।

गायनं षड्जादिस्वरतः शब्दस्य करणम् । लौकिकस्य चायं प्रतिषेधो न वैदिकस्य, विहितत्वात् ।

वादित्राणि वीणावंशमृदङ्गादीनि तेषां स्वयंकर्तृकं वादनं प्रतिषिध्यते । वादकैस्तु वाद्यमानानामप्रतिषेधः । न हि ण्यन्तादयं णिजन्त इति प्रमाणमस्ति ।

आस्फोटनं करमर्दास्फोटनादि पाणिना भूमौ बहुनिर्घातः सशब्दः ।

क्ष्वेडेति अव्यक्तं दन्तैः शब्दकरणं— क्ष्वेडनिकेति प्रसिद्धा । वल्गनं अन्यत् । रागी परितुष्टे न **विरोधयेत्** विरोधं न कुर्यात् । पीडिते न निषेधः । घञन्ताण्णिच् कर्तव्यः ॥६४॥

हिन्दी—(शास्त्र-विरुद्ध) नाच, गान और बाजा बजाना न करे; ताल (जैसे दंगल के आरम्भ में मल्ल प्रतिपक्षी को ललकारते हुए ताल ठोकते हैं, वैसे) न ठोकें; क्ष्वेडन (दाँतों को परस्पर रगड़ते हुए अव्यक्त शब्द— जिसे 'दाँत पीसना' कहते हैं, उस) न करे और अनुरक्त होकर विपरीत शब्द (गधे, घोड़े आदि के समान) न करे ॥६४॥

काँसे के बर्तन में पैर धोने आदि का निषेध—

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ।।६५।।

भाष्य—कांस्य भाजने पादौ न प्रक्षालयेत् ।

भिन्नभाण्डे एकदेशभिन्नेऽपि । सर्वभिन्नेष्वर्थत एव प्रतिषेधः । पत्रपुटकादीनां तु भिन्नभाण्डाव्यवहारात् छिद्रितानामपि न दोषः ।

भावः अन्तर्हृदयाभिप्रायः । यत्र मनो न परितुष्यति । शब्ददुष्टे वा पतद्ग्रहादौ । तत्रापि नैवं भावप्रसादो भवति ।६५।।

हिन्दी—काँसे के बर्तन में कभी पैर न धुलवावे; (ताबाँ, चाँदी और सोने के बर्तनों को छोड़कर अन्य किसी धातु के बने हुए[1]) फूटे बर्तनों में तथा जो बर्तन अपने को न रुचे, उनमें भोजन न करे ।।६५।।

विमर्श— ताँबा, चाँदी और सोने के बर्तन फूटे हों या अच्छे हों उनमें (भोजन करने से) दोष नहीं है ऐसा पैठीनसि का कथन है ।

दूसरे के पहने हुए जूता आदि पहनने का निषेध—

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ।।६६।।

भाष्य—पित्रादिभ्योऽ**न्यैर्धृतं न धारयेत्**। 'निर्णिज्याशक्ताविति' गौतमः (अ० ९ सू० ७) ।

करकः कमण्डलुस्तस्य पित्रादिधृतस्यापि धारणं समाचारविरुद्धम् । सम्बन्धिरूपोऽसाविष्यते । यस्यैव सम्बन्धी तस्यैव शुचिर्नान्यस्य ।

अलङ्कारो दन्तवलयादिः ।

करकादिभिरल्पार्थैः साहचर्यात् मणिमुक्तादेस्तु न निषेध इति केचित् ।।६६।।

हिन्दी—दूसरों के पहने हुए जूते, कपड़े, यज्ञोपवीत, भूषण, माला और कमण्डलु को नहीं धारण करे ।।६६।।

गमन के अयोग्य वाहन—

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ।।६७।।

भाष्य—**अविनीता** अदान्ता गावोऽश्ववाश्वतरादयः । **धुर्या** धुरं वहन्ति युज्यन्ते । गन्त्र्यादेरुपलक्षणम् ।

चग्रहणम्, अनियुक्तैरपि धुरि, केवलैरदान्तैः गमनं नेष्यते ।

भग्नं शृङ्गं यस्य अनडुहः, तस्यैव शृङ्गसम्भवः, नाश्वादेः ।

---

१. "ताम्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोषः" इति पैठीनसिवचनात् । (म०मनु०)

वालधिः पुच्छस्तेन **विरूपिताः** छिन्नपुच्छादयः। तादृशेन न यायात्। आरोहणमेव स्मृत्यन्तरे प्रतिषिद्धम् ॥६७॥

हिन्दी—अशिक्षित (अच्छी तरह बिना सिखाये हुए), भूख और प्यास से दुःखित, जिनके सींग आँख और खर भिन्न (कटे आदि) हों और बिना पूँछ वाले पशुओं (घोड़े आदि) से गमन न करे ॥६७॥

गमन के योग्य वाहन—

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनाक्षिपन्भृशम्॥६८॥

भाष्य—दृप्यमाना अपि केचिद्विनय न संगृह्णन्ति तदर्थमाह। **विनीतैरिति**। सुशिक्षितैः। **आशुगैः** क्षिप्रगामिभिः। **लक्षणान्वितैः** प्रशस्तावर्तादियुक्तैः, न शून्य-मस्तकादिभिः।

वर्णरूपयुक्तैः। शोभनेन 'वर्णेन', रुक्मशोणादिना, 'रूपेण' संस्थानविशेषेण। शोभनत्वं च लक्षणविद्यातो ज्ञातव्यम्।

भृशमक्षिपन् अपीडयन्। पुनः पुनः **प्रतोदेन** अङ्कुशादिना अत्यन्तं उद्वेक्ष्यमाणा विघटयन्ति ॥६८॥

हिन्दी—शिक्षित, शीघ्रगामी, शुभ लक्षणों से युक्त, रंग-रूप में मनोहर घोड़े आदि सवारियों को कोड़े या चाबुक से उन्हें बहुत नहीं मारते हुए (कभी-कभी मारते हुए) गमन करे ॥६८॥

बालातप तथा शवधूमादि सेवन का निषेध—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम्।
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥६९॥

भाष्य—प्रथमोदिते सवितरि मुहूर्तत्रयं **बालातप**व्यपदेशः। **प्रेतधूमो** दह्यमानस्य शवस्य यः। **आसनं** छिन्नं छिद्रितं भग्नम्। एतद्वर्ज्यम्।

नखानि रोमाणि च न च्छिन्द्यात्स्वयं व्यसनेन, अतिप्रवृद्धानि तु नापितेन कारयेत्।

दन्तैश्च नखान्नोत्पाटयेत् प्रवृद्धानपि।

अन्ये त्वेवमभिसम्बन्धन्ति— **न छिन्द्यान्नखरोमाणि दन्तैरिति**। नखांश्च दन्तेनापि न पातयेत्।

नखभङ्गयोजनासु हि कामिन्यो नाना नखान् दारयन्ति ॥६९॥

हिन्दी—प्रात:काल का धूप (मेधातिथि के मत से सूर्योदय से वे तीन मुहूर्त (घटी) = २ घंटा २४ मिनट तक का धूप। अन्याचार्यों के मत से कन्या संक्रान्ति के सूर्य का धूप), मृतक का धूम, टूटा हुआ आसन (का त्याग करे), नख, रोम और बाल न काटे तथा दाँतों से नाखून न काटे ॥६९॥

[श्रीकामो वर्जयेन्नित्य मृन्मये चैव भोजनम् ।]

[**हिन्दी**—और मिट्टी के बर्तन में भोजन करना धन को चाहने वाला सदा त्याग करे ॥४॥]

मिट्टी का ढेला आदि मसलने का निषेध—

न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयान्नच्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ।।७०।।

भाष्य—**विमर्दनं** खण्डशः करणं लोष्ठस्य मृत्सम्बन्धिनः ।

भाष्य—केचित्तु मृदो लोष्ठस्य सुधादिसम्बन्धिनोऽपि। मृदश्च 'मर्दनं' उत्क्षिप्योत्क्षिप्य पातनम्, हस्तेन संहननं वा।

एतच्च मर्दनं यत्किंचनकारितया प्राप्तं निषिध्यते न तु शौचाद्यर्थे प्रयोजने। निष्फलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षात् ।

तेनैव सिद्धे प्रायश्चित्तविशेषार्थः पुनरारम्भः ।

करजा नखाः ।

न कर्म। ननु च "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्" (श्लो० ६३) इत्यनेनैव निष्फलं कर्म निषिद्धम्। अत्राहुः। 'चेष्टा' भौतिको व्यापारः। इह तु सामान्यस्य पर्युदासः। तेन मनोराज्यादिकल्पाः परिहरणीयाः।

आयतिरागामी कालः। यस्मात्कर्मण आगामिनि काले **अमुखं** दुःखमुत्पद्यते—यथा अतीर्णभोजनं, कुटुम्बभृतिमचिन्तयित्वा महतो धनस्य व्ययश्च— तं न कुर्यात्॥७०॥

अत्रार्थवादः ।

हिन्दी—मिट्टी के ढेले को (चुटकी या तलहथी आदि से) न मसले (मर्दन करे), नाखून से तृण को नहीं तोड़े, निष्फल कार्य को न करे और भविष्य में दुःखदायी कर्म को भी न करे ॥७०॥

विमर्श—'नाकारण मृल्लोष्ट[१]—'' इस आपस्तम्बोक्त वचन के अनुसार निष्प्रयोजन

---

१. "नाकाररणं मृल्लोष्टं मृद्नीयात् तृणानि च च्छिन्वाद्" इति। (म०मु०)

ढेला के मर्दन और नख से तृण को काटने का निषेध किया गया है। "न कुर्वीत वृथा-चेष्टाम्—" (४।६३) पूर्वोक्त वचन से ही उक्त निषेध गतार्थ हो सकने पर भी विशेष दोष प्रदर्शनार्थ यह निषेध किया गया है, इसी प्रकार अगले श्लोक (४।७१) में "लोष्ट-मर्दी तृणच्छेदी—" वचन कहा गया है। इसी प्रकार "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्—" (४।६३) वचन के 'चेष्टा' शब्द से 'देहव्यापार' अर्थ तथा 'न कर्म निष्फलं कुर्यात्' (४।७) इस वचन के 'कर्म' शब्द से 'मन से ग्रहण करने योग्य सङ्कल्पादि रूप कार्य' अर्थ होने से उक्त प्रकृत श्लोक में कहा गया 'न कर्म निष्फलं कुर्यात्' वचन से पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये।

ढेला मसलने वाले आदि का नाश—

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ।।७१।।

भाष्य—अस्मादेव केवलाल्लोष्ठग्रहणात् पूर्वोक्त'मृल्लोष्ठमि'ति षष्ठीसमासो विज्ञायते। उभयप्राधान्ये हि मृद्ग्रहणं लोष्ठ इव अत्राकरिष्यत। तस्यैव हस्तेन सुमर्दत्वा-त्प्राप्तः पर्युदासः। सुधायास्तु काठिन्याद्यत्नसाध्यं मर्दनं, तन्नैवासति प्रयोजने प्राप्तम्। मृल्लोष्ठमर्दनं तु हस्तेन पुरुषाणां स्वभावतः केषांचित्प्राप्नोति तस्य पर्युदासः।

तृणच्छेदी प्रकृतः।

दन्तैर्नखान् खादति।

सूचकः पिशुनः कर्णेजपः। यः परस्य दोषानसतः सतो वा परोक्षं व्याख्यापयति।

अशुचिरुक्तार्थः।

विनाशमाशु व्रजति। न यथाऽन्यानि वैदिकान्यनियतकालानि फलानि एव-मेतत्— किंतर्हि— इहैव जन्मनि अचिराद्धनादिना वियोगो **विनाशः** ॥७१॥

हिन्दी—जो मनुष्य (निरर्थक) ढेला मसलने वाला, नाखून से तृण काटने वाला, (दाँतों से) नख काटने वाला, खल (दूसरों में विद्यमान या अविद्यमान दोषों को कहते फिरने वाला) और अपवित्र मिट्टी-पानी आदिकृत बाहरी शुद्धि और रागद्वेषादि शून्यता-रूप भीतरी (अन्तःकरण की) शुद्धि से हीन है, वह शीघ्र (देह, धन आदि से) नष्ट हो जाता है ॥७१॥

हठ चर्चा और माला-धारणादि निषेध—

न विगृह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ।।७२।।

भाष्य—अभिनिवेशेन पणबन्धादिना यल्लौकिकेषु शास्त्रेषु वाऽर्थेष्वितरेतरं जल्पन-

महोपुरुषिका या सा **विगृह्य कथा**।

बहिर्माल्यम्। वाससो बहिः कण्ठस्थां स्रजं वाससा छादयेत्। तथा च समाचारः। अपरे बहिरित्यनावृतो देश उच्यते। तत्र नगररथ्यादौ न प्रकटमाल्यो भ्राम्येदित्याहुः। अथवा बहिर्गन्धं 'बहिर्माल्यं'; यस्य गन्धो नातिसंवेद्यते। एवं स्मृत्यन्तरम् "नागन्धां स्रजं धारयेदन्यत्र हिरण्मय्या" इति।

गवां च पृष्ठे यानं पर्याणं विना साक्षाद्द्वारोहणं प्रतिषिध्यते। **सर्वथेति**। पर्याणाद्यन्तरायेऽपि गन्त्र्यादियुक्तेऽपृष्ठयानत्वादप्रतिषेधः ॥७२॥

हिन्दी—हठपूर्वक (शास्त्रीय या लौकिक) चर्चा न करे, (केश-समूह के) बाहर माला न पहने, गौओं के पीठ पर सवारी करना सर्वथा ही निन्दित है ॥७२॥

विमर्श— इस श्लोक में चतुर्थ चरण के द्वारा गौओं की पीठ पर कोई वस्त्र कम्बल आदि डालकर व्यवधान होने पर भी उनकी पीठ पर चढ़ना निन्दित समझना चाहिये, किन्तु 'पृष्ठ' शब्द के कहने से बैलगाड़ी आदि की सवारी को लोग निन्दित नहीं कहते हैं।

बिना द्वार के रास्ते से घर में प्रवेश-निषेध—

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वा वृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्॥७३॥

भाष्य—आवृतस्य वाटपरिक्षेपादिना ग्रामस्य अद्वारप्रवेशप्रतिषेधः। अनावृतस्य तु द्वारवतोऽपि यथाकामम् ॥७३॥

हिन्दी—(चहारदिवारी अर्थात् परकोटा, कांटा, बांस आदि से) घिरे हुए घर में द्वार से ही प्रवेश करे और रात में पेड़ों की जड़ को दूर से ही छोड़ दे (पेड़ों के नीचे बहुत पास में न ठहरे या न जावे) ॥७३॥

पाशा खेलने आदि का निषेध—

नाक्षैर्दीव्येत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत्।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने॥७४॥

भाष्य—अन्तरेणापि ग्लहं, परिहासेन **नाक्षैर्दीव्येदिति। कदाचि**द्ग्रहणं शलाकादीनामपि दर्शनार्थम्। तेन सर्वस्य द्यूतस्य प्रतिषेधः।

स्वयं—चर्ममयं पादत्राण**मुपानहौ**— ते आत्मना हस्तेन दण्डादिना वा गृहीत्वा देशान्तरं न नयेत्। आत्मीययोश्चायं प्रतिषेधः, स्वयमिति प्रकृतत्वात्। तेन च गुर्वादिसम्बन्धिन्योरनिषेधः।

शयने खट्वादौ उपविश्य न **भुञ्जीत । पाणौ** च कवलं स्थापयित्वा । भाजनाद्य-नन्तरितेन आसने अन्नं स्थापयित्वा । आनन्तर्याद्भोज्यस्य प्रतिनिर्देशः, न भोक्तुः ॥७४॥

हिन्दी—पाशा (जुआ) कभी न खेले, अपना जूता (हाथ आदि में) स्वयं कहीं न ले जावें (पहन कर ही जावे), शय्या पर (बैठ या सोकर, बिना किसी बर्तन में रखे ही) भोज्य पदार्थ को हाथ में लेकर या आसन पर (भोजन की थाली रखकर) भोजन न करे ॥७४॥

विमर्श— शय्या (चारपाई, पलंग आदि) पर बैठकर या सोकर, हाथ में एक बार अधिक (ग्रास से अत्यधिक) भोजन के पदार्थों को लेकर (जैसा कि बहुत लोग पूरी, कचौड़ी, मिठाई, चबेना आदि हाथ में ही लेकर खाते हैं) और आसन पर भोजन की थाली आदि रखकर भोजन करने का निषेध प्रकृत श्लोक के उत्तरार्द्ध से अभीष्ट है ।

रात्रि में तिलयुक्त पदार्थ आदि का भोजननिषेध—

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ।।७५।।

भाष्य—अस्तमिते आदित्ये । प्रतिलक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया ।

न चोच्छिष्टः ।

"ननु च ब्रह्मचर्यधर्मेष्वेतत्प्रतिषिद्धम्। पुरुषधर्मता च तस्य ज्ञापिता। न तादर्थ्यमेव"। सत्यम् । व्रतरूपताज्ञापनार्थ उपदेशोऽयम् । तेन यावज्जाविकः संकल्पः कर्तव्यः ॥७५॥

हिन्दी—सूर्यास्त के बाद कोई भी तिलयुक्त (तिलकुट आदि) न खावे, नंगा न सोवे और जूठा मुख (खाने के बाद बिना कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥७५॥

पैर धोकर भोजन करना आदि—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नाद्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।।७६।।

भाष्य—आदिकर्मणि विधिमिमं समाचरेत् । **आर्द्रपादो** भोजनमाचरेत् । न चातृप्तेः पादौ सिञ्चन्नासीत् ।

संविशेत् । शयने गात्राणि नावक्षिपेत् । संवेशनं शयने गात्रसंयोजनम् ।

अस्य फलमाह । **दीर्घमायुरिति** । नायमायुष्कामस्य विधिः— किंतर्हि— पूर्व-वन्नित्यः । आयुरनुवादस्त्वर्थवाद एव ॥७६॥

हिन्दी—गीले पैरों वाला होकर (भोजन के पहले तत्काल पैर धोकर) भोजन करे और गीले पैर वाला होकर नहीं सोवे (यदि सोने के पहले पैर धोया हो तो कपड़े आदि

से पोंछकर उसे सुखा ले) गीले पैरों वाला होकर भोजन करने वाला लम्बी आयु को प्राप्त करता है ॥७६॥

दुर्गम स्थान में जाने का निषेध—

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥

भाष्य—दुर्गं दुर्गारोहं पर्वतादि तरुगुल्मलतागहनं चारण्यम्। **तन्न प्रपद्येत**। नाक्रामेन्न गच्छेद**चक्षुर्विषयं** सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य भावाशङ्कया। चक्षुर्ग्रहणमागमादेरपि प्रमाणस्य लक्षणम्।

न विण्मूत्रम्। "उदीक्षणं" वर्णादिना निरूपणम्। निरूपणं च चिरकालप्रेक्षणेन भवतीत्यत एव तन्न कर्तव्यम्। दैवात्क्वचिद्दृश्यमाने न दोषः।

नदीबाहुतरणं च स्वस्थस्य निषिध्यते। न वृकादिभये ॥७७॥

हिन्दी—नहीं दिखते हुए (लता-गुल्म आदि के कारण गहन होने से स्पष्ट नहीं मालूम पड़ते हुए) दुर्गम स्थान (सघन बन या झाड़ी आदि) में कदापि न जावे, मल तथा मूत्र को न देखे और बाहुओं से नदी को न तैरे (तैरकर पार न करे, किन्तु नाव आदि से नदी के पार जावे) ॥७७॥

केश या राख आदि की ढेर पर ठहरने का निषेध—

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

भाष्य—कपालिकाः भग्नशकलानि।

दीर्घमायुः। व्याख्याता द्वितीया ॥७८॥

हिन्दी—अधिक आयु तक जीने की इच्छा करने वाला बाल, राख, हड्डी, फूटे मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े, बिनौला और भूसा इनके ऊपर न बैठे (या न खड़ा होवे) ॥७८॥

पतितादि के साथ बैठने का निषेध—

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७९॥

भाष्य—"ननु च 'नाधार्मिकजनावृते' 'नोपसृष्टेऽन्त्यजैः' इति चोक्तमेवैतत्।"

नेति ब्रूमः। तत्र निवासः प्रतिषिद्धः। इह तु संवासः। यत्र ग्रामे ते वसन्ति न तत्र वस्तव्यं गृहस्थित्येति तत्रोक्तम्। संवासस्तु तैः सह संव्यवहारो दानग्रहणादिभिर्मैत्री-

करणम्, तद्गृहसमीपे च वासोऽपि एकतः छायोपजीवनमित्यादि। 'आवृत'ग्रहणाच्च तत्र बाहुल्यं गम्यते। यस्मिन् ग्रामे भूयांसस्ते तस्य समीपेऽपि न वस्तव्यमिति तस्यार्थः। इह त्वबाहुल्येऽपि समीपवासादि प्रतिषिध्यत इत्येष विवेकः।

पुल्कसा निषादाः शूद्रायां जाताः।

अन्त्या भेदप्रभृतयो म्लेच्छाः।

अन्त्यावसायीति निषादस्त्रियां चण्डालाज्जातो वक्ष्यते (अ० १० श्लो० ३९) "निषादस्त्री चण्डालात्" इत्यादि।

अवलिप्ता मदोद्धताः धनादिना गर्विताः ॥७९॥

हिन्दी—पतित (११ अध्यायोक्त), चाण्डाल (शूद्र से ब्राह्मणों में उत्पन्न–१०।१२), पुल्कस (मल्लाह से शूद्रा में उत्पन्न– १०।१८), मूर्ख अभिमानी और अन्त्यज (धोबी आदि) और अन्त्यावसायी (चाण्डाल से मल्लाहिन स्त्री में उत्पन्न– १०।३९) के साथ न बैठे। (समीप में एक आसन पर या वृक्ष की छाया आदि में एक साथ न बैठे) ॥७९॥

[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन ॥५॥]

[**हिन्दी**—कृतघ्न, उद्योगहीन महापातकों (११।५४) से युक्त, डाकू, अपवित्र और शत्रुओं के साथ न बैठे ॥५॥]

शूद्र को व्रतादि देने का निषेध—

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥८०॥

भाष्य—शूद्रस्य दृष्टादृष्टविषये हिताहितोपदेशो न कर्तव्यः। शूद्रस्य मन्त्रित्वं न कर्तव्यमिति यावत्।

वृत्त्यर्थश्चायं निषेधः। सौहार्दादिना तु न दोषः। भवन्ति हि शूद्राः कुलमित्राणि। मैत्र्या चावश्यं हितमुपदिश्यते। अनुज्ञाता च सर्ववर्णे ब्राह्मणस्य मैत्री "मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।"

ये तु व्याचक्षते— अपृच्छतो न ब्रूयादित्युपन्यस्य युक्तं शास्त्रान्तरसिद्धत्वात्। "नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादिति" (अ० २ श्लो० ११०)— तदयुक्तम्। तत्र हि स्वाध्यायविषयं स्वरवर्णगतमन्यद्वाऽसंगतं कुर्वतो 'विनाशितं त्वये'त्यादावपृष्टेन न वक्तव्यम्। तथा चामी नाध्याप्या इत्यस्मिन्प्रसङ्ग इदमुक्तं "नापृष्टो ब्रूयादिति"। अशिष्यस्यापृच्छतो विस्वरं व्यक्षरं वा पठतो न किंचिद्वक्तव्यमिति तस्यार्थः।

नोच्छिष्टमिति। उच्छिष्टशब्दोऽयं भुजिनिमित्तेऽप्राशस्त्ये वर्तते। कृतमूत्रपुरीषोऽप्यनाचान्त 'उच्छिष्ट' उच्यते। यथा वक्ष्यामो "न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टः"। बाहुल्येनोच्छिष्टप्रयोगो भुजिसम्बन्धेन। भुञ्जानस्य ह्यन्तराऽऽस्यसंस्पर्शेन बहिरन्तः। स्थितस्योच्छिष्टत्वं भवति। तथा च "न श्मश्रूणि गतान्यास्यमिति" श्मश्रुभ्योऽन्यदास्यानुप्रविष्टमुच्छिष्टं करोतीति ज्ञापयति। अतश्च भोक्तुर्भुज्यमानस्य पात्रादेरधिकरणस्य चोच्छिष्टव्यवहारः। क्वचिच्चायं उपयुक्तेतरवचनोऽपि, 'हविरुच्छिष्टं दक्षिणेति'। तत्र समाचारात्पात्रगृहीतमुच्छिष्टपुरुषसम्बद्धमीषद्भुक्तमुच्छिष्टमुच्यते। यदपि विशदमोदनादि पात्रस्थमस्पृष्टमपि भोक्त्रा तदपि सम्बद्धसम्बन्धात्समाचारतः परिह्रियते। तत्र 'उच्छिष्टमन्नं दातव्यम्', 'नोच्छिष्टमिति' विधिप्रतिषेधावेकविषयावृतानृतशूद्रव्यवस्थया हविःशेषभेदेन वा विकल्प्येत। अथवा स्थालीस्थमतिथ्यादिभुक्तशिष्टं पर्युषितप्रायं उच्छिष्टं— तत्र शूद्राय दातव्यम्। तत्रोच्यते। जीर्णवसनसाहचर्याच्चैतदेव प्रतिपत्तुं युक्तम्। उपयुक्तेतरवचनत्वाच्च शिषेरुपसर्गस्य तदर्थानुगुण्येन वर्तनाद्धविरुच्छिष्टं दक्षिणेतिवत्प्रयोगोऽप्यविरुद्धः। एवमनयोः स्मृत्योरविरोधो भविष्यति। यद्यपि रुढ्याऽऽचमनार्हाः प्रायोऽत्र वचने दृश्यन्ते। यत्तु "वैश्यवच्छौचकल्पश्चेति" तद्दासशूद्रविषयम् भुक्तोज्झितमेव प्रतीयत इति दर्शयिष्यामः।

न हविष्कृतम्। हविषे कृतं हरिवर्थं कल्पितम्। बाहुल्यात् बहुवचनः समासस्तादर्थ्येनोपकल्पितप्रतिषेधात्। दण्डापूपिकया यत्र हविर्गन्धोऽस्ति तत्सर्वं प्रतिषिध्यते। तेन हविरर्थितया सङ्कल्पितस्य हविषः प्रवृत्तस्य हविःशेषस्याभुक्तोज्झितस्य हविषः प्रतिषेधः सिद्धो भवेत्। तथा च कृतमिति करोतिः क्रियासामान्यवचनः प्रयुक्तः। हविरर्थं यत्कृतं सङ्कल्पितमिति वचनम्। तेनोच्छिष्टस्यापि यावत्प्राक्कृतेन सङ्कल्पेन हविष्कृतव्यपदेशो न यथावत्सर्वावस्थस्य प्रतिषेधो विज्ञायते।

अन्यैस्तु हविर्मिश्रं **हविष्कृतमिति** व्याख्यातम्। संसृष्टप्रतिषेधाच्च केवलस्यापि प्रतिषेधः। विप्रसंसृष्टप्रतिषेधे विप्रस्येवेत्युक्तम्। "कथं पुनः संसृष्टप्रतिषेधे केवलप्रतिषेधः"। केवलप्रतिषेधेनाप्रधानः कदाचित्संसृष्टप्रतिषेधः शक्यते वक्तुम्। यत्र संसृष्टावपि पृथक्त्वेन प्रतिभासेते, यत्र वा चक्षुषा, प्रतिभासमाने रूपे रसादिना तत्प्रयोगो भवति, तत्रापि भवत्येव तदाश्रयो व्यवहारः। यथा सुरादिसंपृक्तासु सक्तुपिण्डीष्वन्तर्हितेऽपि सुरादिरूपे रसे तत्प्रत्ययादस्त्येव सुरापानप्रायश्चित्तम्।

"ननु चैवमप्यद्रवरूपत्वात्पिण्डीभिरेकतापन्नायाः सुराया न पानोपपत्तिः"।

नैष दोषः। प्रायिकेणौचित्यानुवादेन पानमुपादीयते। अभ्यवहार एव तु निषिध्यते। यथा च भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणमेतत्। भक्षणं चाभ्यवहारमात्रम्। तस्य विशेषाः पानखादनचर्वणादयः। गन्धस्य पुनरनाश्रयस्याप्युपलब्धेर्न ततो द्रव्यसद्भावावगमः। दूरस्थेऽपि कर्पूरादौ गन्ध उपलभ्यते। सूक्ष्मद्रव्यावयवावगमकल्पनायां द्रव्यस्य परिमाणावयवः

स्यात्। यत्र तु संसृष्टयोरेकीभावो, न चान्यस्तत्प्रत्ययो, न तत्र केवलाश्रयौ विधिप्रतिषेधौ प्रवर्तितुमर्हतः। यथा क्षीरं पातव्यमिति सम्मिश्रितयोः क्षीरोदकयोः पीतयोर्न क्षीरं भवति नोदकं, द्रव्यान्तरत्वात्। अन्यद्धि तत्र रूपमन्यश्च रससंस्थानादि तत्प्रत्ययहेतुरस्तीति द्रव्यान्तरं तत्।

''यद्येवं मद्योदके सह पीते यदि भवेतां, तदा मद्यपानप्रायश्चित्तं न प्राप्नोति। द्रव्यान्तरत्वात्''।

नैष दोषः। अभिभवति रसान्तराणि मद्यं तिक्तरसवत्। ततो रसप्रत्यभिज्ञानाद्भवत्येव तत्प्रायश्चित्तम्। यत्र तु बहूदकं स्वल्पं मद्यादि, तत्र संसर्गप्रायश्चित्तमपि निपुणमेकादशे निरूपयिष्यामः।

तस्मात्केवलाश्रयः प्रतिषेध आस्कन्देदपि संसर्गम्। यथा भाषा न भोक्तव्या इति मिश्रा अपि न भुज्यन्ते।

संसर्गाश्रयस्तु केन हेतुनाऽसंसृष्टे वर्तेत। गङ्गायमुनयोः सङ्गमाज्जलमानयेत्युक्ते न केवलाया गङ्गाया आनयति, न यमुनायाः। समाचार एवेति चेत्समाचार एवोदाहर्तव्यः।

न चास्योपदिशेद्धर्मम्।

''ननु च 'न शूद्राये'त्यविशेषेण दृष्टादृष्टविषयमतिदानप्रतिषेधाद्धर्मोपदेशनिषेधोऽपि सिद्ध एव''।

सत्यम्। पुनर्वचनं शेषार्थम्। ततः प्रायश्चित्तोपदेशोऽनुज्ञातो भवति। ''शरणागतं परित्यज्य'' इत्यत्र (अ० ११ श्लो० १९८) चैतद्दर्शयिष्यामः।

अन्ये तु पार्वणश्राद्धपाकयज्ञादिष्वितिकर्तव्यतां न शिक्षयेत् याजकत्वादि रूपेणेत्याहुः।

अत्र चोदयन्ति। ''यदि धर्मोपदेशः, शूद्रस्य निषिध्यते कुतस्तर्हि धर्मवित्त्वम्। अविदुषश्च नानुष्ठानसम्भवस्ततः शूद्रानुष्ठातृकधर्मशास्त्रानर्थक्यम्''।

अचोद्यमेतत्। अतिक्रान्तनिषेधस्य लिप्सया ब्राह्मणस्य चोपदेष्टृत्वसम्भवात्। न हि ब्रह्महत्या सर्वस्वदानचोदनाप्रतिग्रहं प्रयुंक्ते। सम्भवति लिप्सा प्रयोक्त्री। ''ननु चास्ति वचनं 'प्रब्रूयादितरेभ्यश्चेति'।'' वृत्त्युपायप्राप्तौ। अत एवं प्रकृतं ''सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्चेति'' (अ० १० श्लोक २)।

यस्त्वाश्रितशूद्रस्तस्यावश्यमुपदेशः कर्तव्यः। अविदुषा विधिप्रतिषेधातिक्रमात्संवासो निषिद्धः ''न मूर्खैर्नावलिप्तैश्चेति'' (श्लो० ७९)।

यत्तु व्याचक्षते— ''धर्मशास्त्रोपदेशस्तदर्थव्याख्यानं वाऽनेन निषिध्यते शास्त्रद्वयेन— 'न चाऽस्योपदिशेदिति'। एकेन शास्त्राध्ययनमपरेणार्थव्याख्यानम्। अग्रन्थकस्तूपदेशो

न केनचिन्निषिद्धः'' ।

तेषामेवंवदतां 'तस्य शास्त्रविचार' इति सिद्धत्वात्पुनरुक्तम् ।

इह वदन्ति— ''व्याकरणादौ धर्मावबोधार्थशास्त्रे धर्मशब्दः । तद्धि न धर्मशास्त्रमतीन्द्रियार्थमितिप्रतिषेधानुपदेशात् । भवति तु धर्मशास्त्रावबोधार्थम् । शक्नोति हि वैयाकरणः पदार्थानुसरणेन गहनं वाक्यार्थमुन्नेतुम् । धर्मशास्त्रत्वाच्च 'तस्य शास्त्र' इत्यनेनागतत्वात्पृथगुच्यते'' ।

युक्तमेतत्, यदि कश्चिन्न ब्रूयात्प्रधानेऽनधिकृतस्य कुतोऽङ्गेषु प्राप्तिरिति । वेदः स्मृतिशास्त्रे च प्रधानम् । न च तत्र शूद्रस्याधिकारः ।

न चास्य व्रतमादिशेत् । व्रतशब्देन कृच्छ्राण्युच्यन्ते । 'एतैर्व्रतै'रितिप्रयोगदर्शनात् । तान्यभ्युदयकामस्य नोपदिशेत् । प्रायश्चित्तार्थतया त्विष्यत एवोपदेशः । स्नातकव्रतानां प्राप्तिरेव नास्ति, अस्नातकत्वात् । एवं सावित्रादीनामप्यध्ययनाभावादध्ययनं चोपनयनाभावादुपनयनं च तद्विधौ जातित्रयश्रवणात् ॥८०॥

हिन्दी—शूद्र को इष्टार्थक उपदेश, उच्छिष्ट (जूठा), यज्ञ कर्म से बचा हुआ हविष्य धर्म और व्रत (प्रायश्चित्त) का उपदेश साक्षात् न दे ॥८०॥

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ।।६।।]

[हिन्दी—[1](किन्तु) बीच में ब्राह्मण को करके (शूद्र के लिए) प्रायश्चित (धर्मोपदेश, इष्टार्थोपदेश आदि) का उपदेश करे ॥६॥

शूद्र को धर्मोपदेश देने से दोष—

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ।।८१।।

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिषेधस्य निन्दार्थवादः ।

तेनैव सेहेति । उभयोर्दोषमाह, शृण्वतः श्रावयतश्च । **मज्जत्य**वगाहते तत्राप्नोतीति यावत् ॥८१॥

हिन्दी—क्योंकि जो इस (शूद्र) को धर्मोपदेश करता है, व्रत (प्रायश्चित्त-विधान) बतलाता है, वह उसके साथ ही 'असंवृत' नाम के नरक में प्रवेश करता है ॥८१॥

विमर्श— पहले (४।८०) उक्त पाँच कर्मों का निषेध होने पर भी इस श्लोक में उक्त धर्मोपदेश तथा व्रतोपदेश का पुनः निषेध अधिक दोष का सूचक है ।

---

१. अस्य पूवार्द्धं तु ''तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरस्सरम्'' इत्येवमङ्गिरसोक्तम् ।

दोनों हाथों से शिर खुजलाने का निषेध—

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ।।८२।।

भाष्य—**संहताभ्यां** संश्लिष्टाभ्यामितरेतरसंसृष्टाभ्यां युगपद्द्वाभ्यां प्रतिषेधः। **पाणिभ्यामिति** बाहू संहतौ निषेधति ।

आत्मन इति न परस्य । अतश्चान्येन संहताभ्यां कण्डूयतो न दोषः ।

शिरोग्रहणात्पृष्ठादावदोषः ।

न स्पृशेच्चैव शिरः । हस्तेनात्मनोऽन्येन वाऽवयवेनेति केचित् । तन्न, पाणिभ्यामिति प्रकृतत्वात् ।

न च स्नायाच्छिरसा **विना** । नित्यनैमित्तकयोः स्नानयोरयं विधिः ।

"ननु स्वित्रस्य लौकिके स्नाने कुत एतत्" ।

स्नानविधिनैकवाक्यत्वात् ।

"विहितस्नानापेक्षा प्रत्यासत्त्या युक्तिमती । लोके तु विधेरभावादप्राप्तिः" ।

स्नातिश्चायं सर्वाङ्गसम्बन्धिनि सलिलगोमूत्रादि प्रक्षालने वर्तते, शिरोवर्जिते च। तत्र चण्डालादिस्पर्शने शिरोवर्जितमपि यदृच्छाप्रसक्तं निवार्यते— **न च स्नाया-द्विना ततः** । अस्ति च लौकिकमशिरस्कमपि स्नानम् । येन शिरःस्नानं "शिरः स्नातस्तु तैलेनेति" ॥८२॥

हिन्दी—दोनों हाथों को एकत्रित (मिला) कर शिर न खुजलावे, जूठा मुख रहने पर शिर न छूए और शिर को छोड़कर (नित्य और नैमित्तिक) स्नान न करे (स्नान करने में असामर्थ्य रहने पर बिना शिर से भी स्नान करने में दोष नहीं है[1]) ॥८२॥

बाल पकड़ने आदि का निषेध—

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ।।८३।।

भाष्य—आत्मनः परस्य वेत्यविशेषेण केचिदिच्छन्ति । अन्ये त्वात्मन इति प्रकृतमभिसंबध्नन्ति ।

क्रोधनिमित्तश्चायं प्रतिषेधः । सुरतसम्भोगे तु कामिन्याः केशग्रहः, स न निषिध्यते। "शिरः" 'स्नातं' क्षालितमनेनेति राजदन्तादेराकृतिगणत्वात् परिनिपातः । **शिरःस्नात** इति बाहुलकेन समासः । **नाङ्ग**मात्मीयम् ॥८३॥

---

१. अशक्तस्वस्तु— "अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्" इति जावालिना विहितमेव । (म०मु०)

हिन्दी—(क्रोध से अपने या दूसरे किसी के) शिर के बालों को न खींचे और न शिर में मारे। शिर से स्नान किए हुए किसी शरीर का तैल से स्पर्श न करे अथवा तैल से शिर:स्नात होकर (शिर में तैल लगाकर पुन:) तैल से किसी शरीर का स्पर्श न करे ॥८३॥

राजादि से दान लेने का निषेध—

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥८४॥

भाष्य—उक्तं "राजतो धनमन्विच्छेदिति" (अ० ४ श्लो० ३३)। राजशब्दश्चायं क्षत्रियजातावक्षत्रियेऽपि जनपदेश्वरे दृष्टप्रयोगो 'ब्राह्मणानां राज्यमिति'। तत्र प्रतिग्रह-विधौ तन्निषेधे च जनपदेश्वरवचनो गृह्यते। येनाह **अराजन्यप्रसूतित इति**। जन-पदैश्वर्यं हि सर्ववर्णसम्भवि लिप्सया। अतो विशेष्यते। राजन्यात्क्षत्रियाद्यस्य प्रसूति-रुत्पत्तिर्नास्ति तस्माद्राज्ञो जनपदेश्वरान्न गृह्णीयात्। क्षत्रियादपि लुब्धादुच्छास्त्रवर्तिनो, वक्ष्यमाणेन प्रतिषेधेन।

सूना पशुमारणं संज्ञपनपूर्वकेण मांसक्रयेण यो जीवति स **सूनावान्**। खटिक इति लोके प्रसिद्धः।

ध्वजो मद्यपण्यः तत्क्रयविक्रयजीवी।

वेशः पण्यवृत्तिस्तया यो जीवति-स्त्री वा पुमान्वा ॥८४॥

हिन्दी—अक्षत्रिय राजा, पशु मारकर मांस बेचने वाले (वधिक कसाई आदि), तेली, कलवार (मद्य बेचने वाले), वेश्या की नौकरी से जीने वाले या वेष बदलकर अपनी जीविका करने वाले इनसे दान न लेवे ॥८४॥

वधिकादि की उत्तरोत्तर नीचता—

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥८५॥

भाष्य—उत्तरस्योत्तरस्य दोषगुरुत्वज्ञापनार्थमेतत्।

आपद्युपायो वक्ष्यते ॥८५॥

हिन्दी—दस कसाई के बराबर तेली है, दस तेली के बराबर कलवार, (मद्य बेचने वाला) है, दस कलवार के बराबर वेषजीवी (वेश्या का नौकर या वेष बदलकर ज़ीविका करने वाला बहुरूपिया आदि) है और दस वेषजीवी के बराबर राजा है। (कसाई, तेली, कलवार, वेषजीवी और राजा की उत्तरोत्तर नीचे श्रेणियों में गणना है)॥

विमर्श— गोविन्दराज ने 'दसवेश्यासमो नृप:' पाठ माना है, तदनुसार 'दस वेश्याओं के समान राजा है' ऐसा अर्थ प्रकृत श्लोक के चतुर्थपादक होगा; मूलोक्त पाठ (''दसवेशसमो नृप:'') प्राचीन मेधातिथि आदि के मतानुसार है ।

दान में राजा की अत्यधिक निम्नश्रेणी—

दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ।।८६।।

भाष्य—सूनया चरति **सौनिकः** ।

वाहयति स्वार्थसाधने व्यापारयति ।

घोरः भीषणोऽयं, नरकादिहेतुत्वात् ।।८६।।

हिन्दी—जो वधिक (कसाई आदि) दस हजार पशुओं को (जीविका के लिए) मारता है, उसके बराबर राजा (मनु आदि महर्षियों से) कहा गया है, (इस कारण) उस (क्षत्रिय राजा) का भी प्रतिग्रह (दान) लेना (नरक का कारण होने से) भयानक है ।।८६।।

लोभी राजा के दान लेने से प्राप्य नरकों के नाम—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ।।८७।।

भाष्य—अवयुत्यवादेन राजप्रतिग्रहे निन्दा। **लुब्ध** आदानशील: सामन्तकादिभ्य:।

उच्छास्त्रवर्ती । 'श्रुतशीले च विज्ञाये'त्यादि शास्त्रमतिक्रम्य व्यवहरति असद्दण्ड-परस्त्रीहरणादिना ।

पर्यायेण एकत्र फलमनुभूयान्यत्र गच्छति ।

नरकशब्दो निरतिशयदु:खवचन: । केवल दु:खश्रवणार्थापत्त्या वाऽऽदेशविशेष-वचन: । **एकविंशति**संख्याऽर्थवाद: ।।८७।।

हिन्दी—जो लोभी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाला राजा से दान लेता है; वह क्रमश: इन (४।८८-९० में कथित एक्कीस) नरकों में जाता है ।।८७।।

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ।।८८।।

हिन्दी—(उन २१ नरकों के नाम ये हैं) १. तामिस्र, २. अन्धतामिस्र, ३. महारौरव, ४. रौरव, ५. कालसूत्र नरक ६. महानक— ।।८८।।

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्[१] ।।८९।।

१. पाठभेद:–पूतिमृत्तिकम् ।

हिन्दी—१. संजीवन, ८. महावीचि, ९. तपन, १०. सम्प्रतापन, ११. संहात, १२. काकोल, १३. कुड्मल, १४. प्रतिमूर्तिक ॥८९॥

लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ।।९०।।

भाष्य—श्लोकत्रयं स्पष्टार्थम् ॥८८-९०॥

हिन्दी—१५. लोहशंकु, १६. ऋजीष, १७. पन्था, १८. शाल्मली, १९. वैतरणी नदी, २०. असिपत्रवन और २१. लोह दारक (इन नरकों के स्वरूप मार्कण्डेय आदि पुराणों में सविस्तार वर्णित है, जिज्ञासुओं को वहीं से जानना चाहिये) ॥९०॥

विद्वान् को भी राजप्रतिग्रह का निषेध—

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ।।९१।।

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिग्रहनिषेधविधेरुपसंहार एषः ।

राज्ञः प्रतिग्रहो विविधदुःखनरकादिहेतुरिति जानन्तो **विद्वांसो ब्राह्मणा न राज्ञः** प्रतिगृह्णीयुः ।

प्रेत्य भवान्तरे, **श्रेयः** कल्याणम्, ये कांक्षन्ति कामयन्ते । प्रेत्येति तु ल्यवन्त-प्रतिरूपकं शब्दान्तरम् ।

ब्रह्म वेदस्तं **वदन्ति** पठन्ति ।

विद्वद्ग्रहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च दुःखातिशयदर्शनार्थम् । तेषां चातीव प्रतिग्रहाद्दोषः । वक्ष्यति "तस्मादपि विद्वान्बिभीयादिति" ॥९१॥

हिन्दी—यह (लोभी और शास्त्रविरुद्धाचारी राजा का दान लेने से इन '४।८८-९०' में कथित नरकों में जाना पड़ता है, इस बात को) जानते हुए ब्रह्मवादी और मरने के बाद कल्याण (स्वर्ग-मोक्षादिजन्य सुख) को चाहने वाले ब्राह्मण राजा का दान नहीं लेते हैं ॥९१॥

विमर्श— 'तस्मादविद्वान्' (४।१९१) वचन से 'अविद्वान्' ब्राह्मण को दान लेने का विशेष निषेधपरक वचन होने पर भी यहाँ प्रकृत वचन से विद्वान् तथा ब्रह्मवादी ब्राह्मण के लिये भी निषेधपरक वचन राज-प्रतिग्रह का अधिक प्रत्यवाय (दोष) जनक बतलाने के लिए समझना चाहिये ।

ब्राह्ममुहूर्त में उठना—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ।।९२।।

भाष्य—त्रियामा रात्रिस्तस्याः पश्चिमो ब्राह्मो **मुहूर्तस्तत्र** निद्रां त्यजेत् ।

विबुद्धश्च तस्मिन्काले **धर्मार्थावनुचिन्तयेत्** । यस्मिंश्च धर्म आसेव्यमाने यादृशः शरीरक्लेशो भवति तमपि चिन्तयेत् । स्वल्पश्चेद्धर्मो महान्तं कायक्लेशं जनयति, यो धर्मान्तरविरोधी, तं परिहरेत् ।

अर्थोऽपि सेवादिः अतिक्लेशकरः, सोऽपि वर्ज्यः । सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति । अनिश्चित्य न किंचित्कुर्यात् । न च मनोराज्यादिविकल्पान् कुर्यात् । स्वभावो ह्ययं पुरुषाणामसति बाह्ये व्यापारे मनसो विकल्पाः परद्रव्याभिलाषादिरूपाः समुद्भवन्ति । तन्निवृत्त्यर्थमिदं पुरुषार्थम् ।

तस्यां बेलायां साध्यसाधनभावेन चिन्त्यो **वेदस्य तत्त्वार्थः** । रहस्यमात्मज्ञानं **चिन्तये**द्वेदान्तविधिनाऽभ्यस्येत् । अथवा कर्मकाण्डेऽपि यो वेदस्तस्यार्थस्तं निरूपयेत् । 'अयं विधिः' 'अयमर्थ' 'इदं कर्मैवंरूपम्' 'इयमत्र देवता' 'इदं द्रव्यम्' 'अयमत्राधिकारी' 'इयमितिकर्तव्यता'-इत्यादि स्वबुद्ध्या निश्चिनुयात् । व्याख्यातृणां मतभेदाद्धेतून्निरूपयेदस्य सम्यग्ज्ञानमस्यभ्रान्तिरिति ॥९२॥

हिन्दी—ब्राह्ममुहूर्त्त (रात्रि के चौथे प्रहर) में उठे और धर्म तथा अर्थ की, तन्मूलक (धर्म तथा अर्थ के कारणभूत) शरीर क्लेश की और वेदतत्त्वार्थ की चिन्ता (विचार) करे ॥९२॥

विमर्श— शरीरक्लेश के बिना धर्म या अर्थ कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । अतः यदि धर्म या अर्थ के अधिक होने की आशा हो तो शरीर क्लेश को करे अन्यथा (शरीर क्लेश अधिक तथा धर्मार्थ कम होने की आशा हो तो) उसे न करे "रात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुद्ध्येते" इस वचनानुसार गोविन्दराज 'ब्राह्ममुहूर्त्त' शब्द के 'मुहूर्त' शब्द का 'मुहूर्त्त घटिकाद्वयम्' कोषवचनानुसार रात्रि के अन्तिम 'दो घड़ी' ऐसा कहते हैं, किन्तु "रात्रि के आदि तथा अन्तिम के दो प्रहर (दोनों १-१ प्रहर) में वेदाभ्यास तथा मध्य के दो प्रहर में सोने वाले को ब्रह्मभूयस्त्व के लिये समर्थ होने" का दक्षोक्त[१] वचन होने से प्रकृत श्लोक के 'ब्राह्ममुहूर्त्त' के 'मुहूर्त्त' शब्द का अर्थ 'दो घड़ी' न कर 'रात्रि का अन्तिम प्रहर' ही करना उचित है ।

नित्यक्रिया सन्ध्यादि कर्म—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ।।९३।।

---

१. तदुक्तम्— "प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् ।
प्रहरद्वयं शयानो हि (?) ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" इति ।

भाष्य—अनन्तरं प्रभातायां रात्रौ शयनं जह्यात्।

आवश्यकं मूत्रविट्त्यागः। प्रायेण तस्यां वेलायां पुरुषास्तं कुर्वन्ति। तत्र आवश्यकस्त्याग उच्यते— मुखदन्तधावनादिश्च तं कृत्वा **कृतशौचः**। 'एका लिङ्गे'-त्यादिविधिनाऽऽचान्तः।

समाहितो विकल्पान्तरतिरस्कारेण **सन्ध्यां तिष्ठेत्। जपन्सावित्रीं** भगवति सवितरि मनो दध्यात् **'चिरम्'**। अर्कदर्शनावधिः काल **उक्तः** 'सन्ध्यासमयः'। ततो-ऽप्यधिकं कालं जपेदायुःकाम इत्येवमर्थमयं प्रागुक्तः सान्ध्यो विधिरन्तर्हितः।

अपरां च सन्ध्यां स्वे काले अस्तमयसमयादारभ्य तारकोदयादूर्ध्वमपि ॥९३॥

हिन्दी—इसके बाद (उषाकाल में) उठकर शौचादि (मल-मूत्रत्यागादि के बाद स्नानादि से शुद्ध हो) करके एकाग्रचित हो प्रातःकाल को तथा यथा समय सायंकाल की सन्ध्या को जप करता हुआ रहे ॥९३॥

सन्ध्योपासन से दीर्घायु की प्राप्ति—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥९४॥

भाष्य—यदर्थोऽयं पुनर्विधिस्तद्दर्शयति। आयुरादिफलकामो दीर्घकालसन्ध्याजपं कुर्यात्। सत्यपि नित्यत्वे दैर्घ्याद्गुणात्फलमिदम्। अनग्निकस्य प्रोषितस्यैतत्सम्भवति। अन्यस्य त्वग्निहोत्रकालोपरोधो दीर्घसन्ध्याविधिसम्पादनात्। 'दीर्घसन्ध्या' गुणत उच्यते। सन्ध्यासहचरिते जपादिविधौ सन्ध्याशब्दो वर्तते।

दीर्घा सन्ध्यैषामिति बहुव्रीहिः।

ऋषिग्रहणमर्थवादः ॥९४॥

हिन्दी—ऋषियों ने बहुत देर तक सन्ध्या (सन्ध्याकालिक गायत्री जप) करने से लम्बी आयु, बुद्धि, कीर्ति, यश और ब्रह्म-तेज को प्राप्त किया। (इसलिये आयुष्काम पुरुष को चिरकाल तक (२।२०१) सन्ध्योपासन करना चाहिये) ॥९४॥

श्रावणी उपाकर्म—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥९५॥

भाष्य—श्रवणयुक्ता पौर्णमासी **श्रावणी**। एवं **प्रौष्ठपदी**। तत्रो**पाकृत्यो**पाकर्माख्यं कर्म कृत्वा। **यथाविध्यधीयीत**। "प्राक्कूलान्" इत्यादिप्रागुक्तो विधिः स्मर्यते **युक्त**-स्तत्परः। **छन्दांसि** वेदान्। छन्दःशब्दोऽयं वेदवचनो न गायत्र्यादिवचनः। तेन

ब्राह्मणादीनप्यधीयानस्यैव परमविधिः । उभयत्रापि चायं युक्त एव, प्रत्ययाविशेषात् ।

अयं विकल्पो व्यवस्थितः । ''छन्दोगाः प्रौष्ठपद्यामुपाकुर्वन्ति, बह्वृचा आध्वर्यवाः श्रावण्याम्'' ॥९५॥

हिन्दी—ब्राह्मण श्रावण या भाद्रपद मास की पूर्णिमा को अपने गृह्योक्त विधि से उपाकर्म (देवर्षि तर्पण-पूजन) करके साढ़े चार मास तक संलग्न होकर वेदाध्ययन करे ॥९५॥

वेदोत्सर्ग कर्म—

पुष्ये तु च्छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ।।९६।।

भाष्य—अर्धपञ्चमेषु मासेषु गतेषु यः **पुष्यो** नक्षत्रं तत्रोत्**सर्जनं** कर्तव्यम् । उत्सर्गोक्तं कर्म गृह्यकारैराम्नातम् ।

बहिरित्यनावृते देशे ।

अनयोरुपाकर्मोत्सर्गयोर्गृह्यात्स्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥९६॥

हिन्दी—(साढ़े चार मास पूरा होने के) बाद जब पुष्य नक्षत्र हो, तब गाँव के बाहर जाकर (अपने गृह्योक्त विधि से) वेदोत्सर्ग कर्म करे । अथवा (भाद्रपद मास में उपाकर्म न करने वाला) द्विज माघ शुक्ल प्रतिपदा को पूर्वाह्ण में वेदोत्सर्ग का कर्म करे ॥९६॥

पक्षिणी रात्रि में वेदाध्ययन निषेध—

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ।।९७।।

भाष्य—उत्सर्गं कृत्वा द्वे अहनी रात्रिमियन्तं नाधीयीत । **तदहर्निशम्** । द्वितीयं चाहरेव न रात्रिरित्येतावन्तं कालं **विरमेन्ना**धीयीत । उभयतोहः पक्षा रात्रिः **पक्षिणी** ।

यद्वा यस्मिन्नहन्युत्सर्गः कृतस्तदहः सैव च रात्रिः अनध्याये । द्वितीयस्मिन्नहन्यध्येतव्यम् । आद्ये तु पक्षे द्वितीयमहरनध्यायो रात्रौ त्वध्ययनमुच्यते ॥९७॥

हिन्दी—इस प्रकार शास्त्रानुसार (ग्राम के) बाहर वेदोत्सर्ग कर्म करके पक्षिणी रात्रि में अथवा उसी (वेदोत्सर्ग कर्म के ही) दिन-रात में विराम करे (वेदाध्ययन न करे) ॥९७॥

विमर्श— वेदोत्सर्ग कर्म की रात्रि पूर्वापर (पहला तथा बाद का) दिन मिलकर अर्थात् वेदोत्सर्ग कर्म की दिन-रात तथा अगला दिन, 'पक्षिणीरात्रि' कहते हैं, इतने समय में वेदाध्ययन का निषेध है; किन्तु अधिक विद्या प्राप्त करने का इच्छुक वेदोत्सर्ग के दिन तथा रात्रि के बाद दूसरे दिन भी वेदाध्ययन कर सकता है, उसके लिये निषेध नहीं है ।

शुक्लपक्ष में वेद तथा कृष्णपक्ष में वेदाङ्ग अध्ययन—

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ।।९८।।

भाष्य—अतोऽस्मादुत्सर्गकर्मणः कृता**दूर्ध्वं** परतः **शुक्लपक्षेषु छन्दांसि** मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायात्मकान्वेदान्पठेत् ।

अङ्गानि च शिक्षायज्ञसूत्रव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥९८॥

हिन्दी—इसके (वेदोत्सर्ग कर्म के) बाद शुक्लपक्ष में (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेद को तथा कृष्णपक्ष में वेदाङ्गों को पढ़े ॥९८॥

विमर्श— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिर्गति (ज्योतिष) और छन्द—ये 'वेदाङ्ग' हैं ।

अस्पष्ट अध्ययनादि का निषेध—

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ।।९९।।

भाष्य—यत्र वर्णस्वराभिव्यक्तिः स्फुटा न भवति **तदविस्पष्टम्** । तच्च द्रुतायां वृत्तौ प्रायेण भवति ।

निशान्ते पश्चिमरात्रिभागे । सुप्तोत्थितो यदाऽधीयीत पुनः श्राम्येत्तदा न शयीत । "न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य शयीत तु" एवं युक्तः पाठः ॥९९॥

हिन्दी—वेदों के स्वरों तथा अक्षरों का अस्पष्ट उच्चारण न करे तथा शूद्रों के समीप में (वेदों का) अध्ययन न करे और रात्रि के अन्तिम प्रहर में वेदाध्ययन से थक-कर सोवे ॥९९॥

गायत्र्यादि का नित्य अध्ययन—

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ।।१००।।

भाष्य—**छन्दांसि** गायत्र्यादीन्यभिप्रेतानि तैः **कृतं** युक्तं **ब्रह्म** ऋक्साम । अनेकार्थ-त्वात्करोतेरयमत्रार्थो व्याख्यायते । यथा गोमयान्कुर्विति संहारे, पृष्ठं कुर्वित्युन्मर्दने, एवमत्र युजेरर्थे वर्तते । ब्रह्म च छन्दश्च ब्रह्मच्छन्दसी ताभ्यां कृतं युक्त **ब्रह्मछन्दस्कृतम्** । 'ब्रह्म' ब्राह्मणम्, यजुर्वेदे ब्रह्म यजूंषि गायत्र्यादियुक्तांश्च मन्त्रान् । एकस्मिन्नेवावस्थानके पठन्ति । न यथा बाह्वृच्ये छान्दोग्ये च विभागेनैकस्मिन्ग्रन्थे मन्त्रा अन्यत्र ब्राह्मणम् । एवं प्रकारभेदाद्वेदानामेवं युक्तमिति पूर्वे व्याख्यातवन्तः ।

यथोदितेन। पूर्वो विधिरनापद्युपसंह्रियते। आपदि अध्यापकस्यासंनिधानम्-बहुदेवताविभागमपेक्षमाणस्य तत्रागुणयतः विस्मृतं स्यात्। तस्मादापद्ययं विभागो नादरणीयः॥१००॥

हिन्दी—शास्त्रोक्त विधि से गायत्री आदि छन्दों के सहित मन्त्रमात्र का अध्ययन करे और आपत्ति रहित (स्वस्थ) ब्राह्मणभाग सहित वेद मन्त्रों का अध्ययन करे॥१००॥

अनध्याय—

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्॥१०१॥

भाष्य—इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायानधीयानो विवर्जयेत्। अध्यापनं च कुर्वाणः। अध्यापनग्रहणमधीयतो ग्रहणार्थमभ्यासार्थं च।

नित्यम् नोत्सर्गादेव प्रभृति। किंतर्ह्यर्धपञ्चमेष्वपि मासेषूपाकर्मणः प्रभृति।

शिष्याणाम्। अनुवादः॥१०१॥

हिन्दी—वेदाध्ययन करने वाला शिष्य और विधिपूर्वक वेदाध्ययन करने वाला गुरु इन (४।१०२-१२७) अनध्यायों को छोड़ दे। (इन आगे निषेध किये हुए समयों में गुरु तथा शिष्य वेदों का पढ़ना छोड़ दे)॥१०१॥

वर्षाकालिक अनध्याय—

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥१०२॥

अनिलो वायुः। वेगेन वाति वायौ वाय्वन्तरसंघर्षाद्ध्वनिः श्रूयते यत्र स 'कर्णश्रवो' वायुः। कर्णाभ्यां श्रूयते यः **स कर्णश्रवः**। साधनंकृतेति समासः। अवस्थाविशेषोपलक्षणार्थं कर्णग्रहणम्। श्रूयते कर्णाभ्यामेव। तेन यदैवं वायुशब्दः श्रूयते तदा नाध्येतव्यम्।

पांसून्समूहति पांसून्समाहरति **पांसुसमूहनः**। पांसुर्धूलिः। उपलक्षणं चैतत्। तथाभूतस्य वायोर्वा। यतस्ततश्च वृष्टे देवे यदि वायुरीदृशो वाति तावत्कालोऽनध्यायः।

अध्यायज्ञा अध्यापनविधिज्ञाः॥१०२॥

हिन्दी—वर्षा ऋतु की रात में सामान्यतः भी सुनाई पड़ने वाली (गोविन्दराज के मत से 'अधिक वेग से सुनाई पड़ने वाली') और दिन में धूल उड़ाने वाली हवा के बहते रहने पर इन दोनों को अध्यापन विधि के ज्ञाता वर्षाकाल का अनध्याय कहते हैं।

आकालिक अनध्याय—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥१०३॥

भाष्य—**विद्युत्त**डित्। **स्तनितं** गर्जितम्। द्वन्द्वनिर्देशाद्युगपदेतेषु समुच्चितेष्वनध्यायः। **महोल्का** दिवः पततां ज्योतिषां प्रभा उक्तास्तासां सम्प्लवः अत्रामुत्र च पतनम्।

आकालिकशब्दो निमित्तकालादारभ्यान्येद्युर्यावत्स एव कालः स उच्यते।

मनुग्रहणं श्लोकपूरणार्थम्। विकल्पार्थमन्ये ॥१०३॥

हिन्दी—बिजली चमकते तथा मेघ गरजते हुए पानी बरसा रहा हो, बड़ी-बड़ी उल्कायें इधर-उधर गिरती हों तो इनमें मनु ने आकालिक (उक्त समय से लेकर दूसरे दिन तक) अनध्याय कहा है ॥१०३॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥१०४॥

भाष्य—नायमनध्यायो यस्यां कस्याञ्चन वेलायामुपजातेष्वेतेषु **किंतर्हि प्रादुष्कृताग्निषु**। सन्ध्याकाल इत्यर्थः। तदा ह्यग्नयो जुहूषया नियमतः प्रादुष्क्रियन्ते। 'प्रादुः' शब्दः प्राकाश्ये।

अनृतौ। ऋतुर्वर्षास्ताभ्योऽन्यः शरदादिः। तत्र वाऽ**भ्रदर्शने**। प्रादुष्कृताग्निष्वित्यपेक्ष्यते ॥१०४॥

हिन्दी—वर्षा ऋतु में होम के लिये अग्नि को प्रज्वलित करते समय (सन्ध्या समय) एक साथ बिजली चमकने लगे, मेघ गरजने लगे और पानी भी बरसने लगे तब और अन्य ऋतुओं में केवल बादल के दिखलाई पड़ने पर भी अनध्याय (काल) जाने॥१०४॥

सर्वकालिक अनध्याय—

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥

भाष्य—**निर्घात** आन्तरिक्ष उत्पातध्वनिः।

ज्योतिषां चन्द्रादित्यगुरुप्रभृतीनां **उपसर्जनं** परिवेषणमितरेतरपीडनं च।

ऋतावपि। अपिग्रहणं वर्षासु किल नोत्पाता गण्यन्त इत्यभिप्रायेण ॥१०५॥

हिन्दी—जब आकाश में उत्पातसूचक ध्वनि हो, भूकम्प हो और ग्रहों का परस्पर में संघर्ष हो; तब वर्षा ऋतु के न होने पर भी (सब समय में) आकालिक (उक्त समय में तथा अगले दिन) अनध्याय जानें ॥१०५॥

सन्ध्याकाल में गरजने आदि पर अनध्याय—

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥१०६॥

भाष्य—त्रिसंनिपाते पूर्वेणाकालिकमुक्तम् । अनेन द्वयोः सन्निपातेऽपि **सज्योति-**रुच्यते । स्तनितं च तन्निःस्वनश्चासौ स्तनिततनिःस्वनः । विद्युच्च स्तनिततनिःस्वनश्च **विद्युत्स्तनिततनिःस्वनम्** । समाहारद्वन्द्वः । तस्मिन्सन्ध्यायामुपजाते द्वये **सज्योति**रनध्यायः। सूर्यो 'ज्योतिः' **दिवा** । नक्तमग्नि'र्ज्योतिः' । प्रातःसन्ध्यायामुत्पन्ने दिवैवानध्यायो, रात्रौ तु नास्ति । एवं पश्चिमसन्ध्यायां रात्रावनध्यायो, न प्रातरध्ययनदोषः ।

विद्युत्स्तनितवर्षाणां त्रयाणां प्रकृतानां विद्युत्स्तनितयोर्विभज्य निर्देशो भवति । वर्षा शेषः, तस्मिंस्तृतीये दृश्यमाने पूर्वोक्त आकालिकोऽनध्यायः । तदपेक्षयोक्तं **यथा दिवा** तथा **रात्रावपि** ।

'ज्योतिः' प्रसिद्धतरं ज्योतिष्टोमादि । शेषमिति पाठः । शेषं हूयमानमहरनध्याय-हेतुर्भवतीति । "अथ कस्मान्नैवमुक्तं शेषं त्वाकालिकं स्मृतमिति" । विचित्रा श्लोकानां कृतिर्मनोः ॥१०६॥

हिन्दी—हवन के लिये अग्नि प्रज्वलित करने पर बिजली के चमकने और बादल के गरजने पर (पानी बरसने पर नहीं) जब तक (दिन में सूर्य का तथा रात्रि में चन्द्र का) प्रकाश रहे; तब तक अनध्याय माने । रात्रि में बिजली के चमकने, मेघ के गरजने तथा पानी बरसने पर दिन के समान (रात्रि में भी) अनध्याय माने ॥१०६॥

विमर्श— यहाँ समय का तीन विभाग किया गया है । प्रथम विभाग में, प्रातःकालीन हवन कर्म के लिये अग्निहोत्र की अग्नि को प्रज्वलित करने पर बिजली चमके, बादल गरजे किन्तु पानी न बरसे तो सूर्य के दर्शन होने तक (केवल दिन मात्र का) अनध्याय माने । द्वितीय विभाग में— सन्ध्याकालिक हवन कार्य के लिये अग्निहोत्र की अग्नि को प्रज्वलित करने पर बिजली चमके, बादल गरजे किन्तु पानी नहीं बरसे तो ताराओं के दर्शन होने तक (केवल रात्रि मात्र) अनध्याय माने । तृतीय विभाग में— रात्रि में यदि शेष तीनों कार्य हों (बिजली चमके, बादल गरजे तथा पानी बरसे तो दिन-रात अनध्याय माने) ।

ग्राम-नगरादि में नित्य अनध्याय—

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वशः ॥१०७॥

भाष्य—निपुणं धर्मं ये कामयन्ते ते ग्रामनगरयोर्नाधीयीरन् । धर्मशब्दश्च स्वर्गादौ धर्मफले वर्तते । यदि वाऽधर्मेणाननुवेधा 'धर्मस्य नैपुण्यं', तेन सुपरिपूर्णो विध्यर्थोऽनुष्ठितो भवति । अतश्चाशक्तस्यानुज्ञानं भवति ।

पूतिगन्धः कुत्सितगन्धस्तस्मिन्नासिकापथं गच्छत्यनध्यायः ।

सर्वशः सर्वस्मिन् । शवगन्धेऽपि ॥१०७॥

हिन्दी—धर्म-निपुणता के इच्छुकों के लिये ग्राम तथा नगर में नित्य अनध्याय है और दुर्गन्धि आने पर सर्वदा (विधाननिपुणता के इच्छुक तथा धर्म-निपुणता के इच्छुक दोनों के लिए) अनध्याय है ॥१०७॥

विमर्श—शिष्य दो प्रकार के होते हैं— प्रथम 'धर्मनैपुण्यकाम' अर्थात् वेदाध्ययनजन्य अदृष्ट फल के इच्छुक, तथा द्वितीय 'विद्यानैपुण्यकाम' अर्थात् विद्या की अधिकता के इच्छुक। इन दोनों में प्रथम प्रकार के (धर्म-नैपुण्य-काम) शिष्य के लिये ग्राम या नगर में कभी भी वेदाध्ययन करने का निषेध है और द्वितीय प्रकार के (विद्या-नैपुण्य-काम) शिष्य के लिये दुर्गन्धि आने पर वेदाध्ययन करने का निषेध है।

मृतकयुक्त ग्रामादि में अनध्याय—

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ।।१०८।।

भाष्य—अन्तर्गतः शवो यस्मिन्ग्राममध्ये स्थितो, यावन्न निर्हृतः ।

वृषलस्य । नात्र शूद्रो वृषलस्तस्य प्रागेव निषिद्धत्वात् 'न शूद्रजनसंनिधाविति', किं तर्हि, तत्प्रायिकेणधर्मेणाधार्मिकत्वं लक्ष्यते । तेन यः पापाचारस्तत्संनिधानाच्च तेन निषेधः ।

रुद्यमाने रुदनशब्दे सति । भावमात्रे रुद्यमानशब्दः ।

समवायः जनस्य । यत्र बहवो जनाः कार्यार्थमेकत्र संघटिता भवन्ति तादृशे देशे नाध्येयम् । अथवा 'जनस्य समवाये रुद्यमाने' रुदतीत्यर्थः । बहुषु रुदत्सु प्रतिषेधः । छान्दसं कर्तर्यात्मनेपदम् ॥१०८॥

हिन्दी—ग्राम में मृतक के रहने पर, अधार्मिक के पास में, रोने का शब्द होने पर और बहुत लोगों के (कार्यवश) एकत्रित होने पर (अनध्याय माने) ॥१०८॥

जलादि में अनध्याय—

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।।१०९।।

भाष्य—चतुर्मुहूर्तोऽर्धरात्रः । सैव महानिशा । प्रथमादर्धरात्राद्द्वौ मुहूर्तावुत्तराद्द्वौ । **उदके** नदीतडागादिस्थः । अन्तर्जले जपस्त्वनध्यायरूपत्वादघमर्षणादिर्न निषिध्यते । 'उदये' इत्यन्ये पठन्ति । प्रथमोदयकाले सूर्यस्यानध्यायः ।

उच्छिष्टो भुजिसम्बन्धेनाकृताचमनो यावत् । कृतमूत्रपुरीषोऽपि प्रागाचमनादुच्छिष्ट

उच्यत एव । आचमनार्हाप्रायत्यमात्रवचन इत्यन्ये । तेन कृतनिष्ठोवनादिरपि गृह्यते ।

मनसाऽपि । नान्यत्रानध्याये मनसा चिन्तनमभ्यनुज्ञायते । किं तर्हि दोषगौरवार्थमेतेषां निमित्तानाम् ॥१०९॥

हिन्दी—जल में, आधी रात में— मध्य रात्रि की ८ घड़ियों में[१], गोविन्दराज के मत से (मध्यरात्रि के दो प्रहरों में), मल-मूत्र करने में, उच्छिष्टावस्था में (भोजन के बाद जब तक मुख धोकर शुद्ध न हो जाय तब तक) और श्राद्ध के भोजन में (निमन्त्रण के समय से लेकर श्राद्ध भोजन वाली दिन-रात तक) मन से भी चिन्तन न करे (वेदाध्ययन का) सर्वथा त्याग करे ॥१०९॥

एकोद्दिष्ट के निमन्त्रण लेने आदि में अनध्याय—

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टनिकेतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥११०॥

भाष्य—एक उद्दिश्यते यस्मिंस्तत्'एकोद्दिष्टं' नवश्राद्धम् । तत्र 'निकेतनं' निमन्त्रणं प्रतिगृह्य, अङ्गीकृत्य त्र्यहमनध्याय आमन्त्रणात्प्रभृति ।

एवं 'राजा' चन्द्रमास्तस्य सूतकं, राहुं प्रत्यमृतस्त्रवणम् । 'च' शब्दात्सूर्यस्य च ।

अथवा जनपदेश्वरस्य 'राज्ञः सूतकं' पुत्रजन्मोत्सवः । राहोः सूतकं चन्द्रसूर्ययोरुपरागः, ग्रहणमिति प्रसिद्धम् ॥११०॥

हिन्दी—एकोद्दिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण लेकर, राजा के (पुत्रादि-जन्मादि प्रयुक्त) सूतक में तथा राहु के सूतक (सूर्य-चन्द्र के ग्रहणों में) तीन दिन तक विद्वान् ब्राह्मण वेदाध्ययन न करे ॥११०॥

श्राद्ध के गन्धलेप रहने तक अनध्याय—

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥१११॥

भाष्य—एकमनुदिश्य आमश्राद्धं, तस्य यावच्छ्राद्धकृतौ गन्धलेपौ तिष्ठतस्तावदनध्यायः । पूर्वस्माद्विधौ विध्यन्तरम् । द्वितीयस्मिन्नहनि कृतस्नानोऽपनीततद्गन्धोऽध्ययनार्हः ।

उपलक्षणं चैतदसतोरपि गन्धलेपयोर्यावद्भुक्तमन्नं न जीर्णं तावन्नाधीयीत ।

विदुष इति तस्यैव श्राद्धभोजनाधिकारमनुवदति ॥१११॥

---

१. "निशायां च चतुर्मुहूर्तम्" इति गौतमस्मरणात् । (म०मु०)

हिन्दी—जब तक विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में एकोद्दिष्ट के कुंकुमादि का गन्ध या लेप रहे, तब तक वह वेद का अध्ययन न करे ॥१११॥

लेटने आदि की अवस्थाओं में अनध्याय—

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ।।११२।।

भाष्य—प्रसारितपादः पादारोपितपादो वा खट्वासनादौ वा संहतपादः ।

अवसक्थिका वस्त्रादिना जान्वोर्मध्यस्य च बन्धः ।

आमिषं मांसम् ।

'सूतक'ग्रहणं शावाशौचादेरपि प्रदर्शनार्थम् ॥११२॥

हिन्दी—(शय्या-पलंग आदि पर) लेट कर, पैर फैलाकर, घुटनों (टखनों) को नीचे की ओर मोड़कर और मांस को तथा सूतक (जन्म-मृत्यु-जन्य आशौच) के अन्न को खाकर वेदाध्ययन न करे ॥११२॥

नीहार-पतनादि में अनध्याय—

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ।।११३।।

भाष्य—नीहारो दिङ्मोहो धूमिकेत्यनर्थान्तरम् । बाष्परजोवृता इव येन दिशः क्रियन्ते । **बाणशब्दः** शरनिर्घोषः ।

दन्त्योष्ठ्यमन्ये पठन्ति व्याचक्षते च वीणा 'बाण' इति । महाव्रते हि प्रयोगो दृश्यते । शततन्त्रीको भवति वीणा वितन्त्रीति च ।

चतुर्दश्याम्— उभयोरपि पक्षयोः ।

अष्टकाश्च सर्वा अष्टम्यः— स्मृत्यन्तरसमाचाराभ्याम् ।

अन्ये त्वष्टमीष्वित्येवं पठन्ति ॥११३॥

हिन्दी—नीहार (कुहरा) गिरने पर, बाणों का शब्द होने पर, दोनों (प्रातःसायं) सन्ध्याओं, अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी तिथियों में अध्ययन न करे ।

अमावास्यादि में अध्ययन करने से दोष—

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ।।११४।।

भाष्य—पूर्वस्यार्थवादो नित्यार्थः । तेन यत्र नित्यत्वज्ञापकं न किंचित्स विकल्पतेऽनध्यायः । वक्ष्यति च "द्वावेव वर्जयेत् नित्यमिति (४।१२७)" ।

ताः परिवर्जयेत् अध्ययनक्रियातः ॥११४॥

हिन्दी—अमावास्या गुरु का नाश करती है, चतुर्दशी शिष्य का नाश करती है और अष्टमी तथा पूर्णिमा ब्रह्म (वेद-शास्त्र ज्ञान) का नाश करती है। अतः उनका त्याग करे (उन तिथियों में न पढ़े) ॥११४॥

धूल्यादि की वृष्टि में अनध्याय—

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ।।११५।।

भाष्य—गोमायुः शृगालः । तस्य **विरुतं** शब्दकरणम् ।

श्वखरोष्ट्राणां पङ्क्त्यवस्थितानां शब्दं कुर्वतामनध्यायः । एकैकस्य समानजातीयपङ्क्तौ ॥११५॥

हिन्दी—धूलि की वर्षा होने पर, दिग्दाह होने पर, गीदड़, कुत्ता, गदहा और ऊँट के रोने का शब्द होने पर और उनकी पंक्ति में बैठकर द्विज वेदाध्ययन न करे ॥११५॥

श्मशानादि के पास में अनध्याय—

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ।।११६।।

भाष्य—अन्तःशब्दः सामीप्यवचनः । श्मशानसमीपे ग्रामसमीपे च ।

गोव्रजे । गावो यत्र चरितुं व्रजन्ति । गोष्ठो वा 'गोव्रजः' ।

स्त्रीसंप्रयोगकाले यत्प्रावृतं वासस्तदेव प्रावृत्य नाधीयीत । **मैथुन**शब्दः साहचर्यात्तत्कालप्रवृत्ते वाससि वर्तते ।

श्राद्धिकं श्राद्धनिमित्तं शुष्कान्नाद्यमपि गृहीत्वा नाधीयीत ॥११६॥

हिन्दी—श्मशान के पास में, ग्राम के पास में, गोशाला में, मैथुन समय का वस्त्र पहने हुए और श्राद्ध के अन्नादि का दान लेकर अध्ययन न करे ॥११६॥

श्राद्ध का दान लेने पर अनध्याय—

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ।।११७।।

भाष्य—श्राद्धनिमित्तं दीयमानं भक्तादि **श्राद्धिकमिति** प्रसिद्धं, तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । न केवलं व्रीहितण्डुलादिप्रतिग्रह एव श्राद्धेऽनध्यायहेतुः । यावदन्यदपि **प्राणि वा** गवादि तथाऽ**प्राणि** वासोयुगादि । **तदप्यालभ्य** प्रतिग्रहकाले हस्तेन स्पृष्ट्वा नाधीयीत । यतस्तदेव तस्य भोजनम् ।

पाणिरेवास्यमस्येति **पाण्यास्यः** । श्राद्धे भोजनं तन्निमित्तं च द्रव्यग्रहणं तुल्यमिति दर्शयति ॥११७॥

हिन्दी—श्राद्ध-सम्बन्धी जीव (गौ आदि) या निर्जीव (शय्या, वस्त्र, अन्न आदि) को हाथ से लेने पर भी अनाध्याय होता है; क्योंकि 'ब्राह्मण पाण्यास्य' (हाथ ही है मुख जिसका ऐसा) कहा गया है ॥११७॥

चौरादि के उपद्रव में अनध्याय—

चौरैरुपप्लुते ग्रामे सम्भ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥११८॥

भाष्य—उपप्लुत उपद्रुतः । यत्र बहवश्चौरा ग्रामे घातार्थं पतन्ति तत्र नाध्येयम् । **संभ्रमे** यत्राग्निना 'संभ्रमो' भयं जन्यते गेहदाहादिप्रवृत्तेनादग्धेऽपि गेहादौ । **आकालिकोऽनध्यायः** । प्रवृत्तिकालादारभ्य यावदन्येद्युः स एव कालः । अन्येषु **चाद्भुतेषू**त्पातेषु दिव्यभौमान्तरिक्षेषु शिलाप्लवादिषु दिवादर्शनादिषु ॥११८॥

हिन्दी—ग्राम के चोर आदि के उपद्रव से युक्त होने पर, किसी प्रकार संभ्रम (घबराहट होने पर) आग लगने पर (आकाश, अन्तरिक्ष या पृथ्वी पर) कोई अद्भुत उत्पातादि होने पर 'आकालिक' (उस समय से लेकर अगले दिन तक) अनध्याय जाने ॥११८॥

उपाकर्मादि में त्रिरात्र अनध्याय—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥

भाष्य—उत्सर्गे पक्षिण्यहोरात्रं च पूर्वमुक्तम्, अनेन त्रिरात्रेण विकल्प्यते ।

उपाकर्मण्यपूर्वो विधिः । **अष्टका** ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तमिस्रपक्षेऽष्टम्यस्तिस्रश्चतस्रो वा । यद्यपि सर्वास्वष्टमीष्वहोरात्रमुक्तं तथापि नित्यार्थोऽयमारम्भो युक्त एव । विकल्पश्च सर्वत्रास्मिन्प्रकरणे कृतार्थत्वापेक्षः ।

ऋत्वन्तासु अहोरात्रमित्यनुषज्यते । षड्तवः । तेषां यत्र पूर्वो निवर्तते अपरश्च प्रवर्तते तत्रानध्यायः ।

रात्रिग्रहणमुपलक्षणार्थम् ॥११९॥

हिन्दी—उपाकर्म (श्रावणी कर्म, और उत्सर्ग) (वेदोत्सर्ग ४।६१) कर्म में तीन रात (दिन-रात) का अनध्याय होता है । मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा के बाद तीन (या चार) अष्टमी तिथियों और ऋतु के अन्त में एक दिन-रात का अनध्याय होता है ॥११९॥

विमर्श— 'धर्मनैपुण्काम'— (४।१०७ का विमर्श देखें) के लिए यह (त्रिरात्र का) निषेध है, 'विद्यानैपुण्यकाम' के लिए (४।१०७ का विमर्श देखें) तो पक्षिणी रात्रिमात्र (४।९७ का विमर्श देखें) ही अनाध्याय होता है।

घोड़ा आदि पर चढ़े वेदाध्ययन का निषेध—

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ।।१२०।।

भाष्य—**ईरिणं** बहिर्ग्रामं जलतृणवर्जितो देश ऊषरापरपर्यायः।
यानं गन्त्रीशकटशिबिकादि। तेन गच्छतो निषेधः ।।१२०।।

हिन्दी—घोड़ा, पेड़, हाथी, नाव, गदहा और ऊँट पर चढ़कर, ऊसर स्थान में रहकर तथा गाड़ी आदि पर सवार होकर (वेदाध्ययन न करे) ।।१२०।।

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ।।१२१।।

भाष्य—**विवादः** क्रोशपूर्वको व्याक्रोशः। **कलहो** दण्डादिनेतरेतरताडनम्। **सेना** हस्त्यश्वरथपदातिः। **सङ्गरः** सङ्ग्रामः। असङ्गरेऽपि सेनास्थस्य निषेधः। **भुक्तमात्रं** ''यावदार्द्रपाणिरिति'' स्मृत्यन्तरम्। **अजीर्णं** पूर्वेद्युर्भुक्तमपरेद्युरपरिणतमुच्यते। **वमनं** प्रसिद्धम्। **शुक्तके** उद्गारेऽसत्यप्यजीर्णे तदहरपरेद्युर्वा ।।१२१।।

हिन्दी—विवाद (वाचिक कलह-गाली-गलौज आदि); कलह (दण्डादिप्रहार-मारपीट), सेना और युद्ध में, भोजन करने पर (जब तक धोया हुआ हाथ न सुख जाय तब तक[१]) अजीर्ण होने पर, वमन करने पर और खट्टी डकार आने पर (वेदाध्ययन न करे) ।।१२१।।

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ।।१२२।।

भाष्य—अतिथिग्रहणं शिष्टोपलक्षणार्थम्। अनित्यागमनः शिष्टश्चातिथिस्तस्मिन्गृह आगतेऽसावध्येषितव्यः 'अधीमह' इति-तेनानुज्ञातोऽधीयीत। तथा च स्मृत्यन्तरं ''शिष्टे च गृहामागत'' इति।

मारुते वायौ **वाति** वेगेन।

''ननु 'कर्णश्रव' इत्याद्युक्तमेव''।

सत्यम्। ततोऽधिकतरे ततो वर्षाभ्योऽन्यत्र वाति प्रतिषेधः। अथवा 'वाति' परि-

---

१. ''यावदार्द्रपाणिः—'' इति वसिष्ठस्मरणात्, इति। (म०मु०)

शुष्यति, वानः शोषणार्थत्वात्। मारुतग्रहणं च धातुमात्रोपलक्षणार्थम्। अध्ययनश्रमेण धातुषु क्षीयमाणेष्वप्यनध्यायः। मारुते वर्धमाने विधायिन्यध्येतरीति भिन्नसम्बन्धे व्यधिकरणसप्तम्यौ।

रुधिरे जलौकादिना परिस्रुतेऽथवा **शस्त्रेण च परिक्षते** शरीरे। रुधिरे च स्रुते गात्रादितिवाक्येनैकवाक्यता ॥१२२॥

हिन्दी—अतिथि से बिना कहे, तेज हवा के बहते रहने पर, शरीर से रक्त बहने पर, शस्त्र से क्षत होने पर (वेदाध्ययन न करे) ॥१२२॥

सामवेदध्वनिकाल में वेदान्तर का अनध्याय—

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन।
वेदस्याधीत्य बाऽप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥१२३॥

भाष्य—ऋचो यजूंषि सामध्वनौ श्रूयमाणे नाधीयीत। ऋग्वेदयजुर्वेदब्राह्मणयोरप्रतिषेधः। पञ्चविंशे च श्रूयमाणऋग्यजुषयोरप्ययं प्रतिषेधः।

वेदस्यान्तो यत्र वेदः समाप्तिमुपैति, मन्त्रान्तो ब्राह्मणान्तश्च। **आरण्यको** नाम वेदैकदेशः। **तमधीत्यान्यो** ग्रन्थो नाध्येतव्यः ॥१२३॥

हिन्दी—सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का अध्ययन कदापि न करे और वेद को समाप्त या आरण्यक (वेद का एक अंश विशेष) को पढ़कर (उस दिन-रात में दूसरे वेद का अध्ययन न करे) ॥१२३॥

तीन वेदों की देवतायें—

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥१२४॥

भाष्य—सामगीतध्वनावृग्यजुषस्यानध्याय उक्तः। तत्रायमर्थवादः। देवा देवता अस्य इति **देवदैवत्यो** देवतास्तुतिपर इत्यर्थः। ऋचः प्रायेण स्तुतिप्रधानाः। अत उक्तं **देवदैवत्य** इति।

मनुष्याणां कर्मप्रधानत्वाद्यजुर्वेदे च कर्मणां बाहुल्योपदेशादेतेन साम्येन यजुर्वेदो **मानुष** इत्युच्यते। मानुषशब्दो मनुष्यजातिवचनः। अभेदाध्यासाद्य**जुर्वेदो मानुष** इत्युक्तम्।

पित्र्यः पितृभ्यो हितः। पितरो वा देवता अस्येति यथाकथंचित्पितृशब्दसम्बन्धेन श्रूयते। त्रयो लोकास्तेषां त्रय एवाधिष्ठातारः। दिवो देवता, भूमेर्मनुष्या, अन्तरिक्षस्य पितरः।

एवं त्रयो वेदाः। द्वयोर्देवमनुष्यसम्बन्धोक्तत्वात्पारिशेष्यात्पित्र्यः सामवेदः।

तस्याशुचिर्ध्वनिः। नात्र तदीयस्य ध्वनेरशुचित्वं परमार्थतो विज्ञेयम्। किं तर्हि,

यथाऽशुचिसन्निधाने नाध्येतव्यं एवं तत्सन्निधान इति सामान्यमशुचित्वालम्बनम्।

अयं चाध्ययनविधौ प्रकरणात्साम्नि गीयमाने ऋग्यजुःप्रतिषेधः, न यज्ञप्रयोगेः॥१२४॥

हिन्दी—ऋग्वेद की देव, यजुर्वेद की मनुष्य और सामवेद की पितर देवता हैं; इस कारण उस (सामवेद) का ध्वनि अपवित्र (के समान) है ॥१२४॥

विमर्श—ऋग्वेद में देवकर्म, यजुर्वेद में मनुष्य कर्म तथा सामवेद में पितृकर्म करने की विधियाँ प्रायः कही गयी हैं। पितृकर्म करने के बाद जल से आचमन कर शुद्ध होने का वचन शास्त्रों में मिलता है। अतः पितृकर्मोपदेशपरक सामवेद की ध्वनि अपवित्र-सी वस्तुतः में अपवित्र नहीं मानी गयी है, इसी (सामवेदध्वनि के अपवित्र के समान होने के) कारण से उस समय में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अध्ययन का निषेध प्रकृत श्लोक द्वारा किया गया है। सामवेद अपवित्र न होने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता १०।२२) कहकर सामवेद को सब वेदों में श्रेष्ठतम बतलाया है।

गायत्री-जप के बाद वेदपाठ—

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥१२५॥

भाष्य—**एएत्**त्रिलोक्याधिष्ठातृसम्बन्धित्वं 'ऋग्वेदो देवदैवत्य' इत्यादि **विदन्तो विद्वांसः** प्राज्ञास्त्रय्या निष्कर्षं सारभूतं पूर्वमभ्यस्य प्रणवव्याहृतिसावित्राख्यमुक्तेन क्रमेण **पश्चाद्वेदमधीयते** पठन्ति। तेन त्रयो लोकास्तिस्रो देवता एतत्त्रिकाध्यनेन परिगृहीता भवन्ति।

उक्तोऽप्ययमर्थो द्वितीयेऽध्याये पुनरुच्यते। यथाऽनध्यायेषु न पठ्यते तथा त्रयी निष्कर्षे प्रागनधीते ॥१२५॥

हिन्दी—यह (४।१२४ श्लोकोक्त वेदत्रय के देवत्रयभाव) जानते हुए लोग तीनों वेदों के सार (प्रणव, व्याहृति तथा सावित्री) को पहले क्रमशः अभ्यास कर बाद में वेदाध्ययन करते हैं ॥१२५॥

पशु आदि बीच में आने पर अनध्याय—

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥१२६॥

भाष्य—**अन्तरागमने**ऽध्याप्याध्यापकयोर्मध्येनाधीयानानां वा।

अहर्निशमहोरात्रम्।

गौतमे तु ''त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्चोक्तः''। श्मशानाध्ययने च एतदेव। अत्र विकल्पो विज्ञेय: ॥१२६॥

हिन्दी—(वेदाध्ययन करते समय गुरु तथा शिष्य के) बीच में गौ आदि पशु, मेढ़क; बिलार, (या बिल्ली), सर्प, नेवला और चूहा के आ जाने पर दिन-रात अनध्याय होता है ॥१२६॥

दो अनध्याय मुख्यतः त्याज्य—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ।।१२७।।

भाष्य—नित्यग्रहणात्पूर्वत्रानध्यायानां विकल्पः। तत्रापि येषां नित्यत्वमात्रं तत्प्रदर्शितमेव, यत्र नित्यग्रहणमर्थवादो वा यथा 'अमावास्या गुरुं हन्तीति''।

भूमेश्चाशुद्धिरस्थिभगलिङ्गादिकामेध्यादिसंसर्गः।

आत्मनस्तु पञ्चमे वक्ष्यते।

यद्यप्यध्ययनविधिप्रकरण एतावनध्यायौ तथापि नैत्यके भवतः। न ह्यशुचिरधिक्रियते। तथा च ब्राह्मणं ''तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽऽशुचिर्यद्देश'' इति। ब्रह्मयज्ञश्च नित्यो जपः ॥१२७॥

हिन्दी—द्विज अध्ययन के समय अपवित्र (मल-मूत्र-उच्छिष्टादि से दूषित) स्थान तथा अपने शरीर की अपवित्रता— इन दो अनध्यायों का प्रयत्नपूर्वक सर्वदा त्याग करे ॥१२७॥

विमर्श— यह विकल्प 'विद्या-नैपुण्य-काम' (४।१०७ का वक्तव्य देखें) शिष्य के लिए है। अतएव (विद्या-नैपुण्य-काम) शिष्य अन्य अनध्यायों को न मानकर केवल इन्हीं दो अनध्यायों को माने अथवा पूर्व (४।१०२-१२६) कथित अनध्यायों में जो नित्य अनध्याय है, उनको तथा प्रकृत श्लोक में कथित इन दो अनध्यायों को ही वेदाध्ययन के लिए त्याज्य माने, अन्य सामान्य अनध्यायों को नहीं।

अमावस्यादि को स्त्री-सम्भोग सर्वथा त्याग—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ।।१२८।।

भाष्य—ब्रह्मचारी भवेत् ब्रह्मचारिधर्मो मैथुननिवृत्तिरतिदिश्यते, न पुनर्भिक्षाचरणादिः। **अप्यृतावििति** सम्बन्धात्तदेव प्रथमं हृदयमागच्छति।

अन्ये तु मधुमांसनिवृत्तिमपीच्छन्त्येतेष्वहःसु। तत्र स्मृत्यन्तरमुदाहार्यम्।

"षष्ठ्यष्टमीममावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम् ।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे ॥"

अन्ये त्वाहुः— "ब्रह्मचारीति' विशिष्टाश्रमिणो नामधेयमेतत् । अत आश्रमान्तरवर्तिनि गृहस्थादौ प्रयुज्यमानो वेदग्रहणार्थधर्मलक्षणयाऽतिदेशार्थो भवति । **ब्रह्मचारी भवेत्** । परशब्दो हि परत्र प्रयुज्यमानो वत्यर्थं गमयति । सर्वेषु ब्रह्मचारिधर्मेषु प्राप्तेष्वग्नीन्धनभैक्ष्यचरणादयः 'आ समावर्तनात्कुर्यादिति' वचनात्, 'गृहस्थः शेषभुगिति' च प्रत्यक्षे विनिवर्तन्ते । केवलं मधुमांसमैथुनप्रतिषेधमात्रमतिदिश्यत" इति ।

प्रसिद्धस्तु ब्रह्मचारिशब्दो मैथुननिवृत्तावेवेति यत्किंचिदेतत् ॥१२८॥

हिन्दी—अमावस्या, अष्टमी पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियों में स्त्री के ऋतुकाल होने पर भी गृही द्विज ब्रह्मचारी ही रहे ॥१२८॥

विमर्श— यद्यपि पहले (३।४५) ऋतुकाल में स्त्री-सम्भोग को आवश्यक बतलाकर पुनः पर्व (अमावस्यादि तिथि) में उस (स्त्री-सम्भोग) का निषेध किया है, तथापि प्रकृत वचन स्नातक-व्रत के लोप का प्रायश्चित्त बतलाने के लिये पुनः कहा गया है । इन अमावस्यादि तिथियों के अतिरिक्त समय में ऋतुकाल होने पर गृही (विशेषकर अनपत्य गृही) स्त्री-सम्भोग न करने पर[1] प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

तैल-मर्दन आदि के लिए वर्ज्य काल—

[षष्ठ्यष्टम्यौ त्वमावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम् ।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे ।।७।।]

[**हिन्दी**—षष्ठी, अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा को तैल लगाना, मांस खाना, स्त्रीसंग करना और क्षौर कर्म करवाना छोड़ दे ॥७॥]

रागस्नानविषयक निषेध—

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ।।१२९।।

भाष्य—नित्यस्य स्नानस्य भुक्तवतः प्राप्त्यभावान्नायं प्रतिषेधः । स्मृत्यन्तरे हि "स्नानं महायज्ञाः शेषभोजनम्"इत्यर्थक्रमः श्रुतः । न चण्डालस्पर्शनादिनिमित्तकस्यापि, "नाशुचि क्षणमपि तिष्ठेदिति" विरोधात् । अत इच्छालक्षणस्य धर्माद्यपनोदहेतोरयं प्रतिषेधः ।

आतुरो व्याधिगृहीतः । तस्य सर्वप्रकारस्नानप्रतिषेधोऽशुचित्वेऽपि । "सर्वत एवा-

---

१. तथा च पराशरः— "ऋतुस्नातां तु यो भार्यासन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते नात्र संशयः ॥" इति ।

त्मानं गोपायेदिति'' । ''का तर्हि तस्य शुद्धिः'' मार्जनं मन्त्रवत्प्रोक्षणं वस्त्रत्याग एवमादि कर्तव्यम् । **महानिशा** चतुर्मुहूर्त उभयतोऽर्धरात्रितः ।

येतु— ''महती निशा यस्मिन्काले हेमन्तादाविति'' व्याचक्षते-तेषां माघफाल्गुनयोः प्रातःस्नानविधिविरोधादपव्याख्यानम् । नापि हैमन्तिकीषु रात्रिषु निषेध इति प्रमाणमस्ति द्वितीयस्य निशाशब्दस्याभावात् ।

वासोभिरिति सामर्थ्यलक्षणे शीतादौ वाससां बहुत्वे सति प्रतिषेधः । एकेन विहितमेव ''न नग्नः स्नायादिति'' (४ । ४५) द्वाभ्यामनियमः । बहूनां प्रतिषेधः ।

जलाशयो जलाधारः **अविज्ञातः** गाधागाधतया ग्राहादिभयेन च ।

अजस्रं सर्वदेत्यर्थः ॥१२९॥

हिन्दी—भोजन के बाद, रोगी रहने पर, महानिशा (रात्रि के मध्य वाले दो प्रहरों) में, बहुत वस्त्र पहने हुए और अज्ञात जलाशय में (जिसमें पानी का थाह, गड्ढा या पत्थर आदि और जलजन्तु आदि का रहना ठीक-ठीक मालूम न हो, उसमें) सर्वदा स्नान न करे ॥१२९॥

विमर्श— भोजन के बाद नित्य स्नान की सम्भावना ही नहीं है तथा चाण्डाल आदि का स्पर्श होने पर शक्ति रहते हुए मुहूर्त मात्र भी बिना स्नान किये रुकने का निषेध होने से यह वचन ऐच्छिक स्नान विषयक[१] है । रोगी मनुष्य स्नान की शक्ति न रहे तो शिर को छोड़कर, केवल गीले वस्त्र से शरीर पोंछकर या देह पर पानी छिड़कर नैमित्तिक स्नान करे[२] । रात्रि के मध्य दो प्रहर को 'महानिशा कहते हैं, उसमें नित्य या ऐच्छिक स्नान का ही निषेध है, काम्य या नैमित्तिक (चन्द्रग्रहणादि प्रयुक्त) स्नान तो करना ही चाहिये[३] ।

देव-प्रतिमादि की छाया के उल्लंघन का निषेध—

---

१. ''मुहूर्तमपि शक्ति विषये नाप्रयतः स्यात्—'' इत्यापस्तम्बवचनात् यदृच्छास्नानमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते इति । (म०मु०) ।

२. तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं न कुर्यात्, किन्तु यथासामर्थ्यम् ।
''अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् ।
आर्द्रेण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुः ।
इत्यादिजाबालाद्युक्तमनुसन्धेयम् । इति (म०मु०) ।

३. ''महानिशाऽत्र विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।
तस्मिन् स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृते ॥''
इति देवलवचनाच्च न तत्र स्नायात् । इति (म०मु०) ।

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ।। १३० ।।

भाष्य—प्रतिकृतयोऽत्र **देवता**स्तासां छायासम्भवात् । **गुरुः** पिता । **आचार्य** उपनेता । भेदोपादानमातिदेशिकगौरवनिवृत्त्यर्थम् । तेन मातुलादिषु नायं विधिरिति । केचित्''समाचारविरोधान्नैतद्युक्तं गोबलीवर्दवद्भेदो विज्ञेय'' इति वदन्ति । **बभ्रुः** कपिलो वर्णः । तद्गुणयुक्तं द्रव्यम् । बभ्रवत्र गौः कपिला, सोमलता वा । उभयोर्बभ्रुशब्देन वेदे प्रयोगदर्शनात् ।

कामत इत्यबुद्धिपूर्वमदोषः ।।१३०।।

हिन्दी—देवप्रतिमा, गुरु (पिता आदि श्रेष्ठ जन), राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल वर्णवाला और यज्ञ में दीक्षित मनुष्यों (अवभृथ स्नान के पूर्व तक) की छाया का इच्छापूर्वक उल्लंघन न करे ।।१३०।।

चौराहे पर ठहरने का निषेध—

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ।। १३१ ।।

भाष्य—मध्याह्नेऽ**र्धरात्रे** महानिशायां समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा **न सेवेत** । चिरं न तत्रासीत् । यदि कथञ्चिद्ग्रामादि गच्छतो नान्तरेण चतुष्पथं मार्गान्तरमस्ति, तदा तावन्मात्रसम्बन्धो न निषिध्यते ।

केचित्तु चकारमेवं योजयन्ति— 'श्राद्धं भुक्त्वा सामिषं चान्यदपि भोजनम्' । अस्मिंश्च सम्बन्धे समाचारोऽन्वेष्यः । नान्यथा व्यवहितः सम्बन्धो लभ्यते ।।१३१।।

हिन्दी—दोपहर में, आधी रात में, मांस सहित श्राद्धान्न भोजनकर और दोनों (प्रातः तथा सायंकाल की) सन्ध्याओं में चौराहे पर न जावे (बहुत समय तक न ठहरे) ।।१३१।।

उबटन आदि की मैल पर ठहरने का निषेध—

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ।। १३२ ।।

भाष्य—**उद्वर्तन**मभ्यङ्गमलापकर्षणं पिष्टादि । **अपस्नान**मुपयुक्तमुदकम् । **निष्ठ्यूतम**श्लेष्मरूपमपि भुक्त्वा त्यक्तं ताम्बूलवीटिकादि ।

अधिष्ठानं तदुपरिस्थानम् ।

कामतः । अज्ञानपूर्वमदोषः ।।१३२।।

हिन्दी—उबटन आदि की मैल, स्नान का पानी, विष्ठा (मैला), मूत्र, रक्त, कफ

(खकार), पान आदि की पीक और थूक तथा वमन किये गये अन्नादि पर न ठहरे (पैर न रखे या खड़ा न होवे) ॥१३२॥

शत्रुआदि की संगति का निषेध—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ।।१३३।।

भाष्य—बैरी शत्रुस्तस्य सदैव उपायनप्रेषणान्येकत्र स्थानासने गृहमनादिकथा-प्रवृत्तिरित्येवमादि न कार्यम् ।

अधार्मिकः पातकी, यश्च कुसृत्या वर्तते ।

तस्करश्चौरः ।

अस्मादेव च भेदोपादानादधार्मिको न सर्वः, किंतर्हि यथा व्याख्यातम् ।

परस्य योषितं स्त्रियम् । योषिद्‌गहणान्न पत्न्येव किंतर्ह्यवरुद्धाऽपि, वैरकरणत्वा-दुभयोर्दृष्टदोषनिमित्तैश्च प्रतिषेधः, साहचर्यात् । उत्तरत्र च 'दार'ग्रहणमदृष्टदोषाति-शयदर्शनार्थम् । न पुनरेवं वक्तव्यं "योषितमिति सामान्यनिर्देशे दारशब्दार्थवादा-द्विशेषावगतिः।" नायमस्यार्थवादः । भिन्नमेवैतद्वाक्यम् ॥१३३॥

हिन्दी—शत्रु, शत्रु का सहायक, अधार्मिक, चोर और परस्त्री का संग न करे ॥१३३॥

परस्त्री-निन्दा—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।।१३४।।

भाष्य—अजीर्णकारकभोजनादि सुवर्णापहरणादि न ही**दृशमनायुष्य**मायुष्यक्षय-करं **यादृशं** परदारगमनम् । अदृष्टेन दृष्टेन च दोषः ॥१३४॥

हिन्दी—इस संसार में पुरुष की आयु को क्षीण कराने वाला वैसा कोई कार्य नहीं है, जैसा दूसरे की स्त्री का सेवन करना है (अतएव उसका सर्वदा त्याग करना चाहिये) ॥१३४॥

क्षत्रिय तथा ब्राह्मणादि के अपमान का निषेध—

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ।।१३५।।

भाष्य—अवमान अनादरो गौरवाभावस्तिरस्कारश्च ।

कृशानपि तदात्वे प्रीतिं कर्तुमसमर्थानपि ॥१३५॥

हिन्दी—(धन-गौ आदि सम्पत्ति से) बढ़ने वाला मनुष्य क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण ये यदि दुर्बल हों तो भी इनका अपमान न करे ॥१३५॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ।।१३६।।

भाष्य—**निर्दहेत्** अवमन्तारं पुरुषम् ।

त्रयमवमानितम् । क्षत्रियः सर्पो दृष्ट्वा शक्त्या, ब्राह्मणो जपहोमैः अदृष्टेन च दोषेण ।

तस्मादेतत् त्रयं नित्यमित्युपसंहारः । विधाय दोषदर्शनं पुनरुपसंहारो यत्नेन परिहारार्थः । यत्नातिशयाच्च प्रायश्चित्ते गौरवमप्यनुमीयते ॥१३६॥

हिन्दी—अपमानित ये तीनों (क्षत्रिय, साँप और ब्राह्मण) अपमान करने वाले पुरुष को भस्म कर देते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य इनका अपमान कदापि न करे ॥१३६॥

विमर्श— इनमें क्षत्रिय तथा सर्प देखने से या क्षत्रिय शक्ति से, सर्प दंशन से और ब्राह्मण अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटनादि) कर्मों से अपमान करने वाले का बहुत अनिष्ट करते हैं ।

आत्मापमान का निषेध—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।।१३७।।

भाष्य—**असमृद्धिर्ध**नाद्यसंपत्तिः, कृष्यादिना धनार्जनावसरे । तत्र नात्माऽवमन्तव्यो 'दुर्भगोऽहमकृतपुण्यो, नास्मिन्नवसरे धनं मया लब्धं, कुतोऽन्यदा प्राप्स्यामीति' नावसादो भावनीयः ।

आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेत् । आऽन्त्यादुच्छ्वासाद्धनार्जनकामो न त्यक्तव्यः । न **चैनां** श्रियं **दुर्लभां मन्येत** । 'अवश्यं मम सम्पद्यते मद्व्यवसाय' इति गृहदौःस्थित्याद्यपरिगणय्य तदर्जने प्रवर्तितव्यम् । अस्ति कस्यचित्सुभाषितम्—

"हीनाः पुरुषकारेण गणयन्ति ग्रहस्थितिम् ।
सत्त्वोद्यमसमर्थानां नासाध्यं व्यवसायिनाम् ॥"

अनेन चैतद्दर्शयति । 'अहं दुर्गतः क्लेशप्राप्यधन आधानादौ नाधिक्रिये । ततोऽग्निहोत्रहोमक्लेशादुत्तीर्णोऽस्मीति' यस्य बुद्धिः स न सम्यङ्मन्यत इति । अतस्तदर्थं प्रयतेत ॥१३७॥

हिन्दी—पहले (उद्योग करने पर भी) समृद्धि न होने पर ('मैं मन्दभाग्य या अभागा

हूँ' इत्यादि प्रकार से) अपना अपमान न करे, (किन्तु) मरने तक लक्ष्मी को चाहे (उन्नति के लिए उद्योग करता ही रहे), और इसे (समृद्धि— संपत्ति को) दुर्लभ कभी न समझे॥१३७॥

सत्य तथा प्रिय भाषण—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।१३८।।

भाष्य—अर्थप्रयुक्तवचनं सत्ये नियम्यते। यथादृष्टं श्रुतं च **सत्यम्**।

प्रियं ब्रूयात्। द्वितीयोऽयं विधिः। औदार्यादिगुणानुकथनं परस्यादृष्टेनापि केनचि-दवसरेण। तथा पुत्रजन्मादि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात' इत्यसत्यपि स्वप्रयोजने यदि सत्यं तद्वक्तव्यम्। यदि तस्य तत्र विदितम्।

'सत्यं' प्रियमप्रियं वाऽस्ति। प्रियं दर्शितं— 'ब्राह्मण पुत्र' इत्यादि। अप्रियं यथा 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'-तदसत्यं न ब्रूयात् सत्यमपि कन्यागर्भग्रहणमप्रियत्वादप्रकाश्यम्। सत्यां गतौ तूष्णीमासितव्यम्। ननु **गर्भिण्या**मगर्भिणीति वक्तव्यं प्रियत्वादत आह **प्रियं च नानृतं ब्रूयादिति**। एवं च यस्य प्रथमः साक्षात्कारस्तेन तत्र तूष्णीमासितुं लभ्यते।

एष सनातनो धर्मः। सनातनो नित्यो वेदस्तेन विहितत्वाद्धर्मोऽपि सनातनः॥१३८॥

हिन्दी—सत्य (जैसा देखा है वैसा) बोले, प्रिय ('तुम्हें पुत्र हुआ है, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये इत्यादि' प्रीतिजनक वचन) बोले, सत्य भी अप्रिय (जैसे— 'तुम्हारा पुत्र मर गया, तुम फेल हो गये' इत्यादि दुःखजनक वचन) न बोले और प्रिय भी असत्य (वचन) न बोले; यही सनातन (वेदमूलक होने से अनादि काल से चला आता हुआ) धर्म है ॥१३८॥

दूसरे के कार्य को अच्छा कहना—

भद्रंभद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ।।१३९।।

भाष्य—अत्र प्रथमस्य भद्रशब्दस्य नञ्लोपं व्याचक्षते। यदभद्रं तद्भद्रमिति ब्रूयात्। **इति**करणः प्रदर्शनार्थः। 'कल्याणं' 'मङ्गलं' 'सिद्धं' 'श्रेय' इत्यादयः सिद्धाः शब्दाः प्रयोक्तव्याः।

पूर्वपदस्यापि प्रदर्शनार्थत्वेऽन्धे 'चक्षुष्मान्'मूर्खे 'प्राज्ञ' इत्यादिवचनं लभ्यते। अथवा भद्रमित्येष एव शब्द एवमादिषु वक्तव्यः।

शुष्कबैरं असत्यर्थादिप्रयोजने आहोपुरुषिकं वाक्यं न कर्तव्यम्।

एवं राजाधिकरणे **विवादं** शुष्कमेवेत्यादि सम्पद्यते।

केनचिदसमर्थेनापि ॥१३९॥

हिन्दी—(दूसरे के किये हुए किसी) बुरे या बिगड़े हुए कार्य को 'अच्छा' कहे, या 'अच्छा है[१]' ऐसा सामान्यत: कहे, बिना मतलब किसी के साथ विरोध या झगड़ा न करे ॥१३९॥

अज्ञात व्यक्ति के साथ गमन करने का निषेध—

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ।।१४०।।

भाष्य—अतिकल्यशब्दश्चाहर्मुखे वर्तते । उष:काले न गन्तव्यम् । **अतिसायं** पश्चिमसन्ध्यासमये **अज्ञातेन पुरुषेण सह न गच्छेत्** । असहायश्च **वृषलैः** शूद्रैश्च सह ॥१४०॥

हिन्दी—बहुत सबेरे, बहुत शाम होने पर और बहुत दोपहरी होने पर अज्ञात (कुलशील वाले) पुरुष तथा शूद्रों के साथ अकेला न जावे ॥१४०॥

हीनाङ्ग आदि की निन्दा का निषेध—

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोतिगान्[२] ।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ।।१४१।।

भाष्य—हीनाङ्गाः काणकुष्ठिकुब्जादय: । **अतिरिक्त**मधिकं अङ्गं येषां श्लीपद्यादय: । **विद्याहीना** मूर्खा: । **वयोतिगा** अत्यन्तवृद्धा: । **रूपहीना** दु:संस्थानाश्चिपिटकेकरादय: । **द्रविणहीनाः** द्ररिद्रा: । द्रविणं धनं तेन हीना वर्जिता: । **जात्या हीना** निकृष्टजातय: कुण्डगोलकाद्या: । ता**न्नाक्षिपेत्** । 'आक्षेप:' कुत्सा । एतेषां एतै: शब्दैराह्वानमेव कुत्सा ॥१४१॥

हिन्दी—हीन (कम या अत्यन्त छोटे) अङ्ग वाले (यथा— लङ्गड़ा, लूला, वामन आदि), अधिक अङ्ग वाले (यथा— छाँगुर आदि), मूर्ख, बहुत अधिक उम्र वाले, कुरूप, निर्धन और नीच जाति वालों की निन्दा न करे (लंगड़ा, काना इत्यादि शब्द को उनके प्रति व्यवहार में न लावे) ॥१४१॥

जूठे मुँह गौ आदि के स्पर्श का निषेध—

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
न चापि पश्येदशुचिः स्वस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ।।१४२।।

---

१. "तथा चापस्तम्ब:— 'नाभद्रमभद्रं ब्रूयात्पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव' इति"। (म०मु०)।

२. पाठभेद:–वयोऽधिकान् ।

भाष्य—**उच्छिष्टो** भुक्तवाननाचान्तः कृतमूत्रपुरीषश्च। अशुचिमात्रमिहोच्छिष्ट-शब्देनोच्यते। तथा चोच्छिष्टस्य गवादिस्पर्शः प्रतिषिध्यते। अशुचिशब्देन प्रायश्चित्तं वक्ष्यति।

पाणिग्रहणमतन्त्रम्। अन्येनाप्यङ्गेन स्पर्शो नेष्यते। वस्त्राद्यन्तरिते न निषेधः।

दिवि ज्योतिर्गणं न पश्येत्। **स्वस्थो**ऽनातुरः। दिवीतिवचनाद्भूमौ ज्योतिषोऽग्नेरप्रतिषेधः ॥१४२॥

हिन्दी—उच्छिष्ट मुख (जूठे मुँह) रहकर (तथा मलमूत्र त्यागकर) गौ, ब्राह्मण और अग्नि का हाथ से स्पर्श न करे और अपवित्र रहते हुए स्वस्थावस्था में आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा आदि को न देखे ॥१४२॥

उक्त स्पर्श करने पर प्रायश्चित्त—

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥१४३॥

भाष्य—अविशेषवचनेऽपि प्राणाश्चक्षुरादय एव मूर्धन्या उच्यन्ते। प्राणशब्दश्चक्षुरादिवचनो वेदे प्राणसम्भव उपनिषदि दृश्यते।

गात्राणि अंसजानुपादादीनि।

पाणितलेनापो गृहीत्वा स्पृशेत् ॥१४३॥

हिन्दी—अशुद्ध (जूठे मुँह रहकर तथा मल-मूत्र त्यागकर) इन (गौ, ब्राह्मण और अग्नि) का हाथ से स्पर्शकर पाणितल (तलहथी) पर पानी रखकर उससे प्राणों नेत्रादि इन्द्रियों (शिर, कन्धा, घुटना चरणों) एवं सम्पूर्ण शरीर और नाभि का स्पर्श करे ॥१४३॥

इन्द्रियों तथा गुप्त रोगों के स्पर्श का निषेध—

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

भाष्य—**अनिमित्ततः** कण्डूयनादिनिमित्तं विना। **स्वानि खानि** चक्षुरादीनि छिद्राणि न स्पृशेत्।

रहस्यानि कक्षोपस्थगतानि **विवर्जयेत्** प्रकृतेन स्पर्शेन। श्लोकपूरणार्थमाख्यातान्तरोपादानम्।

अन्ये त्वाहुः आख्यातान्तरनिर्देशाद्दर्शनं प्रतिषिध्यते ॥१४४॥

हिन्दी—स्वस्थ रहते हुए बिना कारण इन्द्रियों तथा गुप्त रोमों (कक्ष या उपस्थादि के बालों) का स्पर्श न करे ॥१४४॥

मङ्गल द्रव्य तथा आचार से युक्त रहना—

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ।।१४५।।

भाष्य—अभिलषितायुर्धनादिसिद्धि**र्मङ्गलम्**। तदर्थमाचारो **मङ्गलाचारो** गोरोचनातिलकशुभफलादिस्पर्शस्तेन युक्तो नित्यं तत्सेवापरः स्यात्।

"ननु चाचारस्य प्रामाण्यमुक्तमेव"।

सत्यम्। अदृष्टस्यार्थस्यानेनोच्यते। दृष्टबुद्ध्या हि क्रियमाणस्य व्यभिचारदर्शनेन कश्चिदनादरपरः स्यात्। तदर्थं पुनरुच्यते। यथा प्रस्थानकाले सन्निहिते पुनः कथनं दध्यादौ वन्दनं, शुक्लनिवसनदर्शनं, दक्षिणतः कपिञ्जलवासितं, फलिते वृक्षे दक्षिणत एव वायसस्य,— एवमादि मङ्गलार्थमादरणीयं; विपरीतं वर्जनीयम्।

जितेन्द्रियो विषयेष्वलालसः। पुरुषार्थतयैतदसकृदुक्तमपि विनिपातनिवृत्त्यर्थमुच्यते।

अग्नेरन्यत्रापि होमसम्भवा**ज्जुहुयादग्निमि**त्याह।

अतन्द्रित इत्युक्तानुवादः ॥१४५॥

हिन्दी—मङ्गल (गोरोचनादि मङ्गल द्रव्य-विशेष) तथा आचार (गुरुसेवा आदि) से युक्त, बाहर (मिट्टी जलादि से)— भीतर (राग-द्वेषादि-त्याग से) शुद्ध, जितेन्द्रिय और निरालस होकर सर्वदा (गायत्री का) जप करे तथा हवन करे ॥१४५॥

उक्ताचरण से लाभ—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ।।१४६।।

भाष्य—विनिपातः प्राकृताशुभनिमित्तको दैवोपद्रवो व्याधिर्धननाश इष्टवियोगादिः। स एवमाचाराणां माङ्गल्यकान्निवर्तते।

अनेनापि नित्यतैवोक्ता भवति, सत्यपि फलार्थत्वे। न हि कश्चिद्दैवोपद्रवानिवृत्तिमर्थयते। अतो 'नित्य'ग्रहणमनुवादः। अथापि कश्चिदनर्थी स्यात्तथापि नित्य एवायं विधिः। एवं चोभयार्थता तस्य नित्याधिकारवृत्तिर्विनिपातनिवृत्तिश्च ॥१४६॥

हिन्दी—मङ्गल द्रव्य और आचार से युक्त, नित्य बाहरी-भीतरी शुद्धि रखने वाले, (गायत्री का) जप तथा हवन करते हुए द्विज का विनिपात (दैवकृत या मनुष्यकृत उपद्रव) नहीं होता है ॥१४६॥

गायत्री आदि के जप की श्रेष्ठता–

वेदमेव जपेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ।।१४७।।

भाष्य—जपेच्च जुहुयाच्चैवेत्युक्तम् । तत्र तावज्जपस्य साधनमाह— **वेदमेव जपेदिति** । अवशिष्टोऽर्थवादः ।

यथाकालं यस्मिन्यस्मिन्काले । वीप्सायामव्ययीभावः । यदैव ह्यैहिकी चेष्टा नातिपद्यते तदैव जपेत् । अन्यान्यग्निहोत्रादिकर्माणि नियतकालानि । जपस्य तु शुचित्वमेव कालः ।

अयं मुख्यो धर्मः। **उपधर्मः**। धर्मस्य समीपे उपधर्मः । समीपप्रधानस्तत्पुरुषो नाव्ययीभावः । ''उपमानानि सामान्यवचनैरिति'' (व्या० सू० २।१।५५) यथा । धर्मान्तरनिन्दा वेदजपस्तुत्यर्था, न तन्निषेधार्था ।।।१४७।।

हिन्दी—निरालस होकर यथासमय (मङ्गल कारक होने से नित्यकृत्य के समय) सर्वदा वेद का ही अभ्यास (गायत्री का जप) करे । मनु आदि आचार्यों ने उसी (गायत्री के जप) को श्रेष्ठ धर्म कहा है और दूसरे को उपधर्म कहा है ।।१४७।।

सतत वेदाभ्यासादि से पूर्वजातिस्मरण—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ।।१४८।।

भाष्य—अद्रोहोऽहिंसा ।

भूतानि स्थावरजङ्गमानि ।

जातिस्मरफलान्येतानि कर्माणि चत्वारि यावज्जीवमनुष्ठीयमानानि भवन्ति ।

जातिर्जन्मान्तरम् ।

पूर्वभवा **पौर्विकी** ।।१४८।।

हिन्दी—(मनुष्य) निरन्तर वेदाभ्यास (गायत्री जप), पवित्रता, तपस्या और प्राणियों के साथ द्रोह का अभाव (हिंसादि से उन्हें दुःखित न करने) से पूर्व जाति का स्मरण करता है (उसे पूर्वजन्म की बातें स्मरण होती हैं) ।।१४८।।

पूर्वजाति स्मरण से वेदाभ्यास द्वारा मोक्षलाभ—

पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यस्यते द्विजः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ।।१४९।।

भाष्य—ननु चेष्टफलकामः सर्वं समीहते । न च जन्मान्तरानुस्मरणमेकान्तसुखं येन फलत्वेन वेदाभ्यासादिचतुष्टयस्य वर्ण्यते । तत आह **पौर्विकीं जातिं स्मरन् ब्रह्म**

वेद **अभ्यस्यते** तत्र श्रद्धावान् भवति। 'ईदृशो ब्रह्माभ्यासो येन जन्मान्तरं स्मर्यते' इति। स्मरन्पुनस्तदभ्यासे वर्तते। तस्माच्चानेकजन्माभ्यस्तादनन्तरं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सुखम्। **अजस्रम**पुनरावृत्तिं **अश्नुते** प्राप्नोति। 'अनन्त'शब्देन सुखविशेष उपलक्ष्यते, असाधना परितृप्तिरात्मनः। तस्याजस्रपदेन शाश्वतं प्रतिपाद्यते। तादृशं सुखं प्राप्यते, न चैतत्क्षीयते।

समानार्थावप्यपुनरुक्तौ। यथा 'वृत्तकं वहतः पुरीषमिति'। वृत्तकमुदकं पुरीषं च। तत्रैको रूढोऽपरः क्रियाशब्दः। 'पुरीषं' पूरणसमर्थं 'वृत्तक'मुदकम् ॥१४९॥

हिन्दी—(इससे वह) पूर्वजाति का स्मरण करता हुआ, (जन्मजन्य जरामरणादि विविध क्लेशों का स्मरण करता हुआ उससे छुटकारा पाने के लिए) फिर ब्रह्म का ही (श्रवण, मनन और ध्यान के द्वारा) निरन्तर अभ्यास करता है और ब्रह्माभ्यास से परमानन्द की प्राप्तिरूप अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥१४९॥

हवन अष्टकाश्राद्धादि कर्तव्य—

सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च॥१५०॥

भाष्य—पूर्वोक्तानां होमानां स्वरूपमुच्यते।

सावित्राः सवितृदेवताकाः।

पवसु च पौर्णमास्यमावास्ययोः कर्तव्याः।

शान्त्यर्था होमा अनिष्टनिवृत्तिप्रयोजनाः।

द्रव्यं चात्राज्यमेवानुपात्तद्रव्यविशेषेषु सर्वहोमेषु श्रूयते "सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायामाज्यमिति"। पर्वस्विति च सप्तमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्या। अधिकरण-मग्निर्होमस्य, न कर्म क्वचित्। होतव्यानि पठ्यन्ते— 'लाजाज्यमांससक्तुदधिपयोधानाः पिष्टमित्यादि'।

एते च होमा अपूर्वाः। यावती च समाचारादितिकर्तव्यता सा प्राग्दर्शिता।

अष्टका ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तमिस्रपक्षाणां तिस्रोऽष्टम्यः। केषांचित् "हेमन्त-शिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामिति" वचनम्। तत्र **पितॄन**र्चयेच्छ्राद्धेन। पितृशब्दः पूर्वप्रमीत-पित्रादिवचनः। **अन्वष्टकास्ता** एव नवम्यः ॥१५०॥

हिन्दी—पर्वों (अष्टमी तथा पूर्णिमादि तिथियों) में सर्वदा सावित्रिदेवताक (सावित्री है देवता जिसका ऐसा तथा अनिष्ट निवृत्ति के लिए) शांति हवनों को करे। अग्रहण के बाद कृष्णपक्ष की तीन अष्टमी तिथियों में अष्टकाख्य तथा उसके बाद वाली नवमी तिथियों में अन्वष्टकाख्य श्राद्ध कर्म से (स्वर्गगत) पितरों का अर्चन करे ॥१५०॥

अग्निगृह से दूर मूत्रादि का त्याग—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ।।१५१।।

भाष्य—पादाववसिच्येते येनोदकादिना तत्**पादावसेचनं** तद्दूरात्क्षिपेत् । अथवा पादप्रक्षालनमेव दूरात्कुर्यात् ।

निषेकः परिषेकः । तैलादिकृतस्नानोदकमपि शक्यते निषेकशब्देनाभिधातुम् । उपयुक्तशेषस्य त्याज्यस्यायं दूरतो निक्षेप उच्यते । तद्धि **निषेक**शब्देन प्रसिद्धतरम्॥१५१॥

हिन्दी—अग्निगृह अर्थात् अग्निहोत्रशाला से (नैर्ऋत्य दिशा में छोड़ा हुआ बाण जहाँ तक जाय उतनी[1]) दूर पर मूत्र (और मल का त्याग) करे, पादप्रक्षालन करे, जूठे अन्न (पत्तल आदि) को फेंके तथा वीर्य त्याग करे ॥१५१॥

शौच, दतुवन आदि पूर्वाह्ण में कर्तव्य—

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ।।१५२।।

भाष्य—अर्थवादेषु पश्वङ्गसंस्तवे **मैत्रः** पायुरिति श्रूयते । तदिहाप्यभेदोपचारान्मित्रः पायुस्तत्र भवं शौचं मैत्रम् ।

प्रसाधनं केशरचनामुपलेपनादि ।

अथवा विशेषणविशेष्ये पदे 'मैत्रं प्रसाधनम्' । अकृतशकृताऽपि प्रातः पायुप्रक्षालनं कर्तव्यम् । यथा हि सुप्तस्य लालास्रावादेरवश्यं भावित्वान्मुखधावनं विहितम्, एवमेतदपि विनैव वा निमित्तेन मुखस्य जघन्ययोरङ्गयोः प्रक्षालनमवश्यं कर्तव्यम् ।

अन्ये त्वाहुमित्रकार्यं 'मैत्रं;' तत्सर्वकार्येभ्योऽन्तरङ्गेभ्योऽपि पूर्वं कर्तव्यम् । तत्राप्यशुचेः क्षणमप्यवस्थाभावात्स्वकार्यापेक्षया पूर्वत्वं द्रष्टव्यम् । तदा च पूर्वाह्णशब्दः कार्यान्तरेभ्यः पूर्वतामात्रोपलक्षणार्थः, न पुनरपराह्णप्रतिषेधार्थः ।

अथवा मित्र आदित्यस्तदुपस्थानं **मैत्रम्** ॥१५२॥

हिन्दी—मल त्याग, शरीर-संस्कार (शृङ्गार), स्नान, दतुवन, अञ्जन और देवताओं का पूजन पूर्वाह्ण में ही करे ॥१५२॥

विमर्श— यहाँ 'पूर्वाह्ण' शब्द से रात्रि के पूर्वार्द्ध का भी ग्रहण करना चाहिये । तथा प्रकृत श्लोक में कार्य के क्रम का निर्देश न मानकर पदार्थ मात्र का निर्देश मानना चाहिये, अतएव दतुवन के बाद स्नान किया जाता है, न कि स्नान के बाद दतुवन ।

---

१. तदुक्तं विष्णुपुराणे— ''नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः ।'' इति ।

पर्वों में देवादि दर्शन—

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ।।१५३।।

हिन्दी—पर्वों (अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियों) में अपनी रक्षा के लिए देवप्रतिमा, धार्मिक श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा और गुरु (पिता-आचार्यादि गुरुजन) के दर्शन के लिए जाया करे ॥१५३॥

वृद्धजनों का अभिवादनादि—

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ।।१५४।।

हिन्दी—(गृह पर आये हुए) बड़े-बूढ़े लोगों का अभिवादन करे, अपना आसन उनको (बैठने के लिए) दे, हाथ जोड़कर उनके सामने बैठे और उनके लौटने के समय (कुछ दूर तक) पीछे-पीछे जावे ॥१५४॥

श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित स्व-धर्म का पालन—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ।।१५५।।

हिन्दी—वेदों तथा स्मृतियों में सम्यक् प्रकार से कहे हुए, अपने कर्मों से धर्म मूलक आचार का सर्वदा निरालस होकर पालन करे ॥१५५॥

आचार की प्रशंसा—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।१५६।।

भाष्य—न चायमेष विद्वत्तादिगुणसम्पन्नः साध्यते । प्रजाया ह्येते गुणाः प्रार्थ्यन्ते। तदुक्तम् "तया गवा किं क्रियते या न धेनुर्न गर्भिणी । कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।"

अक्षय्यमपि प्रभूतं यदसद्व्यसनैरपि अक्षय्यम् ।

अलक्षणं स्कन्धोपरि तिलकादि दारिद्र्यादिदौर्भाग्यसूचकम् । तदप्याचारो हन्ति । तेन ह्यधर्म आचारपरत्वेन नश्यति ॥१५६॥

हिन्दी—(मनुष्य) आचार से (वेदोक्त दीर्घ) आयु को प्राप्त करता है, आचार से अभिलषित सन्तान (पुत्र-पौत्रादि) को प्राप्त करता है, आचार से क्षय रहित (अत्यधिक) धन को प्राप्त करता है और आचार (शरीर आदि के) अनिष्ट लक्षण को नष्ट कर देता है॥१५६॥

दुराचार की निन्दा—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।।१५७।।

हिन्दी—दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है ॥१५७॥

सदाचारी की सौ वर्ष आयु—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ।।१५८।।

हिन्दी—सब लक्षणों से हीन भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और असूया (दूसरे के दोष के कहने) से रहित है, वह सौ वर्ष तक जीता है ॥१५८॥

पराधीन कार्य का त्याग तथा स्वाधीन कार्य की कर्तव्यता—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ।।१५९।।

भाष्य—यत्परप्रार्थनया स्वपरहितादि क्रियते **तत्परवशं** वर्ज्यते, न तु यद्वृत्ति-साध्यमार्त्विज्यादि । तद्धि स्ववशमेव । तद्विषयकमेव भृत्यादि स्वीक्रियते । च चानेन परवशमपि दीक्षितस्य निषिध्यते । स्मृत्या श्रुतिं बाधितुमन्याय्यत्वात् । उक्ते च विषये सावकाशत्वात्स्मृतेः ।

यत्त्वात्मनो वश्यं, स्वल्पया धनमात्रया परोपकारः स्वल्पोऽपि, स्वयं तत्कर्म कुर्यात् ।

नित्यकर्मासम्पत्तौ कुटुम्बोपयोगिनि धनेऽसति कर्तव्यैव याञ्चा, उपायान्तराभावे । किन्तु 'विशेषतो यक्ष्ये' 'विशेषतो दास्य' इति सत्यां कस्याञ्चिद्धनमात्रायां सन्तोषपरेण भवितव्यमित्येवमस्य तात्पर्यम् ॥१५९॥

हिन्दी—जो-जो पराधीन (धनादि से साध्य) कार्य है, उसका यत्नपूर्वक त्याग करे और जो-जो स्वाधीन (अपने शरीर आदि से साध्य) कार्य है, उसे यत्नपूर्वक करे ॥१५९॥

उक्त विषय में हेतु कथनपूर्वक सुख दुःख का लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।।१६०।।

भाष्य—याञ्चां निन्दति । **यत्परवशं तत्सर्वं दुःखम्** । तिष्ठतु तावत्परस्य गृह-द्वार्युपस्थानमनुवृत्तिरत्र चामुत्र च भ्रमणम् । यत्तु ।

"सङ्कल्प एव याञ्चायां हृदयं न प्रसह्यते ।
नूनं मायामसन्दिग्धां सृष्टिर्नासौ स्वयम्भुवः ॥"

समासेन संक्षेपेणौतद्दुःखस्य **लक्षणं** या याञ्चा । सुखं चैतद्याऽस्पृहा ॥१६०॥

हिन्दी—पराधीन सब कार्य दुःख का और स्वाधीन सब कार्य सुख का कारण है, संक्षेप से इसे सुख-दुःख का लक्षण जाने ॥१६०॥

चित्त के सन्तोषप्रद कार्य की कर्तव्यता—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ।।१६१।।

भाष्य—आत्मतुष्टेः प्रागुक्तायाः पुनर्वचनं स्मरणार्थम् । विषयश्च तस्या दर्शन एव ।

यत्र कर्मणि क्रियमाणे किंकथिका न भवति; तत्कर्तव्यम् । यत्र तु हृदयं न तुष्यति, तद्वर्जनीयम् ॥१६१॥

हिन्दी—जिस कार्य के करते रहने से अन्तरात्मा प्रसन्न हो, उस कार्य को प्रयत्नपूर्वक करे और उसके विरुद्ध कार्य का त्याग कर दे ॥१६१॥

आचार्यादि कि हिंसा का निषेध—

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ।।१६२।।

भाष्य—**आचार्य्य** उपनेता । **प्रवक्ता** अध्यापको व्याख्याता । **गुरु**स्ताभ्यामन्यः पितृव्यमातुलादिः । **सर्वांश्चैव तपस्विनः** ।

प्रायश्चित्तप्रवृत्तान्पातकिनोऽपीति **सर्व**ग्रहणम् ।

अविशेषेण सर्वभूतानां तत्र तत्र हिंसा निषिद्धा । पुनर्वचनमाचार्यादीनामाततायिनामपि निषेधार्थमिति केचित् । यस्तु "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" (८.३५०) इत्यादिरर्थवादोऽस्यैव प्रतिप्रसवः ।

उपाध्यायस्त्वाह । नायं प्रतिषेधः । पर्युदासोऽयम् । सङ्कल्पविधानार्थो "नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत्त" इतिवत् । अतः प्रयत्नेऽतिक्रान्ते भवत्ययं सङ्कल्पप्रतिषेध इति ।

अथवा दुरुक्तभाषणं 'हिंसा' । "वाग्भिस्तैस्तैर्जघान ताम्" इति प्रयोगदर्शनात् ।

अथवा प्रतिकूलाचरणे हन्तिः प्रयुक्तः ॥१६२॥

हिन्दी—आचार्य (२।१४०), वेदादि का व्याख्यानकर्ता, पिता, माता, गुरु (२।१४२), ब्राह्मण, गौ और सब (प्रकार के) तपस्वी; इनकी हिंसा (इनके प्रतिकूल आचरण) न करे ॥१६२॥

विमर्श—गोविन्दराज का मत है कि— सामान्यतः हिंसा का निषेध करने से आततायी (श्लो० ८।२३-२५) के लिए भी इन (आचार्य आदि) की हिंसा का निषेध है, किन्तु यह अर्थ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" (८।३५०) वचन के विरुद्ध होने से अग्राह्य है।

नास्तिक्यादि का निषेध—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं स्तम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्।।१६३।।

भाष्य—वेदप्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसायो 'नास्तिक्यम्'। शब्देन प्रतिपादनं **निन्दा**। 'पुनरुक्तोवेदोऽन्योऽन्यव्याहतो नात्र सत्यमस्तीति' भावदोषेण, न पूर्वपक्षभङ्ग्या।

अग्न्यादयो 'देवता'स्तासां 'कुत्सनं' निन्दैव। यथा 'दग्धदैवेन हताः स्म' इति दैवे भवन्ति वक्तारः।

द्वेषो मात्सर्यादिहेतुकाऽप्रीतिः।

स्तम्भोऽहङ्कारादनम्रता।

मानोऽहङ्कार आत्माभिमानः 'पण्डितोऽहमाढ्योऽहमिति'। अमर्षः **क्रोधस्तैक्ष्ण्यं** पारुष्यम्। द्वेषपूर्वकः क्रोधः ॥१६३॥

हिन्दी—नास्तिकता (ईश्वर-परलोकादि को न मानना), वेदनिन्दा, देवनिन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता का त्याग करे ॥१६३॥

दूसरे को मारने आदि का निषेध—

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ।।१६४।।

भाष्य—येन दम्यते स 'दण्डः' करलगुडशिफारज्जुविदलादि। तं **परस्य** क्रुद्धः **सन्नोद्यछेन्नो**त्क्षिपेत्। प्रहारार्थं तिर्यगपि न निपातयेत्। **निपातनं** वेगेन तदङ्गसंयोगः।

पुत्रशिष्यावनुताडयेच्छिफावेणुदलचपेटाभिर्यथाऽष्टमे वक्ष्यति, न दण्डेन। तौ च न क्रोधेन, किं तर्हि **'शिष्ट्यर्थं'**मनुशासनार्थं, बाल्याद्यदि चापलमाचरतः। तथा "पृष्ठतस्तु शरीरस्य" (२९९) इतीषत्ताड्यौ।

शिष्यग्रहणं दासीदासस्यापि प्रदर्शनार्थम्। समानकार्यत्वात् ॥१६४॥

हिन्दी—दूसरे के ऊपर डण्डा न उठावे तथा क्रोधकर डण्डे से न मारे और पुत्र तथा शिष्य (और भार्या तथा दास आदि) को शिक्षा देने के लिए ('रज्ज्वा वेणुदलेन वा') (८।२९९) के अनुसार ताड़न करे ॥१६४॥

ब्राह्मण पर डण्डा उठाने का निषेध—

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्त्रे नरके परिवर्तते ।।१६५।।

भाष्य—अविशेषेण सर्वविषये ताडने निषिद्धे ब्राह्मणे तत् क्रियाया दोषातिशय-दर्शनार्थं पञ्चश्लोकी ।

अवगूर्य्य उद्यम्यैव दण्डादि **वधकाम्यया** ताडनेच्छया । विनैव निपातेन । **शतं वर्षाणि नरके पच्यते** परिवर्तते तत्फलमुपभुङ्क्ते ।।१६५।।

हिन्दी—द्विजाति (भी) ब्राह्मण को मारने के लिए केवल डण्डे को उठाकर (बिना उसे मारे) ही सौ वर्ष तक तामिस्त्र आदि नरकों में घूमता रहता है ।।१६५।।

ब्राह्मण के ताड़न से निकृष्ट योनि की प्राप्ति—

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ।।१६६।।

भाष्य—संरंभः क्रोधावेशः, न तु नर्मणा । बुद्धिपूर्वम् ।

एकविंशतिमाजातीः । जातिर्जन्म । आकारोऽनर्थकः, प्रलम्बत इतिवत् ।

पापानां योनय इति तिर्यग्जन्तवो दुःखबहुलाः । तिष्ठतु तावद्दण्डादिः पीडाकर-पदार्थः । तृणेनापि ताडने दीर्घकालो नरकानुभवः ।।१६६।।

हिन्दी—क्रोध से बुद्धिपूर्वक तृण से भी ब्राह्मण का ताड़न कर इक्कीस जन्म तक (ताड़नकर्ता द्विजाति भी) पाप (कुत्ते-बिल्ली आदि की) योनियों में उत्पन्न होता रहता है ।।१६६।।

ब्राह्मण के देह से रक्त गिराने पर दुःख की प्राप्ति—

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ।।१६७।।

भाष्य—असृग्लोहितम् । **तदङ्गतो**ऽङ्गाद्यत्रोत्पादयति **ब्राह्मणस्य** खड्गप्रहारादिनाऽ-**युद्ध्यमानस्य, न** तु द्रोणाचार्यवत्क्षात्रेण युयुत्सोः । **सुमहद्दुःखं** नरकादि **प्रेत्य** मृतो जन्मान्तरे ।

अप्राज्ञतयेत्यनुवादः । प्राज्ञो हि शास्त्रार्थज्ञानान्न कथमप्येवं कुर्यात् ।।१६७।।

हिन्दी—शास्त्रज्ञान के कारण मनुष्य युद्ध नहीं करने वाले ब्राह्मण के शरीर से (दण्डताड़नादि द्वारा) रक्त गिराकर मरने पर बहुत भारी दुःख पाता है ।।१६७।।

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ।।१६८।।

भाष्य—ईषत्प्रहारे पूर्वफलम् । अधिके तु **पांसबो** रजांसि धूल्यवयवास्तान्**यावतो** यत्परिमाणान्**गृह्णाति** संहन्ति ब्राह्मणाङ्गच्युतं भूमिपतितं लोहितम् । **तावतोऽब्दां**स्तावन्ति वर्षाण्य**मुत्र** परलोकेऽ**द्यते** श्वशृगालैर्यः **शोणितस्योत्पादकः** प्रहर्ता ।।१६८।।

हिन्दी—(दण्ड़ या खड्ग आदि शस्त्र से क्षत होने के कारण) ब्राह्मण के शरीर से निकला हुआ रक्त पृथ्वी पर से जितने धूलि (के कण— द्व्यणुक) को ग्रहण करता है, रक्त बहाने वाले उस व्यक्ति को उतने वर्षों तक दूसरे (शृगाल, कुत्ता, गीध आदि) खाते हैं— ।।१६८।।

न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ।।१६९।।

भाष्य—पूर्वस्य क्रियात्रयप्रतिषेधविधेरुद्यमननिपातनविषयस्योपसंहारः ।

न कदाचिदापद्यतीत्यर्थः ।।१६९।।

हिन्दी—इस कारण विद्वान् मनुष्य ब्राह्मण के ऊपर डण्डा आदि कभी न उठावे, उसका तृण से भी ताड़न न करे और न उसके शरीर से (शस्त्र-प्रहारादि द्वारा) रक्त बहावे ।।१६९।।

अधार्मिक आदि को सुख की अप्राप्ति—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतिश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।।१७०।।

भाष्य—सामान्यतः सर्वहिंसाप्रतिषेधशेषोऽयम् ।

अधर्मः शास्त्रप्रतिषिद्धोऽगम्यागमनादिस्तं **चरत्यधार्मिकः** ।

यस्य चानृतमेव धनम् । साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ चासत्यमुक्त्वा उत्कोचधनं साधयति ।

यश्च **हिंसारति**र्हिसायां अभिरतो, वैरानुबन्धादर्थहेतोर्वा परान्हिनस्ति ।

नासौ सुखमेधते न सुखं प्राप्नोति ।

इहास्मिल्लोके ।।१७०।।

हिन्दी—जो अधार्मिक (शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाला) है, जिसका झूठ बोलना ही धन है (जो झूठी गवाही देकर पैसा या घूस लेता है) और परपीड़न में संलग्न है; वह मनुष्य इस लोक में सुखी होकर उन्नति नहीं करता है ।।१७०।।

अधर्म से मन को हटाना—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।।१७१।।

भाष्य—**धर्मः** शास्त्रमर्यादा । तेन वर्तमानः । **सीदन्न**प्यवसादमपि प्राप्नुव**न्नाधर्मे मनो निवेशयेत्** । यत **अधार्मिका** यद्यपि चौर्योत्कोचदम्भादिभिर्धनसमृद्धा दृश्यन्ते, तथापि तेषा**माशु विपर्य्ययो** दृश्यते धननाशादि । अतो न धर्माद्विचलेत् ॥१७१॥

सुहृद्भूत्वा दृष्टमर्थं दर्शितवान् । इदानीं शास्त्रार्थमाह ।

हिन्दी—अधार्मिक पापियों के (धन-धान्यादि समृद्धि का) शीघ्र ही विपर्यय (उलटा विनाश) देखता हुआ मनुष्य धर्म के कारण दुःखित होता हुआ भी बुद्धि को कभी भी नहीं लगावे ॥१७१॥

अधर्म से धीरे-धीरे समूल नाश—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।।१७२।।

भाष्य—अनियतकालत्वाद्वैदिकानां शुभाशुभफलानां कर्मणामेवमुच्यते ।

नाधर्मश्चरितोऽनुष्ठितः **सद्यः फलति** फलं ददाति ।

वेदे हि केवलं कर्मणां विहितप्रतिषिद्धानां सुखदुःखफलत्वं श्रुतम् । कालविशेषस्तु नावगमितः । वाक्यव्यापारो हि कर्तव्यतावगमपरत्वेऽपि कर्मफलसम्बन्धबोधमात्रे पर्यवस्यति, न कालविशेषमाक्षिपति फलवतां कर्मणाम् । नित्यानां तु फलतः कर्तव्यताप्रतिषिद्धपरिहारेऽपि नैव नरकादिदुःखनिवृत्तिकामस्याधिकारः, किन्तु शास्त्रप्रतिषेधसामर्थ्यात् । स तु प्रतिषेधो दुःखफलत्वं प्रतिषिद्धानुष्ठानस्य बोधयति । निपुणत एतदुच्यमानमतिग्रन्थविस्तरमाक्षिपतीत्युपरम्यते ।

गौरिव साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामयं दृष्टान्तः । यथा गौः पृथिवी व्युप्तबीजा न तदैवानेकसस्यशालिनी भवति— किं तर्हि— परिपाकमपेक्षते— तादृशं वैदिकं कर्मेति साधर्म्यम् । वैधर्म्येणापि, यथा गौः पशुर्वाहदोहाभ्यां सद्यः फलति । नैवं धर्माधर्मौ ।

अधर्मग्रहणं धर्मस्यापि फलदानं प्रति कालानियमप्रदर्शनार्थम् ।

आवर्त्यमानः कालेनोपचीयमानः । **कर्तुः** प्रतिषिद्धानुष्ठातुः **मूलानि कृन्तति** छिनत्ति । मूलकर्तनेन सर्वेण सर्वविनाश उपलक्ष्यते । यथा मूलच्छेदाद्वृक्षादिस्थावराणामपुनर्भवस्तद्वदधर्मकारिणाम् ॥१७२॥

हिन्दी—किया हुआ अधर्म भूमि या गौ के समान तत्काल फल नहीं देता है किन्तु

धीरे-धीरे फलोन्मुख होता हुआ (वह अधर्म) कर्ता की जड़ को ही काट देता है।

विमर्श— यहाँ पर 'गौ' शब्द का अर्थ भूमि तथा गाय आदि पशु है, पृथ्वी जैसे बोये गये बीज का फल तत्काल नहीं देती। किन्तु धीरे-धीरे फलोन्मुख होती हुई समय आने पर ही देती है। यह अधर्म के साथ 'साधर्म्य' दृष्टान्त है। तथा जिस प्रकार गाय दूध आदि से या बैल आदि भार आदि ढोने से तत्काल (थोड़े समय के बाद ही) फल देते हैं (उसी प्रकार अधर्म तत्काल फल नहीं देता), यह 'वैधर्म्य' दृष्टान्त है! द्व्यर्थक 'गौ' शब्द से साधर्म्य तथा वैधर्म्य रूप यह दृष्टान्त देकर अधर्म के द्वारा तत्काल फल की अप्राप्ति कही गयी है।

अधर्मकर्ता के पुत्रपौत्रादि तक अवश्य फलप्राप्ति—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ।।१७३।।

भाष्य—"इदमयुक्तं यदन्यकृतस्य कर्मणोऽन्यगामिता फलस्योच्यते। कर्तुः फलदानि वैदिकानि कर्माणि। न वैश्वानरन्यायोऽस्ति, श्रवणाभावात्। न हि पुत्राद्यर्थताऽत्र श्रुता"।

सत्यम्। पुत्रे पीड्यमाने पीडितस्य पितुरधिकतरं दुःखं भवति। अतः कर्तुरेव दुःखम्। पुत्रस्यापि स्वकृदात्पौर्वदेहिकात्कर्मणस्तत्फलमित्यविरुद्धम्।

एवं **नप्तृष्वपि** द्रष्टव्यम्। नप्तारः पौत्राः।

कृतो धर्म इति संहितायास्तुल्यत्वाद्धर्माधर्मौ द्वावप्युपात्तौ ॥१७३॥

हिन्दी—यदि अधर्म का फल स्वयं (अधर्म करने वाले को) नहीं मिलता, तो पुत्र को मिलता है और यदि उसके पुत्र को नहीं मिलता तो पौत्रों को अवश्य मिलता है; क्योंकि किया गया अधर्म कभी निष्फल नहीं होता है ॥१७३॥

अधर्मोन्नति के बाद समूल नाश—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।।१७४।।

भाष्य—अधर्मेण प्रभुद्रोहादि **नैधते** वृद्धिं लभते। **तावत्त**स्मिन्नेव काले। ततो धनं ग्रामं वा प्राप्य। **ततो भद्राणि** बहुभृत्यगवाश्वादि सम्पत्तिलक्षणानि **पश्यत्य**नुभवति। **ततः सपत्ना**नरीन्दरिद्राञ्जयति परिभवति। तर्हि धर्मे स्थितान्कुतश्चन कुसृतिहीना लभन्ते अतस्तेषां दारिद्र्यशब्द ऐश्वर्ये परिभवः।

समूलं च कियन्तं कालमेवं भूत्वा सपुत्रज्ञातिधनबान्धवा उच्छिद्यन्ते।

तस्माद्धर्मो न हातव्यः ॥१७४॥

हिन्दी—मनुष्य अधर्म कर (दूसरे से वैर बाँधकर, झूठी गवाही आदि देकर) पहले उन्नति करता है, बाद में कल्याण (बान्धव, भृत्य, धन-धान्यादि का सुख) देखता है फिर शत्रुओं पर विजय पाता है और (कुछ समय के बाद ही) समूल (बान्धव, भृत्य और धन-धान्यादि के सहित) नष्ट हो जाता है ॥१७४॥

सत्यभाषणादि तथा शिष्यशासनादि—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ।।१७५।।

सत्यं यथादृष्टार्थवादिता ।

धर्मः श्रुतिविषयौ विधिप्रतिषेधौ ।

सत्यस्य ताद्रूप्येऽपि भेदेन निर्देशोऽतिशयार्थः । अनृतं पुरुषाणां स्वभावभूतम् । अतो यत्नेन पुनः पुनः प्रतिषिध्यते ।

आर्य्यवृत्तं सदाचारः । आर्याः शिष्टास्तेषां वृत्तमाचरितम् ।

तत्र आरमेत् । 'रतिः' परितोषः । एतेष्वर्थेषु परितोषोऽनेन विधीयते । अन्यानप्येव-माचारान्दृष्ट्वा मनःप्रसादं कुर्यात् ।

शिष्याश्चैव भार्यापुत्रदासच्छात्रा धर्मेणानुशासनीयाः। ''पृष्ठतः तु शरीरस्येत्यादि'' (८.२९९) धर्माः ।

वाग्बाहूदरसंयतः । सत्यसति च प्रयोजने अबहुभाषिता 'वाक्संयमः' । 'बाह्वोः संयमो' बाहुबलाश्रयणेन कस्यचिदपि अपीडनम् । 'उदरस्य संयमो'ऽनौदरिकता अबहु-भोजित्वम् । औदरिकता बहुभोजित्वं भोज्यविशेषे गर्धया परगृहे बाहुल्येन भोजनम् ।

उक्तोऽप्यर्थः पुनरुच्यते बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यमिति सर्वत्र पौनरुक्त्य-परिहारः ॥१७५॥

हिन्दी—सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता में सर्वदा अनुराग (श्रद्धा) करे तथा वचन, बाहु और उदर (पेट) के विषय में संयत रहता हुआ शिष्यों से (शासन के योग्य स्त्री, दास, पुत्रादि तथा छात्रों का धर्म से ८।२९९) शासन (दण्डित) करे ॥१७५॥

विमर्श— सत्य, मृदु, तथा प्रिय वचन कहना एवं असत्य कटु तथा अप्रिय वचन नहीं बोलना 'वाक्संयम', ईर्ष्या क्रोधादि के वश में होकर दूसरे को अनुचित रूप से पीड़ित नहीं करना 'बाहुसंयम' और शरीर को विशेष कष्ट पहुँचाये बिना तथा दूसरे को पीड़ित किये बिना भगवदिच्छा से भोजनकाल में जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसे ही खाकर सन्तुष्ट करना 'उदर-संयम' है ।

धर्मविरुद्ध अर्थ-कामादि का त्याग—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकसंक्रुष्टमेव च ।।१७६।।

भाष्य—उक्तस्त्रिवर्ग: पुरुषार्थ: । कश्चित्तुल्यतां मन्यमान:— "अर्थकामपरिहारेण यथा धर्म: सेव्यते तद्विरोधी ज्योतिष्टोमादि:— स ह्यर्थविरोधी दक्षिणादिदानेन, काम-विरोधी दीक्षितस्य ब्रह्मचर्यविधानात्— एवमर्थकामावपि धर्मपरिहारेण सेवेत । तत्र "न हिंस्याद्भूतानीति' यत्र कामो हिंसाया वैरानुबन्धाद्य: कश्चिद्वक्तुमिष्यते तत्र स विषय-प्रतिषेधाय, यत्र तु कस्यचिद्धिंसयाऽर्थकामाविष्येते तत्र नास्ति हिंसादोष इति"— प्रवर्तते तद्भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । **परित्यजे**त्परिहरेत्तादृशा**र्थकामौ** यत्र धर्मविरोध:।

एवं सर्वतो धर्मस्य बलीयस्त्वमुक्त्वा कस्मिंश्चिद्विषये तस्यापि परिहर्तव्यतामाह । **धर्मं चाप्यसुखोदर्कम्** । उदर्क उत्तरकाल: सोऽसुखो यस्य । यथा सर्वस्वदाने वा ददाति धार्मिकोयं महापुण्य इति । यथा नदीतीरेष्वेकान्तेऽष्वपि प्राकृतजना बहव: पश्यन्ति तत्र स्नानं भवतीत्यर्थस्नानं धर्मार्जनसमक्षापेक्षा तु साधुवादाय । यथा च तीर्थकाकेभ्यो दानं भवति दानं धर्मो दातृत्वप्रसिद्ध्युत्पादनार्थत्वात्तेभ्यो भिद्यते । अथवा यद्गर्ह्यतया लोक: संक्रोशति । यथा गोरवध्यस्य वध:, मांसस्य भक्षणं च तद्विगर्हिततरं पश्वन्तरेभ्यो लोके । दृष्टमूलश्चायमहिस्पर्शवत्प्रतिषेध: । विहितोऽयमर्थ इत्यवैद्यतया प्राकृत-जना अजानाना अधार्मिकत्वं यष्टु: प्रख्यापयेयुस्तेषां च बहुत्वत: प्रसिद्ध्या शिष्टा अप्येवं प्रसिद्धमूलमनवगच्छन्त: परिवर्जयेयु: । तदुक्तं "धार्मिके सति राजनीति" ।

एतदुक्तं पूर्वैर्व्याख्यातमित्यनुगतम् । न हि प्रत्यक्षश्रुतिविहितस्य स्मृत्या बाधो न्याय्य: । इदं तु युक्ततरमुदाहरणम् । नियोगधर्म: स्मृत्या विहितो लोकसंक्रुष्टत्वान्न क्रियते । तथा य: कश्चिदनाथतरुणीं स्त्रियं कारुण्याद्बिभर्ति, तत्र यदि लोकसंक्रोश आशङ्क्यते— 'स्त्रीत्वेनौवास्मा एषा रोचते', स लोकसंक्रुष्टधर्म: ।।१७६।।

हिन्दी—जो अर्थ और काम धर्मविरुद्ध अर्थ (यथा— चोरी आदि के द्वारा धनसंग्रह करना, काम; यथा— दीक्षा के दिन यजमान का स्त्रीसंभोग करना आदि) है, उनका त्याग करे, भविष्य में दु:ख देने वाले धर्मकार्य (यथा— स्त्रीपुत्रपौत्रादियुक्त पुरुष का सर्वस्व का दान देना आदि) का भी त्याग करे और लोकनिन्दित धर्मकार्य (यथा— कलियुग में अष्टकादि श्राद्ध में गोवधादि या नियोग (९।५९-६१) द्वारा सन्तानोत्पादन आदि) का भी त्याग करे ।।१७६।।

हस्तचापलादि का निषेध—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजु: ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधी: ।।१७७।।

भाष्य—पाणिपादाभ्यां चपलः । 'तृतीयेति' (पा० सू० २ । १ । ३०) योग-विभागात्समासः । चापलं च हस्तेनानुपयुज्यमानस्यापि वस्तुनो ग्रहणापसारणे ।

परस्त्रीप्रेक्षणचित्रसंदर्शनादि **नेत्रचापलम्** ।

परद्रोहार्थं कर्मबुद्धिश्च न कर्तव्या ॥१७७॥

हिन्दी—हस्तचपल (बिना पूछे या कहे किसी की कोई वंस्तु लेना या चुराना), पादचपल (निष्प्रयोजन इधर-उधर घूमते रहना), नेत्रचपल (परस्त्री आदि को बुरी दृष्टि से देखना), कुटिल, वाक्चपल (किसी की निन्दा या व्यर्थ बकवास करना) और दूसरों के साथ द्रोह या हिंसा का विचार रखने वाला न बने ॥१७७॥

शास्त्रों के विविध विकल्पों में कर्तव्य—

येनास्य पितरो याता तेन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ।।१७८।।

भाष्य—यो धर्मः पित्रादिभिरनुष्ठितो, यैश्च सह प्रीतिर्भाविता, यै सह कन्याविवाहादिः कृतः, यैव च शाखा अधीता, स एव पन्था आश्रयणीयः । तथा कुर्वन्न **रिष्यति** न बाध्यते लोके न निन्द्यते ।

अन्ये त्वविदुषः पुरुषधर्मेष्वहिंसादिषु प्रत्युपायोऽयं, राजपटह इव म्लेच्छादीनाम् । अग्निहोत्रादयस्तु स्वप्रत्ययापेक्षा एव ।

अत्र चोदयन्ति । ''यदि निर्मूलः पित्रादिभिरनुष्ठितोऽर्थः कथं तस्य धर्मत्वम्? अथास्ति मूलं, तत् पुत्रस्यापि भविष्यति । किं पित्रादिग्रहणेन''?

तदेतत्परिहृतमविदुषां मूलमजानानामुपदेशोऽयमिति ।

अन्ये तु ''यत्र निपुणतोऽपि निरूप्यमाणे संदेहो न निवर्तते, उभयथा वाक्यार्थ प्रतिपत्तिः, तत्र पित्राद्याचरितः पन्था आश्रयणीय'' इत्याहुः ।

एतदपि चिन्त्यम् । न हि नित्यसंदिग्धं नाम प्रमाणमस्ति । अवश्यं ह्येकार्थनिष्ठेन वाक्येन भवितव्यम् ।

विकल्पितेषु पदार्थेषु पित्राद्याचरितं कर्मानुचरणीयम् । यतोऽन्य आचरितवन्तः ।

सतां मार्गमिति । यदि वा पितृपितामहादिभिः । कैश्चित्कथंचिदधर्म आचरितपूर्वः स न आश्रयणीय इति सतां मार्गमित्याह ॥१७८॥

हिन्दी—(अनेक प्रकार के शास्त्रीय विकल्पों या अर्थों के कारण संदेह उपस्थित होने पर मनुष्य) जिस मार्ग से इसके पिता और पितामह (बाप-दादा) चले हैं, (उन अनेक विकल्प धर्म कार्यों में से जिस धर्म कार्य को किये हैं), उसी सज्जनों के मार्ग से चले,

ऐसा करने से मनुष्य अधर्म से हिंसित (पीड़ित) नहीं होता है (उस कार्य के धर्मानुकूल होने से वह मनुष्य दुःखित नहीं होता है) ॥१७८॥

ऋत्विज आदि से बकवाद का निषेध—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥१७९॥

भाष्य—न समाचरेदित्येकैकेन सम्बध्यते ।

संश्रिता आश्रयागता उपजीविनः ।

वैद्या विद्वांसो, भिषजो वा ।

ज्ञातयः पितृपक्षाः ।

सम्बन्धिनो वैवाह्याः ।

बान्धवा मातृपक्षा मातृष्वस्रीयप्रभृतयः ॥१७९॥

हिन्दी—ऋत्विक् (२।१४३), पुरोहित, आचार्य (२।१४०), मामा, अतिथि, आश्रित (भृत्यादि), बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, जातिवाला, सम्बन्धी (जमाता, साला आदि), बान्धव (मातृपक्ष वाले) ॥१७९॥

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥१८०॥

भाष्य—जामयो भगिन्यः सुवासिन्यश्च ।

विवादो विरोधः प्रतिकूलाचरणं वाक्कलहश्च ।

एतैर्न कुर्यात् ॥१८०॥

हिन्दी—माता, पिता, जामि, (बहन, पुत्रवधू आदि कुलस्त्री), भाई, पुत्र, स्त्री, पुत्री, दास-समूह से विवाद (वाक्कलह, बकवाद आदि) न करे ॥१८०॥

उक्त कार्य की प्रशंसा—

एतैर्विवादान्सन्त्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एतैर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही ॥१८१॥

भाष्य—एतैर्विवादैः क्रियमाणैर्यः पापयोगो भवति, अकर्तुस्तेन न सम्बन्धः । **सर्वपापैः प्रमुच्यत** इत्युच्यते ।

एतैश्च जितैरुपेक्षितैः **सर्वांल्लोकाञ्जयति** स्वीकरोतीत्यर्थवादः ॥१८१॥

हिन्दी—इन (४।१७९-१८०) के साथ विवाद करना छोड़कर मनुष्य सब (अज्ञात) पापों से छूट जाता है और इन (विवादों) को जीतकर (इन विवादों को वश

में करके अर्थात् इनके साथ विवाद करना छोड़कर) गृहस्थ इन (४।१८२-१८४) सब लोकों को प्राप्त करता है ॥१८१॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ।।१८२।।

भाष्य—आचार्यो ब्रह्मलोकस्येशः प्रभुस्तस्मिन्परितुष्टे ब्रह्मलोकः प्राप्यते । अतो गुणतो **ब्रह्मलोकेश** इत्युच्यते ।

प्राजापत्ये लोके **पिता प्रभुः** ॥१८२॥

हिन्दी—आचार्य ब्रह्मलोक का, पिता प्रजापतिलोक का, अतिथि इन्द्रलोक का, ऋत्विज् देवलोक का ॥१८२॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ।।१८३।।

हिन्दी—जामि (बहन या पुत्रवधू आदि कुलस्त्री) अप्सरालोक का, बान्धव (मातृपक्ष वाले) वैश्वदेवलोक का, संबन्धी वरुणलोक का और माता तथा मामा भूलोक का ।

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ।।१८४।।

भाष्य—भार्या पुत्रः स्वकीया **तनुरा**त्मीयमेव शरीरम् ॥१८४॥

हिन्दी—बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगी आकाशलोक के स्वामी हैं (अतएव इन आचार्य आदि (४।१८२ से यहाँ तक वर्णित लोगों) के साथ वाक्कलह (बकवाद) नहीं करने पर वे लोग सन्तुष्ट होकर अपने-अपने लोकों (ब्रह्मलोक आदि) को देते हैं । बड़ा भाई पिता के समान है तथा स्त्री और पुत्र तो अपने शरीर ही हैं (अतः इनके साथ विवाद करना सर्वथा निन्द्य है) ॥१८४॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ।।१८५।।

भाष्य—यो भृत्यवर्गः स आत्मीयाच्छाया । यथा छाया नित्यानुगता न क्रोधविषय, एवं भृत्यवर्गोऽपि ॥

दुहिता कृपणमनुकम्प्या दयनीया ।

एतैः पूर्वोक्तै**रधिक्षिप्तः** पुरुषवचनैराकृष्टः कोपितः **सहेत** क्षमेत ।

असज्वरोऽविद्यमानज्वरः । ज्वराभावेन च चित्तस्यासंक्षोभो लक्ष्यते । ज्वरितस्य हि चित्तसंक्षोभो भवति तद्वत्क्रुद्धस्य ।

अथवा पाठान्तरं 'असंज्वरः'। संतापः संज्वरः (अमरकोश १ । १ । ६०)। स नञा प्रतिषिध्यते ॥१८५॥

हिन्दी—दासंसमूह अपनी छाया है, कन्या (पुत्री) अत्यन्त कृपापात्र है (अतः ये भी विवाद के योग्य नहीं हैं)। इस कारण इनसे तिरस्कृत होकर भी सन्ताप रहित होकर सर्वदा सहन करे, (किन्तु विवाद न करे) ॥१८५॥

दान लेने से ब्रह्मतेज का क्षय—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ।।१८६।।

भाष्य—परस्माददृष्टप्रयुक्ताद्यल्लभ्यते स **प्रतिग्रहः**। तत्र **समर्थः** शक्तोऽपि प्रसङ्गं पुनः प्रवृत्तिं **वर्जयेत्**। श्रुताध्ययनशीलसंपत्तिर्द्रव्यविधिज्ञता च 'सामर्थ्यम्' तस्मादविद्वान्न विभीयादित्यत्रोक्तमप्येतदुत्तरार्थं पुनरनूद्यते ॥१८६॥ तद्दर्शयति।

हिन्दी—(विद्यातप आदि के कारण) दान लेने में समर्थ होता हुआ भी (यथाशक्य) उसके प्रसङ्ग का त्याग करे (परिवारादि के पालन चलते रहने पर भी बार-बार लोभवश दान न लेवे); क्योंकि इस (दान लेने वाले) का ब्रह्म तेज दान लेने से शीघ्र शान्त हो जाता है (दान लेने से ब्राह्मण तेजोहीन हो जाता है) ॥१८६॥

विधि को न जानने वाले दान लेने का निषेध—

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ।।१८७।।

भाष्य—अविज्ञाय कामोपभोगाद्यर्थं न प्रतिग्रहः कर्तव्यः। एतदुक्तं भवति। आत्मनः कुटुम्बस्थित्यै नित्यकर्मसम्पत्त्यै च प्रतिग्रहः कर्तव्यो नान्यथा।

अवसीदन्नपि क्षुधा। अप्रतिगृह्णन्यद्यप्यवसादं गच्छति। 'अवसादः' शरीरस्यानभिवृद्धिः।

अथवा 'द्रव्याणां विधिं धर्म्यं प्रतिग्रह' इत्येवं सम्बन्धः क्रियते।

कोऽसौ धर्म्यो विधिः।

धर्म्यं प्रयोजनं विज्ञाय प्रतिग्रहमन्त्रद्रव्याणां च देवताः— "अग्नये हिरण्यं रुद्राय गाम्"इत्यादिः ॥१८७॥

हिन्दी—द्रव्यों के दान लेने में उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्य देवता, प्रतिग्रहमन्त्र आदि) को बिना जाने भूख से पीड़ित होता हुआ भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दान को न ले (फिर आपत्ति से हीन रहने पर तो कहना ही क्या? अर्थात् तब तो कदापि दान न ले) ॥१८७॥

मूर्ख को स्वर्णादि-दान लेने का निषेध—

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ।।१८८।।

भाष्य—अविदुषो द्रव्यविशेषं प्रति प्रतिग्रहे दोषातिशयमाह । **भस्मीभवति दारुवत्**। यथा दार्वग्निना दग्धं भस्मीभवति तथा यो ब्राह्मणो विद्यासम्पन्नो न भवति स एतानि हिरण्यादीनि द्रव्याणि प्रतिगृह्णन्भस्मीभवति ॥१८८॥

हिन्दी—सुवर्ण, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घी का दान लेता हुआ मूर्ख ब्राह्मण (अग्नि से) काष्ठ के समान भस्म हो जाता है । (अत: सुवर्ण आदि का दान तो मूर्ख कभी न ले) ॥१८८॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ।।१८९।।

भाष्य—**भूगौश्च तनुं** शरीरम् **ओषतो** दहतः ।

हिरण्यमायुर्विभक्तिपरिणामः ओषतीतिकर्तव्यः ।

एवं **अश्वश्चक्षु**रित्यादिषु क्रियापदानुषङ्गः कर्तव्यः ॥१८९॥

हिन्दी—दान लेने वाले मूर्ख की सुवर्ण और अन्न आयु को, भूमि और गौ शरीर को, घोड़ा नेत्र को, वस्त्र त्वचा (चमड़े) को, घी तेल को और तिल संतानों को भस्म कर देते हैं। (मूर्ख द्वारा दान में लिये हुए ये सुवर्ण आदि उस दान लेने वाले मूर्ख की आयु आदि को भस्म अर्थात् नष्ट कर देते हैं) ॥१८९॥

उक्त विषय में दृष्टान्त—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मपल्वेनेव सह तेनैव मज्जति ।।१९०।।

भाष्य—यस्य तपो नास्त्यनधीयानो न चाधीते। अध्ययनेन प्रकृता विद्वत्ता लक्ष्यते। समुदिते चैते विद्यातपसी प्रतिग्रहाधिकारनिमित्तम्। उभयगुणभ्रष्टः प्रतिग्रहे चाभिलाषी **स तेन सह मज्जत्य**धोगच्छति ।

केन सह?

अन्यस्यानिर्देशाद्दातुश्च सन्निधानात्तेन दात्रा सहेति गम्यते । प्रतिग्रहीतारं पल्वमिवात्मोत्तारणायाश्रयते । यस्त्वीदृशोऽपात्रभूतः स दातारमात्मानमुभावप्यधो नयति । **यथाऽम्भस्यश्मपल्वः** अश्ममयः पल्वः अश्मप्लवः पारं तरति येन स प्लवो नावादिः । तत्र यथाऽश्मन्यारूढो नदीतरणार्थमम्भसि मज्जत्यश्मप्लवेन सह गम्यते । दाता हि ब्राह्मणाय

ददानश्च तादृशो ब्राह्मण उभावपि नरकं गच्छत: ॥१९०॥

हिन्दी—तप और विद्या से हीन जो ब्राह्मण दान लेना चाहता है, वह उस (दान लेने या दान लेने की इच्छामात्र) के साथ उस प्रकार नरक में डूबता है, जिस प्रकार पत्थर की नाव (पर चढ़ने वाला मनुष्य उस) के साथ पानी में डूब जाता है ॥१९०॥

विमर्श— जिस प्रकार पत्थर की नाव पर चढ़कर पानी में जाने वाले का नाश अवश्यम्भावी है उसी प्रकार सुवर्ण आदि का दान लेने वाले तप एवं विद्या से हीन व्यक्ति का नाश अवश्यम्भावी है।

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तत्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ।।१९१।।

भाष्य—अतो नरकभयाद**विद्वान्मूर्ख:** प्रतिग्रहात् **बिभियात्** त्रस्येत् न प्रतिगृह्णीयादिति यावत्। तिष्ठतु तावद्धिरण्यादीनि द्रव्याणि, **स्वल्पकेनापि** त्रपुसीसादिना असारेण स्वल्पया मात्रया प्रतिगृहीतेनाविद्वान्पङ्के कर्दमे **गौरिव सीदति** ॥१९१॥

हिन्दी—इस प्रकार मूर्ख ब्राह्मण जिस किसी (सुवर्ण भूमि आदि से न्यून सीसा, पीतल आदि) वस्तु का भी दान लेने से डरे (न लेवे); क्योंकि थोड़े दान के लेने से मूर्ख ब्राह्मण कीचड़ में (फँसी) गौ के समान दु:खित होता है ॥१९१॥

बैडालव्रतिक आदि को दान देने का निषेध—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके पापे नावेदविदि धर्मवित् ।।१९२।।

भाष्य—प्रतिग्रहीतुर्धर्मं उक्त:। इदानीं दातुरुच्यते।

अपिशब्दात्सर्वं देयं निवार्यते। यत्र **वारि** न कस्मैचिद्वार्यते तदपि नैभ्यो दातव्यं कुतोऽन्यद्द्रव्यं दीयते। अतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदाननिषेधोऽयम्। वारिणस्तु सर्वार्थत्वादनिषेध:।

"ननु च 'बैडालव्रतिकान्वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' इत्युक्तमेव"।

सत्यम्। तत्रार्चा निषिद्धा, इह तु दानम्। तच्च धनस्य नान्यस्य। एवं द्वि:प्रतिषेधोऽर्थवान्भवति। तथा चोत्तरत्र वक्ष्यति "विधिनाऽप्यर्जितं धनमिति" (श्लो० १९३)। अत: पाषण्ड्यादिभ्य: सावज्ञमन्नदानं न निषिध्यते।

अत्र कश्चिदाह। "यद्यवेदविदीति श्रुतं तथाऽप्यनधीयान इत्यपि द्रष्टव्यम्। तथाहि केवलवेदाध्यायिभ्यो दानमुक्तम्। न च दाम्भिकेभ्य: साम्यं युक्तम्"।

स इदं प्रष्टव्य:। क्व पुनर्वेदाध्यायिमात्राय विद्यारहिताय दानमुक्तम्।

''श्रोत्रियायैव देयानीति'' चेत् ।

न त्वर्हत्तमायेत्यप्राप्तिकत्वादत्र विद्यया विना । वाक्यान्तराणि च ''विदुषे दक्षिणे-त्यादीन्येकप्रकरणगतानि'' सन्त्येव । अतस्तत्पर्यालोचनयोभयविशेषणचेष्टया देयमिति गम्यते । अतः श्रुतार्थपरित्यागे न किंचित्कारणं पश्यामः ।

यत् तु साम्यमयुक्तमिति । वचनगम्येऽर्थे का नामायुक्तता ।

बिडालव्रतेन चरति **बैडालव्रतिकः** । बकानां व्रतं तदस्यास्तीति **बकव्रतिकः** ।

अधिकरणविवक्षायां 'बैडालव्रतिके' । सम्प्रदानविवक्षायां चतुर्थी युक्ता ॥१९२॥

हिन्दी—धर्मज्ञ गृहाश्रमी बैडालव्रतिक (४।१९५ तथा क्षे० ४।८), बकव्रतिक (४।१९६) और वेद को नहीं जानने वाले ब्राह्मण के लिये पानी भी न दे ॥१९२॥

विमर्श— बलिकर्म में कौवे आदि तक के लिये जो वस्तु दी जाती है, वह वस्तु भी बैडालव्रतिक आदि के लिये धर्मतत्त्व को जानने वाला दाता दानबुद्धि से न देवे, ऐसा इस श्लोक का आशय है, केवल जलदान मात्र का निषेध नहीं है। ''पाखण्डिनो विकर्मस्थान्'' (४।३०) के अनुसार अतिथि मानकर जो बैडालव्रतिक आदि ब्राह्मण के लिये भी अन्न आदि देना ही चाहिये, किन्तु सत्कारपूर्वक धन नहीं देना चाहिये । अतएव अग्रिम 'विधिनाऽप्यर्जितं धनम्' (४।१९३) वचन भी विरोध से रहित हो जाता है ।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ।।१९३।।

भाष्य—धनग्रहणादन्नदानं न निषिध्यत इत्युक्तं भवति ।

विधिनाऽप्यर्जितं सत्प्रतिग्रहक्रयादिना शास्त्राभ्यनुज्ञातेन प्रकारेण । **दातुरादातुश्च** तादृशं दानं **परत्रोभयोरनर्थाय** ॥१९३॥

हिन्दी—इन तीनों (बैडालव्रतिक, बकव्रतिक, और वेदज्ञानहीन) के लिये दिया गया विधिपूर्वक भी उपार्जित धन दानकर्ता तथा दानग्रहीता के लिये परलोक में अनर्थ (नरक प्राप्ति) के लिये होता है ॥१९३॥

उक्त विषय में दृष्टान्त—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ।।१९४।।

भाष्य—औपल आश्मनः । जलसंतरणाय नावादिः प्लवस्तेन यस्तरति तरितुं प्रवर्तते सोऽधस्ताज्जलस्य **मज्जत्य**न्तर्धीयते । एव**मज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ** । प्रतीच्छकः प्रतीच्छां करोतीति णिचं कृत्वा **ण्वुल्**कर्तव्यः । प्रतीप्सक इति पाठान्तरम् । तत्र सन्नन्ता-दाप्नोतेर्ण्वुल् । अर्थस्तूभयोरेक एव ॥१९४॥

हिन्दी—जिस प्रकार पानी में पत्थर की नाव से तैरता हुआ व्यक्ति उस (नाव) के साथ ही डूब जाता है, उसी प्रकार मूर्ख दान लेने वाला तथा दानकर्ता दोनों (नरक में) डूबते हैं ॥१९४॥

बैडालव्रतिका लक्षण—

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ।।१९५।।

भाष्य—उपचारेणैतो शब्दौ प्रयुज्येते । अनेकस्मिंश्चोपचारहेतौ स एव सम्भवति यन्निमित्तं प्रयोगः तदवधारणप्रतिषेधविषयप्रक्लृप्त्यर्थम् ।

धर्मो ध्वजमिव । व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात्समासः । कदाचित्कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थ इति । ततः सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयः । यः ख्यात्यर्थमेव धर्मं करोति न शास्त्रपरतया स एवमुच्यते । यस्तत्रैव धर्मं करोति यत्र जनाः पश्यन्ति स्वपुरुषैश्च ख्यापयति— 'धार्मिकत्वप्रसिद्ध्या प्रतिग्रहादि लप्स्ये' इति ।

लुब्धो मत्सरी कृपणश्च ।

लोकं दभ्नोति वञ्चयति **लोकदम्भकः** ।

छद्मना चरति **छाद्मिकः** । 'छद्म' व्याजः । प्रकाशं धार्मिको रहसि निक्षिप्तमपहरत्यप्रकाश्यं प्रकाशयति । 'धार्मिकोऽयमेतस्य यत्समक्षं कथितं तन्नान्यत्र यातीति' केनचिद्विश्वस्य कथितं दृश्यते यावद्यत एव गोप्यं तस्यैवाभिमुखे कथितमिति परद्रोहः ।

सर्वेषां चाभिसंधाताऽऽक्षेपकः परगुणान्न सहते ।

ईदृशो बैडालव्रतिको ज्ञेयः ।

अभिसन्धकः अभिसंधत्त इति । "आतश्चोपसर्गे" (पा० सू० ३ । १ । १३६) इति कः । ततः स्वार्थे कः । सर्वेषामभिसंधक इति षष्ठीसमासः ।

केचिदत्र श्लोकं पठन्ति ॥१९५॥

हिन्दी—धर्मध्वजी (अपनी प्रसिद्धि के लिये धर्मरूपी ध्वजा को फहराने वाला) लोभी कपटी, संसार को ठगने वाला (किसी के धरोहर वापस नहीं करने वाला आदि), हिंसक और दूसरों के गुण को सहन नहीं करने से उनकी निन्दा करने वाला को 'बिडालव्रतिक' कहा गया है ॥१९५॥

विमर्श— जिस प्रकार चूहों को पकड़ने आदि के लिये बहुत शान्त एवं ध्यानस्थ-सी रहती हुई बिल्ली अवसर पाते ही उन्हें पकड़कर खा जाती है, उसी प्रकार यह 'बैडालव्रतिक' भी दूसरों को धोखा देकर अपना काम बनाने के लिए धर्म का स्वाङ्ग रचता है, परन्तु वस्तुतः धर्मात्मा नहीं होता ।

[''यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि न पापानि बैडालं नाम तद्व्रतमिति'' ।।८।।]

भाष्य—एष एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते । एकैकगुणसम्बन्धे बैडालव्रतिको ज्ञेयः । अस्मादेव श्लोकादेवमनुमीयते । 'प्रच्छन्नानि च पापानीति' विशेषाश्रवणात् सर्वेषां चैषां पापत्वादुभयथाऽऽचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः ।

केचिदिमं श्लोकमध्यापिताः केचित्पूर्वम् । उभयं च प्रमाणम् । तेन यद्यपि—'अङ्गदी कुण्डली पीनस्कन्धः पृथुवक्षा देवदत्त' इति समुदितानां लक्षणत्वं प्रतीयते—तथापीह प्रत्येकमेतानि लक्षणानि ॥८॥

[**हिन्दी**—जिसकी धर्मरूपी ध्वजा देवध्वजा के समान ऊँची रहती है और जिसके छिपे बहुत पाप रहते हैं; वह 'बैडालव्रत' है ॥८॥]

बकव्रतिक का लक्षण—

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ।।१९६।।

भाष्य—**बकव्रत**लक्षणमधोनिरीक्षणम् । अथवा नीचदृष्टिः । 'नीचो' दीनः । सर्वदैव व्यापारयति कथंचित्कुतश्चन लभतेऽधमादपि गृह्णाति ।

निष्कृतिर्निष्ठुरता— तया चरति तत्प्रधानो **नैष्कृतिको**ऽसभ्यग्भाषी ।

अलीकविनीतः श्रयति प्रश्रयं नम्रतां कार्ये तु व्याघातकः । बिडालोऽलीकनिद्रां करोत्यामिषं लिघृक्षन् । एवं सोपधो धर्मचरणो बैडालव्रतिक उक्तः ।

तथैव **बकव्रतचरो**ऽपि । बका कि मत्स्यान् गृह्णन्तो जलचरेष्ववज्ञां दर्शयन्ति—अथ च मत्स्यग्रहणबुद्धय एव । 'व्रतेन' शोलितं कर्मोच्यते ।

प्रदर्शितं पदानामपौनरुक्त्यम् । अथापि स्याल्लक्षणत्वाददोषः । अविज्ञातं हि लक्षणं भवति । पौनःपुन्याभिधानेन सुग्रहोऽर्थो भवति ।

"कः पुनः बैडालव्रतिकबकव्रतिकयोर्भेदः"?

उच्यते । अयं स्वार्थसाधनपरो नान्यस्य कार्ये विहन्ति । पूर्वस्तु मात्सर्यात्स्वार्थसिद्धावसत्यामपि परस्य नाशयति ॥१९६॥

हिन्दी—(अपनी साधुता की प्रसिद्धि के लिए सर्वदा) नीचे देखने वाला, निष्ठुरता का व्यवहार करने वाला, अपने मतलब को सिद्ध करने में तत्पर, शठ, कपट युक्त (झूठा) विनय वाला द्विज 'बकव्रतचर' (बकव्रतिक) कहा गया है ॥१९६॥

विमर्श— जिस प्रकार मछलियों को पकड़ने के लिए ध्यानस्थ मुनि के समान

नीचे की ओर देखता हुआ अपने मतलब (मछलियों को पकड़कर खाना) में तत्पर बगुला झूठा विनीत के समान दीखता है, उसी प्रकार इस 'बकव्रतिक' को समझना चाहिए। इसी प्रकार के मनुष्य को लोग "बगुला भगत" कहते हैं।

बकव्रतिक तथा बैडालव्रतिक को नरकप्राप्ति—

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ।।१९७।।

भाष्य—स्वशब्दैश्च व्याख्यातः श्लोकः ॥१९७॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण बकव्रतिक (४।१९६) तथा बैडालव्रतिक (४।१९५) हैं, वे उस पाप कर्म से 'अन्धतामिस्र' नाम के नरक में गिरते हैं ॥१९७॥

प्रायश्चित्त में वञ्चना का निषेध—

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ।।१९८।।

भाष्य—**पापं कृत्वा व्रतं** प्रायश्चित्तं न कुर्यात्। धर्मस्यापदेशेन धर्ममपदिश्य लोके ख्यापयति धर्मार्थमहं व्रतं करोमि न मे प्रायश्चित्तनिमित्तमस्तीति परमार्थतस्तु प्राय-श्चित्तार्थमेव करोति। एवं न कर्तव्यम्। **पापं प्रच्छाद्या**पह्नुत्य तेन व्रतेन **स्त्रीशूद्रदम्भनं** न कुर्यात्। प्रकटं प्रायश्चित्तं कर्तव्यमन्यत्र रहस्यात् ॥१९८॥

हिन्दी—धर्म से पाप को छिपाकर (मेरा पाप चान्द्रायण, सन्तापन आदि व्रतरूप प्रायश्चित्तों से छूट जायेगा ऐसा समझकर) स्त्रियों तथा शूद्रों (धर्म के अनभिज्ञों) के सामने पाखण्ड करता हुआ मनुष्य धर्म के बहाने से (मैं धर्म के लिये इन चान्द्रायणादि व्रतों को कर रहा हूँ, यह प्रायश्चित्त नहीं है, इस प्रकार के बहाने से) पाप को न करे ॥१९८॥

कपट से व्रताचरण की निन्दा—

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ।।१९९।।

भाष्य—इह पदार्थस्वाभाव्येनान्योद्देशेनापि कृतं यत्फलं ततो भवत्येव। तथाहि गुरुनियोगे प्रवृत्तो धर्मोद्देशेन गुरुवचनं करोमीति न कामहेतोः, अर्थस्वाभाव्यात्तु कामं प्रतिजनयति।

एवं कश्चिन्मन्यते— "व्रतानि पापापनोदार्थानि। तानि अन्योद्देशेनापि क्रियमाणानि न स्वभावं जहति। एवमेतन्मम प्रायश्चित्तमुभयार्थं भविष्यति। लोके तपस्वीति ख्यातो भविष्यामि पापं चापनोत्स्यते"।

तस्यैवं बुद्धिमतो निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते ।

तदेतदव्रतं **छद्मना चरित**मनुष्ठितं **रक्षांसि गच्छति** निष्फलं भवति न पापम-पनुदतीत्यर्थः न केवलं कार्याकरणं भवति याव**दीदृशो विप्रा** व्रतचारिणो **गर्ह्यन्ते** निन्द्यन्ते **ब्रह्मवादिभिः** वेदप्रमाणज्ञैः शिष्टैः ॥१९९॥

हिन्दी—ब्रह्मवादी लोग ऐसे (धर्म के बहाने प्रायश्चित्त चान्द्रायणादि व्रत करने वाले) ब्राह्मणों की इस लोक में और परलोक में भी निन्दा करते हैं तथा कपट से किया गया जो व्रत है, वह राक्षसों को प्राप्त होता है ॥१९९॥

कपट से व्रति-चिह्न धारण करने की निन्दा—

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ।।२००।।

भाष्य—प्रत्याश्रमं लिङ्गधारणम् । यथा ब्रह्मचारिणो मेखलादिधारणं गृहस्थस्य वैणवदण्डकुण्डलकमण्डल्वादि वानप्रस्थस्य चर्मचीरजटादि परिव्राजकस्य कषायवसन-दण्डादि । एतेन वेषेणानाश्रमी यो भिक्षाहेतोर्लोके चरति **वृत्तिमुपजीवति स लिङ्गिनामेनः पापं हरति** आनृण्यं तर्पयति । **तिर्यग्योनौ** तिरश्चां श्वशृगालादीनां योनौ **जायते** ।

न चात्रैतदाशङ्कनीयं "लिङ्गिनां यत्पापं तत्तेऽभ्योऽपसृत्य तस्मिन्संचरतीत्यसंभाव्यम् ।"

अकर्तव्यता परलिङ्गधारणस्य प्रतीयते । अश्रुतेऽपि प्रतिषेधे निन्दार्थवादादेव तदवगतिः ॥२००॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी या संन्यासी आदि नहीं होता हुआ भी जो उनके चिह्न (दण्ड कमण्डलु-कषायवस्त्रादि) को धारण कर वृत्ति (उन चिह्नों से लोगों में विश्वास पैदाकर उनसे भिक्षादि लेता हुआ अपनी जीविका) चलाता है, वह ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि लिङ्गधारियों के पाप को लेता है तथा (मर कर) तिर्यग्योनि में उत्पन्न होता है ॥२००॥

दूसरों के बनवाये हुए जलाशयों में स्नान करने में दोष—

परकीयनिपानेषु न स्नायाद्धि कदाचन ।
निपानकर्त्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ।।२०१।।

भाष्य—निपिबंत्यस्मिन्नतो वेति **निपानं** जलाशयः । सच वापीकूपतडागादिः । तस्मिन् परकीये परेण यदात्मार्थं कृतं सर्वार्थं नोत्सृष्टं तत्र न कदाचित्**स्नायात्** ।

नित्यं चण्डालादिस्पर्शने च नैमित्तिकं धर्मस्वेदापनोदार्थं च सर्वं स्नानं प्रतिषिध्यते ।

अत्र व्यतिक्रमे दोषमाह । निपानस्य यः कर्ता तस्य यत्किंचिद्दुष्कृतं तस्य केनचि-दंशेन भागेन लिप्यते सम्बध्यते ।

निन्दार्थवादोऽयं प्रतिषेधशेषः ॥२०१॥

हिन्दी—दूसरों के बनवाये हुए जलाशय (पोखरा, बावड़ी, कूआँ आदि) में कभी स्नान न करे। और स्नान कर उक्त जलाशय बनवाने वाले के पाप के (चौथाई) भाग से (स्नान करने वाला मनुष्य) युक्त होता है ॥२०१॥

विमर्श—प्राकृतिक बावड़ी आदि के मिलने पर यह 'निषेधवचन है, प्राकृतिक बावड़ी आदि के न मिलने पर तथा जलाशयकर्ता के द्वारा सर्वसाधारण जनके लिये जलाशय में स्नानादि के लिये त्याग न करने पर उस जलाशय में से स्नान के पहले पाँच मृत्पिण्ड को निकालकर स्नान करना चाहिये, यदि जलाशय के निर्माणकर्ता ने सर्वसाधारण के लिये स्नानादि की छूट दे दी हो तब बिना पाँच मृत्पिण्ड निकाले भी स्नान करने में दोष नहीं है।

[सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्चधा।
उदपानात्स्वयं ग्राहाद् बहिः स्नात्वा न दुष्यति ।।९।।]

[**हिन्दी**—दूसरे के बनवाये जलाशयों से पाँच या सात मृत्पिण्ड निकालकर स्नानी करे या जलाशय से पानी निकालकर बाहर स्नान करने वाला दोषभागी नही होता है ॥९॥]

दूसरों की सवारी, शय्या आदि के उपभोग का निषेध—

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपयुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ।।२०२।।

भाष्य—यानादीनि परकीयान्यदत्तान्यु**पयुञ्जान एनस**स्तदीयस्य **तुरीयभाक्** चतुर्थं भागं प्राप्नुयात्।

अत्र कश्चिदाह— "अदत्तानीतिवचनात्सर्वार्थतयाऽप्युपकल्पितानि नोपयोज्यानि।"

तदयुक्तम्। परकीयाधिकारात्। न च तानि परकीयानि। त्यक्तं हि तत्सम्यक् तुरीयग्रहणमविवक्षित्तमिति प्रागेव व्याख्यातम् ॥२०२॥

हिन्दी—(दूसरों के) सवारी (गाड़ी, रथ और घोड़ा आदि), शय्या (चारपाई, पलंग और चौकी आदि) आसन, कूँआ, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि) और घर को बिना दिये हुये उपभोग करने वाला (उनके— सवारी आदि के स्वामी के) चतुर्थांश पाप का भागी होता है ॥२०२॥

नदी आदि में स्नानादि का विधान—

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तं प्रस्रवणेषु च ।।२०३।।

भाष्य—सर्वा नद्यो देवखाताः । अतस्तासामुभयथाऽसंभवाद्देवखातग्रहणवाच्यत्वेन तल्लिङ्गं पठितव्यम् । तडागादीनि हि देवखातानि मनुष्यखातान्यपि सन्ति । न च देवैः खन्यन्ते । केवलं महत्त्वमस्मर्यमाणकर्तृकत्वेन लक्ष्यते ॥२०३॥

हिन्दी—नदियों (साक्षात् या सहायक नदियों के द्वारा समुद्रगामिनी नदियों) में देवखात (देव-सम्बन्ध से प्रसिद्ध) तडागों में, सरों (तालों या दहों) में गर्तों में और झरनों में सदा स्नान करे ॥२०३॥

विमर्श— इस श्लोक की व्याख्या में मन्वर्थमुक्तावलीकार ने 'देवखातेषु' शब्द को 'तडागेषु' का विशेषण माना है, किन्तु 'स्नायान्नदीदेवखातह्रदप्रश्रवणेषु च ॥' (या०स्मृ० १।१५९) की व्याख्या में मिताक्षराकार ने 'देवखात' शब्द की स्वतंत्र रूप से जलाशयवाचक मानकर 'देवनिर्मित पुष्करादि' तथा वीरमित्रोदयकार मित्र मिश्र ने "देव-सम्बन्धि भाव से प्रसिद्ध देवह्रदादि या सूर्यादिसमीपस्थ खात" अर्थ किया है।[१] गर्त— जिनकी गति ३२००० हाथ = १$^{१९/११}$ मील से कम हो, उन्हें 'गर्त कहते हैं।[२]

यम-सेवन की प्रधानता—

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन् ।।२०४।।

भाष्य—प्रतिषेधरूपा **यमा** "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" "सुरा न पेया" इत्यादयः । अनुष्ठेयरूपा **नियमाः** "वेदमेव जपेन्नित्यं" इत्यादयः ॥

न नित्यं नियमान् । नानेन नियमानामसेवोच्यते, किंतु यमानां नियमेभ्यो नित्य (तर) त्वम् ।

तथा चाह । **यमान्पतत्यकुर्वाणः** । ब्रह्महत्यादिर्यमलोपे सति । पतितत्वात्सन्ध्योपासनादिभिर्नाधिक्रियते । न तु तथा नियमलोपे । तथा च शिष्टस्मरणम् ।

---

१. 'प्रकृतश्लोकस्य व्याख्यां देवखातेष्विति तडागविशेषणम्' इति म०मु० ।

"स्नायान्नदी—" (या०स्मृ० १।१५९) इत्यस्य व्याख्या मिताक्षराकारः— "नद्यादिषु कथन्तर्हि स्नायादित्याह— स्नायान्नदीति । साक्षात्परम्परया वा समुद्रगाः स्रवन्त्यो नद्यः, देवखातं देवनिर्मितं पुष्करादि, उदकप्रवाहाभिघातकृतसजलो महानिम्नप्रदेशो ह्रदः, पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रसूतमुदकं प्रस्रवणम् इति । तथैव मित्रमिश्रश्च— "देवसम्बन्धितया प्रसिद्धं देवह्रदादि सूर्यादिसमोपस्थखातं वा" इति ।

२. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

"धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते ।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥" इति (म०मु०) ।

"पतति नियमवान्यमेष्वसक्तो न तु यमवान्नियमालसोऽवसीदेत्" ।

"न नियमानसमीक्ष्य बुद्ध्या यमबहुलेष्वतिसंदधीत बुद्धिम्" ॥ इति ।

येषामपि पारिभाषिका यमनियमाः—

"अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता । अस्तेयमपि पञ्चैते यमाश्चैव व्रतानि च"

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाचरलाघवम् । अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च"—

तेषामपि गुरुलाघवमनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते ।

अतो नानेन यमानां सेवोच्यते, नापि नियमानामसेवा । उभयेषां तैः शास्त्रैर्विहितत्वात् ॥२०४॥

पूर्वेण श्लोकेन व्रताधिकारी विच्छिन्नः । इदानीं प्रतिषेधप्रकरणमारभ्यते ।

हिन्दी—विद्वान् यमों का सर्वदा सेवन करे, नियमों का नित्य सेवन न करे । यमों के सेवन को नहीं करता हुआ केवल नियमों का ही सेवन करने वाला पतित (भ्रष्ट-नीच) होता है ॥२०४॥

विमर्श— याज्ञवल्क्य के मतानुसार "ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, अकुटिलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता और इन्द्रिय-दमन"— ये १० 'यम' तथा 'स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध और अप्रमाद' ये १० नियम हैं ।[१]

मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने हिंसादि का त्याग 'यम' और वेदाभ्यास (मनु ४।१४७) 'नियम' है, ऐसी व्याख्या इस श्लोक की की है । किसी-किसी आचार्य के मत से 'अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता और अचौर्य' ये ५ "यम" तथा अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, स्वल्पाहार और सर्वदा 'प्रमादशून्यता' ये ५ 'नियम' हैं[२] एवं भगवत्पतञ्जलि के मत से 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' ये ५ 'यम'

---

१. तदुक्तम्— "ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति 'यमाः' स्मृताः" ॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्याध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
'नियमा' गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधप्रमादतः ॥ (या०स्मृ० ३।३१२-३१३) ।

२. तदुक्तम्— "अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
अस्तेयमिति पञ्चैते 'यमा' वै परिकीर्तिताः ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥" इति । (म०मु०)

तथा 'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान' ये ५ 'नियम' हैं[१]।

संक्षेप नें 'परस्त्री-गमन न करे, मदिरा न पिये' इत्यादि निषेध परक वचन प्रतिपादित कर्म 'यम' तथा नित्य सन्ध्योपासन करे, वेद का स्वाध्याय सर्वदा करे इत्यादि विधिपरक वचन-प्रतिपादित कर्म 'नियम' है। प्रकृत श्लोक के द्वितीय पाद ('न नित्यं नियमान् बुद्धः') से नियमों का निषेध नहीं किया गया है, अपितु 'नियमों' की अपेक्षा 'यमों' की नित्यता कही गयी है। 'यम' सेवन के अभाव में ब्राह्मणादि के पतित होने से 'नियम' सेवन का उसे अधिकार ही नहीं रह जाता, किन्तु 'नियम' सेवन के अभाव में ऐसी बात नहीं है, ऐसा 'नेनेशास्त्री' का अभिमत है।

[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमस्पृहा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ।।१०।।]

[**हिन्दी**—अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय-दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता मधुरता और सरलता— ये 'यम' हैं ।।१०।।]

[अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैके यमाश्चोपव्रतानि च ।।११।।]

[**हिन्दी**—अहिंसा, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता, अचौर्य— ये ५ उपव्रत तथा 'यम' हैं ।।११।।]

नियम के लक्षण—

[शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ गानं च स्नानं च नियमा दश ।।१२।।]

[**हिन्दी**—पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान— ये १० 'नियम' हैं ।।१२।।]

[अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ।।१३।।]

[**हिन्दी**—अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, लघुभोजन और अप्रमाद ये ५ उपव्रत तथा 'नियम' हैं ।।१३।।]

अश्रोत्रियादि के द्वारा कराये गये यज्ञ में भोजन निषेध—

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ।।२०५।।

---

१. ''तत्राहिंसासत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा 'यमाः'। शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि 'नियमाः'।'' इति (यो० सू० २।३१-३२)

भाष्य—तत्र भोजनमेव तावदर्थित्वाद्यत्रकुत्रचित्प्राप्तं निषिध्यते।

अश्रोत्रियोऽनधीयानस्तेन **तते** प्रारब्धे यज्ञ ऋत्विग्भिर्वाऽश्रोत्रियैस्तते न भुञ्जीत ब्राह्मण:।

ग्रामयाजी ग्रामयाजकस्तेन यत्र हूयते, यत्र च स्त्री होमं करोति।

छान्दोग्ये हि स्त्रीणां गृह्यस्मृतिकारैरग्निहोत्रहोम उक्तोऽतस्तं पश्यन्प्रतिषेधति। अथवा यत्र यज्ञे स्त्री प्रधानं भर्ता दारिद्रयादिदोषैरुपहत: स्त्री च सौदायिकेन धनेन ज्ञातिबलेन च दर्पिता तत्रायं प्रतिषेध:।

क्लीबो नपुंसकम् ॥२०५॥

हिन्दी—बिना वेदज्ञाता के द्वारा बहुतों को यज्ञ कराने वाला (वेदज्ञाता) के द्वारा कराये गये यज्ञ में और स्त्री तथा नपुंसक जिसमें हवन कर्ता हों; ऐसे यज्ञ में ब्राह्मण कभी भी भोजन न करे ॥२०५॥

अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हवि:।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत् परिवर्जयेत्॥२०६॥

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयम्।

अश्लीलमश्लाध्यं **साधूनां** शिष्टानाम्। **यत्र** ह्येते **हविर्जुह्वति** यज्ञं कुर्वन्ति। **देवानां प्रतीपं** प्रतिकूलम्। **तस्मादी**दृशे गमनं **परिवर्जयेत्** ॥२०६॥

हिन्दी—जिस यज्ञ में ये लोग (स्त्री, नपुंसक, बहुयाजक आदि) हवन करते हैं; वह यज्ञ-कर्म सज्जनों की श्री का नाशक और देवताओं के प्रतिकूल है। अत: उसे छोड़ देना चाहिये ॥२०६॥

अभक्ष्य अन्न—

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामत:॥२०७॥

भाष्य—यावन्मदादियोग एतेषां तावदभोज्यता।

अन्ये बाहुल्यं मन्यन्ते। बाहुल्येन य: क्षीबो भवति मद्यशौण्डस्तदन्नं न भोक्तव्यम्।

एवं क्रोधप्रधानस्य भृशंकोपनस्य च प्रायेण **चातुरस्य** रोगामयाव्यादे:।

केशकीटैरवपन्नं संसर्गेण दूषितम्। कीटाश्च केचिन्मृता दूषयन्ति न जीवन्तो यथा मक्षिका गृहगोधाश्च। अन्ये तु जीवन्त एव। कीटग्रहणं क्षुद्रजन्तूनां कृमिपतङ्गानामपि प्रदर्शनार्थम्। केशग्रहणं नखरोम्णां दूषिकादीनां मलानां, समाचारात्।

पादेन बुद्धिपूर्वं कामकारेण स्पृष्टम्। प्रमादतस्तु न दोष: ॥२०७॥

हिन्दी—मतवाले, क्रुद्ध (क्रोधयुक्त) और रोगी के अन्न को, एवं केश या कीट (कीड़े) से दूषित अन्न को तथा इच्छापूर्वक पैर से छुए गये अन्न को कभी न खावे ॥२०७॥

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ।।२०८।।

भाष्य—**भ्रूणहा** ब्रह्मघ्नस्तेनावे**क्षितं** निपुणतो दृष्टम् । प्रदर्शनं चैतदन्येषामपि पातकिनाम् । पातकिभिः अवेक्षितस्य निषेधः । तैः स्पृष्टस्य तु प्रतिषेधः स्नानविधानादेव सिद्धः ।

उदक्या रजस्वला तया **स्पृष्टस्य** प्रतिषेधो, नावेक्षितस्य ।

"ननु च तत्स्पर्शिनोऽपि यावत्स्नानं वक्ष्यति— अतस्तेनैवाशुचित्वे सिद्धे कुतस्तत्स्पृष्टस्य भोजनप्राप्तिः?"

उच्यते । प्रक्षाल्य तदन्नं भोज्यम् । अथवा भ्रूणहग्रहणं प्रदर्शनार्थमित्युक्तं— तत्र कश्चिन्मन्येत दिवाकीर्तिश्लोकपठितानां प्रदर्शनार्थमिति । तथा चोदक्यावेक्षितस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

एतेन **शुना संस्पृष्टं** व्याख्यातम् ।

अत उक्तं पतितानामेवान्येषां प्रदर्शनार्थम् । तदत्र युक्तः पतितसूतिकेत्यादीनाम् । उदक्याग्रहणं सूतिकाया निदर्शनार्थम् ।

पत्रत्रिणा । पतत्रो पक्षी स च क्रव्यादो गृध्रवायसादिः समाचारारान्न तु हंसादिः ॥२०८॥

हिन्दी—गर्भहत्या (गोहत्या, ब्रह्महत्या भी) करने वाले से देखे हुए, रजस्वला स्त्री से छुए (स्पर्श किए) गये, पक्षी (कौवा आदि) से आस्वादित और कुत्ते से छुए गये (अन्न को न खावे) ॥२०८॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ।।२०९।।

भाष्य—**घुष्टान्नं** यदुद्धुष्य दीयतेऽनामन्त्रिताय कस्मैचिदर्थिने मठसत्रभक्तादिविशेषानुद्देशेन । यद्वाऽन्यस्मै प्रतिश्रुत्यान्यस्मै दीयते ।

प्रतिपत्तिज्ञाने ह्ययं धातुः पठ्यते । तदभावे बाधितं स्मरन्ति यज्ञविवाहादिष्वनामन्त्रितभोजनम् ।

अयं च **गणः** संघातस्तस्माद्भ्रातृणां त्वविभक्तानां न गणव्यपदेशः । "भ्रातृणाम-

विभक्तानामेको धर्म: प्रवर्तते'' (९ । २१५) इति वचनादेकश्च धर्मस्तेषामातिथ्यादि-क्रियैवेति नवमे दर्शितम्— ''ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषत:'' (९ । १०५) इति । तस्य च ग्रहणमवश्यकर्तव्येष्वधिकार इति दर्शयति । साधारणस्यापि अन्यस्या-तन्मध्यगतस्य प्रतिषेध: ।

गणिका वेश्या ।

जुगुप्सितं निन्दितम् । **विदुषा** वेदार्थविदा । भक्ष्यमपि बिसखल्यादि ॥२०९॥

हिन्दी—गौ के सूँघे हुए और विशेष रूप से किसी के लिए ('अमुक के लिये यह अन्न है इत्यादि रूप से घोषित अन्न को, समूह) (शठब्राह्मण-समूह) के अन्न को, वेश्या के अन्न को और विद्वान् से निन्दित अन्न को (न खावे) ॥२०९॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ।।२१०।।

भाष्य—**गायनो** यो गीतेन जीवति । अन्यस्य त्वपरान्तकादिगानं विहितमेव (याज्ञवल्क्य ३।११३) ।

कदर्य: कृपण: ।

बद्धनिगडयोर्विशेष:— एको वाङ्मात्रेणावरुद्ध: अपरो रज्ज्वायसनिगडैर्यन्त्रित: ।

'विशदस्य चे'त्यन्ये पठन्ति । कष्टं च विशदमाचक्षते ॥२१०॥

हिन्दी—चोर, गायक (मल्लिक, गन्धर्व आदि), बढ़ई, व्याजखोर, यज्ञ में दीक्षित (अग्निसोमीय के पहले), कृपण और निगड (कथकड़ी आदि) से बँधे हुए—इनके (अन्न को न खावे) ॥२१०॥

विमर्श— गोविन्दराज का मत है कि निगड (लोहे की जंजीर) से बँधे हुए या बिना लोहे के भी बँधे हुए के भी अन्न को नहीं खावे ।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ।।२११।।

भाष्य—**पुंश्चली** यस्य कस्यचिन्मैथुनसम्बन्धेन घटते ।

''ननु च गणिकान्नं प्रतिषिद्धमेव ।''

नैतदेवम् । अन्या गणिकाऽन्या पुंश्चली । गणिका वेश्यावेशेन जीवति । पुंश्चली त्विन्द्रियचपला ।

दाम्भिको बैडालव्रतकादि: सोपधो धर्मचरण: ।

प्रायश्चित्तविशेषार्थं **शूद्रोच्छिष्टं** प्रतिषिध्यते । सर्वस्यैवोच्छिष्टभोजनप्रतिषेधात् ।

अन्ये तु **शूद्रोच्छिष्टं** स्थालीस्थं भोज्यान्नं शूद्रभुक्तशिष्टमुच्छिष्टमुच्यत इत्याहुः।

पाठान्तरं तु "उच्छिष्टमगुरोस्तथेति"।

उच्छिष्टमुच्यते यत्परस्य स्पर्शनादशुद्धं भुक्तोज्झितं च।

आत्मीये ह्यभुक्तोऽज्झित एकग्रासाशनमेव स्यात्। न चैष शिष्टानां समाचारो यत्सकृदन्नं दत्तं भुक्त्वा पुनराचम्य पात्रान्तरे गृहीतं भुज्यते।

तथा नाद्यादन्नम्। 'तथा'अन्तरेऽभ्युत्थानादिक्रियान्तरस्य प्रतिषेधः। अत आतृप्तेः प्रागाचमनात् पश्चात्स्पर्शे न दोषः।

सहभोजनं तु सत्यपि परस्य स्पर्शे पदार्थान्तरत्वान्नोच्छिष्टभोजनम्। अत्र पित्रा पुत्रादिभिः शिष्टं सह भुज्यते। तथा चापस्तम्बादयो देशग्रहणात्प्रसङ्गेन "अनुपनीतेन सह भोजनं" निन्दन्ति, नोपनीतेन।

अस्मिंस्तु पक्षे विजातीयैः सह भोजनप्रतिषेधः। व्यवधानान्तरमाश्रयणीयम्। भुक्तोज्झितं तु धात्वर्थयोगादुच्छिष्टमन्यदीयमपि ॥२११॥

हिन्दी—लोक में महापातक (११।५४-५८) आदि दोषों से लाञ्छित, नपुंसक, व्यभिचारिणी और दम्भी के अन्न को तथा शुक्त और बासी अन्न को एवं शूद्र के तथा किसी के भी जूठे अन्न को न खावे ॥२११॥

विमर्श— दम्भी कपटपूर्वक (लोगों को दिखाने के लिये) धर्माचरण करने वाला यथा— बैडालव्रतिक (४।१९५), बकव्रतिक (४।१९६) आदि। शुक्त— पात्र या किसी संसर्ग से खट्टा हुआ दही आदि मधुर वस्तु, पर्युषित (बासी)— जैसे बनाये एक रात बीच चुकी हो नही खावे।

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्॥२१२॥

भाष्य—स्मृत्यन्तरे विशेषः श्रूयते "शल्या नर्तकजीविनः" **मृगयुर्**मृगव्याधः। आखेटकार्थं मांसविक्रयार्थं वा यो मृगान्हन्ति।

क्रूर अनृजुप्रकृतिः दुष्प्रसादः।

उच्छिष्टभोजी निषिद्धोच्छिष्टभोजी।

उग्रो जातिविशेषः। राजेत्येतस्य वेदे प्रयोगो दृश्यते। "उग्रो मध्यमशीरि वेति"। (ऋग्वेद १०। ९७। १२)। न च तस्यान्यः प्रतिषेधोऽस्ति दोषप्रदर्शनप्रकारेण च न श्रूयते। "राजान्नं तेज आदत्ते" इत्यर्थवादाच्च प्रतिषेधः।

सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य यत्कृतं तत्कुलीनैरपि तदभोज्यम्।

तदनाद्य**मनिर्दशं** दशाहानि यावत् । तेन यद्यपि क्षत्रियादीनां दशाहादूर्ध्वमाशौचं तथापि दशाहानि न भोज्यम् ।

पाठान्तरं सूतकान्नमिति । सूतकशब्देन च तद्वन्तः पुरुषा लक्ष्यन्ते । येषां कुले सूतकं ते दशाहं न भोज्यान्ना इति । यस्मिन्पक्षे सर्वेषां दशाहं सूतकाशौचं तत्रायं प्रतिषेधः । यदा तु मातापित्रोः सूतकं मातुर्वेति पक्षस्तदा यावदाशौचं न भोज्यम् ।

अनिर्दशग्रहणमाशौचनिवृत्त्युपलक्षणार्थम् । तेन क्षत्रियादीनां यस्य यावदाशौचकालः स तावत्कालमभोज्यान्नः ।

''सूतिकान्नमनिर्दशमिति'' पठितव्ये वृत्तानुरोधात्पर्याचान्तपदेन व्यवधानम् ।

अन्यैस्तु स्वतन्त्रमनिर्दशग्रहणं व्याख्यातम् । सूतकशब्देन आशौचकालोऽनुद्योत्यते ।

अनिर्दशं गवादीनां पयः ।

पर्याचान्तं शौचाचमनव्यपेतमर्धभुक्ते केनचित्कारणेन यथाचामति तदा पुनर्भुक्तोज्झितं नाशितव्यम् ॥२१२॥

हिन्दी—वैद्य, शिकारी या व्याधा, क्रूर, जूठा खाने वाला, उग्र स्वभाव वाला; इनके अन्न को एवं सूतिका के उद्देश्य से पकाये हुए अन्न को, पर्याचान्त अन्न को और सूतक के अन्न को न खावे ॥२१२॥

विमर्श— वैद्य— जो वैद्य जीविका के लिये चिकित्सा करता है, उसके अन्न को खाने का इस वचन से निषेध है, किन्तु इसके विपरीत परोपकार की भावना से जो चिकित्सा करता हो उस वैद्य के अन्न को खाने में दोष नहीं? मृगयु— जो वधिक या शिकारी मांस बेचने के लिए प्राणिवध करता हो । पर्याचान्तान्न— एक पंक्ति में, अनेक लोगों के भोजन करते रहने पर बीच में ही यदि कोई आचमन करने (मुख धोने) लगे, वह अन्न 'पर्याचान्त' है । अनिर्दश— जिस सूतक (मरण शौच) को दश दिन नहीं बीते हों, उसके अन्न को नहीं खावे ।

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ।।२१३।।

भाष्य—अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते त**दनर्चितम्** । न तु सुहृदादेः ।

वृथामांसं देवाद्यर्चनशिष्टं यन्न भवत्यात्मार्थं यत्साधितम् ।

अवीरा स्त्री यस्या न भर्ता नापि पुत्रः ।

द्विषच्छत्रुः ।

नगरी नगरस्वाम्यराजाऽपि ।

अवक्षुतमुपरि यस्मिन्क्षवथुः कृतः ॥२१३॥

हिन्दी—बिना सत्कारपूर्वक दिया गया अन्न, देवतादि के उद्देश्य के बिना बधा हुआ मांस; पतिपुत्रहीन स्त्री, शत्रु, नागरिक (नगरपति) और पतित— इनका अन्न तथा जिसके ऊपर छींक दिया गया हो; वह अन्न नहीं खावे ॥२१३॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयकस्य च ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ।।२१४।।

भाष्य—पिशुनो यो विश्रब्धमर्थं कथितं भिनत्ति परच्छिद्रवादी वा परोक्षम् ।

अनृती कृतकौटसाक्ष्यः । **क्रतुविक्रयकः** क्रतुर्यज्ञस्तं कृत्वा विक्रीणीते क्रतुफलं मदीयं तवास्त्विति मूल्येन ददाति । यद्यपि परमार्थतः क्रतोर्विक्रयो नास्ति तथापि यस्यैवंविधा यात्राऽन्यविप्रलम्भेन वा प्रवृत्तिस्तस्य प्रतिषेधः ।

शैलूषो नटः । भार्यापण्य इत्यपरे ।

तुन्नवायः सौचिकः ।

कृतघ्नः कृतमुपकारं यो नाशयति प्रत्युतोपकर्तुरपकारे वर्तते न च शक्तः सन्प्रत्युपकारेऽपि ॥२१४॥

हिन्दी—चुगलखोर, असत्यभाषी, यज्ञ बेचने वाला (अपने यज्ञ का फल दूसरे को देकर उसके बदले में मूल्य लेने वाला), नट (बहुरूपिया), दर्जी और कृतघ्न; इनके अन्न को न खावे ॥२१४॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतरकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ।।२१५।।

भाष्य—कर्मारोऽयस्करः ।

निषादो दशमे वक्ष्यते ।

रङ्गावतरको नटगायनकेभ्योऽन्यो मल्लादिः । अथवा प्रतिरङ्गमुपतिष्ठते कुतूहली ।

वेणुः वादित्रजीवितः ।

शस्त्रविक्रयी कृतस्य खड्गादेरकृतस्य वाऽयसो विक्रेता ॥२१५॥

हिन्दी—लोहार, मल्लाह, रङ्गसाज, सोनार, बँसफोर (बांस के बर्तन बनारक जीविका करने वाला) और शस्त्र को बेचने वाला; इनके अन्न को न खावे ॥२१५॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ।।२१६।।

भाष्य—आखेटकाद्यर्थं ये शुनो बिभ्रति ते **श्ववन्तः** । **शौण्डिका** मद्यव्यसनिनस्तत्पण्यजीविनो वा । **चैलं** वस्त्रं तन्निर्नेनक्ति प्रक्षालयति । कारुकनामधेयमेतत् ।

रजको वाससां नीलादिरागकारकः ।

नृशंसो नृन्मनुष्याञ्छंसति स्तौति यो लोके बन्दीति प्रसिद्धः । अथवा निर्दयो **नृशंसः** ।

उपपतिर्जारो भार्याया गृहे जारो यस्य वर्तते ॥२१६॥

हिन्दी—शिकार के लिये कुत्ते को पालने वाला; मद्य बेचने वाला, धोबी, रङ्गरेज, नृशंस (निर्दय) और जिसके घर में उपपति (स्त्री का जार बिना जानकारी के) हो वह, इनके अन्न को न खावे ॥२१६॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ।।२१७।।

भाष्य—पूर्वोऽविदितभार्याजारः । अयं तु विदित्वा क्षमते न भार्याया निग्रहं करोति । नापि तस्य अविदुषोऽन्यत्र गृहाज्जारिणो भोज्यान्नं नैव ।

स्त्रीजिताः । येषां भार्यैव गृहे कर्त्री हर्त्री च स्वयं परिजनस्य च नेशस्तेन सर्वत्र तद्वशवर्तिनः ।

प्रेतान्नं मरणाशौचे तत्कुलीना अभोज्यान्नाः । **अनिर्दश**ग्रहणं कालोपलक्षणार्थम् ।

यदाऽनिर्दशग्रहणं पूर्वत्र स्वतन्त्रमाशौचसम्बन्धिनामविशेषेणान्नं प्रतिषेधति तदिह प्रेतान्नकृतं यस्याप्याशौचं नास्ति सुहृद्बान्धवादेः । कारुण्याच्चतुर्थीश्राद्धादिप्रवृत्तस्य यदन्नं तत्र भोज्यम् । "दशाहिकं नावमिकं चतुर्थीश्राद्धमष्टमी" इत्यादिरामायणे वर्णितमन्यैरपि गृह्यकारैः । **अतुष्टिकरं** यस्मिन्भुज्यमाने चित्ततुष्टिर्न भवेत् ॥२१७॥

हिन्दी—जानकारी में जो घर में उपपति (स्त्री का जार) के रहने को सहन करता है, जो सब बातों में स्त्री के वश में है; इन दोनों के अन्न को तथा बिना दस दिन बीते सूतक के अन्न को और अतुष्टिकारक अन्न को न खावे ॥२१७॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ।।२१८।।

भाष्य—अथेदानीमतिक्रमफलं दर्शयति ।

राजान्नभोजिनस्तेजोनाशः । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

सुवर्णकारादयः शब्दाः शिल्पिविशेषजीविनां वाचकाः । ये सुवर्णं जीविकार्थं घटयन्ति **सुवर्णकारा** उच्यन्ते । एवं रजकादिष्वपि द्रष्टव्यम् । चर्मावकृन्तति छिन्दति **चर्मावकर्तिनः** । तेन कर्मणा ये जीवन्ति तेषामेषा रूढिः ।

इह येषां पूर्वत्र प्रतिषेधो नास्ति केवलं दोषः श्रूयते तेषां तत एव प्रतिषेधोऽनुमेयः ॥२१८॥

हिन्दी—राजा का अन्न (खाने वाले के) तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मवर्चस (ब्रह्मतेज) को, सोनार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को ले लेता है (अतः इनके अन्न को नहीं खाना चाहिये) ॥२१८॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ।।२१९।।

भाष्य—**कारुकाः** सूपकारादयः नातिगर्हितकर्माणः । एष एतेषां शिल्पिभ्यो भेदः । प्रजाया विधातोऽनुत्पत्तिः ॥२१९॥

हिन्दी—बढ़ई (या शिल्पी) का अन्न संतान को तथा रँगरेज (कपड़ा रंगने वाला) का अन्न बल को नष्ट करता है और गण (सामूहिक) तथा वेश्या का अन्न (पुण्य आदि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि) लोकों से भ्रष्ट करता है ॥२१९॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ।।२२०।।

भाष्य—**पूय**तुल्यं **चिकित्सकस्यान्नं** भोजनम् ।
इन्द्रियं शुक्रम् ।
विष्ठा मलमेकमेव ॥२२०॥

हिन्दी—वैद्य (४।२१२ का विमर्श देखिये) का अन्न पीव, व्यभिचारिणी का अन्न शुक्र (वीर्य), सूदखोर (सूद से ही जीविका करने वाला) का अन्न विष्ठा तथा शास्त्र बेचने वाले का अन्न मल (कफ, कान का खोंट नाक का पोटा आदि) के समान है ॥२२०॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ।।२२१।।

भाष्य—प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्यो येन्येऽप्यभोज्यान्ना अस्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं **तत्त्वगस्थिरोमादि** । यस्तदीयायास्त्वचो भुक्ताया दोषः स एवान्नस्यापि ॥२२१॥

हिन्दी—प्रत्येक नामकथनपूर्वक इन अभोज्यान्नों (जिनका अन्न अभोज्य है ४।२१८-२२०) के अतिरिक्त जो अभोज्यान्न (४।२०५-२१७) क्रमशः कहे गये हैं, उनके अन्न को विद्वान् लोग उन (अभोज्यान्नों) को चमड़ा, हड्डी और रोम कहते हैं (उनका अन्न खाने को उनके चमड़ा, हड्डी और रोम (बाल) खाने के समान कहते हैं) ॥२२१॥

चारों वर्णों के अन्नों का स्वरूप—

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ।।१४।।]

[**हिन्दी**—ब्राह्मण का अन्न अमृतरूप, क्षत्रिय का अन्न दूध रूप, वैश्य का अन्न अन्नरूप तथा शूद्र का अन्न रुधिर-रूप है। (अतः शूद्र का अन्न अभोज्य है) ॥१४॥]

अभोज्य अन्न खाने पर प्रायश्चित्त—

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ।।२२२।।

भाष्य—त्र्यहं क्षपणमभोजनम्। **अमत्या**ऽबुद्धिपूर्वम्।

बुद्धिपूर्वे तु **कृच्छ्रं चरेत्**।

तच्च कृच्छ्रं स्मृत्यन्तरैकवाक्यत्वात्तप्तकृच्छ्रम्। तत्र रेतोविण्मूत्रप्राशने तप्तकृच्छ्रमाम्नातम्। 'अमत्या पाने पयोघृतमुदकं वायुः प्रतित्र्यहं तप्तातिकृच्छ्रः। ततोऽस्य संस्कार इति'।

अप्रकरणे च प्रायश्चित्तवचनं दोषातिशयदर्शनार्थम्।

अन्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशात्परिग्रहणदुष्ट एवेदं प्रायश्चित्तं मन्यन्ते न कालस्वभावसंसर्गदुष्टे। शुक्तपर्युषितादौ चतुर्विधं ह्यभोज्यम्। कालदुष्टं शुक्तपर्युषितादि। संसर्गदुष्टं मद्यानुगतादि। स्वभावदुष्टं लशुनादि। परिग्रहदुष्टं प्रकृताभोज्यान्नानां यत्॥

अत्रोच्यते। सत्यम्। चतुर्विधमभोज्यं भवति। षष्ठीनिर्देशोऽप्यस्ति। किंतु यदि शुक्तादेर्नेदं प्रायश्चित्तं स्यात्तदिह प्रकरणे तेषामुपादानमनर्थकमेवापद्येत। पञ्चमे हि तयोः प्रतिषेधो नास्ति। तस्मादिह प्रायश्चित्तार्थमेवैवमादीनामुपादानम्।

तत्र तर्हि किमर्थम्?

तत्रैव वक्ष्यामः। यदपि 'गर्हिता नाद्ययोर्जग्धिः' (११।५६) 'अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नमिति' (११।१५२) च तत्सर्वमेकादशे विभागतो निर्णेष्यते ॥२२२॥

हिन्दी—इन (४।२०५-२२०) में से किसी एक के अन्न को अज्ञानपूर्वक खाकर तीन दिन उपवास करे तथा ज्ञानपूर्वक शुक्र, मल और मूत्र के समान इन अन्नों को खाकर कृच्छ्रव्रत (११।२११) करे ॥२२२॥

विमर्श— यहाँ पर 'किसी एक का' (अन्यतमस्य) शब्द कहने से मत्तादिसम्बन्धी दूषित अन्न के ही भोजन करने पर यह प्रायश्चित्त है, कीट या केश आदि के संसर्ग से दूषित, समय से दूषित वासी आदि और निमित्त से दूषित घुन आदि लगे हुए अन्न को खाने से उक्त प्रायश्चित्त (तीन दिन उपवास या कृच्छ्रव्रत) करना नहीं है। एक प्रकरण में स्नातकता बतलाने के लिए कहा है, ग्यारहवें अध्याय में प्रायश्चित्त को कहेंगे। अतएव मेधातिथि अप्रकरण में प्रायश्चित्त को कहने के कारण कीटादि के संसर्ग से दूषित अन्न

तथा समय के अतिक्रमण से दूषित बासी आदि अन्न के खाने पर भी यही प्रायश्चित्त (अज्ञानपूर्वक खाने से तीन दिन उपवास तथा ज्ञानपूर्वक खाने से कृच्छ्रव्रत) जो कहा है, वह ठीक नहीं है। अप्रकरण में इस प्रायश्चित्त का कथन लाघव के लिये है।

शूद्र से पक्वान्न लेने का निषेध—

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ।।२२३।।

भाष्य—अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धं तस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते **अश्राद्धिनः**।

"क्व पुनः शूद्रान्नं प्रतिषिद्धम्"।

"शूद्रस्योच्छिष्टमेव च" (४। २११) इत्यत्र।

ननु च तत्र शूद्रस्योच्छिष्टं प्रतिषिद्धं नान्यदन्नम्।

नेति ब्रूमः। एवं तत्र सम्बन्धः। 'शूद्रस्यान्नं नाद्यादुच्छिष्टमन्यस्यापि'। यत्तु प्राग्व्याख्यातं तत्पूर्वेषां दर्शनमित्यस्माभिरपि संवर्णितम्।

अश्राद्धिनः। श्राद्धशब्देन पाकयज्ञादिक्रिया शूद्रस्य विहिता लक्ष्यते। ततस्तत्क्रियाननुष्ठायिनः।

सच्छुद्रादन्यस्य यत्पक्वमन्नं तन्नाद्यात्।

अश्रद्धिन इति वा पाठः। अश्रद्धावानित्यर्थः। तथा चोत्तरश्लोके श्रद्धायाः प्राधान्यमेवाह "वदान्यस्येति"।

आमं शुष्कं धान्यं तण्डुलादि।

तथैकरात्रिकमेकस्मिन्नहनि पर्याप्तं न बहु ॥२२३॥

हिन्दी—विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध आदि पञ्चमहायज्ञ न करने वाले (क्योंकि शूद्र के लिये इन कर्मों को करने की शास्त्राज्ञा नहीं है) शूद्र के पक्वान्न को न खावे, किन्तु खाने के लिए दूसरा अन्न नहीं रहने पर शूद्र से एक रात भोजन करने योग्य कच्चे अन्न को लेवे (पक्वान्न तो कदापि न लेवे) ॥२२३॥

चन्द्र-सूर्य ग्रहण में भोजन का निषेध—

[चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।
अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि ।।१५।।]

[**हिन्दी**—चन्द्रमा या सूर्य के ग्रहण में भोजन न करे तथा उनके मुक्त (मोक्ष) हो जाने पर स्नान करने पर ही भोजन करे। बिना मोक्ष हुए यदि वे अस्त हो जावें तो दूसरे दिन भोजन करे ॥१५॥

विमर्श—वृद्धगर्ग का मत है कि सूर्यग्रहण आरम्भ होने से चार प्रहर (१२ घण्टे) तथा चन्द्रग्रहण आरम्भ होने से तीन प्रहर (९ घण्टे) पहले भोजन न करे; किन्तु बालक, वृद्ध और रोगी के लिये यह निषेध नहीं है। किसी-किसी आचार्य के मत से पुत्र वाले गृहस्थ (गृहाश्रमी) के लिये भी निषेध नहीं है। इस प्रकार विधवा, यति तथा वैष्णवादि विरक्त मात्र के लिए चन्द्र या सूर्य के उपराग— (ग्रहण)— काल में क्रमशः तीन और चार प्रहर पूर्व से भोजन करने का निषेध है। विशेष अन्य धर्म-शास्त्रों में देखना चाहिए।]

कृपण श्रोत्रिय तथा सूदखोर के अन्न की समानता—

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ।।२२४।।

भाष्य—यो ब्राह्मणः सर्वगुणोपेतः। श्रोत्रियग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। **श्रोत्रियो** विद्वान्विहितधर्मानुष्ठानपरः। किन्तु **कदर्यः** कृपणो मित्रं ज्ञातिमतिथिमर्थिनं नाभिनन्दति न कस्मै किंचिदपि दातुमीहते। इतरो **वार्धुषि**र्दुष्टकर्मा वृद्धिजीवी। अथ **वदान्य** उदारः श्रद्दधानो गृहागतेषु परितुष्यति श्रद्धया भोजनादिना पूजयति।

तयोरन्नं **देवाः समं** तुल्य**मकल्पयन्**व्यवस्थापितवन्तः।

यदि नामैको गुणवान्साधुचरणस्तथापि कदर्यतयोपहतः। उक्तं हि "लोभः सर्वगुणानिव" इति। इतरो यदि नाम श्रद्दधानः तथापि कर्मदोषादप्रशस्तः। एवं **मीमांसित्वा** विचार्य देवैर्व्यवस्था कृता तुल्यमेतदिति ॥२२४॥

हिन्दी—कृपण श्रोत्रिय तथा बहुत दानी-सूदखोर के अन्न के गुण-दोष का विचारकर देवताओं ने दोनों का अन्न बराबर कहा है ॥२२४॥

तान् प्रजापतिराहैत्या मा कृद्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।।२२५।।

भाष्य—देवान्**प्रजापति**रागत्याचष्ट **मा कृद्वमेवं विषमं** समीकरणमन्याय्यम्।

कः पुनरनयोरधिक इति देवा ऊचुः।

पुनः प्रजापतिराह। **वदान्यस्य** श्रद्धावतो **यदन्नं** तत्पूतं पवित्रं श्रद्धया वार्धुषेः। इतरद्यदन्नं श्रोत्रियस्य तत्कर्मणोपहतमप्रशस्तम्।

देवप्रजापतिसंवादोऽर्थवादः। अश्रद्दधानस्य गुणवतोऽपि न भोक्तव्यमादरेण शूद्रस्यापि भोक्तव्यम् ॥२२५॥

हिन्दी—उन (देवताओं) के पास ब्रह्माजी आकर बोले कि विषम (अन्न) को समान मत करो (कृपया श्रोत्रिय तथा बहुत दानी सुदखोर के अन्न को बराबर मत कहो); किन्तु दानशील सूदखोर का अन्न श्रद्धा से पवित्र है तथा अन्य (कृपण अर्थात् श्रद्धाहीन श्रोत्रिय का

अन्न) अश्रद्धा से दूषित है। (अत: श्रद्धा से ही अन्नादि का दान करना श्रेष्ठ है)॥२२५॥

श्रद्धा से किये गये इष्ट तथा पूर्त का अक्षयफल—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ।।२२६।।

भाष्य—इष्टमन्तर्वेदि यत्क्रियते यज्ञादि कर्म। **पूर्तं** ततोऽन्यत्र सम्मानाद्यदृष्टार्थम्। ते श्रद्धया कर्तव्ये।

तथा **स्वागतैश्चधनैः** शोभनेनागच्छन्ति यानि धनानि श्रुतशौर्यतपः कन्यादिना।

एव**मक्षये**ऽक्षयफले भवतः। यानि तु न स्वागतानि नाक्षयफलानि न पुनर्निष्फलानि। तथाहि तैरपि स्वाम्यमुत्पद्यते। तेन च यागादयः कर्तव्याः। न च यागदानादिप्रकरणे कुसीदादिप्रतिषेधः श्रुतो येन तदङ्गं स्यात्। तस्माद्यावन्तः स्वर्गोत्पत्तिहेतवः तैरर्जितेन धनेन यागादयः कर्तव्याः। फलस्य तु प्रकर्षापकर्षौ भवतः ॥२२६॥

के पुनस्ते प्रशस्तधनोपायाः।

अत उच्यते।

श्रुतशौर्यतपः कन्यायाज्यशिष्यान्वयागतम्।
धनं सप्तविधं शुद्धं उभयोऽप्यस्य तद्विधः ॥

तत्र 'श्रुततपसी' प्रतिग्रहनिमित्तम्। एकोऽपि प्रतिग्रहो निमित्तभेदाद्भेदेनोक्तः। प्रतिग्राह्यगुणा अपि सामर्थ्यात्तत्र द्रष्टव्याः। यदि नात्यन्तदुष्टो दाता भवति तदा तस्मादागतं शुद्धं भवति। याज्यशिष्यशब्दाभ्यां याजनाध्यापने गृह्येते। 'अन्वयागतं' पितृपैतामहादि। कन्यादानकाले श्वशुरगृहाल्लब्धम्। शौर्येण क्षत्रियस्य। कन्यान्वयौ सर्वसाधारणौ।

कुसीदकृषिवाणिज्यशिल्पसेवानुवृत्तितः ।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम् ॥

'सेवां' प्रेष्यकरत्वं यथेच्छविनियोज्यता। 'अनुवृत्तिः' प्रियतानुकूला। तत्र कुसीद-कृषिवाणिज्यान्यवैश्यस्य, वैश्यस्य प्रशस्तान्येव। 'सेवा' द्विजातिशुश्रूषा शूद्रस्य प्रशस्तैव। अन्या तु तस्य निन्दिता। 'शवल'ग्रहणेनाचिरस्थायिता फलस्योच्यते। यावज्जीवं तत्फलं भवति ॥

पार्श्विकद्यूतचौर्यार्तिप्रातिरूपकसाहसैः ।
व्याजेनोपार्जितं यच्च तत्कृष्णं समुदाहृतम् ॥

'पार्श्विकः' पार्श्वस्थः उत्कोचादिना धनमर्जयति। ज्ञात्वा धनागमं कस्यचिदहं ते दापयामि मह्यं त्वया किंचिद्दातव्यमिति यो गृह्णाति स पार्श्विकः। न कर्ता कारयिता तटस्थो न त्वज्ञतया गृह्णाति। यथा च गृहीत्वाऽधमर्णाय प्रतिभूत्वेनावतिष्ठते। 'प्रति-

रूपको' दाम्भिकः । कुसुम्भाद्युपहितकुङ्कुमादिविक्रयो 'व्याजः' । 'आर्तिः' परपीडा । प्रच्छन्नहरणं 'चौर्य्यम्' प्रसभं 'साहसम्' ।

ननु चौर्यसाहसाभ्यां स्वाम्यमेव नास्ति तन्निमित्तेष्वपठितत्वात् । "स्वामी रिक्थक्रय-संविभागपरिग्रहाधिगमेष्विति"— तथा "विद्याशिल्पं भृतिमेवे" त्यादि— तथा "सप्त वित्तागमा धर्म्या" इति च । अथास्मादेव वचनात्स्वाम्यकारणत्वमनयोरिति । कथं तर्हि बलाद्भुक्तं न जीर्यतीति ।

केचित्तावदाहुः । नैवायं पाठोऽस्ति । "द्यूतचौर्यार्त्तीति" अपि तु 'वैर्यार्त्तीति' । वैरिणः सकाशाद्यद्गृह्यते सन्धानकाले यद्येतावद्ददासि तदा त्वया सन्धिं करोमि शक्ति-विहीनतया ददाति । साहसमपि न प्रसह्य हरणं किं तर्हि यत्प्राणसंदेहेनार्ज्यते पोतयात्रतया रहसि राजप्रतिषिद्धप्रतिक्रयेण च ।

अन्ये तु मन्यन्ते । नैव बलादपहरणेन स्वाम्यं भोगेन वा जरणं विरुध्यते यतो बलं प्रथममपहारकाले त्वसत्यपि बल उपेक्षया भोगस्तत्र स्वाम्यम् । यत्र त्वारम्भात्प्रभृति सर्वकालिको बलोपभोगस्तत्र जीर्यतीति कथ्यते । तस्मादुभयमविरुद्धम् ।

इदं युक्तं यच्चौर्यसाहसाभ्यां स्वत्वानुत्पत्तिः, पाठविभागकृतत्वात् अन्यैश्च स्मृति-कारैः स्वत्वहेतुष्वपरिगणनात् ॥२२६॥

हिन्दी—आलस्य छोड़कर श्रद्धा से इष्ट (मण्डप के भीतर यज्ञादि कार्य) तथा पूर्त (बावली, कूप, तालाब, प्याऊ आदि) को सदैव करना (बनवाना) चाहिए । न्यायोपार्जित धन से श्रद्धा के साथ किये गये वे दोनों (इष्ट तथा पूर्त) अक्षय (अक्षय मोक्षरूप फल देने वाले) होते हैं ॥२२६॥

श्रद्धा से दान करने का फल—

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ।।२२७।।

भाष्य—दानधर्मश्च तडागादिः । समाहारद्वन्द्वः । अथवा दानं च तद्धर्मश्चासाविति । धर्मग्रहणेन प्रीत्यादिना नियमभावमाह । भावेन तुष्टेन प्रसन्नेन चित्तेन पात्रमासाद्य व्रतादि-दानं च । एवं **पौर्तिकं** बहिर्वेदिकम् ॥२२७॥

हिन्दी—सर्वदा सन्तुष्ट होकर इष्ट तथा पूर्त कर्म करे और याचित (किसी के द्वारा याचना किया गया) मनुष्य यथाशक्ति सत्पात्र को प्राप्तकर दानधर्म अवश्य करे ॥२२७॥

संचयशील सत्पात्र के लिये दान का निषेध—

[पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् ।
असत्सु विनियुञ्जीत यस्मै देयं न किञ्चन ।।१६।।]

[**हिन्दी**—जो ब्राह्मण दान का पात्र होकर के भी स्वयं प्रतिग्रह (दान) को लेकर पुनः उसे कुपात्र को दे देता है, ऐसे ब्राह्मण को कुछ भी दान रूप में नहीं देना चाहिये ॥१६॥]

[सञ्चयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः ।
धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ।।१७।।]

[**हिन्दी**—जो ब्राह्मण चारों ओर से (सब जगह से) दान लेकर केवल उसका संचयमात्र करता है किन्तु उसको किसी धर्मकार्य में नहीं लगाता है। उसे 'तस्कर' समझ कर दानादि द्वारा सत्कार नहीं करना चाहिए ॥१७॥]

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयता ।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ।।२२८।।

भाष्य—**यत्किञ्चित्**स्वल्पमपि **याचितेना**भ्यर्थितेन दातव्यम्। पात्रापात्रसंदेहे असति निश्चये किञ्चिद्दातव्यं नाति बहु। वचनाच्च संदेहे न दातव्यम्।

उत्पत्स्यते कदाचित्पात्रमसौ भविष्यति— किंभूतम्— यत्पात्रं **तारयति** रक्षति **सर्वतो** नरकपातहेतोः सर्वस्मादेनसः।

यदुक्तं "वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायेति" तत्रायं संदेहाश्रय ईषद्द्रव्यविषयोऽपवादः ॥२२८॥

हिन्दी—याचना करने पर मनुष्य को असूयारहित होकर कुछ भी (यथाशक्ति) दान करना चाहिए; क्योंकि (इस प्रकार सर्वदा दान करने वाले) दाता के पास कभी वह पात्र आ जायेगा, जो सब (नरक के कारणों) से छुड़ा देगा ॥२२८॥

जल आदि के दान करने का पृथक्-पृथक् फल—

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः ।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ।।२२९।।

भाष्य—**तृप्तिः** क्षुत्पिपासाभ्यामपीडनम्। तच्चाढ्यस्यारोगस्य च भवति। तेन बहुधनत्वमरोगता च फलमुक्तं भवति।

अक्षयं सुखम्। अविशेषितत्वादन्नोपकरणं सुखं प्रतीयते। अक्षयं यावज्जीविकमित्यर्थः। **अन्नदः** सक्त्वोदनादि सिद्धमन्नमामं च तण्डुलादि।

दीपस्य दानं चतुष्पथे ब्राह्मणसभायां वा ॥२२९॥

हिन्दी—जलदान करने वाला तृप्ति को, अन्नदान करने वाला अक्षय्य (क्षीण नहीं हो सकने योग्य) सुख को, तिलदान करने वाला अभिलषित सन्तान को और दीपदान

करने वाला उत्तम (रोगादिरहित) नेत्र को पाता है ॥२२९॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ।।२३०।।

भाष्य—भूमेराधिपत्यं प्राप्नोति ।

हिरण्यं सुवर्णम् ।

रूप्यद उत्तमं रूपं लभते ॥२३०॥

हिन्दी—भूमिदान करने वाला भूमि (भूस्वामित्व) को, सुवर्ण (सोना) दान करने वाला पूर्यायु को, गृहदान करने वाला उत्तम गृहों को और चाँदी दान करने वाला उत्तम रूप को (पाता है) ॥२३०॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो व्रध्नस्य विष्टपम् ।।२३१।।

भाष्य—चन्द्र इव लोक्यते सर्वस्य प्रियदर्शनो भवति । इतिहासदर्शने चन्द्रलोको नाम स्वर्गस्थानविशेषस्तमाप्नोति ।

अश्विनामश्ववतां **सालोक्यं** बह्वश्वतां प्राप्नोति । दर्शने पुनरश्विनोर्लोकमाप्नोति ।

अनड्वान्पुङ्गवः शकटवहनसमर्थस्तं ददतः **पुष्टा** महती **श्री**र्गोजाविधनधान्यादिसम्पद्भवति ।

ब्रध्न आदित्यस्तस्य **विष्टपं** स्थानमाप्नोति । महातेजाः सर्वस्योपरि भवति । स्वर्गो वा ब्रध्नविष्टपम् ।

स्मृत्यन्तरेऽनसो विशेषाश्रयः फलविशेषः श्रूयते ॥

"हेमशृङ्गी रूप्यखुरा सुशीला वस्त्रसंवृता ।
सकांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौः सदक्षिणा ॥"

सुदक्षिणेति पाठेऽन्यदपि सुवर्णादि तत्र दातव्यम् । शोभनार्थे वा सुशब्दः पठितव्यः सा गौः शोभना दक्षिणादानम् । कांस्योपदोहेति पाठान्तरम् । कांस्यं नाम परिमाणविशेषः । तत्रोपदुह्यते बहुक्षीरेत्यर्थः । "मुक्तालाङ्गलभूषितां भूमिं तु **रूपसंच्छन्नां** कृत्वा" इत्यादिस्मृत्यन्तरदृष्टो विधिः फलविशेषार्थिनाऽऽश्रयणीयः । तथा—

"कपिला चेत्तारयति भूय आ सप्तमात्कुलात् ।
सवत्सा रोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखी ॥"

वत्सवत्याः कपिलाया दान एतत्फलम् । उभयतोमुखी दीयमाना रोमतुल्यानि वर्षसहस्राणि स्वर्गं प्रापयति तारयती पापान्मोचयति ।

भारते सर्वफलं गोदानमुक्तम्। (अनु० १०६-१०९। २३५ (३१-५०); आश्व १०२'१)। वार्यादीन्यपि स्वर्गफलानि श्रूयन्ते।

"भूमिपश्वन्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिष्प्रतिश्रयान्।
नैवेशिकमथ स्वर्णं दत्वा स्वर्गे महीयते॥"

'नैवेशिकं' वेश्म ॥२३१॥

हिन्दी—वस्त्रदान करने वाला चन्द्रमा के सालोक्य (चन्द्रलोक में निवास) को, घोड़े का दान करने वाला बहुत (दृढ़-स्थिर) धन को, गाय का दान करने वाला सूर्यलोक को (पाता है) ॥२३१॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्॥२३२॥

भाष्य—**ऐश्वर्य्य**मीश्वरत्वं प्रभुत्वम्।

सुखित्वं **सौख्यम्**।

धान्यानि व्रीहिमाषमुद्गादीनि। तिलानां फलान्तरमुक्तम्।

ब्रह्म वेदः तद्ददाति योऽध्यापयति व्याख्याति च।

ब्रह्मसार्ष्टिता। अर्षणमृष्टिः। समा ऋष्टिर्यस्य असौ सार्ष्टिः। छान्दसत्वात्समानस्य सभावः। ऋषि गतौ। अर्षणं वा सार्ष्टिः। तद्भावः। सार्ष्टिता। उभयथाऽपि ब्राह्मणः समानगतित्वमेतत्तुल्यत्वमित्युक्तं भवति॥२३२॥

हिन्दी—रथ आदि सवारी तथा शय्या का दान करने वाला स्त्री को, अभयदान करने वाला (या किसी की हिंसा नहीं करने वाला) ऐश्वर्य को, धान्य (जौ, धान, चावल, गेहूँ, चना आदि) का दान करने वाला चिरस्थायी सुख को और वेद दान (वेद का अध्यापन या व्याख्यान) करने वाला ब्रह्मा की समानता को (पाता है) ॥२३२॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥२३३॥

भाष्य—पूर्वस्य विधेरर्थवादः।

दीयन्त इति दानानि देयद्रव्याणि। दानक्रियैव वा दानम्। **ब्रह्मदानं** वेदाध्ययन-व्याख्याने।

वार्यादीनां सर्वदानोत्तमत्वाद्ग्रहणम्॥२३३॥

हिन्दी—जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत; इन सबके दान से ब्रह्मदान (वेद का पढ़ाना) श्रेष्ठ फल देने वाला है ॥२३३॥

भावानुसार दानफल—

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ।। २३४।।

भाष्य—भावशब्दोऽयं चित्तधर्मे वर्तते । यादृशेन भावेन प्रसन्नेन चित्तेन श्रद्धयाऽऽदरेण ददाति तादृशेनैव लभते । अथाश्रद्धयाऽवज्ञया क्लिष्टं परिभूय ददाति सोऽपि तथैव प्राप्नोति ।

यद्यदपि न द्रव्यजात्यभिप्रायम् । **किंतर्हि** फलं? एतदुच्यते । तां तां प्रीतिं तत्तद्द्रव्यसाध्यां प्राप्नोति । जात्यभिप्राये ह्यातुरायौषधदाने औषध एवं लभ्येत । तच्चाव्याधितस्यानुपयोगीति सोऽप्याक्षिप्येत । तस्मात् यादृश्युल्लासाद्यस्य प्रीतिस्तादृशीं चैव प्राप्नोति । अतश्च सर्वदैवौषधदान अरोगित्वमुक्तं भवति ।

अथवा इदं मे स्यादिति या फलकामना स 'भावः' । यत्फलमभिसंधाय यद्यद्द्रव्यं ददाति तत्तत्प्राप्नोति । तेनैव भावेन तयैवेच्छया यदेवेच्छति तदेव लभत इत्युक्तं भवति । सर्वफलत्वं सर्वद्रव्याणां प्रदर्शितं भवति ॥२३४॥

हिन्दी—(दानकर्ता) जिस-जिस भाव (अभिलाषा-कामना) से जो-जो दान देता है, उसी-उसी भाव से (जन्मान्तर में) पूजित होता हुआ उस-उस वस्तु को प्राप्त करता है ॥२३४॥

सविधि दान लेने और देने की श्रेष्ठता—

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ।। २३५।।

भाष्य—पूजापूर्वकं दातव्यम् । तादृशमेव च प्रतिग्रहीतव्यम् । नावज्ञया दातव्यमिति श्लोकस्य तात्पर्यम् ।

अचितमिति क्रियाविशेषणम् ॥२३५॥

हिन्दी—जो सत्कार सहित दान लेता है और जो सत्कार सहित दान देता है, वे दोनों स्वर्ग को जाते हैं । इसके विरुद्ध करने (असत्कारपूर्वक दान लेने या देने) से वे नरक को जाते हैं ॥२३५॥

तपःसिद्धि आदि से विस्मयादि का निषेध—

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्वा परिकीर्तयेत् ।। २३६।।

भाष्य—तपसाऽनुष्ठितेन विस्मयं न कुर्यात् । अतितीव्रं तपो मया कृतं सुदुश्चरमि-

त्येवं मनसि न कर्तव्यम् ।

इष्ट्वा यागं कृत्वाऽनृतं न वदेत् । अविशेषेण प्रतिषिद्धस्यापि पुरुषार्थतया पुनः प्रतिषेधो यागाङ्गत्वज्ञापनार्थः । प्रतिषेधातिक्रमे हि ज्योतिष्टोमादेरङ्गहीनता भवति ।

आर्त्तः पीडितोऽपि ब्राह्मणैर्न **तानपवदेन्न** निन्देत ।

दत्वा गवादि द्रव्यं न कस्यचिदग्रतः परिकीर्तयेदिदं मया दत्तम् ॥२३६॥

हिन्दी—तपस्या से विस्मय (चान्द्रायण या कृच्छ्र आदि कठिन तपस्या की पूर्णता होने पर देखो किस प्रकार मैंने इसे पूरा कर लिया ऐसी भावना) न करे, यज्ञ करके असत्य न बोले, पीड़ित होकर भी ब्राह्मणों को दुर्वाच्य न कहे और दान देकर नहीं कहे ॥२३६॥

उक्त कार्य से विपरीताचरण का फल—

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

भाष्य—पूर्वस्यप्रतिषेधस्यार्थवादोऽयम् ।

अनृतेन हेतुना **यज्ञः क्षरति** स्रवति निष्फलो भवति । यदर्थं कृतं तन्न सम्पद्यते। एवं सर्वत्र ॥२३७॥

हिन्दी—असत्य बोलने से यज्ञ नष्ट हो जाता है, विस्मय से तपस्या नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण को दुर्वाच्य कहने से आयु और (दान दी हुई वस्तु को) कहने से दान (का फल) नष्ट हो जाता है ॥२३७॥

धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करना—

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२३८॥

भाष्य—महति दाने महति च तपसि महति च यज्ञे ज्योतिष्टोमादौ यद्यसमर्थस्तदा नोदासीनेन भवितव्यम् । किंतर्हि **शनैः** शनैः स्वल्पेन दानेन स्वल्पेन तपसा यथाशक्ति परोपकारेण जपहोमाभ्यां स्मार्तभ्यां धर्मः सञ्चेतव्यः । यथा मृत्सङ्घातं **पुत्तिकाः** पिपीलिकाः सञ्चिन्वन्ति ।

परलोकसहायार्थमिति धर्मफलानुवादः ।

सर्वभूतान्यपीडयन् । याञ्चया धर्मार्थया भूतानां पीडा न कर्तव्या ॥२३८॥

हिन्दी—जिस प्रकार दीमक वल्मीक (वामी-दियकाँड़) का सञ्चय करते हैं, उसी प्रकार परलोक की सहायता के लिये सब जीवों को पीड़ा नहीं देते हुए धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करे ॥२३८॥

धर्म की प्रशंसा—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।२३९।।

भाष्य—भूतानुवादोऽयम् ।

अमुत्र जन्मान्तरे **सहायार्थं** नरकादिदुःखादुद्धरणार्थं न कस्यचित्सुहृद्बान्धवादेः शक्तिरस्ति । **केवल** एव जीवता यो धर्मः कृतः स तमुद्धरति ।।२३९।।

हिन्दी—क्योंकि परलोक में माता, पिता, स्त्री और ज्ञाति सहायता के लिये नहीं रहते हैं; केवल धर्म ही (सहायता के लिए) रहता है ।।२३९।।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ।।२४०।।

भाष्य—यथा **जन्तुः** प्राण्येक एव **जायते** न सुहृद्बान्धवादिना स **एक एव प्रलीयते** । न सुहृदो बान्धवाः सहमरणमनुभवन्ति ।

यदि नाम भार्याऽन्यो वा भक्तो जनस्तन्मरणकाल आत्मानं हन्यात्तथापि पृथगेवासौ मरणक्रिया । अनया न गर्भैक्यमत्रिवदनुभवन्ति ।

एवं सुकृतदुष्कृते अपि पृथगेवानुभवन्ति ।

ननु च 'न पुत्रदारम्' इत्युक्तम् । यावता पुत्रः श्राद्धादिक्रियया पितुरुपकरोत्येव मृतस्यैवं भार्याऽपि ।

सत्यम् । धार्मिकस्यैव तादृशः पुत्रो भवतीति तत्परमेतत् । यथा जीवतः कस्य-चिद्धस्तग्राहिकया कश्चित्सहायो भवत्येवं मृतस्य पुत्रो धर्मद्वारेणैवोपकरोति ।।२४०।।

हिन्दी—प्राणी अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य (जन्य स्वर्ग-आदि फल) भोगता है, और अकेला ही पाप जन्य (नरक आदि फल) को भोगता है ।।२४०।।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ।।२४१।।

भाष्य—सह गच्छति ।

इदं प्रत्यक्षसिद्धप्रसंख्यानार्थमुच्यते ।

मृतस्य शरीरं क्षितावुत्सृज्य काष्ठमिव निष्प्रयोजनं विमुखा बान्धवाः प्रतिगच्छन्ति । **धर्मस्तु** केवलं पुरुषम**नुगच्छति** ।।२४१।।

हिन्दी—बान्धव लोग मरे हुए (निर्जीव) शरीर को लकड़ी और ढेले के समान भूमि पर छोड़ पराङ् मुख होकर चले जाते हैं (उसके साथ नहीं जाते, किन्तु) एक धर्म ही उसके पीछे जाता है ॥२४१॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।।२४२।।

भाष्य—उपसंहारोऽयम् ।

दुस्तरं तमः कृच्छ्रेण यत्तीर्यते । **तमो** दुःखम् । तदपि धर्मेण सहायेन सुतरं भवति । न हि तादृशे तमसि मज्जतीत्यर्थः ॥२४२॥

हिन्दी—इस कारण (परलोक में) सहायता के लिए धीरे-धीरे धर्म का सर्वदा सञ्चय करे; क्योंकि धर्म से दुस्तर (कठिनाई से पार करने योग्य) तम (नरकादि के दुःख) को पार करता है ॥२४२॥

धर्मात्मा को स्वर्गादि की प्राप्ति—

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ।।२४३।।

भाष्य—धर्मः प्रधानं यस्यासौ **धर्मप्रधानो** धर्मपरायणो यथाविहितकर्मानुष्ठायी ।

तपसा हतकिल्विषं कथंचित्प्रमादकृतव्यतिक्रमे तपसा प्रायश्चित्तेन हतकल्मषं शास्त्रव्यतिक्रमे जातोऽसौ दोषस्तस्मिंस्तत्प्रायश्चित्तेन नष्टे **परलोकं नयति भास्वन्तं** परलोकं देवस्थानं स्वर्गादि **नयति** प्रापयति ।

कः ?

प्रकृतत्वाद्धर्म एव ।

शरीरिणं पुरुषं स्वेन शरीरेण 'स्वशरीरी' । न यथाऽन्येषां पुरुषाणां पाञ्चभौतिकं शरीरमेवं तस्य । किंतर्हि? स्वमेव शरीरं ब्रह्म । विभुत्वमनेनोच्यते ॥२४३॥

हिन्दी—तपस्या से पापहीन, प्रकाशमान और ब्रह्मस्वरूप धर्मपरायण पुरुष को (धर्म ही) परलोक (ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदि) को ले जाता है ॥२४३॥

उत्तम के साथ सम्बन्ध करना—

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ।।२४४।।

भाष्य—बहुप्रकारत्वादुत्तमस्य तदपेक्षा वीप्सा । कश्चिज्जात्योत्कृष्टः कश्चिद्विद्यया कश्चिच्छीलेन । अथवा सम्बन्धिभेदाद्यः कश्चित्सम्बन्धो येन केनचिदुत्तमेन योग्यः ।

उत्तमैरुत्तमैर्जात्यादिभिरुत्कृष्टैः कन्यादानादिलक्षणा**न्सम्बन्धानाचरेत्कुर्यान्निनीषु**-र्नेतुं प्रापयितुमिच्छुः **कुलमुत्कर्षं** श्रैष्ठ्यम् ।

अधमानधमांस्त्यजेत् । उत्तमैरेव विधानादधमानां त्यागे सिद्ध उत्तमासम्भवे मध्यमानुज्ञानार्थं त्यागवचनम् । **अधमा** निकृष्टाः ॥२४४॥

हिन्दी—वंश को उन्नत करने की इच्छा वाला सर्वदा (अपने से) बड़ों-बड़ों के साथ सम्बन्ध करे और (अपने से) नीचों-नीचों के साथ छोड़ दे (उनसे सम्बन्ध न करे) ॥२४४॥

उत्तमानुत्तमानेव गच्छन् हीनांस्तु वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।।२४५।।

भाष्य—उत्तमान्गच्छंस्तैः सह सम्बन्धं कुर्व**न्ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति** । ब्राह्मण-ग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरपि प्रदर्शनार्थम् ।

प्रत्यवायेन विपरीताचरणेन हीनैः सह सम्बन्धेन प्रातिलोम्येन **शूद्रतां** गच्छति । जातेरनपायात् तत्तुल्यतां प्राप्नोतीत्युक्तं भवति ॥२४५॥

हिन्दी—(अपने से) बड़ों-बड़ों के साथ सम्बन्ध करता हुआ (अपने से) नीचों-नीचों का त्याग करता हुआ ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है तथा इसके विरुद्ध आचरण करता हुआ शूद्रता को पाता है ॥२४५॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ।।२४६।।

भाष्य—कर्तव्येषु दृढनिश्चयो **दृढकारी** । यत्करोति तदवश्यं समापयति न पुनः कार्यमारभ्यासमाप्य निवर्तते । नानवस्थित इत्यर्थः । तदुक्तं "प्रारब्धस्यान्तगमनम्" ।

मृदुरनिष्ठुरः ।

क्रूराचारैः स्तेनादिभिर्न सम्बन्धः । तैः सह सम्बन्धमकुर्वन् ।

तथा **दमदानाभ्यां स्वर्गं जये**त्प्राप्नुयात् ।

तथाव्रतः । एतद्व्रतं नियमं धारयन् । दमस्य पृथगुपादानाद्दान्तो द्वन्द्वसहिष्णु-र्द्रष्टव्यः ॥२४६॥

हिन्दी—दृढकर्ता (विघ्नादि के आने पर भी प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा करने वाला) निष्ठुरता से रहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वों को सहने वाला, क्रूर आचरण वालों का साथ नहीं करता हुआ, अहिंसक जैसा व्रत (नियम, यम इन्द्रिय संयम तथा दानादि) करने वाला स्वर्ग को जीत लेता (प्राप्त करता) है ॥२४६॥

काष्ठ अन्न आदि सबसे ग्राह्य—

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ।। २४७।।

भाष्य—एध इन्धनं काष्ठादि । **अन्नं** पक्वमामं वा । **अभ्युद्यत**मभिमुखमुपनीतम् । एतत्सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यम् । पतिताभिशस्तचाण्डालादिप्रतिलोमवर्जं शूद्रादन्यस्माद्वा ईषत्पापकर्मणः ।

मधु माक्षिकम् ।

अभयं दक्षिणेव । दृष्टान्तार्थमेतत् । प्रतिग्रहो हि परकीयस्य द्रव्यस्य तदिच्छया स्वीकारो न चान्नरूपता । न ह्यत्र कस्यचित्स्वाम्यं निवर्तते न च कस्यचिदुपजायते । अतः स्तुत्या दक्षिणाशब्दप्रयोगः । यथा चण्डालादिभ्योऽप्यरण्ये कान्तारे वा रक्षा **चौरादि**भ्योऽङ्गीक्रियमाणा न दोषायैवमेतदेधादि गृह्यमाणं न दोषाय ।

अनापदि चायं विधिः । आपदि तु चण्डालादिभ्योऽपि वक्ष्यति ।

अभ्युद्यतशब्दश्चान्नेनैव सह सम्बध्यते प्रत्यासत्त्या, नैधादिभिः । अत एधादिषु याञ्चाऽविरुद्धा ।

"धार्मिकेभ्यो द्विजातिभ्यः कर्तव्यस्तु परिग्रहः" इत्यधार्मिकेभ्यो द्विजेभ्यः शूद्राच्चाप्राप्तः । इष्यते च द्रव्यविशेषोपयाञ्चा । तदर्थमिदम् ।।२४७।।

हिन्दी—लकड़ी, जल, मूल, फल बिना माँगे आया हुआ अन्न, मधु, (शहद) और अभयदान (अपने रक्षार्थ) सबसे ग्रहण करे ।।२४७।।

विमर्श—याज्ञवल्क्य के[1] वचनानुसार उक्त वस्तु कुलटा, नपुंसक, पतित और शत्रु को छोड़कर बाकी सबसे ग्रहण करना चाहिये । अन्न-मनूक्त (४।२२६) वचन के अनुसार वृत्ति के अभाव में शूद्र का अन्न कच्चा हो और केवल एक रात भोजन करने योग्य ही लेना चाहिये । आत्मरक्षा रूप अभयदान तो चण्डाल से भी ग्रहण करना चाहिये ।

पापियों की भिक्षा लेने की मर्यादा—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ।। २४८।।

---

१. कुशं शाकं पयोमत्स्या, गन्धाः पुष्पं दधिक्षितिः ।
मांसं शय्यासनं धाना प्रत्याख्येयं न वारि च ।।
अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।
अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः ।।
देवताऽतिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव च ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ।। इति।। (या० स्मृ० २।२१४-२१६)

भाष्य—एधादतिरेकेण यदन्यद्द्रव्यं तस्याप्यनेन विशेषेण ग्राह्यतोच्यते।

भिक्षाशब्दश्च प्रशंसायां प्रयुक्तो न भिक्षैव विवक्षिता। यद्यप्ययं सिद्धान्नाल्पतावचनः। भिक्षा किल स्वल्पत्वान्नातीव दोषावहा। ब्रह्मचारिणश्च सार्ववर्णिकी विहिता। एवमन्यदप्यनेन विशेषेण तत्तुल्यं दृष्टम्। भिक्षाशब्दस्येवंविधार्थविवक्षया प्रयोगः।

तथाहि महाभारते (१।२०६१)

"गत्वा ह्युभौ भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तौ याज्ञसेनीं परमप्रतीतौभिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ" ॥ इति ॥

आहृतोपहृता तं देशमानीता यत्र प्रतिग्रहीता स्थितः। **अभ्युद्यता**ऽग्रे स्थापिता वचनेनेङ्गितेन वा गृह्यतामिति निवेदिता। **पुरस्तात्**पूर्वमप्रचोदिताऽयाचिता प्रतिग्रहीत्रा। स्वयं परमुखेन वा दात्रा पूर्वं नोक्तमिदं मे द्रव्यमस्ति तत्प्रसादमाश्रित्य गृह्यतामिति केवलमतर्कितोपपादिता तत्काल एव दर्शिताभिप्राया।

तादृशीं **भिक्षां प्रजापति**र्हिरण्यगर्भो **मेने** मन्यते स्म। किमिति दुष्कृतकर्मणोऽपि सकाशाद्ग्राह्येति। दुष्कृतं पापं कर्म यस्यासौ दुष्कृतकर्मा ॥२४८॥

हिन्दी—दान लेने वाले के पास सामने रक्खी हुई, स्वयं (दान लेने वाले के द्वारा) अथवा अन्य किसी के द्वारा प्रेरणा करके नहीं मँगायी गयी और 'आप (दान लेने वाले) को अमुक वस्तु, अमुक प्रमाण या अमुक समय में दूँगा' इस प्रकार दाता के द्वारा पहले नहीं कही हुई भिक्षा वस्तु (हिरण्य आदि) पापियों (पतित रहित) से भी लेनी चाहिये; ऐसा ब्रह्मा मानते हैं ॥२४८॥

उक्त भिक्षा न लेने में दोष—

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दशवर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥२४९॥

भाष्य—अथाग्रहणनिन्दार्थवादः। अथ यो यत्रैतामवधीरयति **तस्य पितरः** श्राद्धं **नाश्नन्ति** न प्रतीच्छन्तीति। **अग्निश्च** देवेभ्यो **हव्यं न वहति**। पित्र्याद्दैवाच्च कर्मणो न फलं लभ्यत इत्यर्थः।

अत्र कश्चिदाह। "अनुपयुज्यमानमपि दातुरनुग्रहार्थमवश्यमीदृशं ग्रहीतव्यम्"।

तत्त्वयुक्तम्। निर्दोषताऽस्यायाचितप्रतिग्रहस्योच्यते। प्रतिप्रसवो ह्ययम्। प्रतिषिद्धस्य च प्रतिप्रसवो भवति। लौकिक्या चार्थितया प्राप्तिः प्रतिषिद्धा सैव प्रतिप्रसूयते ॥२४९॥

हिन्दी—जो उस (४।२४८) भिक्षा को अपमानित करता (नहीं लेता) है, उससे दिये गये कव्य (श्राद्धान्न) को पन्द्रह वर्ष तक पितर लोग नहीं लेते और अग्नि हव्य (आहुति में दिया गया हविष्यान्न) को नहीं लेती ॥२४९॥

काष्ठ अन्न आदि सबसे ग्राह्य—

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ।।२४७।।

भाष्य—एध इन्धनं काष्ठादि । **अन्नं** पक्वमामं वा । **अभ्युद्यत**मभिमुखमुपनीतम् । एतत्सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यम् । पतिताभिशस्तचाण्डालादिप्रतिलोमवर्जं शूद्रादन्यस्माद्वा ईषत्पापकर्मणः ।

मधु माक्षिकम् ।

अभयं दक्षिणेव । दृष्टान्तार्थमेतत् । प्रतिग्रहो हि परकीयस्य द्रव्यस्य तदिच्छया स्वीकारो न चात्ररूपता । न ह्यत्र कस्यचित्स्वाम्यं निवर्तते न च कस्यचिदुपजायते । अतः स्तुत्या दक्षिणाशब्दप्रयोगः । यथा चण्डालादिभ्योऽप्यरण्ये कान्तारे वा रक्षा **चौरादि**भ्योऽङ्गीक्रियमाणा न दोषायैवमेतदेधादि गृह्यमाणं न दोषाय ।

अनापदि चायं विधिः । आपदि तु चण्डालादिभ्योऽपि वक्ष्यति ।

अभ्युद्यतशब्दश्चान्नेनैव सह सम्बध्यते प्रत्यासत्त्या, नैधादिभिः । अत एधादिषु याञ्चाऽविरुद्धा ।

"धार्मिकेभ्यो द्विजातिभ्यः कर्तव्यस्तु परिग्रहः" इत्यधार्मिकेभ्यो द्विजेभ्यः शूद्राच्चाप्राप्तः । इष्यते च द्रव्यविशेषोपयाञ्चा । तदर्थमिदम् ॥२४७॥

हिन्दी—लकड़ी, जल, मूल, फल बिना माँगे आया हुआ अन्न, मधु, (शहद) और अभयदान (अपने रक्षार्थ) सबसे ग्रहण करे ॥२४७॥

विमर्श—याज्ञवल्क्य के[१] वचनानुसार उक्त वस्तु कुलटा, नपुंसक, पतित और शत्रु को छोड़कर बाकी सबसे ग्रहण करना चाहिये । अन्न-मनूक्त (४।२२६) वचन के अनुसार वृत्ति के अभाव में शूद्र का अन्न कच्चा हो और केवल एक रात भोजन करने योग्य ही लेना चाहिये । आत्मरक्षा रूप अभयदान तो चण्डाल से भी ग्रहण करना चाहिये ।

पापियों की भिक्षा लेने की मर्यादा—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ।।२४८।।

---

१. कुशं शाकं पयोमत्स्या, गन्धाः पुष्पं दधिक्षितिः ।
मांसं शय्यासनं धाना प्रत्याख्येयं न वारि च ॥
अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।
अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥
देवताऽतिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव च ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ इति॥ (या० स्मृ० २।२१४-२१६)

भाष्य—एधादतिरेकेण यदन्यद्द्रव्यं तस्याप्यनेन विशेषेण ग्राह्यतोच्यते ।

भिक्षाशब्दश्च प्रशंसायां प्रयुक्तो न भिक्षैव विवक्षिता । यद्यप्ययं सिद्धान्नाल्पतावचनः । भिक्षा किल स्वल्पत्वान्नातीव दोषावहा । ब्रह्मचारिणश्च सार्ववर्णिकी विहिता । एवमन्यदप्यनेन विशेषेण तत्तुल्यं दृष्टम् । भिक्षाशब्दस्यैवंविधार्थविवक्षया प्रयोगः ।

तथाहि महाभारते (१।२०६१)

"गत्वा ह्युभौ भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।

तौ याज्ञसेनीं परमप्रतीतौभिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ" ॥ इति ॥

आहृतोपहृता तं देशमानीता यत्र प्रतिग्रहीता स्थितः । **अभ्युद्यता**ऽग्रे स्थापिता वचनेनेङ्गितेन वा गृह्यतामिति निवेदिता । **पुरस्तात्**पूर्वमप्रचोदिताऽयाचिता प्रतिग्रहीत्रा । स्वयं परमुखेन वा दात्रा पूर्वं नोक्तमिदं मे द्रव्यमस्ति तत्प्रसादमाश्रित्य गृह्यतामिति केवलमतर्कितोपपादिता तत्काल एव दर्शिताभिप्राया ।

तादृशीं **भिक्षां प्रजापति**र्हिरण्यगर्भो **मेने** मन्यते स्म । किमिति दुष्कृतकर्मणोऽपि सकाशाद्ग्राह्येति । दुष्कृतं पापं कर्म यस्यासौ दुष्कृतकर्मा ॥२४८॥

हिन्दी—दान लेने वाले के पास सामने रक्खी हुई, स्वयं (दान लेने वाले के द्वारा) अथवा अन्य किसी के द्वारा प्रेरणा करके नहीं मँगायी गयी और 'आप (दान लेने वाले) को अमुक वस्तु, अमुक प्रमाण या अमुक समय में दूँगा' इस प्रकार दाता के द्वारा पहले नहीं कही हुई भिक्षा वस्तु (हिरण्य आदि) पापियों (पतित रहित) से भी लेनी चाहिये; ऐसा ब्रह्मा मानते हैं ॥२४८॥

उक्त भिक्षा न लेने में दोष—

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दशवर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ।। २४९ ।।

भाष्य—अथाग्रहणनिन्दार्थवादः । अथ यो यत्रैतामवधीरयति **तस्य पितरः** श्राद्धं **नाश्नन्ति** न प्रतीच्छन्तीति । **अग्निश्च** देवेभ्यो **हव्यं न वहति** । पित्र्याद्दैवाच्च कर्मणो न फलं लभ्यत इत्यर्थः ।

अत्र कश्चिदाह । "अनुपयुज्यमानमपि दातुरनुग्रहार्थमवश्यमीदृशं ग्रहीतव्यम्" ।

तत्त्वयुक्तम् । निर्दोषताऽस्यायाचितप्रतिग्रहस्योच्यते । प्रतिप्रसवो ह्ययम् । प्रतिषिद्धस्य च प्रतिप्रसवो भवति । लौकिक्या चार्थितया प्राप्तिः प्रतिषिद्धा सैव प्रतिप्रसूयते ॥२४९॥

हिन्दी—जो उस (४।२४८) भिक्षा को अपमानित करता (नहीं लेता) है, उससे दिये गये कव्य (श्राद्धान्न) को पन्द्रह वर्ष तक पितर लोग नहीं लेते और अग्नि हव्य (आहुति में दिया गया हविष्यान्न) को नहीं लेती ॥२४९॥

वैद्य आदि से भिक्षा मिलने पर—

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः ।
षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत् ।।१८।।]

[**हिन्दी**—वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, सूदखोर, नपुंसक और कुलटा स्त्री की भिक्षा बिना मांगे सामने आवे, तो भी नहीं लेवे ॥१८॥]

[न विद्यमानमेवं वै प्रतिग्राह्यं विजानता ।
विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः ।।१९।।]

[**हिन्दी**—अपने यहाँ वस्तु के रहने पर ज्ञानपूर्वक उक्त भिक्षा नहीं लेवे और अपने यहाँ नहीं रहने पर विकल्प कर लेने से धर्महीन हो जाता है ॥१९॥]

बिना माँगे शय्या आदि लेने का अनिषेध—

शय्यां गृहान्कुशान्गान्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ।।२५०।।

भाष्य—शय्यादीन्यानाहृतान्यपि **न निर्णुदेन्न** प्रत्याचक्षीत । यदि गृहेऽवस्थितानि द्रव्याणि कैश्चिदुच्यते चेदमिदमाहराम्येतत्प्रतीक्ष्यतां तदा न प्रत्याख्येयानि ॥२५०॥

हिन्दी—शय्या, घर, कुशा गन्ध (चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी आदि), जल, फूल, मणि (रत्न-जवाहरात), दही, दाना (भूने हुए जौ या चावल), मछली, दूध, मांस और शाक; ये यदि बिना माँगे गृहपर दाता लावे तब इनको मना न करे (ले लेवे) ॥२५०॥

गुरु आदि के लिए भिक्षाग्रहण—

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ।।२५१।।

भाष्य—गुरव उपदेशातिदेशैर्बहवः । **भृत्या** आश्रिताः स्मृत्यन्तरे तु संख्याताः— "वृद्धौ तु मातापितरौ भार्या साध्वी सुतः शिशुः" । तानुद्धर्तुमिच्छुः क्षुधावसन्नान् । **देवतातिथींश्चार्चिष्यन्नि**त्यकर्मसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्साधुभ्योऽसाधुभ्यश्च ।

न तु तृप्येत्स्वयं ततः । 'तृप्तिः' क्षुन्निवृत्तिरुपभोगश्च, तन्न कुर्यात् । गुर्वादिप्रयोजन-मेव तद्ग्रहीतव्यं न त्वात्मार्थम् ॥२५१॥

कथं तर्ह्यात्मा यापयितव्योऽत आह—

हिन्दी—क्षुधा-पीड़ित गुरु (माता, पिता, उपाध्यायादि गुरुजन) और भृत्य (तथा स्त्री का उद्धार) (उन्हें भिक्षान्न द्वारा सन्तुष्ट) अर्थात् क्षुधा-निवृत्त करने तथा देवता आदि की पूजा करने के लिये (पतित को छोड़) सबसे भिक्षा ग्रहण करे; किन्तु उस भिक्षा वस्तु

से स्वयं सन्तुष्ट न हो अर्थात् उस भिक्षा वस्तु को अपने काम में न लावे ॥२५१॥

अपने लिये सज्जनों से भिक्षा ग्रहण—

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात्साधुतः सदा ।।२५२।।

भाष्य—अभ्यतीतेष्वतीतेषु विना वा तैर्जीवन्तोऽपि यदि पृथग्वसन्ति । गुरुग्रहणं सर्वेषां च भृत्यानामपि प्रदर्शनार्थम् ।

आत्मनो वृत्तिं जीवनं प्रतीच्छन्नर्थयमानः **साधुभ्यो** धार्मिकेभ्यः प्रति**गृह्णीयात्** । जातेरत्रानुपादानाच्छूद्रादपि धार्मिकादस्ति परिग्रहः । तदुक्तं "नाद्याच्छूद्रस्य" इत्यादि (४।२२३)॥२५२ ॥

हिन्दी—गुरु (माता-पितादि गुरुजन) के स्वर्गवास हो जाने पर या (उनके संन्यास आदि लेने के कारण जीते रहने पर भी) उनसे अलग गृह में रहता हुआ अपनी वृत्ति की इच्छा करता हुआ सर्वदा सज्जनों से भिक्षा को ग्रहण करे ॥२५२॥

अन्न भोजन करने योग्य शूद्र—

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ।।२५३।।

भाष्य—अर्धसीरी **अर्धिकः** कुटुम्बीं भूमिकर्षक इति य उच्यते । **गोपाल-दासौ** सम्बन्धिशब्दौ । यो यस्य गाः पालयति स तस्य भोज्यान्नः ।

यश्चात्मानं निवेदयेत् । अहं त्वच्छरणः त्वयि विश्रब्धो वत्स्यामीत्येवं य आत्मान-मर्पयति सोऽपि भोज्यान्नः ॥२५३॥

हिन्दी—खेती करने वाला, वंश का मित्र, गोपाल, दास, नाई और जिसने अपने को समर्पण कर दिया है; शूद्रों में ये भोज्यान्न हैं (इन शूद्रों के अन्न का भोजन करना अनिषिद्ध है) ॥२५३॥

विमर्श— उक्त सभी शब्द सम्बन्ध-परक हैं। अतः जो अपने यहाँ खेती का कार्य करे, जो अपने वंश का मित्र हो, जो अपना चरवाहा या गौओं को खिलाने-पिलाने वाला हो, अपना नौकर हो, अपना नाई हो और 'मैं अपने को आपके लिये ही समर्पण करता हूँ' इस प्रकार जिसने 'आत्मसमर्पण' कर दिया हो, उन्हीं के यहाँ भोजन करना चाहिये, उक्त जातियों अथवा व्यवसायों के सब शूद्रों के यहाँ नहीं ।

शूद्रों का आत्मनिवेदन करना—

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ।।२५४।।

भाष्य—आत्मनिवेदनमेव व्यक्तीकरोति । **अस्य** शूद्रस्य **यादृश आत्मा भवेत्** यत्कुलीनो यद्देशो यच्छिल्पश्च । **यच्चिकीर्षितम्** । अनेककार्येण त्वामहमाश्रितो धर्मेण अन्येन वा प्रयोजनेन राजकुलरक्षादिना । **यथा वोपचरे**च्छिल्पेनानेन त्वां सेवे पादवन्दनादि गृहकृत्यकरत्वे सर्वस्मिन्निवेदित आत्मा निवेदितो भवति ।

अन्ये तु "आत्मा वै पुत्रनामासि" इत्यपत्यवचनमात्मशब्दं मन्यमाना: यस्य शूद्रस्य कामत: प्रवृत्ता दुहिता विवाह्यते तस्यानेन भोज्यान्नतोच्यत इत्याहु: ।

तदयुक्तम् । न तावदयमात्मशब्दो दुहितरि विस्पष्टं प्रयुक्त: । पुत्रशब्दो हि पुंस्येव प्रसिद्धतर: । न च परोक्षशब्दोपदेशेन किंचित्प्रयोजनम् । एतावदेव वक्तुं युक्तं 'दद्याद्दुहितरं च य' इति ।

अन्ये त्वार्धिकादिग्रहणं शूद्रोपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । तेन पारशवस्य श्वशुरस्य च भोज्यान्नता सिद्धा भवति ॥२५४॥

हिन्दी—इस (शूद्र) की जैसी आत्मा (कुल-शीलादि = मर्यादा का स्वरूप) हो, जैसा अभीष्ट कर्त्तव्य हो और जैसे इसकी सेवा करनी हो; वैसे अपने को निवेदन (आत्म-समर्पण) कर दे ॥२५४॥

आत्मसमर्पण में असत्य भाषण से दोष—

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ।। २५५।।

भाष्य—**अन्यथा**भूतमधार्मिकं **सन्तं सत्सु** शिष्टेष्व**न्यथा भाषते** धार्मिकोऽह-मिति । अन्येन वा प्रयोजनेन चाश्रितोऽन्यद् दर्शयति स सर्वेषां पापकृतामधिकतम: पापकृत् ।

स्तेनश्चौर: ।

आत्मापहारकोऽन्यश्चौरो द्रव्यमपहरत्ययं पुनरात्मानमेवेति निन्दातिशय: ॥२५५॥

हिन्दी—जो स्वयं अन्यथा होते हुए सज्जनों से उसके विपरीत (झूठा) बतलाता है, वह संसार में बड़ा पापी और चोर है; क्योंकि वह आत्मा को अपहरण करने वाला है ॥२५५॥

विमर्श—आत्मापहारक— सामान्य चोर लोगों की सम्पत्ति आदि चुराकर संसार में पापी होता है; किन्तु जो आत्मा (अपने कुलशील के स्वरूप) की चोरी करता अर्थात् छिपाता है वह संसार में बड़ा पापी होता है ॥

असत्यभाषी सर्वापहारक—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ।।२५६।।

भाष्य—शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धाद्वाचि शब्देऽर्था **नियता** उच्यन्ते ।

वाङ्मूला वक्तुः स्वाभिप्रायप्रकाशनस्य तदधीनत्वात्तन्मूला उच्यन्ते । वाचो **विनिःसृताः** संभूताः श्रोतुरपि प्रतिपत्तेस्तत्तुल्यत्वाद्**वाग्विनिःसृता** उच्यन्ते ।

न चात्र पौनरुक्त्याशङ्कापरिहारे प्रयतितव्यम् । अनुवादत्वादस्य यथाकथंचिद्वस्तु-परिहारत्वात् ।

तां वाचं यश्चोरयति मुष्णात्यन्यदुक्त्वाऽन्यदनुतिष्ठत्यन्येनाभिप्रायेण सङ्गच्छतेऽन्यच्च दर्शयति **स सर्वस्तेयकृत्** । नास्ति तदद्रव्यं सुवर्णादि यत्तेन नापहृतं भवतीति निन्दार्थवादोऽनृतवचनस्य ।।२५६।।

हिन्दी—वचन (शब्द) में सब अर्थ निश्चित है और वचन से ही सबका (प्रतीति द्वारा) ज्ञान होता है । जो मनुष्य उस वचन को चुराता (कपटपूर्वक छिपाकर कहता) है, वह सब कुछ का चोर समझा जाता है ।।२५६।।

विमर्श— मनु भगवान् के वचनानुसार (१।९१) द्विजाति मात्र की सेवा करना ही शूद्र का एकमात्र कर्तव्य है, अत एव किसी धनिक के यहाँ जब कोई शूद्र नौकरी आदि के लिए जाता है, तब उसे अपने कुल, मर्यादा, आचार-विचार आदि का परिचय देना आवश्यक होता है । उस समय यदि कोई अपनी जीविका प्राप्ति के लिये असत्य भाषण कर उस धनिक सज्जन के यहाँ जीविका प्राप्त भी कर लेगा तो वास्तविकता का पता लगने पर उस नौकर पर से विश्वास उठ जायेगा तथा लगी हुई जीविका से भी उसे हाथ धोना पड़ेगा। अत एव अपने कुलादि का परिचय सच्चा ही देना चाहिये, इसी विषय को इन (४।२५४-२५६) वचनों में मनु भगवान् ने कहा है । साथ ही ये वचन यद्यपि 'शूद्र' के द्वारा 'आत्मसमर्पण' प्रकरण को लेकर कहे गये हैं, तथापि सामान्यतः सब वर्णों के लिए लागू होते हैं, जिस कार्य के करने (कुलशीलादि के सम्बन्ध में असत्य भाषण करने) से शूद्र तक को भी पाप-भागी होना पड़ता है, उस कार्य के करने से द्विजाति को तो अधिक पाप-भागी होना पड़ेगा, यह निश्चित सिद्धान्त है। अत एव मनुष्य मात्र को जीविका प्राप्ति के लिए अपने कुल आदि को नहीं छिपाना चाहिए ।।

योग्य पुत्र में गृह-कार्य का समर्पण—

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमास्थितः ।।२५७।।

भाष्य—गृहस्थस्यैवेदं प्रकारान्तरमुच्यते।

महर्षीणामानृण्यं स्वाध्यायेन पितृणामपत्योत्पादनेन देवानां यज्ञैर्यथोक्तं "त्रिभिर्ऋणै-र्ऋणवा" इति **गत्वा** कृत्वैतत्त्रयं **पुत्रे** प्राप्तव्यवहारे सर्वगृहकुटुम्बव्यवहारं **समासज्य** संन्यस्य वसेद् गृह एव।

माध्यस्थ्यमास्थितस्त्यक्तहङ्कारः। इदं मे धनमिदं मे पुत्रदारमिदं मे दासीदासमिति स्वबुद्धिं सन्त्यज्यासीत। नाहं कस्यचिन्न कश्चिन्ममेति त्यक्तस्वतृष्णता **माध्यस्थ्यम्**।

अयं च संन्यासः काम्यानां च दृष्टानां च कर्मणां, न सर्वेषाम्। उत्तरत्र दर्श-यिष्यामः॥२५७॥

हिन्दी—विधिपूर्वक महर्षि, पितर और देवताओं के ऋण से छुटकारा पाकर सब (गृह कार्यभार) पुत्र को देकर माध्यस्थ्यभाव धारण कर (धन-धान्य तथा पुत्रादि परिवार में ममता से रहित होकर घर में ही) रहे ॥२५७॥

विमर्श—वेद के स्वाध्याय से महर्षियों के, श्राद्ध से पितरों के और यज्ञों से देवों के ऋण से मनुष्य छुटकारा पा जाता है। संन्यास का यह प्रकार गृहस्थ के लिए है। विशेष प्रकार छठे अध्याय में कहेंगे।

ब्रह्मचिन्तन—

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनि।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥२५८॥

भाष्य—कृते सर्वकर्मसंन्यास इदं तस्य विशेषतः कर्तव्यम्।

एकाक्यसहायः सन्नविद्यमानसम्भाषणोऽनाकुले **विविक्ते** निर्जने रहसि **चिन्तये**-द्ध्याये**द्धितमात्मन्यु**पनिषत्सु या ब्रह्मोपासना विहितास्ता अभ्यस्येत्।

तच्चिन्तया तदभ्यासे **परं श्रेयो** मोक्षाख्य**मधिगच्छति** प्राप्नोति॥२५८॥

हिन्दी—(अभीप्सित कर्म तथा धनोपार्जन आदि की चिन्ता को छोड़कर पुत्र से भोजनादि को पाता हुआ) एकान्त स्थान में अकेला ही अपने हित (जीविका ब्रह्मरूप हो जाने) का ध्यान करता रहे; क्योंकि अकेला ही (जीव के ब्राह्मभाव में परिणाम को चिन्तन करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ कल्याण) (मोक्ष) को प्राप्त करता है॥२५८॥

अध्याय का उपसंहार—

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः॥२५९॥

भाष्य—अध्यायार्थोपसंहारः।

एषा वृत्तिर्विप्रस्य गृहस्थस्योक्ता ।

शाश्वती नित्या । अनित्या त्वापदि या वक्ष्यते ।

विप्रग्रहणाद्ब्राह्मणस्यैव **स्नातकव्रतानां कल्पो विविधः** ।

सत्त्वं नामात्मगुणस्तस्य **वृद्धिकरः** ।

शुभः प्रशस्तः ।

प्रशंसैषा ॥२५९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि)—यह गृहस्थ ब्राह्मण के नित्य वृत्ति (आपात्तिकालिक, वक्ष्मयाण अनित्य वृत्ति से भिन्न ऋतादि वृत्ति) सत्त्वगुण की वृद्धि करने वाला शुभ स्नातकों के व्रतविधान को (मैंने तुम लोगों से) कहा ॥२५९॥

उक्त वृत्ति के आचरण से ब्रह्मलोक की प्राप्ति—

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ।। २६० ।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

भाष्य—सर्वस्यास्य फलकथनमेतत् ।

अनेन विप्रो वर्तयन्वर्तमानो **वेदशास्त्रविद्व्य**पेतकल्मषः प्रतिषेधापराधजं पापं **कल्मषं** तद्व्यपेतं व्यपनीतं प्रायश्चित्तैः । तेनैतदुक्तं भवति । विहितकरणात्प्रतिषिद्धस्यानासेवनात्कथंचित्कृतस्य प्रायश्चित्तैर्निष्क्रीतत्वात् । **ब्रह्मलोके महीयते** ब्रह्मलोके स्थानविशेषे महिमानं प्राप्नोति ।

दर्शनान्तरं ब्रह्मरूपः सम्पद्यत इति सिद्धम् ॥२६०॥

इति श्री भट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

हिन्दी—इस वृत्ति से आचरण करता हुआ, वेद-शास्त्र का ज्ञाता ब्राह्मण पाप रहित होकर सर्वदा ब्रह्म में विलीन होकर उत्कृष्टता को प्राप्त करता है ॥२६०॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् वृत्तिर्गृहिव्रतानि च ।
अन्नपूर्णाप्रसादेन चतुर्थे पूर्णतामयुः ।।४।।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः ।।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ।। १ ।।

भाष्य—ब्रह्मचारिगृहस्थयोरध्यायत्रयेण ये धर्मा विहितास्तांश्च**छ्रुत्वा ऋषयो** मरीच्यादयो **भृगु**माचार्य**मिदं** वक्ष्यमाणं वस्त्व**ब्रुवन्** पृष्टवन्तः ।

"ननु चात्र स्नातकस्येति श्रूयते । तत्र ब्रह्मचारिग्रहणं किमर्थम्?"

उच्यते । वृत्तसंकीर्तनमेतत् । ब्रह्मचारिणो धर्मा उक्ता एव ।

महात्मानमनलप्रभवमिति च भृगुविशेषणम् । अनलादग्नेः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तम् । "ननु प्रथमेऽध्याये 'अहं प्रजाः सिसृक्षुः' इत्यत्र मनोरपत्यं भृगुरुक्तः" ।

सत्यम् । अर्थवादः । अमुत्र अग्नेः सकाशाद्भृगोर्जन्म श्रुतं तद्दर्शनेनैवमुक्तम् तथा च नामनिर्वचनम् । "भ्रष्टाद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् यद्द्वितीयमासीत्तद्भृगुरिति" ।

उपचारतो वैतदुच्यते । तेजस्वितासामान्यादग्नेरिव प्रसव इति ।

न चात्राभिनिवेष्टव्यं कतरः पक्षो युक्त इति । अनिदंपरत्वादस्य शास्त्रस्य ।

सर्व एवायं प्रश्नप्रतिवचनसन्दर्भो वक्ष्यमाणस्यान्नदोषस्य गौरवज्ञापनार्थः । परिग्रहदुष्टादन्नस्वभावदुष्टं गुरुतरमिति । सम्बन्धिदोषात्स्वरूपदोषो बलवानन्तरङ्गत्वात् ।

"ननु च पूर्वं बहुतरं प्रायश्चित्तं श्रूयते 'अमत्या क्षपणं त्र्यहमिति' । **इह तु** 'शेषेषूपवसेदहरिति' । तत्कथमस्य गुरुतरत्वम्?" ।

उच्यते । लशुनाद्यपेक्षमेतत् । तेषु हि 'मत्या जग्ध्वा पते'दिति पतितप्रायश्चित्तं भवति ॥१॥

हिन्दी—स्नातकों के लिये यथावत् कथित इस (चतुर्थाध्यायोक्त) धर्मों को सुनकर ऋषियों ने अग्नि से उत्पन्न भृगु मुनि से यह कहा— ॥१॥

विमर्श— पहले (१।३५ में) मनुसे भृगु मुनि की उत्पत्ति कही गई है तथा इस श्लोक में उसी भृगु मुनि की उत्पत्ति अग्नि से बतलाई गई है। अतः उभय वचनों के

पूर्वापर विरोध का कल्पभेद से परिहार करना चाहिए। इसमें वेदवचन भी प्रमाण है[१] तथा उसी के आधार पर 'भ्रष्टाद्रेतस उत्पद्यत इति भृगुः' (गिरे हुए वीर्य से उत्पन्न होने वाला 'भृगु') का यह विग्रह भी संगत होता है।

महर्षियों का मनुष्य की मृत्यु का कारण पूछना—

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ।।२।।

भाष्य—यन्महर्षिभिः पृष्टं तदिदानीं दर्शयति।

एवमिति शास्त्रव्यापारपरामर्शः। **यथोक्तमिति** शास्त्रार्थं परामृशति।

एतेन शास्त्रसन्दर्भेण यादृशो धर्म उक्तस्तत्पुनस्तमनुतिष्ठतां द्विजातीनाम्। 'विप्र'ग्रहणस्य दर्शनार्थत्वाद्वक्ष्यति (श्लो० २६) "एतदुक्तं द्विजातीनामिति"।

कथं मृत्युः प्रभवति— स्नातकावस्थायां ब्रह्मचर्यावस्थायां वा। यतः परिपूर्णायुर्भिस्तैर्भवितुं युक्तं पुरुषायुषजीविभिः। शतवर्षं पुरुषाणामायुस्ततः पुराऽपमृत्युना मरणमेषां न युक्तम्। यत उक्तम् "आचाराल्लभते ह्यायुः" (४।१५६) "जपतां जुह्वतामिति" (४।१४६) ।।२।।

हिन्दी—हे प्रभो ! इस प्रकार यथायोग्य कहे गये तथा वेदशास्त्रज्ञाता अपने धर्म का आचरण करते हुए ब्राह्मणों की मृत्यु कैसे होती है? ।।२।।

भृगु का महर्षियों के प्रश्न का उत्तर देना—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ।।३।।

हिन्दी—धर्मात्मा एवं मनु के पुत्र भृगु जी ने उन महर्षियों से कहा— जिस दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है, (उसे) आप लोग सुनिये ।।३।।

ब्राह्मणों की मृत्यु में वेदानभ्यास आदि कारण—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ।।४।।

भाष्य—"ननु च स्वधर्ममनुतिष्ठतामिति प्रश्नेन युक्तं 'येन दोषेणेति' उत्तरश्च ग्रन्थो नैवोपपद्यते"।

---

१. तथा च श्रुतिः— 'तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवद्, यद्द्वितीयमासीत् भृगुः' इति (म० मु०)।

उच्यते। **अनभ्यासेनेत्या**दिदृष्टान्तत्वेनोच्यते। यथा भवद्भिः प्रतिपन्ना वेदानभ्यासादयः पुरायुषो मरणहेतवः, एवं वक्ष्यमाणोऽन्नदोषः। सत्स्वपि वेदाभ्यासादिषु न तावत्स्वधर्मो यः पूर्वत्र कथितः, किं त्वयमन्नदोषो गरीयस्तरः। पृथक् प्रकरणाच्चैतदभिधीयते ॥४॥

हिन्दी—वेदों का अभ्यास नहीं करने से, आचार के त्याग से; आलस्य से और अन्न (भोज्य पदार्थ) के दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है ॥४॥

लहसुन आदि के भक्षण का निषेध—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥५॥

भाष्य—लशुनादयः पदार्था लोके प्रसिद्धा एव।

कवकशब्दो जातिशब्दः। क्वचित्कृयाकुरिति प्रसिद्धेऽर्थे मन्यते। छत्राकानि कवकान्येव। तथाहि कवकशब्देन प्रतिषिद्धं, छत्राकशब्देन प्रायश्चित्तं वक्ष्यति (श्लो० १९) "छत्राकं विड्वराहं चेति"। न च छत्राकं नाम पदार्थान्तरं प्रसिद्धम्। न चाक्षरवर्णसामान्येन यो यच्छत्राकारस्तं तं छत्राकमिति युक्तं प्रतिपत्तुम्। तथा सति सुवर्चलादीनां समाचारविरोधी प्रतिषेधः प्राप्नोति। तस्माद्यान्येव कवकानि तान्येव छत्राकाणि। तथा च निरुक्तकारः— "क्षुण्णमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुद्यत इति"। तेन यान्येतानि भूमावकृष्टायामनुपूर्वजायां च सितवर्णानि जायन्ते तानि च कवकानि। वक्ष्यति च "भौमानि कवकानीति"। दर्शितं च 'पदाक्षुण्णमिवेति'। पादप्रहारेण यानि क्षुद्यन्ते। तयो यानि वृक्षाद्गुल्माज्जायन्ते तेषां तदाकाराणामप्रतिषेधः।

कुकुण्डानि कवकानि वैद्यके व्याख्यातानि। एतच्च व्याख्यानं न गवादिशब्दवत्। शाके कवकशब्दो लोके प्रयुज्यते। अतोऽस्य समाचाराद्वैद्यकादिशास्त्रार्थे निश्चयः। प्रदर्शितश्चासौ।

लशुनादीनां तु समानवर्णगन्धा अपि विष्णुना प्रतिषिद्धाः पाराशरिकायां तु शब्देनैव निषेधः प्रायश्चित्तविशेषार्थ उक्तः "चान्द्रायणमिति" (अ० ११ श्लो० १०६)।

तेन लवतककर्णिकारादीनां प्रतिषेधः।

अमेध्यप्रभवान्यमेध्यजातानि च संसर्गजातानि।

अन्ये त्वाहुर्मूलवास्तूकवत्केवलामेध्यप्रभवानां युक्तः प्रतिषेधः। ततश्च यान्यधिकपुष्ट्यर्थं धान्यशाकादीन्यमेध्यक्षेत्रजातानि संसृज्यन्ते तानि न दुष्यन्तीति।

तदयुक्तम्। श्रुतेः सर्वस्याप्यभक्ष्यत्वात्। इहापि च यद्यमेध्यसंसर्गमन्तरेण न

किंचिद्वस्तूत्पद्यते ततः स्यादपि । यतस्तु किंचिन्मेध्याज्जायते किंचित्संसृष्टात्ततोऽयं प्रतिषेधः केवलेऽमेध्यप्रभवे, न संसृष्टे, अवतिष्ठते ।

मांसस्य सत्यपि शुक्रशोणितामेध्यप्रभवत्वे नायं प्रतिषेधः, पृथक्प्रकरणारम्भात्तस्य॥५॥

हिन्दी—लहसुन, सलगम (या लाल मूली, कोई गृञ्जन का गाजर भी अर्थ करते हैं), प्याज, छत्राक (भूकन्द-विशेष) और अपवित्र स्थान (श्मशानादि) में उत्पन्न शाक आदि द्विजातियों के लिए अभक्ष्य है ॥५॥

गोंद आदि के भक्षण का निषेध—

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पीयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ।।६।।

भाष्य—वृक्षकोटरस्रावेण हेत्वन्तरेण वा बहिर्यन्मूलस्कन्धफलपलाशशाखाकुसुमव्यतिरिक्तं वृक्षलग्नं जायते स **वृक्षनिर्यासः** ।

लोहितग्रहणात्कर्पूरादीनामप्रतिषेधः ।

व्रश्चनाच्छेदनाद्येषां प्रभवो जन्म । एवं वृक्षादेर्वल्कप्रदेशा ये तत्रैव जायन्ते तेषामलोहितानामप्रतिषेधः ।

शेलुः श्लेष्मातकः प्रसिद्धो वैद्यकादिशास्त्रेभ्यः । न तु सुतस्य क्षीरस्य सन्तानिका, अप्रसिद्धत्वात् । यत्तु "पीयूषसाहचर्यात्सन्तानिका युक्तेति",— भवति साहचर्यं विशेषहेतुरुभयत्र प्रयोगे सति, न पुनः साहचर्यमदृष्टप्रयोगाणां प्रयोगज्ञापकम् ।

गव्यं च । गव्यग्रहणान्माहिषादेरप्रतिषेधः । अनाद्यमग्निमात्रसंयोगात्पिण्डीभूतमनासक्तं च । सद्यःप्रसूताया गोः क्षीरं 'पीयूष'शब्देनोच्यते ।

"ननु च क्षीरस्य सविकारस्य दशाहं चाभक्ष्यतां वक्ष्यति । त्रिचतुराणि वाऽहानि तादृशं क्षीरं भवति" ।

सत्यम् । यदि कथंचित्कस्या अपि दशाहात्परेण भवति तदिदमर्थवत् ।

प्रयत्नेनेत्यादि पदद्वयं श्लोकपूरणार्थम् । अभक्ष्याणीत्यनुवर्तते ॥६॥

हिन्दी—पेड़ों का लाल गोंद तथा पेड़ों को काटने (त्वचा का कुछ अंश छिलने) से उत्पन्न गोंद, लसोड़ा और गाय का फेनुस; इनको (खाना) यत्नपूर्वक छोड़ दें ॥६॥

वृथा कृसर-मांसादि के भक्षण का निषेध—

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ।।७।।

भाष्य—अत्र **कृसरसंयावमिति** समाहारे द्वन्द्वः । तिलैः सह सिद्ध ओदनः

उच्यते । **अनभ्यासेनेत्या**दिदृष्टान्तत्वेनोच्यते । यथा भवद्भिः प्रतिपन्ना वेदानभ्यासादयः पुरायुषो मरणहेतवः, एवं वक्ष्यमाणोऽन्नदोषः । सत्स्वपि वेदाभ्यासादिषु न तावत्स्वधर्मो यः पूर्वत्र कथितः, किं त्वयमन्नदोषो गरीयस्तरः । पृथक् प्रकरणाच्चैतदभिधीयते ॥४॥

हिन्दी—वेदों का अभ्यास नहीं करने से, आचार के त्याग से; आलस्य से और अन्न (भोज्य पदार्थ) के दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है ॥४॥

लहसुन आदि के भक्षण का निषेध—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ।।५।।

भाष्य—लशुनादयः पदार्था लोके प्रसिद्धा एव ।

कवकशब्दो जातिशब्दः । क्वचित्कृयाकुरिति प्रसिद्धेऽर्थे मन्यते । छत्राकानि कवकान्येव । तथाहि कवकशब्देन प्रतिषिद्धं, छत्राकशब्देन प्रायश्चित्तं वक्ष्यति (श्लो० १९) "छत्राकं विड्वराहं चेति" । न च छत्राकं नाम पदार्थान्तरं प्रसिद्धम् । न चाक्षरवर्णसामान्येन यो यच्छत्राकारस्तं तं छत्राकमिति युक्तं प्रतिपत्तुम् । तथा सति सुवर्चलादीनां समाचारविरोधी प्रतिषेधः प्राप्नोति । तस्माद्यान्येव कवकानि तान्येव छत्राकाणि । तथा च निरुक्तकारः— "क्षुण्णमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुद्यत इति" । तेन यान्येतानि भूमावकृष्टायामनुपूर्वजायां च सितवर्णानि जायन्ते तानि च कवकानि । वक्ष्यति च "भौमानि कवकानीति" । दर्शितं च 'पदाक्षुण्णमिवेति' । पादप्रहारेण यानि क्षुद्यन्ते । तयो यानि वृक्षाद्गुल्माज्जायन्ते तेषां तदाकाराणामप्रतिषेधः ।

कुकुण्डानि कवकानि वैद्यके व्याख्यातानि । एतच्च व्याख्यानं न गवादिशब्दवत् । शाके कवकशब्दो लोके प्रयुज्यते । अतोऽस्य समाचाराद्वैद्यकादिशास्त्रार्थे निश्चयः । प्रदर्शितश्चासौ ।

लशुनादीनां तु समानवर्णगन्धा अपि विष्णुना प्रतिषिद्धाः पाराशरिकायां तु शब्देनैव निषेधः प्रायश्चित्तविशेषार्थ उक्तः "चान्द्रायणमिति" (अ० ११ श्लो० १०६) ।

तेन लवतककर्णिकारादीनां प्रतिषेधः ।

अमेध्यप्रभवान्यमेध्यजातानि च संसर्गजातानि ।

अन्ये त्वाहुर्मूलवास्तूकवत्केवलामेध्यप्रभवानां युक्तः प्रतिषेधः । ततश्च यान्यधिकपुष्ट्यर्थं धान्यशाकादीन्यमेध्यक्षेत्रजातानि संसृज्यन्ते तानि न दुष्यन्तीति ।

तदयुक्तम् । श्रुतेः सर्वस्याप्यभक्ष्यत्वात् । इहापि च यद्यमेध्यसंसर्गमन्तरेण न

किंचिद्वस्तूत्पद्यते ततः स्यादपि। यतस्तु किंचिन्मेध्याज्जायते किंचित्संसृष्टात्ततोऽयं प्रतिषेधः केवलेऽमेध्यप्रभवे, न संसृष्टे, अवतिष्ठते।

मांसस्य सत्यपि शुक्रशोणितामेध्यप्रभवत्वे नायं प्रतिषेधः, पृथक्प्रकरणारम्भात्तस्य॥५॥

हिन्दी—लहसुन, सलगम (या लाल मूली, कोई गृञ्जन का गाजर भी अर्थ करते हैं), प्याज, छत्राक (भूकन्द-विशेष) और अपवित्र स्थान (श्मशानादि) में उत्पन्न शाक आदि द्विजातियों के लिए अभक्ष्य है ॥५॥

गोंद आदि के भक्षण का निषेध—

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा।
शेलुं गव्यं च पीयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥६॥

भाष्य—वृक्षकोटरस्रावेण हेत्वन्तरेण वा बहिर्यन्मूलस्कन्धफलपलाशशाखाकुसुमव्यतिरिक्तं वृक्षलग्नं जायते स **वृक्षनिर्यासः**।

लोहितग्रहणात्कर्पूरादीनामप्रतिषेधः।

व्रश्चनाच्छेदनाद्येषां प्रभवो जन्म। एवं वृक्षादेर्वल्कप्रदेशा ये तत्रैव जायन्ते तेषामलोहितानामप्रतिषेधः।

शेलुः श्लेष्मातकः प्रसिद्धो वैद्यकादिशास्त्रेभ्यः। न तु सुतस्य क्षीरस्य सन्तानिका, अप्रसिद्धत्वात्। यत्तु "पीयूषसाहचर्यात्सन्तानिका युक्तेति",— भवति साहचर्यं विशेषहेतुरुभयत्र प्रयोगे सति, न पुनः साहचर्यमदृष्टप्रयोगाणां प्रयोगज्ञापकम्।

गव्यं च। गव्यग्रहणान्माहिषादेरप्रतिषेधः। अनाद्यमग्निमात्रसंयोगात्पिण्डीभूतमनासक्तं च। सद्यःप्रसूताया गोः क्षीरं 'पीयूष'शब्देनोच्यते।

"ननु च क्षीरस्य सविकारस्य दशाहं चाभक्ष्यतां वक्ष्यति। त्रिचतुराणि वाऽहानि तादृशं क्षीरं भवति"।

सत्यम्। यदि कथंचित्कस्या अपि दशाहात्परेण भवति तदिदमर्थवत्।

प्रयत्नेनेत्यादि पदद्वयं श्लोकपूरणार्थम्। अभक्ष्याणीत्यनुवर्तते ॥६॥

हिन्दी—पेड़ों का लाल गोंद तथा पेड़ों को काटने (त्वचा का कुछ अंश छिलने) से उत्पन्न गोंद, लसोड़ा और गाय का फेनुस; इनको (खाना) यत्नपूर्वक छोड़ दें ॥६॥

वृथा कृसर-मांसादि के भक्षण का निषेध—

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च॥७॥

भाष्य—अत्र **कृसरसंयावमिति** समाहारे द्वन्द्वः। तिलैः सह सिद्ध ओदनः

'कृसर'-शब्देनोच्यते। **संयावो** भोज्यविशेषः सर्पिर्गुडतिलादिकृतः पुरेषु प्रसिद्धः।

"ये तु यौतेर्मिश्रणार्थत्वाद्यानि मिश्रीकृत्यान्नानि साध्यन्ते मुद्गकुष्ठकादिभिस्तानि संयावशब्देनोच्यन्त" इति, तेषां कृसरग्रहणमनर्थकम्। सोऽपि ह्यनेन प्रकारेण 'संयाव' एव। **वृथा**शब्दः सर्वत्रानुषज्यते। यदात्मार्थं क्रियते, न देवपित्रतिथ्यर्थम्। तदा कृसरादीनामुपदेश इति।

तदयुक्तम्। न हि गृहस्था एकेनार्थेन पचन्ति। हविष इवावापात्प्रभृति तादर्थ्ये नोद्देशः। किंतर्हि अनुद्दिष्टविशेषस्य सामान्यतः कृतस्यान्नस्य पञ्चयज्ञानुष्ठानं विहितम्। तत्राकृतवैश्वदेवस्य भोजने विहितातिक्रमः, न पुनः प्रतिषेधः समस्ति। तथा हि द्वे प्रायश्चित्ते भवतः। विहितातिक्रमात्प्रतिषिद्धसेवनाच्च। कृसरादयस्तु देवताविशेषं वास्तुयज्ञादिविषयमनुद्दिश्य वृताश्चेदाह्निकविधयोऽपि प्रतिषिध्यन्ते।

यश्चापि 'नात्मार्थं पचेदिति' सोऽप्यवश्यकर्तव्यत्वात् कृतातिक्रमस्य भोजनप्राप्त्यनुवादो न पुनः प्रतिषेधः। तथा सति द्विमूलकल्पनाप्रायश्चित्तं स्यादित्युक्तम्। न चान्यार्थत्वेनापि कृतस्यात्मार्थता पाकस्य निषेद्धुं शक्यते। पच्यमानार्थो हि पाकस्तस्य तद्द्वारिका न शक्या आत्मार्थता निषेद्धुं, तेनैव वृत्तिविधानात्। न हि भृत्यादिशिष्टभोजनं गृहस्थस्य शेषसंस्कारो न चात्र सङ्कल्पः श्रुतो, येन 'मदर्थं पच्यतामिति' पाककाले संकल्पमात्रं निषिद्ध्यते। आत्मार्थं चोत्तरकालमविचार्येत्युच्यते। विथ्यासङ्कल्पदोषश्च स्यात्— देवतार्थतया सङ्कल्पितस्यात्मार्थतया योग इति। तस्मादयमनुवादो 'यत्पचेन्नात्मार्थमेवोपयोज्यं प्राग्विधेर्वैश्वदेविकादिति'।

तथा च अपक्वभोजनेऽपि विधिमेतं स्मरन्ति— "यदन्नः पुरुषो राजंस्तदन्नास्तस्य देवता" इति (रामायणे अयोध्याकाण्डे)।

न च बुभुक्षमाणस्यैवाधिकारः, गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात्। तेन यदहर्न भुञ्जीत तदहरप्यकुर्वन्प्रत्यवैति।

एतदुक्तं भवति। स्वार्थं वा पचतु परार्थं वा, मा पाक्षीदिति सर्वथा कृतवैश्वदेवातिक्रमणव्रता अपि न प्रवर्तन्ते इति नित्यतामनुवदति। यच्चापि पठति— "लौकिके वैदिके वाऽपि हुतोत्सृष्टे जले क्षितौ। वैश्वदेवस्तु कर्तव्यः पञ्चसूनापनुत्तये" इति— अनेनापि नित्यतैवोच्यते। न हि वैदिके वैश्वदेवसम्भवः। न च स्मार्तवचने प्रमाणमस्ति।

पायसापूपमिति। पयसा सिद्ध ओदनः 'पायसः', न दध्यादि पयोविकारः। **अपूपाः** पुरोडाशाः। **देवान्नानि** समाचारप्रमाणकानि।

हवींषि श्रुतिविहितानि होतव्यानि— प्राग्ग्रहहोमाद्— यतो हविःशेषस्य भक्ष्यतां वक्ष्यति।

अनुपाकृतस्य अयज्ञाहतस्य पशो**र्मांसानि**। 'उपाकरणं' पशोः संस्कारविशेषः। स पशुयागेषु विहितः। एतेन च यज्ञोपयुक्तशेषभक्ष्यता मांसस्य लक्ष्यते।

वृथाशब्दाधिकारेऽप्यनुपाकृतग्रहणमतिथ्यादिशिष्टस्यापि गोव्यजमांसस्य प्रतिषेधार्थम्। गोव्यजमांसमेव वाऽनुपाकृतशब्देन विवक्षितम्। गोव्यजस्यैव तत्रालम्भश्चोदितो यतः शिष्टं प्रोक्षितमित्युक्तम् ॥७॥

हिन्दी—वृथा (विना देवादि के निमित्त— अपने लिये तैयार किया) कृसरा[१]न्न (तिलमिश्रित भात), संयाव (हलुआ या मोहनभोग), खीर, पूआ या मालपूआ, अनुपाकृत (विना यज्ञ के हत) मांस, देवान्न (नैवेद्य के निमित्त निकाला हुआ अन्न); हविष्य— (इनको न खावे) ॥७॥

विमर्श— 'वृथा' शब्द का 'कृसर' से लेकर 'अपूप' तक सब के निमित्त समझना चाहिये। 'देवान्न' को नैवेद्यरूप में देवता को अर्पण करके भोग लगाने के बाद तथा 'हविष्य' को अग्नि में होम करने के बाद ग्रहण करने में दोष नहीं है।

उष्ट्री आदि के दूध-भक्षण का निषेध—

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥८॥

भाष्य—यदीह'अनिर्दशाहं गोः क्षीरमिति' पाठः उष्ट्रादीनामपि दशाहादिकः प्रतिषेध आशङ्क्यते। अनिर्दशाग्रहणानुवृत्त्या तत्र समाचार आत्यन्तिकप्रतिषेधार्थ आश्रयणीयः। अनिर्दशाया इति तु स्त्रीलिङ्गपाठे आशङ्कैव नास्ति। न हि तद्धितान्तैरनिर्दशाया औष्ट्रमित्यादिभिः सम्बन्धोपपत्तिः।

उत्तरत्र च पुनः क्षीरग्रहणात्समाचाराच्च उष्ट्रैकशफाविकानिर्दशगवीक्षीराणि सविकाराणि प्रतिषिध्यन्ते। सन्धिनीविवत्सयोस्तु क्षीरमेव।

अनिर्दशा च गौरुच्यते यस्याः प्रसूताया दशाहान्यनतिक्रान्तानि।

सन्धिनी या उभयोः प्राप्तदोहा कथंचिदन्यतरस्मिन्दुह्यते। प्रातरप्रदुग्धा सायं दुह्यते। सा तु स्वल्पक्षीरत्वादेकस्मिन्नेव काले, साऽसौ सन्धिनी।

कश्चिदाह या मृतस्ववत्सा परकीयं वत्सं संचार्य दुह्यते सा 'सन्धिनी'। 'विवत्सा' तु या सत्येव वत्से विनाकृतवत्सा वत्सप्रस्रवणमनपेक्ष्य कुष्ठकयवशालितुषादिना भोजनविशेषेण दुह्यात्।

---

१. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

'तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते।' इति (म०मु०)

विवत्साया इति । एतेनैव वत्सग्रहणेनावत्सा धेनुरानीयतामितिवद्गोरिति लब्धे गोग्रहणमजामहिष्योरप्रतिषेधार्थम् । न पुनरनिर्दशाया इत्यत्र । अतश्च गोग्रहणं तत्राजाद्युपलक्षणार्थम् । तथा च गौतमः (१७ । २२-२३) "गोश्च क्षीरमनिर्दशायाः सूतके । अजामहिष्योश्च" इत्याह ।

पयोग्रहणं सन्धिनीक्षीरमिति समासान्तवर्तिनः क्षीरपदस्य नातिसुकरः सम्बन्धो यतः ॥८॥

हिन्दी—व्याने (प्रसव करने) के दिन से जिसको १० दिन न बीते हों ऐसी गाय (भैंस, बकरी आदि[१] भी), ऊंटिनी, एक खुरवाली (घोड़ी गधी, आदि) पशु, भेंड़, गर्भवती होने की इच्छा करने वाली (उठी हुई— गरमाई हुई) पशु, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय; इनके दूध को— (छोड़ दे— न पीवे) ॥८॥

विमर्श— 'जिसका बच्चा मर गया हो या अलग हो गया हो, ऐसी गौ के ही दूध को छोड़ने का विधान है भैंस, बकरी आदि के दूध को छोड़ने का विधान नहीं हैं, यह 'वत्स' शब्द से ही 'गौ' का ग्रहण न्यायप्राप्त होने से प्रकृतवचन में फिर 'गो' शब्द के ग्रहण से सिद्ध होता है, ऐसा म०मु० कार का कथन है ।

[क्षीराणि यान्यभक्षाणि तद्विकाराशने बुधः ।
सप्तरात्रं व्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ।।१।।]

[**हिन्दी**—जो अभक्ष्य दूध (४/८) हैं, उनके विकार (बने पदार्थ— दही, खोआ आदि) के खाने पर विद्वान् सावधान होकर सात रात्रि व्रत करे ॥१॥]

वन्य पशु तथा स्त्री के दुग्धादि के भक्षण का निषेध—

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ।।९।।

आरण्या गोहस्तिमर्कटादयः ।

पुंसां क्षीराभावः । **सर्वेषां मृगाणा**मिति जातिमात्रविवक्षायां पुंल्लिङ्गनिर्देश-सामर्थ्यात्स्त्रीभिः सम्बन्धः । मृगक्षीरं कुक्कुटाण्डमितिवत् । दर्शितं चैतत्पुम्भावविधौ महाभाष्यकारेण ।

माहिषं विना । पयोपेक्षया नपुंसकनिर्देशः ।

स्त्री मानुषी । यद्यपि 'स्त्री गौः सोमक्रयणी'त्यादौ सास्नादिमत्यर्थे प्रयोगदर्शनम् तथापि जात्यन्तरस्याप्रकृतत्वात् प्रसिद्धतरत्वात् तत्र प्रयोगः स्यात् । "स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति

---

१. तथा च यमः— 'अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव वा ।' इति (म०मु०) ।

स्त्रियो रत्नामनुत्तमिति'' नार्येव प्रतीयते।

एवकारमञ्जनादिप्रतिषेधे व्याचक्षते। न केवलं स्त्रीक्षीरं भक्षणे वर्ज्यं किंतर्ह्यन्यास्वप्येवंविधासु क्रियासु। एष तु स्मृत्यन्तरसमाचारसापेक्ष एव शब्दः सूचको युक्तः, न त्वस्यार्थस्य वाचकः ॥९॥

हिन्दी—भैंस को छोड़कर जंगली पशु (नीलगाय, हरिण आदि) तथा स्त्री का दूध और सब प्रकार के शुक्त (कांजी या सिर्का आदि— जो अधिक समय तक रखने आदि के कारण से स्वभावतः मधुर होते हुए भी खट्टे हो गये हों, उन्हें) छोड़ दें ॥९॥

शुक्तों में दधि आदि भक्ष्य—

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम्।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

भाष्य—अविशेषेण सर्वशुक्तेषु प्रतिषिद्धेषु केषुचिदयमपवादः। शुक्तान्युच्यन्ते यानि प्राप्तसारस्यानि कालात्ययेन द्रव्यान्तरसंसर्गेण वाऽऽम्लतामापद्यन्ते। यथाऽऽम्रातकादीनि मधुराणि चिरकालमतिरसत्वाच्छुक्तानि भवन्ति। निष्पीडितो मधुररसः कालतोऽम्लतामेतीत्यादिना एवंविधानि। यानि तु स्वभावतोऽम्लानि दाडिमामलकजम्बीरादीनि तानि नैव 'शुक्तानि'। यानि च प्राप्तकालोत्पत्त्यादीनि। न ह्ययमाम्लपर्यायः शुक्तशब्दः। तत्र केवलानि पाकतः शुक्तानि प्रतिषिध्यन्ते। द्रव्यान्तरैश्च पुष्पमूलकादिभिर्योजितान्यत्र ज्ञायन्ते। तथा च गौतमः (अ० १७ सू० १४) ''शुक्तं केवलमदधि''।

अभिषूयन्ते। अभिषव उदकेन संसृज्य परिवासनम्।

''यद्येवं काल एव तर्ह्यम्लताहेतुः''।

सत्यम्। एतान्यपि द्रव्याणि। तृतीया च करणे सहयोगे वा। पुष्पादिभिरुदकेन सह अभिषूयन्ते सन्धीयन्ते।

केचित्त्वाहुः— यत्र पुष्पमूलान्यम्लतां जनयन्ति। यानि दाडिमामलकादीनि शुक्तानि तानि भक्ष्याणि, यानि द्राक्षादिभिर्मधुरैराभिषूयन्ते सन्धीयन्ते तानि न भक्ष्यन्ते। अभिषवो ह्युच्यते शुक्तजातननम्। यानि पुष्पादिभिः शुक्तीक्रियन्ते। न च द्राक्षादीनि शुक्ततापादकानि। किंतर्हि केवल एव कालः।

एतत्तु न सम्यक् अशब्दार्थत्वात्। न हि 'सोममभिषुणोतीति' शुक्तं करोतीति प्रतिपत्तिः। किंतर्हि य एव प्राग्व्याख्यातोऽर्थः।

दधिसम्भवं उदश्विन्मस्तुकिलाटकूर्चिकादि ॥१०॥

हिन्दी—शुक्तों (पूर्वश्लोक देखिये) में दही और दही के बने पदार्थ (छाछ, मट्ठा,

तक्र आदि) और जो शुभ (नशा नहीं करने वाले) फूल, जड़ एवं फल से बने पदार्थ हैं, वे भक्ष्य हैं ॥१०॥

आममांसभक्षी तथा ग्राम्यपक्षियों के मांसभक्षण का निषेध—

क्रव्यादः शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ।।११।।

भाष्य—क्रव्याद आममांसभक्षकाः कङ्कगृध्रादयः । अभक्ष्यवत्केवलाममांसभक्षका गृह्यन्ते । न तूभयरक्ता मयूरादयः ।

ग्रामनिवासिनः अक्रव्यादा अपि । **एकशफा** अश्वाश्वतरगर्दभादयः ।

अनिर्दिष्टास्तु नभक्ष्यत्वेनोक्तास्ते न भक्ष्या इति । ये तूक्तास्तत्रैव भक्ष्याः । ये तूष्ट्रवडवऋक्षगौरगर्दभाः प्रजाकामस्तेषां च मांसमश्नीयादिति ।

"ननु च श्रुतित एव तत्र भक्ष्यावाप्तिः । प्रत्युत निर्दिष्टग्रहणे सति श्रुतौ चोदिताना-मन्यत्र भक्ष्यताशङ्का, 'अनिर्दिष्टान्वर्जयेन्न निर्दिष्टानिति' वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । न च स्मृतौ केचिद्भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः, येन तद्व्यतिरिक्तविषयमनिर्दिष्टग्रहणं व्याख्यायेत । अतः श्रुतौ योऽनिर्दिष्टास्ते न भक्ष्या इति प्राप्नोति" ।

उच्यते । आचाराविरोधी स स्मृत्यर्थः । अनिर्दिष्टग्रहणमनुवादः ।

टिट्टिभः शकुनिरेव, टिटीति यो वाशते । प्रायेण शब्दानुकरणनिमित्तं शकुनीनां नामधेयप्रतिलम्भः । तदुक्तं निरुक्तकारेण 'काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलमिति' ॥११॥

हिन्दी—कच्चा मांस खाने वाले (गीध, बाज, चील आदि) तथा ग्रामवासी (कबूतर, मैना आदि) पक्षी, नामतः निर्देश नहीं किये गये एक खुरवाले पशु (गधा आदि) और टिटहरी को छोड़ दे (इनका मांस भक्षण न करे) ॥११॥

गोरैया आदि के भक्षण का निषेध—

कलविङ्कं पल्वं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकसारिके ।।१२।।

भाष्य—कलविङ्को ग्रामचटको निगमेषूक्तः । ग्रामवासित्वात्तस्य सिद्धे प्रतिषेधेः पुनः प्रतिषेधः स्त्रियाश्चटकाया अभ्यनुज्ञानार्थः । पुंशब्दो ह्ययं वृषभवत् । अन्ये त्वारण्यस्य निवृत्त्यर्थं मन्यन्ते । ते हि वर्षासु वनवासिनो भवन्ति । बाहुल्यव्यपदेशाच्च ग्रामचटका उच्यन्ते । यथा महिषा आरण्याः ।

प्लवहंसचक्रवाकानां वक्ष्यमाणजालपादप्रतिषेधात्सिद्धे प्रतिषेधे नित्यार्थं ग्रहणम्।

अत आट्यादीनां विकल्पेन भक्षणं गम्यते।

ग्रामकुक्कुटम्। ग्रामग्रहणादारण्याभ्यनुज्ञानम्।

"कुतः पुनरारण्यस्याभक्ष्यताशङ्का"।

स्मृत्यन्तरे हि "कुक्कुटो विकिराणामिति" पठ्यते। अतश्चाविशेषेणाभक्ष्यता प्राप्ता वचनेन। तस्य सामान्यप्रतिषेधस्य विशिष्टविषयता प्रज्ञायते।

"ननु विकल्पः कस्मान्न भवत्यनेन शास्त्रेणास्याभ्यनुज्ञानाच्छास्त्रान्तरेण चाविशेषेण तस्यापि प्रतिषेधात्"।

नायं विकल्पस्य विषयः। विरोधे हि तुल्यबलानां विकल्पो न चात्र विरोधोऽस्ति। न ह्यनयोः स्मृत्योः शास्त्रभेदोऽपि। सामान्यस्य विशेष उपसंहर्तुं न्याय्यत्वात्। शाखान्तरतस्तृतीयस्याप्येकशास्त्रस्य दर्शितत्वात्।

"यद्येवं जालपादप्रतिषेधस्यापि हंसादिविशेष एवोपसंहारो युक्तो नाविशेषेण काकजालपादानां सर्वेषां प्रतिषेधः"।

भवेदेवं यद्यपौरुषेयोऽयं ग्रन्थः स्यात्। भिन्नकर्तृके त्वपौरुषेयत्वे न सामान्यस्य किंचित्प्रयोजनं हंसादिविशेषमात्रपर्यवसाने। भिन्नकर्तृकत्वे तु पौरुषेयत्वे सति सामान्यदर्शिनो विशेषविषयमज्ञानं सम्भवति, विशेषदर्शिनोऽपि सामान्यविषयम्। उभयोश्च मूलकल्पनायामेकस्य सामान्यवेदनं वचनमूलं कल्प्यते, अन्यस्य विशेषवचनम्। तयोश्च वैदिकयोर्भिन्नशाखाधीतयोरसति शास्त्रभेदे, एकवाक्यतैव न्याय्या। न च वेदे पर्यनुयोगोऽस्ति, 'किं सामान्येन यदि विशेषनिष्ठता'; तस्य कर्तुरभावात्। श्रुताद्धि तत्र प्रतिपत्तिः केवलशब्दशक्तिसमाश्रिता। न प्रयोजनवशेनार्थान्तरकल्पनम्।

रज्जुदालादयः शाकुनिकेभ्य उपलब्धव्याः ॥१२॥

हिन्दी—गोरैया, प्लव (एक प्रकार का पक्षी या परेवा), हंस, चकवा, ग्राम्य मुर्गा सारस, रज्जुवाल (डोम कौआ), दात्यूह, (जल कौआ), तोता (सूआ) और मैना—(इनके मांस को न खावे) ॥१२॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥१३॥

भाष्य—प्रतुद्य प्रहृत्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति। स्वभाव एष एषां पक्षिणाम्। **प्रतुदाः** शतपत्रादयः। **जालपादा** आट्यादयः। तेषां विकल्प उक्तः।

"ननु च यत्र विकल्प अन्यतरत्रेच्छातः प्रवृत्तिः। सा चाप्रतिषिद्धेष्वपि स्थितैव लौकिकं हि भक्षणं, तत्सत्येवार्थित्वे। न शास्त्रीयं, येन नियमतः स्यात्। तत्र विकल्पि-

तस्य प्रतिषेधस्य न किंचित्प्रयोजनं पश्यामः''।

उच्यते। दत्तोत्तरमेतत्।

''यत्राबुद्धिपूर्वप्रयोगाच्छब्दादेवार्थावगतिः। पौरुषेयस्त्वयं ग्रन्थः समाहितचेतसा प्रयत्नवता शतसाहस्रिकं संक्षेप्तुमाचार्येण प्रणीतः, यत्राशक्यमनर्थकं प्रयोक्तुम्। अत आचार्याभिधानं उन्नीयते। नतु जालपादप्रतिषेधेऽसति तद्विशेषं हंसं स्वशब्देन निषेधयति। यत एतदपि स्मरणमेव। अन्ये तु जालपादस्त्विवति प्रमादपाठः स्यात्''।

उक्तं चैतदिङ्गितेन चेष्टितेन महता वा सूत्रप्रणयनेनाचार्याणामभिप्राया लक्ष्यन्ते। विशेषश्चात्रानुमीयते। ''जालपादादि न भक्षयेत्'' इति विवक्षिते सामान्यप्रतिषेध उभयोरर्थवत्वाय।

यत्र मांसविक्रयार्थाः पशवो हन्यन्ते सा सूना। आपणो मांसस्येत्येके।

वल्लूरं मांसं संशोष्य चिरस्थापितम्।

नखैर्विकीर्य भक्षयन्ति ते **नखविष्किराः**। मयूरकुक्कुटादयः।

आपत्स्विवति वचनात्तु तेषां पाक्षिकी भक्ष्यताऽप्यस्ति। स हि पठति 'कुक्कुटो विकिराणामिति'। न चास्य मानवस्य कुक्कुटोऽपसंहारः शक्यो वक्तुं कुक्कुटनामग्रहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् ॥१३॥

हिन्दी—प्रतुद (चोंच से काटकर खाने वाले पक्षी, जैसे— कठफोरवा, आदि), बत्तख कोयष्टि (कोहड़ा नामक पक्षि-विशेष), नाखून (चंगुल से बिखेरकर खाने वाले पक्षी) (तीतर आदि), पानी में गोता लगाकर मछलियों को खाने वाले पक्षी, इन पक्षियों के मांस को तथा मारने के स्थान (वधस्थान) में रखे हुए (भक्ष्य भी) मांस को और सूखे मांस को— (न खावे) ॥१३॥

बकादि के मांस भक्षण का निषेध—

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥१४॥

भाष्य—बकबलाकाकाकोलादीनां मत्स्यादग्रहणात्सिद्धे प्रतिषेधे तदन्येषां विकल्पार्थं पुनर्वचनम्।

मत्स्यादा अपक्षिणोऽपि मत्स्यादग्रहणादभक्ष्या विज्ञेयाः नक्रादयः, क्रियानिमित्तत्वान्मत्स्यादशब्दस्य।

काकोलश्च श्येनो देशान्तरप्रसिद्धेः, अयं बाह्लीकेष्वेवमुच्यत इति प्रसिद्धम्।

विड्वराहप्रतिषेधाच्चारण्याभ्यनुज्ञा ग्रामवासिप्रतिषेधश्च पूर्वसूत्रे प्रकरणाच्छकुनि-

विशेषणार्थो विज्ञेयः। एवं हि चेह विड्वराहग्रहणमर्थवद्भवति। ग्रामवासी शूकरो 'विड्वराहः'।

"ननु च यदि तत्र प्रकरणाद् ग्रामवासिनः पक्षिणो गृह्यन्ते, इहापि 'मत्स्यादाः' पक्षिण एव ग्रहीतुं न्याय्याः"।

नैवम्। न चात्र शकुनीनां प्रकरणमस्ति विड्वराहमत्स्यानामपक्षिणामपि निर्देशार्थम्।

सर्वशः सर्वदा।

उत्सर्गोऽयं अस्यापवादं वक्ष्यामः ॥१४॥

हिन्दी—बगुला, बलाका (बक जातीय पक्षिविवेष), काकोल (करेरुआ), खजन (खँड़लिच), इन पक्षियों के मांस को, मछलियों को खाने वाले (पक्षिभिन्न नक्र आदि) ग्राम्य सूअर और सब मछलियों के मांस को— (न खावे) ॥१४॥

मछली के मांस के भक्षण का निषेध—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्॥१५॥

भाष्य—पूर्वस्य मत्स्यप्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयम्।

यत्सम्बन्धिमांसं योऽश्नाति स तन्मांससम्बन्धिन्याऽशनक्रियया व्यपदिश्यते। यथा सर्पादो नकुलः, मार्जारो मृषकादः, इत्यादि। यस्तु मत्स्यादः स सर्वमांसाशी भवति। गोमांसाद इत्यपि व्यपदेष्टुं युक्तः। अतो निन्दातिशयान्मत्स्या**न्विवर्जयेत्** ॥१५॥

हिन्दी—जो जिसके मांस को भक्षण करता है, वह उसका 'मांसाद' कहा जाता है और मछली के माँस को भक्षण करने वाला 'सर्वमाँसाद' (सबके माँस का भक्षण करने वाला) कहा जाता है, इस कारण से मछली (के माँस) को छोड़ दे ॥१५॥

हव्य-कव्य में पाठीनादि भक्ष्य—

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।
राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः॥१६॥

भाष्य—पाठीनरोहितौ मत्स्यजातिविशेषौ तयोर्हव्यकव्यनियोगेन श्राद्धादौ भक्ष्यताऽभ्यनुज्ञायते, नान्वाहिके भोजने। राजीवसिंहतुण्डसशल्कानां सर्वशः हव्यकव्याभ्यामन्यत्राप्यनिवृत्तिर्भोजने।

राजीवाः पद्मवर्णाः कश्चिदिष्यन्ते। अपरैस्तु 'राजयो' रेखा येषां सन्ति।

सिंहतुण्डाः सिंहाकृतिमुखाः।

सशल्काः शकलिनः ॥१६॥

हिन्दी—हव्य और कव्य (देवकार्य और पितृकार्य) में विहित पाठीन (पोठा या पोठिया), रोहित (रोहू), राजीव (बरारी), सिंहतुण्ड और चोइँटा से युक्त सब प्रकार की मछलियाँ भक्ष्य हैं (किन्तु हव्य-कव्य कर्म के बिना ये भी अभक्ष्य ही हैं) ॥१६॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविंदराज ने इस श्लोक की 'पाठीन और रोहित हव्य-कव्यों में ही भक्ष्य है, तथा राजीव आदि मछलियाँ हव्य-कव्य के बिना भी भक्ष्य हैं' यह व्याख्या की है वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'हव्य-कव्य में नियुक्त पाठीन और रोहित श्राद्ध-भोक्ता के ही भक्ष्य हैं, श्राद्धकर्त्ता के नहीं तथा राजीव आदि मछलियाँ हव्य-कव्य के विना भी भक्ष्य हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं है; इसके साथ ही अन्य मुनियों के वचन से भी विरोध पड़ता है, यथा— (१) शङ्खने राजीव, सिंहतुण्ड, चोइँटेवाली मछलियाँ, पाठीन और रोहित— ये मछलियों को सामान्यतः भक्ष्य कहे गये हैं' ऐसा कहा है[१]। (२) महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'पञ्चनखों में शाही, गोह, कच्छप, शल्लकी और खरगोश, तथा मछलियों में सिंहतुण्ड, रोहित, पाठीन, राजीव और चोइँटेवाली मछलियाँ द्विजातियों के भक्ष्य हैं ऐसा कहा है[२]। (३) हारीत ने भी 'न्यायप्राप्त सशल्क (चोइँटेवाली) मछलियों को खावे' ऐसा कहा है[३]। अतः उक्त वचनत्रय के विरोध होने से श्राद्ध में पाठीन और रोहित श्राद्ध-भोक्ता को ही खाना चाहिये (श्राद्धकर्त्ता को नहीं) राजीव आदि वैसे नहीं अर्थात् सामान्यतः खाना चाहिए यह (मेघातिथि और गोविंदराज की) व्याख्या मुनि-सम्मत नहीं है।[४]

भक्ष्य मृग-पक्षी तथा पञ्चनखादि का अपवाद—

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥

---

१. तथा च शङ्खः— 'राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च।
पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः ॥' इति म०मु०।

परं समुपलब्धपुस्तके— राजीवान् सिंहतुण्डाँश्च शकुलाश्च तथैव च।
पाठीनरोहितौ भक्ष्यौ मत्स्येषु परिकीर्तितौ ॥' (१३।२५)
इत्येवं पाठ उपलभ्यते, तत्रापि स एवार्थः पर्यवस्यति इति ध्येयम्।

२. तथा च याज्ञवल्क्यः—
'भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्गोधाकच्छपशल्यकाः।
शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः।' इति (या०स्मृ० १।११८-१७८)

३. तथा हि हारीतः—
'सशल्कान्मत्स्यान्न्यायोपपन्नान् भक्षयेत्' इति। (इति म०मु०)

४. 'भोक्त्रैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ।
राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसम्मता ॥' इति (म०मु०)

भाष्य—एकचराः सर्पोलूकादय एकाकिनश्चरन्ति ।

अज्ञातान्नामतो जातिविशेषतश्च ।

मृगद्विजान् । मृगाः पक्षिणश्च न भक्ष्याः ।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् । येऽप्रतिषिद्धास्ते ताद्रूप्ये असति भक्ष्यतां प्राप्ताः समुद्दिष्टा इव भवन्ति । न तु भक्ष्याणां समुद्देशोऽस्ति । परिहर्तव्यतया विशेषतोऽविज्ञाता भक्ष्यपक्षपतिता 'भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टा' इत्येवमुच्यन्ते ।

पञ्चनखाश्च वानरश्रृगालादयः ।

सर्वग्रहणं पादपूरणार्थम् ।।१७।।

हिन्दी—अकेले विचरने वाले (साँप आदि), नाम तथा जाति में विशेषतः अज्ञात मृग तथा पक्षी और भक्ष्यों में कहे गये भी (विशेष निषेध के विना सामान्यतः कहे गये भी) पञ्चनख (पाँच नखवाले) प्राणी (यथा— वानर, लंगूर आदि) को नहीं खावें ।।१७।।

उक्त वचन का प्रतिप्रसव—

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ।।१८।।

भाष्य—पञ्चनखानां मध्याच्छ्वाविधादयो भक्ष्याः । स्मृत्यन्तरे तु खड्गे विकल्पः । तथा च वशिष्टः (१४।४७) ''खड्गे तु विवदन्ते'' इति ।

उष्ट्रवर्जिता **एकतोदतो** गोव्यजमृगा भक्ष्याः ।

''ननु च श्वावित्प्रभृतीनां पञ्चनखानां भक्ष्यत्ववचनादन्येषामभक्ष्यतासिद्धेः सर्वान्पञ्चनखानिति प्रतिषेधवचनमनर्थकम्'' ।

नैष दोषः । सर्वशब्देन प्रतिषेधे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवति । भक्ष्यविशेषनिर्देशेन तदन्येषां या अभक्ष्यताप्रतिपत्तिः सा आनुमानिकी प्रतिपत्तिः । गौरवं हि तथा स्यात् ।।१८।।

हिन्दी—सेह या शाही, शल्यक, गोह, गेंडा, कछुआ और खरगोश इन छवों को तथा एक तरफ दाँत वाले पशु में ऊँट को छोड़कर शेष पशु का (मनु आदि) पञ्चनखों में भक्ष्य कहते हैं ।।१८।।

छत्राक आदि के भक्षण का निषेध—

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ।।१९।।

भाष्य—छत्राकं कवकानि ।

विड्वराहः ग्रामशूकरः स्वतन्त्रविहारः ।

एतानि भक्षयित्वा पतितो भवेत्। पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात्। वक्ष्यति च (११।५६) "गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्" ॥१९॥

हिन्दी—छत्राक (कवक-भूकन्धविशेष), ग्राम्य सूकर, लहसुन, ग्राम्य मुर्गा, प्याज और गृञ्जन (लाल मूली या सलगम, किसी-किसी के मत से गाजर) को बुद्धिपूर्वक खाने से द्विज पतित होता है (बुद्धिपूर्वक या अभ्यासपूर्वक इनको खाने वाले द्विज पतित, प्रायाश्चित्त को करें) ॥१९॥

अभक्ष्य भक्षण करने पर प्रायश्चित्त—

अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।
यतिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहः ॥२०॥

भाष्य—अमत्या अबुद्धिपूर्वं **षट् जग्ध्वा** षण्णामन्यतममपि। भक्षणस्य अविधेयत्वनिमित्ततया साहित्यस्याविवक्षा।

शेषेषु अभक्ष्येषु भक्षणे लोहितवृक्षनिर्यासादिषु एकमहोरात्रं **न** भुञ्जीत। अहःशब्दो रात्रावपि दृष्टप्रयोगः। "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं चेति" (ऋग्वेद ६।९।१)। येषु चात्र प्रकरणे प्रतिषिद्धेषु प्रायश्चित्ताधिकारे प्रतिपदं प्रायश्चित्तमन्यद्वक्ष्यते "क्रव्यादसूकरे"त्यादि (११।१५६) तत्र तदेव द्रष्टव्यं प्रतिपदविहितत्वात्। अस्य चोपवासस्यान्यत्र चरितार्थत्वात् ॥२०॥

हिन्दी—इन छः (५।१९) को खानेवाला (द्विज) कृच्छ्र सान्तपन (११।२१२) या यतिचान्द्रायण (११।२१८) व्रत करे और अन्य अभक्ष्य पदार्थों (५।५-१७) को खाकर एक दिन उपवास करे ॥२०॥

वर्ष में एक कृच्छ्र व्रत की अवश्यकर्तव्यता—

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥२१॥

भाष्य—भोज्यशूद्रगृहभोजिनो ब्राह्मणस्येदमुच्यते।

यस्य शूद्रस्य गृहे यानि ब्राह्मणानामभोज्यान्यन्नानि सम्भवन्ति, न दूरतः परिह्रियन्ते, तादृशस्य गृहे यो ब्राह्मणोऽन्नं भुङ्क्ते तस्य प्रतिषिद्धान्नभोजनाशङ्कायां प्राजापत्यकृच्छ्रचरणमुपदिश्यते। अविशेषनोदनायां प्राजापत्यं कृच्छ्रं प्रतीयत इति वक्ष्यामः।

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थमज्ञातदोषशङ्कायामाह। दोषो यदि भुङ्क्ते तस्य शुद्ध्यर्थम्। "ननु च ईदृशस्य शुद्धि वक्ष्यति (५।१२७) "अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तमिति"।

तस्य विषयं तत्रैव दर्शयिष्यामः।

ज्ञातस्य तु दोषस्य **विशेषतः** वैशेषिकं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, यस्य यद्विहितं प्रतिपदम् ॥२१॥

हिन्दी—श्रेष्ठ द्विज विना जाने (अज्ञात रूप में) खाये गये अभक्ष्य पदार्थों को खाने की शुद्धि के लिए वर्ष में एक बार प्राजापत्य कृच्छ्रव्रत (११।२११) अवश्य करे तथा जानकर खाये गये अभक्ष्य पदार्थों की शुद्धि के लिए तो विशेष रूप से (अवश्य ही) उन स्थलों में कथित प्रायश्चित्त करे ॥२१॥

यज्ञार्थ विहित पशु-पक्षी का वध—

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥२२॥

भाष्य—भक्ष्यप्रसङ्गेन हिंसाऽभ्यनुज्ञायते ।

अत्यर्थं क्षुत्पीडायां भृत्यादेभोजनान्तरासंभवे भक्ष्यमृगपक्षिवधः कर्तव्यः । **भृत्याः** प्राग्व्याख्याताः ।

अगस्त्यस्तथाकृतवानित्यगस्त्यग्रहणं प्रशंसार्थम् ।

यज्ञार्थमित्याद्योऽर्धश्लोकोऽर्थवाद एव तत्र हि वधः प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वादेव सिद्धः । **प्रशस्ता** ये भक्ष्यतयाऽनुज्ञाताः ।

एष एवार्थ उत्तरश्लोके विस्तरतः कर्मार्थवादतया कथ्यते ॥२२॥

हिन्दी—द्विज यज्ञ के लिए तो अवश्य तथा रक्षणीय माता-पितादि की रक्षा के लिए शास्त्रविहित पशु-पक्षियों का वध करे। ऐसा अगस्त्य ऋषि ने पहले किया था ॥२२॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥२३॥

भाष्य—षट्विंशत्संवत्सरं नाम सत्रं तत्र मृगपक्षिवध आम्नातः सोऽनेनानूद्यते । इदं तत्र ब्राह्मणं "संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति स तत्र यान्यान्मृगान्हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशा भवन्ति" । अर्थवादत्वाद्**बभूवु**रिति भूतप्रत्यये न विवक्षा । तेनाद्यत्वेऽपि भवन्ति ।

एवं पुराणेष्वपि । न केवलं कश्चिदद्यत्वे सत्राणां व्यवहार इति दर्शनाभिप्रायमेतत् **पुराणेष्विति** । न पुनः'अद्यत्वे यदि केचित्सर्वाण्येव हरेयुस्तेषामेष विधिर्न भवतीति' मन्तव्यम् । अथवा यः स्वयं शास्त्रार्थं वेदितुमसमर्थः केवलं परप्रसिद्ध्या "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति न्यायेन प्रवर्तते तत्र त्वेतदुच्यते **पुराणेष्विति** । नायमिदं प्रथमको धर्मः किंतर्हि अनादिः ।

पुराणा ऋषयः । ब्राह्मणाः केचन तपःसिद्धाः, जात्यन्तरं वा । यथा महाभारतादौ वर्णितम् ।

न चात्र निर्बन्धः कर्तव्यः "ऋषीणां जात्यन्तरत्वे गन्धर्वादिवत्कथं यागेष्वधिकार" इति । यतोऽयमर्थवादो येनकेनचिदालम्बनेन प्रतीयते ।

ब्रह्मक्षत्रसवाः ब्रह्मक्षत्रिययज्ञाः ॥२३॥

हिन्दी—क्योंकि पहले भी मुनियों तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों के यज्ञों में (शास्त्रानुसार) भक्ष्य पशु-पक्षियों का पुरोड़ाश (हविष्य-हव्य) बना था, (अतः शास्त्र-विहित पशु-पक्षियों का वध यज्ञ के लिये करना चाहिये) ॥२३॥

पर्युषित (बासी) भोज्य द्रव्य—

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ।।२४।।

भक्ष्यं यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तम् । भोज्यमोदनादि । भुक्तिभुज्योरेकार्थत्वेऽपि पृथगुपादानाद्विषयभेदोऽयं प्रतीयते ।

अगर्हितं शुक्ततामनापन्नम् ।

तत्पर्युषि तमप्याद्यम् । रात्र्यन्तरे पर्युषितमुच्यते । पूर्वेद्युः सिद्धमप्यपरेद्युः पर्युषितं भवति ।

स्नेहसंयुक्तमिति । एवं संदिह्यते । किं यत्स्नेहसंयुक्तं सत्पर्युषितं रसमिश्रशाकादि तत्पर्युषितमशितव्यम्, उत शुष्कस्यापि पर्युषितस्य भक्षणकाले स्नेहसंयोगः कर्तव्यः । भक्ष्यापूपाद्यपि पर्युषितं भोजनकाले स्नेहेन संयोज्य भक्षयितव्यमिति ।

अत्र सन्दिह्यते— "स्नेहयुक्तानां भक्ष्यतोच्यते, 'तत्पर्युषितमाद्यमिति' । उद्दिश्यमानं स्नेहसंयुक्तमिदं न पुनर्विधेयार्थे । न हि तच्छब्दसम्बन्धोऽस्य श्रुतो यत्पर्युषितं तत् स्नेहसंयुक्तमाद्यमिति" ।

उच्यते । हविःशेषाणां पर्युषितानामस्नेहसंयुक्तानां तेषां वचनमनर्थम् । न च तेषां स्नेहसंयुक्तानां परिवासः संभवति । एवं च तेषां वचनमर्थवद्भवति यदि भोजनकाले तेषां स्नेहसंयोगो नापेक्ष्यते । अतस्तेषां तावद्भोजनकाल एव स्नेहसंयोगनिरपेक्षतया वचनस्यार्थवत्त्वम् ।

"यद्येवं तथापि न संदेहः । अर्थवत्त्वाद्विशेषपदस्य विधेयार्थता स्नेहसंयुक्तशब्दस्य न्याय्या" ।

उच्यते । एतावदत्र सन्देहे बीजम् । यथाश्रुतसम्बन्धस्य बलीयस्त्वात्किं हविःशेषपदमनुवादोऽस्तु उतानर्थकत्वं मा प्रापदिति यत्पर्युषितं तेन स्नेहसंबन्धः क्रियताम् ।

तत्रानर्थक्याद्व्यवहितकल्पना ज्यायसी। समाचारान्निर्णयः।

सर्पिस्तैलवसामज्जाः 'स्नेहाः'॥२४॥

हिन्दी—जो मोदक आदि तथा विकारहीन अन्य भोज्य पदार्थ पर्युषित (बासी) है, उन्हें भी स्नेह (घृत-तैल) से संस्कारयुक्त कर तथा बचे हुए पर्युषित यज्ञान्न को बिना संस्कार किये ही खाना चाहिये॥२४॥

विमर्श— वासी मोदकादि को पुनः घृत आदि से संस्कृत कर खाने का विधान 'कुलूकभट्ट' के मतानुसार है, वे अपने मत की पुष्टि में 'मसूर-मांस से संयुक्त तथा बासी पदार्थ को धोकर तथा अभिधारित (छौंक-बघार) कर खाना चाहिये' इस आशय वाले स्मृति-वचन[1] को प्रमाण रूप नें उपस्थित करते हैं। उनका कथन है कि यदि 'स्नेहादि से संस्कृत बासी पदार्थ तथा यज्ञशेष हविष्यान्न— इनको बासी होने पर खाने का आदेश देना 'मनु' को इष्ट होता तब वे यज्ञशेष हविष्यान्न को अलग नहीं कहते; क्योंकि उस (यज्ञशेष हविष्यान्न) का ग्रहण भी घृत से संस्कृत होने से ही स्वतः हो जाता' किन्तु उक्त निर्णय आयुर्वेद सिद्धान्त के विरुद्ध मालूम पड़ता है; क्योंकि एक बार अग्नि में संस्कृत पदार्थ का पुनः अग्नि में संस्कार करने से वह पदार्थ अभक्ष्य हो जाता है, जैसे यशस्तिलकचम्पू में कहा है—

'पुनरुष्णीकृतं त्याज्यं सर्वं धान्यं विरूढकम्।
दशरात्रोषिते वाद्यात्कंसे च निहितं घृतम्॥ (आश्वास ३ श्लो० ३४१)।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया॥२५॥

भाष्य—**चिरस्थितं** द्विरात्राद्यन्तरितम्। अपिशब्दादाक्तमित्यत्रापि सम्बन्धयितव्यम्। **स्नेहाक्तमपि** यवगोधूमजं सक्त्वपूपादि।

पयसो विक्रिया विकारा दधिमथितादयः॥२५॥

हिन्दी—चिरकाल (अनेक रात्रियों) के रक्खे हुए भी यव तथा गेहूँ के बने विना स्नेह (घृत-तैल) के संस्कार किये सब पदार्थ तथा दूध के बने पदार्थ (खीर, खोआ, मलाई, रबड़ी आदि) द्विजों को खाना चाहिये॥२५॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने॥२६॥

भाष्य—आद्येन श्लोकार्धेन पूर्वप्रकरणमवच्छिनत्ति। तदेतदनन्तरमनुक्रान्तं प्रकरण-

---

१. तदुक्तम्—'मसूरमांसं संयुक्तं तथा पर्युषितं च यत्।
तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिधारितम्॥' इति।

मेतत् द्विजातीनां च शूद्राणामिति, उत्तरं तु यद्वक्ष्यते तच्छूद्राणामपीति प्रकरणव्यवच्छेदप्रयोजनम् ।

अतश्च मांसभक्षणे प्रकारो वक्ष्यते । यच्च तद्वर्जनेन फलं तच्छूद्रस्यापि भवतीति । अन्यथा "अभक्ष्याणि द्विजातीनाम्" (श्लो० ५) इत्यधिकाराल्लशुनादिष्विव शूद्रस्य मांसभक्षणेऽपि कामचारः स्यात् ।

"यद्येवं देवाद्यर्चने शिष्टस्य मांसस्य भक्ष्यता वक्ष्यते (श्लो० ३२) 'देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यतीति' । देवाद्यर्चनं मेध्येन मांसेन । ये च द्विजातीनां प्रतिषिद्धा मृगशकुन्तास्तेऽमेध्याः । अतश्च तेषां मांसेन देवार्चनासंभवादतच्छेषस्याभक्ष्यत्वादन्येऽपि प्रकरणभेदाः— यथा ब्राह्मणादीनां मृगपक्षिणः प्रतिषिद्धाः— ते शूद्रस्यापि प्रकारान्तरेण प्रतिषिद्धा भवन्ति। तत्र प्रकरणभेदेन न किञ्चिदुच्यते। लशुनादिप्रतिषेधः शूद्रस्य न भवति"।

अस्ति तावत्प्रकरणभेदेन प्रयोजनं लशुनादिप्रतिषेधे शूद्रस्याधिकारो मा भूदिति । मांसेऽपि देवाद्यर्चने गृहस्थस्याधिकारादगृहस्थस्य शूद्रस्य यथाकाम्यम् ।

"ननु च पाकयज्ञे शूद्रस्याधिकारः स्थित एव । भोजनं गृहस्थानां च विहितम् । न च लशुनादिभिः पाकयज्ञाः क्रियन्ते । ततश्च नापि शूद्रस्य यथाकाम्यं लशुनादयो भक्ष्याः स्युः" को दोषः ।

"द्विजातिग्रहणमनर्थकम्" ।

परिहृतमेतदगृहस्थस्य प्रोषितस्य वा कामचारः । न च गृहस्थेन यदहुतं तत्र भोक्तव्यम् शेषभुग्भवेदित्यस्यायमर्थः 'अकृतवैश्वदेवक्रियेण न भोक्तव्यम्' । तत्र यस्यैव यागसाधनता द्रव्यस्य तदेव मेध्यं होतव्यम् । अन्ये तु भोजनकाले कुतश्चिदाहृत्य मध्यगेहे वा भुञ्जते । तच्चाहुतशेषमपि न प्रतिषिद्धम् । मांसे तु पुनर्वचनान्नियमः 'न कदाचिद्देवानुपयुक्तं भोज्यमिति' ।

"यदि चातुर्वर्ण्यस्यात्राधिकारस्तदा यद्वक्ष्यति परस्तात् शुद्धिविधौ— 'चतुर्णामपि वर्णानामिति'— तदनर्थकम्" ।

तत्रैव तस्य प्रयोजनं वक्ष्यामः ।

अथ— "श्वमांसाद्यपि शूद्रस्य भक्ष्यं प्राप्नोति द्विजातिग्रहणात्पूर्वत्र" ।

किं त्वेकादशे 'विड्वराहखरोष्ट्राणामित्यादिश्लोकत्रयनिर्दिष्टाः (११।१५४) शूद्रस्यापि न भक्ष्या इति ज्ञापकं दर्शयिष्यामः ॥२६॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) द्विजों के सम्पूर्ण भक्ष्य और अभक्ष्यों को यह (मैंने) कह दिया, अब मांस के खाने और न खाने की विधि को कहूँगा ॥२६॥

प्रोक्षित आदि मांस का भक्षण–

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ।। २७।।

भाष्य—अग्नीषोमीये पशौ हुतशिष्टं मांसं लक्षणया **प्रोक्षित**मुच्यते ।

''ननु प्रोक्षितशब्दो यौगिक उक्षसेचन इत्यस्य धातो: प्रक्षालनक्रियानिमित्तक: । तथा च 'प्रोक्षणीरासादय' 'घृतं प्रोक्षणीयमिति' 'प्रोक्षणीभिरुद्वेजिता: स्थ' इति सर्वत्र क्रियायोगात्प्रयुज्यते । यद्यासेचनसाधनम्, तत्र कुतो वैदिकसंस्कारनिमित्तकानां स्वसम्बन्धे पशुलक्षणाद्वारेण मांसे प्रवर्तते । मुख्यं च शब्दार्थमतिक्रम्य किमिति लक्षणाऽऽश्रीयते । अत: प्रक्षालितमुदकादिना युक्तम्'' ।

सत्यम् । यद्यत्र वाक्यान्तराण्यर्थवादाश्च शेषभूता न स्यु:— 'अनुपाकृतमांसानि' 'असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरिति' । अतस्तत्पर्यालोचनयाऽयमेवार्थोऽवतिष्ठते ।

''यद्येवं तत एव सिद्धत्वात्किमनेन'' ।

केचिदाहु:— अनुवादोऽयम् । मांसेच्छया भक्षणस्य विधिस्तावदयं न भवति क्षुत्प्रतिघातार्थिनो लिप्सया प्रवृत्त्युपपत्ते: । स ह विधिरुच्यते य: पुरुषस्य दृष्टेन प्रयोजनेन प्रवृत्तावसत्यां प्रवृत्त्यवबोधक:, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति' । शास्त्रमेवात्र प्रमाणम् । यत्र'अस्मिन्कृते इदमभिमतमभिनिर्वर्तते अकृतेवाऽयमनर्थ आपतति' एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते तत्र न शास्त्रमेव मृग्यते । यत्र तु नायमन्यतोऽवगम: केवलागमैकगोचर: स विधिरिति चोच्यते । इह तु भोजने कृते पुष्टिरुपजायते, यद्दु:खं तन्निवर्तत इति, बाला अपि स्तनपायिनोऽनुपदिष्टमवयन्ति । नियमोऽपि न भवति, तद्रूपानवधारणात् । यदि तावत्प्रोक्षितं च भक्षयेदेवेति नियमस्तदा कालविशेषावच्छेदाभावादाहारविहारकाला अप्यवसीदेयुरनवरतमश्नन्नेवासीत्, अशक्यश्चार्थ उपदिष्ट: स्यात् । यथोक्तम् 'अश्राद्धभोजीति'' 'यदहरेव प्रत्यवेयादिति' । महाभाष्यकारेण विधिविशेष एव च नियम उक्त: । असम्भवति च विधौ कुतो नियम: । न चान्येन प्रोक्षितमन्येन लभ्येत । तस्मादयमनर्थ: । अथ— ''प्रोक्षितमेवेति अप्रोक्षितं नेति परिसंख्या । न हि प्रोक्षिताप्रोक्षितोभयभक्षणस्य त्यागादशनाया निवृत्तौ युगपत्पर्यायेण वा प्रवृत्त्या परिसंख्यालक्षणस्य विद्यमानत्वात्'' । तथाऽप्यनुपाकृतमांसानीत्येव सिद्धम् ।

अन्ये त्वस्य पक्षस्यैवं दोषमुपपादयन्ते । अविशेषेण सर्वाप्रोक्षितप्रतिषेधे शकुनीनामपि प्रतिषेध: प्राप्नोति । न च येषामेव प्रोक्षणं विहितं तेषां तु प्रतिविधानाद्यभावादिति न विशेषपरिग्रहे प्रमाणमस्ति ।

तदयुक्तं मन्यन्ते । एवं सति भेदेन शकुनीनां प्रतिषेधानुक्रमेण, गमकत्वात् ।

तस्माच्छ्रुतकर्माङ्गत्वेन नियमस्य प्रोक्षितमांसभक्षणस्यायमनुवाद इति युक्तं दृष्टान्ततया। यथा यज्ञेऽवश्यं भक्षणम्, अभक्षणाच्छास्त्रातिक्रमः, एवमुत्तरेष्वपि निमित्तेषु। अनुवादश्चेत्परिसंख्यापेक्षाऽप्यस्तु। गोव्यजमांसमप्रोक्षितं न भक्षयेदित्यनेनैतदनुपाकृतानामेवासद्रूपमनूद्यते अप्रोक्षितस्यापि ब्राह्मणकाम्यादिनिमित्तेष्वनुज्ञापनार्थः।

अन्यच्च "अनर्चितं वृथामांसमपि" (४।२१२) चातुर्थिकेन वृथामांसशब्देन एतदनुपरिज्ञातार्थमितरथा न विज्ञायेत किं तद्वृथामांसमिति। अथवा एकत्र भोक्तुरुपदेशोऽन्यत्र कल्पयित्वायेन देवाद्यर्चनं न कृतं तदीयं मांसमन्येनाप्यतिथ्यादिना न भोक्तव्यम्। अनधिकृतेनापि देवाद्यर्चनेन ह्यतिथ्यादयः परगृहे तदीयेन मांसेन देवार्चनेऽधिक्रियन्ते। अथ कल्पयित्वा यदि कृतं तदाऽर्हत्यशितुम्। द्वितीयस्तु प्रतिषेधो "देवान्पितॄनिति" (३२) स्वगृहेऽधिकृतानामकृतवतां भक्षणाय। यस्तर्हि "असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरिति" (३६) स उक्तः प्रोक्षणशब्दार्थः। एवं पञ्चापि निषेधवाक्यानि पृथगर्थानि दर्शितानि।

ब्राह्मणानां च काम्यया। 'काम्या' कामना इच्छा। काम्याशब्दः छान्दसः।

"यदा ब्राह्मणादीनामप्रोक्षितानामिदमनुज्ञानं, तदा किं पुनरयं नियमः? अभक्षणे शास्त्रातिक्रमः? उत प्रतिप्रसवमात्रम्? प्रतिप्रसवे भोक्तव्यं विवाहे पुनर्भोक्तव्यमिति वचनादपि प्रतिषेधाप्रवृत्तिर्विवाहे गम्यते"।

न भोजनार्थमावश्यकं किं तु ब्राह्मणा यदि गरीयांसस्तदा तद्वचनातिक्रमो न युक्तः।

अन्ये तु 'क्रीत्वादि' श्लोके (३२) ब्राह्मणानामित्यनुवर्त्य शशादिमांसस्यापि विधिमिच्छन्ति। यज्ञविवाहयोरन्यत्र च गोष्ठीभोजनादौ यदि ब्राह्मणा अर्थयन्ते तदा तेषां मांसं स्वरूपेण देवौद्देशिकया न प्रतिषिद्धम्, अवस्थाविशेषेण प्रोक्षणं देवार्चनादीनि कर्तव्यानि। विशेषः प्रतिषिद्धः। तस्य ब्राह्मणकामनानिमित्तत अभ्यनुज्ञाता, नतु "क्रव्यादान्शकुनान्" इत्यादेः प्रतिषेधस्य— "निवृत्तिस्तु महाफलेति" (श्लो० ११) कृतसङ्कल्पस्तस्याप्यनुज्ञानमिष्यते। प्रोक्षितेऽप्रोक्षिते च कृतार्चनेऽकृतार्चने वा।

यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये। मधुपर्के च श्राद्धे च नियुक्तोऽप्रोक्षणेनापि भक्षयेत्। एष हि यथाशास्त्रं नियोगस्तत्र श्राद्धे नियमा उक्ता एव। "केतितस्तु यथान्यायं" "कथञ्चिदप्यतिक्रामन्निति" (३। १००)। श्राद्धं भोक्ष्ये इत्यभ्युपेत्येदमहं नाश्नामीति न लभ्यते वक्तुम्, अभक्ष्यमशुचिकरं व्याधिजननं च वर्जयित्वा, हविष्यविधानात्र भक्ष्यं यद्यद्रोचते तत्तत्राप्रीतिकरं दीयते। अत इदं वचनं मधुपर्क एव।

"ननु मधुपर्के नास्ति नियोगः"। अशितव्यं मधुपर्कार्हिणेति नियमः, नासौ मधुपर्कस्य विधिः। स हि तत्राधिकृतो न धन्यो राजादिः। यथैव "नास्यानश्नन्गृहे वसेदिति"

गृहस्थस्य नियमो दृश्यते। एतेनावगम्यते अमतिके न दातव्यमिति। यैस्तु कामचार एवं पूजितसमादानेन पूज्यस्याशनेन, न हि तत्तदर्थं कर्म।

"ननु चातिथ्यमेवानित्यम्"।

सत्यम्। दृष्टं प्रीत्युत्पादनेन धर्मार्थमनुष्ठानम्। तस्य नियमोक्तधर्मार्थमेव दातुस्तस्य हि गोरुत्सर्गपक्षे विहितो "नामांसो मधुपर्कः स्यादिति"।

नन्वार्त्विज्ये वचनस्यापि विषय इति चेत्।

अस्त्वयमपि पूर्ववदनुवादः श्राद्धे आर्त्विज्ये च।

"ननु चार्त्विज्ये उक्तमेव इडादिभक्षणं यजमानस्य तत्र शास्त्रनिबन्धनो नियमः, नर्त्विजाम्"।

सत्यम्। किंतु ऋत्विजो यदि न भक्षयन्ति ते प्रवाद्यन्ते। अविदितेन अदृष्टेनापि दोषेण युज्यन्ते।

ननु तेषां भक्षणमधिकृतानामास्ताम्। न हि ते कर्मफलेन युज्यन्ते। भृत्यादिर्हि परिक्रीतो विहितान्पदार्थाननुतिष्ठति। विहितश्च "यजमानपञ्चमा इडां भक्ष्यन्तीति"। तेषां भक्षणतोऽस्याभ्युपगतार्त्विज्यानां नियतं भक्षणं तदा तेनानूद्यत इति युक्तम्। न हि श्राद्धभुजामृत्विजां च भक्षणे शास्त्रीययोगः। यजमानस्यैवानुवादः। किमर्थ इति चेन्नानुवादः प्रयोजनमपेक्षते। किंतर्हि प्राप्तमस्ति चात्रोच्यते। अत्रापि यदा गोपेन गोवधपूजाऽभ्युपगता तदावश्यमशितव्यम्। तदनुग्रहार्थमसौ मधुपर्कपूजां प्रतीक्षति। अतः पूर्वा तेन क्रिया सम्पादनीया। अन्यथा प्राक्रमिकस्याभावादपरिपूर्णेन मधुपर्केण तदनुग्रहासम्पत्तेस्त-स्मिन्प्रतिषिद्धमांसाशने मधुपर्कपूजार्त्विज्यं च प्रथममेवाभ्युपगन्तव्यम्। ब्राह्मणभोजने च। ब्रह्मचारिणस्तु व्रतवदनुज्ञानादनशनमेव ग्राह्यं मांसस्य।

प्राणानामेव चात्यये। प्रकृतत्वादेवाद्यर्चनमन्तरेण अभक्ष्यमाणे व्याधिना क्षुधा भोजनान्तरासम्भवे जीवनाशशङ्कायां गोजावि भक्षयितव्यम्। 'सर्वत एवात्मानं गोपायेदि'-त्येतच्छ्रुतिमूलोऽयं नियमः। अतश्चेदृशे निमित्ते मांसमनश्नन्नात्महा सम्पद्यते। आत्मवधश्च "सर्वत एवात्मानं गोपायेत्तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादलोक्यं ह्येतद्भवतीत्यादि" श्रुतिभिर्मन्त्रार्थवादैश्च तैर्दोषवान्नेति ज्ञापितम्। तथाहि मन्त्रः।

> "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥" इति

ब्रह्मचारिणोऽपि प्राणात्यये भक्षणमिष्यते। तस्यैव बाल्याद्यवस्थानिमित्तं वाचनिकं प्रायश्चित्तं भविष्यतीति— "ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कदाचनेति" (११।१५८)। क्षुधा तु प्राणात्ययाशङ्कायां प्रतिषिद्धमांसाशनमपीति व्यासः (ब्र० सू० ३। ४। २८)। जाघनीनिदर्शनेनैकाहिकं चेष्यते। एतावता अतीतव्याधौ तु न शक्यमेतत् ज्ञातुमवश्य-

मशितेनानेन जीवतीति । तत्र न प्रतिषिद्धग्राम्यकुक्कुटादिमांसभक्षणमिष्यते । प्रोक्षण-देवाभ्यर्चनरहितस्य तु प्रकृतत्वादस्त्यनुज्ञानम् । व्याधेश्च न केवलमुत्पन्नस्य निवृत्त्यर्थं यावत्कृशक्षय्यातुरदुर्बलादीनां सर्वकालं मांसाशनं नियमत इष्यते ।

"स्त्रीमद्यनित्याः क्षयिणः, श्रमव्याध्या च कर्शिताः ।
नित्यमांसरसाहारा आतुराश्चापि दुर्बलाः ॥"

अप्रोक्षितस्यापि छागमांसस्य देवताद्यर्चनं तु तैरवश्यं कर्तव्यम् । असम्भवे तु कस्मिंश्चिदहनि न दोषः ॥२७॥

हिन्दी—मन्त्र द्वारा 'प्रोक्षण' संस्कार से युक्त यज्ञ में हवन किया गया मृगादि पशु का मांस, ब्राह्मणों की इच्छा से हो तब (एक ही बार, दुबारा नहीं), शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मधुपर्क तथा श्राद्ध में नियुक्त होने पर और प्राण-सङ्कट (अन्य खाद्य के अभाव या रोग-विशेष के) होने पर मांस को अवश्य खाना चाहिये ॥२७॥

स्थावर-जङ्गमादिकी ब्रह्मकल्पित खाद्यता—

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ।।२८।।

भाष्य—प्राणः कौष्ठ्यो वायुःजीवबीजभूतः । पञ्चवृत्तस्योदानादिकस्य शरीर-स्थित्यर्थम् इदं **सर्वं** जगत्**प्रजापतिरन्नत्वेनाकल्पयत्** ।

इदमिति सामान्यतो निर्दिश्य विशेषणं निर्दिशति **स्थावरं जङ्गममिति** ।

अतो हेतोः **सर्वं प्राणस्य भोजनम्** । तिर्यक्पक्षिमनुष्यसरीसृपावस्थहेतुमद्भेद-निर्देशात् द्वितीयं सर्वग्रहणमपुनरुक्तम् ।

यतः प्रजापतिना सर्वमापदि प्राणस्य कल्पितम् । अतः सर्वमेतस्य भोजनम् । तथा च प्राणसंवादोपनिषदि श्रूयते (छान्दोग्य० ५।२।१) "सहोवाच किं मेऽन्नं भविष्य-तीति । यदिदं किंचित् आऽश्वभ्य आ कीटपतङ्गेभ्य" इति ॥२८॥

हिन्दी—प्रजापति (ब्रह्मा) ने जीव का सब कुछ खाद्य कहा है, सब स्थावर (धान्य, फल, लतादिजन्य पदार्थ) तथा जङ्गम (पशु, पक्षी, जलचर आदि) जीव जीवों के खाद्य, भक्ष्य हैं ॥२८॥

उक्त विषयका स्पष्टीकरण—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ।।२९।।

भाष्य—चराश्चरणपतनरणोत्साहयोगिनः श्येननकुलादयः तेषा**मचराः** सर्प-कपोतादयः **अन्नम्** ।

एवं **दंष्ट्रिणां** सिंहव्याघ्रादीनां **अदंष्ट्रिण:** रुरुपृषतादयो मृगाः । **अहस्ताः** सर्पमत्स्यादय: **सहस्तानां** नकुलनिषादादीनाम् ।

शूराणां महोत्साहयुक्तानां जीवितनिरपेक्षाणां **भीरवः** प्रियजीविताः । अल्पसत्त्वा अन्नत्वेन हन्यन्ते ॥२९॥

हिन्दी—चर (चलने-फिरने वाले— मृगादि) जीवों के अचर (नहीं चलने-फिरनेवाले-तृण, लता आदि); दाँतवाले (व्याघ्र सिंह आदि) जीवों के बिना दाँतवाले (हरिण आदि) जीव, हाथ सहित (मनुष्य आदि) जीवों के विना हाथवाले (मछली, पशु, पक्षी आदि) जीव और शूरवीर (व्याघ्र, सिंह आदि) जीवों के भीरु (डरने वाले— हाथी, मृग आदि) जीव खाद्य (भक्ष्य) हैं ॥२९॥

विमर्श—यहाँ पर 'दंष्ट्रों' (दाँतवाले) शब्द से जिन जीवों के बड़े-बड़े दाँत होते हैं तथा दाँत ही जिनका अस्त्र का काम देता है, ऐसे व्याघ्र, सिंह आदि जीवों का ग्रहण है, इसी प्रकार 'अदंष्ट्री' (बिना दाँतवाले) शब्द से छोटे-छोटे दाँतवाले (मृग, मनुष्य आदि) जीवों का ग्रहण है; अन्यथा अदंष्ट्रो (बिना दाँतवाले) जीवों का मिलना ही प्रायः दुर्लभ हो जायेगा ।

भक्ष्य को प्रतिदिन खाने पर भी दोषाभाव—

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥

भाष्य—**अत्ता** भक्षयिता । **आद्यान्प्राणिनः** अत्तुं शक्यान् । प्रतिदिवसं भक्षयन्न **दुष्यति** । **धात्रैव** प्रजापतिना **अत्तार आद्या** उभयेऽपि सृष्टाः ।

तस्मात्प्राणात्यये मांसमवश्यं भक्षणीयमिति त्रिश्लोकी विधेरस्यार्थवादः ॥३०॥

हिन्दी—प्रतिदिन भक्ष्यजीवों को खानेवाला भी भक्षक दोषी नहीं होता है; क्योंकि ब्रह्मा ने ही भक्ष्य तथा भक्षक— दोनों जीवों को बनाया है ॥३०॥

प्रोक्षितादि मांस के भक्षण का विधान—

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥

भाष्य—यज्ञार्थं **मांसस्य** पिण्डप्राशित्रादि**जग्धिर**शनम् ।

एष दैवो विधिर्देवैरेतद्विहितम् ।

अन्यथा तु मांसाशिनः शरीरपुष्ट्यर्थकमांसाशने **प्रवृत्तिः स राक्षसो विधिः** ।

पिशाचानां मांसभक्षणे स्थितिरिति निन्दा ॥३१॥

हिन्दी—यज्ञ के लिए (शास्त्रोक्त विधि से) मांस का भक्षण करना दैव (देव सम्बन्धी) विधि है और इसके विपरीत (अपने लिए या शास्त्रविरुद्ध यज्ञ के नाम पर) मांस का भक्षण करना राक्षस (राक्षस-सम्बन्धी) विधि है (अतः अपने उदर के लिए या शास्त्रविरुद्ध यज्ञ के नाम पर— जैसा प्रायः आजकल बलिदान के नाम पर सहस्रों बकरे आदि का वध किया जाता है— मांस का भक्षण करना सर्वथा त्याज्य माना गया है)॥३१॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ।।३२।।

भाष्य—मृगपक्षिमांसविषयमिदं शास्त्रम् ।

रुरुपृषतादीनां शशकपिञ्जलादीनां मांसं देवानां पितॄणां चार्चनं कृत्वा खादतो न दोषः ।

यथा गृहे वैश्वदेवाद्यर्थे कृते संविधानं विनाऽपि वैश्वदेवेनोदनादिभोजनमस्ति, न तथा मांसस्य । एवमर्थमेतत्पुनर्वचनं **देवान्पितॄंश्चार्चयित्वेति** । अन्यथा गृहस्थस्य पूर्वमेव भोजनमेवंरूपम् ।

देवेभ्य इति तेन शब्देनोद्दिश्य शुचौ देशे मांसस्य प्रक्षेपः । यदि वा अग्नये वायवे सूर्याय जातवेदस इति देवार्चनं कर्तव्यम् ।

अग्नौ एवंरूपा आहुतयः कृता अग्निमतोऽन्यत्र न भवन्ति । नचाग्नौ होमेन विना बलिहरणं कर्तव्यम् । कर्मान्तरस्य प्रयोगान्तरस्य च प्रतिपादितत्वात् । आस्तां तावदेतत् ।

अन्ये तु श्राद्धं पितॄणामर्चनमाहुः । दृष्टश्च श्राद्धेऽर्चनप्रयोगः । पितॄंश्चैव देवान्वदन्ति । ततश्च सर्वस्मृतिकारैः श्राद्धमेव विहितम्, न पुनरन्या काचिदेव क्रिया ।

''कथं पुनर्मांसस्य क्रयसम्भवः यावता आपणभूमेर्मांसं क्रीयमाणं सौनमापद्यते । सौनिकैरहतस्य स्वयं मृतस्य पशोर्मांसमभक्ष्यमनारोग्यकरत्वात्'' ।

उच्यते । व्याधशाकुनिकादिभिराहृतं क्रेष्यते । न च ते सौनिका इति प्रसिद्धास्तैश्च विक्रयार्थं भ्राम्यद्भिर्गृह आनीतं भवति । तदा सम्भवति क्रयः । न हि तत्सौनमुच्यते ।

स्वयं वाऽप्युत्पाद्य । ब्राह्मणो याञ्च्या, क्षत्रियो मृगयाकर्मणा ॥३२॥

हिन्दी—खरीदकर, स्वयं मारकर या किसी के द्वारा दिये हुए मांस को देवता तथा पितरों के लिए समर्पण कर खाने वाला दोषी नहीं होता है ॥३२॥

विधिरहित मांस-भक्षण का निषेध—

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेतस्तैरद्यतेऽवशः ।।३३।।

पूर्वोक्तादेवाद्यर्चनशिष्टात् ब्राह्मणकामनादिनिमित्तात् अन्तरं यद्भक्षणं सोऽ**विधिस्तेन** नाश्नीयात् मांसम् । उक्तानुवादोऽयम् ।

आपदि प्राणात्यये देवाद्यर्चनमपि नापेक्ष्यम् ।

"ननु चैतदपि निमित्ततयोक्तमेव । ततश्च विधिरेवायं नाविधि:" ।

सत्यम् । प्रोक्षितसम्बन्धाद्गोव्यजस्यैव तत्र संनिधानाशङ्कायां शशादिविषयेऽभ्यनुज्ञानार्थमनापदीत्युच्यते ।

विध्यर्थानुष्ठानपरो **विधिज्ञ** उच्यते । तथा लौकिकानुष्ठानेऽपि जानातिरुपचारात्प्रयुज्यते । एष स तज्जानातीति अनुष्ठानपरे प्रयुञ्जते ।

अत्र फलकथायां— **जग्ध्वा** अशास्त्रीयेण निमित्तेन । **प्रेतो** मृत**स्तै:** प्राणिभि**रवशोऽद्यते** । येन विषयेण यो येषां मांसमश्नाति तस्य विविधा पीडा भवति, एतावन्मात्रपरमेतत् । अन्यथा प्रायेण छागादिमांसमश्नन्ति लोका:, न च छागादयो मांसाशिन: । अथवा तत्कृतेन पापेन क्रव्याद्भिरप्यद्यमानस्तैरद्यत इत्युच्यते ॥३३॥

हिन्दी—विधान को जानने वाला द्विज बिना आपत्तिकाल में पड़े विधिरहित (देवों या पितरों को बिना समर्पण किये) मांस को न खावे; क्योंकि विधिरहित मांस को खाने वाला मरकर उन (जिसका मांस खाया है, उन) के द्वारा विवश (लाचारपरवश) होकर खाया जाता है ॥३३॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिन: ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादत: ।।३४।।

भाष्य—प्रसिद्धार्थ: श्लोक: ॥३४॥

हिन्दी—धन के लिए पशु (पक्षी आदि) का वध करने वाले (वधिक-व्याध आदि) को वैसा पाप नहीं होता, जैसा पाप व्यर्थ (देव-पितर के कार्य के बिना) माँस भक्षण करने वाले को मारने पर होता है ॥३४॥

श्राद्ध तथा मधुपर्क में नियुक्त होकर माँस भक्षण आवश्यक—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानव: ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ।।३५।।

भाष्य—**सम्भवान्** जन्मानि । अवश्यं प्राणात्ययसम्भवे देवार्चनं यो न करोति अथ च मांसमश्नाति स दुष्यत्येव ॥३५॥

हिन्दी—शास्त्रानुसार (श्राद्ध तथा मधुपर्क में) नियुक्त जो मनुष्य माँस को नहीं खाता है, वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशु होता है ॥३५॥

विमर्श—जिसने मांस का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसके लिए उक्त वचन लागू नहीं है, उसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर कविकुलशिरोमणि 'भवभूति' ने अपनी अमररचना 'उत्तररामचरित' के चतुर्थ अंक में महर्षि वसिष्ट के लिए मांससहित तथा राजर्षि जनक के लिए मांसरहित मधुपर्क देने का उल्लेख 'सौधातकि' नामक वाल्मीकि शिष्य के द्वारा कहकर 'दाण्डायन' नामक दूसरे वाल्मीकि शिष्य के द्वारा मांसभोजियों के लिए मांसभक्षण का विधान ऋषियों ने माना है और पूज्य जनक मांसत्यागी हैं (अत: उनके लिए महर्षि वाल्मीकि जी ने दही तथा मधु से ही मधुपर्क दिया हैं), ऐसा कहा है[१]।

अप्रोक्षित-मांसभक्षण का निषेध—

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ।।३६।।

भाष्य—प्रोक्षणादयः पशुबन्धे मन्त्रवन्तः संस्कारा विहितास्ते येषां क्रियन्ते पशूनां वैदिकयागशेषाणां मांसमद्यात्। सीतायज्ञादिषु च सत्यपि सामयाचारिकयाग-शेषत्वे मन्त्रसंस्काराभावादभक्ष्यता।

शाश्वतम्। शाश्वतो नित्यो वैदिक इत्यर्थः।

आस्थित आश्रितः ॥३६॥

हिन्दी—ब्राह्मण (द्विजमात्र, केवल ब्राह्मण ही नहीं) मन्त्रों से असंस्कृत मांस को कदापि न खावे। नित्य (प्रवाह नित्यता से चला आता हुआ) विधि को मानता हुआ मन्त्रों से संस्कृत मांस को ही खावे ॥३६॥

पशुभक्षण की अधिक आकाङ्क्षा में—

कुर्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ।।३७।।

भाष्य—यद्येषां बुद्धिः स्यात्— "सीतायज्ञखण्डियज्ञचण्डिकायागादिषु समाचार-प्रमाणेषु, पशुवधः फलकामस्य न्याय्यः, दृष्टाहि पशुवधोपयाचितकेनातिशयवती सस्य-सम्पत्तिरिति"— तन्निषेधार्थमाह। **सङ्गे** प्रस्तावात्पशुवधप्रसङ्गे **घृतपशुं कुर्यात्** घृतपशु-

---

१. तथा चोत्तररामचरिते—'सौधातकिः—येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता। अद्यैव प्रत्यागतस्य राजर्षजनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधिमधुभ्यामेव निर्वर्तितो मधुपर्कः। वत्सतरी पुनर्विसर्जिता'। दाण्डायनः अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पं व्याहरन्ति केचित्। निवृत्त-मांसस्तु तत्रभवान् जनकः।' इति (अङ्क ४ पृ० २०८)

मेव कुर्यात् । पशुना यष्टव्ये तत्स्थाने घृतेन यजेत देवता: । तद्धि सामान्येन यागद्रव्यम् ।

अथवा **पिष्टपशुं** पिष्टमयपशुपतिकृतिं कृत्वा देवताभ्य उपहरेत्, पिष्टेन वा पुरोडाशादि कृत्वा ।

''कथमयं वृथा पशुवध: उच्यते । हिंसायां समाचार: प्रमाणम्'' ।

ननु स्त्रीशूद्रजनानामवैद्यत्वान्नात्र वेदमूलता शक्या कल्पयितुम् । देवताराधनार्थं तदा ह्येतदाचरन्ति । न च देवताराधनार्थानि वेदिकानि कर्माणि, गुणत्वेन देवताश्रुते: । अन्वयव्यतिरेकमूलतां चात्रेच्छन्ति, दृश्यते पशुवधोपयाचितकेन फलसम्पत्तिरिति मन्यमाना: । अतो न वेदमूलता । अन्वयव्यतिरेकावपि भ्रान्तिमात्रम् । असकृद्व्यभिचारात् । अतोऽयं श्लोको न्यायप्राप्तार्थानुवाद एव सौहार्दादाचार्येण पठित: ।।३७।।

हिन्दी—पशु-मांस भक्षण की अधिक आकाङ्क्षा होने पर घी या आटे का पशु बनाकर खावे, किन्तु व्यर्थ (यज्ञ— श्राद्धकार्य के बिना) पशु को मारने की इच्छा कभी न करे ।।३७।।

विमर्श— यहाँ व्यर्थ (यज्ञादि कार्य के बिना) पशु को मारने की इच्छा को भी निषेध किया गया है, फिर उसे मारकर मांस खाना तो बहुत दूर की बात है ।

व्यर्थ पशुहिंसा से दोष—

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम् ।
वृथापशुघ्न: प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ।।३८।।

भाष्य—तावतीर्जन्मनामावृत्तीर्**मारणं प्राप्नोति** ।

वृथापशुघ्न: श्रुतिस्मृत्योरचोदितं पशुवधं य: करोति । तच्च प्रकरणान्महानवम्यादिषु लौकिकैर्यत्क्रियते । 'पशुघ्न' इति कप्रत्यये छान्दसं रूपम् ।।३८।।

हिन्दी—वृथा (यज्ञ तथा श्राद्धकार्य के बिना) पशु को मारने वाला, पशु के शरीर में जितने रोंए हैं, उतने जन्म तक उस पशु को मारकर प्रत्येक जन्म में मारा जाता है ।

यज्ञार्थ पशुवध में दोषाभाव—

यज्ञार्थं पशव: सृष्टा: स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवध: ।।३९।।

भाष्य—नायमनन्तरोक्तां दोष: श्रुतिस्मृतिचोदिते वधे । यो वधो यज्ञाङ्गभूतस्तन्निर्वृत्त्यर्थमेव **स्वयंभुवा** प्रजापतिना **पशब:** सृष्टा उत्पादिता: । स्वयमेवेत्यर्थवाद: ।

अस्य जगतो विश्वस्य । **यज्ञो** ज्योतिष्टोमादि: । **भूत्यै** भूतिर्विभव: पुष्टि: स्फीति: ।

तस्मात्तत्र यो **वध:** सो**ऽवधो** विज्ञेय: । हिंसाजन्यस्य पापस्य निवृत्तिरेवमुच्यते।।३९।।

हिन्दी—ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ सम्पूर्ण संसार की उन्नति के लिये है; इस कारण यज्ञमें पशुका वध (वधजन्य दोष न होने से) वध नहीं माना गया है ॥३९॥

यज्ञार्थ मारे गये पशु आदि की जन्मान्तर में जात्युन्नति—

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः ।।४०।।

भाष्य—"कथं पुनर्यज्ञे हिंसादोषो नास्ति" ।

उच्यते । हिंसा हिंस्यमानस्य महानपकारः । प्राणवियोगेन पुत्रदारधनविभवादि-वियोगेन सर्वानर्थोत्पत्तेर्दुष्कृतस्य च समनन्तरं नरकादिफलविपाकस्य प्रत्यासत्तेः। यज्ञे तु हतानामुपकारः, नापकारः, नरकादिफलानुत्पत्तेः । यतो यज्ञे **निधनं** विनाशं गता **उच्छ्रितीरु**त्कर्षं, जातितो देवगन्धर्वयोनित्वं द्वीपान्तरेषूत्तरकुरुप्रभृतिषु वर्षान्तरे वा जन्म **प्राप्नुवन्ति** ।

अर्थवादश्चायम् । न ह्यत्र विधिः श्रूयते, प्राप्नुवन्तीति वर्तमानोपदेशात् । न चार्थ-वादात्प्रतितिष्ठन्तीतिवद्विधिप्रतिपत्तिर्युक्ता । विध्यन्तरस्याभावादसम्भवाच्च ।

सर्वोऽयमविधिमांसभक्षणप्रतिषेधशेषः । ऐहलोकसंपाद्यतयाऽप्ययं प्रतिषेधो "न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेदिति" । यच्चाभ्यनुज्ञानं "यज्ञार्थं पशवः सृष्टा" इति तत्सर्वं भक्षणप्रतिषेधतया प्रतीयते । तथा च वक्ष्यति "नाकृत्वा प्राणिनां हिंसाम्" इत्यादि ।

न चात्र विधेरस्ति सम्भवः । न तिरश्चामधिकारः सम्भवति, विशेषविज्ञानाभावात् । न चानधिकृतस्य कर्तृत्वम् । नाप्यकर्तृत्वे शास्त्रीयात्कर्मणः फलोत्पत्तिः । न ह्यत्र दृष्टवस्तु स्वाभाव्येन फलोत्पत्तिः । यथा विषमविदुषोऽपि पीतवतो जनयत्येव स्वफलम् । नैवं वैदिकार्थाः ।

अचैतन्याच्चौषधादीनामृत्विङ्न्यायोऽपि नास्ति । दृष्टं किल कुतश्चन कर्मणः परप्रयुक्तादप्यृत्विजां फलम् "यः कामयेत पापीयान् स्यात्" इत्यादि । तत्र विध्यन्तरशेष-त्वाभावात्स्पष्टत्वाच्च विधिप्रतिपत्तेर्मनुष्याधिकारत्वाच्च । शास्त्रस्य युक्तोऽङ्गव्यापारसमा-श्रितो वाचनिकस्तावन्मात्रोऽधिकारः । यथा परकीयाश्वमेधावभृथे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्त-मुक्तम् । इह त्वधिकार एव नास्तीत्युक्तम् ।

ओषध्यो दर्भादयः । **पशवश्**छागादयः । **वृक्षाः** पूज्याः । **तिर्यञ्चो**ऽपशवोऽपि 'पशवः' येषां हविष्येन चोदना "कपिञ्जलानालभेत" इति । भारप्रवहणादनड्वाहस्तिर्यञ्चो वाजपेयादौ तिर्यञ्च इति व्यपदिश्यन्ते । यद्यपि तेषां तत्र निधनं नास्ति तथापि यावती च पीडा विद्यत इति सा निधनशब्देन लक्ष्यते ।

पक्षिणः कपिञ्जलादयः । यद्यपि ते पशुत्वेन चोच्यन्ते, अप्रसिद्धत्तरप्रयोगस्तु ।

"सप्तग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः" इति। गवादयोऽपक्षिणःचतुष्पाज्जातिवचनः पशु-शब्दः। गोबलीवर्दवद्वा भेदो द्रष्टव्यः ॥४०॥

हिन्दी—यज्ञ के लिए नाश (मृत्यु) को प्राप्त औषधियाँ (व्रीहि आदि), पशु (छाग आदि), वृक्ष (यज्ञस्तम्भके लिये खदिरादि), तिर्यक् (कच्छप आदि) और पक्षी (कपिञ्जल आदि) फिर (जन्मान्तर में) उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं ॥४०॥

पशुवधके योग्य कार्य—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥

भाष्य—यावत्यः काश्चिच्छास्त्रचोदितहिंसास्ताः संक्षिप्य दर्शयति।

मधुपर्को व्याख्यातः। तत्र गोवधो विहितः।

यज्ञो ज्योतिष्टोमादिस्तत्र संस्थैकादशिन्यादि।

पशुवधो निरूढपशुवन्धादिः स्वतन्त्रम्।

एवं च। **पितृदैवतं** पितरो देवता यस्मिन्कर्मण्यष्टकादौ, न तु श्राद्धम्। तद्धि सिद्धेन मांसेन विहितम्। न च पशुवधश्चोदितः। न चेदमेव विधायकं युक्तम्, उत्पत्तौ श्राद्धस्य हिंसाया अचोदितत्वात्। अस्य च विस्पष्टविधानादष्टका पशुवधेनापि नेतुं शक्यत्वाद्विधित्वे चास्य मूलकल्पनाप्रसङ्गाद्विध्यन्तरशेषतायाश्च वक्ष्यमाणत्वात्।

येषां तु मतं पितृणां देवतानां च कर्म, महायज्ञादि।

ब्राह्मणैर्वध्या 'भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थम्'आपदि पशुहिंसनमप्राप्तं प्राणात्ययेऽभ्य-नुज्ञायते ॥४१-४२॥

हिन्दी—मधुपर्क, यज्ञ (ज्योतिष्टोम आदि), पितृकार्य (श्राद्ध) तथा देवकार्य में ही पशु का वध करना चाहिये। (अन्य किसी कार्य में नहीं) ऐसा मनु ने कहा है। इन (५।४१) कर्मों से पशुवध करता हुआ देवतत्त्व को जानने वाला द्विज अपने को तथा पशु को उत्तम गति में पहुँचाता है ॥४१-४२॥

विमर्श— मनुष्यादिकारिक यज्ञादि कर्म में अनधिकारी पशु को उत्तम गति की प्राप्ति उक्त शास्त्रीय वचन से ही प्रमाणित समझनी चाहिए। जैसे पिता के अधिकार वाले कर्म में पुत्र को फल-प्राप्ति होती है, वैसे ही पशु आदि को फल-प्राप्ति की संभावना से दयालु यज्ञकर्त्ता ही उक्त यज्ञीय पशु के लिये भी उत्तमगति प्राप्तिरूप फल की कामना करेगा। इसीलिए प्रकृत श्लोक में तृतीय चरण से यज्ञकर्त्ता के द्वारा ही दोनों को उत्तम-गति की प्राप्ति कही गयी है।

वेदविरुद्ध हिंसा का सर्वत्र निषेध—

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ।।४३।।

भाष्य—अवेदविहितहिंसाप्रतिषेधोऽयम् । न च वेदविहिताऽभ्यनुज्ञायते ।

"न च गुरौ वसतो ब्रह्मचारिणोऽरण्ये च तपस्यतोऽन्या काचिद्धिंसाऽस्ति । अवकीर्णिनो ब्रह्मचारिणः स्यादपि । वानप्रस्थस्य तु नैवास्ति । ब्रह्मचारिणोऽप्यात्मोपेक्षणं नैवेष्यते । अतोऽयं विधिरेव श्राद्धे । **गृह** इत्यनुवाद एव" ।

यदि चायं विधिः स्यात्— 'अरण्ये' 'आपद्यपीति' किमालम्बनमेतत्स्यात् । न च वानप्रस्थस्य साग्निकस्यापि पशुयागोऽस्ति । "पुरोडाशाश्चरूंश्चैव" इत्यत्र दर्शयिष्याम इति केचित् ।

उपाध्यायस्त्वाह । युक्तं ब्रह्मचारिणः । वानप्रस्थस्य तु "अपराजितां वाऽऽस्थाय" इत्यादिनाऽऽत्मत्यागोऽपि विहितस्तस्य नास्ति जीवितार्था हिंसेति स्फुटतरं तत्रैव निरूपयिष्यते (६।३१) ।

"ननु चापद्ययं प्रतिषेध उच्यते । तत्कुतस्तत्रैवानुज्ञानं व्याख्यायते" ।

सत्यम् । अन्यथा न किंचिदनेन कृतं स्यात् । अर्थवादार्थमिति चेदर्थवादस्याप्यालम्बनमन्वेषणीयम् । अतोऽनापद्ययं प्रतिषेधो, विधिश्चापद्यविरुद्धः । बहुभेदादापदाम्, अल्पीयस्यामापदि मासिकमर्धमासिकं वा भोजनं भविष्यतीति बुद्ध्या प्रवृत्तिर्निषिध्यते । यदा त्वेषा बुद्धिरधुनैवानश्नन्न जीवामि यदा वाऽभिमुखागत उद्यतशस्त्र आततायी तदाऽऽपद्यनुज्ञा । एवं सर्वत्र एवात्मानं गोपायेदिति श्रुतिरनुगृहीता भवति ।।४३।।

हिन्दी—गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम या वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज वेदविरुद्ध हिंसा को आपत्ति में भी न करे ।।४३।।

या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ।।४४।।

भाष्य—वेदविहितो यः प्राणिवधः सोऽस्मिञ्जगति **चराचरे** स्थावरजङ्गमे नित्योऽनादिः । यस्तु तन्त्रादिः सोऽन्वयव्यतिरेकभ्रान्त्या इदानींतनः । अतो वैदिकीं हिंसामहिंसामेव विद्यात् अमुत्र प्रत्यवायाभावात् । **अहिंसेति** कार्यत उच्यते न स्वरूपतः ।

"ननु च सैव हिंसारूपा । अभेदात् कथं कार्यो भेदः" ।

उच्यते । वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ । धर्मस्याधर्मस्य च यत्कथनं तद्वेदादेव, पौरुषेयाणामप्रामाण्यात् । वेदश्च तस्या एवाभ्युदयहेतुत्वं क्वचित् ज्ञापयति । स्वरूपाभेदोऽपि

नास्ति, क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वेन भेदादाशयभेदेन प्रवृत्तेः। लौकिक्यां मांसीयतो द्विषाणस्य वा प्रवृत्तिः, वैदिक्यां तु शास्त्रेण चोदितमिदं क्रत्वर्थमिति ।

निर्बभौ निःशेषेण भातः, प्रकाशतां गत इति यावत् ॥४४॥

हिन्दी—इस चराचर जगत् में जो हिंसा वेद-सम्मत है, उसे हिंसा नहीं समझे; क्योंकि वेद से ही धर्म निकला है ॥४४॥

अपने सुख की इच्छा से पशुवध में दुःख प्राप्ति दोष—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ।।४५।।

भाष्य—अकारोऽत्र प्रतिषेधार्थीयः प्रश्लिष्टः द्रष्टव्यः । अहिंसकानां च प्रतिषेधा-त्सर्पव्याघ्रादीनामप्रतिषेधः ॥४५॥

हिन्दी—जो अहिंसक जीवों को अपने सुख (जिह्वास्वाद-शरीरपुष्टि आदि) की इच्छा से वध करता है, वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहीं पर सुखपूर्वक उन्नति को प्राप्त नहीं करता है ॥४५॥

अहिंसा से सुखप्राप्ति—

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ।।४६।।

भाष्य—**बन्धनवधा** एव **क्लेशाः** । अथवा विशसनादयः । तान्यो न कर्तुमिच्छति, विशसनमेव येन न कृतम्, तद्विषयेच्छैव यस्य निवृत्ता । न केवलं पीडां न करोति, याव**द्धितं प्रेत्सितु** मिच्छति सर्वस्य, **स** सुख**मत्यन्तमश्नुते** ॥४६॥

हिन्दी—जो जीवों का वध तथा बन्धन नहीं करना चाहता है, वह सबका हिताभिलाषी अत्यन्त सुख प्राप्त करता है ॥४६॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ।।४७।।

भाष्य—यच्चिन्तयति शुल्कमर्हणादि । यत्र च **रति**मभिलाषं **बध्नात्य**भिप्रेत्यवस्तुनि । **तदयत्नेन** स्वल्पेनैव काले**नावाप्नोति** । यत्तु **कुरुते** कर्मणा तत्कर्मनिष्पत्तिसमनन्तरमेवा-विघ्नेन प्राप्नोति ॥४७॥

हिन्दी—जो किसी को हिंसा नहीं करता; वह जिसका चिन्तन करता है, जो कार्यकरता है और जो (परमात्मचिन्तन आदि) में ध्यान लगाता है; उन सबों को बिना (विशेष प्रयत्न के ही प्राप्त करता है) ॥४७॥

मांस भक्षण का पुनः निषेध—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।।४८।।

भाष्य—सर्वस्य हिंसाप्रतिषेधश्लोकसङ्घातस्य मांसभक्षणशेषतां दर्शयति।

यावत्प्राणिनो न हतास्तावन्मांसं नोत्पद्यते। हिंसा चातिशयेन दुःखावहा। तस्मान्मांसं विवर्जयेत्।

"ननु च स्वयं मृतानां भवत्येव मांसं किमिदमुच्यते 'नाकृत्वेति'"।

अर्थवादोऽयम्। स्वयं मृतानां च मांसं रोगहेतुत्वादप्राप्तमेव। न ह्यदत्वा मांसं भक्ष्यते। न च रोगहेतोर्दानमस्ति।

उत्पद्यत इति मांसस्य हिंसानिमित्तत्वात्कर्तृव्यपदेशे समानकर्तृकत्वं भवत्येवाविरुद्धम्। अथ वोत्पद्यत इति **न च स्वर्ग्य इति**। न स्वर्गानुत्पत्तिहेतुमात्रमभिप्रेतमपि तु नरकादिदुःखहेतुत्वम् ।।४८।।

हिन्दी—जीवों की बिना हिंसा किये कहीं भी मांस नहीं उत्पन्न हो सकता है और जीवों की हिंसा स्वर्ग-साधन नहीं है। अत: मांस को छोड़ देना (नहीं खाना) चाहिये ।।४८।।

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ।।४९।।

भाष्य—अशुचिस्थाने कुक्षौ गर्भवृद्धिः, शुक्रशोणिताभ्यां वाऽशुचिभ्यां प्रभवः। तथा **वधबन्धौ** शरीरवतां तत्कृतौ।

एतत्सर्वं **प्रसमीक्ष्य** निपुणबुद्ध्या तत्त्वतो निरूप्य। **निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणा**त्सर्वस्याप्रतिषिद्धस्यापि, किं पुनः प्रतिषिद्धस्य।

अर्थवादोऽयम्। न पुनस्तत्त्वतः अशुच्येव मांसं ज्ञेयम्। न हि तदशुचित्वविधिपरं वाक्यम् ।।४९।।

हिन्दी—मांस की उत्पत्ति और जीवों के वध तथा बन्धन को समझकर सब प्रकार के मांस-भक्षण से निवृत्त होना चाहिए ।।४९।।

विमर्श— मांसोत्पत्ति शुक्र-शोणित-विकार से होती है तथा जीवों के वध-बंधन अत्यन्त क्रूर कर्म है, इत्यादि बातों का विचार कर शास्त्रविहित मधुपर्क एवं यज्ञादि के मांसभक्षण का भी त्याग करना चाहिये, शास्त्र-विरुद्ध केवल अपने शरीर की पुष्टि या जिह्वा की तृप्ति के लिये मांस-भक्षण करने की बात ही क्या है?

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ।।५०।।

भाष्य—विधिर्देवार्चनं **तद्धित्वा** यो **न भक्षयति,** किंतर्हि विधिना भक्षयति । **स** लोकस्य **प्रियतां** प्राप्नोति । प्रिय: सर्वस्य भवति ।

व्याधिभिश्च । कृशदुर्बलादेर्मांसमश्नतो व्याधिरुपजायते । तेनापि विधिनैवाशितव्यम् । तथा भक्षयन् **व्याधिभिश्च न पीड्यते** । अन्यथा अश्नन्नपि मांसं पीड्यत एव व्याधिभि: ।

पिशाचवदिति । पिशाचास्तिर्यग्जातिविशेषास्ते विधिमनपेक्ष्य मांसमश्नन्ति । ततोऽन्योऽपि तथा भक्षयन्पिशाचसदृशो भवतीति निन्द्यते ।।५०।।

हिन्दी—जो पिशाच के समान, शास्त्रोक्त विधि-विहित भी मांस-भक्षण का त्याग करता है, वह लोगों का प्रिय बनता है तथा रोगों से पीड़ित नहीं होता ।

विमर्श— पिशाच जैसे मांस-भक्षण करता है, वैसे मांस-भक्षण नहीं करता अपितु मांस-भक्षण का त्याग करता है— यह व्यतिरेक दृष्टांत है। अत: शास्त्र-विरुद्ध मांस-भक्षण से लोगों का अप्रिय बनने तथा रोगों से पीड़ित होने से वह त्याज्य है ।

अनुमति-दाता आदि भी हिंसक—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका: ।।५१।।

भाष्य—अन्येन हन्यमानं स्वप्रयोजनतो यद्यन्योऽनुमोदते साध्वयं हन्ता करोतीत्य**नुमन्ता** । **विशसिता** हतस्याङ्गविभागकार: । **उपहर्ता** परिवेषक: । **खादक** इत्येते सर्वे घातका: ।

अघातकेषु खादनसंस्कारविक्रयादिकर्तृषु घातकत्वेऽध्यारोपिते निन्दा, न पुनस्तत्त्वत एते घातका एव । लौकिकी हि वधक्रिया प्राणत्यागफला । तस्य कर्ता 'घातक:' स्मृतितो गम्यते । 'स्वतंत्र: कर्तेति' विशेषशास्त्रादिना य: प्राणवियोजनं प्राणिनां करोति स हन्तोच्यते । क्रयविक्रयाद्याश्च क्रियास्ततोऽन्या एव ।

"ननु चेयमपि स्मृतिरेव । एते अनुमन्तृप्रभृतयो घातका इति ।"

नेदं शब्दार्थसम्बन्धे प्रमाणम्, किंतर्हि धर्माधर्मयो: । अभियुक्ततरो हि तत्र भवान्पाणिनि: । मन्वादयश्च लोकप्रसिद्धै: पदार्थैर्व्यवहरन्ति, न शब्दार्थसम्बन्धविधिं स्मरन्ति । प्रयोक्तारो ह्येते न स्मर्तार: ।

"ननु च 'तमाचार्यं प्रचक्षते' इत्यादे: स्मरन्त्येते" ।

सत्यम् । न तत्र शास्त्रस्मृतिविरोधः । न च तेषां वाक्यानामन्यत्प्रयोजनमस्ति । इह तु गौणेनापि प्रयोजनेनार्थवादतयाऽप्युपपत्तेर्न घातकत्वं शक्यमवसातुम् ।

येऽप्याहुः— "भक्षकश्चेन्न विद्यते वधकोऽपि न विद्यत इति भक्षणप्रयुक्त एव वधः, प्रयोजकश्च कर्ता स्मर्यते । ततो मुख्यमेव घातकत्वम् । अतो घातकप्रायश्चित्तमेव खादकस्य युक्तमिति ।"

तदयुक्तमिति ब्रूमः । पृथक्प्रायश्चित्तं हतानां रसास्वादकस्य "जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं चेति" (११।१५२) ।

यदपि प्रयोजकत्वेन कर्तृत्वमुक्तं तदपि नैवास्ति । इदं हि तस्य लक्षणम्— 'प्रेषणाध्येषणाभ्यां तु यः स्वतन्त्रस्य चोदकः, स कर्ता चैव हेतुश्च मुख्योनोपचरन् पर,' इति । वधको हि जीवनप्रयुक्तया प्रवर्तते 'मांसविक्रयेण जीविष्यामीति', न तु खादकेन विनियुज्यते ।

अथ "तत्समर्थाचरणं प्रयोजकत्वम् । योऽयं क्रियां कर्तुमध्यवसितस्तत्रानुकूल्येन यः संविधित्सुः स प्रयोजक इति" । एतदप्यत्र नैवास्ति । साधनोपनिधानम्, त्रसतः पशोरस्वतन्त्राकरणम्, खड्गोपनयनमित्येवं 'संविधान' शब्दवाच्यं युक्तम् । तेन विना क्रिया न निष्पद्यते ।

अथ "यदर्थः क्रियारम्भः स प्रयोजकश्चेति" चेन्माणवकमध्यापयतीत्यध्यापन-हेतुकर्तृसंज्ञाप्रतिलम्भो, न ह्यध्ययनमध्यापयत्यर्थः ।

न चासौ कंचिदुद्दिश्य हनने प्रवर्तते । येनास्य तदर्थनिरूपणाय भक्षणेऽनर्था प्रवृत्तिः स्यात् । सर्व इमे स्वभूत्यै यतन्ते । न केन कश्चित्परोऽनुग्रहीतव्य इति मुहूर्तमप्यव-तिष्ठत इत्यपूर्णकामः ।

"अथ स्वार्थं प्रवृत्तस्य भक्षयितारमन्तरेण प्रवृत्तिरनर्थिका । तस्मिंस्तु सति फलवती । फलं च प्रयोजकम् । तच्च खादकाधीनमिति पारम्पर्येण खादकः प्रयोजक इति" ।

एवं तर्हि यो द्वेषाद्वध्यते स हन्तुः प्रयोजकः स्यात् । ततश्च हन्यमान एव 'हन्ता' सम्पद्यते । न हि द्वेषेण विना हन्तृत्वोपपत्तिरिति । तथा ब्रह्महत्यायामपि सर्वस्वदानं पातकसम्प्रयोजकम् । न हि प्रतिग्राहयितारमन्तरेण प्रतिग्रहोपपत्तिस्ततश्च प्रतिग्राही न केवलं प्रत्यवेयादपि तु दाताऽपि रूपवती च स्त्री स्मरशरदह्यमानहृदयेन रागिणा दर्शितस्पृहातिशयेन शीलं रक्षन्ती प्रत्यवेयात् ।

तस्मान्नेदं प्रयोजकलक्षणम् ।

तौ हि वधकखादकौ स्वार्थप्रवृत्तौ नष्टाश्वदग्धरथवदितरेतरोपकारमनुभवन्तौ, न पुनरन्यतरप्रयोजकौ ।

"शूद्रविट्क्षत्रविप्राणाम्" (८ । १०४) इत्यत्र श्लोके निपुणमेतन्निर्णीतम् ।

हिन्दी—अनुमति देनेवाला, शस्त्र से मरे हुए जीव के अङ्गों को टुकड़े-टुकड़े करनेवाला, मारनेवाला, खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसने या लानेवाला और खानेवाला; (जीववध में) ये सभी घातक (हिंसक) होते हैं ॥५१॥

विमर्श—अनुमन्ता-जिसकी अनुमति के बिना उस प्राणी का वध नहीं किया जा सकता, वह क्रयविक्रयी-गोविन्दराज ने इसका अर्थ 'खरीदकर बेचनेवाला' किया है, किन्तु 'मारने से हन्ता, धन से खरीदनेवाला, धन लेने से बेचनेवाला और उसमें प्रवृत्ति करने से संस्कार करनेवाला— (घातक होते हैं) इस यम वचन में[1] 'खरीदनेवाले तथा बेचनेवाले'— दोनों को पापभागी लिखा है । यह घातक— (हिंसक) त्वदोष शास्त्रोक्त विधि से विरुद्ध हिंसा-विषयक है, शास्त्र के विधि— निषेधोभयपदक होते हैं तथा मांस-भक्षण के लिए अन्यत्र प्रायश्चित्त कहा गया है ।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ।।५२।।

भाष्य—अधिकपुष्ट्यर्थं यो मांसमश्नाति तस्येयं निन्दा । न तु रोगोत्पत्तिभयाशङ्कया । यत आह **यो वर्धयितुमिच्छतीति** । तस्याप्य**नभ्यर्च्य पितॄन्देवान्** । न तु रोगहेतोस्त्वर्चनमकुर्वतोऽपि कथञ्चिदसम्भवान्न दोष: ॥५२॥

हिन्दी—जो देवता तथा पितरों को बिना तृप्त किये दूसरे (जीवों) के मांस से अपने मांस को बढ़ाना चाहता है, उससे (बड़ा) कोई दूसरा पापी नहीं है ॥५२॥

मांस-भक्षण का त्याग अश्वमेध के तुल्य—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समा: ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयो: पुण्यफलं समम् ।।५३।।

भाष्य—देवाद्यर्चनशिष्टस्य शशादिमांसस्य भक्षणमनुज्ञातम् । ततो निवर्तमानोऽश्वमेधफलमश्नुते । अश्वमेधस्य फलं "सर्वान्कामानवश्यं सर्वाविजिती:" इत्यादि ।

न चात्र चोदनीयम् । "कथं महाप्रयासेन बहुधनव्ययेन च तुल्यफलता मांसनिवृत्ते: स्यात्" । यत एषोऽपि संयमोऽतिदुष्कर: । किंच 'लोकवत्परिमाणत: फलविशेष: स्यादि'त्ययं न्यायो जृम्भत एव । अत: फलविधौ न दोष: ।

वयं तु ब्रूम: । अर्थवाद एवायम् । यतो 'वर्षे वर्षे शतं समा' इति चाऽर्थवादपक्षे

---

१. तथा च यम:—'हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयिकस्तथा ।
विक्रयी तु धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनात् ॥' इति, (म०मु०) ।

सुघटम् । न हि प्रतिवर्षमश्वमेधस्य विधेयत्वसम्भवः । नापि वर्षे शतं, तावतः काल-स्याधिकारिणो जीवनाद्यसम्भवात् ।

पुण्यं च फलं च **पुण्यफलम्** । समाहारद्वन्द्वः । षष्ठीसमासे ह्यसामर्थ्यम् ॥५३॥

हिन्दी—जो प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ सौ वर्ष तक करे तथा जो मांस नहीं खावे; उन दोनों का पुण्यफल (स्वर्गादि लाभ) बराबर है ॥५३॥

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ।।२।।]

[**हिन्दी**—जो मांस का त्याग करता है; वह सर्वदा यज्ञ से देवसन्तुष्टि करता है, सर्वदा दानों को देता है और सर्वदा तपस्वी रहता है ॥२॥]

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ।।५४ ।।

भाष्य—**मेध्यैर्दे**वार्हैः **मुन्यन्नानि** नीवाराद्यन्नान्यकृष्टपच्यजनितानि । अयमर्थवाद एव ॥५४॥

हिन्दी—पवित्र फल तथा कन्दों तथा मुन्यन्न (तिन्नी आदि) के खाने से (मनुष्य) वह फल नहीं पाता है, जो मांस के त्याग से पाता है ॥५४॥

'मांस' शब्द की निरुक्ति—

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।५५।।

भाष्य—नामधेयनिर्वचनमर्थवादः ।

मांस भक्षयिता । स इति सर्वनाम सामान्यापेक्षं योग्येनार्थेन निराकाङ्क्षी करोति यस्य मांसमश्नाति ॥५५॥

हिन्दी—'मैं जिसके मांस को यहाँ पर खाता हूँ, वह मुझे परलोक में खायेगा' विद्वान् 'मांस' शब्द का यही मांसत्व (मांसपना अर्थात् 'मांस' शब्द की निरुक्ति) बतलाते हैं ॥५५॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।५६।।

भाष्य—'प्राणस्यान्नं' इत्यत आरभ्य यावदयं श्लोकोऽर्थवादसङ्घात एव । द्वित्राः श्लोका विधेयार्थाः ।

न मांसभक्षणे दोषो यथा ''क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्येति'' (३२) तथाऽयमपि श्लोकः ।

निवृत्तिस्तु महाफलेत्येतदत्र श्रूयते। बहुभिर्निन्दार्थाकरैरीदृशः संस्कारो जातो यत्र किंचिन्मांसमशितव्यम्। भूतानां वृत्त्यर्थमाह **न मांसभक्षणे दोष इति**। देवार्चनशिष्टे ब्राह्मणकाम्यादिषु निमित्तेषु प्रागुक्तेषु न दोषः। किन्तु यद्यशितुमिच्छन्ति। निवृत्तिः 'न भक्षयामीति' सङ्कल्पपूर्विका महाफला। फलविशेषाश्रुतेः स्वर्गः फलमिति मीमांसकाः।

एवं 'मद्ये' क्षत्रियादीनां, 'मैथुने' तु सर्ववर्णानां, दिवोदक्यापर्वकालादन्यत्र।

अल्पस्वल्पा प्रवृत्तिरेषा शास्त्रीया। भूतानां शरीरस्थितिहेत्वर्था प्रवृत्तिः। तथा चायुर्वेदकृत्:—

"आहारो ब्रह्मचर्यं च निद्रा चेति त्रयं मतम्।
मादकं च स्त्रियश्चैव ह्युपस्तम्भनमायुषः" ॥ इति ॥

यस्तु तेन विनाऽपि शक्नोति जीवितुं तस्य **निवृत्तिर्महाफला**।

प्रदर्शनार्थं चैतत्। अशिष्टाप्रतिषिद्धविषयाणामन्यासामपि निवृत्तीनाममेव। यत्र विधानं पुरुषस्य प्रवर्तमानस्य प्रीत्यतिशयोत्पत्तिप्रयोजनमनिन्द्यम्, गर्हेत वा यतो निवृत्तिः फलाय, यथा मध्वशनं सम्पन्नभोजनं राङ्कवं परिधानमित्येवमादि। तथा च शिष्टसमाचारः। व्यासश्च भगवानेवमेवाह। ये तु संसक्तितोऽशिष्टाप्रतिषिद्धा अपि यथा हसितकण्डूयनादयस्ततो निवृत्तिर्धर्माय ॥५६॥

हिन्दी—मांस के खाने में, मद्य (के पीने) में और मैथुन (के करने) में दोष नहीं है; क्योंकि यह जोवों की प्रवृत्ति (स्वाभाविक धर्म) है; परन्तु उनसे निवृत्ति (उन मांसादि का त्याग करना) महान् फल (स्वर्गादि देने) वाला है ॥५६॥

प्रेतशुद्धि तथा द्रव्यशुद्धि के वर्णन का उपक्रम—

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥५७॥

भाष्य—चतुर्णामपीतिवचनं सामान्यविहिता धर्माः शूद्रस्य नेदृशं यत्नमन्तरेण भवन्तीति ज्ञापनार्थम्।

प्रेतेषु जीवतां शुद्धिः। सुप्सुपेति समासः। प्रापणं चाप्रेतवन्निमित्ता शुद्धिरियं विशेषस्य। अतश्च यद्यपि शुद्धिवचनं प्रतिज्ञायते, तथाऽप्यशुद्धिसापेक्षत्वाच्छुद्धेः शास्त्रप्रत्ययकारकत्वादुभयोः, अप्रतिज्ञाताऽपि प्रथममशुद्धिरुच्यते ॥५७॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि— अब) चारों वर्णों की प्रेतशुद्धि (मरणाशौच से शुद्धि) तथा द्रव्यशुद्धि (तेजसादि पदार्थों की शुद्धि) को क्रम से यथायोग्य कहूँगा ॥५७॥

सपिण्डों को दश दिन का अशौच—

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते।।५८।।

भाष्य—'अनुदातो' दन्तजाताद्बालतर इति स्मरन्ति। तथाविभागेनोद्देशमात्रमिदं यतस्तदपेक्ष आशौचकालभेदो भविष्यति। तद्यथा स्मृत्यन्तरे "आ दन्तजन्मनः" तथा "बाले देशान्तरस्थे च" (मनु ५।७७) इत्यादिना सद्यःशौचं श्रुतम्। 'बाल' अजातदन्तो विज्ञेयः। एवं च नृणामकृतचूडाना'मित्येतत् (मनु ५।६७) एकरात्रिकमाशौचं दन्तजातेऽप्यवस्थाप्यते। एवमेते स्मृती विषयव्यवस्थया अविरोधिन्यौ बालविषये भवतः। नैशिकी च शुद्धिराचूडाकरणात्। यतो निवृत्तमुण्डकानां त्रिरात्र वक्ष्यति। तत्र त्रिरात्रं प्रागुपनयनात्परतः "शुद्ध्येद्विप्र" इत्यादि।

ये तु— "दशाहं शावमाशौचम्" इत्येतान्पक्षान् वयोविभागेन वर्णयन्ति, स्मृत्यन्तरात्समाचाराच्चव्युत्क्रमेण सम्बन्धयन्ति, दशाहमुपनीतस्य अनुपनीतस्य चतुरहं कृतमुण्डस्य त्र्यहं जातदन्तस्यैकाहमनुजातस्य सद्यःशौचिकादयस्तु विकल्पाः। एवं त्र्यहचतुरहयोः कृतचूडस्य। तेषां मते स्मृत्यन्तरप्रसिद्धो वृत्तस्वाध्यायापेक्षो न विकल्पः प्रतिपादितः स्यात्। तच्चोत्तरत्र दर्शयिष्यामः।

सर्वव्यापारनिवृत्त्या मृत उच्यते। सम्पूर्वस्य तिष्ठतेर्व्यापारोपरमदर्शनात्।

बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्च।

सूतके च पुत्रजन्मादौ।

तथोच्यते अशुद्धा बान्धवाः सर्व इत्येतेनास्य सम्बन्धः।

"कथं पुनरत्र वयोभेदप्रतिपत्तिर्यावता कृतमुण्ड इति संस्कारसम्बन्धो गम्यते। कृतोपनयने चेत्यत्र श्रुतमेव। अत एव कृतचौडः कियन्तं कालमुच्यत इति नैव श्रूयते"।

उच्यते। दन्तजातानुजातसाहचर्यात्कृतमुण्डः काललक्षणार्थो विज्ञायते। स च कालोऽत्र प्रथमतृतीयवर्षः।

यद्यपि "प्रथमे वर्षे वैकल्पिकं मुण्डीकरणं तस्मिन्त्समाश्रीयमाणे 'आ दन्तजन्मनः सद्य' इत्येतद्बाधितं भवति।"

तदप्ययुक्तम्। कियानवधिः कृतमुण्ड इति। चशब्दात्कृतमुण्डे चेति कृतोपनयने चेति लभ्यते। संस्कारान्तरप्राप्तौ व्यपदेशान्तरप्रवृत्तेः। एवं चैतया स्मृत्या एकवाक्यता भविष्यति "आ दन्तजन्मनः सद्यः" इत्यत्रापि। "त्रिरात्रमाव्रतादेशादिति" व्रतादेशग्रहणं कालोपलक्षणार्थमेव। न च ब्राह्मणस्यानित्योऽष्टमवर्षे एवं क्षत्रियवैश्ययोर्यश्च कालः, तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात्। तत्राप्यतीतशैशवस्य "परिपूर्ण

सर्वेषाम्'' इतिवचनात्। अतश्चाष्टमाद्वर्षादूर्ध्वं चतुर्णामपि वर्णानां सर्वाशौचम्, शूद्रस्यापि तस्य कालस्य सद्भावात्। यस्मिंस्तु पक्षे एकादशे वर्षे क्षत्रियवैश्ययोरुपनयनं लक्ष्यते तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात्। तत्राप्यतीतशैशवस्य परिपूर्णम्, अर्वाक् त्रिरात्रम्। शैशवस्य निवृत्तिश्च स्मृत्यन्तरे ''प्रागष्टमाच्छिशुः प्रोक्तः'' अन्यैस्तु ''आ षोडशाद्भवेद्बालः'' इति। योऽपि षोडशाद्बाल्यनिवृत्तिमाहुस्तेषामप्यष्टमादूर्ध्वं मासिक्येव शुद्धिः। एवं पठ्यते ''ऊर्ध्वं तु षड्भ्यो वर्षेभ्यः शुद्धिः शूद्रस्य मासिकी''। अन्यत्र पठितम् 'अष्टवर्षस्य मास' इति।

''ननु वक्ष्यमाणेभ्य एव वाक्येभ्य एषा वयोभेदव्यवस्था लभ्यते। किमनेन दन्तजात इत्युद्देशेन।''

सत्यम्। सुखावबोधार्थम् ॥५८॥

हिन्दी—(बच्चों के) दाँत पैदा होने पर या शीघ्र पैदा होने वाला हो तब, चूडाकरण और यज्ञोपवीत संस्कार करने पर, मरने से सभी बान्धवों (सपिण्ड तथा समानोदक वालों-५।६१) को सूतक (बच्चे के पैदा होने से सूतक) के समान अशौच होता है ॥५८॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥५९॥

भाष्य—सापिण्ड्यलक्षणं वक्ष्यते।

अर्वाक्सञ्चयनादिति चतुरहोपलक्षणं वक्ष्यति। ''आहिताग्नेः सञ्चयनं चतुर्थ्याम्'' इति वचनमस्ति।

अयं च विकल्पो वृत्तस्वाध्यायापेक्षो वृत्तापेक्षो वा। तथा च स्मृत्यन्तरम्।

''एकाहाद्ब्राह्मणः शुद्धो यस्तु ब्रह्माग्निसंयुतः। त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः''। तत्र त्रिवेदस्याग्निमत एकाहः। द्विवेदस्य तु त्र्यहम्। निर्गुणस्य दशाहम्।

गौतमेन पठितं सद्यः शौचम्। तच्च विशेष एव, ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम्। तत्र क्रियान्तराणि— ''उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते। दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तत'' इत्याद्याः क्रिया निवर्तन्ते। केवलं बहुवेदस्यागुण्यमानं प्रणश्यतीति स्वाध्यायो न निवर्तते।

तथा वृत्त्यपेक्षो युक्तो विकल्पः। षट्कर्मजीविनो दशाहः, त्रिभिरन्य इत्यस्य चतुरहः, द्वाभ्यामेक इत्यस्य त्र्यहः। दाशाहिक आशौचे प्रतिग्रहादावनधिकारात्प्राणयात्रैव दुर्लभा।

ये तु— ''वयांसि चत्वारि, चत्वारश्चाशौचकालाः, अतो यथावयो यथासंख्येन सम्बन्धः'', तेषां दन्तजाते दशाहः प्राप्नोति, उपनीते तु मृते एकाह एव। तत्र

स्मृत्यन्तरसमाचारविरोधः । अथ "विरोधपरिहारार्थं प्रातिलोम्येन सम्बन्धः क्रियते । उपनीते दशाहः कृतमुण्डे चतुरहः, त्र्यहो दन्तजाते, एकाहोऽनुजात इति" । अत्रापि निवृत्तचौडकानां त्रिरात्रादिति विरोधेन विकल्पो युक्तः । स्वशब्देन त्रिरात्रस्यानुविधानात् । चतुरहस्य वृत्तिभेदेन सञ्चयभेदेन विषयत्वसिद्धेः । स्मृत्यन्तरेणैवमेकवाक्यता भवति एकाहादित्यनेन । अन्यथा वयोभेदेन विकल्पे व्याख्यायमाने वृत्तस्वाध्यायापेक्षो मानवे शास्त्रे केन विकल्पो लभ्यते ।

अतो गौतमवचनाद्यस्य प्रात्यहिकेन प्रतिग्रहेण विनाऽपि वृत्तिरस्तिकुसूलधान्यादेस्तस्य बहुस्वाध्यायस्य स्वाध्यायाध्ययनमात्रे सद्यःशुद्धिः । येऽपि त्र्यहादयः कल्पास्तत्रापि त्र्यहैहिकादीनां तावन्मात्र एव विशुद्धिर्वृत्त्यर्थे प्रतिग्रहेऽनेनैव गौतमदर्शनेन । अन्यथा ब्राह्मणस्य स्वाध्यायिन इत्येवावक्ष्यत् न स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थमिति ।

अतो यद्यप्यविशेषेणैकाहाच्छुद्धिरित्यादि श्रुतम्, तथापि नियतक्रियाविषयं विज्ञेयम् । येन नित्यवद्ब्राह्मणस्य दशाहमाह "शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन" इति (५।८३), न ह्यन्यत्पुनर्वचने प्रयोजनमस्ति । तस्माद्विकल्पोऽयमुक्तेन मार्गेण व्याख्येयः । यत्र पुनर्बालादौ सद्यः शौचं, निवृत्तमुण्डकादौ त्रिरात्रं, तत्र विकल्पाभावात्सर्वक्रियासु शुचित्वम् ।।५९।।

हिन्दी—सपिण्डों को (सात पीढ़ी वालों तक— ४।६०) मरणाशौच दश, चार, तीन या एक अहोरात्र (दिन-रात) लगता है ।।५०।।

विमर्श—यह वैकल्पिक काल अग्निहोत्र, वेदादि गुणों की अपेक्षा से है । अग्निहोत्र तथा मन्त्र ब्राह्मणरूप सम्पूर्ण वेदशाखा को पढ़े हुए ब्राह्मण को एक दिन का, इन दोनों (श्रौताग्निवाला तथा समस्त मन्त्र ब्राह्मण सहित वेदाध्येता) में से एक गुणयुक्त ब्राह्मण को तीन दिन, उक्त दोनों गुणों से हीन केवल स्मार्त अग्निहोत्री को चार दिन तथा सब गुणों से हीन को दस दिन अशौच होता है । यहाँ 'दिन' शब्द दिन-रात का वाचक है । यह वैकल्पिक अशौच अवस्था दक्ष[१] तथा पराशर[२] के अनुसार म०मु० कार की व्याख्या में वर्णित है ।

---

१. यथा च दक्षः— 'एकाहस्तु शमांख्यातो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
हीने हीनतरे चैव द्वित्रिचतुरहस्तथा ।।'

इति द०स्मृ० ६।६ अत्र 'एकाहाच्छुद्ध्यते विप्रो योऽग्नि—' इति 'हीने हीनं भवेच्चैव द्वित्रिचतुरह—' इति च म०मु० पाठान्तरं दृश्यते ।

२. तथा च पराशरः— 'त्र्यहात्केवलवेदस्तु द्विहीनो दशभिर्दिनैः ।'
इति परा०स्मृ० ३।५ अत्र 'त्र्यह........निर्गुणो दश—' इति म०मु० पाठान्तरं दृश्यते ।

सपिण्ड तथा समानोदक के लक्षण—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ।।६०।।

भाष्य—अन्वयसंज्ञाविज्ञानाद्बान्धवग्रहणानुवृत्तेश्चान्वयजाःसप्तमपुरुषावधयः सपिण्डा उच्यन्ते । 'येभ्यः स्वस्य पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्र' इति जीवत्पूर्वपित्रादेर्विधानात् षट् तावद्योग्यतया सपिण्डा भवन्ति । यद्यपि 'पितृभ्यो दीयते आत्मना सप्तम'' अतः पितामहप्रपितामहाद्याः पूर्वान्वयजातास्ते सपिण्डा इति व्यपदिश्यन्ते । पूर्वे षट् सपिण्डाः । अपरे पुत्रादयः षडेव । यत एकस्याः पिण्डदानक्रियायाः सहभावात्सपिण्डाद्युपदेशो लभ्यते, पुत्रादेरपि सहभावः पौत्रादिना क्रियमाणोऽयम्, तेन येभ्यो दीयते यैश्च सह सम्प्रदानवान्भविष्यति सर्वे ते सपिण्डा व्यपदिश्यन्ते । यतो न तत्र पिण्डदानमवध्युपलक्षणत्वाच्छङ्ख इव शङ्खवेलायामागन्तव्यमिति । तेन यावदुक्तं स्यात्— 'प्रपितामहस्य यःप्रपितामहस्तदन्वयजा ये यावत्सप्तमास्ते सपिण्डा,' एवं स्वसन्ततौ पित्रादिसन्ततौ द्रष्टव्यम् । यत एव भेदस्तमुपादाय गणना कर्तव्या यावत्सप्तमावधि । यथा पितामहो येषामेकस्ते तत आरभ्य सप्तमावधयः सपिण्डा इत्येव सर्वत्र ।

तदन्वयजत्वे चोपलक्षणे जातेरनाश्रयणाद्विजातीया अपि क्षत्रियादयो ब्राह्मणादीनां सपिण्डा भवन्ति ।

अत एव तज्जननाद्याशौचे ब्राह्मणस्य दशाह एव, तेषां तु स्वकाल एव द्वादशाहादिः । अतः सर्वस्य विजातीयनिमित्ते विजातीयसपिण्डनिमित्ते वा जन्मादौ स्वकाल एव शुद्धिः ।

क्षत्रियादीनां ब्राह्मणापेक्षया त्रिपुरुषं सापिण्ड्यम् । तथा च शङ्खः—

''यद्येकजाता बहवः पृथक्क्षेत्राः पृथग्जनाः ।
एकपिण्डाः पृथक्शौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ।''

'पृथक्क्षेत्राः' भिन्नजातीयासु स्त्रीष्वित्यर्थः । 'पृथग्जनाः' पृथक्क्षेत्रसमानजातीया अप्यनेकमातृका भवन्ति, तदर्थमुभयोरुपादानम् । 'एकपिण्डाः' सपिण्डा भवन्ति । किंतु पृथक्शौचाः', स्वजातिनिमित्त एव तेषां शुद्धिकालः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादेः सूतकादौ दशाहः, ब्राह्मणस्य सूतके तेषां द्वादशाहश्च । यथा चान्योऽपि विशेषः— 'पिण्डस्त्रिष्वावर्तते' । त्रिष्वेव भवति पुरुषेषु ।

समानजातीयापेक्षया क्षत्रियादीनां ब्राह्मणावत् षट् पुरुषस्य सापिण्ड्यम् 'एकजाताः पृथक्क्षेत्रा' इत्यादिविशेषणोपादानात् । असमानजातीयापेक्षं त्रिपुरुषत्वमनेन वाक्येन शक्यते प्रतिपादयितुम् । एष एवार्थोऽनया स्मृत्या स्पष्टीक्रियते ''क्षत्रविट्शूद्रदायादा ये स्युर्विप्रस्य

बान्धवाः । तेषामाशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ।'' 'षड्भिस्त्रिभिरथैकेनेत्याहि' च ॥

स्त्रीणां तु विजातीयानां भर्तृकालेन जीवति भर्तरि शुद्धिः । आह च—

''सूतौ मृते तु दासानां पत्नीनां चानुलोमतः ।
स्वामितुल्यं भवेच्छौचं, मृते स्वामिनि पैत्रकम् ॥''

अन्ये पठन्ति ''असवर्णासुतानामिति'' प्रथमं पादम् । यद्ययमस्ति पाठस्तदा पुत्राणामपि शूद्राणां पितृगृहे व्यवस्थितानां तत्परतन्त्राणां पितृजात्यपेक्षया दशाहादिरेव शुद्धिकालः ।

दासाश्चात्र वैतनिका गृह्यन्ते । ये तु गर्भदासास्तेषां विध्यन्तरं श्रूयते—

''कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासं तथैव च ।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥''इति ।

स्पर्शने चैवमेतेषां शुचित्वं विज्ञेयम्, न पुनर्दानभोजनादिक्रियासु । यतः कर्म-निमित्ता एते शब्दाः, अतः किं विपर्यये शुद्धिः किं सर्वाः क्रियाः प्रतिप्रसवा उत काश्चिदेवाभ्यनुज्ञायन्ते । यतो 'राज्ञश्च कार्याविघातार्थमि'त्याकांक्षायां यान्येव तादृशानि कर्माणि तान्येव हृदयमागच्छन्ति । तथैव च समाचारः ।

''ननु च नात्र स्पर्शप्रतिषेधः श्रुतः'' ।

यावता स्मृत्यन्तरे पठ्यते ''अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते'' । तथाऽन्यच्च

''त्रिभिश्चतुर्भिर्वाऽहोभिर्ब्राह्मणः स्पृश्यतामियात् ।
एकादशेन शुद्धिः स्यान्मृतके सूदके तथा'' ॥

''राज्ञः षष्ठे सप्तमे वा स्पर्शः, द्वादशाहेनान्नशुद्धिः । वैश्यस्य स्पर्शनमष्टमे नवमे वा, पक्षेणान्नशुद्धिः । शूद्रस्य स्पर्शनमेकादशे द्वादशे वा, मासेनान्नशुद्धिः'' इति हारीतः । तथा वाक्यान्तरमपि—

''स्पर्शे क्रमेण वर्णानां त्रिचतुःपञ्चषैर्दिनैः ।
भोज्यान्नो दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः'' ॥

एते च विकल्पाः प्रयोजनापेक्षया गुणवदगुणापेक्षया व्यवस्थापनीयाः । सर्वेषां तावद्ब्राह्मणस्य भक्तदासास्त्रिचतुरैरहोभिः स्पर्शनेन दूषयन्ति । गर्भदासास्तु सद्यः । एवमितरेषामपि वर्णानाम् ।

यत्रेदं सद्यःशौचं तत्र सर्वत्र स्नानं वाससा च ।
द्रव्यस्य शुद्धिर्या यस्य विहितेति ज्ञापयिष्यते ॥

कन्यानामपि त्रिपौरुषेयो सपिण्डता । "सपुत्राणां तु स्त्रीणां त्रिपुरुषं विज्ञायते" इति वसिष्ठः । आशौच एवैतत् । विवाहे तु विधिर्दर्शितः ।

स्थितमेतत्— सप्तमपुरुषो मर्यादा, षट्पुरुषाः सपिण्डा इति । **सप्त**मे प्राप्ते **विनिवर्तते** ।

समानोदकभावः समानोदकव्यपदेशः ।

जन्मनाम्नोरवेदने । जन्म च 'अयमस्मत्कुले जातः'— **नाम**आयुष्मादिदन्नाम-कात्पितृपितामहादेः— उभयोरवेदने निवृत्तिः । अतश्चान्यतरे ज्ञातेऽप्यनिष्टोदकं ज्ञेयम् । "अवतीर्य नदीमन्यद्वा जलाशयं नाभिदघ्नभुग्नो दक्षिणाभिमुखः सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यामुदकं कृत्वाऽनवेक्षमाणाः प्रत्याव्रजेयुरिति" ॥६०॥

हिन्दी—सपिण्डता सातवीं पीढ़ी में निवृत्त हो जाती है और समानोदकता जन्म तथा नाम के न जानने पर निवृत्त हो जाती है ॥६०॥

विमर्श— सप्तम पुरुखा (सातवीं पीढ़ी)— (१) पिता, (२) पितामह और (३) प्रपितामह— ये तीन पिण्डभागी तथा प्रपितामहके (४) पिता (५) पितामह और (६) प्रपितामह ये तीन पिण्डलेपभागी अर्थात् कुल ६ तथा एक स्वयं इस प्रकार ७ पीढ़ियों तक सपिण्डता होती है । जिस व्यक्ति के ये सपिण्ड हैं, उनका यह व्यक्ति भी पिण्डदाता होने से 'सपिण्ड' है । मत्स्यपुराण में कहा भी है— 'चतुर्थ आदि (प्रपितामह के पिता, पितामह और प्रपितामह) लेपभागी हैं तथा पिता आदि (तीन-पिता, पितामह और प्रपितामह) पिण्डभागी हैं, पिण्ड देने वाला सातवाँ है, इस प्रकार यह सपिण्डता सात पुरुखाओं (पीढ़ियों) से सम्बद्ध है[१] ।' यह सपिण्डता समान (एक गोत्रवालों में ही होती है भिन्न[२]) गोत्रवालों में नहीं, इसी कारण मातामह के साथ एक पिण्ड का सम्बन्ध रहने पर भी सपिण्डता नहीं मानी जाती ।

मरण के समान जन्म में भी अशौच—

जननेप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ।।६१।।

भाष्य—एवमेतत्सपिण्डानां जनने । यथैव दशाहादयः कल्पाः षट्कर्मादिवृत्त्य-पेक्षया स्वाध्यायाल्पमहत्त्वापेक्षया च व्यवस्थिता मरणे, तथैव जननेऽपि आशौचमात्र-मतिदिश्यते कालानवच्छिन्नम् । सामर्थ्याच्चागृह्यमाणविशेषतया तत्सम्बन्धसकललाभः ।

---

१. तदुक्तं मत्स्यपुराणे— 'लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥' इति (म०मु०) ।

कालावच्छिन्नातिदेशे तु एकेनैव मुख्यत्वाद्दशाहेन सम्बन्धः स्वाध्यायादिषु स्यात्। यदि वा पाठप्रत्यासत्त्या दशाहाद्यपेक्षया एकाहेन एकेनैव च निराकांक्षीकृतत्वादन्यैस्त्र्य-हादिभिर्न सम्बन्धः स्यात्। तत्रेयं स्मृतिरविशेषेण वृत्तस्वाध्यायापेक्षायां व्यवस्थायां मृतसूतकयोर्विदधती, जनने गुणाद्यनपेक्षया जातिमात्रे स्थाप्यमाना, विरुध्येत। समाचारश्च बाधितः स्यात्।

"नन्वेवं स्त्रीणामपि त्र्यहैकाहादयः कल्पाः सूतिकानां प्राप्नुवन्ति समाचारविरोधिनः।"

अत्रोच्यते। यद्ययं विकल्पः स्यात्तदैवम्। व्यवस्थित एवासीत्कल्पः। तथाहि तुशब्द उपपन्नतरो भवति।

सूतकशब्दश्च नाशौचे वर्तते। लक्षणया सूतकसम्बन्ध्यशौचं लक्षयेत्। लक्षणायाः साहचर्यादस्पृश्यतैव लक्षयितुं युक्ता। यदि च सर्वमाशौचमभिप्रेतं स्यादाशौचग्रहणमेवा-करिष्यत् 'अशौचं मातुरेवेति'। अतश्च स्मृत्यन्तरे त्रिरात्रमस्पृश्यतोक्त्या इह तदभाव-स्तयोर्विकल्पः **सूतकं मातुरेव**। मातापित्रोर्मातुरेवेति पितुर्विकल्पः।

उपस्पृश्य स्नात्वा **शुचिर्भवतीति**। उपक्रममात्रमिदं वक्ष्यमाणेन श्लोकेन पितुरपि त्र्यहमेव ॥६१॥

हिन्दी—जिस प्रकार यह मरणाशौच सपिण्डों में कहा गया है, उसी प्रकार जन्म (बच्चा पैदा) होने पर भी पूर्ण शुद्धि चाहने वाले सपिण्डों के लिए अशौच होता है ॥६१॥

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥३॥]

[**हिन्दी**—दोनों (जननाशौच तथा मरणाशौच) में कुलवाले (सपिण्डवाले) का अन्न दस दिन तक नहीं खाया जाता है तथा दान लेना, यज्ञ और वेद का स्वाध्याय छोड़ दिया जाता है ॥३॥]

जननाशौच तथा मरणाशौच में विभिन्नता—

[सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥४॥]

हिन्दी—मरणाशौच सबों (सपिण्डों) को होता है और सूतक (जननाशौच—बालक उत्पन्न होने पर अशुद्धि) केवल माता-पिता को होता है। (उसमें भी यह विशेषता है कि—) केवल माता को ही सूतक (१० दिन तक अशुद्धि) होता है, पिता तो स्नान कर शुद्धि (स्पर्श करने योग्य) हो जाता है ॥ ४॥

विमर्श—यहाँ शुद्धि शब्द से स्पर्श करने योग्य अपेक्षित है। अतः स्नान से पिता

सर्वत्र स्नान करने पर स्पर्श के योग्य शुद्ध होता है और माता ही दस दिन अस्पृश्य रहती है।[१]

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिण: ।
त्रेताधर्मोपरोधार्थमरण्यस्यैतदुच्यते ।।५।।]

[**हिन्दी**—जो यज्ञ (या ज्ञानयज्ञ) धर्म में प्रवृत्त है तथा दान के फल को चाहता है, और त्रेता धर्म के उपरोध से अरण्य में (वानप्रस्थाश्रम में) रहता है, उसके लिये यह अशौच कहा गया है ।।५।।]

वीर्यपात में शुद्धिविचार—

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति ।
वैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ।।६२।।

भाष्य—सहेतुकं त्र्यहमुपदिशन्नपस्पर्शनशुद्धिं पूर्वोक्तामनुमन्यते। किमर्थमुच्यत इति चेत् सरूपविधितयाऽर्थवादार्थम्, न विधेयतया, "जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयादिति" वत्।

निरस्य तु शुक्रं मैथुनधर्मेण सम्प्रयुज्य शुक्रोत्सर्गादनन्तरं **उपस्पृश्य** स्नात्वा शुचिर्भवति। अतो **बैजिकादभिसम्बन्धात्**। बीजनिमित्तो 'बैजिक:'। 'अभिसम्बन्ध:' अपत्योत्पत्ति:। अतस्तत्र कथं **नानुरुन्ध्यान्ना**नुवर्तेत। **अघ**माशौचं **त्र्यहम्**। यादृशं च शुक्रनिरसनेन अकृतस्नानस्याशुचित्वं, न तादृशमेव प्रसवे, अपि तु त्र्यहम्। पूर्वश्लोकार्धत्र्यहशेषतयाऽनूद्यते। अत एवोपस्पृश्येति स्नानमुच्यते, "स्नानं मैथुनिन: स्मृतम्" इति वचनान्नाचमनम्।

पुत्रे तु जाते तदह: स्पृश्यतैवेति केचित्। तथा च **शङ्ख** आह "कुमारप्रसवे नाड्यामच्छिन्नायां गुडतिलहिरण्यवस्त्रप्रावरणगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहरित्येके"। तत्मात्स दिवस: पुण्य: पितॄणां प्रीतिवर्धन:। स्मरणाच्चैव पूर्वेषां तदहर्न प्रदुष्यति इति। तथा श्राद्धमप्येके कुर्वन्तीति च। अनेन पितु: सर्वथाऽऽशौचाभाव एव।

तत्रैते स्मृती पूर्ववद्वृत्तिसदसद्भावापेक्षया विकल्प्येते ।।६२।।

हिन्दी—मनुष्य (ज्ञानपूर्वक) वीर्यपात कर स्नान करके ही शुद्ध होता है तथा पर स्त्री में बैजिक सम्बन्ध[२] होने पर तीन दिन अशुद्धि मनानी चाहिये ।।६२।।

विमर्श—गृहस्थ ज्ञानपूर्वक वीर्यपात करने पर स्नान से तथा अज्ञानपूर्वक (स्वप्न

---

१. तथा हि संवर्त्त:—'जाते पुत्रे पितु: स्नानं सचैलं तु विधीयते।
माता शुद्धयेद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितु: ।।' इति (म०मु०)

२. तथा च विष्णु:— 'परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम्।' इति।

आदि में) वीर्यपात करने पर बिना स्नान से शुद्ध होता है तथा ब्रह्मचारी की शुद्धि (२।१८१) में कही गयी है ।

[जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ।।६।।]

[**हिन्दी**—जन्म (बालक की उत्पत्ति) में भी माता-पिता को इसी प्रकार अशौच होता है, माता को (१० दिन तक) अशौच रहता है तथा पिता (सवस्त्र) स्नान करके शुद्ध हो जाता है ।।६।।]

शव-स्पर्श करने वालों का शुद्धि-विचार—

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ।।६३।।

भाष्य—त्रयस्त्रिरात्रा नवाहानि ।

एकेन च अह्ना एकया **च रात्र्या** अहोरात्रः ।

एवं दशाहो वृत्तानुरोधादेवमुपदिष्टः ।

शवस्पृशः शवस्य स्नानालङ्कारादिकारिणः ।

अन्येषां स्नानमात्रं वक्ष्यति तन्निर्यापकानां च । तथा च प्रकटीकरिष्यति "प्रेताहारैः समम्" इत्यत्र ।

एतच्च समानोदकानां, मूल्येन वा निर्हरताम् । अनाथनिर्हरणे तु स्मृत्यन्तरे—

"न तेषामशुभं किंचिन्नाशौचं शुभकर्मणाम् ।
जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ।।"

यत्तु 'असपिण्डं द्विजमिति' तत्रैव वक्ष्यामः ।

उदकदायिनाः समानोदकाः । तेषां च "पृथक्पिण्डे च संस्थिते" इति सद्यः-शौचमपि वक्ष्यते । तत्र विकल्पः । सपिण्डेष्वेतदस्वाध्यायाद्यपेक्षम् ।।६३।।

हिन्दी—शव का स्पर्श करने वाले सपिण्ड दस दिन में शुद्ध होते हैं तथा समानोदक तीन दिन में शुद्ध होते हैं ।।६३।।

विमर्श— एक दिन एक रात अर्थात् एक दिन-रात तथा तीन त्रिरात्र अर्थात् नव दिन-रात, इस प्रकार सर्व योग से 'दस दिन' अर्थ करना चाहिये । गोविन्दराज तो धन लेकर शव को ढोने-फेंकने आदि से स्पर्श करने पर दस दिन में ब्राह्मण की शुद्धि होती है', ऐसा अर्थ करते हैं, कोई-कोई एक दिन-रात तीन दिन-रात और दस दिन-रात अर्थ करते हैं, वह हेय है । इस वचन का मुख्य विषय यह है कि— 'यदि 'दशाह—'

(४।५९) के अनुसार जिसकी शुद्धि एक दिन या तीन दिन में होती है, वह भी मोहादि-वश शव-स्पर्श करने से दस दिन में ही शुद्ध होता है।'

गुरु आदि के शव स्पर्श करने वाले शिष्य का शुद्धिकाल—

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेताहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ।।६४।।

भाष्य—पितृमेधः चरमेष्टिः। अन्ये तु सर्वं कर्मैव लक्ष्यत इति प्राहुः। तत्कुर्वन् **शिष्यो दशरात्रेण शुध्यति**। ब्रह्मचारिणोऽप्ययं विधिरस्त्येव।

प्रेताहारैः समः। प्रेतं हरन्ति निर्यापयन्ति तथा तेषां दशाहः। एवं शिष्य-स्यापीत्यर्थः ॥६४॥

हिन्दी—असपिण्ड गुरु (आचार्य, उपाध्याय आदि) के शव का स्पर्श तथा अन्त्येष्टि (दाहकर्म) करने में सम्मिलित शिष्य शव ढोने वालों के साथ दस दिन-रात में शुद्ध होता है ॥६४॥

गर्भस्राव में स्त्रीशुद्धि—

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ।।६५।।

भाष्य—गर्भस्रावे गर्भमाससमा रात्रीः स्त्रिया एव शुद्धिर्युक्ता, इह वाक्ये तस्याः श्रुतत्वात्।

सपिण्डानां तु स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेषणीयौ। वसिष्ठेन तु सपिण्डानां त्र्यहः समाम्नातः [अ० ४ सू० ३४] "ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने सपिण्डानां त्रिरात्रमशौचम्"।

स्रावस्तु गर्भस्य मासत्रयादूर्ध्वं प्राग्दशमान्मासात्। केचित्तु प्राङ्नवमादित्याहुः। अप्राप्तकालस्य पातः 'स्राव' उच्यते। न पुनर्द्रवरूपस्यैव।

तथा गौतमेन गर्भविस्रंसने "गर्भमाससमा रात्रीरिति" पठितम् [अ० १४ सू० १५]।

सप्तमास्याश्च जीवन्ति। अतः सप्तमे मासे पूर्णमाशौचम्। एतत्तु जीवतो जातस्य युक्तमन्यथा तु गर्भमाससमा इत्येव।

इह रजस्वलाया रजस्युपरते स्नानेन शुद्धिराम्नाता। स्मृत्यन्तरे त्र्यहादूर्ध्वम्। तत्रैवं व्यवस्था। प्राक्त्र्यहाद्रजोनिवृत्तावपि नास्ति शुद्धिरूर्ध्वमनुपरतेऽपि भवति। किंतु 'विशुद्ध्यतीति' प्रकृते पुनः 'साध्वीति' वचनादनिवृत्ते रजसि वैदिककर्माधिकारानुप्रवेशो नास्ति, न पुनः स्पर्शादिनिषेधः। उक्तम् "आद्याश्चतस्रो निन्दिताः" इति। **रजस्वला स्त्री रजस्युपरते स्नानेन साध्वी** भवति शुद्धा कर्मयोग्येत्येवं पदयोजना।

स्त्रीग्रहणं वर्णमात्रस्त्र्यर्थम् । पूर्वे तु श्लोका ब्राह्मणविषया व्याख्यातास्तदाशङ्का-निवृत्त्यर्थं स्त्रीग्रहणम् । उत्तरत्रापि यत्र विशेषप्रमाणम् नास्ति तत्रापि वर्णमात्रविषयतैव, यथा ''नृणामकृतचूडानाम्'' इति ॥६५॥

हिन्दी—तीन मास से लेकर छः मास तक जितने मास का गर्भ गिरा हो, उतने दिनों में माता शुद्ध होती है तथा साध्वी रजस्वला स्त्री रज के निवृत्त होने पर स्नान से (पाँचवें दिन) शुद्ध (यज्ञ-देवपूजन में भाग लेने योग्य) होती है ॥६५॥

विमर्श— छः मास तक अवधि आदिपुराण[1] के अनुसार है । गोविन्दराज तो आदि पुराण में यह वचन मिलने से 'सात मास तक की अवधि' मानते हैं और प्रथम और द्वितीय मास में गर्भस्राव होने पर तीन दिन माता की अशुद्धि कहते हैं, अपने मत की पुष्टि में वे हारीत[2] तथा सुमन्तु[3] के वचन का प्रमाण देते हैं ।

उपनयन से पूर्व बालक के मरने पर अशौच—

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तमुण्डकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।।६६।।

भाष्य—इमाः षष्ठीः ''कर्तृकर्मणोः कृतीति'' कर्तृलक्षणाः केचिद्व्याचक्षते । 'अकृतचूड एकाहेन शुद्ध्यति' । तथा वयोवस्थापेक्षोऽपि विकल्प इत्येकीयमतमुक्तम् । तस्यैव श्लोकस्य व्यवस्थावाक्ये इमे । अन्ये त्वध्याहारेण सम्बन्धलक्षणा आहुः ।

अकृतमुण्डानां मृतानां ये सपिण्डाः ।

तत्रोत्तरपक्षः समाचाराभिप्रेतः । स्मृत्यन्तरे सद्यःशौचमप्याम्नातम् । विषयस्तत्रैव दर्शितः । 'आदन्तजन्मनः सद्यः आचूडा**न्नैशिकी** निर्वृत्तचूडकानां त्रिरात्रमिति' ॥६६॥

हिन्दी—चूडाकरण संस्कार से पहले बालक के मरने पर एक दिन में और चूड़ाकरण संस्कार के बाद तथा उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करने के पहले बालक के मरने पर तीन दिन में सपिण्डों की शुद्धि होती है ॥६६॥

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः ।
त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नो विधीयते ।।७।।]

---

१. यथोक्तमादिपुराणे— 'षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदि । तथा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अथ ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ।

२. यथाऽऽह हारीतः— 'गर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजोविशेषत्वात् । पित्रादिसपिण्डां त्वत्र सद्यःशौचम् ।' इति (म०मु०)

३. यथाऽऽह सुमन्तुः— 'गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्रवणे सद्यःशौचं वा भवति ।'

[**हिन्दी**—संस्कार से पहले सब वर्ण के बच्चों के मरने पर सामान्यता तीन रात (दिन-रात) में तथा कन्या के मरने पर एक रात में शुद्धि होती है ॥७॥]

[अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ।।८।।]

[**हिन्दी**—बिना दाँत जन्मे बच्चे के मरने पर तत्काल (स्नान मात्र से), चूड़ाकरण संस्कार करने के बाद बच्चे के मरने पर एक रात में, उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार के बाद मरने पर तीन दिन में और इसके बाद मरने पर दस दिन में सपिण्ड़ वालों की शुद्धि होती है ॥८॥]

[परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः ।।९।।]

[**हिन्दी**—परस्त्री (दूसरे की रहकर जो अपनी स्त्री बाद में हुई हो) की, उसमें उत्पन्न पुत्रों की तथा नाना की अशुद्धि तीन दिन और असपिण्डों की एक दिन होती है ॥९॥]

दो वर्ष से कम आयु वाले मृत बालक का ग्राम से बाहर प्रक्षेप—

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ।।६७।।

भाष्य—ऊने असंस्कृतस्य द्वे वर्षे यस्य जातस्य गते, स उच्यते **ऊनद्विवार्षिकस्तं प्रेतं बान्धवा बहिर्ग्रामं निदध्युर्भूमौ** निखातायां स्थापयेयु: ।

स्मृत्यन्तरे निखनेदिति पठ्यते ।

अलंकृत्य प्रेतालंकारैः ।

ऊनद्विवर्षेऽपि श्रूयमाणोऽलंकार: समाचारात्कृतोपनयनादावपि विज्ञेयः ।

शुचौ यत्रास्थीनि भूप्रदेशे न सन्ति ।

अस्तिसंचयरहितत्वेन या शुद्धा तत्र निखाय स्थाप्यः । श्मशाने किलास्थीनि संचितानि भवन्ति । अत एतेन वचनेन ततोऽन्यत्र निधानमुच्यते । न पुनस्तादृशस्यास्थिसंचयो न कर्तव्य इत्येव वाक्यार्थः । अग्निसंस्काराभावादेव तदप्राप्तेः ॥६७॥

हिन्दी—दो वर्ष से कम अवस्था वाले मरे हुए बच्चे को मालादि पहनाकर पवित्र भूमि पर (ग्राम से) बाहर बिना अस्थिसंचय किये ही छोड़ दें ॥६७॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेत त्र्यहमेव तु ।।६८।।

भाष्य—काष्ठवदिति निरपेक्षतामाह ।

श्राद्धमपि न कर्तव्यं न चोदकम् । उदकक्रियानिषेधेन श्राद्धनिषेधः सिद्धः अङ्गाङ्गि-

भावात् । अतः समाचारप्रसिद्धः श्राद्धनिषेधो लिङ्गेन साधयितव्यः ।

अन्ये तु स्मृत्यन्तरदृष्टनिखननप्रतिषेधार्थं वर्णयन्ति । ततश्च विकल्पः ।

क्षपेत उदास्येत । शास्त्रचोदितं व्यापारं न कुर्यात् ॥६८॥

हिन्दी—इस (दो वर्ष से कम आयु वाले बालक) का अग्निसंस्कार (दाहकर्म) तथा उदकक्रिया (तिलाञ्जलि देना) न करे किन्तु उसे जंगल में काष्ठ के समान छोड़कर तीन दिन अशौच मनावे ॥६८॥

विमर्श— वन में काष्ठ के समान मृत बालकों को छोड़ने का विधान कर भगवान् मनु ने उसके निमित्त शोक, तिलाञ्जलि-दान तथा श्राद्ध आदि नहीं करने का उपदेश दिया है । यद्यपि प्रकृत वचन में केवल पृथ्वी पर काष्ठवत् छोड़ने का विधान है, तथापि 'ऊनद्विवर्षं निखनेत्' (या०स्मृ० ६।१) अर्थात् 'दो वर्ष से कम आयु वाले मृत बालक को (भूमि में) गाड़ दे' इस याज्ञवल्क्य वचन के अनुसार उसे भूमि में गड्ढा खोदकर गाड़ देना चाहिए; जैसा कि प्रायः सर्वत्र व्यवहार में किया भी जाता है । गङ्गा आदि महानदियों के तटवर्ती स्थानों में तो उक्त शव को उन्हीं नदियों में प्रवाहित कर देते हैं । सर्वत्र नदियों की उपलब्धि न हो सकने के कारण ही संभवतः भूमि में गाड़ने का विधान किया गया है । यम ने तो दो वर्ष तक की आयु वाले मृत बालक के शरीर में घृत लेप करके यमगाथा पढ़ते तथा यमसूक्त जपते हुए भूमि में उसे गाड़ने का विधान किया है ।[1]

उक्त विषय में अन्य विकल्प—

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वाऽपि कृते सति ।।६९।।

भाष्य—आ त्रिवर्षस्येति आ तृतीयाद्वर्षात्प्रतिषेधः । न पुनश्चतुर्वर्षादौ । एवमर्थ-मेवादिशब्दं केचित्पठन्ति, **'नात्रिवर्षस्य कर्तव्या** त्रिवर्षादेरिति' । समाचारश्चैवमेव ।

जातदन्तस्य वा कुर्युः । उदकक्रियासाहचर्यादग्निसंस्कारोऽभ्यनुज्ञायते ।

"ननु च विकल्पे कामचारः । तत्र कः प्रयाससाध्यं वित्तक्षयकरमनुष्ठानपक्षमा-श्रयेत । व्यर्थस्तदुपदेशः" ।

उच्यते । सर्वविलक्षणोऽयं पित्रोरधिकारः । प्रेतोपकारार्थमेतत्क्रियते । नैमित्ति-कत्वादवश्यकर्तव्यमित्येतत्प्रागेवोक्तम् । तत्रावश्यकर्तव्यताप्रतिषेधोऽस्तीतीह निश्चीयते । प्रेतोपकारार्थत्वमस्तीत्यभ्यनुज्ञानेन ज्ञाप्यते । तत्राकरणे नास्ति विध्यतिक्रमः । प्रेतोपकार-स्त्वनुष्ठानाद्भवतीति विधिप्रतिषेधयोर्नासामञ्जस्यम् ॥६९॥

---

१. 'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्भुवि । यमगाथां गायमानो यमसूक्तं जपन्नपि ।' (यमः) ।

हिन्दी—तीन वर्ष की आयु में नहीं पहुँचे हुए अर्थात् दो वर्ष से कम आयु वाले मृत बालक की जलक्रिया (तिलाञ्जलि— दान तथा दाह आदि कर्म) (बान्धव— मृत बालक के पिता आदि) न करें। अथवा— दाँत जमने पर या नामकरण संस्कार के ही हो जाने पर उस मृत बालक के निमित्त जलाञ्जलि दे (और दाह कर्म तथा श्राद्ध भी करे) ॥६९॥

विमर्श— इस दो वर्ष तक की आयु वाले मृत बालक के उद्देश्य से पिण्ड़दान आदि श्राद्धकर्म करने से प्रेत (मृतात्मा) का उपकार होता है तथा नहीं करने से पिता आदि बान्धवों को कोई दोष नहीं होता।

सहपाठी के मरने तथा समानोदक के यहाँ जन्म होने पर—

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।।७०।।

भाष्य—**सब्रह्मचारी** समानचरणोऽत एकोदका रूढ्या आसपिण्डेभ्य: परिगृह्यन्ते। तेषामितरेतरं जन्मनि सूतके त्रिरात्रम्।

सद्य:शौचमपि स्मृत्यन्तरादुदकदायिनां विकल्पितं द्रष्टव्यम् ॥७०॥

हिन्दी—सहपाठी (एक गुरु के साथ पढ़े हुए) ब्रह्मचारी के मरने पर एक दिन-रात अशौच होता है और समानोदक (५।६०) के यहाँ सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन रात (दिन-रात) में शुद्धि होती है ॥७०॥

कन्या के मरने पर अशौच-निर्णय—

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवा: ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभय: ।।७१।।

भाष्य—**असंस्कृता** या वाङ्मात्रेण प्रतिगृहीता न च विवाहितास्तासां मरणे **बान्धवा:** पतिपक्षास्त्रिरात्रेण। **सनाभयस्तु** सपिण्डा: स्वपितृपक्षा यथोक्तेन कल्पेन "निर्वृत्तचौडकानामिति" जातेरधिकारात्त्रिरात्रेण।

अन्येस्तूक्तं सोदर्या दशरात्रेणेति। तेषां चाभिप्राय:। अष्टवर्षाया: कन्याया दानं विहितम्। दत्तायाश्च निर्वृत्तचौडकव्यपदेशाभावात्पुंस इवोपनीतस्य, तदानीं कल्पान्तरस्यानाम्नानाद्दशाह एव युक्त:।

अन्यैस्तु पठितम् "अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम्" इति। तत्र व्याख्यातार: पञ्चदशाब्ददेशीयाऽपि या ह्यदत्ता कन्या तिष्ठेत्तदहरेवाशौचम्। मुख्यमाम्नानमतिक्रम्य कालक्षपणे प्रमाणाभावात्।

तत्रोच्यते। 'बालेषु चेति' कोऽस्यार्थ:। यावता उक्तमेव योगविभागे "आ दन्त-

जन्मनः सद्य'' इति । न चैतेन तद्बाधितुं युक्तम्, सामान्यरूपत्वादस्य, तस्य च विशेष-व्यवस्थापनरूपत्वात् । अतोऽयमेकाहः पृथगुक्तोऽपि आचूडादेव व्यवतिष्ठते । सामान्यस्य विशेषापेक्षत्वात् । तस्मादनार्ष एवायमर्धश्लोकः प्रतिपद्यते— स्पर्शविषयतया नेयः । स्पर्शप्रतिषेधो हि मृतकसूतकयोर्बालस्यापि पुंवत्प्राप्तः । तदर्थमेतदुक्तं स्यात् ''अहस्त्व-दत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम्'' इति । एवं च विषयसप्तम्याश्रिता भवति । सा च युक्ता कारकविभक्तित्वात् । इतरथा अध्याहृत्य भावलक्षणा सप्तमी व्याख्यायेत, 'बालेषु मृतेषु जीवतां शुद्धिरिति' । न च तदुपस्पर्शनादाशौचमेतेनैतत्सिद्धयतीति । विषयान्तरे तस्य च चरितार्थत्वात्, भूमौ परिवृतत्वात्, भूमौ परिवृतस्य च स्पर्शनासम्भवात् ।

''अविशेषोक्तौ कुतो विशेषप्रतिपत्तिरिति'' चेत् ।

तस्याचमनकल्पो विद्यत इत्येतत्सन्निधौ तादृशस्यैव स्पर्शस्य प्रतीयमानत्वात् । तथा च रजस्वलास्पृष्टिनो बालस्य स्पर्शनं नेच्छन्ति । अथास्य विशेषणं स्यात् । तथा गौतमेन तदुक्तं स्वस्यां स्मृतौ । युक्तमेवाधातुमेतस्य । तस्माद्युक्तैवाधानकाललक्षणा ॥७१॥

हिन्दी—अविवाहित (किन्तु वाग्दत्त) कन्या के मरने पर पतिपक्षवालों की तथा सपिण्ड पितृ-पक्षवालों की तीन दिन में शुद्धि होती है[१] ॥७१॥

विमर्श— यह व्यवस्था आदि पुराण के अनुसार है । मेधातिथि तथा गोविन्दराज 'नृणामकृतचूडानाम्' (५।६७) वचन के अनुसार शुद्धि मानते हैं, किन्तु उक्त सिद्धान्त मानने में पुत्र के समान कन्या के भी चूडाकरण संस्कार के बाद मरने पर तीन दिन अशौच होगा जो आदिपुराण से विरुद्ध है ।

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ।।१०।।]

हिन्दी—पहले दूसरे की रहकर बाद में जो अपनी स्त्री हुई हो, ऐसी स्त्री में उत्पन्न पुत्र के जननाशौच और मरणाशौच मातामह (नाना) को तीन दिन और सपिण्डन को एक दिन होता है ॥१०॥

अशौचावस्था में नियम—

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् ।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ।।७२।।

---

१. तथा चादिपुराणे—

'आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते । सद्यः शौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥
ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि । अतः परं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः ॥
वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम् । पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि ॥
स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च ।' इति । (म०मु०)

भाष्य—क्षारलवणम्। यवक्षारादि'क्षारम्'। 'लवणं' सैन्धवादि। तन्न भुञ्जीरन्। लवणविशेषणं वा क्षारग्रहणं तेन सैन्धवस्य न प्रतिषेधः।

निमज्जनं न नदीतडागादावतीर्थस्नानमङ्गपरिघर्षणादिवर्जनम्।

मांसाशनं च यावदाशौचं स्मृत्यन्तरात्प्रतिषिध्यते। एवं पठ्यते "न स्त्रियमुपेयुर्न मार्जयेयुर्न मांसमश्नीयः"। गृह्यकारस्तु "त्र्यहमनश्नन्त आसीरन् क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन्" इत्याह।

शयीरंश्च स्थण्डिले परसङ्गवर्जम्।

सूतकेऽपि ब्रह्मचर्यं स्मृत्यन्तरे प्रदर्शितम् ॥७२॥

हिन्दी—(अशौच वालों को) कृत्रिम लवण से रहित अन्न (पायस = खीर आदि) खाना चाहिए, तीन दिन नदी आदि में स्नान करना चाहिये, मांस-भोजन का त्याग करना चाहिये और अलग-अलग भूमि पर (पलंग या खाट पर नहीं) सोना चाहिये ॥७२॥

विदेश में मरने पर अशौच का उपक्रम—

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥७३॥

भाष्य—सन्निधौ यत्रासौ मृतस्तत्र तत्संनिधीयते।

अन्ये तु प्रयाणकाले ये संनिहितास्तेषामेवायं विधिरित्याहुः।

सम्बन्धिनः समानोदकाः। **बान्धवाः** सपिण्डाः।

अन्ये तु ग्रामान्तरे नगरान्तरेऽवस्थानम**सन्निधानं** मन्यन्ते, तेषां च— ॥७३॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) पास में मरने पर यह अशौच की विधि मैंने कही है, अब पास में न मरने पर अर्थात् परदेश या परोक्ष में— जहाँ कोई अपना बान्धव नहीं हो वहाँ मरने पर आगे कही हुई विधि सम्बन्धियों (सपिण्ड तथा समान उदक वाले बन्धुओं) को जाननी चाहिये ॥७३॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥७४॥

भाष्य—विदेशो ग्रामान्तरादिः पूर्ववत्।

विगतं मृतम्।

अनिर्दशम्। उपलक्षणमेतत्। यस्य च आशौचकालस्तच्छेषं तस्याशौचम्। पुन**र्दशरात्र**ग्रहणं श्लोकपूरणार्थम्।

उत्पत्त्यपेक्षया जन्ममरणयोराशौचकालविकल्पेनावश्यमपेक्ष्यम्। यदा सूतकाद्यु-

त्पन्नं तदा प्रभृति दशाहादि कल्पः, न यदा सपिण्डैर्ज्ञातमिति । अतश्च यदाऽतिथिना ज्ञातं सूतकादि न तु गृहस्थेन तदाऽप्यभोज्यमन्नम् । तथैवोत्पत्तिनिमित्तमात्रमिदमुभयत्रेति ।

दशाहमाशौचिनां तत ऊर्ध्वं, त्रिरात्रैकाहाशौचिनां तु सचैलस्नानजा सद्यः शुचिः॥७४॥

हिन्दी—विदेश में मरे हुए बान्धव को दस दिन बीतने के पहले जो सुने, वह जितने दिन (दस दिन पूरा होने में) बाकी है, उतने ही दिनों तक अशुद्ध रहता है।

विमर्श— वृहस्पति वचनानुसार बालक के जन्म लेने पर भी यही शुद्धि काल समझना चाहिये।

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षणमासे पक्षिणी तथा ।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति ।।११।।]

[**हिन्दी**—विदेश में मरे हुए बान्धव का समाचार तीन मास के बाद सुनकर तीन रात, छः मास के बाद सुनकर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा आगे वाले दिन के सायंकाल तक), नौ मास के बाद बान्धव का समाचार सुनकर एक दिन तथा उस (नौ मास) के बाद सुनकर केवल स्नान करने से शुद्ध होता है ॥११॥]

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ।।७५।।

भाष्य—यस्य यःकृत आशौचकालो दशाहादिस्तस्य तदूर्ध्वं त्रिरात्रम् । यस्य तु त्र्यहैकाहादिस्तस्य तत ऊर्ध्वं सवाससः स्नानमात्रमेव । तथा चोत्तरत्र वक्ष्यति "सवासाः" इत्यादि ।

संवत्सरे अतीते अतिक्रान्ते स्पृष्ट्वै**वापः** स्नात्वा शुध्येदित्यर्थः । "हस्तेन च सपादेन" इत्यादिवचनात्सर्वाङ्गस्पर्शनं प्रतीयते, तच्च स्नानमेव ॥७५॥

हिन्दी—विदेश में मृत बान्धव का समाचार मरने के दस दिन बाद सुनकर सपिण्ड तीन दिन में शुद्ध होता है तथा एक वर्ष बीतने पर उक्त समाचार सुनकर केवल स्नान करने से सपिण्ड शुद्ध (अशौच से रहित) हो जाता है ॥७५॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ।।७६।।

भाष्य—समानोदकानामयं विधिः । त्र्यहैकाहपक्षे च सपिण्डानामपि ।

सवासा वाससा सहितः ।

जलमाप्लुत्य स्नात्वेत्यर्थः ॥७६॥

हिन्दी—दस दिन बीतने पर सपिण्ड बान्धव का मरण या पुत्र का जन्म सुनकर वस्त्रसहित स्नान करके मनुष्य शुद्ध (स्पर्श के योग्य) हो जाता है ॥७६॥

बालक तथा समानोदक के विदेश में मरने पर—

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति ।।७७।।

भाष्य—**बाले**ऽदन्तजाते सूनौ, **देशान्तरस्थे, पृथक्पिण्डे, च संस्थिते,** इत्येकार्थानि पदानि ।

पृथक्पिण्डः समानोदक इति यावत् । तस्मिन् **देशान्तरस्थे संस्थिते** । सद्यः शुद्धिः । संनिधौ "त्र्यहात्तूदकदायिनः" इत्युक्तम् ।।७७।।

हिन्दी—बालक (बिना दांत उत्पन्न हुए) तथा समानोदक (सपिण्ड नहीं-५।६०) बान्धव के मरने पर मनुष्य वस्त्र के साथ स्नान कर तत्काल शुद्ध हो जाता है ।।७७।।

अशौच तथा सूतक के बीच में पुनः अशौच तथा सूतक होने पर—

अन्तर्दशाहे चेत्स्यातां पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ।।७८।।

भाष्य—अत्रापि दशाहग्रहणमाशौचकालोपलक्षणार्थम् । यस्य य आशौचकालस्तस्मिन्न निवृत्ते यदि पुनरन्यदाशौचनिमित्तमुत्पद्यते तदा पूर्वशेषेणैव शुद्धिर्न त्वन्तरा निपतितं यत्तदीयादह्नः प्रभृति दशाहादिगणना कर्तव्या । तथा च गौतमः (१४ । ५) "तच्चेदन्तःपुनरापतेत्तच्छेषेण शुद्ध्येयुरिति" ।

मरणजन्मनी इति समासे यत्नमन्तरेण क्रमाप्रतिपत्तेर्व्यन्तरेणाप्युपनिपातप्राप्तौ समाचारात्समानजातीय एवेति द्रष्टव्यम्। **पुनः**शब्दश्च समानजातीयापेक्षया समर्थतरो भवति।

विप्रग्रहणमप्याशौचिनामुपलक्षणार्थम् ।

स्मृत्यन्तरे तु विहितं "रात्रिशेषे द्वाभ्यां, प्रभाते तिसृभिः" इति । 'एतस्य ब्राह्मणस्य प्रेतस्पर्शे दशरात्रमाशौचमिति" प्रकृत्य 'न चेदन्तरा म्रियेत जायेत वा शिष्टैरेव दिवसैः शुद्ध्येत" इतीयं स्मृतिः समानजातीयासमानजातीयभेदं नानुमन्यते ।।७८।।

हिन्दी—पूर्वागत अशौच या सूतक के दस दिन बीतने के पहले ही फिर किसी का मरण या जन्म होने पर तब पहले अशौच तथा सूतक के दस दिन पूरा होने से ही ब्राह्मण (द्विज) शुद्ध हो जाता है । (पहले अशौच तथा सूतक में ही दूसरे अशौच या सूतक का अन्तर्भाव हो जाता है) ।।७८।।

आचार्यादि के मरने पर अशौचकाल—

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां दिवारात्रमिति स्थितिः ।।७९।।

आचार्य्य उपनेता । तस्मिन् **संस्थिते** । **त्रिरात्रं** शिष्यस्य ।

तस्याचार्यस्य **पुत्रे पत्न्यां च** संस्थितायामहोरात्रम् ॥७९॥

हिन्दी—आचार्य (२।१४०) के मरने पर तीन (दिन-रात), और आचार्य-पुत्र तथा आचार्य-पत्नी के मरने पर एक दिन-रात अशौच होता है, यह शास्त्र मर्यादा है ॥७९॥

श्रोत्रिय, मामा आदि के मरने पर अशौच काल—

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥८०॥

भाष्य—वेदशाखाध्यायी **श्रोत्रियः** । **उपसम्पन्नः** मैत्र्या प्रयोजनेन वा केनचित्सङ्गतः शीलेन युक्तो वा । पूर्वं तु सब्रह्मचारिण्येकाहमगृहीतवेदे दृष्टम् ।

अभिधानकोशे तु 'उपसम्पन्नो' मृतपर्यायः । बहुकालत्वादाशौचस्य पूर्वैव व्याख्या ज्यायसी ॥

अन्ये तु 'श्रोत्रिये मातुले त्रिरात्रमि'त्येव सम्बन्धन्ति, 'पक्षिणीं रात्रि'मिति शिष्यादिभिः । बान्धवाः श्यालकमातृष्वस्रेयादयः ।

यदा तु 'मातुले पक्षिणीमिति' सम्बन्धस्तदा मातुले बान्धवत्वादेव सिद्धा पक्षिणी, पुनर्वचनं नित्यार्थम् । तेनान्येषु बान्धवेषु यथाकामम् ॥८०॥

हिन्दी—श्रोत्रिय (अपने गृह में रहने वाला मित्रभावापन्न वेदपाठी), के मरने पर तीन रात तथा मामा, शिष्य, ऋत्विक् (२।१४३) और बान्धव के मरने पर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा अगले दिन सायंकाल तक) अशौच होता है ॥८०॥

राजा आदि के मरने पर अशौच काल—

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥८१॥

भाष्य—राजशब्दोऽयमभिषेकादिगुणयोगिनि वर्णमात्रे लक्षणया वर्तते । यत आह **यस्य स्याद्विषये स्थितः** । जातिविशेषावच्छिन्नविषयेश्वरवचनत्वे लक्षणा, न च शब्दार्थः ।

सज्योतिः । सह ज्योतिषा वर्तते । दिवा प्रेते दिवैव, रात्रौ तु तन्नास्ति । एवं रात्रौ रात्रिरेव नाहः । इदमेव ज्ञापकमन्यत्र रात्रिग्रहणेऽहर्ग्रहणेऽप्यहोरात्रप्रतिपत्तेः । यथा 'रात्रिभिर्मासतुल्याभिस्त्र्यहमेकाहमिति' । 'अह्ना चैकेने'त्यत्र तु रात्रिग्रहणं पादपूरणार्थम् ।

रात्रावग्निर्ज्योतिः । एवं ह्यग्निहोत्रब्राह्मणे 'अग्निना वै तेजसा तेजस्विन्यादित्येन तेजसा न भवति' ।

अश्रोत्रियेऽवेदाध्यायिनि, **अनूचाने,** कृत्स्नमहः । रात्रौ न भवत्येव— उत्पन्नेऽपि रात्रौ निमित्ते ।

"कथं पुनरश्रोत्रियेऽनूचाने । एवं हि स्मर्यते 'प्रवचने साङ्गेऽधीतीति' ।"

सत्यं प्रवक्ताऽप्यनूचान उच्यते । तेनैवं कथंचिदङ्गादिग्रन्थार्थान्यः प्रवक्ति तस्मिन्नयमहर्विधिः । उपसम्पन्ने च गुरौ पूज्यत्वेन मुख्ये आचार्ये वा विध्यन्तरभावात् ।

केचित्तु **अश्रोत्रिये त्वि**त्यत्र नञं सम्बन्धन्ति । इह नञः प्रश्लेषेण योऽन्येषामुपाध्यायस्तस्य च न कश्चित्तत्रेमं विधिमाचक्षते ॥८१॥

हिन्दी—जिसके देश में रहता हो, उस अभिषिक्त राजा के दिन में मरने पर सायं (सूर्यास्त) काल तक और रात में मरने पर प्रातःकाल (ताराओं के रहने का समय) तक अशौच होता है । घर में रहने वाले अश्रोत्रिय (श्रोत्रिय के लिये तीन रात पहले (५।८१) कह चुके हैं), अनूवान (अङ्गों के सहित वेद पढ़ने वाला) और गुरु (२।१४९, १४२ भी) के दिन में मरने पर केवल सायंकाल तक और रात में मरने पर प्रातःकाल तक अशौच रहता है ॥८१॥

चतुर्वर्ण का शुद्धिकाल—

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ।।८२।।

भाष्य—क्षत्रियादीनां प्रागुक्तवृत्ताद्यपेक्षस्त्र्यहचतुरहादिकल्पव्यावृत्त्यर्थमिदम् । ब्राह्मणे दशाहस्त्वनूद्यत एव ।

अत्र त्विदं वाच्यं— "केन क्षत्रियादीनां द्वादशाहेन नियतकालाप्राप्तिर्येन कल्पान्तरव्यावृत्त्यर्थताऽवगम्यते" ।

इयमेव ह्येषामियत्कालस्य प्रापकम् । सत्यस्मिंस्तत्र दशाहोऽयमाशौचकालस्तदुपलक्षणार्थो विज्ञायते ।

न च सत्यप्यस्मिंस्तस्योपलक्षणार्थता । सत्यपि चातुर्वर्ण्याधिकारे यस्यैव दशाह उक्तस्तस्यैवेतरे कल्पा इति । स्मृत्यन्तरे च ब्राह्मणविवक्षयैवोक्तम् "एकाहाद्ब्राह्मणस्य स्यात्स्वाध्याय" इत्यादि । तेषां तु स्मृत्यन्तरे यानि कल्पान्तराण्याम्नातानि तानि विकल्प्यन्ते । एकादशे आशौचकालः कश्चिद्विवरणकार आह "शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेनेति" अत्राहर्ग्रहणं विवक्षितं, तेन दशम्यां रात्रौ नास्त्याशौचम् । ततः पूर्वेद्युर्निमन्त्रणादि युक्तम् । अग्निं चाधास्यतः पौर्वाह्णिकजागरणादिनाऽऽशौच अपक्रान्तो भविष्यति ।

तदयुक्तम् । अहर्विवक्षायामाद्यास्वपि रात्रिषु न स्यादाशौचम् । अथ 'दशाहं शावमिति' एतस्मात्तत्र भविष्यति । अत्राविवक्षायां किं प्रमाणम् ।

तस्मादहःशब्दोऽयमहोरात्रवचन इति प्रदर्शितम् । तथा च पूर्वश्लोकेऽहः कृत्स्नमिति रात्रिनिवृत्त्यर्थं कृत्स्नग्रहणम् ॥८२॥

हिन्दी—यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त सपिण्ड के मरने पर ब्राह्मण दस दिन में, क्षत्रिय बारह दिन में, वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है ॥८२॥

विमर्श—शूद्र का यज्ञोपवीतसंस्कार नहीं होने से विवाहित सपिण्ड के मरने पर एक मास का शुद्धिकाल समझे।

[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ।।१२।।]

[**हिन्दी**—यदि ब्राह्मण के बान्धव क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र धन के लेने वाले मरें तो दस दिन में शुद्धि होती है ॥१२॥]

[राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु ।
स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितः ।।१३।।]

[**हिन्दी**—क्षत्रिय और वैश्य के बान्धव यदि अपने से हीन वर्ण (क्षत्रिय के वैश्य तथा शूद्र और वैश्य के शूद्र) हों तो उनकी मृत्यु होने पर शुद्धि के लिये वे (क्षत्रिय तथा वैश्य) अपने ही अशौच का पालन करें, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥१३॥]

[विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु ।
षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ।।१४।।]

[**हिन्दी**—ब्राह्मण स्वयोनि (वर्ण) वाले (ब्राह्मण) की मृत्यु होने पर दस दिन में क्षत्रिय वर्ण वाले की मृत्यु होने पर छः दिन में, वैश्य वर्ण वाले की मृत्यु होने पर तीन दिन में और शूद्र वर्ण वाले के मरने पर एक दिन में शुद्ध होता है ॥१४॥]

[सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ।।१५।।]

[**हिन्दी**—सभी उत्तम वर्ण वाले आलसहीन होकर उन-उन वर्णों के लिये कहे गये अपने-अपने वर्णों की मृत्यु होने पर अपनी-अपनी शुद्धि करें ॥१५॥]

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ।।८३।।

भाष्य—यस्यैषा बुद्धिः 'य उक्तास्त्र्यहादयः कल्पास्तुल्यं दशाहेन विकल्प्यन्ते, न वृत्तादिव्यवस्थयेति, ततश्चिरतरकालमन्यस्य सम्भवे किमित्येकाहपक्षं नित्यस्वाध्याय-क्लेशकरं प्रतिपत्स्ये, दशाहमपाश्रयामि निष्कर्मसुखमासिष्य' इति,— तं प्रति सौहार्देन सा व्यवस्था स्पष्टीक्रियते। 'नैते तुल्या अपि तु व्यवस्थिता एव'। व्यवस्था च प्रागदर्शिता। अन्यथा यस्याशौचकालो विहितस्तस्य ततः कालावधिकस्य कुतो वृद्धिप्राप्तिः येनैवमर्थवत्स्यात् विस्पष्टार्थत्वे को दोषः।

अन्ये त्वाहुरतीतेष्वप्यहःसु यावत्स्नानादिक्रिया न कृता तावन्नैव शुद्धिः । "विप्रः शुध्यत्यप" । इत्यादि वक्ष्यति । तत्राशुचित्वादननुष्ठाने न दुष्यामीति स्नानादिषु शुद्धये न प्रवर्तते । तत्रैवमुच्यते 'न वर्धये'न्नातीतेष्वहःसु बाह्याशौचे विलम्बितव्यम् ।

ये तु— "अहःशब्दो दशमस्याह्नो या रात्रिस्तस्यामाशौचं न भवतीति"— ते न सम्यङ्मन्यन्त इत्युक्तम् । तथा च गौतमः (१४ । ६) "आशौचमध्य आशौचान्तर उत्पन्ने तच्छेषेण शुद्धिः" इत्युक्त्वा एकस्यां रात्रौ शेषायां तयैव शुद्धि मन्यमान आह "रात्रिशेषे द्वाभ्यामिति" ।

प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । अशुचित्वात्सर्वश्रौतस्मार्तक्रियानिवृत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते।

अग्निषु याः क्रियाः सायंहोमाद्यास्ता न प्रत्यूहेन्न प्रत्यस्येत् । 'प्रत्यूहो' निर्यास अननुष्ठानम् ।

न च स्वयं कुर्याद्यत आह **न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽपीति** । सनाभ्योऽपि नाशुचिः स्यात्किंपुनरन्यः । तथा गृह्यं "नित्यानि निवर्तेरन्वैतानवर्जं शालाग्नौ चैक" इत्युक्त्वा आह "अन्य एतानि कुर्युरिति" । न च यदग्न्याधानं होममात्रमेव क्रियते, किंतर्हि साङ्गप्रयोगः, तत्रैव कर्तुर्न्नरस्य सम्भवात्प्रधानहोमस्य तु द्रव्यत्यागरूपत्वा-त्स्वयंकर्तृतैव । अतो होमवैश्वदेवदर्शपूर्णमासाद्या निवर्तन्ते ।

अन्येषां तु जपसन्ध्योपासनादीनां निवृत्तिर्न दर्शिता । तानि च नित्यानि । अतो-ऽन्येषामेवाभ्यनुज्ञानं यतः स्मृत्यन्तरे प्रतिषिद्धं "होमः स्वाध्यायश्च निवर्तत" इति । अतो नित्यकाम्यभेदेन व्यवस्था । काम्यं तु नैव कर्तव्यमशुचित्वादधिकारापगमात् ।

"ननु च नित्येष्वपि नैवाशुचेरधिकारः" ।

न च शौचमङ्गम् । यदि विगुणं नित्यमनुष्ठीयते, न काम्यमित्युच्यते । अथास्माद्व-चनाद्भवति । मैवम् । इह यदपि मानं तदस्यान्य एतानि कुर्युरिति । परकर्तृत्वमभ्य-नुज्ञायते । तच्च विगुणत्वान्नित्येषूपपद्यते न काम्येषु ।

वैश्वदेवे तु विवदन्ते । स्मृत्यन्तरं चोदाहरन्ति ।

"होमं तत्र न कुर्वीत शुष्कधान्यफलैरपि । एवं यज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥"

अतः सन्ध्याहोमौ दर्शपूर्णमासौ सांवत्सरिकं चाश्वयुज्यादि कर्तव्यम् । उपाकरणं तु नक्षत्राश्रयमेव, न पौर्णामास्याश्रयम् ॥८३॥

हिन्दी—अंशौच के दिनों को स्वयं न बढ़ावे और (वैसा करके) अग्निहोत्र कर्म का विघात न करे । उस कर्म को करता हुआ सपिण्ड (पुत्रादि) भी अशुद्ध नहीं होता है ॥८३॥

विमर्श—पहले (५।५९) में गुणानुसार दस, तीन या एक दिन का अशौच

अस्थिसञ्चयन के पूर्व जो कह आये हैं, उसे स्वेच्छानुसार नहीं बढ़ाना चाहिये और वैसा करके अर्थात् स्वेच्छा से अशौच दिन को बढ़ाकर अग्निहोत्र-कार्य का विघात नहीं करना चाहिये। यदि स्वयं सामर्थ्य न हो तो पुत्रादि के द्वारा उक्त कर्म को कराना चाहिये; क्योंकि उक्त अग्निहोत्रादि कर्म को करता हुआ पुत्रादि सपिण्ड भी अपवित्र नहीं होता है। उक्ताशौच दिनों में भी केवल सन्ध्योपासन तथा पञ्चमहायज्ञ के त्याग का ही विधान है, नित्य अग्निहोत्र के लिए तो स्नान तथा आचमन करने से ही शुद्धि हो जाती है।[१] उक्ताशौच में अग्नि कर्म को अन्य गोत्रोत्पन्न व्यक्ति के द्वारा कराने का विधान 'जाबाल' ने किया है[२] तथा[३] छान्दोगपरिशिष्टकार ने उक्ताशौच में सन्ध्यादि (तथा पञ्चमहायज्ञ) का त्याग और सूखे अन्न या फलों से अग्निहोत्र कर्म करने का विधान किया है।

मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने 'एक दिन और तीन दिन का यह सङ्कोच केवल अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय मात्र के लिये किया है, सन्ध्योपासनादि कर्म तो सबको दस दिनों के बाद ही करना चाहिये, ऐसा कहा है परन्तु यह निराधार होने से अप्रामाणिक है। गौतम का 'राजाओं के कर्मविरोध से ब्राह्मण के स्वाध्याय से अनिवृत्ति के लिये यह वचन है' और याज्ञवल्क्य का 'ऋत्विजां दीक्षितानाञ्च (या०स्मृ० ३।२८)' वचनानुसार तात्कालिक शुद्धि करना भी सभी दशाहादि अशौच वालों के तत्तत्कर्मपरक हैं। 'कुलस्यान्नं न भुञ्जीत', इत्यादि वचन दस दिन तक दोनों के लिए उन-उन के निषेधक हैं, दस दिन का अशौच होता है, इस पक्ष के लिये होने से उनके साथ कोई विरोध नहीं है। अतएव अधिक गुणाभिलाषी को होम तथा स्वाध्यायविषयक यह अशौच लाघवपरक वचन है, सन्ध्योपासन के लिये नहीं, यह कथन प्रमाणशून्य है। विशेष मत 'काशी' संस्कृत पुस्तक-माला चौखम्बा' से प्रकाशित मनुस्मृति के प्रकृत श्लोक की टिप्पणी में देखना चाहिये।

चाण्डालादिका स्पर्श कर स्नान से शुद्धि—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ।।८४।।

भाष्य—दिवाकीर्तिश्चाण्डालः, अत्यन्ताशुचिसाहचर्याद्भारते च प्रयोगदर्शनान्मार्जार-मूषिकसंवादे "तस्मिन्नपि च कालेऽभूद्दिवाकीर्तियार्दितः" इति। न नापितः, तस्य पृश्यत्वात् भोज्यान्नत्वाच्च। यत्तु श्मश्रुकर्मणि तस्येदं स्नानमित्याहुस्तदपि सिद्धत्वाद-

१. तथा च शङ्खलिखितौ— 'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः।' इति (म०मु०)।

२. 'जाबालोऽप्याह—'जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते।
शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः ॥' इति (म०मु०)।

३. 'छन्दोगपरिशिष्टमपि—
मृतके कर्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते।
होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः ॥' इति (म०मु०)।

वाच्यम्। अवश्यं श्मश्रुकर्माणि कारयतो रोमाणि गात्राणि स्पृशन्ति, तानि शरीरात् च्युतान्यशुद्धानीति सिद्धं स्नानम्।

तत्स्पृष्टिनं तस्य स्पृष्टं 'तत्स्पृष्टं', तदस्यास्तीति 'तत्स्पृष्टी' येनैते स्पृष्टास्तेषामपि स्नानमेव।

इह सर्वस्याप्रत्यासत्तेः, तत्स्पृष्टिनमित्यनेन सम्बन्धः शवस्यैव केचिदाहुर्न दिवाकीर्त्यादीनाम्। अन्ये तु एकवाक्योपनिपातादन्ते श्रुतत्वात्सर्वेषां बुद्धौ सन्निधानात् तच्छब्देन सर्वनाम्ना परामर्श इति। अत्र हि शवपर्यन्तानां द्वन्द्वं कृत्वा स्पृष्टीत्यनेन सम्बन्धः। तत्र तत्स्पृष्टीति समासार्थस्य बुद्धौ सन्निहितत्वात्तच्छब्देनविमर्शः। न हि केवलस्य शवस्य स्पृष्टिपदेन सम्बन्धो लक्ष्यते, पतितादिभिरितरेतरयुक्तत्वात्। किंतु केवलस्य पदान्तरसम्बन्धः। द्वन्द्वे ह्येकैकः शब्दः सर्वार्थाभिधायी। ततः सर्वे प्रत्यासन्नाः। अथापि शवस्पृष्टिशब्दस्य तत्स्पृष्टिपदेन सम्बन्धं कृत्वा ततोऽन्यैरभिसम्बन्धः, तथा सति पतितादीनां स्पृष्टिपदेन सम्बन्धो न स्यात्।

तस्मात्समाचारत एव निर्णयः ॥८४॥

हिन्दी—चाण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित (ब्रह्मघाती आदि, ११ अध्यायोक्त), सूतिका (जच्चा), मुर्दा तथा मुर्दे का स्पर्श करने वालों का स्पर्श कर स्नान मात्र से शुद्धि होती है ॥८४॥

विमर्श—कोई व्याख्याकार स्पर्शकर्ता का सम्बन्ध केवल मुर्दे के साथ न करके चाण्डालादि सबके साथ करते हैं। गोबिन्दराज ने याज्ञवल्क्य के 'उदक्याशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्' (या०स्मृ० ३।३०) वचनानुसार रजस्वला आदि का साक्षात्स्पर्श करने पर स्नान करने से तथा परम्परा से स्पर्श करने पर आचमन मात्र से शुद्धि मानी है। यह विषय याज्ञवल्क्य स्मृति के उक्त श्लोक की मिताक्षरा में बहुत विशदरूप से वर्णित है। अतः वहीं से देखना चाहिए।

अपवित्र-दर्शन होने पर शुद्धि—

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥८५॥

भाष्य—अशुचयः संनिधानात्पूर्वोक्ता एव।

सूर्यदैवत्या मन्त्राः **सौराः** "उदुत्यं जातवेदसम्" इत्यादयः।

पावमान्यः दाशतयीषु नवमे मण्डलेऽधीताः 'स्वादिष्टयेत्याद्याः'।

यथोत्साहं शक्तित इति च एक एवार्थः। वृत्तवशाच्छब्दद्वयं पठितम्।

बहुवचननिर्देशात्त्रित्वसंख्याऽवश्यं कर्तव्या। परतस्तु यदि गुरुतरकार्यात्ययो न

भवति तदा कर्तव्य एव जपः ।

मन्त्रग्रहणात्पावमानीरिति च ऋचामुपादानादसमाप्तेऽपि सूक्ते त्रिभ्य ऊर्ध्वं भवत्येव शुद्धिः । श्वाऽप्यत्र प्रक्षेप्तव्यः । सोऽप्यशुचिरेव । पठितं च गौतमीयेऽस्मिन्नेव वर्गे "शुनश्च । यदुपहन्यादित्येक इति" (अ० १४ सू० २९।३०) ।

प्रयतः अनन्यमना मन्त्रदेवतादिध्यानपरः । अथवा 'प्रयतो' देवतादिपूजाप्रवृत्तो यदा पश्येत्तदैव कुर्यान्नान्यदेति ॥८५॥

हिन्दी—श्राद्ध या देव— पूजन करने का इच्छुक व्यक्ति स्नानादि से शुद्ध होकर चाण्डाल आदि अशुद्ध व्यक्तियों को देखने पर उत्साहानुसार सूर्यमन्त्र का[1] तथा यथाशक्य 'पावमानी' मन्त्र का जप करे ॥८५॥

मानव की हड्डी के स्पर्श करने पर शुद्धि—

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ।।८६।।

भाष्य—नरो मनुष्यस्तस्येदं **नारम्** । **सस्नेहं** मांसमज्जादिग्धम् । गोरालम्भनं स्पर्शः । अर्कदर्शनगवालम्भौ विकल्प्येते ॥८६॥

हिन्दी—मनुष्य की गीली (रक्तादि से युक्त-ताजी) हड्डी छूकर स्नान करने से ब्राह्मण शुद्ध होता है तथा सूखी हड्डी को छूकर आचमन करने, गौ का स्पर्श करने या सूर्यदर्शन करने से शुद्ध होता है ॥८६॥

आदिष्टो नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ।।८७।।

भाष्य—आदेश 'आदिष्टम्' व्रतादेशनसम्बन्धाद्रूढिरूपेण ब्रह्मचार्युच्यते । तस्य ब्रह्मचर्याश्रमस्थस्य सतो ये सपिण्डाः प्रमीयन्ते तेषामयादिष्युदकदानप्रतिषेधः । प्राक्-प्रमीतानां । विहितमन्वाहिकं कुर्याद्देवपितृतर्पणमिति ।

आ व्रतस्येति आ समावर्तनादित्यर्थः । न पुनरान्तरालिकसाहसिकादित्यर्थः ।

व्रतचरणसमाप्तेः समावृत्तः स सर्वेषामेकैकस्योदकं कृत्वैकस्मिन्नहनि, त्रिरात्रमाशौचं कुर्यात् । मातुस्तूदकदानं व्रतिनोऽपीष्यते । न च व्रतलोपः । स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति । अपराध्य आदिष्टी नोदक इति ॥८७॥

हिन्दी—व्रती ब्रह्मचारी व्रत के समाप्त होने के पहले तिलाञ्जलि न दे (तथा पूरक पिण्ड एवं षोडशी श्राद्ध आदि भी न करे), व्रत के समाप्त हो जाने पर तिलाञ्जलि देकर

---

१. 'उदित्यं जातवेदसं देवं बहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।' इत्ययं सूर्यमन्त्रः ।

तीन रात में (दिन-रात अशौच मनाकर) शुद्ध होता है ॥८७॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ।।८८।।

भाष्य—जातशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । **वृथाजातो** यो न देवानर्चयति न पितॄन्न मनुष्यानिति । सत्यधिकारेऽनाश्रमी, हुताहुतपरित्यक्तः । 'संवत्सरमनाश्रमी भूत्वा' इत्यादि चिरकालावस्थाने महादोषश्रवणात् । ब्रह्मचारिपरिव्राजकाभ्यामन्यस्य परपाकरतित्वम् । आत्मार्थस्तु पाको निषिद्धः ।

संकरजाता इतरेतरजातिव्यतिकरेण प्रतिलोमा आयोगवादयः । निन्दितत्वाद्वृथाजातसाहचर्येण । अनुलोमास्तु सत्यपि संकीर्णयोनित्वे मातृजातीयत्वादधिकारित्वाच्च नेह गृह्यन्ते । न चानुलोमेषु संकीर्णयोनिव्यवहारः । "संकीर्णयोनयस्त्वेताः प्रतिलोमानुलोमजा" इति । अनियुक्ता सुतादयश्चानेकपुरुषसंसर्गजाः वेश्याजाताश्च । पारस्त्रैणेयास्तु असत्यनेकपुरुषसंसर्गे न संकरजाताः । अयं च सपिण्डानां निषेधो, न तत्पुत्राणामिति केचित् । आत्मत्यागिनां तु पुत्राणामपि । तदयुक्तमविशेषश्रवणात् ।

'प्रव्रज्यासु' बाह्यासु भगालवरक्तपटाद्यासु अनधिकाराद्बहुवचननिर्देशात् व्रतादिदर्शनभेदेन बाह्याः ।

आत्मनस्त्यागिनां पुरुषाणाम्— युषोऽक्षये स्वेच्छया शरीरं त्यजन्ति । वृद्धानामचिकित्स्यमहाव्याधीनां च भिषक्प्रत्याख्यातानामिष्यत एव । यथोक्तम्—

"वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥"
"तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीयेत्वस्थिसंचयः ।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥"इति ।

कुष्ठ्यादेस्तु व्याधिगृहीतस्य इष्यत एव । यथोक्तं 'लुप्तचेष्टस्य' । गृहस्थावस्थायामपि— "महाप्रस्थानगमना वृथा नेच्छन्ति जीवितुम्" । 'लुप्तचेष्ट'श्चोच्यते यः शौचादिष्वसमर्थः संध्योपासनादिषु च ।

'अपरिक्षीणशरीरो वा सादयेद्यस्त्वात्मानमलुप्तचेष्टो वा' । अतस्तद्विपरीतस्यानुज्ञातं भवति । स्मृत्यन्तरेष्वन्येषामप्युदकक्रियानिषेधो विहितः । यथोक्तम्—

"राजभिर्निहतानां च शृंगिदंष्ट्रिसरीसृपैः ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव श्राद्धमेषां न कल्पयेत् ॥
"उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यच्च दीयते ।
नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥

"नारायणबलिः कार्यो लोकगर्हाभयान्नरैः ।
तस्मादेभ्योऽपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणम्" ॥

तथाऽन्यत्र— "चण्डालादुदकात्सर्पाद्ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि ।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम्" ॥

तथा चोक्तम्— "नृणां चैवाग्निदानां च स्नानालंकारकारिणाम् ।
तप्तकृच्छ्रद्वये शुद्धिरश्रुपातेऽनुयायिनाम् ॥

"तेनोद्दिष्टं न चैवान्यैः कार्यमस्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न च नामापि कर्तव्यं तद्वंशस्य तदीयकम् ॥

"अत्यन्तनरकस्थस्य तस्य पापीयसोऽधिकम् ।
कारणं कीर्तनं नाम सर्वं चैव भयावहम्" ॥

संवर्तेन आस्वेव क्रियासु सान्तपनमाम्नातम्, पराशरेण तप्तकृच्छ्रम्, वशिष्ठेन तप्तकृच्छ्रसहितं चान्द्रायणम् । तत्रापूर्वादिविशेषा उपेक्ष्याः ।

यदुक्तम् 'चण्डालादुदकात्' इत्याद्युपक्रम्य 'मरणं पापकर्मणामिति' तत्रेदं सन्दिह्यते । किं यश्चाण्डालादिर्बुद्धिपूर्वमात्मानं घातयति तस्यायां विधिरौर्ध्वदेहिकाकरणम्, तत्करणे च प्रायश्चित्तम्, उत प्रमादहतस्यानिच्छत इति । कुतः सन्देहः । इह गौतमेन "प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छता" इत्युक्तम् (१४ । १२) । इह चाविशेषेण श्रुतं "चण्डालादुदकात्" इति । तत्र स्मृत्यन्तरेणैकशास्त्रत्वादुदकादित्यत्र तावदवश्यमिच्छतामिति सम्बध्यते । साहचर्यादन्यत्रापि तथैवेत्याशङ्का जायते । किंच पापकर्मणामिति श्रूयते । पापं च कर्म प्रतिषिद्धम् । अत्र प्रतिषिद्धं योऽनुतिष्ठति स पापकर्मेत्युपपद्यते । अनुष्ठातृत्वं च स्वव्यापारेण परप्रयोक्तृतया च । तत्र न वैद्युतदंष्ट्रिशृङ्ग्यादयः । ते च न प्रयुज्यन्ते । नापि ते श्वभ्रोदकखड्गादिस्थानीयाः । येन तदुपादानेनात्मानं घ्नन् स्वतन्त्रः कर्ता स्यात् । किं तर्हि यस्येदृशं मरणमुपनतं स पूर्वजन्मनि कृतपातक इति शास्त्रेण ज्ञाप्यते । यथा श्यावदन्तप्रभृतयः । तत्रापि किमेतेन ज्ञापितेन । अङ्गहीनादीनां पूर्वपापसम्बन्धित्वं ज्ञाप्यते । प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं यथा वशिष्ठेनोक्तं कस्यचित्कृच्छ्रद्वयचरणं कस्यचिदभ्यधिकमपि ।

इह मृत्युना सम्बन्धिकारस्यापहतत्वान्नार्थोऽनेन । यदि वाऽसौ कृतपातक इत्यवसीयते । तेन सह येन केनचित् यौनमौखस्रोवाः सम्बन्धाः कृताः सोऽपि पापकारी स्यात् । न चैवं शिष्टानामाचारः । न हि तादृशेन सम्बन्धं कृतवन्तः केनचिद्विचिकित्स्यन्ते । प्रायश्चित्तं नाचरन्ति । अत इच्छतामनुमीयते ।

ये तु 'गोब्राह्मणहतानाम्' इति स्मृत्यन्तरे पठित्वा 'आत्मनस्त्यागिनामिति' पृथक्

पठन्ति तेन विशेषपक्षः प्रतिभाति ।

अतः संशयः । किं पुनरत्र युक्तम् ।

इच्छतामिति । कुतः । पापकर्मवचनात् । स्वेच्छया यश्चात्मव्यापत्तिहेतौ व्यापारे प्रवर्तते तेन "तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादिति" शास्त्रमतिक्रान्तं भवति । स च युक्तः पापकर्मेति व्यपदेष्टुम् ।

"ननु चोक्तं न हि ते खड्गादिस्थानीयाः, येनेच्छया वधोपपत्तिः ।"

उच्यते । यः प्रमादं न रक्षति तेन तत्कृतमेवेति । तेन यश्चाण्डालदस्युभूयिष्ठेऽरण्य एकाकी गच्छति, तस्य यद्यपि चण्डाला मां घ्नन्त्विवतीच्छा न भवति, तथापि तत्समर्थाचरणेन प्रमादस्यापरिहृतत्वाद्भवत्येव शास्त्रातिक्रमः । एवं यो बाहुभ्यां नदीं तरति संदिग्धां वा नावमधिरोहत्यकुशलकर्णधाराधिष्ठिताम्, एवं तस्य व्यापद्यमानस्य वेगक्षयेण नौपरिवर्तनादिना व युक्तैव पापकारिता । तथा चागाधतां दण्डादिना ग्राहमकरसंगं च ज्ञात्वा स्नातारो यद्यपह्रियेरन्न दुष्येयुः । एवं यस्तु दृढबन्धनां तरिं तीव्राम्भसि कुशलावहितसमर्थप्रेरकप्रेर्यमाणामधिरूढः सहसोत्पतिते जविनि पवने चक्रवातेन पिच्छलमवाप्तवान् पल्वव्यापत्त्या म्रियेत न शास्त्रमतिक्रमेत् । एवं सर्पोपहतं देशं च अपरिहरन्दष्टो व्यापद्येत प्रत्यवेयादेव, नान्यथा । एवं तीक्ष्णशृङ्गां गां हस्तिनं वा दृष्ट्वा दूरमनपक्रामतो हन्यमानस्य युक्तोऽतिक्रमः । एवमरण्ये वर्षासूच्चरन्तीषु विद्युत्सु ग्रामनगरयोरप्रवेशे दुष्टतैव । ग्रामस्थस्योपरि कथंचिद्विद्युत्पातः स्यात्तदा न किंचिदपराध्यति । अतो युक्तमीदृशं यथाविहितक्रियाकरणम् ।

तत्र चोदकक्रियानिषेधः सर्वौर्ध्वदेहिकप्रदर्शनार्थः, स्मृत्यन्तरेऽस्योदाहृतत्वाद्॥८८॥

हिन्दी—मनु के अग्रिम (५।९१) वचनानुसार तथा वसिष्ठ के वचनानुसार व्रती ब्रह्मचारी को भी अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता-माता और गुरु (२।१४२) के अतिरिक्त मृत व्यक्ति के निमित्त तिलाञ्जलि-दान आदि कर्मों का निषेध है, अपने आचार्य आदि के लिये तिलाञ्जलि-दान आदि करने पर भी इस (ब्रह्मचारी) का व्रत खण्डित नहीं होता है ॥८८॥

तिलाञ्जलिदान के अयोग्य स्त्रियाँ—

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ।।८९।।

भाष्य—शास्त्रपरित्यागेन बाह्यप्रदर्शनाश्रयं नरशिरःकपालरक्ताम्बरादिधारणं **'पाषण्डम्' तदाश्रिताः** कृततल्लिङ्गपरिग्रहाः तद्दर्शनवशवर्तिन्यः ।

चरन्तीनां च कामतः । तदाचारकुलस्थितित्यागेनेच्छामात्रानुवृत्त्यैकानेकपरपुरुष-

संप्रयोगः 'कामचारः' ।

भर्तुर्विषगरादिदानेन **गर्भस्य** च पातनं **द्रोहः** ।

सुराप्यः यथाप्रतिषेधं प्रतिषिद्धायाः पानेन ।

अत्र कश्चिदाह "ब्राह्मणो न पिबेत्सुरामिति" सत्यपि जात्यर्थाविशेषे लिङ्गात्पुंस एव ब्राह्मणस्य प्रतिषेधो न स्त्रिया इति । यद्यपि स्त्रीपुंसयोरेका जातिस्तथापि स्त्रीत्वपुंस्त्वलिङ्गे भिद्येते । इह च ब्राह्मण इति पुंल्लिङ्गस्य शब्दस्य श्रवणादश्रुतायाः कः प्रसङ्गः । यथा 'ब्राह्मणीं पाययेत्पुत्रार्थमिति' न पुंसः पाययेदिति, तद्वत्पुंल्लिङ्गश्रुतौ न स्त्रिय उपादीयन्ते । यत्रक्वचिल्लिङ्गं न विवक्ष्यते, यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इति स्त्रिया अपि प्रतिषेधो विज्ञायते, तत्र द्वितीयया श्रुत्या ब्राह्मणस्येप्सिततमत्वात्प्राधान्यम् । न च प्रधाने प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकेणान्यलिङ्गसंख्यादि विवक्ष्यते । यथा 'ग्रहं संमार्ष्टीति' नैकस्य संमार्गः । इहपुन 'ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति' कर्तृतया साधनभावेन क्रियां प्रति निर्देशात् 'ब्राह्मणो न पिबेत्सुरा'मित्याख्याताभिहितेऽपि तदर्थानामपि वृत्तेः प्रातिपदिकार्थोपपत्त्या प्रथमाऽपि तृतीयानुगुण्येति गुणीभावः, गुणे च सर्वं श्रुतं विवक्ष्यते । यथा 'पशुना यजेतेति' पुमान्पशुरालभ्यते एकश्च ।'

अत्रोच्यते । नात्र द्वितीयातृतीये गुणप्रधानभावेनविवक्षाविवक्षयोः कारणम्,किंतर्हि प्राप्त्यप्राप्ती । यदप्राप्तं विधिविषयतयोपपद्यते तद्विवक्ष्यते, अनन्यपरशब्दावगम्यत्वात् । यत्त्वन्यतोऽवगतमर्थान्तरं विध्यर्थमुपादीयते, तद्यादृशमेव प्रमाणान्तरावगतं तादृशमेव विधेयकार्यान्तरसम्बन्धितया शब्देन प्रतिपाद्यते । 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्र वाक्ये विधिः प्रतिषेध एव पर्यवस्यति, यदन्यत्तदन्यतोऽवगतम् । प्रातिपदिकार्थविवक्षा तु श्रुत्यानर्थक्यप्रसंगात् । लिङ्गसंख्यादेस्तु प्रत्ययार्थस्य नान्तरीयकत्वेनाप्युपादानसम्भवाद्विवक्षाविवक्षे उच्येते । तत्रेह न ब्राह्मणादिभिः पुरुषो विधिना प्रवर्त्यः तद्द्वेषात्स्वतः प्रवृत्तेः तत्सर्वस्य चात्र स्वयं प्रसंगात् । न ह्यविधीयमानः प्रतिषेधः कथंचिदन्वेतुमलम् । अन्यतः प्राप्त्यभावात, अकारकत्वादकारकविशेषणत्वात्स्वभावानुप्रवेशेनापि सम्बन्धं न लभते । तस्मादस्यान्वयसिद्ध्यर्थं विषयभाव एषितव्यः । तस्मिंश्च विधिना विषयीकृतेन भावार्थो विषयतयाऽपेक्ष्यते । भावार्थश्च प्रतिषेधेन विषयांशस्य गृहीतत्वात्ततः प्रच्युतो लौकिक्या न प्रवृत्त्या सिद्धानुष्ठान आत्मविधिसिद्ध्यर्थमनुप्रवेशमप्यकांक्षन्नधिकारमात्रसापेक्षविधौ प्रमाणान्तरतः प्रतिपन्नहननकर्तृभावस्य पुंसोऽधिकारतां प्रतिपादयंस्तद्विशेषणद्वारेणान्वयं प्रतिपद्यत इत्युपपन्नमन्विताभिधानम् । तेन भावार्थस्य सविशेषणस्याविधेयत्वाल्लौकिकी प्रवृत्तिरभ्युपेतव्या । अस्ति च रागलक्षणा प्रवृत्तिर्न तस्या लिङ्गसंख्यानियमोऽस्ति, द्वेषाद्वा । तस्मादविधेयार्थशब्दोऽगवतार्थपरत्वादभिधानशक्तिमुत्सृज्य प्रमाणान्तरतो यथावधृतस्वरूपमर्थं लक्षयति । तत्र लिङ्गसंख्यायोस्तात्पर्यतः शब्देनानभिधानात्कुतो विवक्षा । केवलं

प्रातिपदिकनिर्देशार्थं येन केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्तव्यः, न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति तदर्थं लिङ्गसंख्ययोरुपादानम् ।

अत इयमत्रावगतिः । हननेऽध्यवसितकर्तृभावः स नञर्थे नियुज्यते । अतः प्रतिषेध-वाक्ये द्वितीयाश्रुतिरविवक्षायामतन्त्रम् । यत्रापि हि तृतीया श्रूयते प्रथमा वा, 'ब्राह्मणेन न पातव्या', 'ब्राह्मणो न पिबेदिति' तत्रापि तदर्थश्चान्यतः प्राप्तेरविधेयत्वादनूद्यते । याऽधि-कारविशेषणत्वेनैव सम्बन्ध्या तत्र ते द्वितीयाविशिष्टे प्रथमातृतीये । सत्यामपि च द्वितीया-श्रुतौ यदप्राप्तं तद्विधेयत्वाद्विवक्ष्यते यथा "भार्यामुपगच्छेत्" "अपत्यमुत्पादयेदिति" । न हि लौकिको भार्यार्थः, उपयमनेनैव तत्सिद्धेः ।

नापि वाक्यान्तरे विधिना क्वचिदुपात्तो येन यथावगममुद्दिश्येत यथा'ऽश्विनं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' 'दशैतानध्वर्युर्गृह्णातीति' संख्याविशिष्टा एव ग्रहा उपादीयन्ते । अतो निर्ज्ञातसंख्यत्वात्संमार्गविधौ यथासंख्यावगमं निर्दिश्यते । अत्र पुनर्वाक्यान्तराभावाद-स्यैवोत्पत्तिवाक्यत्वाच्छ्रुतसंख्यापरित्यागे प्रमाणाभावान्निरपेक्षाभिधानशक्तिसमर्पितस्यैकस्य परित्यागः पुरुषबुद्धिप्रभव एव स्यात् । एवं पशुना यजेतेति यागविषयत्वाद्विधेस्तस्य च साध्यस्वभावत्वात्साधनाकांक्षायां समर्पितसविशेषणकारितसहितस्य विधेयत्वे यज्यर्थमात्रे विधिव्यापारापरिसमाप्तेः स्वार्थपरशब्दाभिहितापेक्षितस्वार्थाः किमिति नयन्ति ।

प्रमाणशास्त्रविदस्तु स्वयं विधिं वदन्ति अन्योक्तमवगाहन्ते । यत्त्वस्माभिरुक्तं तत्सुखोपायग्राह्यम् । नातिमहती व्युत्पत्तिरत्रोपयुज्यते । इयदेव च तत्सारम् । इयती सा विद्याऽनुष्ठानोपयोगिनी यदधिकमाहोपुरुषिकामात्रं तदर्थवाद एव । तत्र ह्यर्थवादाद्विशेषा-वगतिर्भवति यत्राकांक्षा विधेरनिवृत्तेति । यथोक्तमुपदधातीति बहुषु भोजनसाधनेषु सर्पिस्तैल-लवणादिषु सत्सु केनेत्यनवसाये घृतेनेति गम्यते । यथा तु रात्रिष्वनुष्ठानाश्रवणादा-कांक्षायां प्रतितिष्ठन्तीत्यर्थवादः । अतः प्रतिष्ठाकामस्येति गम्यते । इह पुनर्ब्राह्मणा इति-परिसमाप्तत्वात्पदार्थस्य निवृत्ताकांक्षेति स्तुतिमात्रापेक्षयाऽर्थवादः । अथ लिङ्गदर्शनमात्र-तयोपन्यस्यते "देवानामश्नता हविरिति" (११।९५) तस्माच्छ्रेयः सम्पन्नं पापीयानन्वे-तीतिवत्तदपि पुंसः प्रतिषिद्धत्वात्पाक्षिकेनानुवादेन सालम्बनमिति न किंचित् स्त्रीणामपि देवान्नशेषमाज्यादिप्राशनमस्त्येव । त्रेदोदाहरश्च दर्शपूर्णमासादिषु "विदेयकर्मासीति"। न च श्राद्धस्य कर्तुः सुरां पाययेदिति चोदनया तासां पानमनुमीयते । ब्रह्महत्यादानेनैव ग्रहः।

तस्माज्जातिमात्रस्य प्रतिषेध इत्येष एतस्यां विप्रतिपत्तौ निर्णयः ॥८९॥

हिन्दी—पाखण्ड का आश्रय (वेद-वचन-विरुद्ध काषाय वस्त्र आदि को धारण) करने वाली, स्वेच्छाचारिणी (स्वेच्छा से एक या अनेक पुरुष का संसर्ग करने वाली), गर्भपात तथा पतिहत्या करने वाली और मद्य पीने वाली स्त्रियों का तिलाञ्जलिदान श्राद्ध आदि नहीं करना चाहिये ॥८९॥

आचार्यादि को तिलाञ्जलि-दान आवश्यक—

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ।।९०।।

भाष्य—स्वग्रहणमाचार्यविशेषणं मन्यते। "गुरोर्गुरौ सन्निहित" (२ । २०५) इत्यतिदेशात्तदाचार्येऽपि प्राप्ते प्रतिषेधः ।

अन्ये तु स्वशब्दं बान्धववचनं व्याचक्षते। अत्र तु पितरं मातरमिति न वक्तव्यम्। नित्यार्थं त्वभिधानमिति ।

गुरु "अल्पं वा बहु वाऽपि" (२ । १४९) इत्यनेन य उक्तः ।

एतान्निर्हरतो व्रतवियोगो नास्तीति श्रुतसामर्थ्याद्दर्शयति ।

अन्यान्निर्हृत्यानेन वियुज्यत इति पदार्थसिद्धिः ।।९०।।

हिन्दी—अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता, माता और गुरु (२।१४२) के शव को बाहर निकालकर (दाह, दशाह और श्राद्ध करके भी) व्रती ब्रह्मचारी व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है ।।९०।।

विमर्श—गुरु के गुरुतुल्य व्यवहार करने का मनु भगवान् द्वारा पहले (२।२०५) विधान करने से अपने आचार्य के आचार्य, उपाध्याय के उपाध्याय, पिता के पिता अर्थात् पितामह, माता की माता अर्थात् नानी और गुरु के शव को बाहर निकालकर, तिलाञ्जलिदान (दाह, दशाह, पिण्डदान और षोडशी श्राद्ध) करके व्रती ब्रह्मचारी व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है। अन्य के शव निकालने पर व्रती भ्रष्ट होता है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि 'स्वम्' (अपने) पद का सब के साथ सम्बन्ध है ।

वर्णानुसार-शव को बाहर निकालने के द्वार—

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ।।९१।।

भाष्य—पुरद्वारेणेति पुरग्रहणं ग्रामादीनामप्युपलक्षणार्थम् ।

यत्रानेकद्वारसम्भवस्तत्रायं नियमः । यो यत्रेष्टे तस्यायमुपदेशः ।

अमङ्गल्यत्वाच्च शूद्रादारभ्य क्रमेणोपदिष्टम् । अतश्च **यथायोगमिति** वैश्यक्षत्रिय-ब्राह्मणाः पश्चिमादिभिर्यथासंख्यं सम्बन्धनीयाः ।।९१।।

हिन्दी—मरे हुए शूद्र को नगर के दक्षिण द्वार से बाहर निकाले और अन्य द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण) के शव को क्रमशः नगर के पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व के द्वार से बाहर निकाले अर्थात् मृत ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के शव को क्रमशः नगर

के पूर्व, उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा के द्वारों से बाहर निकालना चाहिए ॥

राजा आदि को अशौचा भाव—

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ।।९२।।

भाष्य—राजशब्दो यद्यपि क्षत्रियजातौ वर्तते तथापीह **ऐन्द्र स्थानमुपासीना इति** कारणस्योपादानाज्जनपदेश्वरवचनो लक्षणया विज्ञायते । उत्तरश्लोके निपुणं वक्ष्याम: ।

व्रतिनो व्रतचारिण: चान्द्रायणादिस्थाश्च ।

सत्रिणो गवामयनिका: अन्यस्मिन्वा यज्ञे दीक्षिता: । तथा च गौतम: "ऋत्विग्दीक्षित-ब्रह्मचारिणामिति" ।

अत्रार्थवाद: । **ऐन्द्रं स्थान**माधिपत्यं पदं प्रजैश्वर्यमुपासीना: कुर्वाणा राजानो; ब्रह्मत्वं प्राप्ता: व्रतिन: सत्रिणश्च ।

अघदोषमाशौचम् । अन्ये तु सततदानप्रवृत्तान् 'सत्रिणो' मन्यन्ते । मुख्यायाऽ-नुवृत्त्या क्रतुविशेषे वर्तते ॥९२॥

हिन्दी—अभिषिक्त राजा, व्रती (ब्रह्मचारी तथा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले), यज्ञकर्ता (यज्ञ में दीक्षित) लोगों को (सपिण्ड के मरने पर) अशुद्धि (अशौच) दोष नहीं होता है; क्योंकि राजा अभिषिक्त होने से इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं तथा व्रती और यज्ञकर्ता ब्रह्मतुल्य निर्दोष हैं ॥९२॥

विमर्श— राजा को राजकर्म (न्याय करने, शान्तिहवनादि कर्म) में व्रतियों को व्रत में तथा यज्ञकर्त्ताओं को यज्ञ करने में ही उक्त दोष नहीं लगता है, ऐसा विष्णु का मत है[१] ।

राजा की तात्कालिक शुद्धि—

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ।।९३।।

भाष्य—महानात्मा यस्य स्थानस्य तन्**माहात्मकं** । यस्मिंस्थाने स्थितस्य पुंस: प्रजानां परिरक्षा 'माहात्म्यं' तदेव उच्यते । तच्च प्रजैश्वर्यम् ।

यदाह **आसनं चात्र कारणमिति** तदुक्तम् । नात्र जातिमात्रं किंतु प्रजापालना-धिकार:। 'आसन'शब्दोपीह नासनशय्यादिवचन:, अपि तु तत्पदं प्राप्तवतो यत्कर्तव्यं

---

१. तदाह विष्णु:— 'अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे' इति । (म०मु०) ।

तदाह । अतः अक्षत्रियोऽपि यदि प्रजापालने समर्थः तस्याप्याशौचाभाव एव पूर्वैर्व्याख्यातः।

प्रजानां परिरक्षार्थमिति । न सर्वेण सर्वाशौचनिवृत्तिः, किंतर्हि प्रजापालनविरोधि यदाशौचधारणं तन्निवर्तते । यथा दुर्भिक्षादौ स्वकोशादन्नदानेन प्रजाभरणम् । तथा दिव्यन्तरिक्षभौमेषूत्पातेषु शान्तिः । अकस्मात्सभ्यैः कर्तव्येन राज्ञा, अथवा आश्रमेषु द्विजातीनां धर्मसंशयसत्त्वेन प्रथमेज्यादावप्यस्ति प्रवक्तृत्वम्, तदपि प्रयोजनम् ॥९३॥

हिन्दी—राजसिंहासनारूढ़ राजा की (राज्यभ्रष्ट राजा की नहीं) तत्काल शुद्धि होती है, इसमें प्रजा की रक्षा के लिये राजसिंहासन ही कारण है ॥९३॥

विमर्श—प्रजारक्षार्थ राजसिंहासन के शुद्धि में कारण होने से क्षत्रिय-भिन्न ब्राह्मण वैश्य या शूद्र भी राजसिंहासन पर रहेगा तब उसकी भी शुद्धि तत्काल ही होती है; क्योंकि यहाँ जाति विवक्षित नहीं है, अपितु पद विवक्षित है ।

तत्काल शुद्धि के योग्य अन्य व्यक्ति—

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ।।९४।।

भाष्य—**डिम्बो** बहुजनसंकुलः अशस्त्रकलहो वा । **आहवः** संग्रामो युद्धम् । तत्र हतानां सद्यः शौचम् ।

विद्युदशनिः एतद्व्याख्यातम् । **पार्थिवः** पृथिव्या ईश्वरश्चातुर्वर्ण्यस्य यः कश्चित् । ब्राह्मणार्थे गवार्थे च युद्धादन्यत्रापि जलाग्निदंष्ट्रिहतस्य ।

यस्य चेच्छति पार्थिवः स्वकार्यार्थपरिपालनाधिकृतस्य ॥९४॥

"कुत एतद्यतो राज्ञां परिपालन एवाशौचनिवृत्तिस्तत्र कुतोऽन्यस्याविशेषेण तदिच्छया विनिवृत्तिः स्यात्"—

हिन्दी—नृप से रहित युद्ध में मारे गये, बिजली से मरे हुए, राजा (किसी अपराध में राजदण्ड) से मारे गये अर्थात् प्राणदण्ड प्राप्त, गौ तथा ब्राह्मण की रक्षा के लिए (युद्ध के बिना भी जल, अग्नि या व्याघ्र आदि से) मारे गये और (अपनी कार्य हानि नहीं होने के लिए) राजा जिसकी तत्काल शुद्धि चाहता हो, उसकी (तत्काल शुद्धि हो जाती है) ॥९४॥

उक्त शुद्धि में कारण—

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ।।९५।।

भाष्य—**व**पुस्तेजोंऽशः। **वित्तपतिर्वै**श्रवणः। **अपांपतिर्**वरुणः ॥९५॥
अत्रैव द्वितीयोऽर्थवादः।

हिन्दी—राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, कुबेर, इन्द्र, वरुण और यम इन आठों लोकपालों के शरीर को धारण करता है ॥९५॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेभ्यः प्रभवाप्ययौ ॥९६॥

भाष्य—एतैर्लोकेशै**रधिष्ठितो राजा। नास्य शौचाशौचम्**। यतो **मर्त्यानां** मनुष्याणामाभ्यामधिकारः। **तयोश्च प्रभवाप्ययौ** प्रवृत्तिनिवृत्तीलोकेभ्यः सकाशान्-**मर्त्यानां**, न तु लोकेशानामेव ॥९६॥

हिन्दी—(अतएव) राजा लोकपालों के अंश से अधिष्ठित है, इस कारण इस (राजा) को अशौच नहीं होता है; क्योंकि मनुष्यों की शुद्धि या अशुद्धि लोकपोलों से होती है या नष्ट (दूर) होती है। (अतएव दूसरों की शुद्धि और अशुद्धि के उत्पादक और विनाशक लोकपालों के अंशभूत राजा की अशुद्धि कैसे हो सकती है?) ॥९६॥

युद्ध में हत की तत्काल शुद्धि—

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥९७॥

भाष्य—येन शस्यते हन्यते **तच्छस्त्रम्**। अतः पाषाणलगुडादिनाऽपि हतस्य यज्ञ-संस्था निष्पद्यते नायुधैरेव खङ्गादिभिः।

आहूयन्ते यत्रेतरेतरं स्पर्धमाना युद्धाय स **आहवः** संग्रामः।

क्षत्रधर्मः अपराङ्मुखत्वम्, प्रजार्थम्, प्रभुप्रयुक्तं च।

सद्यः संतिष्ठते समाप्तिमेति। **यज्ञो** ज्योतिष्टोमादिस्तत्पुण्येन युज्यत इति यावत्।

आशौचमपि सद्य एव।

अत्र केचित् 'क्षत्रधर्महत'स्येत्यनेन सद्य इत्यभिसम्बन्ध्नन्ति। ततश्च यः संग्राम-भूमौ मृतस्तस्यैवायंविधिर्न तु योऽन्येद्युस्ततोऽन्यत्र गतः। तदेतद्विचार्यम् ॥९७॥

हिन्दी—युद्ध में क्षत्रिय-धर्म से (तलवार आदि के प्रहार से, लाठी या पत्थर आदि से नहीं) मारे गये व्यक्ति का ज्योतिष्टोमादि यज्ञ तत्काल ही पूर्ण (ज्योतिष्टोमादि का फल प्राप्त) होता है और अशौच भी तत्काल नष्ट होता है, ऐसी शास्त्र की मर्यादा है ॥९७॥

प्रेतकृत्य के बाद वर्णानुसार स्पृश्य पदार्थ—

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम्।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रिया ॥९८॥

भाष्य—दशाहादीनां कल्पानां परिपूर्ण आशौचकाले इदमपरं कर्तव्यम्।

अपः स्पृष्ट्वेति स्नानमुपदिश्यत इति प्राग्व्याख्यातम्।

कृतक्रिय इति क्षत्रियादिभिरभिसम्बध्यते। 'क्रिया' च स्नानमेव, अन्यस्याश्रुतत्वात्। स्नात्वा वाहनादीनि स्पृशेयुः।

अन्ये तु श्राद्धक्रियामाहुः। श्राद्धादि कृत्वा सर्व एव विशुद्ध्यति।

तत्रापि ब्राह्मण उदकं हस्तेन स्पृष्ट्वा क्षत्रियादयस्तु वाहनादिभिः ॥९८॥

हिन्दी—अशौच के बाद यज्ञादि को किया हुआ ब्राह्मण जल का, क्षत्रिय वाहन (रथ, हाथी, घोड़ा आदि) का, वैश्य कोड़े (या चाबुक) या रथ के बाग (रास) का और शूद्र छड़ी (या लाठी) का (दाहिने हाथ से) स्पर्श कर शुद्ध होता है ॥९८॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।
असपिण्डेषु सर्वे प्रेतशुद्धिं निबोधत॥९९॥

भाष्य—पूर्वोत्तरवस्तूसंहारोपपत्त्युपन्यासार्थौ पूर्वोत्तरावर्धश्लोकौ ॥९९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) हे ब्राह्मणो ! सपिण्डों के मरने पर यह शुद्धि (मैंने) आप लोगों से कही, अब, आप लोग सब सपिण्डों के मरने पर शुद्धि को सुनो ॥९९॥

असपिण्ड के शव को बाहर निकालने पर शुद्धि—

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥१००॥

भाष्य—बन्धुवदिति धर्मेण, न मूल्येन।

मातुराप्तांश्च। आप्तग्रहणं प्रत्यासन्नबान्धवमातुलादिग्रहणार्थम्। अस्माच्चानुमीयते **असपिण्डः** असमानोदको न सर्वसपिण्डादन्यः ॥१००॥

हिन्दी—ब्राह्मण मरे हुए असपिण्ड द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और तैश्य) को तथा माता के आप्त (सहोदर भाई, भगिनी आदि) बान्धवों का स्नेहपूर्वक (अदृष्ट भावना के बिना) बाहर निकालकर तीन रात्रि (दिन-रात) में शुद्ध होता है ॥१००॥

उनके अन्न खाने पर दस दिन में शुद्धि—

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति।
अनदन्नन्नमह्नैव च चेत्तस्मिन्गृहे वसेत्॥१०१॥

भाष्य—अनश्नतो निवसतश्च पूर्वोक्तस्त्रिरात्र एव। अनश्नतो न निवसतश्च एकाह एवा, अश्नतः निवसतश्च दशाह एव ॥१०१॥

हिन्दी—पूर्व (५।१०१) श्लोकोक्त मृत असपिण्ड द्विज के शव को स्नेह से बाहर निकालकर यदि ब्राह्मण उसका अन्न भोजन करे तो दस दिन में शुद्ध होता है और यदि उस मृत असपिण्ड द्विज के अन्न को नहीं खाता हो और उसके घर में भी नहीं रहता हो तब (उसके शव को बाहर निकालने पर) एक दिन (दिन-रात) में वह ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है। (और उसके घर रहने पर तथा उसका अन्न नहीं खाने पर तीन रात में शुद्ध होता है) ॥१०१॥

शव के पीछे चलने पर शुद्धि—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ।।१०२।।

भाष्य—अनुगमनं बुद्धिपूर्वमनुव्रजनम्। यथाकथंचिदधिगमने न सचैलम्। स्नानं अग्निस्पर्शो घृतप्राशनं च समुचितं शुद्धिहेतुः ॥१०२॥

हिन्दी—अपनी जाति वाले या भिन्न जाति वाले शव के पीछे इच्छापूर्वक जाकर वस्त्र सहित स्नानकर, अग्नि का स्पर्श कर फिर घृत का प्राशन कर शुद्ध होता है॥१०२॥

बान्धवों की उपस्थिति में शूद्र से विप्र शव का अनिर्हरण—

न विप्र स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ।।१०३।।

भाष्य—न नाययेत् निर्हारयेत्। **स्वेषु तिष्ठत्सु** समानजातीयेषु सत्सु।
आहुतिग्रहणान्न दाहयेदिति।
विप्रग्रहणमतन्त्रम्। क्षत्रियवैश्ययोरपि शूद्रसंस्पर्शो दोषः एवेत्यर्थवादात्प्रतिषेधः प्रतीयते ॥१०३॥

हिन्दी—स्वबान्धवों के उपस्थित रहने पर मृत ब्राह्मण को शूद्र के द्वारा बाहर न निकलवावे; क्योंकि वह निर्हरण (शूद्र के द्वारा विप्र के शव का बाहर निकलवाना) स्वर्ग प्राप्ति में बाधक होता है ॥१०३॥

विमर्श— यदि ब्राह्मण के मरने पर ब्राह्मण वहाँ न हों, किन्तु क्षत्रिय हो तो भी उस शव को वे क्षत्रिय ही बाहर निकालें, शूद्र से उस विप्र के शव को बाहर नहीं निकलवावें, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों के अभाव में वैश्य हो तो वे ही ब्राह्मण के शव को बाहर निकाले, शूद्र से नहीं निकलवावे, सब के अभाव में ही ब्राह्मण के शव को शूद्र बाहर निकाले।

देहियों की शुद्धि के कारण—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ।।१०४।।

भाष्य—ज्ञानादीनि कालशुद्धेः दृष्टान्ततयोपादीयन्ते । तथैतानि स्वविषये शुद्धि-कारणानि । एवं कालोऽपि नात्रातिशङ्कितव्यः । एतेषां यस्य यत्र शुद्धिहेतुत्वं तदिहैव प्रकरणे तेषां वक्ष्यते । अन्येषां तत्र तत्र देशे ।

तत्र **ज्ञान**माध्यात्मिकं साङ्ख्योयोगोपदिष्टम् । तेन हि अविद्यावासनापासनेन रागादि-क्षये निर्दोषज्ञानमुपैति । वक्ष्यति च (श्लो० १०८) "बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यतीति" ।

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि । तत्पातकोपपातकानां शुद्धिहेतुः ।

अग्निर्मृन्मयादिषु "पुनःपाकेनेति" (श्लो० १२१) ।

आहारः पवित्राणां पयोमूलानाम् । सोऽपि तप इव शोधयति ।

मृद्वारिणां शुद्धिहेतुता प्रसिद्धैव ।

मनसो वक्ष्यते "मनः सत्येनेति" (श्लो० १०८) ।

उपाञ्जनं मठादेः सुधागोमयादिना संमार्जनानुलेपने ।

वायुश्चण्डालादिस्पृष्टे तृणकाष्ठादौ रथ्यापतिते ।

कर्माणि संध्योपासनादीनि । उक्तं च (२ । १०२) "पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैश-मेनो व्यपोहतीति" । एतच्च द्वितीये व्याख्यातम् ।

सत्यपि तपसः कर्मत्वे प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगुपदेशः । प्रायेण च शास्त्रे भेदेनैव कर्मणस्तपो निर्दिश्यते "कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठा" इति (याज्ञवल्क्‌ं आचार २२१)॥१०४॥

हिन्दी—ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म (यज्ञादि कृत्य), सूर्य और समय, ये देहधारियों की शुद्धि करने वाले हैं ॥१०४॥

धन शुद्धि की श्रेष्ठता—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुर्चिन मृद्वारिशुचिः शुचिः ।।१०५।।

भाष्य—कोऽस्य प्रसंगः । यथा मृद्वारिशुचावविलम्बं कृतोत्सर्गः प्रवर्तते तथा प्रमादस्खलिते परद्रव्यापहरणादावविलम्बितं प्रायश्चित्तं, शुद्धये समाश्रयणीयम् । एकादशे वक्ष्यति ॥१०५॥

हिन्दी—सब शुद्धियों में धन की शुद्धि । (न्यायोपार्जित धन का होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है, जो धन में शुद्ध है अर्थात् जिसने अन्याय से किसी का धन नहीं लिया है, वही शुद्ध है । जो केवल मिट्टी जल आदि से शुद्ध है (परन्तु धन से शुद्ध नहीं है, अर्थात् अन्याय से किसी का धन ले लिया), वह शुद्ध नहीं है ॥१०५॥

शुद्धि के अन्यान्य साधन—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।।१०६।।

भाष्य—ये विद्वांसस्ते क्षान्त्यैव शुद्ध्यन्ति । ते हि द्वेषेर्ष्यामत्सरैर्नोपहन्यन्ते । ततो दुष्कृतेषु प्रवृत्तेषु नित्यशुद्धा भवन्ति । **क्षान्तिर्ना**म चित्तधर्मः, सर्वत्र साम्यम् ।

दानस्याप्यकार्यकृच्छुद्धिरुक्ता "दानेन वधनिर्णेकम्" (११ । १३९) इत्यादिना । प्रच्छन्नपापानामपि रहस्याधिकारे जप उक्त एव ।

तपः वेदविदां वेदाभ्यास एव, ज्ञानं च । यथोक्तं "ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं" इति (११।२३५) । कृच्छ्रादि तु सर्वेषां शुद्धिहेतुर्न वेदविदामेव ।।१०६।।

हिन्दी—विद्वान् क्षमा से, अकार्य (धर्म-विरुद्ध कार्य) करने वाले दान देने से, गुप्त पाप करने वाले (गायत्री आदि वेदमन्त्रों के) जप से तथा श्रेष्ठ वेदज्ञाता तपस्या से शुद्ध हो जाते हैं ।।१०६।।

मलिनपात्र आदि की शुद्धि—

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ।।१०७।।

भाष्य—नद्यः पारावारे क्षीणोदकाया अशुद्ध्युपहते । तस्या एव वेगं गतायाः कूलंकषाया उदकं वेगेन शुद्ध्यति । न यथान्यस्या भूमेः "भूमिःशुद्ध्यति पञ्चभिरिति" (१२३) शुद्धये प्रतीतिर्नैवं नदीतीरेषु ।

अथवा वेगवत्या अशुचिप्रवाहसंसर्गेणाशुच्याशङ्कायामिदमुच्यते **नदी वेगेनेति** । नैवं मन्तव्यं इतश्चामुतश्चाशुचिप्रवाहैः संस्पृष्टा न शुद्ध्यति ।

शारीरे व्यभिचारेऽनुपलभ्यमाने परपुरुषरूपगुणानुचिन्तनेन **मनोदुष्टा रजसा** ऋतौ शोणितेन स्रुतेन **शुद्ध्यति स्त्री** ।

संन्यासः षष्ठे वक्ष्यते । तेन द्विजोत्तमाः शुद्धा भवन्ति । न कथंचिन्मानसापचारे । यदविदुषा चिन्तितं सूक्ष्मप्राणिवधादि तदेषामपनीयते ।।१०७।।

हिन्दी—मलिन (मैले पात्र आदि) मिट्टी तथा जल से, नदी (थूक, खकार एवं मल-मूत्रादि से दूषित नदी-प्रवाह) वेग अर्थात् धारा से, मानसिक पाप करने वाली स्त्री रज (रजस्वला होने) से और ब्राह्मण संन्यास से शुद्ध होते हैं ।।१०७।।

शरीर आदि की शुद्धि—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।।१०८।।

भाष्य—इयानेवाधिकारी— कर्ता च पुरुषः, यदान्तरात्मा, अन्तःकरणं **मनः**, **बुद्धिः**, शरीरं भोगायतनम्, इन्द्रियाणां भौतिकत्वान्न पृथक्त्वम्। अत्र किंचित्केन-चिच्छाद्ध्यते। 'कालेन तु सर्वमिति' स्तुतिपरम्।

गात्राणीत्यवयवैरवयविनं लक्षयति। अद्भिः स्नानेन शरीरं शुद्ध्यति।

मनस्तु सदसदात्मकम्, तस्यासत्संकल्पादशुद्धिः 'सत्येन' साधुसंकल्पेन निवर्तते। पूर्वं मनसः शुद्धिहेतुत्वमुक्तं, तदध्याहारेण नेदं वाचो मनःशुद्धिकरणत्वम्। तथा च **श्रुतिः** "मनसा वा इषिता वाग्वदति, या ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टेति"।

विद्यया साङ्ख्यवेदान्ताभ्यासजन्यया, **तपसा** च कृच्छ्रादिनाऽभ्युपेतः शुध्यति, **भूतात्मा**। भूतशब्दस्तत्त्ववचनः। पारमार्थिकोऽयमात्माऽनुपचिताहंप्रत्यवेद्यः, न तु भूतमय आत्मा शरीरात्मेति मन्तव्यम्।

बुद्धिरविद्यमानार्थाकारदर्शनीया स्वप्नादिष्वसत्सिद्धान्तप्रकल्पितार्थाभिनिवेशतया वस्त्वात्मार्थाकारयोरसद्भेदाध्यवसायेन दुष्यन्ती।

या वाऽनुपभुक्तजन्मान्तरकृताशुभकर्मजा 'एकैकदुष्कृतजा वा' बुद्धिरात्मनो यावत्सहजा अविद्यात्मकाभेदग्रहणलक्षणा गुणात्मविवेकाभावलक्षणा वा धनपुत्राद्यभिषङ्गरूपा तृष्णाति-शयहेतुः, सा तु **ज्ञानेन** स्वप्रकाशाश्रयया प्रमाणव्युत्पत्त्या **शुद्ध्यति**। बुद्ध्यर्थयोर्भेदा-दाकारवत्वादर्थस्य विषयाकारेण च परिणामासिद्धिर्निर्विकारत्वनिश्चयाद्बुद्धिशुद्धिः।

पूर्वत्र च 'विद्या' वेदार्थवेदनमेव। तस्याश्च हेतुत्वं "यथैधस्तेजसा वह्निः" (११।२४६) इतिवदिति।

एवं शुद्धः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नोतीत्येषा सा चतुर्विधा शुद्धिः। यथैताः शुद्ध्यापर-पुरुषार्थहेतवस्तज्जननादिष्वियमिति प्रशंसा ॥१०८॥

हिन्दी—(पसीना आदि से दूषित) शरीर जल से (स्नानादि कर्म से), (निषिद्ध विचार-दूषित) मन सत्य से, जीवात्मा ब्रह्मविद्या तथा तप से तथा बुद्धि-ज्ञान से शुद्ध हो जाती है ॥१०८॥

द्रव्यशुद्धि—

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्॥१०९॥

भाष्य—नानाविधानां द्रव्याणां बहुप्रकाराणां तैजसमार्तिकद्रवकठिनव्यस्तसंहत-कार्यद्रव्यादिभेदैर्द्रव्याणामुपकरणभूतानाम्।

पूर्वस्याः शुद्धेर्भेदमेतेनाह। तत्र बुद्ध्यात्मनः प्रधानतया शुद्धिः। द्रव्याणां तु तत्संपरिग्रहात्। इह तु विपरीतम्।

शृणुत निर्णयम् ।

पूर्वेणार्थस्यासांकार्यार्थ: श्लोक: ॥१०९॥

हिन्दी—(महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं कि— मैंने) आप लोगों से शारीरिक (शरीर-सम्बन्धी) शुद्धि का यह निर्णय कहा, अब अनेक प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय आप लोग सुनें ॥१०९॥

मणि, सुवर्णादि की शुद्धि—

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभि: ।।११०।।

भाष्य—**तैजसान्यु**च्यन्ते यान्यग्निसंयोगाद् द्रवीभवन्ति, रजतसुवर्णताम्रायसत्रपुसीसादीनि । **मणय:** स्फटिककल्पा: । **अश्मा** पाषाण: । तद्विकार: पात्रमश्ममयम्। **सर्वस्येति** पादपूरणार्थम् । पर्वतग्राव्णो नदीस्थस्य चेत्यालंबनम् ।

भस्मनेति एककार्यत्वान्मृद्भस्मनी विकल्प्येते । आप: समुच्चीयन्ते । किंपुनरत्र कार्यम् । लेपगन्धापमार्जनम् । उक्तं (श्लो० १२६) "लेपगन्धापकर्षणे शौचममेध्यस्य" इहापि "यावन्नापैत्यमेध्याक्तादिति" । तत्र रूपत: पारुष्यं समानं मृद्भस्मनो:, स्नेहनिमित्तकार्यभेदे शुद्धि: ।

अशुचे: शुचित्वापादनं प्रत्यवायापनयेन संव्यवहारयोग्यता ।

यद्येवमशुद्धिर्वाच्या— इदमनेन संपृक्तमशुचीति । 'ननु लौकिका: पदार्थास्तत्र लोकादेव ज्ञास्यन्ते' । नैवम् । सामान्यमात्रं लोकाज्ज्ञायते । यज्जुगुप्सितं मूत्रपुरीषशोणितसंसर्गेण तादृशं लोकेऽशुचीत्याह । यदयोग्यं स्पर्शनादिक्रियासु तदशुचि । कथं च तस्यायोग्यतेत्येतच्छास्त्रादेव विवेक्तव्यम् । किंच परद्रव्यादौ यो न स्खलति स शुचिरुच्यते । अतो नानया पदार्थप्रसिद्धयेवह किंचित्सिद्ध्यति । अपहतमशुचीति सिद्धेऽपि इदमनेनापहन्यत इति नान्तरेण शास्त्रविशेषं सिद्ध्यति ।

"कथं पुन: शास्त्रात्पदार्थविशेषावसाय:, यावता कर्तव्यतापरत्वेन शास्त्रं प्रमाणम्, न पदार्थप्रसिद्धौ, पाणिनिवत् । वेदमूलत्वाभ्युपगमान्मन्वादिस्मृतीनाम् ।"

उच्यते । अनेन द्रव्येण यद्दुष्टं तेन न व्यवहर्तव्यमित्यस्त्येव विध्यनुमानम् । यत्संसर्गेण व्यवहारप्रतिषेध: स उपघातहेतुरित्यवगमो न विरुध्यते । एवं शुद्धावपियदुपहतं द्रव्यं तेन यथाविहितं कृतप्रक्षालनादिक्रियेण व्यवहर्तव्यमिति– शक्यते विधिमूलता प्रतिपत्तुम् । न च शुद्धि: कर्तव्येति विध्यर्थ: । तथा सत्यकुर्वन्प्रत्यवेयात् । किंतु दृष्टार्थे व्यवहारे येनकेनचित्पात्रेण शुचिनाऽन्येन वा कर्तव्येऽर्थित्वात्प्राप्ते नियम: शास्त्रीय:— 'इत्थं भूतेन व्यवहर्तव्यं सत्यर्थित्वे, नानित्थंभूतेन' ।

"ननु च नियमपक्षेऽभ्युदयार्थिनोऽधिकारः । अन्यस्य तु कामप्रसंगः । यथा कुसाधुत्वचिन्तायां वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोरिति"।

सत्यम्, यद्यशुद्धपात्रस्य प्रतिषेधो न स्यात् । प्रतिषेधे तु सति कुतोऽकृतशुद्धिना व्यवहारः । शुद्धिविधिस्तु प्रतिप्रसवमात्रम् । प्रतिप्रसवे कुतोऽभ्युदयः । केवलं प्रतिषेधातिक्रमो न भवति ।

भवतु वा पदार्थाधिगमपरैव स्मृतिरियम्, साध्वसाधुविवेकवत्स्वल्पस्मृतिवच्च । यत्तु 'कार्यमूलत्वं मन्वादिवाक्यानामिति' केनैतदुक्तम् । यत्र तादृशं मूलत्वेन शक्यतेऽवगन्तुं तत्र तदेवाभ्युपगम्यते । अष्टकादौ कार्यरूपे तादृशमेव वाक्यं मूलम्, सिद्धे त्वर्थे सिद्धार्थविषयमेव । पदार्थव्यवस्थायामिदंप्रथमता व्यवहारमूलेति न कदाचित्कृतिः । इह तु न कथंचिद्व्यवहारमूलं संभवति । वैदिकमन्त्रसाध्यायां च शुद्धौ का व्यवहारमूलता शक्या । विधिश्चानर्थकः स्यात् ।

"ननु च पाणिनेरपि विधिरस्ति साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिरिति ।"

नैषा पाणिनेः स्मृतिः । सा ह्येतावति पर्यवसिता— 'साधुरयमयंनेति' एतत्तु धर्मसूत्रकारिणां स्मरणं यद्यप्यस्ति । अभिधानसाराच्चैतन्निपुणतोऽवगन्तव्यम् ।

"ननु तत्स्मृतावपि विधिः श्रूयते । 'दायादा एवं विभजेरन्' 'चतुर्रोऽशान् हरेज्ज्येष्ठः' (९ । १५३), 'ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयादिति' (९ । १०५) किं विध्यर्थ एव लिङ्गान्तरे प्रैषादौ स्मर्यते । पदार्था विधिरूपाः, विधिशेषा, प्रैषादयः सर्वत्र प्रवर्तनाप्रतिपत्तेरिति"— चेत् । हेतुहेतुमतोराशिषि प्राप्तकालादिषु का प्रवर्तना । न च ग्रहणं विधेयम्, अर्थितया प्राप्तत्वात् ।

'स्वपरांशयोरविशिष्टायामर्थितायां नियमार्थो विधिरिति' चेत् । अदृष्टकल्पेन विहितांशातिरेकेण विधिनियमानुपपत्तेः ।

'प्रतिषेधाख्यापरिसंख्येति' चेत् । युक्तमेतत् । किन्तु विभागकाल एव यः कश्चिदधिकमंशं भ्रातृभिरनुज्ञातमाददीत स प्रत्यवेयात्सत्यामप्यनुज्ञायाम्— न चैकवस्त्वंशे स्वत्वं ज्ञाप्येत । ग्रहणविधौ हि स्वत्वापत्तिरुपात्ता । तस्य यदन्यत्तदस्वमिति विज्ञायते प्रतिषेधः । पुनस्तदतिक्रमेणापि परिग्रहे स्यादेव स्वाम्यम् । अतश्च चौर्यादिनाऽपीष्यते । न तदा इदमस्य स्वमिदं नेति परिग्रहादृते निश्चीयते ।

तस्माद्विधिनियमपरिसंख्यानामसंभवादियत्यंशेऽयं स्वामीयत्यंशेऽयमिति एतावान्विभागार्थः । अतोऽयमर्थान्तरे लिङ्विभजेरन्निति प्राप्तकालतायाम् । हरेयुरित्यादिषु लौकिकप्रवृत्त्यनुवादः, यथा "क्षुधितो भुञ्जीत" "योगक्षेमार्थमीश्वरमभिगच्छेदिति" ।

गौतमश्च स्पष्टमेवाह "रिक्थक्रय" इत्यादि ।

तस्मादष्टकादिस्मृतेः शुद्ध्यशुद्धिवचनस्य संस्कारविधितैव शिष्यते, विधिमूलत्वाद्विधिशिष्टैव । अतः शुद्ध्यशुद्धी उभे अपि शास्त्रावसेये । ततः अशुद्धिरपि वाच्या ।''

उच्यते । उक्तैव तर्हि 'वसा शुक्रमिति' (५ । १३५) । नृग्रहणं च तत्र स्मृत्यन्तरदर्शनेन प्रदर्शनार्थम्—श्वमार्जारखरोष्ट्रकपिकाकविड्वराहग्राम्यकुक्कुटाखुशृगालक्रव्यादमृगशकुन्तनखिनकुलानाम् । वसादिग्रहणं च रोममांसानाम् ।

शुद्धिवचनाच्चाशुद्धानां मूत्राद्युपहतानामयं संस्कारः कर्तव्यः, न पुनरेवमेव प्रयुज्यमानानाम् । न हि सुवर्णादयो भावाः स्वरूपेणाशुद्धाः, येन प्रयोगकाले शुद्धिमपेक्षेरन् ।

अथवाऽदृष्टार्थो दृष्टप्रयोगाश्रयः संस्कारो विधीयते । प्राङ्मुखेनेव भोजने ।

तत्र शुद्धिवचनं विरुध्यते ।

ये तु पात्राणां भोजनारम्भे संमार्जनप्रक्षालने, ते समाचारतः, न पुनरस्याः शुद्धिस्मृतेः ।

यदप्यन्यदस्पृश्यं पुरुषस्य पतितचाण्डालादि तथा लशुनपलाण्डसुरामांसादि, तदपि द्रव्याणामुपघातकम् ।

तत्र कस्मिन्नुपघाते का शुद्धिरिति स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेषणीयौ । उक्तश्च विशेषो हारीतापस्तम्बपराशरमुनिभिः । तानि तु वचनान्यस्माभिरिह सर्वाणि न परिवर्तितानि, लेखकविशेषप्रसंगात् चन्द्रगोमितन्त्रकारवत् ।।११०।।

हिन्दी—तेजस पदार्थ (सोना आदि), मणि (मरकत-पन्ना आदि रत्न), और पत्थर के बने सर्वविध पदार्थ (वर्तन आदि) की शुद्धि भस्म, मिट्टी और जल से होती है, ऐसा मनु आदि विद्वानों ने कहा है ।।११०।।

विमर्श— निर्लेप पदार्थ की शुद्धि केवल जल से ही होती है यह आगे (५।११२) कहेंगे अतः प्रकृतवचनोक्त शुद्धि जूठे या घृतादि से लिप्त बर्तन आदि के लिए है । उनमें भी मिट्टी व भस्म-दोनों के गन्ध-नाशक होने से विकल्प है और जल सर्वत्र अपेक्षित है ।

घृतादि लेपरहित पात्रादि की शुद्धि—

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ।।१११।।

भाष्य—तैजसविशेषयोः काञ्चनराजतयोर्निर्लेपयोरयं विधिः । अन्येषां तु ताम्रादीनां यथोच्छिष्टस्पर्शे धावनादिष्टकादिभिः ।

यत्र क्षीरं वा पानीयं वा पीतं तत्र न भवति लेपः । यत्र मांसघृतक्षीरादिभिरुच्छिष्टैः संश्लिष्यन्त्यवयवास्तत्र वक्ष्यति ''तस्मात्तयोः स्वयोन्यैवेति'' (५ । ११३) । लेपगन्धापकर्षणवचनाच्च यो लेपो येनैवापक्रष्टुं शक्यते तत्र तदेवोपादेयम्, न भस्मवारिणी

एव। तथा च हारीतः "गोधूमकुष्ठककलायवमुद्गमसूरचूर्णैः" इत्यादि पठति। एवं "श्वचाण्डालोदक्यादिस्पर्शे तु निर्लेपयोरपि भस्मना त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनमिति" हारीतः।

शङ्खस्तु "तैजसानां कुणपरुधिररेतोमूत्रपुरीषोपहतानामावर्तनमुल्लेखनं भस्मना वा त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनमिति"। तत्र चिरकालमूत्रादिवासितानाम् आवर्तनम्'। नामाकृतिमुपमृद्येच्छातस्तदाकृतिसंपादनम् 'आवर्तनम्'। 'उल्लेखनं तीक्ष्णेन शस्त्रेणाश्मना वा निघर्षः।

स्मृत्यन्तरे त्वाकरदाहावचूलनान्याम्नातानि। तत्र सुवर्णकारैर्वर्णीकृतस्य शुद्धिः 'आकरः'। 'दाहः' अग्नौ सुवर्णकारैर्निष्ठापनम्। 'अवचूलनं' दाहोन्नीतानां सुवर्णकाराणां सुवर्णघनभाण्डे तेन सर्वत अवहननं तस्मिन् वर्णाकरे। तथा चोक्तं "आकराः शुचयः सर्व" इति।

'अब्जं' शङ्खस्फटिकादि। शङ्खस्य तु सलेपस्य गौरसर्षपकल्केन गोमूत्रोदकाभ्यां क्षीरेण च। स्मृत्यन्तरे हि पठ्यते। "अद्भिः शङ्खस्येति" "क्षीरोदकाभ्यां गौरसर्षपकल्केनोच्छिष्टस्नेहयुक्तस्येति"।

अनुपस्कृतमखातपूरितमथवाऽत्यन्तानुपहतम्। सर्वशेषश्चायम्। तेन शुष्कामेध्यचण्डालादिस्पर्शे सत्यपि निर्लेपत्वे प्राक्प्रदर्शितैव शाखान्तरीया शुद्धिः ॥१११॥

हिन्दी—घृतादि के लेप से रहित (तथा जो जूठा न हो ऐसे) सुवर्ण-पात्र, जल में होने वाले शङ्ख— मोती आदि, फूल-पत्ती या चित्रादि से रहित अर्थात् सादे चाँदी के बर्तन आदि की शुद्धि केवल जल से ही होती है ॥१११॥

सोने-चाँदी को जल मात्र से शुद्धि में कारण—

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥११२॥

भाष्य—अर्थवादोऽयम्।

"अग्निर्वै वरुणानी"त्यारभ्याकामयतेत्याद्यर्थवादेषु हेम्नः सुवर्णस्य रूप्यस्य चोत्पत्तिः श्रुता। 'पुरुषधर्मेणाग्निर्वरुणानिरपोऽकामयत, मैथुनधर्मेण समयुज्यत'। तत एतद्द्वयं **निर्बभौ** उद्भूतम्। अत**स्तयोः स्वयोन्या** स्वेनोत्पत्तिकारणेनाग्निना अत्यन्तोपघाते उदकेन च।

"सयोन्येति" पाठे समानोत्पत्तिना भस्मनेति व्याख्येयम्। तद्दर्शनाच्च मृदोऽपि कदाचिदनुज्ञायन्ते।

निर्णेकः शोधनं **गुणवत्तरः** ॥११२॥

हिन्दी—पानी तथा अग्नि के संयोग से सुवर्ण तथा चाँदी उत्पन्न हुए हैं। अतएव इन (सुवर्ण तथा चाँदी) की शुद्धि भी अपनी योनि (उत्पत्ति-स्थान अर्थात् जल और अग्नि) से ही उत्तम होती है ॥११२॥

ताम्रादि पात्रों की शुद्धि—

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ।।११३।।

भाष्य—यथार्हम् । यस्य यदर्हति, तेन यस्य मलमपक्रष्टुं शक्यत इत्यर्थः । अतएव स्मृत्यन्तरोक्तमपि लभ्यते "वाहनीयास्त्रपुसीसकविकारा गोमयतुषैरिति" । यथा—

"गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च ।
शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥" इति ।

अतएव क्षारभेदाश्च काञ्जिकदाडिमादियोजिताः सिद्धा भवन्ति ॥११३॥

हिन्दी—तांबा, लोहा, काँसा, पीतल, रांगा, और सीसा; इन के बने बर्तन आदि की शुद्धि यथायोग्य राख, खटाई का पानी और पानी से करनी चाहिये ॥११३॥

विमर्श— वृहस्पति के कथनानुसार सोने को जल से, चाँदी लोहे तथा कांसे को राख से, ताँबे और पीतल को खटाई (के जल) से मिट्टी की फिर पकाने से शुद्धि होती है[१] ।

घृत, शय्यादि की शुद्धि—

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ।।११४।।

भाष्य—क्षरणधर्माणो **द्रवाः** । घृततैलोदश्वित्प्रभृतयस्तेषां च काकाद्युच्छिष्टानां प्रस्थमात्रपरिमाणाना**मुत्पवनं** कस्यचिदंशस्यापनयनं पूर्वभागस्थितस्य । स्मृत्यन्तरे त्ववेमाम्नातम् "कुशाग्राभ्यां पवमानः सुवर्जन" इत्यनुवाकेन । अन्ये तु प्लावनमुत्पवनमाहु— अन्यत्समानजातीयं तावदासिच्यते यावत्पूर्णे भाण्डे काश्चिन्मात्रा अवस्रवन्ति । साक्षादुपघात एतत् । अल्पानां त्याग एव । भाण्डोपघाते तु पात्रान्तरनयनम् । उच्छिष्टसंस्पर्शे तु तैलसर्पिषी उद्केऽवधाय जपेदित्युक्तम् । तत्रार्थात्पात्रोत्क्षेपः । न हि तैलस्य उदके क्षिप्तस्य पात्ररहितस्योपयोगः संभवति । साहचर्यात् घृतस्यापि । एतच्चोत्पवनं द्रवाणां

---

१. तदुक्तं वृहस्पतिना—अम्भसा हेमरौप्यायः कांस्यं शुद्ध्यति भस्मना ।
अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ इति ॥

यत्र मद्यामेध्यसंसर्गकृतौ मन्धवर्णौ न दृश्येते । तयोस्तु सत्योस्त्याग एव ।

सर्वं चैतद्बौधायनस्मृतौ परिगृहीतम् ।

पक्वानां तु द्रव्याणां पुन:पाकोऽपि शङ्खेनाम्नात: ।

सर्वेषां येऽप्यमेध्या मद्यादयस्तेषामप्येषैव शूद्रादीन्प्रति शुद्धि: । अत तूत्पवनं प्लावनमेव । यथा वसिष्ठेनोक्तं "भूमिष्ठानां तूदकवत्" ।

संहता: कठिना: । शीतं घृतं आमिक्षागुडपर्पटकादयस्तेषां य: प्रदेश उपहतस्तमपनीय शेषस्य शुद्धि: । उक्तं च शङ्खेन "शुष्काणामुद्धृतदोषाणामिति" । अथवा समुदायादवयविन: संहता: शयनासनसरणादय: सजातीयविजातीयद्रव्यसंघातात्मका: ।

'उद्धृतदोषाणामिति' सर्वत्र द्रष्टव्यम् । शवशुष्कामेध्यसंसर्गेषु य: प्रदेशो वृत्तसंसर्गस्तस्य प्रक्षालनमवशिष्टस्य प्रोक्षणम् ।

दारवाणां केवलदारुकृतानां बृसीफलकादीनां काष्ठमयानां च शवचण्डालपुरीषसंसर्गे तक्षणम् ।

अन्ये तु पुरीषसंसर्ग एवेच्छन्ति । तक्षणेन गन्धलेपाद्यपनेतव्यम् । अवशिष्टस्य मृद्वारिभ्यां प्रक्षालनं प्रोक्षणं वा । श्वाद्युपघाते तु प्रक्षालनमेव पुरीषवत् ।

खट्वाशय्यादीनां च दारुचर्मसूत्रघटितानां संहतत्वेन शुद्धि: ॥११४॥

हिन्दी—सभी द्रव (बहने वाले— घी तेल आदि) पदार्थों की शुद्धि । एक प्रसृति अर्थात् एक पसर— लगभग ढाई-तीन छटाक हो तो प्रादेश मात्र (अँगूठे तथा तर्जनी को फैलाने पर जो लम्बाई हो उतना प्रमाण) मापे हुए (दो कुश-पत्रों की) हवा करने से, शय्या आदि संहत (परस्पर में सटी हुई) वस्तुओं की शुद्धि पानी का छींटा देने से और काष्ठ के बर्तन आदि की शुद्धि (उन्हें-थोड़ा-थोड़ा) छीलने से होती है ॥११४॥

बालक आदि के वस्त्रों की शुद्धि—

[त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते ।
पर्युक्षणाद् धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ।।१६।।]

[**हिन्दी**—जिनकी शुद्धि तीन दिन में बतलायी गयी है, उन (बालक आदि के वस्त्रों) की शुद्धि अवस्थानुसार जल छिड़कने से, धूप देने से और अत्यन्त मलिन हो तो धुलाने से होती है ॥१६॥]

चमसादि यज्ञपात्रों की शुद्धि—

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धि: प्रक्षालनेन तु ।।११५।।

हिन्दी—चमस, ग्रह तथा अन्य यज्ञपात्रों की शुद्धि यज्ञ कर्म में हाथ से पोंछकर जल से धोने से होती है ॥११५॥

चरु-स्रुवादि यज्ञपात्रों की शुद्धि—

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥११६॥

भाष्य—श्लोकद्वयं श्रुतिसिद्धार्थानुवादेन दृष्टान्ततया नेयम् ।

ग्रहचमसादीनां यज्ञपात्राणां प्रयोगान्तरे प्रयुज्यमानानां पूर्वप्रयोगलग्नाज्यहविर्लेपादि-संसर्गपरिहारार्थमुष्णेन वारिणा लेपाद्यपकर्षः कर्तव्यः । ततो यथाश्रुति क्वचित्पाणिना क्वचिद्दर्भैः क्वचिद्दशापवित्रेण संमार्गः कर्तव्यः ।

इयं प्रायोगिकी शुद्धिः । उच्छिष्टाद्युपघाते तु लौकिकपात्रवत् । न सोमेनोच्छिष्टा भवन्तीति'' विशेषश्रुतेरन्यत्रोपघाते सामान्यशुद्धिरस्तीति ज्ञायते ।

ग्रहचमसस्फ्या याज्ञिकेभ्य आकारविशेषेणावसातव्याः ॥११६॥

हिन्दी—(घृत आदि स्नेह से लिप्त) चरु; स्रुक् और स्रुवों की शुद्धि गर्म पानी (के द्वारा धोने) से होती है तथा स्फ्य, शूर्प शकट, मूसल और ओखली ॥११६॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्राक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥११७॥

भाष्य—बहुत्वं धान्यानां द्रोणाधिक्ये स्मर्यते । अन्ये तु पुरुषापेक्षया देशकाला-पेक्षया च वर्णयन्ति । कस्यचिद्दुर्गतस्य कुडवार्धमपि बहु भवति । तथा कस्यांचिदवस्थायां वर्धितकोशो बहुतामेति । यथाह बौधायनः (धर्म सू० १ । ५ । ४७)

''देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।
उपपत्तिमवस्थां तु ज्ञात्वा शुद्धिं प्रयोजयेत् ॥''

एवं वासःस्वपि केचिदाहुः ।

''त्रिभ्य ऊर्ध्वं बहूनि'' । यद्यपि त्रिप्रभृतिषु बहुत्वम्, **यतोऽल्पानामिति** बहुवचनं श्रुतमतस्त्रिपर्यन्तान्यल्पानि ।

अद्भिरित्युपलक्षणम् । तेन यस्य वाससो येनैव दोषसंसर्गो व्यपैति तदपि द्रष्टव्यम् । तच्च प्राग्दर्शितम् । प्रोक्षणसम्बन्धोऽब्ग्रहणनियमार्थः । उदकेनैव प्रोक्षणं कर्तव्यम् । एतेनैव च भेदेन द्विःपाठः ।

एतच्च महत्युपघाते शवपुरीषचाण्डालादिस्पर्शे । अन्यथा **त्वल्पानामिति** प्रोक्षणमेव ।

यदि प्रक्षालितस्यापि लेपादि वाससो नापैति तदा तन्मात्रच्छेदनं ''उत्सर्गो वेति'' गौतमेनोक्तम् ॥११७॥

हिन्दी—और बहुत से धान्य तथा वस्त्रों की शुद्धि पानी छिड़कने से होती है तथा थोड़ी मात्रा में होने पर अन्न तथा वस्त्र की शुद्धि उन्हें धोने पर होती है ॥११७॥

चमड़े तथा बांस के पात्र आदि की शुद्धि—

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां तु धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ।।११८।।

भाष्य—चर्मणां वर्ध्राणां स्पृश्यानाम् । न तु श्वशृगालादिसमन्वितानां स्वभावाशुचीनाम् । उपानत्कवचादीनामपि तद्विकाराणामेष एव विधिः ।

अयं हि प्रकरणे प्रकृत्याऽपि विकृतिर्गृह्यते, विकृत्याऽपि प्रकृतिः । तथा च दारवाणामित्यत्र दारूणामप्यषैव शुद्धिः । वसिष्ठेन हि दारवाणां शुद्धिमभिधाय दार्वस्थिभूम्यानि इत्युक्तम् । यदि च विकृत्या प्रकृतिर्न गृह्येत तदनुक्तशुद्धिविधानेन दारूणं कथमतिदेशः क्रियेत । प्रकृतेस्तु विकारग्रहणं तद्बुध्यनपायाद्युक्तमेव ।

वैदलानि वार्क्षत्वगादीनि ।

स्मृत्यन्तरे पक्षपवित्रचर्मचामरतृणवेत्रबालवल्कलानामेषैव शुद्धिर्विहिता । तत्र मयूरादिपक्षास्तन्निर्वृत्ताश्च छत्रपिच्छिकादयो गृह्यन्ते । 'पवित्रं' दर्भस्तेषां दर्भमयानां च वाससाम् । 'तृण'शब्देन तालपत्राण्युच्यन्ते । ''तृणराजं विदुस्तालं'' इति स्मर्यते । तत्रैकदेशात्समुदायप्रतिपत्तिर्दत्तशब्दादिवद्देवदत्ते । 'बाला' गवाश्वाजानां न मनुष्याणाम्, तेषां च्युतानामस्पृश्यत्वात् । सर्वा चेयं द्रव्यान्तरोपघाते शुद्धिरुच्यते न स्वभावोऽपहतौ, चेलधान्ययोरेकरूपत्वाच्छुद्धेः ।

शाकादेर्धान्यवद्वचनम् । यथा धान्यानामवघातादिसंस्कारान्तररहितानां धान्यावस्थानमेव प्रोक्षणप्रक्षालने शुद्धिहेतू तद्वच्छाकादीनामपि । तेनापक्वानामयं विधिः । पक्वानां तु सत्यपि शाकादिशब्दवाच्यत्वे शुद्ध्यन्तरमन्वेषणीयम् । यथोक्तं ''सुवर्णवारिणा पावकज्वालया च'' इत्यादि । आकरादाहृतानां तु शाकादीनामुदश्विद्दधिक्षीरादीनां प्रोक्षणपर्यग्निकरणे विशेषतो हारीतेनाम्नाते । तथा शिम्बीधान्यानामुद्धर्षणदलनपेषणादि । एतच्च पादस्पर्शे शङ्कानिवृत्त्यर्थम् । तदुक्तम् ''आकराः शुचयः सर्वे'' इति ॥११८॥

हिन्दी—(स्पृश्य पशुओं— गाय, भैंस; घोड़े, मृग आदि के) चमड़े और बांस के बर्तनों की शुद्धि वस्त्र के समान तथा शाक, मूल और फलों की शुद्धि धान्य के समान (पानी छिड़कने से) होती है ॥११८॥

रेशमी आदि वस्त्रों की शुद्धि—

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ।।११९।।

भाष्य—ऊषा: काञ्चनमृद: ।

अरिष्टकादय: प्रसिद्धा: ।

स्नेहादिलेपे सत्युदकेन तेषां द्रव्याणां चूर्णसंमिश्रितेन लेपनोच्छेदनादि कर्तव्यम् ।

कौशेय: पट्टविशेष: । एव**मंशुपट्टमाविक**मूर्णामयं तस्य हारीतेनोक्तं "आदित्येनोर्णामयानाम्" । तन्नित्यं प्रध्रियमाणानामनेकपुरुषस्य शरीरसंस्पर्शे द्रष्टव्यम्, नान्यस्मिन्नुपघाते । वासस्त्वादे: तेषां केवलयो: प्रोक्षणप्रक्षालनयो: प्राप्तयो: स्नेहादिलेपापकर्षणे अतिदिश्येते ।

क्षौमग्रहणं शाणादीनामपि प्रदर्शनार्थम् ॥११९॥

हिन्दी—रेशमी और ऊनी वस्त्रों की खारी मिट्टी से, नेपाली कम्बलों की रीठे से, पट्टवस्त्रों की बेल के फलों से और क्षीम (अलसी आदि के छाल से बने) वस्त्रों की शुद्धि पिसे हुए सफेद सरसों के कल्क से होती है ॥११९॥

शङ्ख आदि की शुद्धि—

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ।।१२०।।

भाष्य—'अस्थिशृङ्गदन्ता:' स्पृश्यानां गोमेषहस्त्यादीनाम्, न श्वगर्दभादीनाम् ।

गोमूत्रोदकयोर्विकल्प: ।

गौरसर्षपकल्पस्तु समुच्चीयते ॥१२०॥

हिन्दी—शंख, (स्पृश्य पशुओं के) सींग, हड्डी और दाँत से बने पदार्थों (यथा—कंघी, कलम, बटन, चाकू के बेंट एवं दूसरे खिलौने आदि उक्त शङ्ख, सींग; हाथी आदि की हड्डियों एवं हाथी-दाँतों से बने पदार्थों) की शुद्धि क्षौम वस्त्रों के समान (पीसे हुए सफेद सरसों के कल्क द्वारा धोने से), गोमूत्र से या जल से शुद्धि— विषय को जानने वालों को करनी चाहिए ॥१२०॥

तृण आदि की शुद्धि—

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुन:पाकेन मृण्मयम् ।।१२१।।

भाष्य—व्रीह्यादिकाण्डं स्त्रस्तरादिप्रयोजनं **पलालम्** । 'तृणानि' कुशशाद्वलादीनि ।

"ननु च दारवाणामित्यत्र विकृति: प्रकृतेर्ग्राहिकेत्युक्तम्, किमर्थं काष्ठग्रहणम्" ।

नियमार्थम् । प्रोक्षणमेव । तेन यावन्न महानुपघातस्तावद्दारूणि न तक्ष्यन्ते । चण्डालादिस्पर्शे तु "सोमसूर्यांशुमारुतै:" इत्यनेनैव शुद्धि: । तद्विकाराणां तु द्रव्यादीनां प्रक्षालन-

तक्षणे स्वल्पोपघातेऽन्नाद्युपयोगिनां कर्तव्ये ।

मार्जनं शोधनं गृहस्य धूमांधकाराद्यपनयनम् ।

उपाञ्जनं सुधागोमयादिभिर्भूमिविलेपनम् । एतच्च शवचण्डालोदक्यादिभिर्भित्तिसंस्पर्शे व्यापिनि द्रष्टव्यम् । अव्याप्तौ तु तावन्मात्रस्यैव । उर्ध्वं शवोपघाते तु भित्तितक्षणं सूर्यरश्म्यनुप्रवेशोऽग्निज्वालाभिमर्शनम् । क्वचित्पुनर्नवीकरणमित्यादिपठितं संमार्जनम् ।

मृण्मयानां पुन:पाक: । पर्यग्निकरणमुच्छिष्टपुरुषसंस्पर्शादौ द्रष्टव्यम् । पुन:पाकस्तु मद्यभाण्डादिसंस्पर्शे द्रष्टव्य:। साक्षात्स्पर्शे तु त्याग एव। यथोक्तं (वासिष्ठे अ० ३-५९)।

"मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा ष्ठीवनै: पूयशोणितै: ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुन: पाकेन मृण्मयम्" ॥ इति ॥१२१॥

हिन्दी—(चण्डालादि अस्पृश्य— स्पर्श से दूषित) घास, लकड़ी और पुआल पानी छिड़कने से शुद्ध होते हैं; (रजस्वला, प्रसूति आदि के रहने से दूषित) घर झाड़ देने तथा लीपने से और उच्छिष्ट आदि से दूषित मिट्टी के बर्तन फिर पकाने से शुद्ध होते हैं ॥१२१॥

शुद्ध न होने योग्य मिट्टी के पात्र—

मद्येर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ।।१६।।

हिन्दी—मद्य, मूत्र, मल (पाखाना), थूक या खकार, पीव और रक्त से दूषित मिट्टी के बर्तन फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होते हैं। (यह वचन ५।१२२ श्लोक के चतुर्थ पादोक्त शुद्धि का बाधक है) ॥१६॥

भूमि की शुद्धि—

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ।।१२२।।

भाष्य—सेको गोमूत्रेणोदकेन वा । क्षीरेणापि क्वचिदुक्त: । **उल्लेखनं** शस्त्रादिना लेखाकरणं आवापनं च । "आवापनं च भूमेरिति" गौतमनिर्देशादेव (अ० १ सू० ३१)। **पञ्चभिरिति** पुनर्वचनमभिघातापेक्षया व्यस्तसमस्तप्रयोगदर्शनार्थम् । तत्र **संमार्जन**-शून्यं शोधन**मुपाञ्जनं** त्ववकररहिताया: केवलमपि । मूत्रपुरीषादिलेपे उल्लेखनसंमार्जने । सेको नदीपुलिनवनादिषु ।

गवां परिवासः एकाहमात्रं गोष्ठीकरणम् ।

एतच्च श्मशानभुव: सर्वं कर्तव्यम् । आवपनं तु यत्र पूर्वमस्थिकपालिकाद्यस्ति

तदुद्धृत्य मृदामन्यासां प्रक्षेप:, यत्र चान्तर्हितमेवमादिकालान्तरेणाशङ्क्यमानसद्भावमित्यादिवत्तत्रापि ॥१२२॥

हिन्दी—(जूठा, मल, मूत्र थूक, खकार, पीब, रक्त, चण्डाल आदि के निवास से दूषित) भूमि की शुद्धि झाड़ू देने से, लीपने से, गोमूत्र या जल आदि के छिड़कने से ऊपर की कुछ मिट्टी को खोदकर फेंक देने से और (एक दिन-रात) गायों के रहने से होती है ॥१२२॥

पक्षी के खाये फलादि की शुद्धि—

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ।।१२३।।

भाष्य—अत्र जग्धिपदाल्लिङ्गादन्नविषयताऽस्य श्लोकस्य प्रतीयते ।

पक्षिभिस्तु शुक्रादिभिरन्यैश्च भक्ष्यैर्यदन्नमुच्छिष्टीकृतम्, न तु काककङ्कगृध्रादिभि: । तत्र हि महत्प्रायश्चित्तं "पतत्रिणाऽवलीढमिति" तदेतदुक्तं प्रकृत्याशुद्धे भोजनप्रायश्चित्तम् । तथा च तत्तुल्यप्रायश्त्तिस्य गवा घातस्य नैव शुद्धि: । भवेदयं न्याय: । तथापि स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेष्यौ । एवं हि शिष्टा दशशरावाधिकं काकादिक्रव्यादोपहतं तावन्मात्रमपनीयावशिष्टं शोधयित्वोपयुञ्जते अर्वाक्तु तत् त्यजन्ति । अत्राप्यवस्थाविशेषोऽपेक्ष्य: ।

स्मृत्यन्तरे तु कृष्णशकुनिनोपहतमपि निषिद्धम् ।

अवधूतं मुखश्वासेनावकम्पितम् । वाससो वा यस्योपरि रजोऽपनयनार्थमुत्क्षेपणादि क्रियते आकाशदेशात् ।

अवक्षुतं यस्योपरि क्षुतं तदेव ।

केशा मनुष्याणां च्युता: । **कीटा:** क्षुद्रजन्तव: कृमय: । ते केचिद्गृहस्वेदान्नाद्यजास्ते जीवन्तो मक्षिकावन्नोपघ्नन्ति । मृतानां तेषामन्नसंस्पर्शे शुद्धिरियम् । ये त्वमेध्यसंसर्गजास्ते विड्भोजिनश्च, तेषां जीवतामपि । गौतमीयं (अ० १७ सू० ८ । ९) "नित्यमभोज्यम्, केशकीटावपन्नमिति" । बहुव्याप्तौ सर्वत्र त्याग: ।

महाराशावशुचिकीटसंसर्गेऽपि स्वल्पे तन्मात्रापनयनमवशिष्टस्य शुद्धि: । काञ्चनरजतदर्भमणीनां वारिसहितानां स्पर्श: स्मृत्यन्तरे केशाद्यवपन्ने विहित: अवज्वलनमपि क्वचित् ।

ये तु भूमेरियां शुद्धिमाहुस्तै: स्मृत्यन्तरसमाचारो वाक्यार्थश्च त्यक्त: ॥१२३॥

हिन्दी—(कौआ, गीध आदि अभक्ष्य पक्षियों को छोड़कर अन्य भक्ष्य) पक्षियों के खाये हुए, गौ से सूँघे हुए, पैर से छूए हुए, जिसके ऊपर छींक दिया गया हो उसकी एवं बाल तथा कीड़े आदि से दूषित (थोड़े अन्न आदि भक्ष्य पदार्थ) की शुद्धि (थोड़ी) मिट्टी डालने से होती है ॥१२३॥

गन्धयुक्त द्रव्यादि की शुद्धि—

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ।।१२४।।

भाष्य—अमेध्यमस्पृश्यम् ।

"तच्च यद्यस्य यदभोज्यं तस्य तदशुद्धिहेतुः, यथा ब्राह्मणस्य सुरामद्ये, न शूद्रस्य" ।

तदयुक्तम् । प्राग्घोमाद्धवींष्यभोज्यानि, न च तान्यस्पृश्यानि । सुरामद्यादीनि तु स्पर्शेऽपि प्रतिषिद्धानि ब्राह्मणस्य । तस्माद्यस्यैव स्पर्शः प्रतिषिद्धः स एव संसर्गेणाशुचि त्वमापादयति । अतो नायं नियमः— यदभोज्यं तदस्पृश्यं यत्त्वस्पृश्यं तदभोज्यमिति ।

आक्तं लिप्तं उपदिग्धम् ।

तावदित्यावृत्तिविधानम् ।

मृद्वारि, सति प्रयोजने । प्रयोजनं च गन्धलेपापनयनम् । शुष्कामेध्यसंसर्गे चिरवृत्तसंसर्गे वा कालेनापि तयोर्गन्धलेपयोः सकृदेव मृद्वारिभ्यां मार्जनम् ।

"ननु मृद्वार्यादीनां शुद्ध्यर्थमादानं दृष्टार्थं तत्रैव शुद्ध्यत्यपगते लेप इति किमनेन यावन्नापैतीति" ।

उच्यते । 'एका लिङ्गे' इत्यादौ संख्यातिक्रमार्थम् । उक्तया संख्यया अशक्ये पुरीषादिलेपापनये अनादृत्याश्रुतसंख्याऽधिकाऽप्याश्रयणीया । संख्यावचनं तु ततो न्यूनतयाऽप्यपनीते लेपे संख्या पूरयितव्येत्येवमर्थम् ।

मृद्वारिग्रहणं शुद्धिसाधनोपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । अतश्च यद्यप्यशुद्धिहेतुभूतं वारिणा क्षालितमपि क्षारादिना संमार्ष्टव्यमन्यथा न दृश्येत ।

अपैति अपगच्छति निवर्तत इति यावत् ।

तत्कृतः— तेनामेध्येन कृतः । अतश्च कस्तूरिकादिवस्त्रगन्धो नापैति नैव दुष्येत । कुंकुमाद्यनुलिप्तस्य यः प्रदेशोऽमेध्येन संसृज्येत्तत्र कुंकुमाद्यप्यपमार्जितव्यम् । अमेध्यसंसृष्टं हि तत् । तत्रापि गन्धलेपग्रहणात् । यदि गात्ररूढः कुंकुमवर्णो निघृष्यमाणो न शक्येतापक्रष्टुं स्यादेव शुद्धिः ॥१२४॥

हिन्दी—विष्ठा आदि से दूषित पात्र आदि से जब तक गन्ध तथा लेप (चिकनाहट) दूर न हो जाए, तब तक उनको मिट्टी तथा जल से शुद्ध करते रहना चाहिये ॥१२४॥

विमर्श— जिसकी शुद्धि मिट्टी तथा जल-दोनों से हो उसको दोनों से, जिसकी शुद्धि मिट्टी या जल किसी एक से हो, उसे मिट्टी या जल में से किसी एक से शुद्ध करते रहना चाहिये ।

तीन पवित्र वस्तु—

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ।।१२५।।

भाष्य—पवित्राणि शुद्धानि

देवग्रहणं स्तुतिः ।

ब्राह्मणग्रहणमपि समाचारात्सर्ववर्णार्थम् ।

अदृष्टं यदनारक्षप्रदेशस्थं द्रव्यमदृष्टश्वकाकादिसंसर्गम् । न च सद्भावमात्रेण तदुपघाताशङ्का निष्प्रमाणिका कर्तव्या । एवं महानसादौ सूदादिभिरकृतशौचैर्व्यवहरद्भिः पाक्यं द्रव्यमदृष्टं परिभोक्तुं न दुष्यति ।

न पुनरियमाशङ्का कर्तव्या— उत्तरकाले तत्प्रागविज्ञातोपघाते न दोषः । तथाहि "अमत्यैतानि च" इत्यादि विरुध्येत । एवं तावद्यत्र दोषसम्बन्धो न केनचित्प्रमाणेनावगम्येत तच्छुद्धम् । यत्र पुनरसत्यपि निश्चायके प्रमाणे कुतर्केण सम्भाव्यते तत्राद्भिर्निर्णेक्तव्यम् । यथा समानदेशस्थालीपिठरादि श्वकाकादिभिरुपहन्यमानं दृष्टम्, अन्यददृष्टमप्यद्भिर्निर्णेक्तव्यम् ।

तथैवंविधमेव **वाचा प्रशंसनीयम्** । शुद्धमेतदस्त्विवति शिष्टा वाचयितव्याः । ब्राह्मणवचनाच्छुद्धिर्भवतीत्याहुः । प्रशस्यत इति लडयं विधौ द्रष्टव्यः ।

ये त्वाहुः "दृष्टोपघातं यत्तस्य व्यवहर्त्रा साक्षाच्छुद्धौ क्रियमाणायामदृष्टायां शिष्टाश्चेदाहुः 'कृतमस्य शौचमिति', तत्र प्रत्येतव्यमिति वाक्प्रशस्तस्यार्थः" तदयुक्तम् । आप्तवचनस्य सर्वत्रैवाप्रामाण्यस्यानङ्गीकृतत्वात्पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ।

अन्ये त्वद्भिर्निर्णिक्तमिति दृष्टान्ततया व्याख्यानयन्ति । 'अदृष्टवाक्प्रशस्ते' विधीयेते । 'यथाऽद्भिर्निर्णिक्तं शुद्धमेवमदृष्टं वाक्प्रशस्तं विधीयते' ।

"ननु च यद्यदृष्टदोषं प्रत्यक्षानुमानागमैः शुद्धं तत्कथं 'संवत्सरस्यैकमपीति'" ।

भक्ष्यविषयं तत् । स्पृश्यविषया शुद्धिरियम् । गुरुलघुतया वा, आपदनापद्भेदेन वा व्यवस्था ।।१२५।।

हिन्दी—देवताओं ने तीन प्रकार की वस्तुओं को ब्राह्मणों के लिए पवित्र कहा है— प्रथम— जिसकी अशुद्धि स्वयं आँखों से नहीं देखी गयी हो। द्वितीय— अशुद्धि का सन्देह होने पर जिस पर जल छिड़क दिया गया हो तथा तृतीय— जो वचन से प्रशस्त कहा गया हो अर्थात् जिसको 'यह पवित्र है' ऐसा ब्राह्मण कह दे ।।१२५।।

जलशुद्धि—

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ।।१२६।।

भाष्य—भूमिग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन प्रणालिकागता अपि शुचय एव । स्वभावशुचयो ह्यापो भूमिगता आकाशगताश्च । किन्तु भूमेरमेध्यद्रव्यसंसर्गात्किंचिदशुचित्वम् । तत्र गतानां सर्गतोऽशुचित्वप्राप्तौ यावतीनां च शुद्धिस्तदर्थमिदं **वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेदिति** । वैतृष्ण्यं पिपासाविच्छेदः । परिमाणोपलक्षणार्थं चैतत् । तत्र चिरन्तनैर्व्याख्यातं लिङ्गदर्शनेन ''यथा वै गोः सास्नाम्भसि प्लाव्येति'' । यत्र गोः सास्नादि मज्जति तृष्णा च विच्छिद्यते तावत्यः ।

यास्तु मेध्यभूमिगतास्ताः स्वल्पा अपि शुद्धाः ।

कथं पुनरमेध्यव्याप्तिरवसेया । **गन्धवर्णरसान्विताः** । 'अमेध्येनेति' तृतीयान्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । अमेध्यसम्बन्धिभिर्गन्धादिभिर्यद्यन्विताः संयुक्ता भवन्ति, ततो **व्याप्ता** उच्यन्ते । एवं च कृत्वा पानीयं तडागादिषु यद्येकस्मिन्प्रदेशेऽमेध्यं दृश्यते, प्रदेशान्तरे गन्धादिशून्यं शुद्ध्येदेव ।।१२६।।

हिन्दी—जिससे गौ की प्यास दूर हो जाय, जो अपवित्र वस्तु (मल, मूत्र, हड्डी, रक्तादि) से दूषित न हो, जो वर्ण, रस और गन्ध में ठीक हो; ऐसा पृथ्वी पर स्वभावतः स्थित पानी शुद्ध होता है ।।१२६।।

नित्य शुद्ध पदार्थ—

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्यं यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ।।१२७।।

भाष्य—कारवः शिल्पिनः सूदरञ्जकतन्तुवायादयस्तेषां **हस्तो नित्यं शुद्धः** । अतश्च जननमरणाशौचयोस्तत्स्पृश्यताऽस्ति । न तु पुरीषादिलेपे दृश्यमाने शुद्धता विज्ञेया ।

यदुक्तं ''सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः'' इति तदेवेदम् । अत्र चापौनरुक्त्यम् । मनुशास्त्रेऽस्यानुपदेशात् ।

विषयान्तरमप्यस्ति । ''अनाचान्तास्तन्तुवाया वयन्ति'' तन्तूनां स्तम्भविश्लेषणार्थं यत्पिष्टमण्डादि दीयते, तद्भाजनं च यत्र तत्र भूमौ निधीयते, तावती याऽशुद्धिः साऽनेन निवर्त्यते । न तु स्वभावाशुचीनां स्पर्शस्तैस्तस्य शुद्धता विज्ञेया, न हि तेषां तत्कारुकर्मविहितम् ।

एवं चैषैवोपपत्तिरिति म्लेच्छसंसृष्टानामपि नाशुचित्वम्, तत्र शङ्खवचनात्प्रोक्षणा-

भ्युक्षणे । तत्र हि पठितम् "कारुहस्तः शुचिस्तथाऽऽकरद्रव्याणीति" ।

पण्यं व्यवहाराय यद्द्रव्यं रूपकैर्विक्रीयतेऽन्येन वा द्रव्येणा मीयते, तत्पण्यं तच्च **प्रसारितमा**पणभूमौ शुचि । अनेकक्रेतृसंस्पर्शाद्भूमौ च लेपनादिरहितायां स्थापनाद्युपघातस्तेन नाशुचि पुनःपुनर्दृश्यमानोपघातम् । प्रसारितग्रहणाद्गृहावस्थितस्य बुद्धौ स्थितेऽपि पण्ये न शुद्धिः । सिद्धान्नानां तु सक्त्वपूपादीनां सत्यपि शुचित्वेऽभक्ष्यता शङ्खवचनादेव "आपणीयान्यभक्ष्याणीति" ।

ब्रह्मचारिगतमस्मादेव साहचर्यात्पूर्वोक्ता शुद्धिरीदृश उपघाते विज्ञायते । भिक्षमाणस्य रथ्याक्रमणमशुचिदर्शनं क्षवथुनिष्ठीवनमनेकहस्तसंपातो भिक्षाया इत्याद्युपघातः संभाव्यते । 'मेध्यतया' शुचित्वमाह ॥१२७॥

हिन्दी—कारीगर का हाथ, बाजार में (बेचने के लिये) फैलायी (या रखी गयी) वस्तु और ब्रह्मचारी को प्राप्त भिक्षाद्रव्य सर्वदा शुद्ध है; ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ॥१२७॥

विमर्श—शुद्धि का पूर्णतया विचार न करके भी देवताओं पर चढ़ाने के लिए माला आदि बनाने वाले कारीगर (माली) आदि का हाथ सर्वदा शुद्ध माना जाता है । इसी प्रकार जन्म तथा मरण में भी नाई, माली आदि के हाथ को पवित्र माना जाता है । जो अन्न पकाया नहीं गया हो, ऐसा बाजार में बेचने के लिए फैलाया या रखा गया अन्न तथा फल आदि अनेक लोगों के जैसे-तैसे हाथ से छुए जाने पर भी पवित्र माना जाता है । बिना आचमन किये भी स्त्री आदि के द्वारा ब्रह्मचारी के लिये दी गयी भिक्षा (भोज्य द्रव्य) ब्रह्मचारी को प्राप्त होकर शुद्ध मानी जाती है ।

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ।।१२८।।

भाष्य—सर्व**स्त्रीणामास्यं शुचि** परिचुम्बनादौ । "स्त्रियश्च रतिसंसर्गः" इति स्मृत्यन्तरम् । रतिसम्बन्धिनीष्वेव न मातृभगिन्यादिषु । अत्र उच्छिष्टप्रतिषेधोऽयं न मन्तव्यो योषितः । सत्यपि रतिसम्बन्धित्वे "नाश्नीयाद्भार्यया सार्धम्" इतिवचनान्न भुज्येतेति सिद्धं चतुर्थाध्याये ।

नित्यग्रहणान्न संयोगवेलायामेव, किंतर्हि तदर्थायामेव प्रवृत्तौ ।

शकुनिः फलपातने । पक्षिमात्रवचनेऽपि शकुनिशब्दः काककङ्कादीनां विट्भुजां नेष्यते समाचारात् । पातनग्रहणाद्वृक्षस्थस्य फलस्यायं विधिः ।

प्रस्रवे दुह्यमानाया गोर्वत्सः पयःप्रक्षरणार्थं स्तनेषु संश्लिष्यते । अथवोच्यते "गावो मेध्या मुखादृते" इति वचनादशुचित्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं वचनमतस्तदीयास्यसंस्पर्शस्य । न तु श्वा शुचिः । मृगं तु यदाऽऽखेटकादौ गृह्णाति हन्तुं तदा शुचिः ॥१२८॥

हिन्दी—स्त्रियों का मुख सर्वदा शुद्ध है, फल गिराने में पक्षी (काक आदि का मुख) शुद्ध है अर्थात् काक आदि पक्षी के चोंच मारने से गिरा हुआ फल शुद्ध है, (भैंस-गाय को) पेन्हाने (दूहने के पहले पीने) में वत्स (बछड़ा तथा बछिया या पाड़ा-पाड़ी आदि दूध देने वाली पशु के बच्चों का मुख) शुद्ध है और (शिकार के समय) हरिण (आदि पशु पकड़ने) में कुत्ता (का मुख) शुद्ध है ॥१२८॥

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥१२९॥

भाष्य—पूर्वं "श्वा मृगग्रहण" इति मृगवधे श्वा शुचिरित्येतावदेव विवक्षितम्। इह तु तेन गृहीतोऽन्यैर्वा दण्डादिघातेनेति विशेषः।

उत्तरार्धश्लोकार्थो विधीयते। **क्रव्याद्भिः** श्येनजम्बुकप्रभृतिभिः। **चण्डालाद्यैः** आदिग्रहणं श्वापदादीनामबाधाय। **दस्यवो** निषादव्याधादयः, प्राणिवधजीविनः ॥१२९॥

हिन्दी—(शिकार में) कुत्तों से मारे गये (मृग आदि पशुओं तथा पक्षियों) के मांस को मनु ने शुद्ध कहा है। तथा कच्चे मांस को खाने वाले (व्याघ्र, भेड़िया आदि पशु तथा गीध-बाज आदि पक्षियों) तथा व्याध आदि के द्वारा मारे हुए (पशु-पक्षियों) का मांस शुद्ध होता है ॥१२९॥

अग्नि आदि की नित्य शुद्धता—

[शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तो हि बहिश्चरः।
जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था सञ्चरणे शुचिः ॥१७॥]

[**हिन्दी**—अग्नि, बाहर बहती हुई हवा, एकान्त में रखा हुआ पानी और नित्य सञ्चार वाला मार्ग शुद्ध रहता है ॥१७॥]

स्पर्श में नित्य शुद्ध पदार्थ—

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥१३०॥

भाष्य—खशब्दोऽयमिन्द्रियवचनः। तेन पादयोर्ग्रहणे कर्मेन्द्रियाणि **यान्यधस्तान्यमेध्यानि** इति बहुवचनम्।

एतदयुक्तम्, ऊर्ध्वं नाभेरित्यनेन विरोधात्। तत्र नाभेरूर्ध्वं मेध्यतरत्वमुक्तम्, प्रकर्षश्च। यद्यधस्तान्मेध्यत्वं भवति तत उपपद्यते। न हि भवति शुक्लः कृष्णतर इति।

न चायमिन्द्रियवचनः। किंतर्हि छिद्रार्थोऽयम्। तदुक्तं "सप्तशीर्षण्याः प्राणाः" इति। **अधो** द्वे छिद्रे। स्त्रीपुंसोपस्थभेदाद्बहुचनम्।

एवं सत्यन्तरास्यस्पर्शेऽपि हस्तादेः शुद्धता, यदि तद्गतश्लेष्मसम्बन्धो न भवति। तथा दूषिकादुष्टेन पुनश्चासंस्पर्शनाय ॥१३०॥

हिन्दी—नाभि से ऊपर जितने छिद्र (कान, आँख, नाक आदि) इन्द्रियाँ हैं, वे स्पर्श में शुद्ध हैं और (नाभि) के नीचे वाले छिद्र (गुदा, आदि) तथा शरीर से निकली मैल (मल, मूत्र, कफ, थूक, खोंट आदि) सभी अशुद्ध हैं ॥१३०॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥१३१॥

भाष्य—मक्षिकाग्रहणं स्वेदजानाम्। **गो**ग्रहणमजैडकस्य। **अश्व**ग्रहणं हस्त्यश्वतराणाम्। **सूर्य**ग्रहणं ज्योतिषाम्। **विप्रुष** उदबिन्दवः स्पर्शमात्रानुभवेन या अदृश्यमानरूपविशेषाः।

छाया चण्डालादीनाम्। भूश्चण्डालादिस्पृष्टा पद्भ्यामाक्रम्यमाणा शुद्धा। अन्यस्यास्तु संमार्जनादि विहितम्। एते मक्षिकादयः पुरीषादि स्पृशन्तो न दूषयन्ति।

"अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्या मुखादृते।
मार्जारनकुलौ स्पृश्यौ शुभाश्च मृगपक्षिणः॥" इति स्मृत्यन्तरे ॥१३१॥

हिन्दी—मक्खी, (मुख से निकली छोटी-छोटी) बूँदे, छाया (परछाहीं) गौ, घोड़ा, सूर्यकिरण, धूलि, भूमि, वायु तथा अग्नि को स्पर्श में शुद्ध जानना चाहिये ॥१३१॥

गुदा आदि की शुद्धि—

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यदियमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥१३२॥

भाष्य—"देहाच्चैव मलाश्च्युताः" इत्यशुद्धतायामिदमुच्यते। विण्मूत्रे उत्सृज्येते येन **स विण्मूत्रोत्सर्गः** पाय्वादिस्तस्य शुद्ध्यर्थं **मृद्वार्यदियमर्थवत्**। अनादृत्य संख्यां यावतीभिर्गन्धलेपावपसर्पतस्तावतीरपो मृदश्च गृह्णीयात्।

देहे भवा **दैहिका** मला अशुचित्वापादकाः। तदर्थास्वपि **शुद्धिषु** मृद्वारिणो उभे अप्यर्थवती आदेये। स्मृत्यन्तरे पठ्यते—

"आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिस्तु शुध्यति" ॥

विशुद्धेषु श्लेष्मादिषु स्मृत्यन्तरे पठितं स्नेहविस्रंसनं नासिक्यं श्लेष्माऽऽचक्षते। तेषाम्मते सत्यप्युत्तरषट्कतया न मृद आदातव्या एव ॥१३२॥

हिन्दी—मल-मूत्र त्याग करने वाली इन्द्रियों (गुदा तथा लिङ्ग) की तथा शरीर के

वसा आदि मल-मूत्र सम्बन्धी बारह अशुद्धियों की गन्ध-लेप-क्षय के द्वारा शुद्धि होने के लिये आवश्यकतानुसार मिट्टी तथा पानी लेना चाहिये ॥१३२॥

विमर्श—उनमें से प्रथम छ: मलों की शुद्धि के लिये मिट्टी तथा पानी-दोनों और अन्तिम छ: मलों की शुद्धि के लिये केवल पानी लेना चाहिये ।[१] अत: प्रकृत मनुवचन बारहों मल की शुद्धि के लिये मिट्टी तथा पानी का ग्रहण व्यवस्थित होने से विरुद्ध नहीं होता । गोबिन्दराज के मत से तो अन्तिम छ: मलों की शुद्धि में भी व्यवस्थित विकल्प भाव में मिट्टी तथा पानी का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् देव-पितृ-कर्म में मिट्टी पानी (दोनों) तथा तद्भिन्न कार्य में केवल पानी ही लेना चाहिये । बारह मल निम्नलिखित हैं—

द्वादश मल—

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ।
श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ।।१३३।।

भाष्य—एतानि द्वादशमलानि दर्शितानि ।

नृग्रहणं पञ्चनखानां प्रदर्शनार्थम् । श्वशृगालादीनां त्वस्पृश्यत्वादेव सिद्धम् ।

विण्मूत्रे तु सर्वस्याजाविकगवाश्वेभ्योऽन्यत्र ॥१३३॥

हिन्दी—वसा (चर्बी), वीर्य (शुक्र-धातु), रक्त, मज्जा (मस्तिष्कस्थित धातुविशेष), मूत्र, मल (विष्ठा), नकटी याने नेटा (नाक की मैल), खोंट (कान की मैल), कफ (थूक = खकार-पान की पीक आदि मुख की मैल); आँसू, कीचर (आंख से निकलने वाली श्वेत वर्ण की मैल) और पसीना— ये बारह मल मनुष्यों के हैं ॥१३३॥

शूद्ध्यर्थ मिट्टी आदि लेने की संख्या—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ।।१३४।।

भाष्य—विण्मूत्रोत्सर्गानन्तरं मेढ्रस्य शुद्ध्यर्थमेका मृद्दातव्या वामेन ।

स्मृत्यन्तरे शुद्धिविधानाद्यावती तस्मिन्हस्ते याति तावती सोदका ग्रहीतव्या । अहं तु ब्रुवे, अर्थवदितिवचनेनोक्तमेव परिमाणम् । केचित् पठन्ति ।

"प्रथमा प्रसृतिर्ज्ञेया द्वितीया तु तदर्धिका । तृतीया मृत्तिका ज्ञेया त्रिभागकरपूरणे ।" एतच्च परिमाणं पायावेव । अन्यत्र त्वर्थवदिति । एकोत्सर्गेऽपीयत्येव संख्या । आवृत्तिविधानं चेदम् ।

---

१. तदाह बौधायनः—'आददात मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये ।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति ॥' इति (म०मु०)

मृदां भेदो गवादिवत्। तथा चात्रोच्यते "वल्मीकाद्दूरतरादश्वस्थानाच्चान्येत्यादि।" एवमिह सिता कृष्णा लोहितेत्याद्यपि नादरणीयम्।

अभीप्सता इच्छतेति ॥१३४॥

हिन्दी—शुद्धि चाहने वाले को लिङ्ग में एक, गुदा में तीन, हाथ (बांये हाथ) में दस और दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगानी चाहिये ॥१३४॥

विमर्श— यदि उक्तसंख्यानुसार मिट्टी लगाने पर भी गन्ध तथा चिकनाहट दूर न हो तब अधिक बार पूर्व (५।१२६) वचनानुसार (गन्ध तथा चिकनाहट के दूर होने तक) मिट्टी लगानी चाहिये, इसी आशय से दक्ष ने लिङ्ग में तीन बार मिट्टी लगाने का विधान किया है[1]। हाँ, यदि प्रकृत श्लोकोक्त संख्या से कम बार मिट्टी लगाने से ही गन्ध तथा चिकनाहट दूर हो जाए तथापि प्रकृत वचन में संख्या का निर्देश करने से उतनी बार तो मिट्टी लगानी ही चाहिये।

ब्रह्मचारी आदि के लिये शुद्धि—

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्॥१३५॥

भाष्य—शौचविधिराश्रमविशेषेण। अनाश्रमिणस्तु मृद्वार्यादियमर्थवदित्येतदेव। शूद्रस्यापि गार्हस्थ्येऽधिकारोऽस्त्येवेत्येषा संख्या ॥१३५॥

हिन्दी—यह (पूर्व श्लोकोक्त संख्यानुसार) शुद्धि गृहस्थों के लिये है, ब्रह्मचारियों के लिये उससे द्विगुणित बार, वानप्रस्थों के लिये त्रिगुणित बार, सन्यासियों के लिये चतुर्गुणित बार मिट्टी लगाने आदि की क्रिया करनी चाहिये ॥१३५॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा॥१३६॥

भाष्य—मूत्रोत्सर्गदेशान्मूत्रादिसम्बन्धान् **कृत्वा** शोधयित्वा यथोक्तेन विधिना। **आचान्तः खानि** इन्द्रियाणि **उपस्पृशेत्**।

वेदमध्येष्यमाणश्च द्वितीये स्वाध्यायविधौ।

प्राथमिकार्थत्वात्करोतेः 'कृत्वा' उत्सृज्येति प्रतीयते। उन्मृज्य मूत्रं पुरीषं च पायूपस्थं क्षालयित्वा आचामेत्। 'वेदमध्येष्यमाणश्च', स्वाध्यायविधेर्धर्मतयोक्तं'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्त' इति। इदं त्वध्यापयतोऽध्येष्यतो वा। अन्यथा 'वेदमुदाहरन्त' उच्यन्ते।

---

१. तदुक्तं दक्षेन— 'लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपूर्वी पूर्यते यया।
द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता॥' इति। (म०मु०)

लौकिकानि क्रियान्तराणि कृत्वा नानाचान्तो वेदाक्षराण्युच्चारयेत् ।

अन्नमश्नंश्च ॥१३६॥

हिन्दी—मल या मूत्र का त्यागकर वेदाध्ययन का इच्छुक या भोजन करता हुआ उक्त (५।१३६-१३७) शुद्धि करके (तीन बार) आचमन कर छिद्रेन्द्रियों (नाक, कान तथा नेत्र, मस्तक आदि) का स्पर्श करे ॥१३६॥

आचमन-विधि—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ।।१३७।।

भाष्य—अयमनुवादः स्त्रीशूद्रार्थः । उक्तमप्येतत्स्त्रीशूद्रार्थमुच्यते ।

केचिद्व्याचक्षते 'शूद्रः स्पृष्टाभिरद्भिरिति' स्पर्शमात्रमपां शूद्रेण कर्तव्यम् । अतः परिमार्जनं श्रोत्रादिस्पर्शनं वा प्राप्तं सच्छूद्रविषयतया विधीयते । स्त्रीणां तु ''हृद्गाभिः पूयते विप्रः'' इति जातिनिर्देशात्पुंवत्प्राप्ताविदमुच्यते ।

शारीरं शौचमन्विच्छन् इतिवचनसामर्थ्याद्यद्यध्ययनभोजनयोः शुद्धः प्रवर्तेत तदा नावश्यं त्रिरावृत्तिः स्यात् । नापि प्रमार्जनम् । किंतर्हि आचमनम् यावतीनां तावती-नामपामिन्द्रियस्पर्शनं च । नान्यो ब्रह्मचारिधर्मोक्त आचमनविधिः ॥१३७॥

हिन्दी—शारीरिक शुद्धि को चाहता हुआ मनुष्य तीन बार जल से आचमन करे, दो बार मुख पोछे और स्त्री तथा शूद्र एक-एक बार आचमन करे ॥१३७॥

शूद्रों के लिए प्रतिमास मुण्डन तथा द्विज का उच्छिष्ट भोजन—

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ।।१३८।।

भाष्य—सामान्योक्तः सच्छूद्राणां प्रसंगेनायं धर्म उच्यते । न्यायवर्तिनो द्विजशुश्रूषवो महायज्ञानुष्ठायिनश्च । तैर्वपनं मुण्डनं **मासिकं** कर्तव्यम् । तृतीयार्थे षष्ठी । अथवा ब्राह्मणा-श्रितास्तत्परतन्त्राः । ब्राह्मणैः 'कार्यम्' । अनेकार्थत्वात्करोतेरुपदेष्टव्यमिति प्रतिपत्तिः ।

वैश्यवत् शौचकल्पविशेषाः, सूतकादावाचमने च ।

द्विजोच्छिष्टं च भोजनं एतत्प्राग्व्याख्यातम् ॥१३८॥

हिन्दी—यथाशास्त्र आचरण (द्विज-सेवा) करने वाले शूद्रों को एक मास पर मुण्डन कराना चाहिये, वैश्य के समान (मृतक सूतक आदि में) शुद्धि विधान करना चाहिये और ब्राह्मण के उच्छिष्ट का भोजन करना चाहिये ॥१३८॥

थूक की छोटी बूँदों आदि से उच्छिष्ट नहीं होना—

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गं न यन्ति याः ।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ।।१३९।।

भाष्य—'निष्ठीव्योक्त्वानृतानि चेति' (५ । १४४) निष्ठीवने आचमनविधानादनाचान्तस्याशुद्धता ज्ञापिता । विप्रुषामपि मुखान्निष्क्रमणं निष्ठीवनमेव । अतो विप्रुषां श्लेष्मनिरसनरूपनिष्ठीवनादाचमनप्राप्ताविदमाह ।

मुखे भवा मुखनिर्गता वा **मुख्याः विप्रुषः** इत्यनुच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्तीति ।

ननु च विप्रुषः शुद्धा इत्युक्तं "मक्षिका विप्रुष" इत्यत्र ।"

दैहिकमलव्यतिरेकेणान्यत्र । इदमेव ज्ञापकम् । न सर्वो विषयः संदर्शितः ।

श्मश्रूणि दाडिकालोमानि । **आस्यगतानि** प्रविष्टानि । नोच्छिष्टं कुर्वन्तीत्यनुषङ्गः । अतश्चान्यत्पूगफलादि जनयत्येव ।

तथा **दन्तान्तरधिष्ठितं** लग्नम् । स्मृत्यन्तरे विशेषः । "दन्तश्लिष्टे तु दन्तवदन्यत्र जिह्वाविमर्शनात्— प्राक्च्युतेरित्येके— च्युतेष्वास्रावद्विद्यान्निगिरन्नैव तच्छुचिरिति"। च्युतेष्वजिह्वयेति विद्यात्, जिह्वासंस्पर्शे शुचित्वनिषेधात् ॥१३९॥

हिन्दी—मुख से निकलकर शरीर पर पड़ने वाली छोटी-बूँदें, मुख में पड़ते हुए मूँछ के बाल और दाँतों के बीच में अटका हुआ अन्नादि मनुष्य को जूठा नहीं करते हैं ॥१३९॥

अजा, गौ, ब्राह्मणादि को अङ्ग-भेद से शुद्धता—

अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
ब्राह्मणः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ।।१८।।

हिन्दी—बकरी और घोड़ा मुख से, गौ पीछे से, ब्राह्मण चरणों से, स्त्रियाँ सर्वाङ्ग से पवित्र होती हैं अर्थात् बकरी आदि के उक्त अङ्ग पवित्र होते हैं ॥१८॥

गौ आदि की अङ्ग-भेद से—

गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।
गौः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ।।१९।।

हिन्दी—गौ का मुख अशुद्ध होता है किन्तु बकरी का मुख शुद्ध होता है और गौ के गोबर तथा मूत्र पवित्र होते हैं ऐसा मनु ने कहा है ॥१९॥

पैर पर गिरी कुल्ले की बूँदों की शुद्धता—

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ।।१४०।।

भाष्य—परानाचामयतः परेभ्य आचमनं ददत इत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति । यः परस्मा आचमनं ददाति तस्याचमयितृहस्तादधोऽङ्गुलिविवरेभ्यः पतद्भिरुदबिन्दुभिर्भूम्यभिघातोत्थैर्यद्याचमनस्य दातुः पादौ स्पृश्येते तदा न तैरशुचिर्भवति ।

'भौमिकै'र्यथाऽनुपहतायां भूमौ स्थिताः काश्चिदुदकमात्राः शुद्धा एवं तेऽप्युच्छिष्टा हस्तात्पतन्त उदबिन्दवः ।

न तैः स्पृष्टः **अप्रयतः** अशुचिः ।

परग्रहणाद्य आचामति तेन तत्संसर्गो रक्षितव्यः अन्येन च समीपस्थेन । पादग्रहणाच्च जङ्घाद्यन्तस्पर्शो दुष्ट एव ॥१४०॥

हिन्दी—(दूसरे को) कुल्ला कराते या पानी पिलाते हुए व्यक्ति के पैरों पर पड़ने वाली बूँदों (छीटों) को भूमि पर पड़े हुए (जंल) के समान मानना चाहिए, उनसे (वह व्यक्ति अशुद्ध होकर) आचमन करने योग्य नहीं होता अर्थात् वह शुद्ध ही रहता है ॥१४०॥

दाँतों में अँटके अन्न की शुद्धता—

[दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु ।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ।।२०।।]

[**हिन्दी**—यदि जीभ से न लगता हो तो दाँतों में अँटका हुआ अन्न दाँतों के समान (शुद्ध) है और वहाँ से निकलने पर निगल (घोंट) जाने पर वह अन्न शुद्ध है ॥२०॥]

भोजन लिए हुए के द्वारा उच्छिष्ट व्यक्ति का स्पर्श होने पर शुद्धि—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ।।१४१।।

भाष्य—आचमनार्हेण प्रायश्चित्तेन युक्तः पुरुष **उच्छिष्ट** उच्यते । तद्यथा— कृतमूत्राद्युत्सर्गश्चाकृतशौचाचमनादिश्च यश्चामेध्यादिसंस्पर्शदूषितो यदि पुरुषो 'द्रव्यहस्तः' हस्तेन च गृहीतं भक्ष्यभोज्यादि द्रव्यवस्त्रादि वा येन स उच्यते **द्रव्यहस्तः** । वज्रहस्तादिवत्प्रयोगव्यवस्था । स चेत्स्पृष्टो भवति । तदा **अनिधायैव तद्द्रव्यम्** अनपनीय, हस्तगृहीतद्रव्य एवाचामेत् ।

"कथं पुनर्हस्तस्थे द्रव्य आचमनसंभवः । आ मणिबन्धनात्पाणी प्रक्षालयेदिति तत्र विधिः" ।

केचिदाहु: । शरीरसंस्पर्शमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम्, न हस्तस्यैव, एवमशुद्धावपि स्कन्धाद्यारोपितेऽपि द्रव्ये उच्छिष्टस्याशुद्धतैव, तथैवाचान्ते शुद्धि: । अतो हस्तात्प्रदेशान्तरे प्रकोष्ठोत्सङ्गादिके तु द्रव्यं गृहीत्वाऽऽचामेत् । अभिप्रायो यथैव पुरुषाशौचसम्बन्धादशुच्येवं तच्छौचाच्छुद्धि: ।

गौतमेन तु "द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचामेत्" इत्युक्तम् (अ० १ सू० २८)। अत्र व्याख्यानयन्ति सत्यपि तुल्यसहितत्वेऽत्र निधानमेवाभिप्रेतम् । इतरथा द्रव्यहस्तस्योभयो: शुद्धौ कर्तव्यायां क: प्रसंगो द्रव्यनिधानस्य । अतोऽन्तरेण वचनं निधानाप्राप्तेर्वचनं निधानार्थमेव । "कथं तर्हि द्रव्यस्य शुद्धि:" । प्रयतेन पुरुषेण ग्रहणात् । स्मृत्यन्तरविहितेन वा प्रोक्षणेन ॥

"प्रचरन्नन्नपानेषु उच्छिष्टं संस्पृशेद्यदि ।
आचामेद्द्रव्यमभ्युक्ष्य एवं चैव न दुष्यति ॥" इति ।

यद्यन्तरेण वचनमत्र निधानं लभ्यते, अप्य**निधायै**वेति वचनमनर्थकम्" । एकवाक्यत्वात् स्मृतीनामिह निश्चितेन विधानेन तथाऽप्येवं विज्ञायते । अद्य पुनर्मतभेदो गम्यते । ततश्च विकल्प: ।

तस्य च व्यवस्था । गरीयो द्रव्यं निधीयते, अन्यदङ्गस्थं कृत्वाऽवगम्यते । यदाऽपि स्वयमन्नमश्नाति, भूयिष्ठं वा उच्छिष्टं स्पृशति, आचमनार्हेन वाऽकृताचमनेन स्पृश्यते, सर्वोऽपि द्रव्यस्योच्छिष्टं संस्पर्श: ॥१४१॥

हिन्दी—भोजन-सामग्री (पका हुआ अन्न— कच्चा अन्न या फल आदि नहीं) को लिया हुआ व्यक्ति यदि किसी जूठे मुँह वाले व्यक्ति का स्पर्श कर ले तो वह भोजन-सामग्री को बिना रखे ही आचमन करने से शुद्ध हो जाता है ॥१४१॥

वमनादि करने पर शुद्धि—

वान्तो विरिक्त: स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिन: स्मृतम् ।।१४२।।

भाष्य—वमनविरेचने प्रसिद्धे । अशितमन्नं येन मुखेनोद्गीर्णं स **वान्त:** पुरुष: । यस्योच्चारवेगा अष्टसंख्याया ऊर्ध्वं जाता:, हरीतक्यादि भक्षणेन व्याधिना वा, स **विरिक्त:** । तौ स्नानं प्रथमं कुर्याताम् ।

ततोऽन्ते घृतप्राशनं कृत्वैतदन्यदन्नमद्याताम् । न चानेन घृतप्राशनेन भोजनान्तरनिवृत्ति: । प्रायश्चित्तेषु द्रव्यशुद्धिरियं भस्मोदकमार्जनवद्**घृतप्राशनम्** ।

आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नम् । अन्नं भुक्त्वा तदहरेव यदि वमनविरेचने स्यातां तदाऽऽचमनमेव केवलम्, न स्नानघृतप्राशने ।

अपरैस्तु स्वतन्त्रं व्याख्यायते । भुक्त्वाऽऽचामेदेव । भोजनानन्तरमाचमनं विहितं तस्यैवायमपवादः ।

मैथुनिनः । स्त्रियां कृतशुक्रोत्सर्गः स्नानेन शुद्ध्यति ॥१४२॥

हिन्दी—वमन एवं शौच करने पर स्नान कर घी खाने से तथा भोजन करते ही वमन करे तो आचमन करने से और ऋतुकाल के बाद शुद्ध स्त्री के साथ सम्भोग करके स्नान करने से शुद्धि होती है ॥१४२॥

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।
ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।।२१।।]

[**हिन्दी**—ऋतु भिन्न काल में स्त्री प्रसंग करने पर मल-मूत्र करने के बाद जैसी शुद्धि कही गई है उसी भाँति मूत्रेन्द्रिय की मिट्टी से शुद्धि करनी चाहिए । ऋतुकाल में गर्भ स्थिति की शंका हो जाने पर मैथुनकर्त्ता की स्नान से शुद्धि होती है ॥२१॥]

सोने आदि के बाद शुद्धि—

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च ।
पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ।।१४३।।

क्षुत्वा अनिच्छतो वायुप्रेर्यमाणस्य यो नासिकाच्छिद्रादुपजायते शब्दः स क्षवथुस्तं कृत्वा ।

प्रयतोऽपि सन् । एतदध्येष्यमाणपदेनैव सम्बध्यते । प्रयतो**ऽप्यध्येष्यमाण** आचम्याधीयीत, अध्ययनविध्यङ्गतयाऽऽचमनं कुर्यादित्यर्थः । स्नानादिभ्यस्त्वनन्तरं सकृदेव । यत्पुनरुक्तम्—

"सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च पीत्वाऽऽपो वै मुनिस्तथा ।
आचान्तः पुनराचामेन्निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतं वचः ॥" इति ।

एवमभिसम्बन्धोऽत्र कर्तव्यः, 'आचान्तो भुक्त्वा पुनराचामेत्' । यत्र पुनर्द्विराचामेदिति पठ्यते तत्रानन्तर्येणैकक्रियावृत्तिः ॥१४३॥

हिन्दी—सोकर, छींककर, भोजनकर, थूककर, असत्य बोलकर और पानी पीकर तथा भविष्य में पढ़ने वाला व्यक्ति शुद्ध रहने पर भी आचमन करे ॥१४३॥

स्त्री-धर्म-कथन—

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ।।१४४।।

भाष्य—आद्येन पादत्रयेण शुद्धिप्रकरणोपसंहारश्चतुर्थेन वक्ष्यमाणसंक्षेपवचनम् ।

शौचविधिशब्द: सामान्यशब्दोऽपि द्रव्यशुद्धिसन्निधानाद्गोबलीवर्दवदितरविशेष-परः संपद्यते। स्त्रीणां धर्मा असाधारणस्त्रीकर्तृका एव। यस्तु साधारणो यागादिः स इह नोच्यते ॥१४४॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते है कि— सब वर्णों का जन्म-मरण-सम्बन्धी अशौच शुद्धि को तथा द्रव्यशुद्धि को (५।५७-१६५) आप लोगों से मैंने कहा, अब (आप लोग) स्त्रियों के धर्मों को सुनें ॥१४४॥

स्त्रियों का कर्तव्य—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥१४५॥

भाष्य—स्वातन्त्र्यं स्त्रीषु कस्यांचिदवस्थायां नास्तीत्युपदेशार्थः। वयोविभाग-वचनं तु यत्रास्याः पारतन्त्र्यं तत्प्रदर्शनार्थमविवक्षितस्वरूपम् ॥१४५॥

हिन्दी—बचपन में, जवानी में और बुढ़ापे में भी स्त्री को (अपने) घरों में भी अपनी इच्छा से (क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावक की सम्मति के बिना मनमाना) कोई भी काम नहीं करना चाहिये ॥१४५॥

स्त्रियों की स्वतंत्रता का अभाव—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥१४६॥

भाष्य—तथा चोक्तम्—

"तत्सपिण्डेषु वा सत्सु पितृपक्षे प्रभुः स्त्रियाः।
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः ॥"

तत्सपिण्डेष्वित्यादिना चासतिस्वामिनि कर्तव्यम् ॥१४६॥

हिन्दी—स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और पति के मर जाने पर बुढ़ापे में पुत्र के वश में रहे (उनकी आज्ञा तथा सम्मति के अनुसार कार्य करे;) स्वतंत्र कभी न रहे ॥१४६॥

विमर्श— पति पुत्रादि के अभाव में सपिण्डों के, उनके भी अभाव में पिता या पिता के वंश वालों के और उनके भी अभाव में राजा के वश में स्त्री को रहना चाहिये; उसे स्वतंत्र कभी भी नहीं रहना चाहिये, ऐसा नारद का कथन है[१]।

---

१. तदुक्तं नारदेन—'तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रिया।
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः ॥'इति। (म०मु०)

स्त्रियों के स्वतन्त्र होने से हानि—

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाऽपि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ।।१४७।।

भाष्य—अव्यवस्थानं वचनीयताहेतुः कथितो **गर्ह्ये कुर्यादिति** । एषां हि विरहेण निवसन्ती गच्छन्ती वा ग्रामान्तरमित्यध्याहार्यम् ।।१४७।।

हिन्दी—स्त्री को (बचपन, जवानी और बुढ़ापे में क्रमशः) पिता, पति और पुत्र से वियुक्त (अलग रहकर स्वतन्त्र) रहने की इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके अभाव से स्त्री दोनों (पिता तथा पति) के वंशों को निन्दित कर देती है ।।१४७।।

सदा प्रसन्नता आदि रखना—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्ये च दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।।१४८।।

भाष्य—आभीक्ष्णवचनः **सदा**शब्दो नित्यशब्दवत् । नित्यप्रहसितया इति । सत्यप्यन्यत्र क्रोधशोकवेगे भर्तुर्दर्शने मुखप्रसादस्मितनर्मवचनादिना प्रहर्षो दर्शनीयः । कुमार्या भर्तृमत्याश्चायमुपदेशः ।

गृहकार्ये च दक्षया । अर्थसंग्रहव्यययोः धर्मकार्ये स्नानादौ च । "अर्थस्य संग्रहे चैनाम्" (९।११) इत्यादिना गृहकार्यमुक्तम् । तत्र **दक्षया** चतुरया भवितव्यम् । अन्नसंस्कारादि शीघ्रं निष्पाद्यम् ।

सुसंस्कृतोपस्करया । 'उपस्कर' गृहोपयोगि भाण्डं कुण्डघटिकादि, तत्सुसंस्कृतं सुसंमृष्टं शोभावत्कर्तव्यम् ।

व्यये च मित्रज्ञात्यातिथ्यभोजनार्थे धने **अमुक्तहस्तया** उदारया न भवितव्यम् । न बहु व्ययितव्यमित्यर्थः । सुसंस्कृतान्युपस्कराणि यस्या इति बहुव्रीहिः । एवं मुक्तो हस्तो यस्या इति विग्रहः । पश्चान्नञ्समासः । रूढ्या उदारवचनो मुक्तहस्तशब्दः ।।१४८।।

हिन्दी—स्त्री को सर्वदा (पति आदि के रोष में भी) प्रसन्न, गृह-कार्यों में चतुर, घर के बर्तन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली और अधिक व्यय नहीं करने वाली (अपने अभिभावक की आय के अनुसार कुछ धन बचाते हुए व्यय करने वाली) होना चाहिये ।।१४८।।

पति सेवा स्त्री का कर्तव्य—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ।।१४९।।

भाष्य—भ्राता वाऽनुमते पितुः। यथैव पित्राऽनुज्ञातस्य भ्रातुर्दातृत्वमेवं पितुर्निरपेक्षस्यापि दातृत्वश्रुतौ भार्याया अनुमते सति दानं बोद्धव्यम्। सर्वत्र सहाधिकारादुभयोश्च दुहितरि स्वाम्यात्। असति पितरि मात्राऽपि देयेति नवमे दर्शितम्। मात्रापित्रोरपत्यं तन्निमित्तं च स्वाम्यमिति युक्ता इतरेतरापेक्षा।

शुश्रूषेत आराधयेत्।

संस्थितं च, मृतं च, **न लङ्घयेत्**। लङ्घनमतिक्रमणम्। न स्वातन्त्र्येणासीतेत्यर्थः। यथा जीवति भर्तरि तत्परवती एवं मृतेऽपि तदैव तत्परतन्त्रया भवितव्यम्। यत आह— "**प्रदानं** स्वाम्यकारकम्"। यदैव पित्रा दत्ता तदैव पितुः स्वाम्यं निवर्तते यस्मै दीयते तस्योत्पद्यते। अतश्च न विवाहकाल एव दानं प्रागपि विवाहाद्वरणकाले अस्ति दानम्॥१५९॥

हिन्दी—पिता या पिता की अनुमति से भाई इस (स्त्री) को जिसके लिये दे अर्थात् जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुये उस पति की सेवा करे और उसके मरने पर (भी व्यभिचार, उसके श्राद्ध आदि का त्याग तथा पारलौकिक कार्य के खण्डन से) उस (पति) का उल्लंघन न करे ॥१४९॥

किमर्थस्तर्हि विवाहः?

स्वामित्व में कारण—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहे तु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥१५०॥

भाष्य—अभिलषितार्थनिष्पत्तिः 'मङ्गलं' तत्साधनं तदर्थं प्रयुज्यते। तत्र "प्रजापतेर्यज्ञ" इति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकम्।

स्वस्ति ईयते प्राप्यते येन **तत्स्वस्त्ययनम्**। यदस्य प्रियं वस्तु विद्यते तत्र नश्यतीत्यर्थः।

आसां स्त्रीणाम्। तेषु विवाहेषु। **यज्ञः प्रजापते**र्देवतायाः क्रियते "प्रजापते न त्वदेतान्य" इति विवाहे आज्यहोमाः केषांचिदाम्नाताः।

उपलक्षणं चैतदन्यासामपि देवतानां पूषवरुणार्यम्णाम्। तथाहि तत्र मन्त्रवर्णाः— "पूषणं नु देवं वरुणं नु देवम्" इत्यादयो देवतान्तरप्रकाशनपरः।

प्रदानादेवासत्यपि विवाहे स्वाम्यमुत्पद्यत इत्येतदत्र ज्ञाप्यते। विवाहयज्ञस्तु मङ्गलार्थ इत्याद्यविवक्षितम्। दारकरणं विवाह इति स्मर्यते। सत्यपि स्वाम्ये नैवान्तरेण विवाहं भार्या भवतीति ॥१५०॥

हिन्दी—इन (स्त्रियों) के विवाह में जो स्वस्त्ययन पढ़ा जाता है तथा प्रजापति के

उद्देश्य से जो हवन आदि किया जाता है, वह (मङ्गलार्थ अभीष्ट लाभ के लिये विहित कर्म) तथा वाग्दान स्वामित्व का कारण है। (अतएव वाग्दान के बाद से स्त्री पति के अधीन हो जाती है) ॥१५०॥

पति-प्रशंसा—

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ।।१५१।।

भाष्य—सर्वत्रैव प्रतिषिद्धवर्जमिति **अनृतावपि सुखस्य दाता** ।

मन्त्रसंस्कारो विवाहविधिस्तस्य कर्ता **मन्त्रसंस्कारकृत्** । परलोके च । पत्या सह धर्मेऽधिकाराच्च तत्फलावाप्तेः परलोकसुखस्य दातेत्युच्यते॥१५१॥

हिन्दी—विवाहकर्ता (पति) स्त्री को ऋतुकाल में तथा ऋतु-भिन्न काल में भी नित्य ही इस लोक में तथा परलोक में (सेवादिजन्य पुण्यकार्यों के द्वारा स्वर्गादि प्राप्ति से) सुख देने वाला है ॥१५१॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ।।१५२।।

भाष्य—द्यूतातिसक्तो **विशीलः** । कामप्रधानं वृत्तमस्येति **कामवृत्तः । गुणैर्वा परिवर्जितः** श्रुतधनादिगुणविहीनः । **उपचार्यः** आराधनीयः ॥१५२॥

हिन्दी—सदाचार से हीन, परस्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन भी पति पतिव्रता स्त्रियों का देवता के समान पूज्य होता है ॥१५२॥

[दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ।।२२।।]

[**हिन्दी**—जो स्त्री वाग्दान से लेकर जीवन पर्यन्त पतिव्रता होती है, वह पति लोक का त्याग नहीं करती है अर्थात् सर्वदा पति लोक में निवास करती है; जैसी अरुन्धती है, वैसी ही वह (पतिव्रता स्त्री) है ॥२२॥]

स्त्रियों के लिये पृथक् यज्ञादि का निषेध—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।१५३।।

भाष्य—भर्त्रा विनाकृतानां यज्ञाधिकारो नास्तीत्येतदसकृत्प्रतिपादितम् । तेन व्रतोपवासावपि कुर्वती तदनुज्ञां गृह्णीयात् । **व्रतं** मद्यमांसादिनिवृत्तिसंकल्पः, न तु कृच्छ्राणि । तत्र जपहोमयोरङ्गत्वात्तदभावाच्च स्त्रियाः । न च वक्तुं युक्तं "जपहोमविकलं कृच्छ्रानुष्ठान-

मस्या भविष्यति'' । न हि स्वेच्छयाऽङ्गत्यागो युक्तः । सर्वाङ्गकल्पयुक्तस्य कर्मणोऽभ्युदयसाधनत्वेनावगतत्वात् । न हि पुरुषशक्तिभेदापेक्षयाऽङ्गानामुपचयापचयौ भवतः । सन्ति च सर्वाङ्गोपसंहारेण सवर्णास्त्रैवर्णिकाः प्रयोगमनुष्ठातुम् । अतो न स्त्रीशूद्रस्याभ्युदयकामस्य कृच्छ्रेष्वधिकारः । प्रायश्चित्तेषु विशेषं वक्ष्यामः ।

उपोषितं उपवासः आहारविच्छेद एकरात्रद्विरात्रादिषु ।

शुश्रूषते परिचरति ॥१५३॥

हिन्दी—स्त्रियों के लिये पृथक् (पति के बिना) यज्ञ नहीं है, और (पति की आज्ञा के बिना) व्रत तथा उपवास नहीं है; पति की सेवा से ही स्त्री स्वर्गलोक में पूजित होती है ॥१५३॥

विमर्श— जिस प्रकार स्त्री के राजस्वला आदि होने के कारण अनुपस्थित रहने पर भी पति मात्र को यज्ञ करने का अधिकार है, वैसे स्त्री को पति के बिना यज्ञ करने का अधिकार नहीं है तथा पति की अनुमति के बिना किसी व्रत या उपवास करने का भी अधिकार नहीं है किन्तु उक्त अधिकार नहीं रहने पर भी केवल पति-सेवा से ही वह स्वर्गाधिकारिणी हो जाती है ।

पति के जीवित रहते व्रतादि करने से दोष—

[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ।।२३।।]

[**हिन्दी**—जो स्त्री पति के जीवित रहने पर (उसकी अनुमति के बिना) व्रत या उपवास करती है, वह पति की आयु का हरण करती है तथा स्वयं नरक को जाती है ॥२३॥]

पति के विरुद्ध आचरण का निषेध—

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ।।१५४।।

भाष्य—पत्युर्लोकः पत्या सह धर्मानुष्ठानेन योऽर्जितः स्वर्गादिः स **पतिलोकः, तमभीप्सन्ती** प्राप्तुकामा । **नाचरेत्किंचिदप्रियं** परपुरुषसंसर्गादि शास्त्रप्रतिषिद्धम् ।

न हि मृतस्य किं प्रियमप्रियं वा शक्यमवसातुम् । न च जीवतो यत्प्रियं तदेव मृतस्य । भवान्तरोपपन्नानां तु प्रीतिभेदात् । तस्माद्यत्प्रतिषिद्धं स्वातन्त्र्यं तदेवाप्रियम् । तन्नाचरेत् ॥१५४॥

हिन्दी—पतिलोक को चाहने वाली पतिव्रता स्त्री जीवित या मृत पति का अप्रिय कोई कार्य (व्यभिचार से या शास्त्रोक्त श्राद्धादि के त्याग से) न करे ॥१५४॥

विधवा के कर्तव्य—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ।।१५५।।

भाष्य—तदेव सविशेषं दर्शयति ।

पुंवत्स्त्रीणामपि प्रतिषिद्ध आत्मत्यागः । यदप्याङ्गिरसे ''पतिमनुम्रियेरन्'' इत्युक्तं तदपि नित्यवदवश्यं कर्तव्यम् । फलस्तुतिस्तत्रास्ति । फलकामायाश्चाधिकारे श्येनतुल्यता । तथैव ''श्येनेन हिंस्याद्भूतानि'' इत्यधिकारस्यातिप्रवृद्धतरद्वेषान्धतया सत्यामपि प्रवृत्तौ न धर्मत्वम् एवमिहाप्यतिप्रवृद्धफलाभिलाषायाः सत्यपि प्रतिषेधे तदतिक्रमेण मरणे प्रवृत्त्युपपत्तेर्न शास्त्रीयत्वम् । अतोऽस्त्येव पतिमनुमरणेऽपि स्त्रियाः प्रतिषेधः । किंच ''तस्मादुह न पुरायुषः प्रेयादिति'' प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे स्मृतिरप्येषा अन्यार्था शक्यते कल्पयितुम् । यथा ''वेदमधीत्य स्नायात्'' इत्यध्ययनानन्तरमकृतार्थावबोधस्य स्नानस्मरणम् ।

अतो मृतपतिकाया अनपत्याया असति भर्तृधनादौ दायिके च कर्तनादिना च केनचिदुपायेनजीवन्त्या जीवितस्यातिप्रियत्वात्तदुपेक्षणस्याशास्त्रत्वात्प्रतिषिद्धत्वादापदि सर्वव्यभिचाराणां ''विश्वामित्रजाघनीम्'' इत्यादिनाऽनुज्ञातत्वाद्व्यभिचारोपजीविताप्राप्ताविदमुच्यते । **काम**मस्यामवस्थायां **शरीरं क्षपयेत्** क्षयं नयेत्**पुष्पमूलफलै**र्यथोपपादं वृत्तिं विदधीत । **न तु नामापि गृह्णीयात्**पतिर्मे त्वमेवाद्येत्यन्यस्य ।

यत्तु—

''नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेऽथ पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।'' इति—

तत्र पालनात्पतिमन्यमाश्रयेत्, सैरन्ध्रकर्मादिनाऽऽत्मवृत्त्यर्थम् । नवमे च निपुणं निर्णेष्यते । प्रोषितभर्तृकायाश्च स विधिः ।

कामशब्दप्रयोगोऽरुचिसंसूचनार्थम् । देहक्षपणमप्यकार्यमिदं त्वन्यदकार्यतरं यदन्येन पुरुषेण संप्रयोगः ।।१५५।।

हिन्दी—पति के मर जाने पर (जीविका रहने पर भी) पवित्र (सात्त्विक गुणयुक्त) पुष्प, कन्द और फल (के आहार) से शरीर को क्षीण करे (व्यभिचार की भावना से दूसरे पुरुष का) नाम भी न ले ।।१५५।।

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ।।१५६।।

भाष्य—एष एवार्थो विस्पष्टीक्रियते । **आ मरणाद्ब्रह्मचारिण्यासीत** । अस्यामापदि न व्यभिचारेणात्मानं जीवयेत् ।

क्षान्ता। तत्कृतं दुःखमवधीरयन्ती। न ब्रह्मचर्यं क्षुदुत्कृत्यं येन चित्तं कल्लोलेन खण्डयेत्।

एकः पतिर्यासां ताः, एकस्य वा पत्न्य 'एकपत्न्यः' तासां सावित्रीप्रभृतीनां यो **धर्मः**, यस्य फलं वरदानाभिशापादिषु शक्तता, तं **कांक्षन्ती** कामयमाना ब्रह्मचर्यं न जह्यात्। अस्यामवस्थायां मूलफलाशिन्या यदि भवति मरणं ततो न दोषः ॥१५६॥

हिन्दी—एक पत्नी व्रत (जिसका एक ही पति है, वह) अनुत्तम धर्म चाहने वाली स्त्री मरने तक अर्थात् जीवन-पर्यन्त क्षमायुक्त, नियम से रहने वाली तथा मधु-मांस-मद्य को छोड़कर ब्रह्मचर्य से रहने वाली बने ॥१५६॥

ब्रह्मचर्य से स्वर्ग प्राप्ति के उदाहरण—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥१५७॥

भाष्य—पूर्वेणापदि जीविकार्थः परपुरुषसंसर्गो निषिद्धोऽनेन पुत्रार्था प्रवृत्ति-र्निषिध्यते। एवं किल श्रूयते "नापुत्रस्य लोकोऽस्ति" इति। लिङ्गं च तत्राविवक्षितमतः पुत्रार्थे प्रसङ्ग इदमुच्यते।

बहूनि **सहस्राणि** 'कुमारा एव ब्रह्मचारिणो'ऽकृतदारा नैष्ठिकास्तेषामनेकानि सहस्राणि **दिवंगतानि** स्वर्गं प्राप्नुवन्ति।

नियोगस्तु नवमे (श्लो० ५९ इ०) गुर्विच्छया विहितः, नात्मतन्त्रतया पुत्रार्थिन्याः।

अकृत्वा कुलसन्ततिं कुलवृद्ध्यपर्था संततिस्तामकृत्वा पुत्रानजनयित्वेत्यर्थः। सत्यप्येकत्वप्रतिषेधे द्व्यादिसंख्यावचनं दुर्लभम्। तथा ह्ययं स्वधर्मावेशेन परित्यक्तस्व-गतिकत्वेनाच्छादिततद्रूपोऽप्यतिदीर्घसंख्याविशेषानाचष्टे। यथा मोदो ग्राम इति। उक्तं च चूर्णिकाकारेण "अनेकस्मादितिसिध्यतीति"। एकवचनप्रयोगशिष्टिसिद्धिं दर्शितवान्।

असहायवचनो वाऽयमनेकशब्दः। असहायानि गतानि, भार्या सहायभूता एषां नासीदित्यर्थः ॥१५७॥

हिन्दी—बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य पालने वाले (सनक, बालखिल्य आदि) अनेकों सहस्र ब्राह्मण वंशवृद्धि के लिये संतानोत्पत्ति को बिना किये ही स्वर्ग गये हैं॥१५७॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१५८॥

भाष्य—एष एवार्थो भूय उच्यते प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थम् ॥१५८॥

हिन्दी—पति के मरने पर ब्रह्मचारिणी रहती हुई पतिव्रता स्त्री (परपुरुष-संसर्ग से)

पुत्र को बिना पैदा किये ही उन (सनकादि) ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग को जाती है ॥१५८॥

परपुरुष-गमन-निन्दा—

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ।।१५९।।

भाष्य—पुत्रो मे जायतामित्यभिलाषः । सो'ऽपत्यलोभ'स्ततो हेतोर्या **भर्तारम**तिक्रम्य वर्ततेऽन्येन सम्प्रयुज्येत । **सा** इह लोके **निन्दां** गर्हां प्राप्नोति, स्वर्गं न प्राप्नोति॥१५९॥

हिन्दी—सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति का उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोक में निन्दा को प्राप्त करती है और उस पुत्र के द्वारा स्वर्ग से भी भ्रष्ट होती है ॥१५९॥

नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चान्यस्य परिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ।।१६०।।

भाष्य—**अन्येन** भर्त्रा या उत्पादिता प्रजा सा नैव तस्याः प्रजा । अन्यदारेषु च या पुंसोत्पादिता साऽपि तस्य न भवति ॥१६०॥

हिन्दी—इस लोक में परपुरुष से उत्पन्न सन्तान तथा परस्त्री में उत्पन्न सन्तान शास्त्रोक्त सन्तान नहीं होती है और पतिव्रता स्त्रियों का दूसरा पति भी कहीं पर (किसी शास्त्र में) नहीं कहा गया है ॥१६०॥

पतिं हित्वाऽवकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ।।१६१।।

भाष्य—न केवलं निन्दामेव येन—

हिन्दी—जो स्त्री नीचवर्ण (क्षत्रिय आदि) पति को छोड़कर उच्चवर्ण (ब्राह्मण आदि) पति का आश्रय (उसके साथ संभोग) करती है, वह भी लोक में निन्दित ही होती है और 'पहले इसका दूसरा पति था' ऐसा लोग कहते हैं ॥१६१॥

व्यभिचार से हानि—

व्यभिचारे तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
श‍ृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ।।१६२।।

भाष्य—अतो नातिचरेद्भर्तारं दृष्टादृष्टफल-लोभेन॥१६१-१६२॥

हिन्दी—परपुरुष के साथ संभोग करने वाली स्त्री इस लोक में निन्दित होती है, मरकर श‍ृगाल की योनि में उत्पन्न होती है और (कुष्ठ आदि) पाप-रोगों से दुःखी होती है ॥१६२॥

पातिव्रत्य का फल—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ।।१६३।।

हिन्दी—मन, वचन तथा काय से संयत रहती हुई जो स्त्री पति के विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचारादि) नहीं करती है, वह पति लोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग 'पतिव्रता' कहते हैं ॥१६३॥

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ।।१६४।।

भाष्य—स्त्रीधर्मोपसंहारश्लोका ऋजवश्च स्त्रीधर्मा इत्यतो मयाऽत्र व्याख्यानादरः कृतः ।

एतावत्तत्रोपदेशार्थः । यथा पुंसोऽन्यया सह पुनःप्रवृत्ति कर्म नेह "संस्थितं च न लङ्घयेत्" इत्यनेन न्यायेन पुनः सहप्रवृत्तिरिति, तथा "स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि" इत्यनेनापत्यजननमापदि प्रतिषिध्यते— नियोगस्मृत्या तु तत्पुनरभ्यनुज्ञास्यते— तदेतदपत्योत्पादनमुक्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प्यते । अनयोस्तु स्मृत्योः कतमा स्मृतिर्ज्यायसीति न शक्यं कर्तुमतिशयावधारणं येनैकत्रापत्यमन्यत्रास्याः संयमः । उभयोरपि वस्तु निर्वहति ॥१६४॥

हिन्दी—मन-वचन-कार्य से संयत स्त्री इस (५।१४४-१६३) स्त्री-व्यवहार (पति—शुश्रूषा आदि) से इस लोक में उत्तम यश को और परलोक में पति के साथ अर्जित स्वर्ग आदि शुभ लोकों को प्राप्त करती है ॥१६४॥

स्त्री के मरने पर श्रौताग्नि से दाहक्रिया—

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ।।१६५।।

भाष्य—न्यायप्राप्तानुवादः श्लोकः ।

एवं तस्याः साध्वीत्वाद्युक्त एवात्राग्निहोत्रिणः संस्कारः । "न वाऽग्नयो ह वा एते पत्न्यां प्रमीतायां धार्यन्ते" इति ॥१६५॥

हिन्दी—ऐसे (५।१४४-१६४) आचरण वाली पहले मरी हुई सवर्णा स्त्री की दाहक्रिया धर्मज्ञ द्विजाति अग्निहोत्र की अग्नि तथा यज्ञपात्रों से विधिवत् करे ॥१६५॥

फिर विवाह के विषय में निर्णय—

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ।।१६६।।

भाष्य—तदेतत्पुनरधिकारार्थमुदाह्रियते। इदमप्यन्यया सहाधिकारप्रतिप्रसवः। यदा त्वर्थे प्रयोजने धर्मकर्मानुष्ठाने वा तदाऽप्यसहायभावाद्वानप्रस्थे पारिव्राज्ये वाऽधिकारस्यापि प्रतिषेधः। तथा च श्रुतिः "जरसा ह वा एतस्माद्विमुच्यत" इति, अर्थलोपेन वा।

अपरे त्वाहुः। अत्र यदेति कल्पयिष्यते। एतेन यावज्जीवहोमीयश्रुतेरविरोधः सिद्धो भविष्यति ॥१६६॥

हिन्दी—पहले मरी हुई स्त्री का दाहकर्म आदि अन्त्येष्टि संस्कार करके गृहस्थाश्रम को चाहने वाला (सपुत्र या अपुत्र) द्विजाति फिर विवाह करे अथवा श्रौताग्नि का आधान करे ॥१६६॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥१६७॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

भाष्य—उपसंहारश्लोकः। **पञ्चयज्ञ**ग्रहणं च सर्वप्रसिद्ध्यर्थमिति ॥१६७॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

हिन्दी—इस प्रकार सर्वदा (करता हुआ द्विज) पञ्चमहायज्ञों (३।७०) का त्याग कदापि नहीं करे, आयु के द्वितीय भाग को (शास्त्रानुसार) विवाह कर गृहस्थाश्रम में निवास करे ॥१६७॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारव्रतवर्णनम्।
आञ्जनेयकृपादृष्ट्या पञ्चमे पूर्णतामगात्॥५॥

।। अथ षष्ठोऽध्यायः ।।

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ।।१।।

भाष्य—गृहोपलक्षित आश्रमो **गृहाश्रमः** । 'गृहाः' दाराः । तत्र स्थित्वा तमनुष्ठाय वने वसेदिति विधिः ।

स्थित्वेति क्त्वाप्रत्ययेन पौर्वकाल्यं गार्हस्थ्यस्य वनवासाद्दर्शयति । क्रमेणाश्रमः कर्तव्यः । कृतगार्हस्थ्यो वनवासेऽधिक्रियते ।

समुच्चयपक्षमाश्रित्यैतदुक्तम् । अन्यथाऽविप्लुतब्रह्मचर्यादपि वनवासो विद्यत इत्येतदपि वक्ष्यते । **विजितेन्द्रियः** पक्वकषायः क्षीणराग इत्यर्थः ।

एवं **विधिवत् यथावदि**तिपदानि वृत्तपूरणानि । तानि प्राक्तत्र तत्र व्याख्यातानि । एतावद्विधीयते । गार्हस्थ्यं कृत्वा वनवास आश्रयितव्यः ॥१॥

हिन्दी—ब्रह्मचर्याश्रम के बाद समावर्तन संस्कार को प्राप्त स्नातक द्विज इस प्रकार (पञ्चमाध्यायोक्त) विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम में रहकर आगे (इसी षष्ठ अध्याय में कथित) नियम से जितेन्द्रिय होकर वन में निवास करे ॥१॥

[अतःपरं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।
वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ।।१।।]

हिन्दी—इसके आगे वानप्रस्थाश्रम के धर्म और वन्य (जंगली) कन्दों तथा फलों के ग्रहण एवं त्याग करने की विधि कहूँगा ॥१॥

वानप्रस्थाश्रम काल—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽऽरण्यं समाश्रयेत् ।।२।।

भाष्य—यदुक्तं त्यक्तविषयोपभोगगर्धोऽधिक्रियत इति तदेव दर्शयति ।

वली त्वक्शैथिल्यम् । **पलितं** केशपाण्डुर्यम् । **अपत्यस्यापत्यं** पुत्रस्य पुत्र इत्याहुः ।

सत्यपि दुहितुरपत्ये दौहित्रे पुत्रस्यापि कन्यायां जातायां नैवं विधिमिच्छन्ति शिष्टाः ।

अन्ये तु शिरःपालित्यं पौत्रोत्पत्तिं च वयोविशेषलक्षणार्थमाहुः यस्य कथंचित्पालित्यं न भवेत्सोऽपि वार्धक्ये वनं समाश्रयेत् । यथैव 'जातपुत्रः कृष्णकेशस्तु' आधानेऽधिक्रियते, एवं जातपौत्रः पलितशिराः । तदापि पुत्रजन्म कृष्णकेशता च वयोविशेषोपलक्षणार्थमेव ।

'नातिशीघ्रं नातिचिरम्' इत्यर्थस्योपलक्षणत्वे तु प्रमाणं वक्तव्यम् ॥२॥

हिन्दी—जब गृहस्थाश्रमी बली (अपने शरीर के चमड़े को सिकुड़ा हुआ) पके हुए बाल तथा अपने पुत्र के पुत्र (पौत्र) को देख ले, तब वन का आश्रय, (वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश) करे ॥२॥

सस्त्रीक अथवा अस्त्रीक वानप्रस्थाश्रम ग्रहण—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ।।३।।

भाष्य—व्रीहियवमयमन्नं ततः प्रभृति नाश्नीयादित्येतत् 'संत्यज्येति' उच्यते । तदुक्तं 'मूलाशीत्यादि' ।

परिच्छदः गवाश्ववस्त्रासनशय्यादिः ।

यदि भार्याया इच्छा तदा सहगमनम्, अन्यथा एकाकिनः । अन्ये तु तरुणीं निक्षिप्य वृद्धया सहेति वर्णयन्ति ।

सत्यां भार्यायामयं विधिः, पुत्रेषु निक्षेपः वनगमनं वा । असत्यामपि मृतायां वनवास आपस्तम्बादिभिः स्मर्यते "पुनराधान" इत्यत्र । यस्येन्द्रियचापल्यं नास्ति स वानप्रस्थः । इतरः पुनर्दारान्परिगृह्णीयादिति व्यवस्था ॥३॥

हिन्दी—ग्राम्य आहार (धान, यव आदि ग्राम सम्बन्धी भोजन) तथा परिच्छद (गौ, घोड़ा, हाथी, शय्या आदि गृह-सम्पत्ति) को छोड़कर वन में जाने की इच्छा नहीं करने वाली अपनी पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व (देख-रेख) में सौंपकर तथा वन में साथ जाने की इच्छा करने वाली अपनी पत्नी को साथ में लेकर वन को जावे ॥३॥

अग्निहोत्र के साथ वानप्रस्थाश्रम ग्रहण—

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निष्क्रम्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।।४।।

भाष्य—अग्नय एवाग्निहोत्रशब्देनोक्ताः । श्रौतानग्नीन्**समादाय** गृहीत्वा **गृह्यं च अग्निहोत्रपरिच्छदं** स्रुक्स्रुवादि ।

ग्राम्यस्य परिच्छदस्य त्यागविधानादग्निसंबद्धस्य प्रतिप्रसवोऽयम् ॥४॥

हिन्दी—श्रौत तथा आवसथ अग्नि और स्रुक्स्रुवा आदि तत्सम्बन्धी सामग्री लेकर ग्राम से बाहर वन में जाकर जितेन्द्रिय होकर रहे ॥४॥

वन्य-अन्य-फलादि से पञ्चमहायज्ञ करना—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ।।५।।

भाष्य—एतानेव ये गृहस्थस्य विहिताः । **निर्वपेद**नुतिष्ठेत् । **विधिपूर्वकमि**त्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥५॥

हिन्दी—पवित्र अनेकविध मुन्यन्न (नीवार आदि) अथवा शाक, मूल और फल आदि से पूर्वोक्त (३।७०) पञ्चमहायज्ञों को विधिपूर्वक करता रहे ॥५॥

मृगचर्म, चीर तथा जटादि का धारण—

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ।।६।।

भाष्य—चर्म गोमृगादीनाम् । **चीरं** वस्त्रखण्डम् । **सायं** दिवसावसानसमयः । **प्रगे** चाह्नः प्रथमोदये ।

एवं सायं स्नानविधानाद्रात्रौ भोजनमस्याहुः, भुक्ते स्नानप्रतिषेधात् ।

तदयुक्तमित्यन्ये । यतः स्नातकव्रत'मतः स्नानमाचरेत् भुक्त्वे'ति । महाभारते तु पुरुषमात्रधर्मतया स्मर्यते ।

त्रैकालिकमप्यस्य स्नानं भविष्यति वैकल्पिकम् ।

जटाश्मश्रुलोमनखानि न कर्तयेत् ॥६॥

हिन्दी—मृग आदि का चर्म या पेड़ों का वल्कल धारण करे, सायंकाल तथा प्रातःकाल स्नान करे और सर्वदा जटा, दाढ़ी, मूँछ एवं नख को धारण करे (क्षौर कर्म न करावे) ॥६॥

पञ्चमहायज्ञ तथा अतिथिसत्कार—

यद्भक्षः स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतम् ।।७।।

भाष्य—मुन्यन्नैरित्युक्तम् । तानि च नीवारादीनि वन्यानि धान्यानि तथा शाकादीनि वन्यान्येव । अन्नशब्दो बाहुल्येन धान्यविकारे भक्तसक्तुपिष्टादौ प्रयुज्यते । ततः शाकादीनां सत्यपि मुन्यन्नत्वे पृथगुपादानम् । मुनयस्तापसास्तेषामन्नानि मुन्यन्नानि ।

अग्नौ पाकधर्मान्महायज्ञान्निर्वपेत् ।

यदा कालपक्वफलाशी तदा न निर्वपेदित्याशङ्कायामाह । **यद्भक्षः स्यात्** । यदेव भक्षयेत्तदेव पिष्टादि यथासामर्थ्यं दद्यात् । **बलिं** अनग्निहोत्रं इन्द्रायेन्द्रपुरुषेत्यादि यद्विहितम् ।

अग्नौ त्वस्मिन्पक्षे होमो नास्ति ।

तदयुक्तम् । बलिशब्दस्य चेज्यामात्रवचनत्वादग्रावनग्नौ च तुल्यमेतत् । अथाप्ययं पक्षः स्याद्यदेव भक्षयेत्तदेव, अग्नावेव, पक्वेनाग्नौ होमः कर्तव्यस्तथापि तावन्मात्रप्रयोजनं शाकादि पक्ष्यति, स्वयं कालपक्वं भोक्ष्यते । सर्वथा कालपक्वाशिनोऽप्यस्ति वैश्वदेवोऽग्नावेव ।

अबादिभिर्द्वन्द्वोऽयम् । अद्भिर्मूलफलैः भिक्षया च नीवारादिनाऽ**चर्ययेदाश्रमागतं** पान्थम् ॥७॥

हिन्दी—जो भोज्य पदार्थ (६।५— मुन्यन्न तथा शाक-मूल-फलादि) हो, उसी से बलि (बलिवैश्वदेवादि पञ्चमहायज्ञ कर्म) करे, भिक्षा दे और जल, कन्द तथा फलों की भिक्षा देकर आये हुए अतिथियों का सत्कार करे ॥७॥

वानप्रस्थ के अन्य सामान्य नियम—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥८॥

भाष्य—आश्रमबुद्ध्या स्वाध्यायादीनां निवृत्तिमाशङ्कमान आश्रमान्तरत्वादस्यानिवृत्त्यर्थमाह । **नित्ययुक्तः** । न यथा गार्हस्थ्ये । तत्र हि गृहचेष्टार्था अपि व्यापाराः सन्ति, तेष्वनुष्ठीयमानेषु नास्ति स्वाध्यायः ।

दान्तो दमयुक्तः मदवर्जितः ।

मैत्रः मित्रकर्मप्रधानः प्रियहितभाषी ।

सन्निहितस्य चित्तानुकूलनपरः स **समाहितः** । नासम्बद्धं नाप्राकरणिकं बहु पराधीनोऽपि ब्रूयात् ।

दाता अपां मूलभिक्षाणां च ।

अनादाता पथ्यौषधाद्यर्थमाश्रमान्तरादागतं न याचेत ।

सर्वभूतानुकम्पकः । अनुकम्पा कारुण्यम् । सत्यपि कारुणिकत्वे न परार्थमन्यं याचेत ॥८॥

हिन्दी—सर्वदा वेदाभ्यास में लगा रहे; ठंडा-गर्म, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करे; सबसे मित्रभाव रखे, मन को वश में रखे, दानशील बने, दान न ले और सब जीवों पर दया करे ॥८॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥९॥

भाष्य— 'वितानो' विहारस्तत्र भवं **वैतानिकम्**। त्रेताग्निविषयं **कर्म** श्रौतम्। तज्**जुहुयात्**कुर्यात्।

'अग्निहोत्र'शब्दो यवाग्वादौ होमसाधने द्रव्ये वर्तते, न कर्मनामधेयम्। ततश्च तज्जुहुयादाहवनीयेऽग्निहोत्रादिभिर्जुहोतीत्यर्थ उपपन्नः प्रथमपक्षेऽग्निहोत्रशब्दो जुहोतिनाऽभिन्नार्थः।

"ननु च 'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्येति' पक्षान्तरमुक्तम्। तत्र कथं तया विना श्रौतेष्वधिकारः?" 'प्रोषितस्य यथेति चेत्। तथा प्रोषितो वा यजमानः संविधानाद्दूरस्थोऽप्यधिक्रियते संविधाने, एवं भवति कर्त्ता; तद्वत्पत्न्यपि वनं प्रतिष्ठमानमनुज्ञास्यति, न सहाधिकारो विरोत्स्यत' इति। तदपि वार्तम्। दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलात्कथञ्चित्प्रवासोपपत्तेः युक्तमीदृशमनुष्ठानं, न स्वेच्छया। सत्यां शक्तौ बहूनि चाङ्गानि परिलुप्येरन्। दर्शपौर्णमासयोः "वेदोऽसि वित्तिरसि" इत्यादि पत्नीं वाचयेदित्युक्तम्, तद्धीयेत। अथोच्येत— 'सहप्रस्थानपक्षे विधिरयं भविष्यतीति' एतदपि न। विशेषस्याश्रुतत्वात्। निक्षेपपक्षे चाग्नीनां प्रातिपत्त्यन्तरमनाम्नातम्। किञ्च सहत्वपक्षेऽपीदं विरुध्यते।

"वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक्॥" इति (श्लो० ११)।

आरण्यानि मुन्यन्नानि नीवारादीन्यभिप्रेतानि। ग्राम्यस्य परिच्छदस्य त्यागविधानात्। व्रीह्यादिभिश्च वेदे पुरोडाशा विहितास्ते च ग्राम्याः। न च स्मृतिश्रुतिषु उत्पन्नन्यायेन व्रीहिशास्त्रविधिन्यायेन वा केनचिन्मेध्येनारण्येनान्नेन प्रयोगः परिसमाप्येत निक्षेपे। ते च भार्यया दुरुपपादाः। कथं यावज्जीवश्रुतौ सत्यामग्नीनां त्यागो भार्यया वा। तस्मादाश्रमान्तरविधानं वैतानिकानां च कर्मणामनुष्ठानं च संवदेत्।

कर्तव्योऽत्र यत्नः।

केचिदाहुः। वैतानिकशब्दः स्मार्तेष्वेव कर्मसु स्तुत्या प्रयुक्तः। न च स्मार्तेषु व्रीह्यादि नियमशास्त्रमस्ति। तत्र ह्याम्नायते (रामायणे अयोध्याकाण्डे)— "यदन्नः पुरुषो राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः" इति। अतश्च मुन्यन्नैरनुष्ठानमविरुद्धं भवेत् व्रीह्यादिशास्त्रविरोधः परिहृतः स्यात्। "सहाधिकारस्तत्रापि विद्यते। तस्य कः परिहारः उभयोः स्मार्तत्वादस्यामवस्थायां बाधिष्यते। यत्तु श्रौतवचनं "पत्न्या सह यष्टव्यमिति" तच्छ्रौतेष्वेव।

अथवा नैवायं विधिर्गृहस्थाग्नेः किं तर्हि 'श्रावणिकेनाग्निमाधायेति' गौतमेन पठितम्, इहापि वक्ष्यति "वैखानसमते स्थित" इति (६।२१)। तस्माच्छास्त्रविहितानि कर्मान्तराण्येवैतानि। **दर्शपूर्णमासा**दयस्तु शब्दाः भक्त्या तत्र प्रयुक्ताः।

अतस्तत्र तदाधानमभार्यस्यैव।

गार्हस्थ्योपात्तानां प्रतिपत्तिरुक्ता "अग्नीनात्मनि वैतानानिति"(६ । २५)।

यत्तु यावज्जीवश्रुतौ सत्यां कथमग्नीनां त्याग इति— एतच्चातुराश्रम्यानुक्रमण-प्रकरणे निरूपयिष्यते।

अन्ये पुनराहुः । होमो ग्राम्यानामन्नानां प्रतिषिद्धः, न तु देवताद्यर्थ उपयोगः । ननु च "यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति" तत्रापि विद्यते भक्षः । सत्यम् । स तु शास्त्रीयो न लौकिकः । लौकिकस्य च प्रतिषेधः 'संत्यज्येति' । ग्रामप्रवेशश्च तस्य तदर्थो न विरुध्यते । तथा वक्ष्यति "ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादिति" (६ । २८)।

तदेतदसत् । 'मुन्यन्नैरिति' विधानात् ।

तदेवं श्रावणिकेनाग्निमाधायेत्यादि सर्वमुपपन्नम् ।

तथाहि "अग्निहोत्रं समादायेति" पठ्यते (६ । ४), न तु संत्यज्येति । समारोपणमपि मुमूर्षोस्तप्ततपसो वक्ष्यते प्रथमप्रवासे । न च तुरायणादिशब्दानां श्रावणिकाग्निविषयत्वे कथञ्चिदुपपत्तिः । मृतभार्यस्य तदाधानं वाचनिकं भविष्यति । यदा वा ब्रह्मचर्यादेव वन-वासमिच्छेत्तदा श्रावणिकाधानम् ।

तस्मादाहिताग्नेः सहाग्नि वनप्रस्थानं सभार्यस्य ।

तत्र च **यथाविधि** व्रीह्यादिना श्रौतकर्मानुष्ठानम् । व्रीह्यादीनामपि मुन्यन्नता कथञ्चिदुपपाद्या । व्रीहियवावपि पवित्रम् ।

भार्यानिक्षेपश्चानाहिताग्नेः कथंचित्स्मार्तेऽग्नौ गतिः । उभयोः स्मार्तत्वात् । यस्य च द्वे भार्ये जाते एकया चाग्नयो नीतास्तस्य द्वितीयां भार्यां निक्षिप्येति वचनम् ।

अस्कन्दयन् । स्कन्दनं विध्यतिक्रमः, यथाविहितमनुष्ठानस्यासंपादनम् । एतच्च पादपूरणम् । **योगत** इत्येतदपि । **योगत अस्कन्दयन्** युक्त्याऽविनाशयन् । युक्ति-र्विधिरेव ॥९॥

हिन्दी—दर्श (अमावस्या), पौर्णमास (पूर्णिमा-सम्बन्धी) पर्वों को यथा समय त्याग नहीं करता हुआ (वानप्रस्थाश्रमी) विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र करता रहे ॥९॥

विमर्श—गार्हपत्य कुण्डस्थ अग्नि का आहवनीय तथा दक्षिणाग्निकुण्डों में स्थापन न करना 'वितान' कहलाता है, उसमें किया गया हवन 'वैतानिक' है ।

दर्शेष्ट्याग्रयणं[१] चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ।।१०।।

---

१. पाठभेद— अर्शेष्ट्याग्रयणम् ।

भाष्य—दर्शेष्टिश्च आग्रयणं चेति समाहारद्वन्द्वः । चातुर्मास्यतुरायणदाक्षायणाः श्रौतकर्मविशेषवचनाः ।

नित्या एव तुरायणादयः केषांचित् ॥१०॥

हिन्दी—नक्षत्रयाग, आग्रहायण (नव-सस्य) याग, चातुर्मास्य याग, उत्तरायण याग और दक्षिणायन याग को श्रौतस्मार्त विधि से क्रमशः करे ॥१०॥

विमर्श— किसी-किसी व्याख्याकार का मत है कि— प्रकृत श्लोकोक्त दर्श-पौर्णमास्य आदि याग विधान वानप्रस्थ के लिए स्तुतिपरक हैं, अनुष्ठानपरक नहीं; क्योंकि ये (दर्श-पौर्णमासादि याग कर्म) ग्राम्य व्रीहि आदि से ही साध्य हैं; स्मृतिवचन श्रौताङ्ग का बाधक भी नहीं हो सकता; क्योंकि अग्रिम (६।११) वचन में मुन्यन्न नीवार आदि के वानप्रस्थविषयक होने से स्पष्टतया कही गयी चरुपुरोडाश आदि विधि का बाध करना अनुचित है । गोविन्दराज के मतानुसार वन्य व्रीहि आदि से ही किसी प्रकार इन यागों को करना चाहिये ।

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ।।११।।

भाष्य—यदा मुन्यन्नैरिति न पूर्वेण संबध्यते, तदा नास्ति चोद्यं "वैतानिकानि कथं व्रीह्यादिचोदितानि क्रियेरन्" । अत्र चरुपुरोडाशा वैखानसशास्त्रोक्ता एव वेदितव्याः ।

वसन्ते जायन्ते पच्यन्ते वा **वासन्तानि** । एवं शारदैर्मेध्यैरित्यनुवादः । **स्वयमाहृतैः** । प्रतिग्रहादीनि वृत्तिकर्माणि निषिध्यन्ते । स्मार्तानामुक्तानां कर्मणामनुष्ठानार्थं पुनर्हृत्यादिनापहरणम् । **विधिवत्पृथगि**तिपूरणे ॥११॥

हिन्दी—वसन्त तथा शरद् ऋतु में पैदा हुए एवं स्वयं लाये गये पवित्र मुन्यन्नों से पुरोडाश तथा चरु को शास्त्रानुसार (उक्त कार्य की सिद्धि के लिए) अलग-अलग तैयार करे ॥११॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ।।१२।।

भाष्य—पर्वसु यद्देवताभ्यो दत्तं तच्छिष्टमेव भक्षयेन्न शाकमूलफलादि । **शेषमात्मनि युञ्जीत** आत्मनिमित्तमुपयोजयेत्, आत्मार्थं शरीरस्थित्यर्थमित्यर्थः ।

स्वयं कृतं च लवणं न सैन्धवादि निषेवेत ॥१२॥

हिन्दी—वन में उत्पन्न अत्यन्त पवित्र उस हविष्यान्न से देवों के उद्देश्य से हवनकर बचे हुये अन्न को भोजन करे तथा स्वयं बनाये हुए लवण (क्षार मिट्टी से बनाये गये नमक) को काम में लावे ॥१२॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ।।१३।।

भाष्य—स्थलजानि उदकजानि अद्यात् । तथा पुष्पमूलफलानि च ॥१३॥

हिन्दी—भूमि तथा जल में उत्पन्न शाक को, वृक्षों के पवित्र पुष्प, मूल तथा फल को और फलों से बने स्नेह को भोजन करे ॥१३॥

मधु मांसादि का त्याग—

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ।।१४।।

भाष्य—भौमानि कवकानि । कवकशब्दः प्राग्व्याख्यातः छत्राकशब्दपर्यायः (५।१९) । तानि च कवकानि भूमौ जायन्ते वृक्षकोटरादावपि । अतो विशेषणार्थं भौमग्रहणम् । "समाचारविरोधो गृहस्थधर्मेषु चाविशेषेण कवकानां प्रतिषेधः । वानप्रस्थस्य च नियमातिशयो युक्तः" ।

तस्माद्भौमानीति स्वतंत्रपदम् । तत्र गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं बोद्धव्यम् । न तु यत्किंचिद्भुविजातमात्रस्य ।

कवकानां प्रतिषिद्धत्वात्पुनःप्रतिषेधो भूस्तृणादीनां तत्समप्रायश्चित्तार्थः । **भूस्तृण-शिग्रुक**शब्दौ शाकविशेषवचनौ वाहीकेषु प्रसिद्धौ ॥१४॥

हिन्दी—मधु (शहद), मांस, पृथ्वी में उत्पन्न छत्राक; भूस्तृण (मालव देश में प्रसिद्ध जल में उत्पन्न होने वाला शाक-विशेष), शिग्रुक (सहिजन) और लसोड़े का फल का त्याग करे (इन्हें नहीं खावे) ॥१४॥

विमर्श— छत्राक वर्षा ऋतु में भूमि या पेड़ों के खोखले स्थानों में उत्पन्न होता है, इसका आकार छाते के समान तथा रंग सफेद लिये कुछ धूम्रवर्ण होता है। गोविन्दराज का मत है कि पृथ्वी पर उत्पन्न छत्राक का त्याग करना चाहिये, पेड़ों के खोखले में उत्पन्न छत्राक का नहीं, किन्तु वह कथन— 'छत्राकं......' (५।१९) श्लोक द्वारा सामान्यतः (सर्वविध) छत्राक का निषेध गृहस्थाश्रमी के लिए किया है, तो वानप्रस्थ के लिए वार्क्ष (वृक्ष के खोखले में उत्पन्न) छत्राक को भक्ष्य मानना ठीक नहीं है तथा भूमि में या वृक्ष पर उत्पन्न छत्राक खाने वालों को ब्रह्मवादियों में निन्दित एवं ब्रह्मघातक समझना चाहिये' इस[१] यमवचन द्वारा द्विविध छत्राक का स्पष्ट रूप से निषेध करने से

---

१. यमस्तु—'भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्त ये ।
ब्रह्मघ्नांस्तान् विजानीयाद् ब्रह्मवादिषु गर्हितान् ॥ (म०मु०)

वानप्रस्थों के लिए भी छत्राक त्याज्य ही है। मेधातिथि का मत है कि— 'भौमानि' (भूमि में उत्पन्न) शब्द 'कविकानि' का विशेषण नहीं है, अपितु स्वतंत्र पद है और उसका अर्थ "वनचरों का भक्ष्य 'गोजिह्वा' नामक पदार्थ' है, वानप्रस्थों के लिये उसी का त्याग कहा गया है। किन्तु अनेक कोषों में 'भौम' शब्द का 'गोजिह्वा' अर्थ नहीं मिलने से उक्त मत भी अमान्य है। 'पञ्चम अध्याय में द्विजमात्र के लिए निषेध करने पर भी यहाँ पर समान प्रायश्चित्त बतलाने के लिए पुनः निषेध किया है' यह कुल्लूकभट्ट का मत है।

पूर्वसञ्चित अन्नादि का त्याग—

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ।।१५।।

भाष्य—'षण्मासनिचय'— 'समानिचय'पक्षयो**राश्वयुजे** त्यागः।

"ननु मुन्यन्नं तावदेव संचेयं यत्कर्मपर्याप्तम्। तत्र नैवाधिकमस्ति। कस्य त्यागः?"

उच्यते। न शक्या तुला ग्रहीतुमर्जनकाले। अतो यत्किंचिदवशिष्टमस्ति तस्याश्वयुजे त्यागः।

जीर्णानि चैव वासांसि। अजीर्णानां नास्ति त्यागः ॥१५॥

हिन्दी—पूर्वसञ्चित मुन्यन्न (नीवार आदि) पुराने वस्त्र (वल्कल, चीर आदि) और शाक, कन्द एवं फल का आश्विन मास में त्याग कर दे ॥१५॥

विमर्श— यह विधि वर्ष भरके लिए सञ्चय करने वाले (६।१८) वानप्रस्थ के लिये है।

हल जोतने से उत्पन्न अन्न तथा ग्राम्य मूल-फल का त्याग—

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि पुष्पाणि च फलानि च ।।१६।।

भाष्य—आरण्यस्यापि **फालकृष्टस्य** प्रतिषेधः। ग्रामजातान्यफालकृष्टान्यपि "संत्यज्य ग्राम्यमाहारम्" इत्यनेन प्रतिषेधः पुष्पफलानां क्रियते नोपयोगः। ग्राम्याणां देवताभ्यर्चनादौ पुष्पफलानां निषेधः।

आर्तोऽपि अन्यासंभवेऽप्यवश्यकर्तव्यत्वाद्देवताद्यर्चनस्य प्रतिनिधिपक्षेऽपि नोपादेयमित्यर्थः। अपिशब्दो भिन्नक्रमो द्रष्टव्यः— '**पुष्पाण्**यपि नोपादेयानि किं पुनर्धान्यानि' ॥१६॥

हिन्दी—वन में भी हल से जुती हुई भूमि में उत्पन्न (किसान आदि के द्वारा) छोड़े गये भी व्रीह्यादि अन्न को तथा ग्राम में (बिना हल से जुती हुई भूमि में भी) उत्पन्न मूल

(कन्द) और फल को (भूख से) पीड़ित होकर भी न खावे ॥१६॥

अग्निपक्व भोजी आदि का विधान—

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ।।१७।।

भाष्य—अग्निना पक्वं शाकौदनादि, तदशनं यस्य सोऽ**ग्निपक्वाशनः** ।

काले स्वयमेव यत्पक्वं तदेव भुञ्जीत वार्क्षं फलम् ।

अथवा धान्यानामेव नीवारादीनां निष्पिष्येदं भक्षणम् । अश्मभिः पाषाणैः कुट्टयित्वा पिष्टरूपं कृत्वा भुञ्जीत । यद्वा यदृतूपपन्नं वृन्तकादिभिर्बहिस्तुषकपाटकं तदश्मभिरपनीय कवाटमन्तःफलं भक्षयेत् ।

दन्ता उलूखलं अस्य **दन्तोलूखनिकः** । दन्तैस्तुषकवाटमपनीय भक्षयेत् । असत्यपि संस्कारे स न कर्तव्यः । यदि वा पूर्ववदशनविशेषोपलक्षणम्— 'तादृशमश्नीयाद्यदस्य दन्ता एव उलूखलकार्यमवघातं संपादयन्ति' ॥१७॥

हिन्दी—(वानप्रस्थी) अग्नि में पकाये हुए अन्नादि को खाने वाला बने, अथवा स्वनियत समय पर पकने वाले (फल आदि) पदार्थों को खाने वाला बने, अथवा अश्मकुट्ट (पत्थर से अन्नादि फोड़ या कूट-पीसकर खाने वाला) बने, अथवा दन्तोलूखलिक (सब भक्ष्य पदार्थों को दाँतों से ही चबाकर खाने वाला) बने ॥१७॥

अन्नादि के सञ्चय का प्रमाण—

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ।।१८।।

भाष्य—यत्पूर्वमशनमुक्तं तदैकाहिकभोजनपर्याप्तमेवार्जयेत् । मासोपयोगी वा सञ्चयो मासपर्याप्तः सञ्चयो 'माससञ्चयः' । सोऽस्यास्तीति ठन् कर्तव्यः । यदि वा माससञ्चयक इति बहुव्रीहिसमासोऽत्र कर्तव्यः, 'भासपर्याप्तः सञ्चयोऽस्येति' ।

एवमुत्तरयोरपि ॥१८॥

हिन्दी—(वानप्रस्थी) एक दिन, एक मास, छः मास या एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि मुन्यन्न का संग्रह करे ॥१८॥

भोजन का समय—

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाऽप्यष्टमकालिकः ।।१९।।

भाष्य—द्विर्भोजनस्य पुरुषार्थतया विहितत्वादन्यतरस्मिन्काले निवृत्तिर्विधीयते ।

यथा-यथा वयोऽतिक्रामति तथा-तथा भोजनकालं जह्यात् ।

चतुर्थमप्यष्टमावधिकतयाऽऽश्रयेत् । त्रीण्यहोरात्राण्यतीत्य चतुर्थेऽहनि सायं भुञ्जानो-ऽ**ष्टमकालिको** भवति । भोजनस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयश्चतुर्थकालसम्बन्धः प्रतीयते ॥१९॥

हिन्दी—(वानप्रस्थी) यथाशक्ति अन्न को लाकर सायंकाल (रात्रि में), या दिन में अथवा एक दिन पूरा उपवासकर दूसरे दिन सायंकाल, या तीन रात उपवासकर चौथे दिन सायंकाल भोजन करे ॥१९॥

विमर्श—इसमें से तृतीय और चतुर्थ पक्ष को क्रमशः 'चतुर्थकालिक और अष्टमकालिक' कहते हैं । किसी-किसी व्याख्याकार ने उक्त दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः दिन का चतुर्थ और अष्टम प्रहर किया है, किन्तु वह सर्वथा हेय है ।

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ।। २० ।।

भाष्य—पक्षान्तौ पूर्णमास्यमावास्ये । अत्र श्रितां **यवागूमश्नीयात्** । **सकृ**दिति सायं प्रातर्वा ॥२०॥

हिन्दी—अथवा शुक्ल तथा कृष्णपक्ष में चान्द्रायण के नियम (११।२१६) से भोजन करे, अथवा अमावस्या तथा पूर्णिमा को दिन या रात्रि में केवल एक बार पकाई हुई यवागू का भोजन करे ॥२०॥

[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ।। २ ।।]

[**हिन्दी**—जिस लता या वृक्ष आदि से पत्ता ले; उसी से फूल न ले, तथा जिससे फूल ले, उसी से फल नहीं ले, अर्थात् पत्ता, फूल और फल अलग-अलग वृक्ष या लता आदि से ग्रहण करे ॥२॥]

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ।। २१ ।।

भाष्य—**कालपक्वैः** । पनसादीनां अग्निनाऽपि पाक; क्रियते तन्निषेधार्थम् । तदग्नि-पक्वं गृहस्थस्यानिषिद्धम् ।

वैखानसं नाम शास्त्रम्, यत्र वानप्रस्थस्य धर्मा विहिताः तेषां मते स्थितः । अन्या-मपि तच्छास्त्रोक्तां चर्यां शिक्षेत ॥२१॥

हिन्दी—अथवा वैखानस (वानप्रस्थ) आश्रम में रहने वाला (वानप्रस्थी यती) सर्वदा केवल समय पर पके स्वयं गिरे हुए फूल तथा मूल और फलों से ही जीवन निर्वाह करे ॥२१॥

भूमि पर लेटना आदि—

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ।। २२।।

भाष्य—**विपरिवर्तनं** केवलायां भूमावेकेन पार्श्वेन निषद्य पुनः पार्श्वान्तरेणावस्थानम् । आहारविहारकालौ वर्जयित्वा एवं वर्तेत, नोपविशेन्न च क्रमेत् । न शय्यायां नासने न भित्तौ निषीदेदित्यर्थः ।

प्रपदैः पादाग्रैर्वा **तिष्ठेत्** ।

स्थानासनाभ्यां च दिने । रात्रौ तु केवलस्थण्डिलशायितां वक्ष्यति ।

सवनेषु प्रातर्मध्यन्दिनापराह्णेषु **उपयन्नप** इति च । असम्भवे नद्यादीनामुद्धृतोदकेनापि स्नानं दर्शयति (६ । २६) ॥२२॥

हिन्दी—भूमि पर लेटे तथा टहले या पैर के अगले भाग (चौत्र) पर दिन में कुछ समय तक खड़ा रहे या बैठा रहे (बीच-बीच में टहले नहीं अर्थात् घूमे-फिरे नहीं) और प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल में (तीन बार) स्नान करे ॥२२॥

विमर्श—भूमि पर लेटने आदि का विधान आवश्यक स्नान एवं भोजन के अतिरिक्त समय के लिये है । अथवा महर्षियाज्ञवल्क के[१] कथनानुसार रात में सोने तथा दिन में खड़ा रहने या टहलने का विधान है ।

ऋतु के अनुसार दिनचर्या—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ।। २३।।

भाष्य—पञ्चभिरात्मानं तापयेत् । चतसृषु दिक्षु अग्नीन्त्सन्निधाप्य मध्ये तिष्ठेदुपरिष्टादादित्यतापं सेवेत ।

प्रावृष्यभ्राण्येवावकाश आश्रयः, यस्मिन्देशे देवो वर्षति तं प्रदेशमाश्रयेद्वर्षनिवारणार्थं छत्रवस्त्रादि न गृह्णीयात् ।

हेमन्ते । शीतोपलक्षणार्थम् । एतेन शिशिरेऽप्येष एव विधिः आर्द्रवासस्त्वम् । **क्रमशः** क्रमेण ॥२३॥

हिन्दी—अपनी तपस्या को बढ़ाता हुआ (वानप्रस्थी यदि) ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि

---

१. तदुक्तम्— 'शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ दिवाा सम्प्रपदैर्नयेत् ।
स्नानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तदा ॥ इति । (या०स्मृ० ३।५१)

ले, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहे (छाये हुए मकान का आश्रय या छाया आदि को पानी बरसते रहने पर भी न ले) और शीत (हेमन्त) ऋतु में गीला कपड़ा धारण करे ॥२३॥

त्रिकाल-देवर्षि-पितृ-तर्पण तथा स्वदेह-शोषण—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ।।२४।।

भाष्य—उपस्पर्शनं स्नानम् ।

अन्यदपि ऊर्ध्वबाह्वादि मासोपवासद्वादशरात्रादि तपः । **उग्रतरं** प्रकृष्टतरं शरीर-पीडाजननं कुर्वन् **शोषयेच्छ**रीरम् ॥२४॥

हिन्दी—तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करता हुआ देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करे और कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीर को सुखा दे (क्षीण कर दे) ॥२४॥

विमर्श—[१]यमवचनानुसार पाक्षिक या मासिक उपवास रूप कठोर तपस्या करता हुआ वानप्रस्थी यति अपने शरीर को क्षीण कर दे ।

अग्निहोत्र की समाप्ति—

अग्नीनात्मनि वैतानांत्समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ।।२५।।

भाष्य—विताने भवा **वैतानाः** श्रौताः । तान्समारोपयेद्भस्मपानादिविधानेन । आत्मनि समारोपणविधिश्च श्रवणकादवगन्तव्यः ।

चिरकालं यदा तपश्चरितं भवति, सप्तत्यवस्थां वयः प्राप्तं, तदा वानप्रस्थ एव सन्'अनग्निरनिकेतः' पर्णकुटीं निवासार्थां जह्यात् । क्व तर्ह्यासीत । उपरिष्टाद्वक्ष्यति ''वृक्षमूलनिकेतन'' इति (६।२६) ।

'मुनिः' 'स्यादिति' संबध्यते । तेनायमर्थ उक्तो भवति— वाङ्नियमं कुर्यादिति । मौनव्रतधारी नियतवागुच्यते लोके ।

मूलफलाशनः । अन्यान्ननिवृत्त्यर्थमेतत् । नीवारादीन्यारण्यान्यपि नाश्नीयात् ॥२५॥

हिन्दी—वानप्रस्थाश्रम के नियमानुसार वैतानिक अग्नि को आत्मा में रखकर (उस अग्नि के भस्म आदि को पीकर) वन में भी अग्नि और गृह का त्यागकर केवल मूल (कन्द आदि) तथा फल को खावे (नीवार आदि पवित्र मुन्यन्न का भी त्याग कर दे)॥२५॥

---

१. ''यथोक्तं यमेन— 'पक्षोपवासिनः केचित्केचिन्मासोपवासिनः ।'' इति । (म०मु०)

विमर्श— यह अग्नि त्याग तथा गृहत्याग छः मास के बाद ही वानप्रस्थाश्रमी करे, ऐसा वसिष्ठ का मत है।

पेड़ के नीचे भूमि पर शयन—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ।।२६।।

भाष्य—सुखप्रयोजनेषु वस्तुषु प्रयत्नं न कुर्यात्। आतपपीडितः छायां नोपसर्पेत्। शीतार्दितो नाग्निं समिन्धीत। यदि तु दैवोपपादितादित्यतापादिना शीतादिदुःखनिवृत्तिर्भवतीत्यत्रैव दुःखापनोदः क्रियते, न निषिध्यते। वर्षादिकालादन्यत्रैतद्विधीयते। तत्र प्रतिपन्नस्य धर्मस्य विधानात्।

अथवा व्याधितस्तस्यौषधप्रयत्नो निवार्यते। व्याधिनिवृत्तिरपि 'सुखं' उच्यते। अतस्तन्निवृत्त्यर्थं यत्नं न कुर्यात्।

धराशयः केवलैस्तृणैराच्छादिते स्थण्डिले शयीत।

शरणेष्वाश्रयेषु गृहवृक्षमूलादिषु ममकारमात्मीयाभिनिवेशं न कुर्यात्।

वृक्षमूलानि निकेतनं गृहस्थानीयं कुर्यात्। तदसम्भवे शिलातलगुहादयोऽपि विहिताः ॥२६॥

हिन्दी—(वानप्रस्थाश्रमी) सुख-साधक-साधनों में उद्योग छोड़कर ब्रह्मचारी, भूमि पर सोने वाला, निवास स्थान में ममत्वरहित हो पेड़ों के मूल (पेड़ों के नीचे का स्थान) को घर समझकर निवास करे ॥२६॥

भिक्षाचरण—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ।।२७।।

भाष्य—पञ्चम्यर्थे सप्तमी। तापसेभ्यः फलमूलासम्भवे **भैक्षमाहरेत्**। गृहमेधिभ्यो गृहस्थेभ्यो वा वनवासिभ्यः।

यात्रिकं यावता सौहित्यं भवति ॥२७॥

असम्भवे तु

हिन्दी—(फल मूल के सर्वथा असम्भव हो जाने पर वानप्रस्थाश्रमी) जीवननिर्वाह के लिये केवल तपस्वी वानप्रस्थाश्रमियों के यहाँ भिक्षाग्रहण करे और उनका भी अभाव होने पर वन में निवास करने वाले अन्य गृहस्थ द्विजों से भिक्षा ग्रहण करे।

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ।।२८।।

भाष्य—ग्रासग्रहणान्न मूलफलभिक्षैव, ग्राम्यान्नाशनमन्यासम्भवेऽनेनानुज्ञातम् । गृहीत्वा **पुटेनैव** पाणिना भाजनरहितेन । **शकलेन** शरावाद्येकदेशखण्डेन ।।२८।।

हिन्दी—उन वनवासी गृहस्थी का भी अभाव होने पर वन में ही निवास करता हुआ (वानप्रस्थी तपस्वी) ग्राम से पत्रों में या सकोरों के खण्डों में अथवा हाथ में ही भिक्षा को लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करे ।।२८।।

वेद का स्वाध्याय—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।।२९।

भाष्य—एता **दीक्षा** नियमानन्यांश्चान्तर्जलस्थानचक्षुर्निमीलनादिकं **सेवेत** ।

श्रुतीरौपनिषदीः रहस्याधिकारपठितानि वेदवाक्यानि अधीयीत चिन्तयेद्भावयेच्च **'आत्मसंसिद्धये'** । ब्रह्मप्राप्त्यर्थं वा उपासना उक्ताः ।

विविधा इत्यनुवादः ।।२९।।

हिन्दी—वन में निवास करता हुआ (वानप्रस्थी) ब्राह्मण इन नियमों को तथा स्वशास्त्रोक्त नियमों को सेवन करे और आत्मसिद्धि (ब्रह्मप्राप्ति) के लिए उपनिषदों तथा वेदों में कथित विविध वचनों का अभ्यास करे ।।२९।।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविता ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ।।३०।।

भाष्य—अविशेषेणोक्ता अन्याश्च सेवेत । शाक्यपाशुपतादिदीक्षादिसेवनमपि प्राप्तं तन्निषेधति ।

ऋषिभिर्महाभारते संतप्यमानाद्यैः सेविता वर्ण्यन्ते । **ब्राह्मणैश्च** गृहस्थैर्याः **सेविताः** । तदुक्तम् "उत्तरेषां चैतदविरोधीति" (गौतमीये ३।९) ।

विद्या आत्मैकत्वविज्ञानम्, तच्छ्रुतिसेवनेन वृद्धिं नयेत् दृढीकुर्यात् ।

शरीरस्य च शुद्धये आहारनियमदीक्षाः सेवेत ।।३०।।

हिन्दी—क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों ने विद्या (ब्रह्म-विषयक अद्वैत ज्ञान) और तपस्या (धर्म) की वृद्धि के लिए ही इन (उपनिषदों और वेदों) का सेवन (अभ्यास) किया है ।।३०।।

महाप्रस्थान—

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ।।३१।।

भाष्य—प्राच्या उदीच्याश्च दिशोरन्तरालमपराजिता दिक् लोकेष्वैशानीत्युच्यते। **दिशमास्थाय**। चेतसि निधाय 'एषा मया गन्तव्येति' ततस्तामेव व्रजेत्।

अजिह्मगः अकुटिलगामी। श्वभ्रनदीस्रोतांसि न परिहरेत्।

आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः। प्राच्या उदीच्याश्च गमनविधिरयम्। यावन्न पतति तावद्वायुभक्षोऽम्बुभक्षश्च स्यात्। **युक्तः** योगशास्त्रैरात्मानं युक्त्वा।

तदेतन्महाप्रस्थानमुच्यते॥३१॥

हिन्दी—अचिकित्सित रोग आदि के उत्पन्न होने पर सरल बुद्धि वाला (वानप्रस्थयति) केवल जल और वायु के आहार पर रहता हुआ शरीर के पतन (मरण) होने तक दक्षिण दिशा की ओर चले॥३१॥

उक्त नियम पालन से ब्रह्म प्राप्ति—

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम् ।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ।।३२।।

भाष्य—पूर्वोक्तानि तपांसि महाप्रस्थानं चानन्तरोक्तं **महर्षिचर्या। आसामन्यतमया** नदीप्रवेशेन भृगुप्रपतनेनाग्निप्रवेशेनाहारनिवृत्त्या वा शरीरं त्यजेत्।

अस्य फलं **वीतशोकभयस्य** ब्रह्मलोकप्राप्तिः। नरकादिदुःखानुभवः 'शोकः'। 'भयं' नरकं गमिष्यामीति। तदस्य व्येति। अव्यवधानेनैव, नार्चिरादिक्रमेण, ब्रह्मलोकं प्राप्नोति।

इह स्थानविशेषो 'ब्रह्मलोकः', स्वर्गादपि निरतिशयस्तत्र **महीयते** पूज्यमान आस्ते। न तु ब्रह्मणः स्वाराज्यं प्राप्नोति, लोकग्रहणात्। चतुर्थे ह्याश्रमे मोक्षं वक्ष्यति। न केवलकर्मकृतो मोक्ष इत्याहुः।

ननु चास्याप्युक्तं "विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीरिति"। आत्मसंसिद्धिश्च आत्मोपासनतया तद्भावापत्तिः। न ह्यन्यः संसिद्धिशब्दस्यार्थ उपपद्यते। औपनिषदीषु श्रुतिषु तद्भाव्यं योगिनामात्मानं "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति" च। 'अथ सायुज्यं गच्छतीत्यादि'।

अथोच्यते— "अन्या अपि तपःसिद्धयः श्रूयन्ते। 'स यदि पितृलोककामो भवति' इत्यादि संकल्पितार्थोपपादिता सार्ष्टिता सालोक्यं च पुरुषस्य भविष्यति। न

पुनर्मोक्ष इति'' । तदयुक्तं विशेषाभावात् । यथैव परिमितफलासूपासनास्वधिक्रियते एवम-मृतत्वप्राप्तावपि । न क्वचिच्छ्रूयते परिव्राजकेनैवोपासनान्यद्वैतविषयाणि कर्तव्यानि ।

'ननु च ''त्रयो धर्मस्कन्धाः'' इत्युपक्रम्य ''यज्ञोऽध्ययनं दानम्'' इत्यनेन गृहस्थ-धर्मा उक्ताः । तप एवेत्यनेन वानप्रस्थः । ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीत्यनेन नैष्ठिकः । ब्रह्मसंस्थ इत्यनेन परिव्राजकः । एतेषां त्रयाणां पुण्यलोका उक्ताः । पारिशेष्यादेत-द्व्यतिरिक्तस्यामृतत्वम्' ।

नैवम् । ब्रह्मणि संतिष्ठते प्रयतते तत्परस्य ब्रह्मसंस्थस्य यौगिकत्वादस्य शब्दस्य ।

'ननु च यदि सर्वेषामधिकारस्तदैतावदेव वक्तव्यं ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति' ।

नैवम् । आश्रमाणां स्वविधिवाक्यावगतं फलं संपत्क्षयिणः पुण्यलोका भवन्तीति ब्रह्मसंस्थस्य तदाश्रमावस्थितस्यैवामृतत्वमपुनरावृत्तिलक्षणं विधीयते ।

''ननु चाद्वैतरूपं ब्रह्मेत्यात्मविदः । स च निवृत्तकर्माख्यः । आश्रमाश्च प्रवृत्तमार्गाख्याः क्रियाकारकफलभेदानुष्ठानात्मकाः । तत्राद्वैतात्मविज्ञाने समानभेदाश्रयाणि च गृहस्थाद्य-ग्निहोत्रकर्मादीनीति परस्परविरोधः ।''

अत्रोच्यते । समानमेतत् पारिव्राज्येऽपि यमनियमानामिष्टत्वात्ते च भेदाश्रयाः । अथाप्युच्यते 'कर्मसंन्यासिनो निवृत्तिमार्गावस्थायिनो नैव केचिच्छास्त्रार्थविधयः सन्ति' ।

नायं शास्त्रार्थः । अहंकारममकारत्याग एव संन्यासो वक्ष्यते, नाशेषशास्त्रार्थत्यागः । तस्यापि क्षुधाद्युपहतस्य भिक्षादौ प्रवर्तमानस्यास्त्येव क्रियाकारकसम्बन्धः । तत्र लौकिके दृष्टार्थभेदे प्रवर्तमानस्य अ़द्वैतात्मविज्ञानभावनमविरुद्धम् । शास्त्रीये त्वग्निहोत्रादौ विरोधादिति को युक्तकार्येवं वदेत् ।

अथोच्यते— ''क्षुधाद्युपहतस्याप्यद्वैतत्यागो विरोधिना भोजनेन तावत्काल एव । यथाऽन्धतमसि चलितस्य गच्छतः कण्टकप्रदेशे पादन्यासः सवितरि पुनरुदिते लब्धप्रकाशस्य पुनर्न्याय्यमेवाध्वन्यस्याकण्टकेऽवस्थानम् । तथा क्षुधाद्युपघाते विच्छिन्नात्मविज्ञानस्य क्षण-मालोकस्थानीयायां क्षुन्निवृत्तौ पुनर्दृढसंस्कारवशादद्वैत एवावस्थानमिति ।''

तत्तापसेऽप्यविरुद्धम् । गृहस्थस्यापि पुत्रदारादितदुपासनमविरुद्धम् ।

''बहुव्यापारतस्तु भेदसात्म्यतां गतस्य कुतोऽद्वैतसंस्कारोत्पत्तिः'' ।

उक्तं च गृहस्थधर्मेषु ''एकाकी चिन्तयेदिति'' (अ० ४ श्लो० २५८) । तथा ''पुत्रे सर्वं समासज्येति'' (अ० ४ श्लो० २५७) ।

''ननु च 'तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्' इति श्रुतिः । तत्र कुतो वान-प्रस्थस्य शरीरत्यागः । न हि सा श्रुतिर्वानप्रस्थादन्यत्रानया स्मृत्या विषय उपस्थापयितुं

शक्यते। बलीयसी हि श्रुतिः। सा च स्मृत्यनुरोधेन न संकोचमर्हति''।

उच्यते— जरसा विशीर्णस्यानिष्टसंदर्शनादिना वा विदिते प्रत्यासन्ने मृत्यौ मुमूर्षतो न श्रुतिविरोधः। एवं हि तत्र श्रूयते। ''न पुरायुष'' इति। अवस्थाविशेषे ह्यनभिप्रेते मरणे एतावदेवावक्ष्यत् ''न स्वःकामी प्रेयादिति''। अरिष्टोपदेशश्चोपनिषत्स्वेवमर्थ-वान्भवति। यस्य त्वेतन्निमित्तं मरणं नास्ति ॥३२॥

हिन्दी—पूर्वोक्त महर्षि-पालित नियमों में से किसी एक का पालन करता हुआ शोक तथा भय से रहित ब्राह्मण शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक में पूजित होता (मोक्ष को प्राप्त करता) है ॥३२॥

परिव्राजक (संन्यास) काल—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥३३॥

भाष्य—इतःप्रभृति चतुर्थाश्रममतिः।

तृतीयं भागमिति। कञ्चित्कालं स्थित्वेत्यर्थः। यावता कालेन तपः सुतप्तं भवति विषयाभिलाषश्च सर्वो निवृत्तः। न हि मुख्यतृतीय आयुषो भाग एवानेन शक्यो ज्ञातुम्। न हि वर्षशतापेक्षाऽऽश्रमाणां, यत्तो वलीपलितापत्योत्पत्ती तृतीयाश्रमप्रतिपत्तौ काल उक्तः। न च सर्वस्य पञ्चाशद्वर्षदेशीयस्य तदुत्पद्यते। उक्तं चान्यत्र ''तपसि ऋद्धे परिव्रजेदिति''।

''ननु च यथाऽन्येषामाश्रमाणां कालो विवृतो ग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यं, वलीपलिताद्यवधि गार्हस्थ्यम्, नैवमिह कश्चित्परिच्छेदहेतुरस्ति। यदि यथाश्रुतं 'तृतीयो भागः' समाश्रियेत, यच्च 'तपसि ऋद्ध' इति, तत्रापि कालापेक्षा युक्तैव। न ज्ञायते कियता तपसा ऋद्धिर्भवति। अतः कालपरिच्छेदो वचनार्हः''।

उक्तमत्र न शतवर्षापेक्षया तृतीयायुर्भागनिश्चयः संभवति। उक्तश्च कालः— 'कायपाके प्रव्रज्या प्रतिपत्तव्या'। यावता तपसा यावति च वयसि पुनर्मदवृद्धिर्नाशंक्यते तदा परिव्रजेत्।

विहृत्यासित्वा यथोक्तं विधिमनुष्ठायेति यावत्। संगत्यागश्च ममताऽपरिग्रहः एकारामता ॥३३॥

हिन्दी—अपनी वय के तीसरे भाग को इस प्रकार (तपश्चर्यादि के द्वारा) वन में बिताकर वय के चौथे भाग में सब विषय— सङ्गों का त्यागकर संन्यासाश्रम का पालन करना चाहिए ॥३३॥

विमर्श—यह पक्ष जिसका वानप्रस्थाश्रम में मरण नहीं हो उसके लिए है। किसी भी प्राणी के वय का निश्चित काल किसी को ज्ञात नहीं रहता। अतः यहाँ पर वय का तीसरा भाग 'तृतीयं भागमायुषः' से 'वानप्रस्थाश्रम में तप आदि के द्वारा राग-द्वेष आदि के क्षय होने का समय-विशेष समझना चाहिये, इसी वास्ते 'शङ्ख' तथा 'लिखित'[१] ने वनवास के बाद शान्त एवं क्षीण अवस्था वाले को संन्यास लेने को कहा है।

ब्रह्मचर्यादि के क्रम से ही संन्यास ग्रहण—

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ।।३४।।

भाष्य—समुच्चयपक्षमुपोद्बलयति **आश्रमादाश्रममिति**। गृहस्थाश्रमाद्वानप्रस्थाश्रमं गत्वा **हुतहोम** उभयोरप्याश्रमयोर्यदा **जितेन्द्रियस्**तदा परिव्रजेत्। **प्रेत्य वर्धते** मृत्वा विभूत्यतिशयं प्राप्नोति।

भिक्षाबलिदानेन **परिश्रान्तः** चिरम्। आश्रमंधर्मानुवादोऽयम् ॥३४॥

हिन्दी—एक आश्रम से दूसरे आश्रम में (ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में) आकर यथाशक्ति हवनकर जितेन्द्रीय रहता हुआ, भिक्षाचरण एवं बलिकर्म से श्रान्त (थका) हुआ द्विज विषयाशक्ति का त्याग करता (संन्यास लेता) हुआ मरकर ब्रह्मभूत हो अतिसिद्धि (मुक्तिरूप अतिशयित सिद्धि) को प्राप्त करता है ॥३४॥

देवर्षि-पितृ ऋण से मुक्त होने पर ही संन्यास ग्रहण—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।।३५।।

भाष्य—अपाकरणं ऋणसंशुद्धिः।

मनो मोक्षे निवेशयेत्। मोक्षशब्देन प्रव्रज्याश्रमो लक्ष्यते। तत्र प्राधान्येन मोक्षैकफलतोच्यते। न तथाऽन्येष्वाश्रमेषु। अतो 'मोक्षः' परिव्रज्या ॥३५॥

कानि पुनस्तानि त्रीणि ऋणान्यत आह—

हिन्दी—तीन ऋणों (देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण) को पूरा करके ही मन को मोक्ष में लगाये (संन्यास ग्रहण करे), उन तीन ऋणों को पूरा किये बिना (उनसे बिना छुटकारा पाये) मोक्ष का सेवन (संन्यास का ग्रहण) करने वाला नरक को जाता है ॥३५॥

---

१. अत एव शङ्खलिखितौ 'वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः परिव्राज्यम्।' इत्याचख्यतुः इति। (म०मु०)

विमर्श—'यदि त्वात्यन्तिकं वासं— (२।२४३-२४४) श्लोकोक्त पक्ष को न मानकर प्रत्येक आश्रम को सेवन करने वालों के लिए प्रकृतवचन द्वारा देव, ऋषि और पितरों के ऋण से क्रमशः यज्ञ, वेदस्वाध्याय और पुत्रोत्पादन द्वारा मुक्त होकर ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। 'उत्पन्न होते ही ब्राह्मण (द्विजमात्र) तीन ऋणों से युक्त हो जाता है, ऐसा सुना जाता है[१]।

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।३६।।

भाष्य—"त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्याये-नर्षिभ्यः" इति श्रुत्यनुवादिनी स्मृतिरियम्।

"ननु च 'गृही भूत्वा प्रव्रजेदथवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति जाबालश्रुतिः"।

उच्यते। उत्पत्तिमात्रमाश्रित्योक्तमुदाहरति। तत्रेदं विरुध्यते "अनुत्पाद्य तथा प्रजामिति"।

"यद्येषा श्रुतिरस्ति किंतर्हि"।

इदमुच्यते। प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति। प्रव्रजेदिति— तेन तु प्रव्रजितेनेमानि कर्माणि कर्तव्यान्यनया वेतिकर्तव्यतयेत्येतन्नास्ति। गृहस्थस्य त्वग्निहोत्रादीनि साङ्ग-कलापान्याम्नातानीत्येतदभिप्रायमेतत्। ये त्वेतां श्रुतिमदृष्ट्वा स्मार्ता एव नैष्ठिकादयस्ते च गृहस्थाश्रमेण प्रत्यक्षश्रुतिविधानेन बाध्यन्ते।

ये च क्लीबाद्यनधिकृतविषयतया स्मृतिवाक्यानामर्थवत्तां वर्णयन्ति तेषामभिप्रायं न विद्मः। यदि तावत्— "आज्यावेक्षणविष्णुक्रमाद्यङ्गाशक्तौ श्रौतेषु नाधिक्रियते, यतस्तथाविधाङ्गयुक्तं कर्म यः संपादयितुं समर्थस्तं प्रत्यधिकारश्रुतीनामर्थवत्त्वे जाते न तदसमर्थमपि कुर्वीत"— इति। यद्येवं स्मार्तेष्वपि नैष्ठिकस्य गुर्वर्थमुदकुम्भाद्याहरणं भैक्षपरिचरणम्,— पारिव्राज्येऽपि 'न द्वितीयामपि रात्रिं ग्रामे वसेदिति'— कुतः पंगवन्धयोः स्मार्तकर्मक्रमाधिकारः। उपनयनं चैषामस्ति लिङ्गम्। तत् एषां विवाहार्थनं "यद्यर्थिता तु दारैरिति" (९।२०३)। यद्यप्युपनयनमादित्यदर्शनमग्निप्रदक्षिणं परीत्येति च विहितम्, यतो नानुपनीतस्य विवाहसम्भवो व्रात्यत्वात्, अतो यावच्छक्यं गुरुशुश्रूषणं विगुणमपि ब्रह्मचर्यमेवमस्ति। क्लीबस्य तु प्रकृतेरनुपनेयतैव। स च पतितश्च न क्वचिदधिकृतः। तस्मादनधिकृतविषयं पारिव्राज्यं नैष्ठिकता चेति न मनः परितोषमादधाति।

सत्यं उदितहोमनिन्दावद्भविष्यति। समुच्चयपक्षमाश्रित्य 'अनपाकृत्येति' निन्दा-

---

१. "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः इति श्रूयते। इति (म०मु०)।

वचनम्, न पुनः प्रतिषेध एव। अथवा यदाऽकृतदारपरिग्रहस्य प्रव्रज्यायामधिकार इत्येवमेतन्नेयम् ॥३६॥

हिन्दी—विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्नकर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठानकर (द्विज) मोक्ष (मोक्षसाधकसंन्यासाश्रम के पालन) में मन को लगावे ॥३६॥

अन्यथा आचरण से दोष—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥

भाष्य—यज्ञैराहिताग्निर्नित्यैः पशुसोमैः ॥३७॥

हिन्दी—द्विज बिना वेद का अध्ययन किये, तथा पुत्रों को बिना उत्पन्न किये और (अग्निष्टोम आदि) यज्ञों का बिना अनुष्ठान किये मोक्ष को (संन्यासाश्रम के ग्रहण द्वारा) चाहता हुआ भी नरक को जाता है ॥३७॥

प्राजापत्य यज्ञानुष्ठान के बाद संन्यासग्रहण—

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्त्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

भाष्य—प्राजापत्याऽध्वर्युवेदे विहिता। तस्यां च सर्वस्वदानं विहितम्। तां कृत्वाऽऽत्मन्यग्नयः समारोप्यन्ते। समारोपणेऽपि विधिस्तत एवावगन्तव्यः।

सार्ववेदसं दक्षिणाऽस्यास्तीत्यन्यपदार्थः। 'वेदो' धनम्, तत्सर्वं देयम्। इदमर्थे विहितः स्वार्थिको वा प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात्।

अन्ये तु पुरुषमेधं प्राजापत्यामिष्टिमाहुः। तत्र "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभत" इति प्रथमः पशुः, ब्रह्मा च प्रजापतिः, मुख्येन व्यपदेशप्रवृत्तेः 'प्राजापत्यः' पुरुषमेधः। सर्वस्वदानमग्निसमारोपणं प्रव्रज्या च तत्रैव विहिता। एवं हि तत्र श्रुतिः "अथात्मन्यग्नीन्त्समारोप्य तत्रारोपणेनादित्योपस्थानादपेक्षमाणैररण्यमभिप्रेयात्तदैव देवमनुष्येभ्यः स्थिरो भवतीति।"

यत्तु— "आत्मन्यग्नीन्त्समारोप्य प्रव्रज्यया व्यपदिष्टा, अथाह एत एव आत्मनो यज्ञा, इत्यतस्तन्मरणात्तस्यै दत्ता 'आत्मन्येव समारोपिता' भवन्ति। अतो भार्यामरणपक्षे प्रव्रज्या, नावश्यं पुनर्दारक्रियेति"— तन्न। किंतु तस्याः पूर्वमरणे भार्यायै दत्वाऽग्नीन्त्यकर्मणीति पठितमिति वक्तव्यमिति। पौरुषेयो ह्ययं ग्रन्थो न वेदो, येनोक्तमुपालभेमहीति परिहारः स्यात् ॥३८॥

हिन्दी—जिसमें समस्त सम्पत्ति को दक्षिणा रूप में दे देते हैं ऐसे प्राजापत्य (प्रजापति जिसके देव हैं ऐसा) यज्ञ को अनुष्ठान कर और उसमें कथित विधि से अपने में अग्नि का आरोप कर ब्राह्मण घर से (निकलकर) संन्यास आश्रम को ग्रहण करे ॥

विमर्श— 'यजुर्वेदीयोपाख्यान' नामक ग्रन्थ में इस सर्वस्वदक्षिणाक प्राजापत्य यज्ञ का विधान कहा गया है।

अभयदानफलम्—

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९॥

भाष्य—गार्हस्थ्यनिन्दया चतुर्थाश्रमप्रशंसा। यज्ञे हि पशवो हन्यन्ते। "प्ररोहधर्म-काश्चेतना" इति दर्शने तृणौषधीनां छेद इत्येतद्भूतभयम्। तद्गृहात्प्रव्रजितस्य समारोपिताग्नेर्नास्तीत्युक्तम्। **अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वेति**। अनेनाशुष्काणां तृणपलाशाना-मनुपादानमाह।

तेजोमया नित्यप्रकाशाः। उदयास्तमयौ यत्रादित्यस्य न विभाव्येते। यथोक्तं "अत ऊर्ध्वमादित्यो नैवोदेति न वाऽस्तमेति" इत्युपनिषत्स्वित्येवमाहुर्वचांसि ॥३९॥

हिन्दी—जो सब (स्थावर तथा जङ्गम) प्राणियों के लिये अभय देकर गृह से संन्यास ले लेता है, उस ब्रह्मज्ञानी के तेजोमय लोक (ब्रह्मलोक आदि) होते हैं अर्थात् वह उन लोकों को प्राप्त करता है ॥३९॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥४०॥

भाष्य—एष एवार्थः पुनरुक्तः।

देहाद्विमुक्तस्य वार्तमानिकं शरीरं यस्य पततीत्यर्थः ॥४०॥

हिन्दी—जिस द्विज से अन्य जीवों को लेशमात्र भी भय उत्पन्न नहीं होता, शरीर से विमुक्त (मरे) हुए उस द्विज को कहीं से भी भय नहीं होता (वह सर्वदा के लिए निर्भय हो जाता है) ॥४०॥

निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण—

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥४१॥

भाष्य—**पवित्रै**र्मन्त्रजपैर्दर्भकमण्डलुकृष्णाजिनै**रुपचितो** युक्तः। अथवा पावनैः कृच्छ्रैः। **मुनि**रकिंचिद्वादी।

समुपोढेषु उपहृतेषु केनचित्**कामेषु** स्पृहणीयेषु मृष्टभोजनादिषु यदृच्छातो गीतादि-शब्देषु सन्निहितेषु पुत्रादिषु वा समुपस्थितेषु **निरपेक्षो** भवेत् । नैतांश्चिरं स्निग्धेन चक्षुषा पश्येन्नाकर्णयेन्न तैः सहासीत ॥४१॥

यत आह—

हिन्दी—पवित्र कमण्डलु, दण्ड आदि से युक्त मौन धारण किया हुआ घर से निकला हुआ और उपस्थित (किसी के द्वारा लाये गये) इच्छा-प्रवर्तक वस्तु (स्वादिष्ट, भोज्य एवं मृदु वस्त्रादि) में निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण करे ॥४१॥

एकाकी रहना—

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ।।४२।।

भाष्य—एकारामताऽनेन विधीयते ।

एक एवेत्यनेन पूर्वसंस्तुतपरित्याग उच्यते ।

असहायवानिति भृत्यादेः पूर्वस्यापि परिग्रहो न कर्तव्यः । संविद्रागद्वेषविनिर्मुक्तस्य सर्वसमता एवं भवति । अन्यथा एष एव भृत्यादिरन्तिकस्थः, तत्रैवं बुद्धिः स्यात् 'अयं मदीयो नायमिति' । एष एव संगोऽवधिहेतुर्यथा त्वेष संपत्स्यते यदा **न जहाति, न** क्वचित्पुत्रादिस्तेन त्यक्तो भवति । अतो **न हीयते** न वियुज्यते पुत्रादिभिस्तद्वियोगदुःखं नासादयति । इतरथा संगात्पुनस्त्यागे महद्दुःखम् । न तस्य कश्चिन्म्रियते, स न कस्य-चिदिति ॥४२॥

हिन्दी—अकेले (दूसरे के संगरहित संन्यासी) की सिद्धि को देखता हुआ द्विज दूसरे किसी का साथ न करके अकेला ही मोक्ष के लिए चले (घर से निकले) इस प्रकार वह किसी को नहीं छोड़ता है और न उसे कोई छोड़ता है ॥४२॥

विमर्श—यहाँ एकाकी (अकेला) से पूर्वपरिचित पुत्रादि तथा आगे मिलने वालों का ग्रहण करना चाहिये । जब वह संन्यासाश्रम में प्रवेश करते हुए तथा बाद में अकेला ही रहेगा तब उसको किसी में ममता नहीं रहेगी और ममत्व से हीन संन्यासी परमात्मा में चित्त लगाकर शीघ्र मुक्त हो जायेगा ।

संन्यासी के नियम—

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसांचयिको मुनिर्भावसमाहितः ।।४३।।

भाष्य—श्रौतानामग्नीनां पूर्वमभाव उक्तोऽनेन गार्हस्थ्यस्योच्यते । अथवा पाक-प्रतिषेधोऽयमग्न्यर्थस्य चेन्धनस्य शीतादिनिवृत्तिप्रयोजनस्य ।

निकेतो गृहम् ।

ग्राममेकां रात्रि**मन्नार्थमाश्रयेत्** । कृतप्रयोजनोऽरण्ये शेषं कालम् । एषा चैकरात्रिर्ग्रामे गौतमेनोक्ता । तत्र यदि समया ग्रामं तदाऽन्नार्थ एव प्रवेशः । अथ दूरतस्तदैकां रात्रि वसेत् । द्वितीयामरण्ये संभावयेत् ।

उपेक्षकः अचेतनेष्वपि भावेषु कमण्डल्वादिषु, न तन्निजायत्तं कुर्यात् । अथवा शरीरस्य व्याधिप्रतीकारं न कुर्यात् ।

अन्ये त्वसङ्कुसुक इति पठन्ति । अस्थिरः 'सङ्कुसुकः', तन्निषेधेन चित्तवृत्तिधैर्यमुपदिशति । **मुनिः** संयतवागिन्द्रियः ।

भावेन चित्तेन **समाहितः** मनसा विकल्पान्वर्जयेत् । भावेनैव समाहितो न वाङ्मात्रेण ॥४३॥

हिन्दी—लौकिक अग्नि से रहित, गृह से रहित शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा आदि का प्रबन्ध न करने वाला, स्थिर बुद्धि वाला, ब्रह्म का मनन करने वाला और ब्रह्म में ही भाव रखने वाला संन्यासी भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे ॥४३॥

मुक्त के लक्षण—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४४॥

भाष्य—भिक्षाभोजनमात्रं **कपालं** कर्परम् । निकेतो **वृक्षमूलानि । कुचैलं** स्थूलजीर्णवस्त्रखण्डम् । **समता** शत्रौ मित्रे उभयरूपरहिते स्वात्मनि च । **मुक्तस्य लक्षणम्** । अचिरप्राप्यता मोक्षस्योच्यते, न पुनरियतैव मुक्तो भवति ॥४४॥

हिन्दी—(भिक्षा के लिये) कपाल (मिट्टी का फूटा-बर्तन), (रहने के लिये) पेड़ों की जड़ (वृक्ष के नीचे का भूभाग) पुराना व मोटा या वृक्ष का वल्कल कपड़ा (लंगोटी आदि), अकेलापन, ममता और सबसे (ब्रह्मबुद्धि रखते हुए) समान भाव; ये मुक्त के लक्षण माने गये हैं ॥४४॥

जीवन-मरण की इच्छा का त्याग—

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा ॥४५॥

भाष्य—अनेनाक्लेशिताऽभिहिता ।

न मरणं कामयेत । नापि ज्ञानातिशयलाभार्थी **जीवितम्** ।

कालमेव प्रतीक्षेत । यद्यदा भविष्यति तत्तदैवास्त्विति चिन्तयेत् ।

यथा भृतको निर्वेशम्। भृतिं गृहीत्वा कालं परिपालयति, अहरेतस्य मया कर्त्तव्यमिति, नान्तरा विच्छेदे मूल्यलाभः, एवं संसारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षो भवत्येतेन विधिना, न स्वेच्छावृत्तेन ॥४५॥

हिन्दी—मरने या जीने इन दोनों में से किसी का चाहना न करे किन्तु नौकर जिस प्रकार वेतन की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार काल (स्वकर्माधीन मृत्यु समय) की प्रतीक्षा करता रहे ॥४५॥

[ग्रैष्म्याद्धैमन्तिजान्मासानष्टौ भिक्षुविचक्रमेत् ।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ।।३।।]

[**हिन्दी**—गर्मी तथा जाड़े के आठ महिनों में भिक्षा के लिए (ग्रामों में) भ्रमण करे और बरसात में सब प्राणियों पर दया करने के लिए एक जगह निवास (चातुर्मास) करे ॥३॥]

[नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत् ।
परिपूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ।।४।।]

[**हिन्दी**—सूर्य के अभाव में (रात में) रास्ते में न चले और बिना देखे भूमि पर न चले तथा पवित्र (छाने हुए) पानी से सब क्रिया करे ॥४॥]

[सत्यां वाचमहिंसां च वदेदनपकारिणीम् ।
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ।।५।।]

[**हिन्दी**—सच्ची, किसी की हिंसा न करने वाली, बुराई न करने वाली, दोषरहित कठोरता-रहित (मधुर), क्रूरता-रहित और किसी की सच्ची या झूठी निन्दा रहित वाणी बोले ॥५॥]

संन्यासी का आचरण—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।।४६।।

भाष्य—चक्षुषा मार्गं निरूप्य यस्मिन्प्रदेशे प्राणिनः पीडां न गच्छन्ति तत्र पादं निदध्यात् । **सत्यां वाचं** वदेदिति सिद्धे पूतग्रहणं सत्यशब्दस्योपलक्षणतां दर्शयति । तेनापविद्धं भवति ।

मनसा पूतो **मनःपूतः** सदा स्यात् । परद्रव्याभिध्यानादि न कुर्यात् ॥४६॥

हिन्दी—देखने से पवित्र (बालू, कूड़ा, थूक-खकार आदि से रहित) भूमि पर पैर रखे (चले या ठहरे), कपड़े से (छानने से) पवित्र जल पीवे, सत्य से पवित्र बात कहे और मन से पवित्र (कार्य का) आचरण करे ॥४६॥

सब से बैरभाव का त्याग—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।४७।।

भाष्य—शास्त्रमतिक्रम्य यः कश्चिद्वदति सोऽ**तिवादः** अप्रियाक्रोशः ।

तितिक्षेत क्षमेत, न प्रत्याक्रोशेत् । न च मनसा क्रुध्येतेत्यतो वक्ष्यति "आक्रुष्टः कुशलं वदेत्" इति । अनेन मनसः क्षोभो विनिवार्यते, न कुशलशब्दाभिधानं विधीयते । तदा हि मिथ्यावादी स्यादन्यद्धृदयेऽन्यत्तु वाचा वदन् ।

नावमन्येतेति । अवज्ञानं न कस्यचित्कुर्यात् । गुर्वादिपूजनं नातिक्रामेत् ।

न चेमं देहम्, यदि कश्चित्प्रहरेच्छरीरे, तेन सह वैरं कुर्यात् । 'किमनेन मे शरीरेण नष्टेनानष्टेन वा, तेजोमयं मे शरीरं भवत्विति' ध्यायेत् ।।४७।।

हिन्दी—मर्यादा से बाहर (भी) किसी के कही हुई बात को सहन करे, किसी का अपमान न करे और इस (नश्वर) शरीर को धारण कर किसी के साथ बैर न करे ।।४७।।

क्रोध तथा व्यर्थ वचन का त्याग—

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ।।४८।।

भाष्य—**सप्तद्वाराणि** च धर्मार्थौ धर्मकामावर्थकामौ कामार्थौ कामधर्मौ 'अर्थधर्मौ' त्रिवर्ग इति । अत्राऽ**वकीर्णां** विक्षिप्तामेतद्विषयां न **वाचं** वदे**दनृताम्** । भेदाश्रयत्वादेतेषाम्, भेदस्य सर्वस्यासत्यत्वादनृतामित्युक्तम् । किंतर्हि मोक्षाश्रयामेव वदेत् ।

अथवा सप्त शीर्षण्याः प्राणास्ते वाचो द्वाराणि ।

अथवा षडिन्द्रियाणि बुद्धिः सप्तमी । एतैर्गृहीतेष्वर्थेषु वाक् प्रवर्तते ।

सुब्विभक्तय इत्यन्ये ।।४८।।

हिन्दी—क्रोध से युक्त भी किसी के ऊपर स्वयं क्रोध न करे । किसी के अपनी निन्दा करने पर भी उससे मधुर (निन्दा रहित) बात कहे और सप्त द्वारों से निर्गत विनाश शील (व्यर्थ) वाणी न बोले ।।४८।।

विमर्श—नेत्र आदि पाँच बाहरी इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये दो भीतरी इस प्रकार इन सातों से गृहीत होने पर ही वचन-प्रवृत्ति होती है, ऐसी तथा ब्रह्मभिन्नविषयक होने से नश्वर अर्थात् व्यर्थ की बातें न करे । गोविन्दराज ने 'सप्तद्वारावकीर्णा' का अर्थ— 'धर्म १, अर्थ २, काम ३, धमार्थ ४, अर्थकाम ५, धर्मकाम ६ और धमार्थकाम ७— ये सात वचन-प्रवृत्ति के द्वार हैं, इनसे विक्षिप्त वेद विषय रहित व्यर्थ की बातें न करें' किया

है। कोई-कोई व्याख्याकार सातों भुवनों को ही सप्तद्वार मानकर उनके विनाशशील होने से तद्विषयक बात भी असत्य (विनाशशील) ही होगी, ऐसी वाणी को न कहे, ऐसा अर्थ करते हैं।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ।।४९।।

भाष्य—आत्मतत्त्वप्रतिविधानापादानपरमेकाग्रत्व**मध्यात्मम्। तद्रति**स्तदर्थचिन्ता-पर आसीत। **निरपेक्ष** इत्युक्तानुवादो विषयान्येभ्यो धर्मेभ्योऽनुष्ठानार्थः।

निरामिषो निःस्पृहः। मांसमामिषम्, तेन स्पृहां लक्षयित्वा प्रतिषेधस्तत्रातिशयवती प्राणिनां स्पृहा। अन्यत्प्रागुक्तमेव ॥४९॥

हिन्दी—ब्रह्म के ध्यान में लीन, (स्वस्तिक, पद्म आदि) योगासनों में बैठा हुआ अपेक्षा (कमण्डलु, दण्ड, वस्त्र आदि की सुन्दरता, नवीनता या अधिकता आदि को चाहना) से रहित, मांस (विषयों के भोग का स्वादरूप मांस) की अभिलाषा से रहित और शरीर मात्र सहायक से युक्त (बिलकुल अकेला) मोक्ष सुख को चाहने वाला (संन्यासी) इस संसार में विचरण करे ॥४९॥

भिक्षा ग्रहण में आडम्बर का त्याग—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ।।५०।।

भाष्य—उत्पाता दिव्यान्तरिक्षभौमा उपरागग्रहोदयकेतूदयदिग्दाहावनिचलनादयः, तत्फलं न कथयेद्भिक्षालिप्सया।

निमित्तं ग्रहदौस्थित्यादि।

नक्षत्रविद्या अद्य कृत्तिका कर्मण्या यात्रानक्षत्रमित्यादि।

अंगविद्या हस्तलेख्यादिलक्षणम्।

अनुशासनं— राज्ञस्तत्प्रकृतीनाम्। एवं युक्तं वर्तितुम्, एतेन सन्धिरनेन विग्रहः, इदं त्वया किमिति कृतम्, इदं किन्न करोषीति।

वादोऽभिमानहेतुकः शास्त्रार्थविप्रतिपत्तौ साधनदूषणाद्युपन्यासः ॥५०॥

हिन्दी—उत्पात (भूकम्प, उल्कापात आदि) निमित्त (शरीर या नेत्रादि का फड़कना), नक्षत्र (अश्विनी आदि), अङ्गविद्या (हस्तरेखा आदि), अनुशासन (ऐसी राजनीति है इस मार्ग से चले आदि) और बाद (शास्त्रों के अर्थ— कथात्मक आदि) से कभी भी भिक्षा लेने की इच्छा न करे ॥५०॥

विमर्श—अमुक समय में भूकम्प या उल्कापात आदि उपद्रव होगा, तुम्हारे अमुक

अङ्ग के स्फुरण का यह फल है आदि, आज अमुक नक्षत्र या तिथि है आदि, हस्तरेखा का फल कथन, नीति बतलाकर किसी व्यक्ति को किसी कार्य में प्रवृत्त कराना या शास्त्रीय कथा आदि कहकर भिक्षा लेने की इच्छा आदि न करे। यहाँ इच्छा मात्र का ही निषेध किया है, भिक्षा लेने की बात तो और बड़ी है। भाव यह है कि भिक्षा प्राप्त करने के लिये इन कार्यों को साधन न बनावे।

बहुभिक्षुकादि युक्त गृह में भिक्षार्थ गमननिषेध—

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरागारमुपसंव्रजेत् ।।५१।।

भाष्य—आकीर्णम्। यत्र बहवोऽन्नलाभाय संघटितास्तं प्रदेशं भिक्षार्थं वर्जयेत्।।५१।।

हिन्दी—बहुत से वानप्रस्थियों या अन्य साधुओं, ब्राह्मणों, पक्षियों कुत्तों या दूसरे भिक्षुकों से युक्त (जहाँ ये पहुँचे हों ऐसे) घर में (भिक्षा के लिये) न जावे ।।५१।।

भिक्षापात्र-दण्डादि-सहित भिक्षाचरण—

कृल्प्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ।।५२।।

भाष्य—पात्राणि वक्ष्यति। दण्डास्त्रयः। त्रिदण्डी हि सः। **कुसुम्भः** कमण्डलुः, न महारजनम्। उत्तरश्लोकार्धस्यार्थः प्राग्विहित एव ।।५२।।

हिन्दी—बाल, नाखून और दाढ़ी-मूँछ कटवाकर (बिलकुल मुण्डन कराकर) भिक्षापात्र (मिट्टी का सकोरा आदि), दण्ड तथा कमण्डलु को लिये हुए सभी (किसी भी) प्राणी को पीड़ित न करता हुआ संन्यासी) सर्वदा विचरण करे ।।

संन्यासी का अधातुकीय पात्र—

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ।।५३।।

भाष्य—अतैजसानि सुवर्णाद्यघटितानि **पात्राणि** भिक्षाया जलस्य च। **निर्व्रणान्य**च्छिद्राणि।

अद्भिरम्मात्रेण चमसानामिव, निर्लेपत्वे। लेपसंभवे तु तदपनयोऽपि द्रव्यान्तरेण कार्य इति ग्राह्यम् ।।५३।।

हिन्दी—उस (संन्यासी) के भिक्षापात्र धातु— (सुवर्ण; चाँदी, तांबा आदि के न हों,[1])

---

१. तथा च यमः— 'सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च ।
गृह्णन् भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत् ।।' इति ।

छिद्ररहित हों, उनकी शुद्धि यज्ञ में चमस के समान केवल पानी से होती है ॥५३॥

अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।५४।।

भाष्य—**वैदलं** वंशादिविदलकृतम् ।

यतिपात्राणि भिक्षार्थं जलार्थं च ॥५४॥

हिन्दी—तुम्बा, लकड़ी, मिट्टी, बांस के पात्र यतियों (संन्यासियों) के हों, ऐसा स्वयम्भूपुत्र मनु ने कहा है ॥५४॥

एक बार भिक्षाग्रहण—

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ।।५५।।

भाष्य—भैक्षकार्यस्य भोजनस्यैककालता विधीयते, न पुनर्भैक्षचरणस्यैव । द्वि-र्भोजनप्रतिषेधोऽत्राभिसंहितः । तत्र सकृच्चरित्वा द्वितीयस्मिन्काले शेषयित्वा न भुञ्जीत, तदर्थो भोजनप्रतिषेधः । अत एवाह **न प्रसज्जेत विस्तर** इति । द्वितीयभोजनार्थितया हि विस्तरः प्राप्नोति । एकारामस्य न भृत्यार्थेन भैक्षविस्तर इति ।

हेतुं ब्रुवन् सकृद्भोजनेऽपि सौहित्यं निषेधति ॥५५॥

हिन्दी—संन्यासी जीवन-निर्वाह के लिये दिन में एक बार ही भिक्षाग्रहण करे तथा उसको भी अधिक प्रमाण में लेने में आसक्ति न करे; क्योंकि भिक्षा में आसक्ति हो जाती है (वह ठीक नहीं है)॥५५॥

भिक्षा का समय—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ।।५६।।

भाष्य—भुक्तवन्तो जना यस्मिन्काले स **भुक्तवज्जनः** ।
एवं विधूमादयोऽपि ।
शरावाणां संपात उच्छिष्टानां भूमौ त्यागः; स यदाऽतीतो भवति ।
सर्वेणैतेन प्रथमे पाककाले भिक्षादानावसरो निवृत्तो यदा भवति, तदा भिक्षितव्यमित्याह।
विधूम इत्यादिना द्वितीयपाकप्रवृत्तिमाह ।
सन्ना मुसला अवघातान्निवृत्ताः स्थापिताः ॥५६॥

हिन्दी—(गृहाश्रमियों के) घरों में जब धुँआ दिखाई न पड़ता हो, मूसल का (अन्न कूटने के लिये) शब्द न होता हो, आग बुझ गयी हो, सब लोग भोजनकर लिये हों और

खाने के पात्र (मिट्टी के सकोरे, पत्तल, दोने आदि) बाहर फेंक दिये गये हो; तब भिक्षा के लिये संन्यासी प्रतिदिन निकले ॥५६॥

विमर्श— घर के सभी लोग खा-पीकर सब प्रकार से निवृत्त हो गये हों, ऐसे समय में भिक्षा के लिये संन्यासी को जाना चाहिये इसी बात को महर्षि याज्ञवल्क्य ने[१] दिन के तीन मुहूर्त (छः घटी) बाकी रहने पर संन्यासी को भिक्षा के लिये निकलने का विधान किया है।

भिक्षा के मिलने या न मिलने पर हर्ष या विषाद का त्याग—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ।।५७।।

भाष्य—ईदृशे काले यदि कुतश्चिन्न लभ्यते तदा विषादश्चित्तपरिखेदो न ग्रहीतव्यः। लाभालाभयोर्हर्षविषादौ न ग्राह्यौ ।

प्राणयात्रिकी प्राणधारणार्था **मात्रा** परिमाणं भैक्षस्य । अनेनैतद्दर्शयति— भैक्षा-संभवे प्राणयात्रा फलमूलोदकादिभिरप्यनन्यपरिगृहीतैः कर्तव्या ।

मात्रा पात्रदण्डादि, तत्र **सङ्गः** प्रयत्नेनोपार्जनम्, ततो **विनिर्गतो** निवृत्तः । अकाम इति यावत् ॥५७॥

हिन्दी—भिक्षा के न मिलने पर विषाद और मिलने पर हर्ष न करे। जितनी भिक्षा से जीवन-निर्वाह हो सके, उतने ही प्रमाण में भिक्षा माँगे। दण्ड, कमण्डलु आदि की मात्रा में भी आसक्ति न करे (यह सुन्दर या दृढ़ है इसे मैं धारण करूँगा और यह रुचिकर नहीं है इसे नहीं धारण करूँगा इत्यादि विचार न करे) ॥५७॥

विशिष्ट आदर-सत्कार के साथ भिक्षाग्रहण का निषेध—

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ।।५८।।

भाष्य—अभ्यर्च्य यं ददाति सोऽ**भिपूजितलाभः** । तं **जुगुप्सेते**ति निन्देद्गर्हेत । अतश्च निन्दितं न समाचरेत् । **सर्वशः** सर्वकालम् । एकमप्यहस्तादृशं भैक्षं न गृह्णीयात् ।

उत्तरेऽर्थवादः । नहि मुक्तस्य बन्धसंभवः ॥५८॥

हिन्दी—विशेष रूप से आदर-सत्कार के साथ मिलने वाली भीक्षा की सर्वदा निन्दा (स्वीकार न) करे; क्योंकि पूजापूर्वक होने वाली भिक्षाप्राप्ति से मुक्त (शीघ्र ही मुक्ति

---

१. तदुक्तम्— 'अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं सायाह्नेनाभिसन्धितः । इति (या०स्मृ० ३।५९) तस्य 'सायाह्ने अह्नः पञ्चमे भागे' इति मिताक्षराकारेण व्याख्याऽपि कृता ॥

को पाने वाला) भी संन्यासी बंध जाता है। (आदर-सत्कार के साथ भिक्षा देने वाले व्यक्ति में ममत्व होने से उस संन्यासी को पुनः संसार में जन्म लेना पड़ता है) ॥५८॥

इन्द्रिय-निग्रह—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ।।५९।।

भाष्य—रहो निर्जनो देशस्तत्र **स्थानासने** कर्तव्ये ।

एकारामतायाः फलमिन्द्रियजयोऽनेन प्रदर्श्यते ।

अथवा निष्कुतूहलताऽनेनोच्यते । यत्र बहवो जनसंघाताः स्त्रीपुंसात्मका विचित्राभरणा दृश्यन्ते न तत्र क्षणमपि तिष्ठेत् ॥५९॥

हिन्दी—(सन्यासी) विषयों की ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियों को थोड़ा भोजन और एकान्त वास के द्वारा रोके (वश में करे) ॥५९॥

इन्द्रिय-निग्रह आदि से मोक्षलाभ—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।।६०।।

भाष्य—निरोधः स्वविषयप्रवृत्तिप्रतिबन्धः ।

अमृतत्वाय कल्पते अमृतत्वाय समर्थो योग्यो भवतीत्यर्थः । यथा आत्मज्ञानमेव-मेतदपीति दर्शयति ॥६०॥

हिन्दी—(संन्यासी) इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकने से, राग और द्वेष के त्याग से और प्राणियों की अहिंसा (किसी प्रकार भी पीड़ा न पहुँचाने) से मुक्ति के योग्य होता है ॥६०॥

इन्द्रिय-निरोधक विषय वैराग्य के लिये संसारचिन्तन—

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ।।६१।।

भाष्य—परमार्थभावनाप्रसंख्यानमिदमुच्यते दुःखात्मकसंसारस्वरूपनिरूपणम् । कथं नामायं प्रव्रज्याभैक्षचर्यादिशरीरक्लेशं सुहृत्स्वजनपुत्रदारधनविभवत्यागदुःखहेतुं परिणमय्य विरोधतः स्वच्छन्दतश्चाविगुणमनुष्ठास्यति ।

मनुष्याणां गतयो दुःखबहुलाः, कर्मदोषेभ्यः प्रतिषिद्धसेवनेभ्यो हिंसास्तेयपारदा-र्यपारुष्यपैशुनानिष्टसंकल्पादिभ्यः समुद्भवन्ति । इहैव जीवलोके दारिद्र्यव्याधिपरिभवाद्वा वैकल्यादयो गतयः फलोपभोगादयः ।

अमुत्र **निरये** नरके **पतनं** मूत्रपुरीषाद्यमेध्यस्थाने कृमिकीटादिजन्म ।
यमगृहे च **यातनाः** कुम्भीपाकादयः ॥६१॥
तथेदमपरमवेक्ष्यम् ।

हिन्दी—(शास्त्रविहित का त्याग और शास्त्रनिन्दित का आचरण रूप) कर्मों के दोष से उत्पन्न मनुष्यों की तिर्यग्योनि आदि गतियों को, नरक में गिरने को तथा यमलोक की कठोर यातनाओं को विचार करे ॥६१॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥६२॥

भाष्य—**अवेक्षेतेति** क्रियापदसंभवात् द्वितीया ।
प्रियाः पुत्रादयो बान्धवास्तै**र्वियोगो**ऽप्राप्तकाले मृतैः ।
अप्रियैः शत्रुभिः **संयोगः** संग्रामादिभिः संयोगः ।

जरया । चतुर्थे वयस्यवस्थाविशेषो जरा, तया**ऽभिभवनं** शरीराकारनाशः, अशक्तिः, इन्द्रियवैकल्यम्, कासश्वासादिव्याधिबाहुल्यम्, सर्वेषामकाम्यता, उपहास्यतेत्यादिभिर्जराभिभवः' ।

व्याधिभिः प्रागपि **जरस उपपीडनं** केषांचित् ॥६२॥

हिन्दी—प्रिय (मित्र, पुत्र, स्त्री आदि) से वियोग, अप्रियों (शत्रु, हिंसक जीव, रोग, शोक आदि नहीं चाहे गये) से संयोग (साथ) होने, बुढ़ापे से आक्रांत होने और रोगों से पीड़ित होने का विचार करे ॥६२॥

अथ महती तृष्णा एवंस्थितस्यापि भवति । एवं तर्हि इदमप्रतीकारं अनिच्छतोऽप्युत्पद्यते—

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥६३॥

भाष्य—प्राणानामुत्**क्रमण**मन्तर्विच्छेदः । दुःसहा च सा पीडा ।

गर्भे च संभवः । तत्र नानाविधं दुःखं इन्द्रियाणामनुद्भेदात्तमोरूपता कुक्षिस्थस्य मातृसंबंधिनाऽऽहारेण अतिशीतोष्णेन हीनातिमात्रेण वैद्योक्ता पीडा ।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः सरणानि प्राप्तास्तिर्यक्प्रेतकृमिकीटपतङ्गश्वाद्याः क्षेत्रज्ञस्य ।

"ननु च विभुरन्तरात्मेष्यते नित्यश्च । तस्य सकलजगद्व्यापिनः कुत उत्क्रमणम्, क्व च योनिसरणम् । संभवोऽपि गर्भे नित्यस्यानुपपन्नः" ।

उच्यते । अस्ति केषांचिद्दर्शनम्— यथाऽयमन्तःशरीरमंगुष्ठमात्रः पुरुषस्तिष्ठति,

तन्मात्रमनोबुद्ध्यहंकारात्मक: स यावत्संसारमेति धर्म:, तस्य चोपचितस्य चैतन्यशक्तिराविर्भवति। अतस्तदीयधर्मा अन्तरात्मन उपचर्यन्ते। अथवा तस्य भावार्था ये प्राणादयस्तेषूत्क्रामत्सु स उत्क्रामतीत्युच्यते। एवं 'संभवोऽपि' द्रष्टव्य:।

पुनश्चैतद्द्वादशे वक्ष्याम:। किं बहुना ॥६३॥

हिन्दी—इस शरीर से जीवात्मा को बाहर निकालने (मरने), फिर गर्भ में उत्पन्न होने और इस अन्तरात्मा का हजारों करोड़ (शृगाल, कीट, पतंग, अत्यन्त नीच) योनियों में पैदा होने का चिन्तन करे ॥६३॥

अधर्म से दु:ख तथा धर्म से सुख की उत्पत्ति—

अधर्मप्रभवं चैव दु:खयोगं शरीरिणाम्।
धमार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥६४॥

भाष्य—अधर्मात्प्रभव उत्पत्ति:।

दु:खेन यो **योग:** पीडानुभव:।

धर्म उक्तलक्षणो य: पदार्थ:, तत: सुखेनाक्षयेन संयोग:। एतदप्यवेक्ष्यम्। पारिव्राज्यं च मुख्यो धर्म इत्यभिप्राय: ॥६४॥

हिन्दी—शरीरधारियों (जीवों) के अधर्म से उत्पन्न (दु:ख-सम्बन्ध को धर्मकारणक ब्रह्मप्राप्ति रूप प्रयोजन से अक्षय सुख के सम्बन्ध का चिन्तन करे) ॥६४॥

ब्रह्म की सूक्ष्मता तथा उत्तमादि शरीर में उत्पत्ति—

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मन:।
देहेषु चैवोपपत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च॥६५॥

भाष्य—योगश्चित्तवृत्तिस्थैर्यं यथा पतञ्जलिना दर्शितम् (१।२)। तेनात्मन: क्षेत्रज्ञस्य **सूक्ष्मतामन्ववेक्षेत**। शरीरादौ प्राणादौ वा नात्मबुद्धि: कर्तव्या: किं तर्हि योगजेन ज्ञानातिशयेन सर्वेभ्य एतेभ्योऽन्तर्बहिस्तत्त्वेभ्यो व्यतिरिक्तो बोद्धव्य इत्येवंपरमेतत्। न तु स्थूलादिविकल्पा आत्मन: सन्ति।

यथा **चोत्तमेषु** देवादिशरीरेष्वस्योपपत्ति:, शरीराधिष्ठातृतया फलोपभोग: सर्वगतस्यापि सत:, **एवमधमेषु** तिर्यक्प्रेतपिशाचादिषु।

एकत्वपक्षे परमात्मविभूतय एव क्षेत्रज्ञा इति स्थिति:। अत: परमात्मनो गतीरन्ववेक्षेतेत्युक्तम् ॥६५॥

हिन्दी—योग (विषयों से चित्त-व्यापार को रोकना) से परमात्मा की सूक्ष्मता (सर्वव्यापकता) का और उत्तम, मध्यम तथा नीच शरीर में (अपने कर्मों को भोगने के

लिए) उत्पत्ति का चिन्तन करे ॥६५॥

चिह्न-विशेष को धर्मकारणत्व का अभाव—

भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्रतत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ।।६६।।

भाष्य—भूषितः कुसुमकटकाद्याभरणैः । **धर्मः** परिव्राजकस्य यद्विहितमात्मोपासनादि तद्यत्नतश्चरेत् । यस्मिन्नाश्रमे यो विहितस्तं चरेत् ।

न त्रिदण्डादिलिङ्गधारणमात्राद्यतिमात्मानं मन्येत । अपि तु **समः सर्वेषु भूतेषु** स्यात् । रागद्वेषलोभान्यत्नतः परिहरेदिति तात्पर्यम् । न लिङ्गत्यागेन भूषणाभ्यनुज्ञानम् ॥६६॥

हिन्दी—जिस किसी भी आश्रम में रत रहता हुआ (उसके कुछ विरुद्ध आचरण करने से) दोषयुक्त होता हुआ भी सब जीवों में (ब्रह्मबुद्धि रखने के कारण) समान दृष्टि होकर धर्म का आचरण करे; क्योंकि (कोई) चिह्न— विशेष धर्म का कारण नहीं होता है ॥६६॥

उक्त विषय में उदाहरण—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ।।६७।।

भाष्य—कलुषितमुदकं कतकवृक्षफले निक्षिप्ते प्रसीदति स्वच्छशुद्धरूपतामापद्यते । किंतु न तस्य फलस्य नामग्रहणेन तन्निर्मलीभवति, अपि त्वनुष्ठानमपेक्षते । एवं लिङ्गधारणं फलनामस्थानीयम् । न तावन्मात्रात्सिद्धिर्यावदेकारामतोपासनसर्वसमतादिधर्मो नानुष्ठितः ।

पूर्वशेषार्थवादः ॥६७॥

हिन्दी—यद्यपि निर्मली का फल पानी को स्वच्छ करने वाला है, किन्तु उसके नाममात्र लेने से पानी स्वच्छ नहीं होता । (इसी प्रकार केवल किसी धर्म के चिह्न धारण करने से और धर्म का पालन नहीं करने से धर्म नहीं होता) ॥६७॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ।।६८।।

भाष्य—यदुक्तं "दृष्टिपूतं न्यसेदिति" तस्य प्रयोजनप्रदर्शनश्लोकोऽयम् ।

शरीरस्यात्ययेऽपि शरीरपीडायामपि सत्यां रात्रावहनि वा तृणास्तरणे शयनार्थमास्तीर्णेऽपि शरीरनिषङ्गोऽनवेक्ष्यादृष्ट्वा न कर्तव्यः । अस्मिन्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तम् ।

अथवाऽत्यन्तसूक्ष्माः केचन क्षुद्रजन्तवो ये सर्वे शरीरावयवसंवलनमात्रेणैव नश्यन्ति तदर्थमिदम् ॥६८॥

हिन्दी—शरीर के पीड़ित होने पर भी रात में या दिन में सब जीवों की रक्षा के लिए सर्वदा भूमि को देखकर चले ॥६८॥

विमर्श—पहले (४।४६) केश, हड्डी, थूक-खकार आदि से दूषित भूमि से बचकर चलने के लिए कह आये हैं और यहाँ पर पैर के नीचे चींटी या अन्य कोई भी छोटा जीव न मर जाय, अतः भूमि को देखकर चलने का विधान है।

क्षुद्र जीवों की हत्या का प्रायश्चित्त—

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ।।६९।।

भाष्य—**जन्तून्** क्षुद्रजन्तूनिति द्रष्टव्यम् । तेषां हिंसाया यत्पापं तद्विशुद्ध्यर्थमिति सम्बन्धः॥६९॥

हिन्दी—संन्यासी अज्ञान से जिन जीवों को दिन-रात में मारता है, उनकी (हत्या से उत्पन्न पाप) की शुद्धि के लिए स्नान कर छः प्राणायाम करे ॥६९॥

प्राणायाम की प्रशंसा—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ।।७०।।

भाष्य—ब्राह्मणशब्देन जातिधर्मतामाह । न परिव्राजकस्यैव विधिरयम् ।

त्रयोऽपि । त्रिभ्य ऊर्ध्वं फलाधिक्यम्, त्रयस्त्ववश्यं कर्तव्याः ।

व्याहृतयः "ओंकारपूर्विका" इत्यत्र या उक्ताः । **प्रणव** ओंकारः । तैर्युक्ताः । प्राणायामकाल एवद्ध्यातव्यम् । एते त्रिविधाः कुम्भकरेचकपूरकाख्याः । तत्र च मुख्यस्य नासिक्यस्य च वायोर्बहिर्निष्क्रमणनिरोधेन कुम्भकपूरकाख्याः, अनुच्छ्वसतो बहिर्नैरन्तर्येण वायोरुत्सर्गेण रेचको भवति । अवधिर्द्वितीयाध्याये निदर्शितः ।

यदि वा तपसा पुनर्यावता कालेन न पीडोपजायते ॥७०॥

हिन्दी—व्याहृति और प्रणव से युक्त विधिपूर्वक किये गये तीन प्राणायाम को भी

१. 'प्राणायामश्च'—

'सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः सः उच्यते ॥
इति वसिष्ठोक्त्यात्र द्रष्टव्य इति । (म.मु०)।

ब्राह्मण के लिए अतिश्रेष्ठ तप समझना चाहिए ।।७०।।

विमर्श—सात व्याहृति तथा दस प्रणव से और सशिरस्क गायत्री से युक्त[१] पूरक (मन्त्र को पढ़ते हुए.....नाक से ऊपर को खींचा गया श्वास), कुम्भक (मन्त्र पढ़ते हुए श्वास को रोकना) और रेचक[१] (मन्त्र पढ़ते हुए....नाक से छोड़ा गया श्वास) विधि से प्राणायाम करने का विधान है। ६ से अधिक करने पर अधिक पाप का क्षय होता है।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।७१।।

भाष्य—धातवः सुवर्णादयः, तेषां **ध्यायमानानां** सुवर्णमेवावशिष्यते । तथेन्द्रियाणां विषयदर्शने यौ प्रीतिपरितापौ जायेते तयोर्यत्पापं तस्य दाहः प्राणनिरोधात् ।

प्रीतिपरितापोत्पत्तिर्मुमुक्षोर्निषिद्धा । सा तु शरीरिणः त्यक्तसंगस्यापि यादृच्छिक-रूपशब्दाद्युपनतौ कयाचिन्मात्रया वस्तुसामर्थ्येन नियतेन्द्रियस्याप्युपजायते । अतस्तद्दोष-निवृत्त्यर्थाः प्राणायामाः ।।७१।।

हिन्दी—जिस प्रकार सोना-चाँदी आदि धातु की मैल आग में धौंकने (तपाने) से जल जाती है, उसी प्रकार प्राणवायु के रोकने (प्राणायाम करने) से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ।।७१।।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।।७२।।

भाष्य—प्राणायामैरित्येतत्पूर्वश्लोकेन दर्शितम् ।

अपरे त्वाहुः— **दोषा** रागादयस्तान्दहेत् ।

कथं प्राणायामैर्दग्धुमेते शक्यन्ते । युक्तः पापस्य तैर्दाहः । अदृष्टा च तस्योत्पत्तिः शास्त्रलक्षणम्, तथा निवृत्तिरपि । रागादयस्तु प्रत्यक्षवेद्याः । तेषां च निवर्त्यनिवर्तकभावः प्रत्यक्षादिवेद्य एव युक्तो भवितुम्, न शास्त्रीयः । यदि शास्त्रमेवं वदेद्विरमणशीलं निवर्त-येदिति, किंप्रमाणं भवेत् । तस्माद्रागादिनिमित्तमशुभाचरणं दोषशब्देनोच्यते । तस्य कार्यदाहाद्दाहः । स्वरूपतो हि स्वरसत एव कर्मणां क्षणिकत्वान्नाशः । एष एव च दाहः, न त्वन्यस्येव भस्मीभावः । एवं च पूर्वश्लोकार्थानुवादः ।

धारणाभिश्च । "ननु च किल्बिषं 'पापं' 'दोष'श्च तदेव । तत्रैतावद्वक्तव्यं

---

१. तथा योगियाज्ञवल्क्यः—

'नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते ।
कुम्भको निश्चउश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः ।।'इति (म०मु०)

प्राणायामैर्धारणाभिश्च दोषान्दहेत्। किं किल्बिषमित्यनेन? किल्बिषमिति वाऽस्तु, किं दोषग्रहणेन''?

उच्यते। दोषग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्, विशिष्टस्य पापस्य प्राणायामैर्दाहो यथा विज्ञायेत, न सर्वस्येति। दोषशब्देन हि रागादय उच्यन्ते। अतस्तन्निमित्त एव पापे उपचारो यथोक्त:।

''एवं तर्हि तदेव क्रियतां किं किल्बिषमित्यनेन''?

पादपूरणार्थमित्यदोष:। तत्रोत्पन्नस्य पापस्य प्राणायामा दहना उच्यन्ते। धारणास्तु दोषानुत्पत्तिमेव कुर्वन्ति।

''का: पुनरेता धारणा:''?

शमयमादिभिर्नियमाद्विषयदर्शनाभिलाषेण प्रकृष्यमाणं मनो धार्यते, तत्रैव स्थाने नियम्यते। ताश्च विषयगतदोषभावना ''अस्थिस्थूणा'' इत्याद्या:। कान्तिलावण्यतारुण्य-संस्थानसौष्ठवादय: स्त्रीषु दृश्यमाना अभिलाषहेतव:। ते च सविकल्पं प्रत्यक्षग्राह्या:। विकल्पांश्च मनोधारा:। अतो विकल्पान्तरै'र्मूत्रपुरीषपूर्णं नामेति' तस्मिन्विषयगतदोषभावे, 'कटककर्पटान्वितं स्त्रीद्रव्यं नाम' 'अधिकं प्राणिनो यत्प्रयत्नत: परिहर्तव्यमभिलषन्ति', 'याऽप्येषा सुखलेशभ्रान्ति:सा क्षणभङ्गिनी, तदासेवनेन घोरा दीर्घकालाश्च यमयातना'— इत्यादिभि: शक्यन्ते निरोद्धुम्। एतदेव तत्प्रसंख्यानमुच्यते। एवं भोजनादिष्वपि भाव-यितव्यम्। 'यदेतच्छर्कराघृतपूरहैयङ्गवीनपायसादि, यच्च भैक्षं कदन्नादिभि: सममेत-च्छरीरधारणफलतया विशेषाभावात् कस्यचित्प्रकृतेर्जिह्वाग्रे क्षणलवमात्रवर्तमानस्य विशेषो य: सविशेषतया प्रतिभासते, गन्धर्वनगरप्रख्योऽयं क्षणिकावभास:' इति। एवमन्यत्रापि स्पर्शदोषो भावयितव्य इत्येवमुपदिशति।

अन्ये त्वाहु:। कौष्ठस्य वायोर्मुखनासिकासंचारिण: शरीरैकदेशान्तर्हृदयाकाशाद-भ्यासवशतो धारणं **धारणा**।

''ननु च प्राणायामेभ्य एतासां धारणानां को भेद:''।

बाहुललाटादावपि यथेच्छं व्याहृत्यादिध्यानसहितं 'धारणा', 'प्राणायामा' रेचने-नाधिक्रियन्त इति विशेष:।

अन्ये तु ''मैत्रीमुदिता करुणा उपेक्षा एता धारणा'' इति मन्यन्ते (योग सू० १।३३)।

> ''मैत्री कृपा मुदोपेक्षा सर्वप्राणिष्ववस्थिता।
> ब्रह्मलोकं नयन्त्याशुध्यातारं धारणास्त्विमा:'' ॥

तत्र 'मैत्री' द्वेषाभाव:, न तु सुहृत्स्नेह:, तस्य बन्धात्मकत्वात्। 'कृपा' करुणा चित्त-धर्म:, दु:खितजनदर्शनेन 'कथमयमस्माद्दु:खादुद्धियेदिति' समुद्धरणकामना। न त्वहिंसानु-ग्रहयोरनारम्भ इत्युक्तम्। अत एवेदमुच्यते, चित्तधर्मोऽयमभ्यसितव्य:। 'मुदिता' शोक-

व्यावृत्तिर्व्याध्यादिनिमित्ते दुःखे नरकादिभयजे वा, न तु हर्षः, तस्य रागहेतुत्वात्। 'उपेक्षा' विषये, अनुग्राहकेषु उपघातेषु च 'प्रसिद्धैव'।

मनसो वाऽन्तर्हृदयाकाशे ब्रह्मचिन्तापरतया निश्चलता 'धारणा'।

प्रत्याहारेण संसर्गम्। इन्द्रियाणां विषयैः सह सम्बन्धः तत्र प्रवृत्तिः संसर्गः, तन्दहेत्प्रत्याहारः। ततोऽपसरणमिन्द्रियाणां प्रतिबन्धकरणं वा। आश्चर्यरूपेण न कटकादौ रूपवत्स्त्रीसन्दर्शने वा स्थगयितव्ये चक्षुषी, अन्यत्र वा दृष्टिरुपनेया। एवं सर्वेन्द्रियेषु। एवं च समाधानं योगिनोऽप्रतिबद्धं भवति।

ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्। **गुणान्**सत्वरजस्तमांसि। ते **चानीश्वराः** परतन्त्राः चेतनाधीनमूर्तयः। पुरुषस्यानतस्य सुखादिरहितस्य योऽभिमानो'ऽहं सुख्यहं दुःखीति' निर्गुणस्य गुणमन्यताभिमानस्य, गुणपुरुषविवेकध्यानेन दग्धव्यः। 'चिद्रूपः पुरुषो निर्गुणः गुणमयी प्रकृति'रित्येवं गुणपुरुषविवेकः, कर्तव्यः ॥७२॥

स कथं कर्तव्यः? ध्यानेन किं पुनर्ध्येयमत आह—

हिन्दी—प्राणायामों से रोग आदि दोषों को, परमात्मा में मन को लगाने से पापों को, विषयों से इन्द्रियों को रोककर विषय-संसर्गों को और ध्यान से ईश्वर-भिन्न काम, क्रोध लोभादि गुणों को जलावे-नष्ट करे ॥७२॥

ध्यान योग से आत्मदर्शन—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥७३॥

भाष्य—**अन्तरात्मा**ऽन्तर्यामी पुरुषस्तस्य **गतिः** स्वरूपं यथावद्विज्ञेयम्।

सुखदुःखाभिमानो न केवलं मनुष्यजन्मनि, किंतर्हि **उच्चावचेषु** नानाविधेषु **भूतेषु** तिर्यक्प्रेतपिशाचादिष्वहं ममेति प्रत्ययोऽविद्याकृतो निवर्त्यः।

अथवा "कथमयं विभुरन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वस्पर्श" इदमभ्यस्यतो विजिघत्सोर्विपिपासोरेवंविधेऽपि सुखे दुःखे शरीरस्य शरीरेष्वसर्वभोगतया सोहं नाम— अहो कर्मणां माहात्म्यम्, यदयं सर्वात्मकः स्वतन्त्रः परतन्त्रीक्रियते कर्मभिः, नैतानि करिष्ये दुष्टस्वामिस्थानीयानि— भृतक इव कर्माणि प्रतिपालयिष्ये। यथा भृतकः कश्चित्स्वामिनं निबन्धेनाराधयितुं प्रविष्टः सन् यं मन्यते 'यावद्दुराधर्ष इव नो दण्डशीलस्तर्जनापरः पुरुषभाषी, नैनं भूयः परिचरिष्यामि, यन्मयाऽस्मात्किंचिद्भृत्यादि गृहीतं तदेवास्य कर्मकरणेन शोधयामि' एवं ध्यायन्नासीत। 'कृतानां कर्मणां फलोपभोगेनान्तं यास्यामि, अन्यानि च न करिष्यामीत्येवमादि' ध्येयम्। तथा 'किमेते क्षेत्रज्ञाः परमात्मनो विभूतय उत स्वतन्त्राः— नैवंपरमात्मनोऽन्यः कश्चिद-

स्तीति' वेदान्तनिषेवणादिना निश्चित्य ध्यातव्यम् ।

अन्ये पुनराहुः । ध्यानं च योगश्च 'ध्यानयोगं' तेन 'अन्तरात्मनः गतिं संपश्येत्' निरूप्योपासीत गतिं ध्यानेन योगेन च ।

अथवा ध्यानार्थो योगः चित्तस्थैर्यं तत्कृत्वा 'आत्मनो गतिं संपश्येत्' उपासनाभिरनपायामृतादिगुणविशिष्टं वेदान्ताभिहितरूपं निष्कल्मषमभिमुखीकुर्यात् ।

अकृता असंस्कृताः शास्त्रेणाऽऽत्मानो यैस्तैर्न शक्यं ज्ञातुम् ॥७३॥

हिन्दी—इस अन्तरात्मा (जीव) की ऊँचे-नीचे (देव-पशु आदि) योनियों में शास्त्र से असंस्कृत बुद्धि वाले व्यक्तियों के द्वारा दुर्ज्ञेय गति को परमात्मा ध्यान के अभ्यास से देखे । (इस प्रकार के अविद्या, काम्य तथा निषिद्ध कर्मों से ये गतियाँ मिलती हैं, यह जानकर ब्रह्मज्ञान से युक्त हो जावे) ॥७३॥

ब्रह्मसाक्षात्कार से मुक्ति तथा तद्भाव से संसार प्राप्ति—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।।७४।।

भाष्य—अनन्तरस्य विधेः फलमाह ।

सम्यग्दर्शनमनन्तरोक्तमात्मनो यथार्थज्ञानं, तेन **संपन्नः** कृतसाक्षात्कारः । **कर्मभिर्न निबध्यते । संसारं** नानुवर्तते । कृतानां कर्मणां भोगेन क्षयादन्येषामकरणात् ।

न पुनरनेन केवलात् ज्ञानान्मोक्ष उक्तो भवति । **दर्शनेना**ऽऽध्यात्मिकेन वेदान्तोपदिष्टेन यो विरहितः केवलकर्मकारी स संसारमेति ॥७४॥

हिन्दी—ब्रह्म के साक्षात्कार से युक्त मनुष्य कर्मों से बाँधा नहीं जाता (जन्म-जरामरणादि दुखः पाने के लिए संसार में जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है) और ब्रह्मसाक्षात्कार से रहित मनुष्य संसार को प्राप्त करता (संसार में बार-बार जन्म ग्रहण करता) है ॥७४॥

मुक्ति के साधक कर्म—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।।७५।।

भाष्य—इदं तु ज्ञानकर्मणोः समुच्चयान्मोक्ष इति श्लोकद्वयं ज्ञापकम् । पूर्वेण ज्ञानमुक्तमनेन कर्माण्युच्यन्ते ।

"कानि पुनर्वैदिकानि कर्माणि येषां फलं **तत्पदं प्राप्नोती**त्युच्यते । यानि तावत्काम्यानि तेषां स्वविधिवाक्ये श्रुतमेव स्वर्गादि फलम् । तद्व्यतिरेकेण फलान्तरकल्पनाया-

मतिप्रसङ्गः'। संकीर्णफलताश्रयणं वाऽनर्थकं स्यात्। तावता च वाक्यार्थस्य समाप्तेर्विध्यनपेक्षिततत्पदप्राप्तिलक्षणफलेन कथं सम्बन्धः। श्रुतेनैवान्वयिना विध्यर्थसम्पन्नेऽन्यत् विधिर्नापेक्षते।''

अत्रोच्यते। अस्त्येवात्र वाक्यान्तरं 'यज्ञेन तदाप्नोतीति' रहस्याधिकारे। ततश्च संयोगपृथक्त्वात्फलद्वयं युक्तम्। अतश्च सर्वेषामेव काम्यानामविच्छिन्नफलयोगिता परमपदप्राप्त्यर्थता च न विरोत्स्यते। तत्र च यागद्वयेन प्रयोगभेदेन स्वर्गापवर्गौ भवतः। न चात्र यज्ञविशेषः श्रुतो येन नित्यानामेतत्फलं स्यान्न काम्यानाम्।

अथोच्येत— ''नित्येष्वश्रुतत्वात्फलावच्छेदस्याविरोधात्तद्विषयता युक्ता, न काम्येषु। तावतैव यज्ञेनेत्यस्य सर्वविषयत्वलाभादिति चेत्''।

किमत्र फलश्रवणेन? कर्तव्यतानिष्ठानि च वैदिकानि वाक्यानि। सा च कर्तव्यताऽन्तरेण वैदिकं फलपदं यावज्जीवादिपदैरवगमितेति। तत्रापि फलसम्बन्धो नापेक्षित एव। कल्प्यमानोऽधिकत्वान्नैकार्थ्यं यायात्। अतो यज्ञेनेति वाक्यमप्रतिष्ठमानं विविक्ते विषये सर्वं यज्ञशब्दवाच्यं नित्यं काम्यं च गोचरयति।

न चैतत्फलं काम्यानाम्, अपवर्गकाम इत्यश्रुतत्वात्। एतदभिप्रायमेवोक्तं ''कामात्मता न प्रशस्तेति'' (२।२)। महाभारतेऽपि (गीता २।४७) ''मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'' इति।

अतश्च भेदग्राहपरिवेष्टितान्तःकरणस्य तृष्णाविद्यावतोऽनिर्मुक्ताहंकारममकारस्याभिसंहितपरिमितफलप्राप्तिः। इतरस्य त्वनभिसंधायफलविशेषचोदितत्वात्कर्तव्यमितिबुद्ध्या वर्तमानस्यापरिमितनिरतिशयानन्दरूपब्रह्मावाप्तिः।

न चैतच्चोदनीयम्— ''एकसप्तशतं क्रतवो यावन्तो वा तेषां सर्वेषामनुष्ठानस्याशक्यत्वादनारभ्योपदेशता स्यादिति''।

यतो दर्शनसम्पत्त्यैवात्रानुष्ठानसम्पत्तिः। अत एवोक्तं ''सम्यग्दर्शनसम्पन्न'' इति (श्लो० ७४)। सर्वे च क्रतवो दर्शनसम्पादनीयाः। तथा चोक्तं ''ज्ञानेनैवापरे विप्रायजन्ते'' इति।

अथवा यांल्लोकानेतीत्यवच्छेदनिर्देशः, स्वर्गकामः पुत्रकाम इति।

अतीतानादिभेदग्रहवासितान्तरात्मानो दृष्टफललोभेनासत्यैनैव प्रधाने पुरुषार्थे प्रवर्तन्ते। यथा बालः पुष्ट्यर्थे औषधे 'शिखा ते वर्धिष्यत' इत्यसत्ययैव शिखावृद्ध्या प्रवर्त्त्यत इति केचित्।

अपरं मतम्। नित्यान्यत्र कर्माण्यभिप्रेतानि। तान्यक्रियमाणानि प्रत्यवायहेतुतया प्रतिबन्धकानि। अतस्तैरनुष्ठीयमानैरसति प्रतिबन्धे उक्तं **वैदिकैश्चैव कर्मभिरिति,** यद्यपि तानि न मोक्षार्थतया चोदितानि।

उग्रैरत्यन्तं शरीरतापहेतुभिः ।

तस्य ब्रह्मणः । **पदं** स्थानं ब्रह्मलोकम् । **साधयन्ति** स्वीकुर्वन्ति ।

अथवा तदीयपदं यादृशस्तस्याधिकारः, सर्वेश्वरत्वं, स्वातन्त्र्यं, तद्रूपप्राप्तिरिति यावत् ॥७५॥

हिन्दी—अहिंसा, विषयों की अनासक्ति, वेदप्रतिपादित कर्म और कठिन तपश्चरणों से इस लोक में उस पद (ब्रह्मपद) को साध लेते हैं। (इन कर्मों के आचरण से) ब्रह्म प्राप्ति कर लेते हैं ॥७५॥

देह का स्वरूप—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।।७६।।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ।।७७।।

भाष्य—वैराग्यजननमेतत् ।

तिष्ठन्तु तावत् कृमिकीटपतङ्गादिशरीराणि जलौकोभूमिस्वेदजादीनाम् । यदिदं मानुषशरीरं स्पृहणीयत्वेनाभिप्रेतम्, यत्पाताशङ्किनो नित्यभीता मनुष्याः तन्मूत्रपुरीषकुटीगृहकमिव । तदिदानीं कुटीगृहकेन निरूपयति ।

अस्थीनि स्थूणा इव । तैरवष्टब्धम् । स्नायुना बद्धम् । मांसशोणिताभ्यां उपरि दिग्धलेपनम् । उपरि देहचर्मणा अवनद्धम् । अथवा तत उपरि आच्छादितम् ।

पूर्णं मूत्रपुरीषयोः । ओदनस्य पूर्ण इतिवत् षष्ठी ।

जरा च चरमे वयसि शरीरापचयहेतुरवस्थाविशेषः । **आतुरं** नित्यगृहीतं रोगैः ।

रजस्वलं स्पृहयालु सर्वपदार्थेषु, तदसंपत्यां च महद्दुःखं सर्वस्मिन्सोढे अप्रतीकारमनिवर्त्यम् । अत एतदवेक्ष्य त्यजेदिदं शरीरम् ।

भूतानां भूविकाराणां मेदोमज्जाश्लेष्ममूत्रशुक्रशोणितानामयं वासस्ते ह्यत्र वसंति नात्मनोऽयं वासः सर्वगतत्वात्तस्य ।

अतस्तृष्णा शरीरे न कर्तव्या ॥७७॥

हिन्दी—(उक्त दो श्लोकों से क्रमशः ब्रह्मदर्शन तथा उसके सहकारी कर्म को मोक्ष का साधन बतलाकर अब मोक्ष के अन्तरङ्गभूत यत्न और संसार से वैराग्य के लिए देह स्वरूप को अग्रिम दो श्लोकों से कहते हैं—) हड्डी रूप खम्भों वाला, स्नायु (रूप रस्सी) से युक्त, मांस और रक्तरूपी लेप (चूने से लिपना) वाला, चमड़े से ढका हुआ

(पर्दे से युक्त), मल-मूत्र से भरा हुआ, दुर्गन्धयुक्त बुढ़ापा और शोक से युक्त, रोगों का घर, भूख-प्यास आदि से पीड़ित, रज (धूलि, पक्षान्तर में रजोगुण) से युक्त, अनित्य (नाशशील) इस भूत (भूतप्रेतादि, पक्षान्तर में पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश रूप पञ्चमहाभूतों का आश्रय) इस (देह) को छोड़ दे (फिर देह को धारण नहीं करना अर्थात् संसार में जन्म लेना नहीं पड़े, ऐसा उपाय करे) ॥७६-७७॥

देह-त्याग में उदाहरण—

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ।।७८।।

भाष्य—यस्तावदयं कुटीरूपको देहस्तस्य दृष्टान्ते **नदीकूलं वृक्ष** इति । न स्वेच्छयाऽग्निप्रवेशादिना त्यक्तव्यः, किन्तु तृष्णा तत्र न कर्तव्या । अनुद्दिष्टपूर्व आपातस्तदा भविष्यति कर्मक्षयात्, वृक्षस्येव कूलस्थस्य । यदुक्तं "नाभिनन्देत मरणम्" इति । (श्लो०४५) ।

यस्तु लब्धज्योतिर्वशीकृतप्राणसंचारो मोहविकारनिगृहीतमनास्तेन पूर्वमुत्क्रमणं कर्तव्यम् । **यथा शकुनिर्वृक्षं** त्यजति ।

ग्राह इव ग्राहः, दुःखहेतुत्वसाम्यात् । तदाह **कृच्छ्रात्** प्राप्तविवेकस्यापि यावच्छरीरं वस्तुसामर्थ्याद्भवत्येव कृच्छ्रम् । पूर्वविप्रतिपत्तावेतदुच्यते ॥७८॥

हिन्दी—जिस प्रकार पेड़ नदी के किनारे को छोड़ता (नदी वेग से अपने पतन को नहीं जानता हुआ गिर जाता) है; और उस पेड़ को स्वेच्छा से जैसे पक्षी छोड़ देता है, उसी प्रकार इस शरीर को छोड़ता हुआ (संन्यासी) कष्टकारक ग्रह (पुनः शरीरधारण) से छूट जाता है ॥७८॥

प्रियाप्रियों में पुण्यपाप का त्याग—

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ।।७९।।

भाष्य—प्रीतिपरितापकृतश्चित्तसंक्षोभो हर्षशोकादिलक्षणोऽनेनोपायेन परिहर्तव्यः । 'यत्किञ्चित्प्रियं करोति तन्मम सुकृतस्य विशिष्यते तस्येदं फलं, नैष कर्ता मम स्नेहबुद्ध्या प्रियं, न चायं मे शात्रवं शक्नोति कर्तुं दुष्कृतं पीडाकर'मित्येवं विमृश्य ध्यानयोगेन चित्ते भावयेत् । अतोऽस्य न प्रियकारिणि रागो नाप्रियकारिणि द्वेषो जायते ।

एवं कुर्वाणः **सनातनं** शाश्वतं **ब्रह्माभ्येति** अभिमुखं प्राप्नोति । अर्चिरादिपथेन न व्यवधीयते ।

शाश्वतग्रहणादनावृत्तिः प्रतीयते ॥७९॥

(इस प्रकार संन्यासी) अपने प्रियों में पुण्य को, अप्रियों में पाप को छोड़कर बह्मध्यान के द्वारा सनातन ब्रह्म को पाता (ब्रह्म में लीन हो जाता है) ॥७९॥

विमर्श—शास्त्रीय वचन के द्वारा अन्यकृत पाप या पुण्य अन्य व्यक्ति को प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए, उक्त प्राप्ति में वेदवाक्य[१] तथा यह मनु भगवान् का वचन स्पष्ट प्रमाण है, जैसे प्राणी का अङ्ग होने से शङ्ख आदि के समान नरक पाल को शुद्ध माना जाता है, वैसे ही शास्त्रीय वचन से यहाँ पर भी समझना चाहिए। मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है— 'यदि दूसरा कोई व्यक्ति अपना (संन्यासी) का प्रिय करे तो संन्यासी को यह समझना चाहिए कि यह प्रियकार्य मेरे ही ध्यानाभ्यासजन्य पुण्य का फल है तथा अप्रिय करे तो यह समझना चाहिए कि यह पूर्वजन्मकृत पापों का फल है' इस प्रकार कल्पना कर उस प्रिय तथा अप्रिय के करने वाले रागद्वेष-कारक पुरुषों का त्यागकर संन्यासी नित्य ब्रह्म को प्राप्त करता है, परन्तु 'विसृज्य' (छोड़कर) इस क्रिया के साथ मुख्य कर्म 'पुण्य-पाप' को छोड़कर 'प्रिय-अप्रिय के करने वाला' इस अध्याहृत कर्म का अन्वय करने से तथा दो कर्म मानने पर सुनी गयी क्रिया का त्याग एवं नहीं सुनी गयी क्रिया का अध्याहार करने से उक्त व्याख्यान ठीक नहीं है 'हर्ष-शोक का कारण प्रीति-परिताप का इस प्रकार त्याग करना चाहिए। यह जो मेरा प्रिय या अप्रिय करता है, वह मेरे ही क्रमशः पुण्य तथा पाप का फल है, उसका भोक्ता मैं ही हूँ, अन्यथा यह कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकार संन्यासी को ध्यान से भावना करनी चाहिए; ऐसा करने से प्रिय या अप्रिय करने वाले पर राग या द्वेष नहीं होने देना ही मुख्य लक्ष्य है' ऐसा 'नेने शास्त्री' का मत है।

विषयों में निःस्पृहता—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥८०॥

भाष्य—चित्तधर्मोपदेशोऽयम्।

न स्पृहा कार्याभिप्रेतवस्तूपादानपरिहारेण निस्पृहत्वम्, अपि तु तत्कारणत्यागेन।

भावश्चित्तधर्मो वाऽऽत्मनो वाऽभिलाषलक्षणः।

सर्वभावेषु। पदार्थवचनो द्वितीयो 'भाव' शब्दः। सर्वग्रहणेनावश्यकर्तव्येष्वपि पानभोजनादिषु शरीरस्थितिहेतुष्वभिष्वङ्गो निषिध्यते, न पुनरिच्छा। सा ह्यस्य भाविनी

---

१. तथा च श्रुतिः— 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्त सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अपरा च श्रुतिः— 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' इति।' (म०मु०)

वस्तुसामर्थ्यजा बुभुक्षा पिपासा च । भिन्ना चेच्छा स्पृहातः । रागानुबन्धिनी दैन्यनिमित्ता स्पृहा । इच्छा तु भोजनादौ भुक्तपीताहारपरिणामसमनन्तरं स्वयमुपजायते ॥८०॥

हिन्दी—जब (संन्यासी) विषयों में दोष की भावना से सब विषयों से निःस्पृह हो जाता है, तब इस लोक में (सन्तोषजन्य) तथा परलोक में (मोक्ष लाभ रूप) नित्य सुख को प्राप्त करता है ॥८०॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥८१॥

भाष्य—**संगांस्त्यक्त्वा सर्वान्** । गवाश्वहस्तिहिरण्यदासभार्याक्षेत्रायतनादिषु ममेद-मिति बुद्धिः **संगः** । तत्त्यागादेकारामतायाः परिग्रहणेन च । एनं प्रथममुपाश्रित्यैनं प्राधा-न्येन, ततोऽनेन विधिना पूर्वोक्तेन क्रियाकलापेन बाह्याध्यात्मिकेनानुष्ठितेन । **ब्रह्मणि** चिद्रूपेऽ**वतिष्ठते** । न कर्माणि बध्नन्ति ।

सर्वद्वन्द्वैः शुभाशुभकर्मार्थैः सुखदुःखै**र्विनिर्मुक्तो** भवति ॥८१॥

हिन्दी—इस प्रकार सब संगों (विषयासक्तियों) को धीरे-धीरे छोड़कर तथा सब द्वन्द्वों (मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि आदि) से छुटकारा पाकर (संन्यासी) ब्रह्म में ही लीन हो जाता है ॥८१॥

आत्मध्यान से सर्वसिद्धि—

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥८२॥

भाष्य—ध्याने सति भवति **ध्यानिकम्** । ध्याने क्रियमाणे लभ्यते ।

किं तत् ? यदेतदनन्तर**मभिशब्दित**मुक्तमाभिमुख्येन, न तात्पर्येण प्रतिपादितम् । सुकृतदुष्कृतयोः स्वयोः प्रियाप्रियहेतुत्वन्यासः । पुरुषस्य यदप्रियकर्तृत्वं तज्ज्वरस्येव पीडाहेतुत्वमग्नेरिव दुरुपसर्पणदग्धृत्वम् । यथा नाग्निदग्धोऽग्निं द्वेष्टि एवं पुरुषमप्यप्रिय-कारिणं मन्येत, न प्रतिषेद्धा स्यात् ।

एतच्च स्थाने सति एकाग्रे चित्ते भवति । सर्वकालमेतद्धृदयेनाभ्यसितव्यम् । 'यथा सुखदुःखे इमे कर्मणः फलम् । न राजा सुखस्य ग्रामादेर्दाता, अपि तु मदीयायासेन प्रथमोपसर्पणलाभः । पूर्वकृतं पुण्यं कर्म दातृ, न राजा । एवं दण्डो नोद्वेजयिता, कर्माणि मामुद्वेजयन्ति, न राजा, नापि शक्तोऽन्यः कश्चित्' ।

एतत्सर्वदा ध्यातव्यं चिन्तयितव्यम् ।

यदपि संसारवैराग्यजननायोक्तम् 'अस्थिस्थूणमित्यादि' तदपि नित्यं भावनीयम् ।

न ह्यनध्यात्मवित्। 'अध्यात्मं' चित्तमत्रोच्यते। यदेत**दभिशब्दितं** न वेत्ति न निश्चिनोति नाभ्यासेन भावयति— स **न क्रियाफलमुपाश्नुते**। परिव्राजकस्य या भैक्ष-चर्या क्रिया ग्रामैकरात्रवासादिश्च, न तत्फलं मोक्षाख्यं लभते। यावदस्थिस्थूणादिभावनाया भावेनैव निरभिलाषता सर्वत्र नोत्पन्ना, यावच्च कर्मसु फलन्यासेन रागद्वेषप्रहाणं न कृतमित्यर्थ:। तच्च नित्यं यदा एवं चित्तं युज्यते तदा भवति, नाकस्मादिति।

अथवा 'ब्रह्मण्येवावतिष्ठते' इति एतस्य **यदेतदभिशब्दितमिति** परामर्श:। ब्रह्मण्यवस्थानं 'ध्यानिकं', न तु क्रियानुष्ठानमात्रलभ्यम्। किंतद्ध्येयमित्यत आह **न ह्यनध्यात्मविदिति**। आत्मानमधिकृत्य यो ग्रन्थो वेदान्तादि: सोऽध्यात्मं, न वेद। अथवाऽऽत्मन्यधि यो निर्वृत्तस्तदध्यात्मम्, यथाऽयमात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिव्यति-रिक्त: नैषां नाशे नश्यति, कर्ता कर्मणां भोक्ता तत्फलानां, भेदग्राहाकृष्टस्य सर्वमेतद्भवति। यदा त्वयमपहतपाप्मा न दोषैर्न कार्यै: स्पृश्यत, एकत्वादेष एव सर्वमिदं न, ततोऽन्यद्-व्यतिरिक्तमस्ति। प्रभासमात्रं पृथक्त्वम्। हरिसवर्णसोदकादिका (?) उपनिषदो यो न वेद, ध्यानेनैकाग्रया सन्ततया न दार्ढ्यमुत्पादयति, स न यथोक्तं क्रियाफलं लभते।

अत आत्मा वेदान्ताभिहितस्वरूपो नित्यमाहारविहारकालं वर्जयित्वा ध्येय इति श्लोकार्थ:।

अथवा यद्यपि प्रव्रज्याधिकारस्तथापि गृहस्थस्यापि क्रियाफलग्रहेण निर्देश:, यदि क्रियाप्रधान:। अत एतदुक्तं भवति। यद्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वते गृहस्था:, रहस्य-विद्याविदश्च न भवन्ति, या विद्या: कर्मसूपविष्टा उद्गीथा "अथवा यावती उद्गीथमन्वयन्ते" इत्यादिना तेन निपुणा: कर्मकाण्डज्ञा अपि, न तत: परिपूर्णफलं चिरकालभावि लभन्ते। एषोऽर्थो वाजसनेयके छान्दोग्ये च श्रुतिद्वये निदर्शित:। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा यजते जुहोति तपस्तप्यते बहून्यपि वर्षसहस्राण्यन्तवदेव तद्भवतीति", तथा "यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति"। यस्तु यथोक्तामध्यात्मोपदिष्टां विद्यां विदित्वा करोति तस्यैव फलातिशय:। उक्तं च तद्य इत्थं विदुर्य इमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते इति। यमभिसंभवतीत्यादिविजानतां कर्मकारिणामर्चिरादिमार्गेण ब्रह्म-लोकप्राप्तिमेषां श्रुतिराह ॥८२॥

एवमात्मज्ञानार्थं ध्येये विहिते वेदजपो न प्राप्त: तत्साधनतयाऽतस्तं विधत्ते—

हिन्दी—यह सब (पूर्व श्लोक में कहा गया पुत्र, धन, दारादि में ममत्व का त्याग, मानापमान का अभाव एवं ब्रह्म की प्राप्ति) परमात्मा में ध्यान से होता है। अध्यात्मज्ञान से शून्य ध्यान का फल (पूर्वोक्त ममत्वत्याग आदि) कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता है ॥८२॥

वेदजप की कर्तव्यता—

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ।।८३।।

भाष्य—जपमात्रमस्याभ्यनुज्ञायते, न पुनर्गृहस्थादिवदभ्यासार्थमध्ययनम् ।

यज्ञेष्वधि **अधियज्ञं** विधायकं ब्राह्मणम् ।

आधिदैविकमधिदैवं भवं देवताप्रकाशकमन्त्राः ।

तेषामेव विशेष **आध्यात्मिकमिति** । "अहं मनुरभवम्" "अहं रुद्रेभिः" इत्यादि ।

'वेदान्त' इति यदभिहितं तदपि कर्मज्ञानसमुच्चयं ब्रह्मत्वाय दर्शयति ।।८३।।

हिन्दी—(पहले ब्रह्म के ध्यान करने के लिए कहकर अब वेदजप करने का उपदेश करते हैं—) यज्ञ तथा देव के प्रतिपादक वेदमन्त्र को, जीव के स्वरूप का प्रातिपादक वेदमन्त्र को और ब्रह्मप्रतिपादक ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि) वेदान्त में वर्णित मन्त्र को जपे ।।८३।।

एकमात्र वेद ही सब की गति—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ।।८४।।

भाष्य—**इदमिति** वेदाख्यं ब्रह्माचष्टे । सोऽपि ब्रह्मैव । तथा चोक्तं—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" । इति ।
अध्ययनं विज्ञानं, तदर्थानुष्ठानेन 'निष्णातता' ।
पूर्वस्य विधेरयमर्थवादः ।

अज्ञानामतदर्थविदां जपादिष्वधिकारेण । तथा भगवता व्यासेन सिद्धिर्जापकानां दर्शिता । अथवा 'अज्ञा' अनात्मज्ञाः शास्त्रानवगतात्मतत्वा अपि तदुपासनापरा अलब्ध-चित्तस्थैर्याः तेषां वेदः 'शरणम्' । जपेन कर्मानुष्ठानेन तावत्या च विद्यया । नरकेषु कीटपतङ्गादियोनिषु चानुपपत्तेः ।

इदमेव विजानताम् । कथं पुनर्विदुषां शरणमत आह । **इदमन्विच्छतां स्वर्गम्** । एतावदेते कर्मकाण्डज्ञा आत्मन्यलब्धमनःप्रतिष्ठा वा, तेषां कर्मानुष्ठानात्स्वर्गादिफलं लभ्यते । इतरे त्यक्तसङ्गाः प्रक्षीणरागादिदोषा ज्ञानात्मतत्त्वोपासनापरास्तेषामानन्त्यम-पुनरावृत्तिरिति । सर्वेषां वेद एव शरणं, नान्यः पन्था अस्तीत्यर्थः ।।८४।।

हिन्दी—वेदार्थ को नहीं जानने वालों के लिए यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि

अर्थज्ञान के बिना भी वेदपाठ करने से पाप क्षय होता है) और वेदार्थ जानने वालों के लिए स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहने वालों के लिए भी यही वेद शरण (गति) है ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ।।८५।।

भाष्य—क्रमेण योगोऽनुष्ठानम् । आत्मज्ञानकर्मणोः समुच्चये यः क्रम उक्तः, तेन ऋणापाकरणं कृत्वेत्यर्थः ।

विधूय पाप्मानमश्व इव रोमरजांसि, तथैवात्मविद्यया । यथोक्तं "यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यन्त्येवमेतद्विदि पापं कर्म न श्लिष्यतीति" ।

परं ब्रह्माधिगच्छति तद्रूपः संपद्यते निवृत्तभेदग्रह इति विद्याश्रमफलविधिः ॥८५॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि—) इस क्रम (६।३३-८४) से जो द्विज संन्यास लेता है वह इस संसार में पाप को नष्टकर (ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा औपाधिक शरीर के नष्ट होने से) उत्कृष्ट ब्रह्म को प्राप्त करता है (ब्रह्म के साथ एकीभाव प्राप्त कर मुक्त हो जाता है) ॥८५॥

वेदसंन्यासि का कर्म—

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ।।८६।।

भाष्य—वेदस्य संन्यासः त्यागः । स एषामस्तीति **वेदसंन्यासिकाः** । वेदशब्देन यागहोमादेः कर्मणस्त्याग उच्यते, न पुनर्जपत्यागः । आत्मचिन्तनं तु विहितमेव । केवलं धनसाध्याः शरीरक्लेशसाध्याश्च तीर्थयात्रादय उपवासादयश्च निषिध्यन्ते । यानि त्वात्मैकसाधनसाध्यानि सन्ध्याजपादिकर्माणि तेषामनिषेधः ।

तदेतत्स्वस्थान एव दर्शयिष्यामः ।

आद्येनार्धेन प्रव्रज्याश्रमोपसंहारः । उत्तरेण वेदसंन्यासिकस्य कर्मोपदेशप्रतिज्ञा ॥८६॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) 'आप लोगों से मैंने मन को वश में करने वाले यतियों (कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस भेद से चतुर्विध[१] संन्यासियों) के सामान्य धर्म को कहा है' अब वेदसंन्यासिक आप लोग सुनें ॥८६॥

विमर्श—यहाँ पर वेद कर्म के त्याग से केवल वेदोक्त यज्ञादि, शरीर कष्टकर तीर्थ

१. भारते चतुर्धा भिक्षवः (संन्यासिनः) उक्ताः—
'चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥' (म०मु०)

यात्रा तथा उपवासादि मात्र का त्याग अपेक्षित है। अतः आत्मचिन्तन जप आदि तो इन्हें भी करना ही होता है।

चार आश्रम तथा आश्रमों के क्रमशः पालन से मोक्ष प्राप्ति—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ।।८७।।
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ।।८८।।

भाष्य—"ननु च संन्यासिककर्माणि वक्ष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽश्रमानुक्रमणमप्रकृतम्"। केचिदाहुर्न संन्यास आश्रमान्तरमत्रैवान्तर्भावोऽस्येति दर्शयितुम्। स च कस्मिन्। गृहस्थेऽन्तर्भावितः। गृहे हि वासस्तस्य। अन्यैस्तु प्रव्रज्यायाम्। संगत्यागसामान्यात्। अतो नास्यान्तर्भावे प्रयोजनं, पुरुषधर्मैर्यतिधर्मैश्च न यागादावधिकरिष्यति। वैशेषिकैश्च स्वशब्दविधानात्। अनाश्रमित्वात्। "संवत्सरमनाश्रमीति, प्रायश्चित्तप्रसङ्गादिति" चेत् वचनेनैवास्या व्यवस्थाया विदितत्वात्कुतः प्रायश्चित्तप्राप्तिः।

तस्माद्गृहस्थादितुल्यतया संन्यासिकं प्रशंसितुमाश्रमान्तरसंकीर्तनम्। तच्च समुच्चयं द्रढयितुम्। गृहस्थानामवस्थितिरेषामित्यर्थः। **गृहस्थः प्रभवः** स्थितिहेतुरेषामिति विग्रहः॥८७-८८॥

हिन्दी—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति (संन्यास)— ये चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न होते हैं। शास्त्र के अनुसार ग्रहण किये गये ये चारों आश्रम (६।८७) विधिवत् अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को परमगति (मोक्ष लाभ) को प्राप्त कराते हैं ॥८७-८८॥

गृहस्थ की श्रेष्ठता—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ।।८९।।

भाष्य—"इदमयुक्तं वर्तते। वेदशास्त्रश्रुत्या गार्हस्थस्य विधानं प्रतिज्ञायते, इतरेषां च भर्तव्यत्वम्। गार्हस्थस्य प्रत्यक्षश्रुतिविधानेनैवाश्रमान्तराणां सद्भावः। सन्निहिततपःस्मृतिभ्यो बलीयसी श्रुतिः। अथोच्येत— नैवायमभिसम्बन्धः क्रियते वेदश्रुत्याविधानात् इति। अयमभिसंबन्धः। सत्यपि चैतस्मिन् विधाने गृहस्थस्य श्रैष्ठ्यं तद्भरणनिमित्तं 'स त्रीनेतान्' इत्यनेन प्रतिपाद्यते, तत्र वक्तव्यं कथम्, आश्रमान्तराणां श्रुतत्वात्:— श्रौतत्वे च स्पष्टेयं स्मृतिर्विरुध्यते 'प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्ये'त्यादिना। न च सम्बन्धान्तरसंभवः॥ अथोच्येत— गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् इति जाबालश्रुतिमपेक्ष्य सर्वाण्येवश्रुतानीति— स्मृतिविरोधस्तावदपरिहृत एव। किं च नैषा श्रुतिर्विधात्री।

न ह्येतत् श्रुतम्— एवं वने वा विहर्तव्यमिमानि वनस्थेनैव कर्माणि कर्तव्यानीमानि प्रव्रजितेनेति, यथाऽऽधानात्प्रभृत्याचरमेष्टि सर्वं गृहस्थकर्म प्रत्यक्षमुक्तन्नैवमाश्रमान्तराणाम्। केवलं नाममात्रं श्रूयते गृही भूत्वेत्यादि। तस्मात्पूर्वापरविरुद्धं गार्हस्थ्यमूलमाश्रमाणामिवोपदिश्यते।''

अत्रोच्यते। सत्यमाधानात्प्रभृति गृहकर्माणि प्रत्यक्षश्रुतानि कृतदारपरिग्रहस्य। तत्र विवाहे प्रयुक्तिनिरूपणात्किंकर्म श्रुतिभिः प्रयुज्यते। अग्निहोत्रादिभिः स्वाहाधिकारः श्रुतेरथापत्योत्पत्तिविधिना उतदृष्टेन पुरुषार्थेन।

''ननु रागः स्त्रीमात्रं प्रयुङ्क्ते न विवाहम्। येन विना यन्न निष्पद्यते तत्तस्य प्रयोजकमिति न्यायः। रागिणां च स्त्रीमात्रेण गृह्यकर्मनिर्वृत्तिः। किमिति विवाहमपेक्षेरन्''।

सत्यम्। यदि वचनान्तरे स्त्रीमात्रे गमनं न निषिद्धं स्यात्। समानेऽपि सर्वत्र वेदाधिगमे शास्त्रतो गम्यागम्यविवेकः। अतश्च धीरप्रकृतीनां न विवाहमन्तरेण स्वार्थसंपत्तिरिति युक्तैव वेदस्य प्रयोजकाशंका।

''यद्येवं सर्वस्य न प्रयोजकानि सन्ति। सर्वेषां तस्मिन्सत्यर्थनिवृत्तौ किं तेन निरूपितेन। योस्ति विवाहप्रयोजकः सोऽस्तु। आश्रमान्तराणि प्रत्यक्षविधाने गार्हस्थ्यस्य कथमुपपद्यन्त इत्येतदधिकृता विवाहप्रयुक्तिचिन्ता तु केनांशेन संगच्छते।''

उच्यते। यावदुक्तं 'सर्वेषामर्थसिद्धिरिति'। सत्यम्। एकेन प्रयुक्तावन्यस्य प्रसंगादुपकारसिद्धौ न पृथक्प्रयोक्तृत्वकल्पना। यथा व्रीहयः पुरुषार्थेन जीवनेन प्रयुक्ताः कर्मसु विनियुज्यन्ते। न कर्मणि धनार्जनं प्रयुज्यते। यथा वा विद्या सत्यप्यवैद्यस्यानधिकारे न प्रयुज्यते, स्वाध्यायविधिनैव तत्सिद्धेः। एवमिह कामतः प्रवृत्तिसिद्धेर्न कर्मश्रुतयः प्रयोक्तव्याः। तेनाकृतविवाहमपि कृत्यकर्मविधय उपपत्स्यन्ते।

अतश्च यो ब्रह्मचर्य एव कथंचित्परिपक्वकषायः स न विवक्षते। ततः स द्वितीयत्वाभावान्नाधिकरिष्यते। अतश्च श्रौतेष्वनधिकारात्तादृशस्याश्रमान्तरताऽऽपत्स्येत।

अन्ये मन्यन्ते। नायं धनतुल्यो विवाहः। यथा धनेन विना जीवनमनुपपन्नमिति, स वै जीवेद्धनतः, एवं न स्त्रियमन्तरेण जीवनाभाव इत्यत एव न दृष्टं नियमिनः प्रयोजनं संभवतीति धर्माधिकारार्थोऽपि प्रयुक्तो विवाहः। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयमधिकारोत्पत्त्यर्थे यत्नः कर्तव्य इति। इतरथा हि कृतोत्सर्गस्याशुचित्वादधिकारापनये जननादि शुद्धकालावस्थे च संपादयतो न नित्यकर्मातिक्रमः स्यात्। ततश्च केनार्थेन मृतादिशुद्धौ क्लेशमादध्यात्। ''तदपि विहितमेवेति'' चेत्। एवं तावन्मात्रस्यातिक्रमो न पुनर्विधिसहस्रस्य।

अथोच्येत— ''कस्य पुनर्विधेरयं व्यापारो यदधिकृतत्वसंपत्त्यर्थमधिकृतः स्यामिति पुरुषेण यत्नः कर्तव्य इत्युपदिशति। एतावदग्निहोत्रादिविधयस्ते यस्याम्नायस्तद्विषयां

कर्तव्यतां गमयन्ति, न त्वग्नीनामुत्पत्तिं प्रयुञ्जते। अग्नयोऽपि काम्येषु लिप्सया प्रवर्तमानेन तदधिकारसिद्ध्यर्थमाधीयन्ते। तथाहि तेषु जातेष्वाहिताग्नित्वे यावज्जीवश्रुतयः। भार्यावतश्चाधानेऽधिकारः। यथैवाधिकारिणमात्मानं कर्तुमग्नीनाधत्ते, एवं भार्यामप्युपयच्छते। अतो न कस्यचिद्विधेरर्थो विहतो यदि नाग्निहोत्रादिष्वधिकारो जनयितव्यः। न च विवाहविधिरेव स्वार्थकर्तव्यतामवगमयति, नित्याग्निहोत्रादिश्रुतिवत्संस्कारकर्मत्वादधिकार-श्रवणाभावाच्च''।

अत्र पूर्वे वदन्ति। ऋणत्रयापाकरणश्रुतिरस्ति ''जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवां जायते'' इत्यादि। एषा श्रुतिर्जातमात्रनिबन्धना। न चात्र जन्म द्वितीयमुपनयनाख्यमभि-प्रेतम्, प्राक्ततस्तिर्यक्समानधर्मत्वात्। जन्मनि सति यावता कालेनाधिकारावगमो भवति तदेव ऋणश्रुत्या परिगृह्यते। ततश्च विदुषः सतः सत्यधिकारे यः कन्यां याचमानो न प्राप्नुयाद्यावत्सर्वतः पलितस्तस्य वानप्रस्थादावधिकारः। स ह्येतन्निश्चिनोति— यौवन एव कन्या सर्वथा याच्यते, कथयन्त्यन्ये— कृष्णकेशस्यैवाधानं श्रुतम्, भार्यामरणं वर्जयित्वा न सर्वतः पलितेनाधातव्यमिति श्रुत्यर्थं व्याचक्षते।

कर्मसम्बन्धाद्गृहस्थः श्रेष्ठः। अत आश्रमस्यैव श्रैष्ठ्यमुक्तं भवति। **त्रीनेतानिति**। इदमपरं श्रैष्ठ्यकारणं यदन्येषामाश्रमाणां भरणम्। तदुक्तं ''ज्ञानेनान्नेन च'' इति॥८९॥

एष एवार्थो दृष्टान्तेन दृढीक्रियते।

हिन्दी—इन सभी आश्रमों (६।८७) में से वेद तथा स्मृतियों के अनुसार (अग्निहोत्र आदि) अनुष्ठान करने से गृहस्थ ही श्रेष्ठ कहा जाता है; क्योंकि वह इन तीनों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) का (अन्नदान आदि के द्वारा) पालन करता है (इस में से भी गृहस्थ श्रेष्ठ है)॥८९॥

गृहस्थ की श्रेष्ठता में दृष्टांत—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥९०॥

भाष्य—नद्यो गङ्गादयः। भिद्यादयो **नदाः**। केनचिदाधारसन्निवेशभेदेन रसभेदेन च नदीनदयोर्निर्देशभेदः। एकत्वविधानं तु रूढ्या। लिङ्गभेदो भार्यादारशब्दवत्। **संस्थिति**राश्रयः। समुद्रो यथा सर्वजलाश्रय एवं गृहस्थः सर्वधर्मानधिकृतवान्॥९०॥

हिन्दी—जिस प्रकार सभी नदी और नद समुद्र में स्थिति को पाते (मिलते) हैं उसी प्रकार सभी आश्रम वाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थ में ही स्थिति (भिक्षालाभादि से आश्रय) को पाते हैं॥९०॥

दशविध धर्म की सेव्यता—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ।।९१।।

भाष्य—वक्ष्यमाणोपन्यासार्थः श्लोकः ।

दशलक्षणानि यस्येति बहुव्रीहिः । **लक्षणं** स्वरूपम् ।

सेवितव्यः सर्वकालमनुष्ठेयः ।

उक्तानामप्येतेषां प्रधानत्वाय पुनर्वचनम् । ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्षश्चानेन पुनर्वचनेन दृढीकृतः ।।९१।।

हिन्दी—इन चारों आश्रमों में रहने वाले द्विजों को दस प्रकार के (६।९२) धर्म का यत्नपूर्वक नित्य सेवन करना चाहिए ।।९१।।

दशविध धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।९२।।

भाष्य—धृत्यादय आत्मगुणाः ।

तत्र **धृति**र्नाम धनादिसंक्षये सत्वाश्रयः । यदि क्षीणं ततः किं? शक्यमर्जयितुमिति । एवमिष्टवियोगादौ 'संसारगतिरियमीदृशीति' प्रचलतश्चित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम् ।

क्षमा अपराधमर्षणम् । कस्मिंश्चिदपराद्धरि प्रत्युद्वेजनानारम्भः ।

दमः अनौद्धत्यं विद्यामदादित्यागः ।

अस्तेयं प्रसिद्धम् ।

शौचमाहारादिशुद्धिः ।

इन्द्रियसंयम अप्रतिषिद्धेष्वपि विषयेष्वप्रसंगः ।

धीः सम्यग्ज्ञानं प्रतिपक्षसंशयादिनिराकरणम् ।

विद्याऽऽत्मज्ञानम् । कर्माध्यात्मज्ञानभेदेन धीविद्ययोर्भेदः ।

एतत्पौनरुक्ततया 'धीविद्येति' पठन्ति । तन्न सम्यक् । भेदस्य दर्शितत्वात् । अन्यत्रप्रसिद्धम् ।

अक्रोधः उत्पत्स्यमानस्यानुत्पत्तिः ।

क्षमा कृतेऽप्यपकारेऽपकारानारम्भः ।।९२।।

हिन्दी—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच (पवित्रता) इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग ये दस धर्म के लक्षण हैं ।।९२।।

दशविध धर्मानुष्ठान से मोक्ष लाभ—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ।।९३।।

भाष्य—पूर्वस्य विधेः फलकथनम् । अध्ययनात्फलश्रुतिरनुष्ठानश्रुत्यर्था ॥९३॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण (द्विजमात्र) इस दस लक्षण वाले धर्मों का अध्ययन करते हैं और अध्ययन करके उसका आचरण करते हैं, वे परमगति (मोक्ष) को जाते हैं ॥९३॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ।।९४।।

भाष्य—संन्यस्येदनृणः । यदा ऋणत्रयमपाकीर्णं तदा संन्यास इत्येवमर्थमेतत् । समानकाले प्रव्रज्यायां नाधिक्रियते । एवं संन्यासेऽपि ।

वेदान्तान्विधिवत् । अविदितवेदान्तार्थस्य नास्ति संन्यासः । यद्यपि— स्वाध्याय-विध्यमनुष्ठानाक्षिप्तं कर्म विधिशास्त्रवद्वेदान्तज्ञानमपि, स्वाध्यायशब्दवाच्यत्वाविशेषात्—तथापि वेदान्तानां पुनरुपन्यासो विशेषार्थः । तत्परेण भवितव्यम् ।

अथ 'संन्यस्येदिति' कः शास्त्रार्थः । कोऽयं संन्यासो नाम?

ममेदमिति परिग्रहत्यागः ।

''ननु वेदसंन्यासिका इत्युक्तम् । तत्रेदं प्रतीयते 'वेदस्य वेदार्थस्य वा संन्यासः', न च वैदिककर्मसिद्ध्यर्था ये प्रतिग्रहादयस्तेषां संन्यासः ।''

'इदमानन्त्यमिच्छतामिति' (श्लो० ८४) अध्ययनस्य ज्ञानप्राधान्येऽपि विहित-त्वात् । अग्निहोत्रादीनां तु द्रव्यसाध्यत्वादसति ममकारे त्याग एव । स चायं धर्मापादको मृतभार्यस्य परनिष्ठस्य वा कृतसंप्रतिविधानस्य । वाजसनेयके हि पठ्यते ''यदा प्रैष्यन्-मन्यतेऽथ पुत्रमाह'' इत्यादि । अग्निसमारोपणं च तदा विहितम् । जीर्णस्य च ''जरया ह वा एतस्मान्मुच्यत'' इत्यामनन्ति । यानि चाद्रव्यसाध्यानि संध्योपासनादीनि नित्या-ग्निहोत्रादीनि तेषामनिषेधात्तत्र आ अन्त्यादुच्छ्वासादधिकारः ॥९४॥

हिन्दी—उस दस लक्षण वाले धर्म (६।९२) को पालन करता हुआ द्विज सावधान चित्त होकर वेदान्त (उपनिषद् आदि) को विधिवत् (गुरु मुख से) सुनकर ऋणत्रय (६।३-६।३७) से छुटकारा पाकर संन्यास ग्रहण करे ॥९४॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ।।९५।।

भाष्य—वेदमभ्यस्येति वेदस्यात्यागमाह । दर्शितमेतत् ।

अभ्यस्यन्निति शतृप्रत्ययान्तपाठो वा।

पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्। पुत्रग्रहणमुत्पन्नस्य पुत्रस्य। अन्योऽपि यस्तत्स्थान: पौत्रादिस्तत्रापि युक्तो गृहान्तरन्यास इत्याहु: ॥९५॥

हिन्दी—सब कर्म (गृहस्थ के) करने योग्य अग्निहोत्र यज्ञ आदि का त्याग कर कर्मजन्य दोष (अज्ञातावस्था में की हुई जीवहिंसा आदि) प्राणायाम (६।६९) से नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर ग्रन्थ तथा अर्थ से वेदों का अभ्यास कर पुत्र के ऐश्वर्य में रहे। (पुत्र के द्वारा प्राप्त भोजन वस्त्र का उपभोग करता हुआ रहे)। यह 'कुटीचर' संन्यासी का लक्षण है ॥९५॥

वेद के अतिरिक्त सब कर्मों का संन्यास—

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासत: शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्॥६॥]

[**हिन्दी**—सब (गृहस्थ के अनुष्ठेय यज्ञ, अग्निहोत्रादि) का त्याग करे, किन्तु एक वेद का त्याग न करे। वेद के त्याग से (द्विज) शूद्र हो जाता है, इस कारण वेद का त्याग नहीं करना चाहिये ॥६॥]

संन्यास का फल—

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृह:।
संन्यासेनापहत्यैन: प्राप्नोति परमां गतिम्॥९६॥

भाष्य—स्वकार्यमात्मोपासनं **परमं** प्रधानमस्येति स्वकार्यपरम:।

अस्पृह: मनसाऽपि स्पृहा न क्वचित्कर्तव्या ॥९६॥

हिन्दी—इस प्रकार सब कर्मों (गृहस्थ के त्याग अग्निहोत्रादि) का त्यागकर अपने (ब्रह्मसाक्षात्कार रूप) कार्य को प्रधान मानता हुआ (स्वर्ग आदि में भी) निस्पृह होकर संन्यास के द्वारा पापों को नष्ट कर (द्विज) परमगति (मोक्ष) को पाता है ॥९६॥

अध्याय का उपसंहार—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विध:।
पुण्योऽक्षयफल: प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत॥९७॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्याय:॥६॥

भाष्य—चतुर्विधो धर्मश्चातुराश्रम्यम्। ब्राह्मणस्य सर्वमेतद्विहितम्।

"ननु च 'एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विज' इति द्विजग्रहणमुपक्रमे श्रुतम्। तस्य चानुपजातविरोधित्वात्त्रैवर्णिकार्थिता निश्चिता। अतश्चेदं ब्राह्मणग्रहणं

त्रैवर्णिकप्रदर्शनार्थमेव युक्तम्। यद्येकवाक्यतोपक्रमोपसंहारयोर्न स्यात् तदा नैवं स्यात्। एकवाक्यत्वे तु बलवदुपक्रमार्थः शक्यः प्रतिपत्तुम्''।

कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया योऽर्थः स निश्चीयते। अतो द्विजग्रहणं ब्राह्मणपरतयोपसंहर्तव्यम्। अस्ति ब्राह्मणस्य द्विजातित्वम्, न तु सर्वेषु द्विजातिषु ब्राह्मण्यम्। अत्रापि द्विजशब्दार्थे संभवति नान्वयिनि लक्षणा न्याय्या।

''तथा च महाभारते शूद्रस्यापि त्रय आश्रमाः श्रूयन्ते 'शुश्रूषा कृतकृत्यस्येति' उपक्रम्य 'आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निरामिषम्' पारिव्राज्यमित्यर्थः।''

नैवं तस्यायमर्थः, 'सर्व आश्रमास्तु न कर्तव्याः। किंतर्हि ? शुश्रूषयाऽपत्योत्पादनेन च सर्वाश्रमफलं लभते'। द्विजातीन् शुश्रूषमाणो गार्हस्थ्येन सर्वाश्रमफलं लभते, परिव्राजकफलं मोक्षं वर्जयित्वा।

अतो ब्राह्मणधर्म एव चातुराश्रम्यमिति सिद्धम् ॥९७॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) आप लोगों से यह ब्राह्मण के चार प्रकार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) का धर्म पुण्य तथा अक्षय फल देने वाला कहा, अब (आप लोग) राजाओं के धर्म को (सातवें अध्याय में) जानो ॥९७॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन्धर्मं तापस्यमादिकम्।
श्रीरामभक्तकृपया षष्ठेऽस्मिन् पूर्णतामगात् ।।६।।

श्लोकानुक्रमणी

प्रथमादिषष्ठाध्यायपर्यन्ता

मनुस्मृतिः

सविमर्श 'मणिप्रभा' हिन्दी टीका सहिता

इस संस्करण में कई विशेषताएँ समाविष्ट की हैं जो साधारण पाठकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। हिन्दी में 'मणिप्रभा' नाम से विशद टीका तो है ही, दुरुह स्थलों में भावार्थ को और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से 'विमर्श' द्वारा गूढार्थ को सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया गया है। किस श्लोक या किन श्लोकों में किसी विशिष्ट विषय का प्रतिपादन किया गया है, इसको साधारण पाठक की दृष्टि से स्पष्टकर देने के लिए उपयुक्त शीर्षक भी लगा दिये गये हैं। आरम्भ में हिन्दी में एक विषयानुक्रमणिका और अन्त में श्लोकानुक्रमणिका लगाकर पुस्तक की उपादेयता और उपयोगिता विशेषरूप से बढ़ा दी गई है। यह ग्रन्थ केवल अनुवाद नहीं, पर मनुस्मृति को समझने और कहाँ क्या वर्णित या प्रतिपादित है, इसको आसानी से ढूँढ निकालने की कुञ्जी भी है, जो साधारण पाठक के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज जब जनसाधारण में संस्कृत का पठन-पाठन ह्रास पर है और शिक्षित वर्ग भी संस्कृत नहीं जानता, ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है, जिनसे संस्कृत नहीं जानने वाले भी अपने धर्मग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकें और अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हो सकें। इसमें सन्देह नहीं कि पं. हरगोविन्दशास्त्री ने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से इस टीका की रचना की है।   व्याख्याकार—**पं. हरगोविन्दशास्त्री**   १२५.००

ISBN : 81-218-0207-5 (Vol. I), 81-218-0221-0 (Set)   Price : Rs. [illegible]0 (Set)